#### कार्यालयीन नया पता

# श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ

(जीवराज जैन ग्रंथमाला)

T.P.4 , प्लॉट नं. 56/10, बुधवार पेठ, जुना पुणे नाका, (गॅस पंप के पीछे), सोलापुर – 2 फोन – (0217) - 2320007, मोबा. – 9890967706, 9421040022

# समय - सुबह १० से शाम. ६ बजे तक

#### COPYRIGHT RESERVED

इस गथ के सभी अधिकार प्रकाशकने स्वाधीन रखे हैं। प्रकाशक की लिखित अनुमित के बिना इस गथ को या इसके किसी अश को, मृल रूप में या अनुवादित रूप में; या वेबसाईट के रूप में; तथा इस गंथ के मुदित चित्रपटों को छापने या छपवाने का काम कोई व्यक्ति या संरथा आदि नहीं कर सकते।

इस गंथका पूफ संशोधन पूर्ण सावधानीसे किया गया है। उसमें भी कहीं कुछ गलतियां रह सकती है। इसलिये विद्वतजन गलतियोंको सुधारकर पढे, तथा शुद्धिपत्रक प्रकाशकके पास भेजे तो उसका उपयोग फिरसे प्रकाशित होनेवाले ग्रंथमें हम कर सकते हैं।

प्रकाशन कार्यके लिए संस्थाको आर्थिक सहयोगकी आवश्यकता है । यथा शक्ती दान देकर अनुग्रहीत करे ।



श्री आचार्य कुंयुसागर ग्रंयमाला पुष्प ४५.

# श्रीविद्यानंदि-स्वामिविरिवतः तरवार्थङ्खोकवार्त्तिकालंकारः

( भाषाटीकासमन्वितः )

(पञ्चमखण्डः)



-- टीकाकार --

तकंरत्न, सिद्धांतमहोदधि, न्यायदिवाकर, स्याद्वादवारिधि, बार्शनिक्शिरोमणि श्री एं. माणिकचंदजी कोंदेय न्यायाचार्य

-- संपादक व प्रकाशक ---

# पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

(विद्यावाचस्पति व्या. के. समाजरतन, धर्मालंकार, न्यायकाव्यतीर्व ) ऑ. मंत्री आचार्य कुंयुसागर ग्रंथमाला सोलापूर.

All Rights are Reserved by the Society

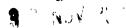
-- मुद्रक ---

# वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

कल्याण पाँवर प्रिटिंग प्रेस, कल्याणभवन, सोलापूर.

२४९•) सन् १९६४

जैन संस्कृति संरक्षक संघ संशोधित मूल्य रु० 150



# -= श्रीतत्वार्थश्लोकवार्त्तिकका मूलाधार =-

-

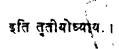
# पंचम खंड.

### अथ द्वितीयोध्यायः।

औपशमिक्षायिको भावो मिश्रदच जीवस्य स्वतत्त्वमोदयिकपारिणामिको चा। १।। द्विनवाष्टादशैकविशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥ सम्यक्त्ववारित्रे ॥ ३ ॥ ज्ञानदर्शनदानलाम-भोगोपभोगबीर्याण च ॥ ४ ॥ ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्यपश्चनुस्त्रित्रपञ्चभेवाः सम्यन्तवचारित्र-संयमासंयमारच ।।५।। गतिकवायिलङ्गमिभ्यादर्शनाऽसंयताऽसिद्धलेश्यादचतुरच्यैकैकैकैकषड्ः भेदाः ॥ ६ ॥ जीवमध्याऽमय्यत्वानि च ॥ ७ ॥ उपयोगो लक्षणम् ॥८॥ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥ संसारिको मुक्ताक्च ॥१०॥ समनस्काऽमनस्काः ॥११॥ संसारिकस्त्रसस्थावराः ॥१२॥ पृथ्वपत्तेजो शयुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥ द्वीन्द्रियावयस्त्रताः ॥ १४ ॥ पंचेन्द्रियाणि ॥१५॥ द्विविद्यानि ॥ १६ ॥ निर्वृत्यु स्करणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥ लब्ब्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥ स्पर्शन रसमधाणचक्षुःश्रोत्राणि ।। १९ ॥ स्वशंरसगन्त्रवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥ श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥ वनस्यत्यन्तानामेकम् ॥ २२ ॥ कृमिपिपौलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥ संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥ विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥ अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥ अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥ विग्रहवती च संसारिणः प्राक्त् चतुभ्यः ॥ २८ ॥ एकसमयाः वि. प्रहा ।। २९ । एकं द्वी श्रीन्नानाहारकः ।। ३० ।। सम्मूछंनगर्भोपपादा जन्म ।। ३१ ॥ सचित्तक्षीतसंबुताः सेतरा निश्राव्यक्षशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥ जरायुजाण्डजपोताना गर्मः ॥ : ३ ॥ देवनारकाणामुपपादः ।। ३४ ।। शेषाणां सम्मूच्छंतम् ।। ३५ ॥ औदारिकवेकियिकाहारकतंज्ञस-कार्मणानि शरीराणि॥ ३६ ॥ परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७॥ प्रदेशतोऽतस्ययगुणं प्राकृतैजसात् ॥३८॥ अनन्तगुणे परे ॥ ३९ ॥ अप्रतीघाते ॥ ४० ॥ अनाविसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥ सर्वस्य ॥ ४२ ॥ तबाबीनि भाज्यानि युगपबेकस्मिन्ना चतुभर्यः ॥ ४३ ॥ निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥ गर्मसम्म च्छंनजमाद्यम् ।। ४५ ।। औपपादिकं वैकियिकम् ।। ४६ ।। लब्धिप्रत्ययं च । ४७ ।। तैजसमिप ॥ ४८ ॥ शुभं विशुद्धमव्याधाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥ नारकसम्मृच्छिनो नर्मसकानि ॥ ५० ॥ न देवाः ॥ ५१ ॥ शोषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥ औपपादिकचरमोत्तमदेहाः संख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

### अथ तृतीयोध्यायः।

रत्नक्षरावालुकापञ्चभूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो धनाम्बुबाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ता-प्रधोधः ॥ १ ॥ तासु त्रिक्षत्पंचिकतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यणाः कमम् ॥ २॥ नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामबेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३॥ परस्परोदीरितः दुःखाः ॥ ४ ॥ संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाञ्च प्राक्चतुर्ध्याः ॥ ५ ॥ तेव्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशः द्वाविश्वतित्रयस्त्रिशत्सागरोपमा सस्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥ जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुमनामानो होपसमुद्राः ॥ ७ ॥ हिर्दिविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेषिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥ तस्मध्ये मेरनाः भिवृंत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्मो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥ भरतहैमधतहरिविवेहरम्यकहैरण्यवर्तरावत-वर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥ तद्विमाजितः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवञ्चित्रवत्रनोलक्षमञ्जिषरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥ हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥ मणिविवित्रपार्वा उपरि मूले च तुरुयविस्ताराः ॥ १३ ॥ पद्ममहापद्मितिगञ्छकेसिरमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्वास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥ प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो हृदः ॥ १५ ॥ दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥ तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥ तद्द्विगुणद्विगुणा हुवाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥ तन्निवासिम्यो बेब्यः श्री-हीधृतिकोतिबुद्धिलक्ष्म्यः पत्योपमस्थितयः सत्तामानिकवरिषक्ताः ॥ १९ ॥ गंगासिम्धु-रोहिब्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुत्रणंरूव्यकूलारक्तारक्तोदाः स्तन्मध्यमाः ॥ २० ॥ द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वमाः ॥ २१ ॥ श्रोबास्स्वपरमाः ॥ २२ ॥ चतुर्वशनदी-सहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥ भरतः षड्विश्वतिपंचयोजनशतविस्तारः षट्चैकोन विश्वतिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥ तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षेत्रस्वर्षा विदेहान्ताः ॥ २५ ॥ उत्तरा वक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥ भरतेरावतयोर्वृद्धिःहासौ षट्समय भ्यामृत्सप्पिण्यवसपिणीभ्याम् ॥ २७ ॥ ताम्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥ एकद्वित्रिपस्योगमन्थितयो हैमवतकहारिवर्षे-कदेवकु'वकाः ।। २९ ।। तथोत्तराः ।। ३० ॥ विदेहेषु संख्येयकालाः ।। ३१ ॥ भरतस्य विष्कम्मो अम्बूद्वीपस्य नबत्तिज्ञतभागः॥ ३२ ॥ द्विद्वितिकीखण्डे ॥ २-३ ॥ पुष्करार्द्धे 🗷 ॥३४॥ प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥ आर्ग्या म्लेच्छाइच ॥ ३६ ॥ मरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽ न्यत्र देवकुरूत्तरकुरुधः ॥ ३७॥ नृस्थिती परावरे त्रिपत्योपनाग्तर्मृहूर्ते ॥ ३८॥ तिर्यंग्यो-निजानां च ॥ ३९॥



# अथ चतुर्थोऽध्यायः।

देवाञ्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥ आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥ २ ॥ दशाष्ट्रपञ्चद्वादश-विकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥ इन्द्रसामानिकत्रार्योस्त्रद्यपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकितिबिषक। श्चेकशः ॥ ४॥ त्रार्योत्त्रशल्लोकपालवज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥ पूर्वयोर्क्वोन्द्राः ॥ ६ ॥ कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥ शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥ ८ ॥ परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥ भवनवासिनोऽसुरनागविद्युस्सूपणाग्निवातस्तनितोद-धिद्वीपदि<del>र</del>कुमाराः ॥ १० ॥ व्यन्तराः किन्नरिकम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराञ्चसभूतपिशा**चाः** १। ११।। ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकादच ।। १२।। मेदप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥ सत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥ बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥ वैमानिकाः ॥ १६ ॥ कल्योपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥ उपर्युपरि ॥१८॥ सौधम्मँशानतानत्कु-मारमाहेन्द्रब्रह्मात्रहातरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्न-वसु ग्रंवेयकेषु विजयवंजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ।। १९॥ स्थितित्रमावसुलचुति-छेश्याविशुद्धःन्त्रियाविधविषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥ गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥ पीतपद्मशुक्ललेक्या द्वित्रिशेषेषु ।। २२।। प्राग्पेत्रेयकेभ्यः कल्पाः ।। २३।। ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ।। २४ ।। सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताय्याबाघारिष्टास्च विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥ औषपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥ स्थिति-रसुरनागसुपर्णद्वीपञ्चेषाणां सागरोपमत्रिपत्योपमार्द्धहोनमिता ॥ २८ ॥ सौधर्मैञानयोः सागरोपमे अधिके ॥ २९ ॥ सानःकुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ॥ त्रिसप्तनर्वकादशत्रयोदशपञ्चदशमिरधि-कानि तु ।। ३१ ।। आरणाच्युत।दूध्वंमेकंकेन नवसु ग्रेवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ व ।। ३२ ।। अपरा पल्योपममधिकम् ॥ ३३॥ परत.परतः पूर्वीपूर्वानन्तरः ॥ ३४॥ नारकाणां च द्वितीया-विषु ॥ ३५ ॥ वशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥ भवनेषु च ॥ ३७ ॥ व्यन्तराणां च ॥ ३८॥ परा पल्योपममधिक ॥ ३९॥ ज्योतिष्काणां च ॥ ४०॥ तदण्डमागोऽपरा ॥ ४१॥ लौकान्तिकानामण्टी सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२ ॥

इति चतुर्योध्यायः।

इति पञ्चमखण्डः समाप्तः।

# संपादकीय वक्तव्य



इस वक्तव्यके साथ तत्वार्यश्लोकवः तिकका पंचम खंड आपके सामने उपस्थित करने में हमें परमहर्ष होता है। यद्मपि अन्य खंडों की अपेक्षा इस खंडके प्रकाशनमें आशातीत विलंब हो गया है। हमारे इस पुनीत प्रकाशन कार्यमें अनंक प्रकारके विच्न उपस्थित हुए। कुछ दैविक, कुछ प्रमादजनित, कुछ सामाजिक, कुछ गाहंस्थिक, और कुछ वैयक्तिक। किसे अधिक प्राधान्य दिया जाय, इसकी चर्चाकी अपेक्षा अनेक कारणोंने हम इस कार्यकों द्वारातिसे चलाने में असमयं रहे, इसके छिए स्वाध्यायप्रेमी बंबू भोंसे एवं हमारे सदस्योंसे क्षमा याचना करना ही अधिक श्रेयस्कर है।

#### प्रस्तुत खंड---

गत चार खंडोमें तःवार्यसूत्रके केवल प्रथम अध्यायपर वार्तिक और टीका आई है। अब इस प्रस्तुत पांचवें खंडमें तस्वार्यसूत्रके द्वितीय अध्याय, तृतीय अध्याय और चतुर्व अध्यायके प्रमेय अञ्चुके हैं। भगवदुपास्वामिविरचित तःवार्यसूत्रमें तःवज्ञानकी कितनी महिमा भरी हुई है, इस बातवा सहज अनुमान महिष विद्यानिवस्वामीके द्वारा प्रतिपादित इस महान् दाशंगिक सरिणसे किया जासकता है। महिंग विद्यानंदि स्वामीने मूल ग्रन्थकारके अभिप्रायको सुरक्षित रखते हुए विषयका स्पष्टीकरण सर्वक्ष क्ष्मसे किया है।

#### द्वितीय अध्याय: ---

तत्रार्णश्लोकव निकालंकारके द्वितीय अध्यायमें जीवके स्वतत्वका निरूपण करते हुए औपश-मिका द जीवके प्रधान भावोंका निरूपण आचायंने किया है। ये भाव जीवके ही हैं। प्रधान आदिके नहीं, मोक्षमें भी कुछ भाव पाये जाते हैं। जीवके मेदोंका निरूपण करते हुए संसारी, सयोगकेवली, जयोगकेवली, एवं मुक्त जीव आदि सभीका संग्रह किया गया है। जात्माके व्यापकत्वका खंडन कर आचायंने एके दिय जीवों को युविन आगमसे सिद्ध किया है। इसी प्रकार इंद्रियों के विषयको सिद्ध करते हुए इद्रियों के प्रधाति जीवको युक्तिसे सिद्ध किया है।

इस प्रध्यायके दिनीय प्रान्हिकमे आत्माके व्यापकत्वको निशकरण कर आत्माके इतस्ततः गमनको समर्थन किया है। जीवोंका आकाश प्रदेशमें यथाश्रीणगति, अनाहारक अवस्था, जन्म व योनिका प्रकार, शरीरोंको रवनाका प्रकार, अन्य संख्योंके द्वारा कल्पित शरीरका निरास करते हुए तैजस और कार्मणका धाराप्रवाह रूपसे अनादिसंबंध सिद्ध कर दिया गया है। अंतमें आयुकी अनावत्यं और अपवर्त्यदशाको युक्ति और आगमसे सिद्ध कर अन्य वादियोंके कथनका निवारण किया गया है।

#### तृतीय वध्याय:---

प्रस्तुत अध्यायमें जीवोंके निवासस्थानका वर्णन करते हुए अघोलोकका वर्णन सवं प्रथम किया गया है, और तदनंतर इस पृथ्कीके आकारके संबंधमे ऊश्पोह करते हुए भूष्प्रमण वादि-योंकी युक्तियोंका सुन्दर तर्कपढ़ित्से निराकरण किया है। आजके भौगोलिक-विज्ञानवादी पृथ्वोंके आकार और उनके भ्राणमें जिन युक्तियों का प्रयोग करते हैं, उनको अकाट्य युक्ति और आगम प्रमाणोंसे आचार्यनें निराकरण किया है। एवं स्पष्टतः सिद्ध किया है कि इस अवला पृथ्वीका कियी भी तरह ध्रमण नहीं हो सकता है। भूष्प्रमणवादियोंके साथ २ अन्य तरसम-वादियोंका भी निराकरण करते हुए आचार्यने बहुन स्पष्ट रूपसे सूर्य चन्द्रमाके ध्रमणको समर्थन किया है। तदनंतर मध्यलोकका वर्णन कर तत्रस्थ द्वीप समुद्र, पर्वत, क्षेत्र, नदी सरोवर आदि-योंका यथागम विवेचन किया है।

इसी प्रकार भरत आदि क्षेत्रों में कर्मभूमि, भोगभूमिका विधान करते हुए मनुष्य और तियांचोंको जधन्य व उन्कृष्ट आयुका निरूगण किया है। जीवोंके आधारस्थानों का निरूपण करते हुए आचार्यने अधोलोक और मध्यलोकका सिवस्तर वर्णन किया है। साथ ही यथा प्रकरण आचार्य विद्यानन्दस्वामीने बहुत बड़ी विद्वत्ताके साथ सृष्टिकर्नृश्ववादका खंडन किया है। जगन्नियंता ईश्वरको माननेसे अनेक दोषों का आपात स्वयं हो जाता है.इस बातको अश्वतपूर्व युक्तियोंके द्वारा बहुत विस्तारके साथ समर्थन किया है। जगरकर्तृश्वका निगस इस प्रकरणमें बहुत सफलताके साथ किया गया है। इस प्रकार इन तीसरे अध्यायमें अधोलोक व मध्यलोक स्थित जीवों के स्थान, स्थित, परिस्थितका सुन्दर विवेचन किया गया है।

#### चत्रयं अध्याय.--

प्रस्तुत अध्यायमें ऊर्ध्व लोकका वर्णन करते हुए ग्रंथकारने ऊर्ध्वलोकिस्थित देवोका निवास दर्शाया है। भवनवासी व्यतर देवोंका निवास इस मध्यभूमिमें होनेपर भी ज्योतिरक और कल्य-वासियोंका निवास इस समय पृथ्वीसे ऊरिले भागमें है। इस विषयका निरूपण करते हुए उन देवोंकी लेक्या, आयु, परिणाम. गति, आदिका यथागम वर्णन किया है। साथमें ज्योतिरक देवोंके प्रकरणमें मेर्ग्यदक्षिणा कर निरयगमन करनेवाले ज्योतिष्क देवोंका सुन्दर विवार अःचार्य देवने किया है। आधुनिक भौगोलिक विद्वानोंका इन प्रकरणमें भी आचार्य श्रीते खनर लिया है। पृथ्वी नारंग के समान गोल नहीं है, और सर्व स्थानोमें एकसी चपटी भी नहीं है। उसका भ्रमण भी युक्ति आगमसे विद्य है, सूर्य चन्द्रमाका भ्रमण सनत होता है, सूर्य चन्द्रमाके भ्रमणसे ही दिन राजका विभाग होता है। अन्य ग्रंथेंके भ्रमणसे सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण आदि होते हैं। इत्यादि बातोंको बहुत ही सुन्दरपद्धतिसे विद्यानन्द रवामीने सुन्दर सिद्ध किया है व भूभ्रमण बादियोंको निरुत्तर कर बिया है।

इस प्रकार इन पंत्रम खंडने दूपरे, तीसरे व चौथे अध्यायतकका प्रकरण आचुका है। अब आगे छठ भागमें पौतवा और छठा अध्याय, सातवे भागमें सातवें वाठकें, नवकें, और दसकें साध्यायके विषय साजायें गें अर्थान् अब दो संडोमें यह प्रंथराज समाप्त हो जावेगा। इस संबके प्रकाशनमें संस्थाने भारी स्यय उठाया है। ऐसे प्रयोगा एक बार प्रकाशित होना ही कठिन है, बार ब र होना तो असंभव ही है। और यह जैन तन्त्रज्ञानका महान् दार्शनिक ग्रंथ है। स्वाध्याय प्रेमियों का बल हमें मिला तो हम शीध ही अविकट भागों का भी प्रकाशन करेंगे।

संस्थाने यह महान् कार्य अपने हाथमें लिया है। ऐसे ग्रंथराओं का संपादन और प्रकाशन महान् साहसका विषय है। संस्थाकी विपुल धनराशि इन कार्यमें प्रयुक्त हो रही है। संस्थाका संकल्प है कि परमपूज्य प्रातःस्मरणीय विश्ववंद्ध आचायश्रीकी पूण्यस्मृतिमें प्रतिवर्ष कोई न कोई ग्रंथ प्रकाशमें आकर हमारे स्वाध्यायने नियों को ज्ञानलाम हो। इस एक ही ग्रंथ के प्रकानमें यदि शक्ति कीण हो गई तो निरुत्साहका वातावरण निर्माण हो सकता है। इसमें भी विशेष बात यह है कि यह महान् ग्रंथराज भी हमारे करीब ५०० स्थायी सदस्यों को विनामूस्य भेंट में दिया जारहा है। करीज पांच सी प्रतियों के इस प्रकार समाजप्रमुख व्यक्तियों के हाथ पहुंचने के बाद अवशिष्ट प्रतियों को मूल्य में खरीदकर स्वाध्याय करने वालों की संख्या बहुत कम एह जानी है। बत: साधर्मी बंजु वोंसे निवेदन है कि वे हमारे इस महान् कार्यमें निम्निलिखत प्रकारसे मदत करें।

- (१) स्वाध्य यके लिए मंदिर, श्रुन मंडार, शिक्षा संस्थायें, महाविद्यालय आदिमें इस संयराजके-सर्व भागोंको मंगाकर विराजमान 'करें। और जैन, सैनेतर विद्वानोंको अध्ययनार्ष इसकी प्रतियों को भेंट करें।
  - (२) ६स ग्रंवके प्रकाशनके लिए अग्नी ओरसे यथेष्ट द्रश्यकी सहायता करें।
- (३) १०१) प्रदान कर ग्रंथमाल के स्थायी सदस्य बर्ने । स्थायी सदस्यों को ग्रंथमालासे प्रकाशित सर्व ग्रंथ-तस्वार्थे इलोक वर्शन कारके सर्व वंडमहित भेटमें दिये जाते हैं।

जैनतत्वज्ञानका अत्यंत सूक्ष्मताके साथ तलस्पर्शी विवेचन करनेवाला यह अमूत पूर्व ग्रंथ है। इनका अधिकसे अधिक प्रचारका अर्थ स्याद्वाद र्श्वनका उद्योत है। इसिद्ध सार्किक विद्वान् न्यायिद्वाकर पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्यकी सुविस्तृत टीकासे विद्यानन्द स्वामीके अंतः स्पश्चिमी मीमांसाको सुवर्णके बीच रत्नकी शोभा आगई है। सर्वसाधारण स्वाध्यायप्रेमीकी समझमें अवि इतना सरल प्रचान प्रमेप बन गया है। हर एक ज्ञानिपपासुको इसका साम उठाना चाहिये।

#### इस ग्रंथका समर्पेण

स्री परमपूज्य आचार्य कुंचुसागरत्री महाराज परमपूज्य प्रातःस्मरणीय चारित्रचक्रवित साचार्य शांतिसागर महाराजके अन्यतम शिष्य थे। श्री साचार्य शांतिसागर महाराजने इस युगमें दिगंबर तपिस्वयों के मागंकी प्रशस्त करते हुए ध्वमणपरंपराकी विन्छित्र कडीकी पुन्-कज्जीवित किया है। उन्होंने अनेक विद्वाम् संयमी शिष्योंको निर्माण किया। उनके संघर्षे िंतने भी साधु हुए वे सभी तयोनिधि, चारित्रशील और आगमींके वेला, ज्ञानाभ्यासी देश-ंकालके काला सिद्ध हुए हैं।

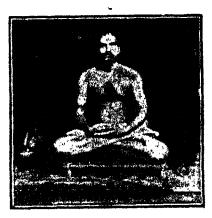
बाचारंश्रीने अपनी यमसल्लेखनाके समय अरने उत्तराधिकार पट्टको ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध एवं अनुभववृद्ध तपस्वी श्री परमपूज्य आचारं वीरसागर महाराजको सोंप दिया। परन्तु गुरुचरणोंके स्वर्ग सिधारनेके बाद आचारं वीरसागरजीका भी कुछ ही समयमें स्वर्गारोहण हुआ।
उस पट्टमें अधिकारी शिष्य परमशांत साधु ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध श्री आचार्य शिवसागरजी महाराज आसीत हुए। परमपूज्य आचार्यश्री भी अपने गुरुजनोंके समान ही ध्यानाध्ययनमें रत,
विषय कषायादिसे दूर, स्वपर हितमें अनुग्रह करनेवाले संत हैं। उनके द्वारा विशास संवका
संचालन यथापूर्व हो रहा है। आपके ही करकमलों ने बड़ी नम्मताके साथ यह ग्रंथ समर्गित
किया बा रहा है। अभीतकके सर्व भाग परमपूज्य संत आचार्यों के करकमलों ने ही हम समर्पत
करते हुए आ रहे हैं। यह आचार्यको कृति है, आचार्यके करकमलने ही हम समर्पण करते हैं।
इसके गुणदोषका निरीक्षण वे ही विद्वान् संत कर सकते हैं। स्वदीयं वस्तु गोविंद तुम्मवेव
समर्थते।

#### अपनी बात

श्री परमपूज्य प्रातः समरणीय विश्ववंद्य स्व. आचार्य कुंखुनागर महारात्र उनके युगके प्रभावक मनोज्ञ साधु थे। उनकी लोकेषणा वृत्ति, सवंजनप्रियता, मृदु व सरल परिणति, अगाध विद्वता आदि गुणोंसे सभी क्षेत्रकी जनता प्रभाविन थी। जैन समाज ही नहीं जैनेतर समाजमें भी उनके अगणित भक्त थे। उनकी सदमावनाके अनुपार उनकी स्पृतिमें यह ग्रंथमाला चालू है। हमारा संकल्प है कि प्रति वर्ष हमारे सदस्योंको कमसे कम एक ग्रंथ स्शब्धायार्थ प्रदान किया जावे। परन्तु संस्थाने इस महान् ग्रंथके प्रकाशनका कार्य हाथमें ले जिया है। अतः उनमें थो खासा व्यवधान होने रूर भी आगे हम प्रतिवर्ष एक एक ग्रंथ हमारे सदस्यों हो भेट करने का निश्वत प्रयत्न करेंगे।

इस विषयमें हम हमारे माननीय सदस्योंसे भी प्रार्थना करेंगे कि वे भी हमें सिकय सहयोग देवे । क्योंकि यह कार्य संपूर्णतः अधिक बलपर ही निर्भर है। यदि हमारे सदस्य अपनी संस्थाको पल्लवित करनेकी कामनासे अधिकबल प्रदान करनेकी कृपा करें तो संस्था आश्वास-नके अनुसार आपकी सेवा निश्चित रूपसे कर सकेगी। अतः कमसे कम सदस्य संख्या बढानेके प्रति हाथ बटावे यह सादर निवेदन है। विनीत

सोलापूर हैं भाद्रपद शु. ५ हैं भोर सं. २४९० हैं वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ऑ मंत्री आचार्य कुंबुसागर ग्रंथमाला कल्याण भवन, सोलापुर



श्री विश्ववंद्य तपीनिधि आचार्य स्व. कुंथुसागर महाराज जिन्होने अपने जीवन कारूमे धर्मकी अभूतपूर्व प्रभावना की, जैन-उद्योत शासनका किया, जैनतत्वज्ञानका प्रकाश सर्वत्र फैलाया, विश्वके कोने कोनेमें सार्व-धर्मको पहुंचाकर विद्वबंधु-हवकी भावना निर्माण की. उन्ही की चिरंतन स्मृतिमे इस ग्रंथ माला द्वारा अनेक अनहर्य ग्रंथोंका प्रकाशन सतत किया जा रहा है।



#### सविनय समर्पण

श्री परमपूज्य प्रातःस्मरणीय चारित्रचक्रवर्ति स्व.
आचार्य शांतिसागर स्वामीके पट्टमें अधिष्ठित
चारित्रचूडामणि श्री स्व. आचार्य वीरसागर
महाराजके पट्टमें स्थित होकर सफलतापूर्वक
विशाल संघका संचालन, सामु मार्गका
उद्योत,रत्नत्रय धर्मकी अपूर्व प्रभावना
करनेवाले

श्री १०८ आचार्य शिवसागर महाराजके करकमलोमें



#### श्रीविद्यानंद्-स्वामिविरचितः

# तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः

तत्त्वार्थिचेतामणिटीकामहितः

( पञ्चमखंडः )

# अथ द्वितीयोऽध्यायः।

नानावस्तुस्वभावभ्रमकलितवपुः स्यात्स्वतस्वाप्यवीवि-रस्माना अप्यगाधे गणधरमुनयः स्नान्ति यद्दोधतोवे । सिद्धार्थापत्यवीरोद्धव १कलजगत्तारि सावर्थ्यजुष्ट-ब्राह्मीगंगा पुनीताहुरितनिरसनी चिद्दहा भव्यहंसान् ॥

अय श्री विद्यानन्द आचार्य तस्वार्थम् प्रसंबंधी दितीय अध्याय के स्रोकनिर्मित बार्त्तिकों द्वारा अस्त्रकार करनेका प्रारम्भ करते हैं।

### सम्यद्दगोवरो जीवस्तस्यौपशमिकादयः। स्वं तत्त्वं पंच भावाः स्युः सप्तसूत्र्याः निरूपिताः॥ १॥

सम्बन्ध्यांन का विषयभूल होरहा जीव पदार्थ है, उसके औपरामिक, क्षायिक आदिक पांच भाव स्व आस्वक तत्त्व हो रहे हैं, वे इस दितीय अध्याय के प्रथमवर्ती सात सुत्रोंके समुदाय करके श्री उमास्वामी महाराज द्वारा पहिले निरूपण किये जाचुके हैं। इस कथन करके श्री विधानन्दस्वामीन प्रथम अध्यायके प्रकरणों की दितीय अध्याय सम्बन्धी प्रकरणों के साथ हो रही संगति को प्रदर्शित किया है अत: सूत्रकारके उपर असंगत प्रकाष दोष लग जाने का खटका नहीं रहा। सम्यग्हक्तस्वार्थश्रद्धानं तस्याः गोचरो विषयो जीवो निरूपितस्तावदजीवादिवत् तस्य स्वमसाधारणं तत्त्वमोपन्नमिकादयः पंच भावाः स्युर्न पुनः पारिणामिक एव भावश्रेतन्यमात्रं, यतश्रेतन्यं पुरुषस्य स्वं रूपमिति दर्शनं केषांचिव्यवतिष्ठते । बुध्यादयो नवैवात्मनो विशेषगुणा इति वा, आनंदमात्रं ब्रह्मरूपमिति वा मभास्यरमेवेदं चिक्तमिति वा ममाणाभावात् । ममाणोप-पन्नास्तु जीवस्यासाधारणाः स्वभावाः पंचीपन्नमिकादयस्ते सप्तसूत्र्या निरूपिताः सूत्रकारण लक्षणतः संख्यातः मभेदतश्च ।

सम्यग्दर्शन शद्धकी निरुक्ति कर देनेसे अभीष्ट अर्थ प्राप्त नहीं होता था । अतः सम्यग्दर्शनका पारिभाषिक अर्थ तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना कहा गया है। उस श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका अजीव आदिके समान विषयभूत हो रहा जीवपदार्थ तो पहिले अध्यायमें कहा जा चुका है। अब उस जीवके विशेष अंशोंका निरूपण करनेके लिये प्रकरण चलाते हैं । उस जीवके निजआत्मम्बरूप हो रहे औपशमिक आदिक पांचभाव तो स्वकीय असाधारणतत्त्व है। जो अन्य अजीव माने गये पुरुल आदिमें नहीं पाये जाकर केवल जीवमें ही पांय जांय वे जीवके असाधारणभाव हो मर्केश । प्रतिपक्षा कर्मीक उपरामसे होनेवाले या कर्मीके क्षयसे होनेवाले अथवा उदय, उपराम, आदिकी नहीं अपेक्षा कर जीबद्रव्यके केवल आत्मलाभसे अनादि सिद्ध हो रहे पारणामिक ये तीन भाव तो जीवके निज स्वरूप हैं ही । साथमें गुण या स्वभावोंके प्रतिपक्षी द्वये कर्मोंकी सर्वचाति प्रकृतियों हा उदयक्षय, और उपराम होनेपर तथा देशघाति प्रकृतियोंके उदय होनेपर हो जानेवाले बुजान, मतिज्ञान, चक्षुदर्शन, आदि क्षायोपशमिकभाव तथा कलिपय कर्मीका उदय होनेपर उपजनेबाले मनुष्यगति, क्रोध, पंजेद परिणाम, मिथ्यात्व आदिक औदामिकभाव भी आत्माके निज मच्च हैं। क्योंकि क्षायोपदामिक और औदायिकभावोंका भी उपादान कारण आत्मा ही है। कर्मीके क्षयोपराम या उदयको निमित्त पाकर आत्मा ही मतिज्ञान, ऋोय, आदिरूप परिणत हो जाता है। आत्माके चेतनागुणकी पर्याय मतिज्ञान. कुमतिज्ञान आदि है और आत्माके चारित्र गुणका विभाव परिणाम कोच आदि है। केवल निश्चयनय द्वारा शुद्ध द्रव्यके प्रतिपादक समयसार आदि प्रन्थोंमें भन्ने ही मतिज्ञान, क्रोध आदिको प्रभाव कह दिया गया होय, किन्तु प्रमाणोंद्वारा तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति करानेवाले या अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करने बाले क्षोत्रवार्त्तिक, अष्टसहस्री, गोमदृसार, राजवार्त्तिक, आदि प्रन्योंमें क्रोध, वेद आदिको आत्माका स्ब--आत्मकभाव माना गया है। अतः पांचों ही भाव जीवके स्वकीय असाधारण तस्व है। उन पांचों भावोंके साथ तदात्मक हो रहा जीव तत्त्व वास्तविक है। किन्तु फिर केवल परिणामिक भाव अकेले चैतन्य स्वरूप ही जीव नहीं है, जिससे कि केवल चैतन्य ही पुरुषका निज स्वरूप है, ज्ञान. सुख, वीर्य, क्रोब, अवधिज्ञान, उपराम, चारित्र, आदिक भाव तो जीवके निजस्वरूप नहीं हैं, किंत त्रिगणआ मक प्रकृतिके विवर्त हैं, इस प्रकार किन्हीं किन्हीं साख्योंका माना गया सिद्धान्त व्यवस्थित

हो सके अथवा बुद्धिको आदि छेकर सुख, दु:ख, इच्छा, हेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना ये नौ ही आत्माके विशेष गुण हैं, संख्या, परिमाण, पृथक्त, संयोग, विभाव ये पांच गुण आत्माके सामान्य हैं, इस प्रकार नौ और पांच मिलकर चौदह ही गुण आत्माके न्यवस्थित हो सकें, अन्य अस्तित्व. द्रव्यत्व, चारित्र, वीर्य, आदि अनन्त गुणोंका वैशेषिक सिद्धान्त अनुसार निषेध कर दिया जाय. अथवा केवल आनन्द ही एक गुण ब्रह्मका स्वरूप है, यह ब्रह्मवादियोंका सिद्धान्त व्यवस्थित हो सके. अथवा यह चित्त स्वरूप आत्मा केवल चमक रहा, प्रभास्वर गुणवाला ही है, इस प्रकार मीमांसक, बौद्ध आदि दार्शनिकोंके मन्तव्य व्यवस्थित ठहर सकें । जब कि स्वसम्बदन प्रत्यक्षसे पांच भावोंके साथ आत्माका उपजीन्य, उपजीवक स्वरूप तादाल्य प्रतीत हो रहा है, ऐसी दशामें केवल चैतन्य ही या नौ विशेष गुण ही अथवा केवल आनंद गुण ही तथा प्रभास्वर गुण ही का आत्माके साथ उप-जीःय उपजीवक भाव साधनेका कोई प्रमाण नहीं है । जिन गुण या स्वमावींकरके पदार्थ आत्म लाभ कियें हुये हैं, वे उपजीवक माने जाते हैं और उन करके आत्मलाम कर रहा पदार्थ उपजीव्य समझा जाता है। पांच भाव जीवके उपजीवक हैं। अनादि और सादि सहभावी क्रमभावी। पर्यायोंको धारनेवाला जीव तत्त्व है। शुद्ध परमात्मा द्रव्य हो रहं सिद्ध भगवानोंमें यद्यपि औपशमिक, क्षायोप-शमिक और औदियिक ये तीन प्रकारके भाव नहीं है । सिद्धोंमें पारिणामिक और क्षायिकभाव ही हैं । तथा बहुमाग अनंतानंत संसारी जीवोंमें क्षायिकभाव या औपशमिक भाव नहीं पाये जाते हैं. तो भी जिन जीवोंमें पांचों भावोंमें से यथायोग्य दो ही तीन ही चारो ही अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टि पंचेंद्रियपुरुष जीवके ग्यारहवें गुणस्थानमें पांचों, यों जितने भी सम्भव पाये जाते हैं, सब जीवके तदात्मक हो रहे असाधारण स्वभाव है । अतः प्रमाणोंसे युक्तिसिद्ध हो रहें, पांच औपशमिक आदिक स्वभाव तो जीवके असाधारण स्वभाव हैं। दूसरे अध्यायमें सूत्रकार श्री उमास्त्रामी महाराज करके पहिले सात मुत्रोंके समुदाय करके पांच भाव कहे गये हैं। द्वितीय अध्यायके पहिछे सूत्रद्वारा निरुक्तिपूर्वक लक्षणसे पांच भावोंको कहा गया है। दूसरे सूत्रमें संख्या निरूपण करनेसे पांच भावोंका कथन किया है। तथा द्वितीय अध्यायके तीसरे, चौथे, पांचर्वे, छद्दे, सातवें सूत्रमें उन पांचों भावोंका प्रभेद दिग्वटा देनेसे निरूपण किया गया है।

#### तत्र तेषां रुक्षणतो निरूपणार्थमिद्याद्यं सूत्रमुपरुक्ष्यते ।

अब लक्षण, संख्या, और प्रभेद उन तीनों प्ररूपणोंमें प्रथम उन भावोंका लक्षणरूपसे कथन करनेके लिये द्वितीय अध्यायके आदिमें होनेवाला सूत्र श्री उमास्वामी महाराज करके उपलक्षणपूर्वक कहा जाता है।

# आपशमिकशायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

बर्मोंके उपशमसे होनेवाला औपशमिक्षमाव और कर्मोंका क्षय होनेपर अनन्तकालतको लिये सम्भव जानेवाला क्षायिक्षमाव तथा उपशम, क्षय, दोनों या उदय मिलाकर तीनों अवस्थाबोंका मिश्रण होजानेपर उपजरहा क्षायोपशामिक्षमाव एवं कर्मोदयसे सम्पाध औदायिक्षमाव और उदय आदि की नहीं अपेक्षा रखनेबाले पारिणामिक्षमाव ये पांच माव जीवको नदान्मक स्वस्वरूप तस्व हैं। अर्थात्—मानव शरीरके जैसे दो हाथ दो पांच नितम्ब, पीठ, उरःस्थल, शिर ये आठ अंग निजतस्व हैं, अथवा हुश्चके स्कंध, शाखा, पुष्प, पत्र, फल ये पांच तदानमभूत तस्व हैं, उसी प्रकार औपशमिक आटिक पांच माव जीवके स्य-आत्मभूत निजतस्व हैं।

#### अत्रीपभ्रमिकाद्विश्रन्दिनिरुक्तित एवीपश्रमिकादिभावनां लक्षणश्रुपश्रीतं तस्यास्तदस्य-भिचारात् । तथा हि—

यहां सूर्ज़ने कहे गये औपशमिक, क्षायिक आदि शद्भौकी प्रकृतिप्रत्यय द्वारा निरक्ति करदेनेमें ही औपशमिक, क्षापिक आदि भाषोंका छक्षण ठीक दिखछा दिया गया है। क्योंकि उस निरुक्तिका उनके निर्देश अनुसार छक्षण करके व्यभिचार नहीं आता है। जहां शद्धनिरुक्तिका छक्षणके साथ व्यभिचार नहीं आता होय वहां ही पारिभाषिक छक्षण कण्ठोक्त किया जाता है। अन्यत्र नहीं। औपशमिक आदिक शद्भोंकी छक्षण गर्मित निरुक्तिको स्वयं प्रत्यकार वार्त्तिको द्वारा प्रसिद्ध कर दिखाने हैं। भागोंके ये पांचों नाम अन्वर्थ हैं।

### अनुद्भृतस्वसामार्थ्यवृत्तितोपशमो एतः । कर्भणां पुत्ति तोयादावधःप्रापितः इवत् ॥ २ ॥

आतार्मे कर्मोंका अपनी सामर्थको प्रकट नहीं करते हुये यों ही सत्तारूप वर्तते रहना उपराम माना गया है जैसे कि जल, वक्लर, आदिमें कतकापल, दूध आदिको सम्बन्धसे नीचे प्रवेशों कीच प्राप्त करा दी जानी है । अर्थात् विशेष अचल आविलिक कोई भी कर्मफल देनेके लिये अभिमुख नहीं होता है। अवाधाकाल और अचल आविलिक कोई भी कर्मफल देनेके लिये अभिमुख नहीं होता है। स्वयोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, मावकं नहीं मिलनेपर भी कर्म उदयमें नहीं आते है। यदि उनकी स्थिति पूरी होगई होय तो विना ही फल दिये हुये भले ही खिरजीय। एक ही समय बांधे हुये अनन्त परमाणु पिण्ड हो रहे कर्मोंमेंसे आवाधा काल पीछे कुछ कर्मोंके उदयावली स्रोतमें प्रविष्ट हो चुकनंपर भी उन्हीं कर्मोंमेंसे गुणहानि क्रम अनुसार जिम कर्मोंका उदय चिर भविष्यकालमें आनेवाला है तजनक पूर्व समयम उनका भी उपराम बना रहना है। अन्तरकरण और सदबस्था रूप ये उपराम में दो मेद है। गुणको विधातनेवाल कर्मोंको कुछ पहिले समर्थोंमें उदय प्राप्त करले कर्मोंको उक्लर्थण द्वारा पीछे समर्थोंमें उदय योग्य वनालेना, इस अबुद्धि

पूर्वक कार्योपयोगी आत्मीय परिणामोंके प्रयत्नसे अन्तर्मृहूर्त कालतकके लिये कर्मोंके उदयको टाल्देना अन्तरकरण उपराम कहा जाता है और बांधेहुये कर्मोंकी फलप्राप्तितक यों ही सत्तामें उनका पढ़े रहना सदकरण उपराम है। उपराम करने लिये भी आत्माको चला कर प्रयत्न करना पढ़ता है, जिससे कि उदीरणाका कारण उपस्थित होकर कर्म उदयमें नहीं आसके। जलमें पढ़ी हुई फिटिकिरीको कि दवानेके लिये सतत उद्यत रहना पढ़ता है। तभी तो चाहे जब जलमें कीच धुलने नहीं पाती है। तीव वायुके झकोरों द्वारा या जलपात्रके उथल पुथल कर देनसे यदि फिटिकिरीके उद्यमको व्ययं करदिया जाय तो जलमें कीचकी सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। उसी प्रकार आत्मामें भी तीव उदीरणाके कारण मिल जानेपर आत्माका उपरामार्थ किया गया प्रयत्न व्यर्थ होकर कर्मोंकी सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। जबतक कर्मोंकी राक्ति उद्युत्त नहीं हुई है तबतक उपराम माना जाता है। जीवियों द्वारा रोगोंका प्रकट नहीं होना प्रसिद्ध है। कर्मोंका उपराम आत्माकी विद्युद्धिकप परिणाम माना गया है कीचका दवा रहना जलकी (विच्छता ही तो है।

### तेषामात्यंतिकी हानिः क्षयस्तदुभयात्मकः । क्षयोपराम उद्गीतः क्षीणाक्षीणबरुत्वतः ॥ ३॥

उन प्रतिपक्षी कर्मोंकी अत्यन्त कालतकके लिये हानि हो जाना क्षय माना गया है, जैसे कि दंबी कीचवाले पानीको दूसरे स्वच्छ पात्रेंने बुढेल लेनेपर कीचका अत्यन्तामाव हो जाता है । कर्मोंकी अनन्तकालतकके लिये हानि हो जानेपर हुआ आत्माका सुविशुद्ध परिणाम ही क्षय पढ़ता है । जैनोंके यहां तुच्छ अभाव कोई पदार्थ नहीं माना गया है । रोगके उपरामसे और रोगके क्षयसे हो जानेवाली आत्माकी विशुद्धिमें भारी अन्तर है । तथा क्षय और उपराम उन दोनोंका तदात्मक हो रहा परिणाम तो कर्मोंकी कुछ क्षीण और कुछ अक्षीण सामर्थ्य हो जानेसे क्षयोपराम भाव मिश्र कहा गया है । सर्वन्याति प्रकृतियोंका उदयाभावक्षप क्षय और उन्हींका सदवस्थारूप उपराम तथा प्रतिपक्षी कर्मोंकी गुणको एक देशसे धातनेवाली देशबाति प्रकृतियोंका उदय होनेपर क्षयोपराम परिणाम होता है, जैसे कि कोदो या मांगपत्तीको विशेष प्रकार द्वारा धोनेसे उनकी मद ( नशा ) उत्पादक शक्तियां क्षीण अक्षीण हो जाती है । यहां क्षयोपराममें पढ़े हुये क्षयका अर्थ अत्यन्त निष्टृति नहीं है । किन्तु उपराम शद्धका साहचर्य होनेसे क्षयका अर्थ फल नहीं देकर कर्मोका प्रदेशोदय होजाना स्वस्त्य उदयामाव है ।

# उदयः फलकारित्वं द्रव्यादित्रत्ययद्वयात् । द्रव्यात्मलाभहेतुः स्यात् परिणामोनपेक्षिणः ॥ ४ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन व्यक्तिंग और अन्तरंग दोनों निमित्त कारणोंसे विपानमें प्राप्त हो रहे कमीका परुष्ठ देना रूप कार्य करना उदय है। अर्थात्-द्रव्य, क्षेत्र, कार्कको बहिरंग कारण मानकर और भावको अन्तरंग निमित्त मानकर जो कमैंकि फलको प्राप्ति होना है, वह उदय है। जैसे कि द्रव्य, क्षेत्र, आदिका प्रसंग मिल जानेपर आम्र बीज या धान्य बीजसे फल प्राप्ति हो जाती है, पाबत कमौंमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंको निमित्त माना गया है। बीजके विना वृक्ष नहीं होता है। योग्य खेतके विना नंगे पत्थरपर आम्र, गेहूं आदिके पेड उगते नहीं हैं। उचित अवसरके विना अनियत ऋतुओं में वृक्ष, फल, फूल नहीं उपजते है। बीज या शाखाओं का उपयोगी परिणाम हुये विना वृक्ष, फल, फूल नहीं आते है। अध्ययन, अर्थोपार्जन, काम पुरुषार्थ, देवार्चन, मोक्ष, इन सब कमौंके लिये द्रव्य आदि चतुष्ट्य आकांक्षणीय है। इसी प्रकार कमौंके फल प्राप्त कराने में भी द्रव्य आदि चारों कारण आवश्यक है। तथा जिसका हेतु केवल द्रव्यका आत्मलाम ही है, वह अन्य किसीकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले पदार्थका भाव तो परिणाम कहा जायगा। अर्थात्—अनादिकालीन द्रव्यका आत्मलाम हो रहा ही जिसका हेतु है, जिसके अन्य कोई कर्मोंके उदय उप-शास आदिक निमित्त नहीं है, वह इस प्रकरणमें परिणाम कहा जाता है।

एतत्प्रयोजना भावाः सर्वीपशमिकादयः । इत्योमश्रमिकादीनां शब्दानामुख्वर्णिता ॥ ५ ॥ निरुक्तिरर्थसामध्यद्ज्ञातुमव्यभिचारिणी । ततोन्यत्राप्रवृत्तत्वात् ज्ञानचारित्रशब्दवत् ॥ ६ ॥

जिन सभी औपशिमिक क्षायिक भावों के पूर्वोक्त उपशाम, क्षय, क्षयोपशम, उदय, परिष्णाम ये भाव प्रयोजन है, वे भाव औपशिमिक आदिक है। इस प्रकार "तदस्य प्रयोजनं " इस अर्थमं ठब् प्रस्यय कर औपशिमिक आदि शब्दोंकी व्याकरण शास्त्र अनुसार निरुक्ति कह दी गथी है। शब्द निष्ठ अर्थकी सामर्थ्यसे जाननेके लिये निरुक्तिमें कोई व्याभिचार दोप नहीं आता है। क्योंकि धातु, प्रकृति, प्रस्यय, इनके अनुसार बने हुथे उस शब्दके यौगिक अर्थसे अिरिक्त अन्य अर्थोमें वे शब्द नहीं प्रवर्तते हैं। जैसे कि एहिले मूत्रमें कहे गये ज्ञान और चारित्र शब्दकी निरुक्ति कर देनेसे ही अन्यभिचारी अभिप्रेत अर्थ प्राप्त हो जाता है। हां, सम्यग्दर्शनका शद्धनिरुक्ति द्वारा अर्थ करनेपर व्यभिचार दोष आता है। तभी तो श्रीउमास्थामी महाराजने सम्यग्दर्शनका अभीष्ट अर्थ करनेके लिये त्यारा सूत्र "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं " वहा है और सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका निरुक्तियोंसे ही अर्थ निकाला है। व्यवहारमें लाखों, करोडों, शद्धोंका प्रयोग होता है। वहांनक सर्व शद्धोंके परिभाषिक अर्थ करते किरों। बहुभाग यौगिक अर्थोसे ही शद्धों द्वारा वाच्यार्थकी निरुक्ति कर ली जानी है। जहां निरुक्तिका व्यभिचार होता है, वहां गो, व्याप्त, जुशल, आदि शद्धोंको यौगिक नहीं मानकर स्रिक्तिका व्यभिचार होता है, वहां गो, व्याप्त, जुशल, आदि शद्धोंको यौगिक नहीं मानकर स्रिक्तिका व्यभिचार होता है। अतः उपशामः प्रभोजनमस्य इत्यादि प्रकारसे निरुक्ति कर आपश्यभिक्त

आदि शहाँको अन्वर्थ साध लेना चाहिये। चुरादिगणकी " मिश्र सम्पर्के" धातुसे अच् प्रत्यय कर मिश्र शहको बना लेना चाहिये। द्विरेफ शहसे लक्षणा द्वारा दो रफारवाला जैसे अमर शह कह दिया जाता है, वैसे मिश्र शह द्वारा क्षायोपशमिक शहकी उपस्थिनि करते हुये क्षयोपशम शहसे ठल् प्रत्यय कर क्षायोपशमिक शहकी निरुक्ति साथ लेनी चाहिये।

# प्रशोपशमिकरयोक्तिर्भव्यस्यानादिसंसृतौ । वर्तमानस्य सम्यक्त्वप्रहणे तस्य संभवात् ॥ ७ ॥

सभी संसारी जीवोंमें साधारण रूपसे पाये जाते हैं, अतः औदियक और पारिणामिकका सूत्रमें पहिले प्रहण होना चाहिये, ऐसी आशंकाकी सम्भावना होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी प्रथम ही समाधान कर देते हैं कि यह प्रन्थ मोक्षकी शिक्षा देनेवाला मोक्षशास्त्र है। मोक्षका प्रधान कारण सम्यग्दर्शन हैं, अनादिकालके संसारमें परिश्रमण कर वर्त रहे भव्य जीवके आदिम सम्यक्त्व प्रहण करनेपर मोक्षोपयोगी सम्पूर्ण भावोंके प्रथम उस औपशमिक सम्यक्त्वपरिणामका होना सम्भवता है। अतः आदिम सम्यक्त्व भी अपेक्षा सम्पूर्ण भावोंमें पहिले औपशमिकका कथन सूत्रकारने किया है।

स्तोकत्वात्सर्वभावेभ्यः स्तोककालत्वतोपि व।।

होषेभ्यः क्षायिकादिभ्यः कथंचित्र विरुध्यते ॥ ८ ॥

ततस्तु क्षायिकस्योक्तिरसंख्येयगुणत्वतः ।

भव्यजीवस्वभावत्वख्यापनार्थत्वतोषि च ॥ ९ ॥

क्षायोपशभिकस्यातो या संख्येयगुणत्वतः ।

युक्तास्ति तद्द्वयात्मत्वाद्भव्येत्रसमत्वतः ॥ १० ॥

उक्तिरौदयिकस्यातस्तेन जीवावबोधतः ।

पारिणाभिकभावस्य ततीते सर्वनृश्यितेः ॥ ११ ॥

दूमरी बात यह है कि गुणवान पदार्थोंका अल्पपना भी लोकमें आदर प्राप्तिका हेतु है। आदरणीय पदार्थका सबसे पहिले उचारण हो जाता है। क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि सम्पूर्ण भावोंसे औपशमिकभाव अल्यल्प है। अथवा क्षायिक आदि भावोंसे युक्त हो रहे जीवोंकी अपेक्षा औपशमिक भावोंको धारनेवाले जीव असेल्यातें भाग या अनन्तवें भाग पाये जा रहे, थोडे हैं। काचित, कदाचित् ही पाये जांय ऐसे पदार्थ अद्भुतागार (अजायबघर) में प्रथम शोभा स्थानपर विराजमान

कर दिये जाते हैं। अथवा तीसरी बात यह भी है कि इंछ बच रहे क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि चार भावोंसे औपरामिक भावोंका काल थोड़ा है। बहुत कालतक (निद्रीक होकर) ठहरनेवाडे पदार्थींसे थोडी देर ठहरनेवार्छ ( लजालु ) पदार्थ पिले नाम पा जाने हैं। इस कारणमे भी चार भावोंसे पहिले औपगमिकभावका कथन करना कैसे भी विरोधको प्राप नहीं होता है। अर्थात्---उपराम सम्यादर्शनका उत्कृष्ट काल अन्तर्भृङ्क्त है। अन्तर्भृङ्क्तमे अमेल्यात समय होने है। उत्तने समयोंमें होनेवाले चारों गतियोंके, उपरामसम्बग्दछि जीव यदि एकत्रित कर लिये नांय तो पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण इतने असंख्याते जीव उपग्रम सम्यग्द्रि पाये जायेगे । किन्तु उपश्म-सम्यन्दृष्टियोंसे आवलीका असंख्यातवां भागरूप असंख्यातसे गुणे हुये क्षायिकसम्यन्दृष्टि जीव बहुत है । क्योंकि संतारमे स्थितिकी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दर्शनका काल अन्तर्मृहूर्त्तसहित आठ वर्ष कमती दो कोटि पूर्वसे अधिक तेतीस सागर है। अतः असंख्यातगणे अपने कालमें चारी गतियोंके क्षायिक-सम्यग्दृष्टि असंस्यान गुणे हैं । तथा क्षायि प्रभाववाले जीवोंने क्षायोपगमि प्रभाववाले जीव असंख्यात-गुणे हैं। जीवद्रज्योंकी संख्या गिननेकी अपेक्षा उक्त ज्यवस्था है। विशादिक भावोंकी गिनती करने पर तो क्षायोंपरामिकभावोंसे क्षायिकभाव ही अनन्त गुणे है । औद्यिक, पारिणामिक भाववाले तो इनसे अनन्त गुणे है। अनन्त निगोदिया जीबोके कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, अचक्षुदर्शन, लिब्बयां, ये भाष क्षायोपरामिक है। इस अपेक्षासे विचारनेपर तो क्षायोपरामिक और औदायिक भाववालोंकी संख्या समान है। जीवत्व, अस्तित्व, नित्यत्व, आदि कुछ पारिणामिक भावोको सिद्ध परमात्माओंमे भी स्वीकार कर छेनेपर औदायिक भाववालोंसे पारिणामिक भाववान जीवोकी संख्या बढ़ जाती है। अनः इन कारिकाओं का यह अभिप्राय है कि शेष भागोंसे अन्य और अल्पकार स्थितिवाला होनेसे औपशिम-कका सबसे प्रथम कथन है। और उस औपशमिककी अपेक्षा असंख्यात गुणा होनेसे क्षायिकभावका तो उसके पश्चात् कथन है। एक बात यह और भी है कि पांच भावोमें औपरामिक और क्षायिक-भाव ये दो जातिके भाव तो भव्य जीवोंक ही स्वभाव है। अभव्य जीवोंने कथमपि नहीं पाये जाते हैं। इस बातको प्रसिद्ध करना रूप प्रयोजन साधनेके लिये भी औपशमिकके पीछे लगे हाथ क्षायि-कका कथन हैं। तथा इसके पीछे इन क्षायिकोसे असंख्यात गुणा होनेसे क्षायीपरामिकका जो सूत्र-कारने अथन किया है वह युक्त है । उन औपशामिक, क्षायिक दोनों भावींका सम्मेरन आत्कक होनेसे भी उस क्षाये पशमिकका झट उनके पीछे कथन करना समुचित है । भव्य और अभव्य जीबोंमे क्षायोपशामिक भाव समानरूपमे निवास करते हैं । इस कारण भी मन्योंमें ही पाये जानेवाले दो भावोको पीछे शांत्र भव्य, अभव्य दोनोंमे पाये जानेवाले क्षायोपशमिक भावका कथन करना अनिवार्य हो जाता है। तथा इन तीनके पश्चात् औदियक भावका कथन करना आवस्यक पढ जाता है। क्यों कि औदयिकभावों में गिनाया गर्य। गतिसे अधातिकमें द्यजनित सभी रोष भागेंका ग्रहण हो उत्ता है। अतः भनुष्यगति, तिर्यगाति, शरीरचेष्टा, उच्करण, नार्डा फडक्रना,

श्वासे चलना, उष्णस्पर्श, लावण्य, क्रोंध, लेक्सा, आदि उन औदियेक भावोसे जीवका परिज्ञान हो जाता है, या करा दिया जाता है। उन चारोंके अन्तमें पुनः पारिणामिक भावका सूत्रकारने उपादान किया है। क्योंकि सम्पूर्ण मनुष्य आदि संसारी जीवों और मुक्त जीवोंमें भी पारिणामिकभाव स्थित हो रहे है। चैतन्य, जीवल, ब्रव्याव, अस्तिल्व आदि पारिणामिक भावोंसे भी जीवका ज्ञान होता है। अनः पहिला हेतु भी यहां कथंचित् लागू हो जाता है।

न चैषां द्वन्द्वनिदंशः सर्वेषां सूरिणा कृतः । क्षायोपशमिकस्येव मिश्रस्य प्रतिपत्तये ॥ १२ ॥ नान्धकश्च शद्धोसौ मध्ये सूत्रस्य लक्ष्यते । नाप्यंते द्यादिसंयोगजन्मभावोपसंग्रहात् ॥ १३ ॥ क्षायोपशमिकं चांते नोक्तं मध्येत्र युज्यते । ग्रन्थस्य गौरवाभावादन्यथा तत्प्रसंगतः ॥ १४ ॥ निरवद्यमतः सूत्रं भावपंचकलक्षणम् । प्रस्थापयति निःशेषदुरारेकाविवेकतः ॥ १५ ॥

यहां किसीका आरेका है कि इस सूत्रमं ' औपशमिकक्षायिको मिश्रः—औदियिकपारिणामिको ' यां पदोंके दुक है नहीं कहकर '' चार्थ इन्ह '' इस सूत्र करके पांचों पदोंका इन्ह करते हुये श्रं उमास्वामी महाराजको औपशमिकक्षायिकमिश्रादियकपारिणामिका इस प्रकार छ्युनिर्देश करना चाहिये था। यों कहनेसे दो बार च शद्ध नहीं करना पडता है। इसके उत्तरमें श्री विद्यानन्द स्वार्म कहते है कि औपशमिक और क्षायिक इन दो भावोंसे आतिरिक्त अन्य भावके हाथ मिश्रपना न क बैठे, किन्तु क्षय और उपशमका ही मिश्र होकर क्षायोपशमिक बने इसकी प्रतिपत्तिके छिये श्रं उमास्वामी आचार्यने इन सब पांचों पदोंका एक साथ इन्हिन्देश नहीं किया है। अतः एव सूत्रवं मध्यमें पडा हुआ वह च शद्ध भी व्यर्थ नहीं दीखता है। क्योंकि च शद्ध होते संते ही मिश्र शद्ध करके पूर्वमें कहे गये क्षय और उपशमका अनुकर्षण हो जाता है। अन्तमें पडा हुआ दूसर च शद्ध भी व्यर्थ नहीं है। क्योंकि उस च का अर्थ कण्ठोक्त नहीं कहे गये इतर भावोंका समुक्त करना है। जिससे कि दो, तीन, आदि भावोंके संयोगसे उत्पन्न हुये सान्निपातिक मान्नेका यथायोक संग्रह हो जाना है। छन्नीस, छनीस, इकतालीस, इन्यादिक दो आदिके संयोगसे होनेवाले भाव कर्ष अन्नसार मनुष्य होता हुआ जीवल परिणामक

धारनेवाला मनुष्य जीव औद्यिक पारिणामिक द्विसंयोगीमाव है या श्वायिकसम्यग्दिष्ट, श्रुतज्ञानी, यह दि-संयोगी भाव श्वायिकश्वायोपशिमकका सिलपात है। अथवा उपशांतमोह, श्वायिकसम्यग्दिष्ट, मनुष्य यह त्रिसंयोगी औपशिमक, श्वायिक, जीदियक, इन तीन भावों के समुदायसे जन्य है। तथा श्वीण-कषाय, मितज्ञानी, मन्य, मनुष्य, यह चनुःसंयोगी भाव श्वायिक, श्वायोपशिमक, पारिणामिक, औद-यिक, इन चार भावों के समुदायसे उपन्न हुआ है। इसी प्रकार पांचवां श्वायिक सम्यग्दिष्ट, उपशांत-मोह, पंचेन्द्रिय, मनुष्य, जीव, यह पंच संयोगभाव श्वायिक, औपशिमक, श्वायोपशिमक, औदियिक, पारिणामिक पांचों भावों के सिलपातसे उपजा है। इन सब सम्पूर्ण भावोका च शद्ध से संग्रह कर लिया जाता है। पिहले च शद्धकों नहीं कह कर श्वायोपशिमक शद्धके कह देनेसे प्रन्थका गौरव हो जाता है। मिश्रश्च इन तीन वर्णों के स्थानपर श्वायोपशिमक ये छह सस्तर वर्ण कहने पडते है। अतः प्रथके गौरव दोपका अभाव हो जानेसे औपशिमक आर्थ श्वायिक अन्तमे औप इन सूत्र के मध्यमें श्वायोपशिक शद्ध नहीं कहना यक्त है। अन्यश्चा यानी श्वायोपशिक शद्ध को कंठोक्त करनेपर उम प्रन्थ गौरव दोपका प्रसंग वना रहेगा। अतः यह सूत्र पांचों भावों के छश्वणको निर्दोष होकर बिटया बखान रहा है। क्यों के समस्त खोटी शंकाओका प्रथम्भाव कर दिया जाता है। अथवा सम्पूर्ण खोटी शंका-ओक विवेचनका अवसर ही नहीं रह पाता है।

#### अथौपशमिकादिभेदसंख्याख्यापनार्थे द्वितीयं सूत्रम्—

अब औपरामिक, क्षायिक, आदि मार्चों के भेदोंकी संख्याकी प्रसिद्ध करानेके छिये श्री उमा-स्वामी महाराज दूसरे सूत्रको कहते हैं।

# द्विनवाष्ट्रादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २॥

पूर्व उक्त औपशमिक आदि भावोंके यथाक्रमसे दो, नी, अठारह, इक्कीम, और तीन भेद हैं। स्वपदार्थप्रधान समास करनेपर और अर्थके वशसे पूर्वस्त्रोक्त प्रथमान्त पदोको पर्ध विभक्ति अन्तकर देनेसे अर्थ हो जाता है। किन्तु "न कर्मधारयः स्यान्मत्वर्थीयो बहुब्रोहिश्चेदर्थप्रतिपत्तिकरः" इस नियम अनुसार बहुर्ब्राहि समासको प्रथम अवसर मिलनेपर तो दो भेदवाला औपशमिक है। नी भेद बाला क्षायिक है, इत्यादि यह अर्थ सुन्दर है। अन्यपदार्थप्रधान समास वृत्ति करनेपर तो प्रथमान्त पदोंके साथ ही इस सूत्रका सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

#### द्यादीनां भेदशद्वेन वृत्तिरन्यपदार्थिका । द्वंद्वभाजां भवेदत्र स्वाभिषेतार्थसिद्धितः ॥ १ ॥

यहां हो च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्व त्रयश्व '' द्विनवाष्टादशैविंशतित्रयः '' इस प्रकार द्वन्द्व समास वृत्तिको धारनेवाले द्वि नव आदि शब्दोंकी भेद शब्दके साथ अन्य पदार्थको प्रधान सम- सानेवाली बहुनीहि समासकृति हो जाय तभी निजको अभीष्ट हो रहे अर्थकी सिद्धि हो सकेगी। अर्थात् पूर्वसूत्रोक्त प्रथमान्त पदोंके साथ इस सूत्रके प्रथमान्त " भेदा " पदका सामानाधिकरण्य बनकर कम अनुसार भेदसंख्या गिना दी जाती है।

### प्रत्येकं भेदशद्धस्य समाप्तिर्भुजिवन्मता । यथाक्रममिति रूयातेष्यक्रमस्य निराक्रिया ॥ २ ॥

जैसे प्राममें अधिक दूपित कीच कूडा इकडा होनेपर " प्रामीणं रातेन दण्ड्यन्तां " इस राजा-ज्ञांक अनुसार प्रामनिवासी सम्पूर्ण मनुष्पोंपर मिलाकर मी रुपयेका दण्ड किया गया है। एक एक मनुष्पको सी सी रुपयेसे दण्डित नहीं किया गया है, तथा " देवदत्तजिनदत्तागुरुदत्ता मोज्यन्तां " यहां एक व्यक्तिकी उदर तृभि कराने योग्य मोजनको तीनोंमें बांट दो यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। किन्तु तीनोंको न्यारे न्यारे तृभिपूर्वक भरपेट मोजन कराना अर्थ अभीष्ट हो रहा है। अतः मोजनके समान यहां सूत्रमें द्वि, नव, आदि राद्वोंमेंसे प्रत्येक संस्त्येय वाचक राब्दके साथ मेद राब्दकी परिपूर्ण-रूपसे प्राप्ति हो जाना मानी गयी है। " इन्दादी इन्द्रनते च श्रूयमाणपदं प्रत्येकमिसम्बच्यते " इस नियम अनुसार भेद राब्द सबके साथ लग जाता है। तथा इस सूत्रमें " यथाक्रमम् " इस प्रकार स्पष्ट कथन करनेपर तो अक्रमका निराकरण भी हो जाता है। अर्थात्—पूर्वमें उच्चारे गये औपरामि-कके दो भेद आदि कम अनुसार समझे जायेंगे। व्यतिक्रमसे औपरामिकके नौ या अठारह भेद अथवा क्षायिकके तीन या इक्कीस भेद नहीं समझे जा सकेंगे।

# तथा च सत्येतदुक्तं भवति औपश्चिमको भावो द्विभेदः क्षायिको नवभेदः मिश्रोष्टादशभेदः औदियक एकविंशतिभेदः पारिणामिकक्षिभेद इति ॥

एवं तिम प्रकार वृत्ति और प्रत्येक के साथ भेद शद्ध की समाप्ति कर देने पर तथा यथाक्रम कह देने पर सूत्रकार द्वारा यह मन्तव्य कहा जा चुका होजाता है कि औपशमिक भाव दो भेदवाल्य है, नौ भेदवाला क्षायिक है, अहारह भेदों को धारनेवाला मिश्रभाव है, इक्कीस भेदों को लिये हुवे औदियक भाव है, तीन भेद युक्त पारिणामिक है। यहांतक सूत्रका सन्दर्भित अर्थ श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा संगति प्राप्त कर दिया है।

#### तत्रीपत्रविकभेदद्यपचिख्यापयिषया तृतीयसूत्रमाह ।

उन द्वितीय अध्यायके सात सूत्रोंमेंसे अब औपशामिक भावके दोनों मेदोंको अच्छा प्रसिद्ध करानेकी अभिलापासे श्री उमाखामी महाराज अब तीसरे सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

# सम्यक्तचारित्रे ॥ ३ ॥

अनन्तानुष्या क्रींच, मान, माया, छोभ ४ मिध्यात्व ५ सम्याङ्मध्यात्व ६ सम्यक्त ७ इन पान छह या सातों प्रकृतियोंका उपशम होजानेपर औपशमिक सम्यक्त्व भाव उपजता हैं और चारिष्र मोहनीय कर्मकी इनकीस प्रकृतियोंका उपशम कर देनेपर उपशम चारित्र होता है। औपशमिक भावके ये दो भेद हैं। एक उपशम सम्यक्त्व दूसरा उपशमचारित्र।

#### श्रीपश्रमिकस्य द्वी भेदाबित्यभिसंबंधः सामर्थ्यात् । तत्र दर्शनमोहस्योपश्रमादौपश्रमिक-सम्बद्धः, चारित्रमोहोपश्रमादौपश्रमिकचारित्रं ।

सूत्रमें यद्यपि "हैं। मेदी" ऐसा कहा नहीं है। तो भी यथाक्रमके अन्ययकी सामर्थ्यसे औपशिमक मार्थक ये दो भेद हैं यो उदेश्य विधेयदछका दोनों ओरसे सम्बन्ध होजाता है। उन दोनों भेदोंमें अनन्ता- नुक्न्धी चार कषायोंको साथ रखते हुये दर्शन मोहनीय कर्मके उपशम हो जानेसे औपशिमक सम्यक्त्व होता है और स्वकीय पुरुषार्थजन्य परिणामोंद्वारा चारित्र मोहनीय कर्मका अन्तरकरण उपशम होजानेपर उपशम प्रयोजनवाला चारित्र प्रकट हो जाता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्वके लिए दर्शन मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंका प्रशस्त उपशम और अनन्तानुष्मधी कषायोंका अप्रशस्त उपशम होता है। जहां विवक्षित पौद्रलिक प्रकृति उदय होने भोग्य नहीं होती हुई स्थिति, अनुभाग, शाक्तियोंके उरक्रपण, अपकर्षणके अयोग्य होकर संक्रमण हीने योग्य भी नहीं होय, वहां उस प्रकृतिका प्रशस्त उपशम माना जाता है, और जो प्रकृति उदय आने योग्य तो नहीं होय, किन्तु उसका स्थिति या अनुभाग घट बढ जाय अथवा संक्रमण आदि हो सके, वहां उस प्रकृतिका अप्रशस्त उपशम कहा जाता है। सर्वघाती अनन्तानुबन्धीकी चार प्रकृतियोंमें स्वरूपाचरण चारित्र और सम्यक्त्व इन दोनों गुणोंके विघातनेकी शक्ति हो।

#### у दर्शनमोहस्य चारित्रमोहस्य चोपश्चमः कथं कचिदात्मनि सिद्ध इति चेदुच्यते ।

यहां कोई पण्डित पूर्वपक्ष उठाता है कि किसी किसी आत्मामें दर्शनमोहनीयकर्म और चारित्र-मोहनीय कर्मका उपशम हो जाना किस प्रमाणसे किस प्रकार सिद्ध है ? बताओ, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य करके अनुमान प्रमाण द्वारा उपशमकी सिद्धि कही जाती है ।

### पुंसि सम्यक्तवचारित्रमोहस्योपशमः कचित्। शांतप्रसत्तिसंसिद्धेयेथा पंकस्य वारिणि॥१॥

किसी एक निवादापन आत्मामें (पक्ष) सम्यक्त्वमोहनीयकर्म और चारित्रमोहनीय कर्मका उपशम हो रहा है। (साध्य)। क्योंकि शान्तिको प्राप्त होकर होनेवाली प्रसन्तताकी भले प्रकार सिद्धि हो रहीं है। (हेतु)। जैसे समलजलमें मलके दब जानेपर कीचका उपशम हो रहा है। (अन्वयदृष्टान्त)। भावार्थ—रोग या दरिद्रतासे बिर जानेपर चित्तमें व्याकुलता उपजती है। किन्तु उनके प्रतिपक्ष औषधि मंत्र-प्रयोग, धनशासि आदि कारणोंसे रोग या दरिद्रताका उपशम होते हुये चित्त प्रसन हो जाता है। उसी

प्रकार मोहनीयकर्मके उदय होनेपर आत्मामें सन्यग्दर्शन और चारित्र नहीं हो। पाते हैं। जलमें की चवे दक्जाने समान उक्त कर्मोंका उपश्चम हो जानेपर देव, शाल, गुरु श्रद्धान या तत्वार्धश्रद्धान अवन्य स्मानुभूतिस्वरूप सन्यग्दर्शन हो रहा प्रतीत हो जाता है। तथा भोगोंमें उपेक्षा, स्वरूपाचरण, बत धारण और बहिरंग अन्तरंग सांसारिक किया निरोधरूप चारित्र हो रहा अनुभूत हो जाता है। इस प्रकार प्रकृत साध्यके साथ प्रकृत हेतुकी व्याप्तिको अपनी आत्मामें निर्णात कर विवादप्राप्त पुरुषमें साक को साथ लिया जाता है।

यवैत्र हि जले सपंके इतिविश्यसकता सा च साध्यमाना पंकस्योपश्चमे सति भवि नानुपश्चमे कालुष्यमतीतेः, नापि क्षये, शांतत्विरोधात् । तथात्मिन सम्यक्तवचारित्रलक्षण पसकता सत्येव दर्शनचारित्रमोहस्योपश्चमे भवति, नानुपश्चमे, मिध्यात्वासंयमलक्षणकालुष्यो पल्लक्षेः, । न क्षये, तस्याः शांतत्वविरोधादिति युक्तं पश्यामः ।

कारण कि जिस ही प्रकार कीचसे सहित हो रहे जलमें किसी भी कारणसे स्वच्छता हो जार है और वह निर्मलता साध्य कोटिपर यदि लाई जाय तो कीचके उपराम ( नीचे दव ) हो जानेपर ह जाती है। कीचके नहीं उपशम होनेपर तो जलकी प्रस्कता नहीं साधी (बनाई) जा सकती है क्योंकि किचके घुछ जानेपर तो जलमें मलमिश्रमरूप कलुषताकी प्रतीति हो रही है तथा कीचका समूळचूळ क्षय हो जानेपर भी वह उपशराम हो जानेपर उपजनेवाळी प्रसन्तता नः सघपाती है। क्योंकि शांतपनेका विरोध होगा। अर्थात्—प्रतिपक्षका क्षय हो जानेपर क्षायिकमा भले ही हो जाय, किंतु औपरामिकभात्र नहीं हो सकता है। एक मनुष्यका धन सर्वधा निवट गर है। भविष्यकालमें भी धन आनेकी आशा नहीं है। दूसरे मनुष्यके पास धन विद्यमान तो है किं वर्तमानमें उस धनका कोई उपयोग नहीं हो रहा है। सम्भवतः भविष्यमें उस धनका उपभोग किर जा सके, यहां पाहिले मनुष्यसे दूसरे पुरुषके परिणामोंमें महानू अंतर है। पहिलेमें क्षीणता है। दूसरे चित्तको शांति है। क्षय दशामें शांति होनेका विरोध है। तिस ही प्रकार किमी आत्मामें सम्यक स्वरूप और चारिक्स्वरूप प्रसन्तता हो रही है. वह दर्शनमोहनीयकर्म और चारित्र मोहनीय पौर लिक कर्मके उपराम होनेपर ही होती है। जबतक उन कर्मीका फल देनेकी सामर्थ्यका प्रकट नर होना रूप उपराम नहीं होगा, तबतक आत्मामें वह श्रद्धाम और स्वात्मरिथतिरूप प्रसन्तता नह प्रगटती है। क्योंका उपराम नहीं होनेपर यानी उदय हो जानेपर तो मिथ्यादर्शन और असंयमरू कलुषपने [ पाप ] का सम्बेदन होता रहता है । दर्शनमोहनीय या चारित्र मोहनीयके क्षय होनेपर व उपराम साध्य प्रसमता नहीं बन सकती है। क्योंकि उपराम प्रयोजनको धारनेवाळी जीवकी प्रसनतां शांतिका अनुभव है किंतु कमीका क्षय ही जानेपर उपजनेवाली जीवकी स्वच्छतामें शांतपनेका विरो है। क्षापिक मानमें शांतिका अनुभव नहीं होता है। अतः इस उक्त कथनको हम युक्तियोंसे ल्बाल पूर्ण हो रहा देख रहे हैं। कोई कोर कसर नहीं है।

#### कृतः चुनः मसजला ताहशी मसिद्धात्मन इति चेदिमे हमहे ।

श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति किसी पंडितका प्रश्न है कि पूर्व में कह गये अनुमानका हेता मिला प्रश्नमें कैसे वर्तता है! बताओ । पक्षमें हेतुके वर्तनेसे वह हेतु असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। अस्तः बहां पृष्ठच्य है कि आत्मामें उस प्रकार शान्तिपूर्वक—होनेवाडी प्रसन्तता पुनः किस प्रमाणसे प्रतिक्ष कर छी गयी है! जिससे कि हेतुकी सिद्धी होचुकी होय, इस प्रकारकी जिज्ञासा होनेपर प्रतिवादिभयंकर हम ये विद्यानन्द स्वामी उसके समाधानको कहते हैं। अभिमानी दूसरे कुतर्कीका सक्ताद्यक्ष प्रश्न होनेपर विद्यान् वादी द्वारा उत्तर देते समय आत्मगौरवकी रक्षा करते हुये अपनी आत्माको पूज्य समझकर बहु वचनान्त इदं शद्धके साथ अस्मद्र शद्धका सामानाधिकरण्य कर दिया जाता है तभी निरिममान होता हुआ प्रतिवादी उत्तर सुननेके छिय सादर आभिमुख होकर वादिक गाम्भीर्य और अपनी तुच्छवृत्तिका अनुभव कर पाता है। अन्यथा नहीं। जैसे माता और पुत्रके वचन व्यवहार या दाता और अतिथिका वाक्ष्प्रवात्तिका अनुपम प्रेम या समाक्ति आदरके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बच्च है, उसी प्रकार प्रवक्ताकों सगौरव सारोप वक्तव्यका प्रतिपादकी प्रबुद्धि होनेके साथ अचिन्त्य कार्यकारणभाव नियत है। इसमें विनय, शिष्टाचार, नीचवृत्ति इन गुणोंकी क्षति होजानेकी सम्भावना नहीं है। हम क्या करें परिणामिपरिणाम सम्बच्च अटल है।

# यो यत्कालुष्यहेतुः स्यात्स कुतश्चित प्रशाम्यति । तत्र तोये यथा पंकः कतकादिनिमित्ततः ॥ २ ॥

जो पदार्थ जिस किसी पारणामके कलुषता यानी साकुळता (गंदलापन) का हेतु होगा, वह किसी न किसी अनिर्वचनीय विरोधी कारणसे वहां उपशान्त (दव) होजाता है, जैसे कि कीच, घुले हुये उस मैले जलेंमें कतक फल, निर्मली, फिटकिरी, आदिक निमित्त कारणोंसे घुला हुआ कीचड मले प्रकार नीचे दबकर बैठ जाता है इस प्रकार अन्ययन्यासिपूर्वक हुये, अनुमानद्वारा सम्यक्त्व या चारित्रके प्रतिपक्षी कर्मोकी निजशक्तिका न्यक्त न होना रूप उपशम साध दिया गया है।

न चाभव्यादिकालुष्यहेतुना व्यभिचारिता। कुतश्चित्कारणात्तस्य प्रशमः साध्यते यथा॥ ३॥ न च तत्प्रशमे किंचिदभव्यस्यास्ति कारणं। तद्भावे तस्य भव्यत्वप्रसंगादविपक्षता॥ ४॥

यहां कोई उक्त व्याप्तिमें व्याभिचार दोषको उठाता है कि अभव्य अथवा दूर भव्य इस प्रकारके सर्वदा मिथ्यादृष्टि बने रहनेवाले जीवोंकी कलुषताके कारणसे व्याभिचार हुआ। अर्थात्

अनाचनन्त्र मिथ्यादृष्टि जीवींकी कञ्चषताके कारणसूत अनन्तानुबन्धी और दर्शनमोहनीय प्रकृतियोंका भी उपशम हो जाना चाहिये। कोई भी किचडेला जल होय, फिटिकिरी आंदिके निमित्तसे उसकी कीचड दब ही जाती है। हेतुदल रह गया और साध्य दल नहीं रहा अतः व्यामेचार हुआ, अब ? आचार्य समाधान करते हैं कि यह तो दोष नहीं उठाना । जिस कारणसे कि हमने किसी न किसी प्रतिपक्ष कारणसे उस कल्लपताके हेतका प्रशम होना साध्य कोटिमें रखा है, अनाधनन्त काळतक मिथ्पादर्शनको धारनेवाले जीवोंके उन मन्यत्व, अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, काल्लिन्ध आदिक निमित्तोंकी प्राप्ति ही नहीं हो पाती है। अभन्य जीवमें भन्यत्व परिणाम, करणत्रय, नहीं हैं। दूर भञ्यको निमित्तोंकी प्राप्तिका अवसर हाथ नहीं छग पाता है। जिन भञ्योंका भी संसार अवस्थान काळ अर्द्ध पुद्रल परिवर्तनसे अधिक अवशिष्ट है उनकी भी आजतक कळपताके उपशामक निमित्तोंकी प्राप्ति नहीं हुई है। निमित्तप्राप्ति हो जानेपर कल्लपताके कारणोंका उपराम हो जानेको हमने व्याप्तिके पेटमें डाला है। अतः हेतुके नहीं ठहरनेपर साध्यका भी नहीं ठहरना यहां घटित हो जाता है। अतः व्यभिचार दोष नहीं आता है। कितनी ही भूमि, पोखर, सरीवर, पर्वत-कन्दराओं आदि अनेक स्थानोंपर किचरैले जल भरे हुये हैं। निमित्तकारणोंकी प्राप्तिका अवसर नहीं मिलनेसे वे सपङ्क ही बने रहते हैं। अतः प्रतिकृष्ट कारणोंकी प्राप्ति हो जानेपर कल्लपताका उपराम हो जाना हम साध रहे हैं। अभव्य जीवके पास उन कल्ल्बताके हेत हो रहे कर्मीके प्रशम करनेमें निमित्तभूत कोई कारण नहीं है। यदि अभव्यको भी उन कारणेंके सद्भावकी प्राप्ति मानी जायगी तब तो उसको भन्यपनेका प्रसंध हो जायगा। ऐसी दशामें वह अभन्य जीव तो प्रकृत न्यासिका विपक्ष नहीं ठहर सकता है अर्थात् अभव्यरूप विपक्षमें साध्यके बिना हेतुके ठहर जानेसे व्यमिन्नार दोष उपारेथत किया गया था '' विपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः '' यदि अभव्यके भी पांच या सात प्रकृतियोंका उपराम होने लगे तब तो व्यभिचार स्थल माने गये अभव्यकी, विपक्षपना न होकर सपक्षता आ ही जाती है। अतः व्यभिचारदोष उठाना ही असंगत होजायगा।

### स्वयं संविद्यमाना वा सम्बन्त्वादिशसन्नता । सिद्धात्र साथयत्येव तन्मोहस्योपशांतताम् ॥ ५ ॥

अथवा कमीं अपरामको साधनेका सरल उपाय यह है कि वह सम्यग्दर्शन स्वरूप या उपरामचारित्र रूप इस ढंगकी प्रसन्नता स्वयं हमारी आत्मामें स्वसम्वेदन प्रत्यक्षद्वारा जानी जारही सिद्ध है, वहीं प्रसन्नता यहां किसी विवक्षित अत्मामें उस मोहनीय कर्मके उपराम होजानेको अनुमान-द्वारा सिद्ध कर ही देती है। माबार्थ-ज्यर, अर्जाणदोष या मलके दूर होजानेपर आत्मामें जो प्रसन्नता अनुमृत होती है उसीके अनुसार दूसरोमें भी दोषोंके उपराम होनेपर हुई प्रसन्नताका अनुमान कर लिया जाता है। वैसे ही तत्वार्थअद्यानरूप सम्यग्दर्शन अथवा स्वात्मनिष्ठारूप चारित्रका प्रतिपक्षी

क्रमीक उपराम होनेपर उपजनेवाले स्वसंबेदन कर अन्य जीवोंमें भी दर्शन मोहनीय और चारित्र मोह-नीयके उपरामको साथ लिया जाता है।

#### तती युक्तिमानीपशमिको भावो द्विभदतः।

तिसं कारणसे सम्यक्त्व और चारित्र इन दो भेदोंसे औपशमिकमात्र युक्तिपूर्ण होता हुआ समझा दिया गया है।

#### तथा भायिको नवभेदः।

तथा दूसरा क्षाथिकभाव नी भेदवाला है।

#### ंकथायेति पतिपादनार्थे चतुर्थे सूत्रमाह ।

वह क्षायिक भाव फिस प्रकार नो भेदोंको धारण कर रहा है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज शिष्यको समीचीन प्रतिपत्ति करानेके छिये द्वितीय अध्यायमें चौथे सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं | उसको समाझिये |

# ज्ञानदर्शनदानलामभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

ज्ञान १ दर्शन २ दान ३ लाभ ४ मोग ५ उपमोग ६ वीर्थ ७ और सम्यक्त्व ८ चारित्र ९ इस प्रकार ये क्षायिकमायके नौ प्रकार हैं।

च शक्केन सम्यक्त्वचारित्रे समुचीयते । ज्ञानावरणक्षयात् क्षायिकक्कानं केवलं, दर्शना-वरणक्षयात्केवकदर्शनं, दानान्तरायक्षयादभयदानं, लाभांतरायक्षयाल्लाभः, परमञ्जभपुद्गलादा-नलक्षणः परमौदारिकशरीरास्थितिहेतुः, भोगांतरायक्षयाद्वोगः, जपभोगांतरायक्षयादुपभोगः, वीर्यीतरायक्षयादनंतर्वार्ये, दर्शनमाहक्षयात्सम्यक्त्वं, चारित्रमोहक्षयाचारित्रमिति नवैते क्षायिकभावस्य भेदाः ।

च अन्ययके कई अथोंमेंसे यहां प्रकरण अनुसार समुचय अर्थ िया गया है। इस सूत्रमें कहें गथे च शद्ध करके पूर्वस्त्रमें कहें जा चुके सम्यक्त्य और चारित्रका समुचय (इकड़ा करना) किया जाता है। अतः सात और दो नौ भेद क्षायिक मात्रके हो जाते हैं। तेरहवें गुणस्थानके आदिमें झानावरण कर्मोंका क्षय हो जानेसे क्षय इस प्रयोजनको धारनेवाला सर्वज्ञ मगवान्के केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। बारहमें गुणस्थानके अन्तमें झानावरणका उदय विद्यमान है। उस समय अवशिष्ट घाती कर्मोंको क्षय करनेवाली पर्यायशक्ति प्रकट हो जाती है। वह उत्तर क्षण यानी तेरहवें गुणस्थानके आदि समयमें कर्मोंका नाश कर क्षायिकलिश्योंको जन्म देती है। दर्शनावरण कर्मके आत्यन्तिक क्षयसे सत्ताका आलोचन करनेवाला केवलदर्शनभाव उपजता है र। दानान्तराय कर्मके क्षयसे अनंत

प्राणिबोंका अनुमह करनेवाळा अभयदान भाव होता है ३ । लाभान्तरायके अत्यन्त क्षयसे क्षायिक लाभ होता है, जिसका कि स्वकर्तव्य प्रत्मीदारिक शरीरकी स्थितिके कारणभूत परमञ्जूभ सूक्ष्म अनन्त पुद्रलोंका प्रदृण करना है, अर्थात्—केवल आहारको छोड चुके केवली भगवान्के शारीरिक सम्पत्तिके उपादान कारण असाधारण पद्रल वर्गणाओंकी प्राप्ति होते रहना क्षापिक लाभ है। बात यह है कि **बानावरण, दर्शनावरण, दानान्तराय, छामान्तराय, भोगान्तराय थे कर्म आत्माकी पर्यायोका आवरण** करनेवाले हैं। आत्मामें अनाधनन्त जड़े हुथे अन्वयी गुण हो रहे चेतना और वीर्थ इन दो गुणोंकी ये उपर्श्वक पर्याय है । अतः सर्यप्रकाशमें गतार्थ हो रहे तारागणोंके प्रकाश समान केवलदर्शनका परिणमन भी युगपत् केवलज्ञान आत्मक हो रहा है, जैसे कि सिद्ध अवस्था हो जानेपर एक वीर्य गुणकी शुद्ध एक अनन्तवीर्य नामक पर्यायमें अनन्तदान, लाभ, भौग, उपभोग इनका अन्तर्माव या चित्र आत्मक परिणति हो जाती है । कोची, मानी, शोकी, अरतिप्रस्त संसारी जीवोंके भी एक चारित्र गुणकी चितकबरी विभाव परिणति होती रहती है। एक ज्ञानकी अनेक विकल्पनाओंके समान एक गुणकी चित्रात्मक परिणतियां हो जातीं हैं। अनन्त प्राणियोंको अनुप्रह देना, शरीर बलाधायक पुद्रलोंका लाभ होना, पुष्पवृधि, सिंहासन आदिका भोगोपभोग होना ये तो सब आनुषंगिक फल हैं। सिद्ध अवस्थामें नहीं भी पाये जांय तो भी क्षायिक भागोंका अनुद्भृत चित्र परिणाम होना अनिवार्य है ४ । तथा भोगान्तराय कर्मोंके क्षयसे भगवानके क्षायिक भोगनामक तत्त्व उपजता है ५ । परिपूर्ण उपभोगान्तरायके क्षयसे उपभोग भाव प्राप्त होता है ६ । वीर्यान्तरायके क्षयसे अनन्तवीर्य नामक पर्याय शक्ति उपजती है ७ । दर्शन मोहनीयके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन ८ और चारित्र मोहनीयके क्षायसे क्षायिक चारित्र बन जाता है ९ । यद्यपि चौथेसे सातवेंतक किसी भी गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा बारहमेंके आदिमें क्षायिक चारित्र अनन्तकालतकके लिये हो चुका है, फिर भी उक्त दो गुणोंमें अन्य चातिया कर्मों के उदयकी सहचरतासे कुछ प्रासंगिक अपरिपर्णतायें रहीं आती ह तथा उक्त दो गुणोंमें अघाति कर्मीके सम्बंधसे भी त्रुटियां उपज जाती हैं। अतः सम्यादर्शन और चारित्रकी परिपूर्णता चौदहरें गुणस्थानके अन्त समयमें मानी गयी है। हां इन दो गुणोंके सिवाय शेष केवल कान, अनन्त वीर्य, सुख, आदि गुण जब व्यक्त उपजते हैं तमीसे उनकी परिपूर्ण अवस्था हो चुकी रहती है । उत्कृष्ट अन-तानन्त प्रमाण केवल्ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद एक बार उपजकर पुनः घटते बढते नहीं हैं। अगुरुलव गुणेंग अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हानि इद्वियां होती हैं। उसके द्वारा अन्य तदात्मक गुणोंमें भी उत्पाद, व्यय, धीव्य, खरूप सत्त्व माना जाता है सर्वत्र ब्रह गुण हानि और इद्विमां होती रहें ऐसा कोई नियम नहीं है। इसी प्रकार अपने नियत संख्याबाठे अविसाग प्रतिष्क्रेदोंको धारनेवाले वीर्य, साल आदिसें समझ लेना । इस प्रकार थे नौ क्षायिक भावके भेद बढ़ा दिये गंभे हैं ।

··· १ हतः पुनर्शवायरणादीनां समः सिद्धः स्वाहः।

किसीका प्रश्न है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, दानान्तराय, आदि कर्मीका क्षय भला किस कारणसे अधवा किस प्रमाणसे सिद्ध किया जायगा ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वासी समाधानको कहते हैं।

### आत्यंतिकः क्षयो ज्ञानदर्शनावरणस्य च । सांतरायप्रवंचस्यानंतशुद्धिप्रसिद्धितः ॥ १ ॥

अन्तराय कर्मके भेद प्रभेदके विस्तारसे सिहत होरहे ज्ञानावरण कर्म और दर्शनावरण कर्मका आत्यन्तिक क्षय होरहा है। क्योंकि अनन्तान्त अविभाग प्रतिच्छेदोंको धारनेवाली आत्मविशुद्धिकी प्रमाणोंद्वारा सिद्धी होरही है अर्थात्—आत्मामें अनन्त शुद्धिके प्रसिद्ध होजानेसे उसके प्रतिपक्षभृत ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका कालद्वय संसर्गाविष्ठिक सम्हल्वूलनाश होजाता है। वर्तमान कालमें भी इन कर्मोंका एक अवयव भी शेष नहीं रहता है और भविष्य कालमें भी उक्त धातिया कर्मोंका लक्ष्मात्र संसर्ग नहीं हो पाता है, जैसे किसी अचूक औषाविसे प्रतिपक्षी रोगका वर्तमान और भविष्य कालमें अंशमात्र भी शेष नहीं रहता है।

#### ज्ञानावरणस्य दर्शनावरणस्य च शद्धाद्दर्शनमोद्दस्य चारित्रमोहस्य चांतरायपंचकसहित-स्यात्यंतः क्षयः कचिदस्ति अनंतद्युद्धिप्रसिद्धेः।

किसी विवक्षित आत्मामें [ पक्ष ] पांच भेदवाले अन्तराय कर्मसे सहित हो रहे ज्ञानावरण कर्म दर्शनावरण कर्म तथा इस सूत्र या कारिकामें पडे हुये च शह्रसे प्रहण करिलये गये दर्शनमोहनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म इनका अत्यन्त क्षय विद्यमान है। (साध्य)। अनन्तानन्तशुद्धिके अंशोंकी प्रमाणों द्वारा सिद्धि हो जानेसे (हेतु) अर्थात्—इस अनुमानसे किसी तेरहवे गुणस्थानवर्ती आत्मामें या अयोगी गुणस्थानमें अथवा सिद्धपरमेष्ठीमें घातियाकर्मोंका क्षय साध दिया जाता है। क्षय किसी विद्यक्षित समयमें प्रारम्भ होकर अनन्तकालतक स्थिर रहता है। मृत्यु, ज्वंस, या नाशका एक ही अर्थ है। "सादिरनन्तो व्वंस"। तिन कर्मोंमेसे अनन्तानुबन्धी चार और दर्शन मोहनीय तीन इन सात प्रकृतियोंका क्षय तो क्षायिक सम्यग्दर्शन होनेके पूर्व समयमें ही किसी चौथे, पांचवें, छटवें, या सातवें गुणस्थानमें हो चुकता है। करणत्रय विधानद्वारा अनन्तानुबन्धी कोध, मान, माया लोभोंको अग्रत्याख्यानावरण आदि बारह कथाय या नोकपायरूप परिणमनस्वरूप विसंयोजन करके पश्चात् आत्म पुरुषार्थकी सामर्थसे अनिवृत्तिकरण कालके संख्यात्वें भागमें क्रमसे मिध्यात्व, मिश्र, सम्यक्त, प्रकृतियोंका क्षय करं दिया जाता है तथा चारित्रमोहनीय कर्मकी अग्रत्याख्यावरण चार, प्रत्याख्यानावरण चार; नपुंसक वेद, खिवेद, हास्यादि छह नो कथाय, पुरुषवेद, संज्वलम क्रोध, मान, माया, इन बीस प्रकृतियोंका तो नवमें गुणस्थानमें ही क्षय हो चुकता है। दसें गुणस्थानमें लोभ संज्वलनका क्षय हो जाता है। अतः मोहनीयकी अर्डाइसों प्रकृतियों दशके गुणस्थानके अन्ततक

क्षय को प्राप्त हो चुकी । नजमें गुणस्थानके पहिले मागमें ही दर्शनावरणकी स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्धा, प्रचलप्रचला, इन तीन प्रकृतियोंका क्षय हो चुकता है। बारहवें गुणस्थानके अन्त समयमें ज्ञानावरणकी पांच, दर्शनावरणकी शेष छह, अन्तरायकी पांच, इस प्रकार सोल्ड्ड प्रकृतियोंका ज्यंस होता है। (साध्य)। क्योंकि अनन्त कालतक हो रही छाद्धि की प्रमाणों द्वारा सिद्धी की जाचुकी है "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्रकी नवासी, नन्त्रेमी वार्तिकों के विवरणमें भी इस हेतुदलका रपश्चिकरण किया है।

#### तथाहि---

इस अनुमानमें कहे गये अनन्त शुद्धि की प्रसिद्धिरूप हेतुको पुष्ट करनेके लिये प्रन्थकार अनुमानद्वारा उसीको पुनः साय कोटिपर लाकर सिद्ध करते हैं जो कि यों प्रसिद्ध ही है। उसको स्पष्ट समझिये।

शुद्धिः प्रकर्षम।याति परमं किचिदात्मनि ।
प्रकृष्यमाणवृद्धित्वात्कनकादिविशुद्धिवत् ॥ २ ॥
शुद्धिर्ज्ञानादिकस्यात्र जीवस्यास्त्यतिशायिनी ।
भव्यस्य वाधकाभावादिति सिद्धान्तसाधना ॥ ३ ॥
नानैकांतिकमण्येतत्तदशुष्ट्या विभाव्यते ।
तस्या अपि कविनित्सद्धेः प्रकर्षस्य परस्य च ॥ ४ ॥
प्राक्साधितात्र सर्वज्ञज्ञानवृद्धिः प्रमाणतः ।
दर्शनस्य विशुद्धिर्वा तत एवाविनाभुवः ॥ ५ ॥

िनिसी एक आत्मामें हो रही ज्ञान, दर्शन, वीर्य, चारित्र, सम्यक्त्व गुणोंकी छाद्धे (पक्ष ) उत्कृष्ट कोटिक प्रकर्षको प्राप्त हो जाती है। (साध्य)। प्रकर्षको प्राप्त हो रही वृद्धिको धारनेवाली होनेसे (हेत् )। सुवर्ण, चारी, रत्न, आदिकी विद्युद्धिके समान (अन्वय दृष्टान्त )। मावार्थ—जैसे अग्नि संताप या तेजान अथवा शाण, छेनी आदि कारणोंसे सोना, मोती, हीरा आदिमें बढ रही शुद्धि किसी अवस्थामें उच प्रकर्षको पहुंच जाती है, उती प्रकार संसारी आत्माओंमें अभ्यास, व्यायाम, आचरणसम्पत्ति, क्षयोपशम, मानसिक पित्रज्ञता आहि कारणोंसे ज्ञानकी, चारित्रकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही अनुसूत की जाती है। आकाशमें पिरमाणके समान वह किसी न किसी जीवमें परमप्रकर्ष पर्यत बढ जाती है। उती जीवमें प्रतिपत्नी कर्मीका आत्यन्तिक क्षय हो जाता है। इस अनुमानमें दिथे गये हेत्रको यो पृष्ठ कर छेना चाहिये कि किसी निकट भव्य जीवके हान, दर्शन आदिक गुणोंकी शुद्धि

(पर्स ) शृद्धि होनेक यमकारको धारनेवाली है । (साध्य )। वाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे, (हेत्र )। आत्मीय अनुभूत हो रहे सुख या दुःखके समान ( दृशन्त ) इस प्रकार यहां साधनचर्मकी सिद्धि हो जाती है। बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे ही अतीन्द्रिय गहन सिद्धांतोंकी साधना कर की जाती है। विसे गुण या पर्यायके जाती है। विसे गुण या पर्यायके जाती है। विसे गुण या पर्यायके जाती है। इस व्यासिमें पड़े हुये हेतुका उसकी अशुद्धि करके व्यभिचार देनेका विचार भी नहीं करना वाहिये। क्योंकि उस अशुद्धिके भी परम प्रकर्षकी किसी आत्मामें मले प्रकार सिद्धि हो रही है। तीव निम्यादि अमन्य जीवके निगोद अवस्थामें ज्ञानदिककी अशुद्धि बढते बढते जधन्यज्ञान, जधन्यवीर, और अचारित्रपर पहुंच जाती है। क्षायोपशिमिक मितिज्ञानकी अतिशयवती हानि केवलज्ञान अवस्थामें पायी जाती है। हमने इस प्रन्थके पूर्व प्रकरणमें ही सर्वज्ञके ज्ञानकी हुई बृद्धिको प्रमाणोंसे सिद्ध करा दिया है। अथ्या तिस ही कारणेस उस ज्ञानको अविनामानी दर्शनकी विश्वदिक्ता भी साधन हो चुका समझो। '' सूक्तावर्धोपरेशो हि '' इस कारिकासे लेकर कितनी ही कारिकाओं तक पाहिले प्रन्थमें हम विवरण लिख चुके हैं। अष्टसहर्कीमें '' दोषावरणयोः हानि '' इस सामन्तभद्री कारिकाके विवरणमें भी अच्छा व्याख्यान कर दिया गया है। यों हेतुमालासे कर्मोका क्षय सिद्ध हो जाता है।

#### ततो युक्तः श्लायिको मौको नवभेदः।

तिस कारणसे अनुमानरूप युक्तियोंसे साथ दिया गया क्षायिकभाव नौ प्रकारका समुचित है। यद्यपि जैसे असिद्धत्व औदयिकभाव है, उस प्रकार सभी एक सौ अडतालीसों प्रकृतिओंके क्षयसे उत्पन्न हुआ सिद्धत्वभाव भी क्षायिक है, तथापि साधारण होनेसे सिद्धत्वभावकी कण्ठोक्त नहीं गिनाया है। विशेषोंका कथन कर देनेपर उनमें साधारणरूपसे ठहरा हुआ सामान्य तो विना कहे ही आ टपकता है।

#### क्षायोपश्चमिको छादश्चभेदः कथमिति तत्मतिषादनार्थे पंचमं सूत्रमाह ।

तीसरे क्षायोपशामिकभावके अंठारह भेद किस प्रकार हैं ? इस प्रकार शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर उन क्षयोपशम प्रयोजनको धारनेवाले जीवतत्त्वोंकी शिष्योके प्रति प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज द्वितीयाध्यायमें पांचवें सूत्रका परिभाषण कर रहे हैं।

# ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्व-चारित्रसंयमासयमाश्च ॥ ५ ॥

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, विमंग ये तीन अज्ञान तथा चश्रुदर्शन, अचश्रुदर्शन, अवश्रि दर्शन ये तीन प्रकारके दर्शन एवं दान, छाम, मोग, उपमोग, वीर्ष ये पांच लिक्क्यां इस ढंगसे पिण्ड भागोंके पन्तह मेद हुये तथा देशसाति सम्यक्त प्रकृतिका उदय होनेपर चौथेसे सातवें गुणस्थानतक पाया जानेवाळा बेदक सम्यक्त तथा संव्वलनकी चौकडीमेंसे किसी एकका और नो कपायोंमेंसे यथासम्मव तीन, चार, पांच प्रकृतियोंका उदय होनेपर क्षायोपशमिक चारित्र होता है। एवं पांचवें गुणस्थानमें पाया जानेवाळा संयमासंयमरूप भाव है, इस प्रकार पन्दह और तीन यों अठारह भेद क्षायोपशमिक भावके हैं।

वत्वारश्च त्रवश्च त्रवश्च पंच च इति चतुन्तित्रिपंच एते भेदा वासां ताश्चतुन्तित्रिपंचभेदाः। कास्ताः श्वानाज्ञानदर्श्वनलम्बयः। यथाक्रममित्यतुवर्तते तेनैवमभिसंबंधः कर्तव्यः। क्षानं चतुर्भेदं, अक्वानं त्रिभेदं दर्शनं त्रिभेदं, लिधः पंचभेदा, सम्यत्वचारित्र संबंधासंबद्धात्र त्रयः क्षायापद्मिकभावस्याष्ट्रादश्चेदा इति ।

क्रान, अक्रान, दर्शन, छिन्ध, इनका इतरेतर योग समासकर पुनः चार और तीन तथा तीन पुनश्च पांच इन संख्यावाचक परोंका द्वन्द करते हुये भेद पदके साथ बहुनीहि समासद्वारा यथाकम सम्बन्ध करछेना चाहिये। उसका अर्थ यह होता है कि जिन ज्ञान, अज्ञान, दर्शन, छिन्धियों के चार, तीन, पांच, इस प्रकार भेद हैं वे यथाकमसे चार भेदवाला ज्ञान, तीन भेदवाला अञ्चान, तीन भेदवाला दर्शन, और पांच भेदवाली छिन्धियां हैं। वे भेदवाले पदार्थ कीन हैं ? इसका उत्तर पूर्व उदेश्य दलमें पड़ी हुयी क्रान, अज्ञान, दर्शन और छिन्धियां हैं। दूसरे सूत्रमें से यथाकम इस पद की अनुहाति कर ली जाती है। तिस करके पदोंका अन्वय कर इस प्रकार उदेश्य विधेय दलोंका दोनों ओरसे यों सम्बन्ध करलेना चाहिये कि जिसके चार भेद हैं ऐसा ज्ञानतत्त्व क्षायोपशामिक है, तीन भेदवाला अज्ञान क्षायोपशामिक है, मिश्रभावदर्शन तीन भेदोंको धारता है, लिन्धियां पांच भेदोंको धार रही हैं और वेदकरम्यक्त्व और छटे, सातवें, गुणस्थानोंमें वर्तरहा क्षयोपशम चारित्र तथा ऋत्वधत्यागरूप संयम और स्थावस्वधका अत्यागरूप असंयम इस प्रकार कातिपय मनुष्य और तिर्येच सम्यग्दिष्टियोंके पांचवें गुणस्थानमें हो रहा संयमासंयम मान है। ये पिछले तीन भाव अपिण्ड हैं। इस प्रकार कायोपशमिक भावके अठारह भेद हो जाते हैं।

मत्यादिज्ञानावरणचतुष्ट्रयस्य मत्यज्ञानाचावरणत्रयस्य चञ्चर्दर्शनाचावरणत्रयस्य च दानांतरा-यादिपंचकस्य दर्शनमोहस्य चारित्रमोहस्य संयमासंयमगोहस्य च क्षयोषश्चमाहुपजायमानत्वात् ।

मति आदि चार झानोंका आवरण करनेपाले मतिझानारवण, श्रुतझानावरण, अवधि-झानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण इन चारों कर्मोके क्षयोपरामसे उपज रहे होनेके कारण चार भेदवाला झान है और झुमति आदि जीवभावोंको रोकनेवाले कुमतिझानावरण, कुश्रुतझानावरण, विभेगझानावरण, इन तीन अवयववाली कर्म प्रकारियोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हो रहा होनेके कारण अझानके तीन भेद हैं। यहां अझानमें नञ्जा अर्थ पर्युदास है। झान यानी समीचीन झानोंसे भिन्न होते हुये उन प्रमाणात्मक पांचा झानोंके सहशा हो रहे भाव आत्मक तीन मिथ्याझान भाव तो कुझान मिथात्वके सह वर मावसे उनमें भेद पड जाता है। तथा चक्षुर्दर्शन आदि भावोंको नित्रारनेवाले चक्षुर्दर्शनावरण, अन्तक्षुर्दर्शनावरण, अन्तक्षुर्दर्शनावरण, अन्तक्षुर्दर्शनावरण, अन्वधिदर्शनावरण इन तीन उत्तर प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे उपज रहा अदर्शनमाव क्षायोपशमिक है। विशेष यह है कि अवधिज्ञानके पहिले अवधिदर्शन होता है। विभंगज्ञानके पूर्वमें तो मतिज्ञान या श्रुतज्ञान है। हां, उन ज्ञानोंके पूर्व या पूर्व पूर्वमें अन्वक्षुर्दर्शन हो । मनःप्रविद्यान और विभंगज्ञान दोनोंके अन्यवहित पूर्वमें दर्शन नहीं है। हां दोनोंके पूर्ववर्ती ज्ञानके पहिले
अन्वक्षुर्दर्शन पाया जाता है। अतः विभंग और मनःपर्ययको भी परम्परासे दर्शनपूर्वक मान लेते हैं।
जैसे कि मतिज्ञानपूर्वक हुये श्रुतज्ञानके अन्यवहित पूर्वमें कोई दर्शन नहीं है। यहां भी परम्परासे दर्शनको पूर्ववर्ती इष्ट किया गया है। श्रुतपूर्वक हुये श्रुतज्ञानमें या उसकी धाराओंमें तो तीन, चार, दश,
बीस, कोटिके व्यवधानको लिये हुये पूर्ववर्ती दर्शन माना गया है। तथा दानान्तराय, लाभान्तराय
आदि पांच कर्मोंके क्षयोपशमसे उपज रहीं लिध्यां क्षायोपशमिक हैं। दर्शनमोहनीय, चारित्र मोहनीय
और संयमासंयम मोहनीय कर्मोंके क्षयोपशमसे उपज रही होनेके कारण अंतके तीनभाव क्षायोपशमिक हैं।

कुतः पुनरयं मिश्रो भावः स्यादिति चेत् मतिज्ञानावरणादिसर्वघातिस्पर्धकानाग्रुदयक्षया-रेषामेव सदुपञ्चमात्तदेशघातिस्पर्धकानाग्रुदयात् क्षायोपश्चमिको भावः।

फिर यह तीसरा भाव मिश्र यानी दो, तीनका मिला हुआ परिणाम किस ढंगसे हैं ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर तो हम जैनोंका यह उत्तर है कि सर्वघातिस्पर्धकोंका उदय क्षय अर्थात्— द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुसार उदयमें आकर आत्माके अन्यक्त पुरुषार्थ द्वारा आत्माको फल दिये बिना ही प्रदेशोदय हो जानारूप क्षय है, अथवा द्रव्यादि चतुष्टयकी योग्यता न मिलनेसे प्रतिपक्षी कर्मीके उदयका अभाव हो जाना ही यहां क्षय शद्धसे अभिभ्रेत है। क्षयोपशम भावमें आत्यन्तिक निवृत्त हो जानारूप क्षय नहीं पकडा गया है। क्षयोपशमें पडे हुये उपशम शहूसे इस समय उदयमें नहीं प्राप्त हो रहे किन्तु भविष्यकालमें उदय कोटिपर आनेवाले सर्वधातिस्पर्द्धकोंका वहांका वहीं सत्तारूपसे अवस्थित पडे रहना रूप उपशम लिया गया है। अन्यथा उदीरणाका कारण मिल जानेसे भतिष्यमें उदय आनेवाळी प्रकृतियोंका उदय हो जाना सम्भवता है, ऐसी दशामें '' सब गुड गोबर न हो जाय '' इसल्यि पारिणामिक पुरुषार्थं बलसे उनका उपशम बनाये रहना आवश्यक पड गया है। क्षयोपशम शद्धमें यद्यपि उदय नहीं कहा गया है। फिर भी " तन्मध्यपतितस्तद्गहणेन गृह्यते " इस परिभाषाके अनुसार देशघातिप्रकृतियोंका उदय भी इस गुणमें माना जाता है। अतः विवक्षित गुणकी सर्वधातिप्रकृतियोंके उदयक्षय और भविष्यमें उदय आनेवाली उन्होंके सदवस्थारूप उपशम तथा देशघातिके उदय ऐसी सामगीके मिळनेपर आत्मामें अन्यक्तपुरुषार्थजन्य क्षायोपशमिकभाव उपजता है। क्षायोपशमिकभावका स्वतंत्र कर्त्ता आत्मा तो उपादान कारण है, और क्षय, उपशम, उदय, ये कर्मोकी अवस्थायें निमित्त हैं। " पुग्गळकम्मादीणं कत्ता व्यवहारदो " इस सिद्धान्त अनुसार आत्माके

बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थसे उत्त्पन हुये सम्पूर्ण मार्वोमें आत्माको कर्तापन प्राप्त है । चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयके पश्चात् हुई सिद्ध अवस्थामें तो सर्वदा शुद्ध पुरुषार्थजन्य केवलज्ञान, सिद्धत्व, सम्यक्त्र, अनन्तवीर्य, जीवत्व आदिक मावोंका कर्ता आत्मा है, सिद्ध अवस्थात्राठी मीक्ष तो चारों पुरुषार्थीमें सबसे बडा परम पुरुषार्थ माना गया है । न्यायपूर्वक भोगोंका भोगनारूप कामपुरुषार्थ, समुचित आजीविकाके उपायों द्वारा धन उपार्जन करनारूप अर्धपुरुषार्थ और दान, पूजन, अध्ययन, ष्यान, क्षमा, ब्रह्मचर्य, अंहिंसा, गुप्ति, समिति, सामायिक, आदि कियाओं या परिणामोंको करनारूप धर्मपुरुषार्थ इनसे अत्यधिक पुरुषार्थपूर्वकभाव सिद्ध भगवान्के हो रहे हैं। संसारी जीवोंके दशवें गुणस्थानतक कतिपयभाव इच्छापूर्वक पाये जाते हैं । उनका दृष्टान्त पाकरू सभी आत्माके परिस्पन्द और अपरिस्पन्द आत्मक परिणामोंमें भी इच्छाको कारण माननेकी सम्भावना करना मृहता है। भोजन किये गये अन्न, दुग्व आदिमें आहार वर्गणायें बहुभाग पायी जाती हैं। स्वतंत्र या कुछ कुछ कर्मोंके अश्रीन हो रहा यह आत्मा पुरुषार्थ द्वारा उनका रस, रुधिर, मांस आदि बनता है। उनको शरीरके यथोचित भागोंमें भेजता है। बालोंको उगाता है, फोडा होनेपर औष्धिके निमित्तसे अथवा छोटी छोटी फुंसियां या मक्बी, खटमछोंके घार्वोको यों ही विना औषधियोंके पूर देता है। हंसना, छोंकना, स्त्रास लेना, रक्तसंचार करना आदि सभी कियायें पुरुषार्थजन्य हैं। सभी अपस्तोंमें इच्छायें कारण नहीं हैं। शरीरसे बहुत परिश्रम करनेवाले किसानकी अपेक्षा यदि बढिया किसानक करनेवाला पण्डित अधिक पुरुषार्थी है और उस न्याख्याताकी अपेक्षा मुकदमा जितानेके लिये अत्यित्रिक मानासिक परिश्रम कर रहा वकील यदि अति पुरुषार्थी माना जाता है तो उपशमक्षपक श्रेणियोंमें प्रयत्न कर बनाये जारहे सातिशय विचार आत्मक श्रुतज्ञानोंकी धारा प्रवाहस्वरूप शुक्रभ्यानमें चित्तको लगानेवाले जीव बडे भारी पुरुषार्थी कहना चाहिये। अतः मोक्षके साधन या संवरनिर्जराके कारण हो रहे आठवें, नक्वें, दशवें, ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानोंके परिणामोंमें जितना पुरुषार्थ आवश्यक है उससे भी कहीं अधिक तेरहवें गुणस्थानमें चलते, उपदेश देते और अन्तमें सूक्ष्मक्रिया करते समय पुरुषार्थ करना अनिवार्थ है। इससे भी कहीं अधिक चौदहवें गुणस्थानमें प्रयत्न करना पडता है तभी पिचासी प्रकृतियोंका नाश हो पाता है । यहां इच्छायें सर्वथा नहीं हैं । सिद्ध अवस्थामें तो अनन्त कालतक के लिये परमपुरुषार्थ करना अत्यावश्यक हो जाता है। इच्छाके साथ पुरुषार्थका कार्यकारणभाव माननेपर अन्वयन्यभिचार हो रहे देखे जाते हैं । चक्कू या कांचके गढ जानेसे शरीरमें रक्तके बहनेपर अथवा बळात्कारकी मळमूत्रबाधा उपस्थित हो जानेपर या ज्वरकी अवस्थामें अथवा पांव रपट जाने या गोत्रस्खळम होनेपर हुये कितने ही इच्छापूर्वक पुरुषार्थीको शरीरप्रकृति अनुसार परतंत्र परिस्थितियश हुये अनिष्क्रपूर्वक पुरुषार्थ नष्ट कर अनचीते कार्योको साथ देते हैं। अर्थात्---रकको रोकने अथवा अवर ( बुखार ) के रोकनेवाले इच्छापूर्वक पुरुषार्थीका व्यापार नहीं हो पाता है, और आत्माके अनिष्ठापूर्वक पुरुषार्थीसे मछ निकछ जाता है, ज्यर चढ आता है, रक्त बहता रहता

है, पांव स्पट जाता है। किसी विवक्षित शहके बोलनेकी इच्छा होनेफर दूसरा है। अधिबक्षित सह मुखरे निकल पडता है। कर्मफलचेतना की अवस्थामें भी एकन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीनोंको पुरुषार्थ करना अनिवार्य है। मले ही उस पुरुषार्यको करनेमें कर्मोद्वारा होनेवाली पराधीनता धेरक होय, किन्त प्रयत्न ती आत्माको ही करना पडता है। घोडके अनुसार अञ्चवारको जो प्रयत्न करने पडते हैं। उनका प्रेरक निमित्त घोडा है, किन्तु पुरुषार्थीका कत्ती अञ्चवार है एवं अञ्चवारके निमित्तसे घोडेको जो प्रयत्न करने पडते हैं उन पुरुषार्थीको सम्पादन करनेवाला स्वतंत्र कत्ती घोडा है। " देवदत्तः दान्नेण खुनाति " देवदत्त हैंसियासे फलको छेदता है, यहां कारण या कारणोंकी उपस्थिती होनेपर मी देवदत्तका स्वतंत्र कर्त्तापनकतो निमित्त कारणों करके नहीं छीन लिया जाता है। बात यह है कि स्ववंत्र हो या परतंत्र हो आत्माको स्वकीय संपूर्ण परिणामोंको बनानेमें पुरुषार्थ करना पडता है। इसी प्रकार जड पदार्थ भी जगतेंम बहुतसे कार्यीको करता है। आत्माके वैसे परिणामोंको पुरुषार्थ या प्रयत्न कहते हैं और पुद्रल या अन्य द्रन्योंके तादश परिणामोंको वीर्य, शक्ति, आदिसे व्यवहार करते हैं। सूर्यकी घाम, चन्द्रमाकी चांदनी, ऋतुऐं मेघ जल ये अनेक कार्यीको कर रहे हैं। भींत या सोटें छतको डाट रही हैं, खाट या काष्ट्रासन ऊपर बैठे हुये मनुष्यको साध रहा है, जमाल गोटा पेटके मलको खुरच रहा के कीचलिपिटी त्वीमेंसे धीरे धीरे कीचको छुडाकर जल तुंबीको ऊपर जलप्रदेशमें उछाल रहे जल नात्रको सरका रहा है, आदि कार्य भी द्रव्योंके निजनीर्य द्वारा सम्पादित हो रहे हैं । जिन जड दर्ज्योंमें कि कथमपि इच्छा की सम्भावना नहीं है, यहां प्रकः रणमें क्षयोपराम भावको बनानेमें आत्माका पुरुषार्थ होना आवश्यक है । हां, आत्माको अपनी प्रकृति अनुसार फल देनेके लिये हुये कमोंके पक्त्र परिणामके सम्पादक तो कर्म ही हैं। आत्मकृत निज भार्त्रोके निमित्त कारण कर्म हो जाते हैं । और कर्मकृत उन कर्मीके परिणामोंके निमित्तकारण आरमीय भाव हो जाते हैं । क्षायोपशामिक भावोंको बनानेमें आत्मा तो पुरुषार्थ करता ही है । किन्तु साथमें द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव, या आत्मपरिणामको निमित्त पाकर जब कर्मीकी क्षयोपराम भावको बनानेके अनुक्रल बिशेष अवस्था होगी तमी वे कर्म क्षायोपशमिक भावोंके निमित्त हो सकते हैं। पेटमें जाकर हुई औषधिकी विशेष अवस्था ही उदररोगनिवृत्तिका निमित्त है। यहां मतिक्वानावरण, श्रुतक्कानावरण, चक्षदर्शनावरण, दानान्तराय आदि कर्मीके सर्वघातिस्पर्द्धकोंका उदयक्षय होजानेसे और उनहींके भविष्यमें उदय आनेवाले सर्वघातिस्पर्वकोंका सन्तामें बने रहने रूप उपशम होजानेसे तथा देशघाति स्पर्द्धकोंके उदयसे आत्माकें क्षायोपशमिक भाव निपजता है। यद्यपि मतिक्वानावस्य आदि प्रकृतियां देशघाति हैं। फिर भी देशघातिओंमें सर्वघातिस्पर्देक पाये जाते हैं। अतः आत्मीयगुणको पूर्ण रूपसे वातनेवाले कर्मीकी उदय, उदीरणायें, नहीं होनी चाहिये, तमी क्षायोपशमिक भाव निष्पन होगा।

र्षि पुनः स्पर्धका नाम ? अविभागपरिच्छिककर्मप्रदेशस्यभागप्र<del>ययपंत</del>ः अवश्वादः अभरानिः स्पर्दकं कर्मस्कपश्चक्तिविशेषः । 👀 ्रिक्त यह बताओ कि स्पर्धक भंजा क्या पदार्थ है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य 🗷 महाराज जिल्हर कहते हैं कि शक्ति या पर्यायके अंशोंको अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। '' अविभागपिकच्छेजी .जहण्य उच्**ढी पर्साणं '' ऐसा गोम्मटसारमें कहा है** । रूप, रस, क्षान, सुख, आदिक वस्तुमितिपर अंशोंकी कल्पना कर पूरी संख्याओंमें गिननेका उपाय अविभाग प्रतिष्ठेद है। पीद्रलिक कर्मीमें आत्माको रस देनेकी शक्तिके अंश भी अविभाग प्रतिच्छेटोंद्वारा त्यारे न्यारे पंक्तियोंमें विभाजित किये जाते हैं। अविभाग प्रतिच्छेदोंसे युक्त होरहे कर्यपरमाणुओंके रसभागकी प्रचयपंडिका अमसे बढना या क्रमसे घटना जिन पिण्डोंमें पाया जाता है वह कार्मण स्कन्धेंका यथानाम शक्तिविशेषोंको धारस्हा कर्म समुदाय स्पर्दक कहा जाता है। मोटी मिरचकी अपेक्षा छोटी मिरचमें अल्प परिमाण होते हुये मी चिरपिरे रसके शक्ति अंश अधिक माने गये हैं । अपनी अपनी आत्मामें सर्वांग व्यापरहे निगोदिया जीवके ज्ञानसे संज्ञी जीवके ज्ञानमें प्रतिभासक अंश अनन्त गुणे हैं। हार्थाकी अपेक्षा सिंहमें साहसके अंश बढ़े हुये हैं। इसी प्रकार संसारी जीवोंके प्रतिक्षण उदयमें आरहे कर्मोंकी फलदानशक्तिओंके मी अंशकपायानुसार न्यून, अधिक, संख्यामें नियत होरहे हैं। छोटेसे छोटे भी संसारी जीवके अभन्योंसे अनन्तगुणे कर्मप्रदेश प्रतिक्षण उदयमें आते हैं और बडीसे बडी अवगाहनावाले बत्स्यके भी सिद्ध राशिके अनन्तमें भाग कर्मप्रदेश उदय प्राप्त होते हैं। जवन्य और उत्कृष्ट मध्यवती अनन्त भेदींको धारनेवाले अनन्तानन्त जीव हैं । अभन्य राशिसे अनन्त गुणी इस संख्यासे सिद्ध राशिका अनन्तवां भाग यह संख्या वडी है। कारणोंके वरा अविभाग प्रतिन्छेदोंमें छह स्थानवाली हानिवृद्धियां होतीं रहतीं हैं। ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हानि या बाद्ध करते समय संख्यात पदसे उत्क्रतसंख्यात और असंख्यात संख्यासे जिनदृष्ट असंख्यात गुणे छोकप्रदेश तथा अनन्त शहसे जीवराशिरूप अनन्तानन्त पकडा गया है। किसी गुणमें उक्त संख्यासे न्यून या अधिक संख्याको छेकर भी हानिवृद्धियां सम्भावित हैं। रसके अंशोंमें जितनी अविभाग प्रतिष्छेदोंकी संख्याका न्यूनाधिकपना है उतना तारतम्य गन्धमें नहीं पाया जाता है । ब्रान गुणमें जितना जघन्य अंशोंकी बृद्धिस्वरूप अविभाग प्रतिच्छेरोंका हानिबृद्धि भाव है उतना सुख या अस्तित्व गुणमें नहीं पाया जाता है। अन्तरंग कारण कपायोंके तीन, मन्द. **क्षात, अक्षात परिणामोंकी अपेक्षा और बहिरंग कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, अधिकारी जीव, वीर्य, आदि** परिस्थितीके अनुसार एक जातिके कर्मोंने फल्टान शक्तिके अंशोंकी विचित्रतायें मानली जाती हैं। जैसे कि लञ्चपर्यासक निगोदियासम्बन्धी सबसे छोटी श्रेणीके जघन्य झानमें आकाश प्रदेशोंसे भी अनन्तानन्त गुणे इतने बनन्तानन्त अविभागप्रतिष्ठेद माने गये हैं । क्योंकि उसी छन्यपर्याप्तक निगोदियाके जन्मके प्रथम समयमें होनेवाछे जक्षन्यज्ञानसे द्वितीयसमयमें ज्ञानकी दृद्धि उस ज्ञानके अनन्तवें भागरूप हैं। अतः परी संज्याओं में कथन करनेकी विवक्षा होनेपर उस दृद्धिक अंशको यदि एक मान्छिया तो पहिले समयका पुरुक्तान उससे अनन्तानन्तगुमा होता हुआ, अनन्तानन्त अविभाग प्रतिन्हेदींक धारने-माज सहा जायगा और दूसरे समयके शामके एक अधिक अनन्तानन्त अविभागप्रतिचेद माने

- 4

जारे हैं। इसे प्रकार सबसे छोटी बार्मोंकी फलदानशक्तिके अविभागप्रतिच्छेद भी अनन्त हैं। यचपि उत्तरी संस्था कभी कम नहीं होती है। फिर भी ऊपरकी श्रेणियोंमें शाक्तिके अंशोंकी दृष्टि श्लामी बीही है कि उसकी एक मान छेनेपर सबसे कम अनुभागशक्तिको धारनेवाले कमीमें रसशक्तिके अबि-कार्यप्रतिकार अनन्तानन्त ही गिने जा सकते हैं। सबसे न्यून जबन्य गुणोंको धारनेवाले प्रदेशको प्रकृतिकों, उसके अनुभाग अंशोंको बुद्धिके द्वारा छेद करते करते उतने बार दुकडे कर डालो, जिससे कि पुनः छोटा विभाग न हो सके । वे अविभाग प्रतिच्छेद जीकाशिसे अनन्तगुणी संख्यामें बैठेंगे । जितनी जतनी संख्याकी धारनेवाले प्रदेशोंकी एकराशि कर ली जाय, इन सब परमाणुओंके समुदायको वैशिषा कहते हैं । इसके आगे अविमाग प्रतिच्छेदोंको बढ़ाते हुये राशिको बनाकर उत्तरोत्तर वर्गणाये बना े छेनी चाहिये । इस प्रकार कमशुद्धि और कम हानिसे युक्त हो रही वर्गण।पंक्तियोंका समुदाय स्पर्धक कहा जाता है। समगुणवाले परमाणअंके समदायको वर्गणा कहते हैं। और वर्गणाओंके समदायको क्ष्पर्वक कहते हैं। एक जीवके एक समयमें अनन्तरपर्वकोंका उदय हो जाता है। पिंडकी अपेक्षा उस एक स्पर्धक भी कह सकते हैं। अर्थात-अनन्त अविभाग प्रतिच्छेशेंको धारनेवाले परमाण की कहे जाते हैं। अनन्तवर्गीकी एक वर्गणा होती है। अनन्तवर्गणाओंका एक स्पर्धक होता है। कीर अनन्तरपर्वक एक समयमें उदय आते हैं। किये हुये भोजनका भी प्रतिक्षण उदराग्निक द्वारा एक मीटा स्कन्ध उदयमें आता रहता है। अष्टमी या चौदसकी उपनास करना केवल मुखहारसे कर-सिंहारका त्याग करना मात्र है। अन्तरंगकी उदराप्तिके लिये तो मोज्य, पान, की सतत आवस्यकता कि कि कीर नोकर्मीका सर्वदा एक समयप्रवद्ध बन्धको प्राप्त होता रहता है। और एक निषेक उदयमें प्राप्त होता रहता है। पुद्रलके कार्योकी अनेक प्रकार जातियां हैं। मति झानावरण कार्यका क्षांबीपराम या उदय अथवा क्षय होता है। सदवस्थारूप उपराम होते हुवे भी इनका औपरामिक भाव नहीं क्न सकता है। क्योंकि बारहमें गुणस्थानतक ज्ञानावरणकी देशधातिओंका उदय सर्वदा विवासन है 🛊 जैसे कि नाकराक ठूंसकर जीम छेनेपर भी पान, सुपारी, पाचनचर्ण, व्यक्तोळवास छेनेके छिथे रिक्तता [गुंजाहरा ] बनी रहती है। अतः ज्ञानावरणके उदय, क्षयोपसम और क्षय ये तीन आव 🖥 हो, मोहमीयके उपरामको मिळाकर चारों माव हो सकते हैं। शक्ति विशेषोंको धार वह कार्य-रकेप्योंके स्पर्धक आत्मामें अनेक जातियाछे हैं । ऐसे पीड़किक फिल्डोंको यहां श्रकरणमें स्पर्धक माना गया है।

#### र्चक्रित्वसम्बन्धियात्वयोगानां ज्ञानसम्यक्त्वक्रन्थिकर्माकां गृबशुपादावं ।

मनको धारनेवाछे संजीजीवोके पाया जानेवाका संजितमान और तीसी गुणस्थानमें पाया जानेवाछा सन्यक्मिध्यात्वभाव तथा कायवाक्मनःकर्मरूप योग इन तीन भावीका तो ज्ञान, सन्यक्त और रुख्यियोंमें अंतर्भाव हो जानेसे श्री उमास्वामी महाराजने स्कूमें कण्डोक पृथक् महण नहीं किया है अर्थात् नोई दियावरणकर्मके क्षयोपक्रमें दुये संजीपनका मतिज्ञानमें अन्तर्भाव हो जाता है।

विकार करतीताले व्हिन्द या रुपयोग कर मानस मतिज्ञानस्वरूपमांव ही तो संबोपन है । 🛠 पोक्टिय आंगरणांतकोश्रामं सक्तवेक्षणं सक्या, सा जास सो दु सक्यी हरेचे सेसिर अन्नवेही '' तथा सामानार सर्वेद्यती सम्बन्धिकाल प्रकृतिके उद्दय होनेपर हुआ सन्यग्निक्यालमान तो सम्यक्त परिण्यामें वार्विकः हो जाता है। देक्षिये कतामान पूरा और दारुमामका अनत्त्वां भाग इतना तो देशवादी प्रकृतिका दान्य केंद्रा जाता है। देश दारुके क्षान्त बहुमाग और आस्प्रियान, शैक्टमाग, ये सर्ववादी स्पर्देक हैं। किंहु दारुवारोंके बचे हुये बहुमागके अनन्तर्वे माग प्रमाण न्यारी जंडतिबाके मिश्र प्रकृतिके सर्विक व्यक्ती अपर्देश हैं । बताः देशवाली सम्यक्त प्रकृतिक आति निकटनर्सी होनेसे तज्जन्य सम्यक्तिप्यांकः मार्थका सम्पन्न भावमें अन्तर्भाव करलेना समुचित है। गोमारसार कर्मकाण्डमें लिखा है। "देसोचित हवे सम्मं तत्तो दारू अणंतिमे मिस्सं, सेसा अणन्तमामा अडिसिकाफ्रह्या मिन्हे " इसी प्रकार-अंतरप्रके भ्रमोप्रमको निर्मित पाकर आत्मके पुरुषार्थ हाय वीर्यमात्र उपजवा है । और मन वजन कायके अवलन्त्रसे आत्माका सकम्प होना भी एक पुरुषार्थ है। बीर्य और होरा आत्माकी दोनों शक्तियां हैं । इतना अवस्य है कि सिद्ध अवस्थामें क्षायोपशमिक वीर्यका नारा होता हुआ भी क्षाायिक वीर्य बना रहता है, किन्तु सकम्पपना रूप योग चौदहवें गुणस्थान और सिद्ध अवस्थामें सर्वथा नहीं है। योगस्वरूपभाव क्षायिक नहीं हो सकता है । क्रिसी अंशमें '' पुग्गलिववाइदेहोदयेण मणनयण कायजुत्तस्त, जीवस्स जाउ सत्ती कम्मागम कारणं जोगो '' इस गाथाके अनुसार भावयोगको भले ही औदियक कह दिया जाय । किन्त मोध अवस्थामें कोई सा भी योग नहीं रहता है। अतः उक्त अठारह मेदोंसे कथेचित मिन्न हो गये भी संडित, सम्यम्मिय्यात्व, योग, इन तीन भावोंका यथात्रमसे झान, सम्यक्त, और लिवयोंमें अन्तर्भव कर लेता चाहिये. संक्षेपसे सूत्र रचना करनेवाले उमास्वामी महाराजको इतने थोडे थोडे अन्तरसे न्यारे न्यारे भावोंकी गणना करना अभीष्ट नहीं है ।

#### कृतः पुनः सयोपन्नमः कर्मणां सिद्ध इत्याह ।

कोई शिष्य पूंछता है कि महाराज फिर यह बताओ कि कर्मीका क्षयोपशम होना भूछा किस प्रमाणसे सिद्ध हो चुका है ! जिससे कि श्रायोपशमको धार्मिवाला भाव अठारह प्रकारका निर्णात किया जाय, ऐसी जिज्ञासा होनेपर औ शिवालन्द आवार्य स्पष्ट उन्नर कहते हैं ।

### श्रीणाश्रीणात्मनां पातिकर्मणामनसीयते । शुद्धाशुद्धात्मतासिद्धिरन्यसानुपपतितः ॥ १ ॥

जैसे कि विशेष ढंगसे ज़ळहारा प्रक्षालन करते हुये कोदों या मांगपत्तीकी मुद्दमित क्षीण भीर क्षक्षीण हो जाती है, अभिक थो देनेसे तो मदशकि सर्वया नष्ट हो जाती है, या बहुमाग क्षीण हो जाती है, तथा अस्तर्य थो देनेसे सहस्रोति नह नहीं होती है, अपना स्वयान ही नष्ट होती है। हां, कुछ देशक हाने: शने: कोटों या भागको छलामें भीचकर घो देनेसे उसकी अधिक उच्चाताको अत्यान करनेवाली मदजननशक्ति तो नष्ट होजाती है और मध्यम मद (गुलाबी नशा )को अधिक अधिक मद्दाकि नष्ट नहीं होती है । इसी प्रकार सर्वधाति स्पर्धकशक्ति स्पर्धकशक्ति स्पर्धकशक्ति अधीण आत्मक घातिकमीका शुद्धात्मकपना और अशुद्धात्मकपना सिद्ध हो । अध्यथा यानी घाति कमीके क्षीण अक्षीण स्वरूप हुये किना शुद्धअशुद्ध आत्मकपनकी सिद्धी नहीं हो स्केगी ।भावार्थ-पेटमेंसे कुछ अजीर्ण दोषोंके नष्ट हो जानेपर और कुछ दोषोंका कार्य होते कार्यमें स्वर्थता, अस्वर्थात्मक मध्यमकोटिकी प्रसन्नता होती है। उसी प्रकार अन्तरंगञ्चल। कार्यको छोन्म, आदिकी कुछ शुद्धि और कुछ अशुद्धि अनुभूत होरही है। वह ज्ञापकिलग चाति कार्यको क्षयोपश्चम अवस्थाका अनुमान करा देता है।

स्वसंवेदनादेवात्मनः शृद्धाश्रद्धात्मतायाः सिद्धिरमतिबंधा सती घातिकर्मणां श्रीणापशांत-स्वभावतां साधवति तदभावे तद्भुपपत्तेःः पयसि पंकस्य श्लीणापशांततामंतरेण शृद्धाशुद्धात्म-ताद्भुपपत्तिवत् ।

स्वसम्बेदन प्रत्यक्षसे ही आत्माके शुद्ध, अशुद्ध, आत्मकपनेकी बाधारहित सिद्धि होरही सन्ती चार वातिया कर्मोंके क्षीण स्वभाव और कुछ अक्षीणस्वभावपनको साध देती है। इसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। क्योंकि इस कुछ अंशोंमें क्षीण और कुछ अंशोंमें उपशान्त होरहे तथा कतिपय बंशोंमें उदय प्राप्त होकर अक्षीण स्वभावसाहितपनके बिना उस शुद्धाशुद्धात्मकपनेकी उपपात्त नहीं हो सकती है, जैसे कि जल्में किचके क्षीण और उपशान्त तथा कुछ युलेपन अवस्थाके बिना शुद्धअशुद्ध आत्मकपन अर्थात्—बहुभाग स्वच्छता और अतीव मन्द गंदलेपनकी सिद्धि नहीं होपाती है। औषधि या शरीरप्रकृतिद्वारा चिकित्सा होनेपर यदि शेगका सौमा भाग अवशिष्ट रह जाय अथवा धोवते बोवते बक्कमें अत्यल्प मल या रंग शेष रहजाय इत्यादि अवस्थाओंमें भी प्रतिपक्षी पुद्रलोंका क्षयोपशम होना उदाहरण बनाया जासकता है।

ततो मत्यादिविज्ञानचतुष्टयिमह स्मृतं । शुद्धाशुद्धात्मकं लिंगं तदावरणकर्मणाम् ॥ २ ॥ श्वयोपशमसद्भावे मत्यज्ञानादि च त्रयं । दर्शनत्रितयं चापि निजावरणकर्मणा ॥ ३ ॥ लम्भयः पंच तादृश्यः स्वांतरायस्य कर्मणः । सम्यक्तं दृष्टिभोहस्य वृत्तं वृत्तसुदृस्तथा ॥ ४ ॥

### संयमासंयमोऽपीति घातिक्षीणोपशांतता। सिद्धा तद्भवभावानां तथाभावं प्रसाधयेत्॥ ५ ॥

तिस कारणसे यहां मति, श्रुत, आदिक चारों विज्ञान श्रुद्धअशुद्ध आत्मका स्वरूप होरहे लिंग माने गये पूर्व आम्नायसे चले आरहे हैं, उन मति आदिकको आवरण करनेवाले मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययञ्चानावरण कर्मोके क्षयोपरामकी सत्ताको साधनेमें वह गुद्धाञ्चदात्मकपना झापक लिंग है । इसी प्रकार कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभेगज्ञान ये तीन कुझानभाव भी खुद अग्रुद्ध आत्मक हो रहे संते उनके प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयोपरामको साध-नेमें आपक हेतु हैं। तथा चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन ये शुद्ध, अशुद्ध, आत्मक तीन दर्शन भी अपने आवरण करनेवाले कर्मीक क्षयोपशमकी सत्ताको साधनेमें ज्ञापक लिंग है। इसी प्रकार वैसी शुद्ध अशुद्ध आत्मक दान, लाम, भोग, उपभोग, वीर्य, ये पांच लिश्वयां भी अपनेमें अंत-रायको ढाळनेवाळे पांच अंतरायकमीके क्षमोपशमकी विद्यमानताको साधनेमें व्याप्त हेतु हैं। तथा आत्मामें अनुभूत हो रहा तिस प्रकार शुद्ध, अशब्द आत्मक वेदक सम्यक्ल परिणाम तो दर्शनमोहनी-यके क्षयोपरामका साधक लिंग है। तथा शुद्ध अशुद्ध आत्मक हो रहा बृत्त यानी क्षायोपरामिक चारित्र भी आत्मामें चारित्रमोहनीयके क्षयोपशमका श्वापक छिंग माना गया है। एवं संयमासंयमभाव भी अनुभूत हो रहा संता अपने घातक कर्मोंकी क्षीणबृत्ति और उपशान्त वृत्तिको आत्मामें साध देता है । चारित्रमोहनीय कर्मकी पद्मीस प्रकृतिओंमें अनन्तानुबन्धी चौकडी, अप्रत्याख्यानावरण चतुष्टय, और प्रत्याख्यानावरण कोच, मान, माया, छोभ, ये बारह प्रकृतियां सर्वघाती हैं। देख प्रकृतियां देश-भाती ह । यद्यपि संज्वलनमें भी कुछ पिण्ड ऐसे हैं. जिनका कि छठवें सातवें गुणस्थानमें उदय नहीं, है। किन्हीं मिथ्यात्वके सहभावियोंका तो पहिलेमें ही उदय है। अचारित्रके सहभावी कतिप्योंक चौथे गुणस्थानतक ही उदय है । इसी प्रकार कुछ प्रत्याख्यानावरण अप्रत्याख्यानावरण प्रकृतिओंका भी चौथे गुणस्थानमें उदय नहीं है । पहिलेमें ही है । फिर भी उन उन गुणोंका सम्पूर्ण रूपसे घात नहीं करनेकी अपेक्षा उनके सिरपर बुराई नहीं लादी गयी है। बुराईको झेलनेवाली वहां दूसरी प्रक्र-तियां स्वश्रुके समान आपत्तिको छे रही हैं । उपशम श्रेणीमें उपशम चारित्र और क्षपक श्रेणीमें कायिक चारित्र है। यहां देशधातीके उदयकी आवश्यकता नहीं है। विवक्षा भी नहीं है। सम्यक्त गुणके स्थि अनन्तानुबन्धी चतुष्टय, मिष्याल, सम्याङ्मिष्यात्व ये छह प्रकृतियां सर्वघाती हैं। और सम्यक्त प्रकृति देशघाति है, सम्यक्त गुण आत्माका अनुजीवी गुण है । और सम्यक्त प्रकृति पुद्र-स्वी बनी हुई दर्शनमोहनीयका तीसरा भेद है। जो कि उपशम सन्यक्तक्प परिमाणों करके मिथ्यात क्रम्यके तीन दुकडे होकर चनकीमें पिते हुये कोदोंकी सुतीके समान मन्दतम अनुमागको छिये हुये है। क्षाका नामक सदका युक्ता होनेपर भी अर्थ त्यारा न्यारा समझना चाहिये। तथा संयमासयम

मानके छिये प्रत्याल्यानावरण मी देशकाती कल्पित किया गया है। इस मकार अनुमान द्वारा उक्त अठारह भागोंके सन्पादक क्षयोपशमको साथ दिया है। उक्त हेतुओंमें अन्वयन्याति पायी जाती है। जब बाती कर्मका क्षीणवना और उपशासको सिंद है। खुका तो क्ष्म असके क्षेत्रेयर होनेजी भागोंका तिस अकार हो रहे क्षयोपशम भावको भन्ने प्रकार संयम रहित साथ ही देवेगा।

### एवं व सिद्धाष्टादयभेदी निश्री पावः।

और इस प्रकार व्यासिको बनाकर सिद्ध कर दिये गये अनुमान द्वारा अठारह भेदोंको धारने-बाला स्राय, उपराम, और उदयक्ता मिला हुआ मिश्रमात्र सिद्ध कर दिया गया है।

# यः पुनरीद्यिको भाव एकविकातिभेदोशोदिष्टस्तस्य निर्देशार्थे पष्टिमिदं सुत्रम्

मिश्रभावके पश्चात् जो फिर इकाईस भेदबाले औद्रयिकमावका नाम निर्देश किया था, उसका कथन करनेके लिये श्री उमास्त्रामी महाराजका यह द्वितीयाध्यायमें छठा सूत्र है। जो कि इस प्रकार है उसको सुनी—

# गतिकषायिंजगिभध्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध-लेक्साश्चतुश्चतुरूत्र्येकैकेकेकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

आत्माको नरक सम्बन्धी, तिर्यक्तमबन्धी, आदि भावोंकी प्राप्ति करानेवाली आत्मीय परिणाम रूप गति औदियिकभाव है। चारित्रमोहके उदयसे कल्लुषताभाव होना कषाय है, वेदत्रयके उदयसे हुआ अभिलाषाविशेष लिंगभाव औदियिक है, तत्त्वार्थीका अश्रद्धानरूप परिणाम मिथ्यादर्शन है, ज्ञानावरणके उदयसे अन्धकारके सदृश इग्रनाभाव बना रहना अज्ञानमाव है। यहां नक्षका अर्थ प्रसम्ब है, इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयमको नहीं पालना असंयतभाव है, सिद्ध अवस्था नहीं हो सक्षना असिद्धत्वभाव है, कषायमिश्रित आत्माके सकम्प परिणाम लेक्याभाव है, इतके यथाक्रमसे चार, चार, तीन, एक, एक, एक, एक, एक, छह, भेद हैं। इस प्रकार औदियिक भावके इक्षईस भेद समझ लेने चाहिये।

चतुरादीनां कृतदृंद्धानां भेदमक्षेनान्यपदार्था कृतिः पूर्ववत् । प्रधाक्रममिति चात्नुवर्तते तेनैकमिसंबंधः क्रियते—गतिश्रद्धभेदा क्षणायश्रद्धभेदो िकंगं त्रिभेदं मिध्यादर्श्वनमेकमेद्दर्शन्य तत्रैवांतर्भागात्, अक्षानमेकभेदं असंयतत्त्रमेकभेदं िकंगे द्दास्यरत्याधांतर्भानः सहस्राति-त्वाद्ध । मतिग्रद्धमाधात्युपलक्षणमिति न कस्यचिद्धीदयिकभेदस्यासंग्रहः ।

मति और क्षपांच तथा लिंग और निष्यादर्शन एवं अझन और असंयत तथा असिद्ध और केरपा इस प्रकार मति आदिकोका इसरेसर पोमनामक इन्द्र समास क्षांकेमा काहिये तथा संस्थानाचक चार, त्यार, तीन, एक, एक, एक, एक, एक, छह, इन परीका पहिले इसस्तर इन्द्र कर प्रवास भेद सहिते साथ अन्य पराविको प्रधात रखनेपाछी बहुबीहि समास मामकहति करने छेनी चाहिये, बैसे कि पहिलेके पूर्व स्त्रोंमें इतरेतर समास करते हुये बहुजीहि समास किया गया है, बैसा ही यहां करखेना । पूर्व अक्रके समान सहां भी रहते प्रक्रोंके ''ममाकामर'' इस परकी कर्तकृति क्रेनाती है लिस कारण उदेश्य विदेश प्रतेका दोतों ओरसे सम्बन्ध करिया जाता है कि गतिके चार भेद हैं, चार भेदकरी क्रमाय है लिंग तीन भेदोंको भारता है, मिध्यादर्शनका एक प्रकार है, यहां अदर्शनभाषको न्यारा नहीं कहा है, क्योंकि दर्शनावरणके उदय होनेपा हुये अन्धकल्प अदर्शनभावका उस मिथ्यादर्शनमें ही अन्तर्भाव होजाता है तथा अज्ञानका भेद एक ही है, असंयतपना एक भेदको छिये हुये है, असिद्धत्व एक प्रकारका है। छेश्याके छह मेद हैं, क्यापि कवाय माबसे सोछह कवाय और छिंगसे तीन वेद पकडे जासकते हैं। जतः हास्य आदिक छह मोकामयके उदयमे होनेवाले औदियिक भाव शेष बच जाते हैं। फिर भी 'संहचारीपना हीनेसे हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुस्ता, इन औदियक मार्वोका अन्तर्माव हिंगमें करळेना सूत्रकारको विवसित है। अतः सक्ष्म कथनकप सुत्रमें विस्तार मही किया गवा है, जानावरण नार्म और अन्तराय नार्मिका अधिकाभाग होनेसे अलकियोंका आहान बालमें ही अन्तर्भाव होजायरा जैसे कि " नाकेन्त्रो दिन स्वयताम् " यहां काकपद समी दिनि उपनातक परापित्रमेंका उपलक्षात है । कसी अनुमर जीवनिषाकी जातिकारीके अदयसे होनेवाले वा अस. स्थावर उच्चेगीत्र. मन्य्यसः. सात. असात. लीविकरत्व, आदि अधारिया कर्मोंनी प्रकृतियोंके उदयसे होनेवाछे औदियक भागेंका गरी महणारे उपल्याम होजाता है। इस कारण जीवविपाकी चाती या अचारी किसी भी कर्मके उदसरे होले जो और पिक भेदना असंप्रत नहीं हुआ। इब ही इबईस भेदोंमें सब ही औद विक भाषोंका अन्सर्भाव हो जाता है।

#### श्रुतः चुनगैतिनामादिनार्मणाञ्चद्यः सिद्धो यतो आपावकविकतियानामानीद्यिकत्वं सिध्यतीत्याह ।

किसी विनीत शिष्यका प्रश्न है कि महाराजजी, फिर यह बताओं कि आत्माओं में गतिनामकर्म चारित्रमीहनीय, पुनद आदिक कर्मीका उदय किस प्रमाणसे सिद्ध है! जिससे कि उन गति, कवाय, आदिक इसईस मार्चोका औरियकपना सिद्ध ही जाता है। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विचान्द स्वामी जीत्मगिरवसहित उत्तरको कहते हैं।

#### अन्यशासायहेत्नां केषांतिहृदयः स्थितः। कालुष्पविचितातहद्वतिनामास्यम्ब ते ॥ १ ॥

आतार्थित होते स्थामाविक मिर्पाक्षिको अन्य प्रकार परिवान करामके हेतुभूत हो रहे कि ही जिलीक्स पदार्थिका राज्य होता आतार्थि व्यवस्थित है। (प्रतिक्षवानक ) क्योंकि संसारी जाताओंके हो रही कानुपताविशेषकी सम्बद्धि हो रही है। उसीके समान दूसरे दूसरे स्थामाविक परिधामोंका जन्मकाल असमिता किसी अधिकात वदार्थिका उदाप मी असमान प्रमाण हारा निर्धात हो रहा हैं। जतः सर्वनाम किस् शहके बाच्य हो रहे वे अन्यथा भावके हेतु ही तो गतिनाम, कषाय वेदनीय, अकाषय वेदनीय, आदिक विशेष कर्म हैं।

स्वयमातिस्वभावस्य पुंसो नरकादिगतिपरिणामविश्वेषः कालुष्यमन्यथायावाद्वेषते तद्वदक्षपायिलगिमध्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्यास्वभावस्य सतस्तस्य कषायादिपरिणाम-कालुष्यभाव एव तद्वितिरेव वात्मनोन्यथाभावहेतूनां केषांचिदुद्यं साध्यति, तद्भावे सर्वथा-त्रुप्यद्यमानत्वात् परिदृष्टहेतूनां तत्र व्यभिचारात् । तथा सति येषाद्वद्याद्वत्याद्यः परिणाम-विश्वेषाः कादाचित्कास्ते गतिनामादयः कर्मप्रकृतिभेदा इति परिशेषादवसीयते ।

जो परद्रव्यके बन्धसे विविक्त हो रही सिद्ध अवस्थाके परिणाम हैं, वे ही आत्माके स्वतः अनन्त कालतक ठहरनेवाले स्वभाव माने जाते हैं। रोष अन्यथा स्वरूप हो रहे परिणाम तो विभाव अवस्था है। आत्मा स्वयं अपने डील्से तो जाना आना स्वास, उच्छ्रासके साथ घटना बढना, देव पर्यायमें जाना, इत्यादिक गमन परिणामोंसे रीता है। उसको कोई लढनेकी, मोठे होनेकी, यहां वहां जानेकी आकलता नहीं है। तो भी स्वयं अगमन स्वभाववाले हो रहे आत्माके नरकगतिमें गमन, तिर्येच आदि गतियोंमें गमन ऐसे विशेष परिणमन स्वरूप कल्लषतायें हुई स्वभावोंका अन्ययाभाव हो जानेसे स्वसंविदित हो रही हैं। उसीके समान स्वभावतः कषायरहित स्वभाववाले चारित्र स्वरूप आत्माके कषायरूप कलुषतायें अनुभूत हो रहीं हैं। तथा निश्चयनयसे मिथ्यादर्शन रहित श्रद्ध सम्यग्दर्शनस्वभाववाले आत्माके मिध्यात्वभाव वेदा जा रहा है। और अन्नानरहित . स्वभाववाले आत्माके किसी पराधीनतावश अन्यप्रकारसे होर**ही अज्ञानरूप कल्लुवता प्रतीत की** जारही है तथा असंयतपना स्वभावसे खाली संयमीस्वरूप आत्माके परतंत्र होकर असंयत परिणाम रूप कल्ल्षताकी वित्ती होरही है। इसी प्रकार असिद्ध अवस्थासे रहित सिद्धस्वभाववाले आत्माके असिद्धता रूप कल्लघताका सद्भाव है। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे लेश्यारहित शुद्ध अलेश्य स्वभाववाले आत्माके संसार अवस्थामें कषायसंयुक्त योगप्रवृत्तिरूप कल्लुषता परिणाम होरहे हैं। वे कल्लुषताभाव ही आत्माके स्वभाव अवस्थासे अन्यथाभाव हो जानेकी अवस्थाके कारण होरहे किन्हीं परद्रव्यरूप हेतुओंके उदयको साध देते हैं अथवा उन गति, कषाय, आदि अन्यथामृत अस्वाभाविक परिणामोंका संवेतन होना ही आत्माके अन्यथा परिणामोंको करानेवाले किन्ही हेतुओंके उदयको साथ देता है। क्योंकि परतंत्र करनेवाळे उन हेतुओंके न होनेपर शुद्ध आत्माके सभी प्रकारसे गति, क्षाय आदि परिणामींकी उपपात्ति नहीं हो पाती है। अदृष्ट कर्मीके सिवाय किन्हीं दूसरे परिष्ट पदार्<del>योको यदि आत्माके उन</del> गति, कथाय आदि भाव करानेमें कारण माना जायगा तो व्यभिचार दोष आता है। अर्थात्-गति आदिक भावोंका सूक्ष्म कमीको कारण माननेमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों बनजाते हैं। किन्तु अन्य उत्साह, शरीर, इच्छायें, इष्टपदार्थ, स्त्री, पुरुष, कुदेव, कुगुरु आदिक इष्टपदार्थीको ही जन

भावींका कारण माननेपर तो अन्वयन्यभिचार और सातिकेक न्युभिचार दोष आते हैं। दुलाह, रूज होनेपर भी अपनी राजीसे कोई देवगति या मनुष्यगतिको प्रात नहीं हो जाता है । कोई वीतरमामुनि इच्छा न होनेपर भी बाजकल देवगतिको प्रकृ हो काते हैं। कोई प्रकृ हार्पक्षी क्ष्मतिको धारनेवाला मोटा होना चाहता है । किन्तु ध्यूलकाम सुद्धा है । सुद्धा की की बहुत शरियाला अतिस्थूल मनुष्य न चाहने पर भी ठईका गड़ा बना जाएडा है। कमायक परिष्ट कारण गाली, कुकचन, अनिष्ट पदार्थकी प्राप्ति, होनेषर भी क्षमानान् । सत्तोषी सांधु पुरुषके कषाय कलुकतार्थे सही उपजती हैं । साधमें किसी अकारम कोशी पुरुष्के मान्नी, अपबान आहि बहुए न सिक्तेपर भी कोध ईर्था, गर्व ये निमान परिणाम उपन जाते हैं। इसी, शोक, भय, ग्लानिक बहिरंग कारण न सिल्नेपर भी बहुतसे जीव इन सराबोंसे फंसे हुसे हैं। और अनेक राम्पीर, आवश्यानी, सजब इनके कारण पिछ-नेपर भी उक्त विपत्तियोंने बने इसे हैं । एकान्तमें बीयुक्य या श्रृंगार रस वर्धक सार्योंके होनेपर भी अनेक जीव अपने बहाचर्यकी रहा। कारहेते हैं। तथा व्यक्ती जीव कारणोंके विना ही संकला, निकल्प, करते हुये ही मैश्रुन परिणामीको करकेते हैं । सम्पादर्शनके महिता कारण जुट जानेपर सी ब्रन्यलिंगी मुनि मिय्याल परिणामींको बनाबे रावता है । सामग्रे श्री समन्त्रमञ्जान या अक्तरंक देव प्रसृति पात्रत पुरुष अनायतनोंमें भी अपने सुस्पादर्शनको प्रस्तिक वृद्यारे रखते हैं। इसी प्रकार आहे-यमी, असिद्ध, डेश्या, परिणामोंका भी बहिरंग देताओंके साध कार्यकारणमात्र माननेमें अन्तय व्यक्ति-चार या व्यतिरेक व्यभिचार आता है। हां अनुतरंग सूक्ष्म गतिनाम, मुख्यानाक्षण मिथ्याल, हास्य, आदि, कर्मोको इनका कारण पानना निर्देश है। अतः तैसा होनपर जिन पराधीनता सम्पादक पदा-थोंके उदयसे आत्मामें क्रमी कभी क्षेत्रेकाले नातिक क्षेत्राय , अधिक परिणास विशेष होते हैं, वे गति-नाम, चारित्रमोहनीय, पुंबेद, आदिक कार्म प्रकृतियोंके विशेष भेद हो यह कर्पदन्त हैं । वह "परिशेष" न्यायसे निर्णय कर लिया जाता है। अर्थात् जो कार्य कभी कभी होता है, वह आत्मद्रव्यका स्वमाव तो है नहीं । हा परहच्यके सम्बन्धिस होनेवान्द्र विभाव परिणाम है। जैसे कि तीव काम व्यक्ता का हो रहा भोतिय बाह्मण आपने कुमानका अतिकामण कर नेक्ष्यागृह प्रति ग्रामन करता है। अथवा मशीकरण मंत्र या चूर्णकी परामीनतासे नोई कुलकामिनी परप्रश्रकी अस्ताविनी हो जाही है। इसी अस्तर तिश्वय नयसे शहरमांचेको हार यहा भी आत्मा जिलकी प्राचीनतासे हु स कारण अपना इ.स्कारप हो रही कवाय, अवान, अनोंक १इनि, आदि असरपाओंको आसपाय करनेता है, वे ही जैनसिहानमें पीड़िक्कर्स हैं। उनका उदय अनेपर जीन स्वभानोंको कोडकर निमान परिवाल-वांको प्राप्त कर केला है। जैसे कि उस क्षेणपहिल भी जीवित आहिर कर्ती कभी त्राप्त, तिव, कर्फ, रोबोका प्रकोप होतेपा ज्यो या क्रफी हो जादा है । इस प्रकार अविनासकी हेत्रसे अद्भान दारा करीका उदय साथ दिया जाता है। असा पासका स्थित कर जनसेपा करे हुने का बान कराने-न्याग है । '' प्रस्तक प्रतिषेषे विशयमाथ संग्रस्थवेदः प्रविषेषः ''।

### गतिनामोदयादेव गतिरोदयिकी मता। तिहिसेपोदयात्सैव चतुर्धा तु विशिष्यते॥१॥ तयोपलक्षिताघातिकमोदयिनवंधनं। सुसाद्योदयिकं सर्वमेतेनेवोपवर्णितम्॥३॥

मामकर्म का विशेष भेद हो रहे गतिनाम कर्मके उदयसे ही आत्माकी हो रही गतिनामक मिरिणित औदियकभाव मानी गयी है। उस गतिनाम पिण्डप्रकृतिके भेद विशेष हो रहे नरकगति, विशेषगति, मनुष्यगति, और देवगति इन चार कर्मोंके उदयसे तो वही आत्माका गतिपरिणाम चार फ्रक्तारोंसे भेदयुक्त कर दिया जाता है। श्री उमास्वामी महाराजने अघातियोंमें प्रधान हो रहे नामकर्म और उसमें भी प्रधान हो रहे गतिकर्मका कण्ठोक्त निरूपण करिया है। शेष रहे संपूर्ण अघातिया कर्मोंका उस गतिसे ही उपलक्षण कर दिया जाता है। अतः उस गतिसे उपलक्षित हो रहे जाति आदिक और वेदनीय, आयः, गोत्र, कर्मोंके उदयको कारण मानकर हुये आत्माके सुख, मनुष्य बारीरमें हुसा रहना, उच्च आचरण, नीच आचरण आदिक भाव भी औदियक हैं। यह सब इस उक्त क्यानसे ही निरूपण करिया गया समझलेना चाहिये।

तथा कोधादिभेदस्य कषायस्योदयान्तृणाम् । चतुर्भेदः कषायः स्यादन्यथाभावसाधनः ॥ ४ ॥ लिंगं वेदोदयात्त्रेधा हास्याद्युदयतोपि च । हास्यादिस्तेन जीवस्य मुनिना प्रतिवर्णितः ॥ ५ ॥

तिसी प्रकार कोघ, मान आदिको घारनेवाले पुद्रल निर्मित कषायवेदनीय नामक चारित्र मोहनीयके उदयसे जीवोंके कोघ, मान, माया, लोम, चार मेदोंको घारनेवाले कषायभाव होते हैं। जथवा अनन्तसंसारके कारण मिथ्यात्वका अनुबन्ध करनेवाले या स्वरूपाचरणको बिगाडनेवाले परिणाम और देशचारित्रको रोकनेवाले तथा सकलचारित्रका घात करनेवाले एवं यथास्यात चारित्रको कसनेवाले ये चार प्रकार विभावमाव जीवोंके हो जाते हैं। स्वाभाविक परिणामोंसे हटाकर आत्माकी अन्यथामाव विराणित ही कषायभावका ज्ञापक हेतु है। पुंवेद, स्वीवेद, न्युंसकवेद इन तीनों वेदोंके उदयसे आत्मामें तीन प्रकारका लिंगपरिणाम होता है, जिससे स्वारमण, पुरुषरमण, या उभयरमणके कलुषतारूप परिणाम होते रहते हैं। तथा हास्य, रति, आदि कर्मोंक उदयसे भी हसना था देश, उपवन, गायन, उत्यक्ल, आदिके लिये उत्सुक रहना, अथवा इनमें अनुस्सुक रहना, शोकमें रहना, उरना, शृणा

करना इन विभावपरिणामोंका अनुभव होता है। श्री उमास्त्रामी मुनिमहाराजने जीवने हास्प्रादिभाव मी उपक्रमणवाळे उस लिंग करके ही प्रतिष्ठित कर कह दिये हैं।

दृष्टिमोहोदयात्रुंसो मिथ्यादर्शनमिष्यते । दृगावरणसामान्योदयाचादर्शनं तथा ॥ ६ ॥ सासादनं च सम्यक्तं यदनंतानुवंधिनः । कषायस्योदयाजातं तद्य्येतेन वर्णितम् ॥ ७ ॥ सम्यग्मिथ्यात्वमेकेषां तत्कमोदयजन्मकं । मतमोदयिकं केश्रित्कायोपशमिकं स्मृतम् ॥ ८ ॥

इनके आगेका सूत्रोक्तमान मिध्यादर्शन है, जो कि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीनके ही रहा माना जाता है। तिसी प्रकार मिध्यादर्शनमें अदर्शनमानका अनरोध हो जाता है। निदानिदा आदिक विभावपरिणामोंका भी उस मिध्यादर्शनमें ही अन्तर्भाव कर छेना चाहिये। नौ प्रकारके दर्शनावरण कर्मका सामान्य उदय हो जानेसे तिस प्रकार अदर्शनभाव हो जाता है। जो कि मिध्यादर्शन शहसे उपलक्षित कर दिया जाता है। और दूसरे गुणस्थानमें जो चारित्रमोहनीयके उदयसे हुआ सासादनसम्यक्तकप विभावपरिणाम भी अनन्तानुकन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न हो रहा सन्ता औदियिकभाव है। वह भी इस मिध्यादर्शन करके ही वर्णना युक्त कर दिया गया है। अर्थात् — मिध्यादर्शनको उपलक्षण मान कर उसके मित्र सासादन सम्यक्तका भी औदियक भावोंमें संग्रह कर लेमा चाहिये। एक प्रसिद्ध आचार्यके मतमें जो मिश्रमोहनीय कर्मके उदयसे हुआ सम्यग्निध्यात्वभाव है, वह उस सम्यिक्मध्यात्व नाम कर्मके उदयसे जन्म छेता हुआ औदियक माना गया है। यह हमारी सम्मित है। हो किन्हीं आचार्यने सम्यक्तिधात्वभाव भावको क्षायोपशमिक माना है। उनकी गुरु परिक्तिस हो सर्वक्षधारा अनुसार समरण किया गया चला आ रहा है। उसको हम पहिले पांचवें स्त्रिक विनरणमें क्षायोपशमिक सम्यक्त द्वारा संग्रह कर जुके हैं। अपेक्षासे सम्यक्तिया भावको क्षायो प्रश्निक दोनों प्रकार मानना हमको अभीष्ट है। दोनोंकी युक्तियां भी कही जा चुकी है।

ज्ञानावरणसामान्यस्योदयादुपवर्णितं । जीवस्याज्ञानसामान्यमन्ययानुपपत्तितः ॥ ९ ॥ वृत्तमोद्दोदयात्पुंसोऽसंयतत्वं प्रचक्ष्यते । कर्ममात्रोदयादेवासिद्धत्वं प्रणिगम्यते ॥ १० ॥

## केमार्यादयता योगप्रवृत्तिरुपदिशिताः। लेक्या जीवस्य कृष्णादिः वदभेदा भावकोनमे ।। ११ ॥

सामान्य रूपसे ब्रानावरण कर्मका उदय हो जानेसे प्रदार्थोंका अनक्बोध होना जीवके अज्ञानरूप सामान्यमात्र कहा गया है। अन्यथा बानी ज्ञानावरणका उदय हुये विना सर्वचाति रपद्रकार्क उदयजन्य होनेवाछ अहानभावकी असिद्धि है। श्रीकिय अकिक मासिकाबानावरणके सर्वधारी स्पर्दकोका उदय हो जानेसे गन्धविषयक अञ्चानभाव है । ऑजकालके मधुष्योंके मनः वर्धय ज्ञानावरणका उदय हो जानेसे मन पर्यथ ज्ञान न होना रूप अज्ञानभाव है। बारहवें गुणस्थानतक केक्छज्ञान नहीं होना रूप अज्ञान-भाग है तथा चारित्रमोहनीयसम्बन्धी संवैधातिस्पेद्धेक प्रकृतियोंके उदयसे आत्मकि असंपर्ममाव होता है। पहिलेसे प्रारंभ कर विदे गुर्मिस्प्रमितिक इकियासिक और प्राणास्यमरूप औद्पिकमान हो रहा अके अबार कहा जाता है तथा अभेदकी विवक्षा सभी एकसी बाईस प्रकृतियोंका और भेदकी विवक्षा समूर्ण कर्ममात्र एकसी अडताछीसों प्रकृतियोंका उदय हो जानेसे ही असिद्धपनाभाव प्रकृष्ट रूपसे नियत हो रहा हुआ कहा जाता है । एकसी अडतालीस प्रकृतिओंमें से किसी भी एकका यदि उदय होगा तबतक आसिद्धपना ही है। कुषायोंके उदयसे विशेषित हो रही योगोंकी प्रवृत्ति तो जीवका क्रियामाव समझाई गयी है। अर्थात जैसे रागके आवेशसे हंसीसहित अशिष्ट वचन दुषित शरीरचेश्रसे, युक्त हो जाय उतने समृदितभावको कौत्कुच्य कहते हैं । उसी प्रकार आत्माके कुमायभावोंसे रंगा हुआ आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप परिणाम तो औदयिक होता हुआ भावछेश्या है । स्थूछ रूपसे क्षुधा आदि अठाएह और स्थमरूपसे अनन्त दोषों करके रीते हो रहे निर्दोष सर्वन्न देवने <del>टेस्पाके</del> मान अपेक्षा कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पग्न, शुरू, इस प्रकार छह भेद बतलाये **हैं**, भावकेरया आत्माका औदयिक परिणाम है। आत्माके भावोंका निरूपण करते समय वर्णनाम कर्मके उदयसे हुये शरीरके ऊपरी रंगस्वरूप बच्यछेश्याका यहां कोई प्रकरण नहीं है। यहांतक गति आदिक क्राईस औद्दयिक भावोंका विवरण करदिया गया है।

#### अय पारिणामिकभदंगतिपादनार्थि संप्रमिदं सुत्रमाह ।

अब औदर्थिक भाविक अनन्तर अन्तक पारिणाभिक भावोंके भेदोंकी प्रतिपत्तिको करानेके छिय श्री उमास्त्रामी महाराज दितीयाच्यायमें सातवें सूत्रका कण्ठोक्त निरूपण करते हैं।

### जीवमञ्यामञ्यत्वानि च ॥ ७ ॥

जीवत्व, मन्यत्व और अमन्यत्व ये तीन जीवके असाधारण हो रहे पारिणामिकमात्र हैं। च काइके द्वारा अस्तित्व आदि सीथारण मायोका समह मी कर सकते हो'। जीव और मन्य तथा अमन्य ही प्रकार होतिए हम्म समाह कर पुनः भाव अधीन ताहित्सम्बन्धा के प्रयोग करते हुने जीवल, क्रियाल, क्रमण्यल, यह अधि निवाट जाता है।

पौरिणामिकस्य नावस्य भयोऽसाधारणा भेदा इत्यभिसैवंधः । य ग्रहसप्रिक्षिणस्तु सामारणाः असामारणावास्तित्वान्यत्वकर्तृत्वभीक्षृत्वपर्याच्यक्तसर्वगतत्वामादिसंतिर्वधम-बद्धत्वभिदशक्तवास्वत्वमित्यत्वादयः ।

पूर्व सूत्रसे मेदराह्नको अनुकृति कर परिणाकरूप प्रयोजनकी धारनेवाले पारिणामिकमावके असापारण मेद तीन है। इस प्रकार दोनों उदेल्य, विभेय, दर्शीका अन्वय कर दोनों औरसे सम्बन्ध हीना बन जाता है। हां, समझय अर्थकी कहनेवाले सुत्रोक्त च शहरे तो अन्य दर्ज्योंने पाये जाय बीर जीव द्रव्यमें भी पाये जांग ऐसे साधारण तथा कतिपय असाधारण हो रहे इन अस्तित्व आदि मार्थिका संबद्ध कर छिया जाता है । वे मात्र आस्तित्व, अन्यत्व, कर्त्युत्व, भोकतृत्व, पर्यापवत्व, असर्व-गतत्व, अनादिसंततिकधनषञ्चत्व, प्रदेशत्रत्व, अरूपत्व, नित्यत्व, ऊर्जगतित्व, द्रध्यत्व, आकर्षेकत्व, आदि हैं। अर्थात् - वस्तुकी तीनों कालतक स्थिर रखनेबाला अस्तित्व गुण छहों द्रव्योंमें पाया जाता है। अतः जीवका साधारण भाव है। सम्पूर्ण द्रव्योंको परस्पर मिन्न वरनेवाला अन्यत्वमाय भी सीघा-रण है, जो कि कर्मीके उदय, उपराम, क्षय, क्षयोपरामकी, अपेक्षा नहीं रखता हुआ वारिमामिक है। कत्तपन मी सावारण माव है। " मेघो वर्षति, आकाशमबगाहते, धर्मद्रव्यं गमयति, काली वर्त-यति " आदि कियाओंको उपजाननेमें संपूर्ण क्रयोंको स्वाधिकार अनुसार स्वतंत्रता प्राप्त है। " स्वतंत्रः कर्ता " यह कर्त्ताका सिद्धांत एक्षण है । स्वकीय वीर्यकी अकर्षतासे परद्रव्यकी शिक्ति-वाँके प्रहण करनेकी सामर्थ्य ही भोक्तापन है, यह मोक्तृत्व भी अन्य द्रव्योंमें पाया जाता है। अतः साधारण भाव है। वर्षपि स्थूल्ट्डिस कर्राचन और भोतापन अकेले जीवका ही परिणाम प्रसीत हो रहा है | फिर भी सूक्ष्मविचार करनेपर वह साधारण भाव समझा जाता है | गृहस्य सम्बन्धी अनेक कार्योंके कर्ता और मोका अपुरुष दोनों ही हैं, बन्य और बन्धका फल दोनोंके गुणोंका स्वत ही जाना तथा मोक्ष इनके कर्ता और भोता जीव पुद्रल दीनों हैं । बुसुसित पारंद सुवर्णका मक्षण कर उसका मोर्फ वन जाता है । सामरकी बीक काठ, पर्यरा, बड़ी, बादिको खा वाती है। अपने वीर्य प्रकर्वस उनका स्वण कर देती है। उदरकी अग्नि, अन्, जल, दुग्न, आदिका और चून्हेंकी अग्नि स्कडीका मीग करती है । बेरान्य न होनसे पुत्रककी भीगी न कहा जाय, इसमें स्वाधी जीनका पश्चपातमूर्वक संबंधित करना है। भोका पुरुषके समान की भी पुरुषकी भोकी होती है। जो कर्वेची कींबा करा रहा है, वह स्वयं भी उसके साथ खेळ रहा है। अतः सूत्रमध्यको विचारनेवाले पद्मियारारहित पुरुष मोकुत्वको साधारणसाध स्थीकार करते हैं। यह जीवके भोग, उपभीग, मानेसि न्यारा उदयादि की नहीं अपेक्षा रखता कुआ पारिणामिकभाव है। तथा पर्यापसहितपमा भी पारिणामिक है। सभी द्वार अवहा सर्वा नियत्यक्षेपांको अवहत है। इस कार्यको अहनेने उनकी किसी कार्यक

उदयादिककी अपेक्षा तहीं है । असर्वगतपना भी आकाशको छोडकर सम्पूर्ण द्रव्योंमें पाया जानेवाल माव है । आकाश सर्वगत है, इसका अर्थ मन्यम अनन्तानन्त इस बीसती नियत संख्याबाङे प्रदेशोंको भारना मात्र है । सर्व शहरो अस्तित्वभाववाले जगत् स्थित अनन्तानन्त नियत पदार्थ पकडे जाते हैं, अकोकाकाराकी चौकोर प्रदेशमित्तिके बाहर फिर कोई भी छहऊ ओर पदार्थ नहीं है। अनन्तानन्त आकाशोंको जाननेकी शक्ति रखनेवाला केवलज्ञान पुनः आकाशके बाहर किसी पदार्थको नहीं जान रहा है। वहां कोई पदार्थ सम्भव होता तो उसको विषय कर छेता। सरल बुद्धिवाछे शिष्योंकी समझानेके छिये सर्वगतकी अपेक्षा आकाशको अनन्तगत कह देना व्यत्पत्ति सम्पादक है। वैशेषिक या पौराणिकोंके यहां ईश्वर सर्थशक्तिमान् माना गया है। सर्वशक्तिका " कर्चुमकर्त्तुमन्यधाकर्त्तुम् " समर्थ है ऐसा मानते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर चाहे तो मछलीसे मनुष्य पैदा हो जाता है, देत्री और पुरुष या देव और मनुष्यिणी या तिर्येचिनीके सम्बन्धसे भी अपत्य उत्पन हो जाता है। मुसलमानोंका खुदा तो जडको चेतन बना सकता है। चाहें जब आत्मायें बना छेता है, और चेतन द्रव्योंको नास्तित्व (नेस्तनाधूद) कर देता है। असत्का उत्पाद सत् इन्यका त्रिनाश होना इष्ट कर लिया है, इत्रादि असम्भव कार्योका सम्पादन कर देना भी सर्वशक्तिका अर्थ कर छिया है। किन्तु जैनसिद्धान्त अनुसार असम्भव कार्थ किसीके द्वारा भी हुये नहीं माने गये हैं । जैनसिद्धान्तमें सर्वज्ञको या सिद्धजीवोंको अनन्त शक्तिमान् स्वीकार किया है, सर्वशक्तिमान् नहीं । अतः सर्वशक्तिमान्के समान सर्वगत आकाशके सर्वशद्धका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये । यदि कोई दुरुपयोग करना चाहे तो सर्वगतत्वाभावको आकाशका भी परिणाम हम माननेको उचुक्त हैं। कर्मके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम इन निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं होनेसे असर्वगतत्त्वभाव परिणामिक है। तथा अनादि संतातिबन्धनबद्धस्व माव भी साधारण पारिणामिक भाव है। क्योंकि एक धर्मद्रव्य, एक अधर्भद्रव्य, एक आकाश, असंख्याते काळद्रव्य, अनन्तानन्त जीवद्रव्य और इनसे अनन्तान्त गुणे पुद्रळद्रव्य ये नियत हो रहे सम्पूर्णद्रव्य अपनी अपनी अनादि अनन्त पर्यायोंके सन्तानस्वरूप बन्धनमें बंध रहे हैं। क्योंकि जीव पुक्रकदर्ज्योंकी गति करनेमें उदासीन हेतुपन या सम्पूर्ण द्रज्योंमें उदासीन स्थापकत्व अथवा सम्पूर्ण द्रव्योंको अवकाश देना तथा वर्तना कराना एवं स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण चैतन्य, सुख आदि इन सहभावी, क्रमभावी, पर्यायोंकी सन्तान अपने अपने द्रव्यमें तदात्मक हो रही बांधी जाचुकी है, शुद्ध इब्यमें भी यह परिणाम पाया जाता है, अतः कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं होनेसे अनादि-बन्धनबद्धत्य नामका पारिणामिक भाव है। प्रदेशकव परिणाम भी सम्पूर्ण द्रव्योंका साधारण भाव है। सभी द्रव्य किसी न किसी चौकोर, गृहीतशरीर आकार, छोकविन्यास, पंडशचौकोर, बरफीसमाब आदिसे स्थानोंको धार रहे व्यंजन पर्यात्रवाले हैं । वे उचितसंख्यात, असंख्यात या अनन्त प्रदेशोंको घरकर बैठे हुये हैं। रूप, रस, आदि गुणोंके न होनेसे शुद्ध जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, कालते पाया

. 1

जनिवाल अरूपन धर्म मी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखनेके कारण पारिणामिक भाव हैं। यबि पुद्रेल द्रव्यमें कथमपि अरूपत्वभाव नहीं हैं। फिर भी अन्य चार द्रव्योंमें भी पाया जाना होनेसे अरूपत्वमात्र जीवका साधारण परिणाम ही गिना जायगा, तथा नित्यद्रव्य अर्थको ग्रहण करनेकी अपेक्षा संपूर्ण द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय, न होनेसे कर्मके उदयादिक की अपेक्षा न रखनेवाला नित्यपना भी पारिणानिक भाव है। एवं बहुतसी परमाणुपं लोकपर्यन्त उपरको जानेकी देव रखती हैं। अप्ति उपरको जाती है। जलमें डुबोई हुई त्वी ऊपरको उछलती है। अतः कुछ पुद्रलोंमें भी प्राप्त हुआ होनेसे उर्घ्यगतिपन स्वभाव भी जीवका साधारण भाव है। सभी द्रव्ये भविष्यकालमें होनेवाली पर्यायोंकी ओर बह रहीं हूं। अतः ब्रव्यपना भी जीवका साधारण भाव है। चुम्बक, मोरपंख, अयोगोलक, अनुकूल गायन, मनोहारी रूप, खानि, आदि पुद्रलोंमें भी वर्तरहा होनेसे आकर्षकत्व भाव भी योगी जीवका साधारण परिणाम है, इत्यादि और भी पारिणामिकभाव समझ छेने चाहिये। इन साधारण मार्वोमें कुछ तो षट्स्थानपतित हानि बृद्धिको प्राप्त हो रहे अनुजीवी गुण हैं। जैसे कि अस्तित्व और अगुरुलघु दूसरे नामको धारनेत्राला अन्यत्व है । द्रव्यत्व, प्रदेशवत्व, भी अनुजीवी गुण हैं। तथा कर्तृत्व, आकर्षकत्व भोक्तृत्व ये पर्यायशक्तिरूप भाव हैं। पर्यायवस्व, असर्वगतत्व, अनादि संतितिबन्धनबद्धल, अरूपल, ये द्रव्योंके स्वभाव हैं । द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा नित्यल और पर्या-यार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्यत्व अथवा स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तित्व और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्व इत्यादिक मात्र तो वस्तुकी भित्तिपर सप्तभंगीके विषय हो रहे कल्पनाकान्त परिणाम हैं। विद-जन इसको और विराद रूपसे समझ सकते हैं। अथवा इन अस्तित्व आदि भावोंमें दो कर्त्तृत्व, भोक्तु-त्वको जीवका ही असावारण भाव समझो । असर्वगतत्वको आकाशभिन पांच द्रव्योंका परिणाम समझ लो । अरूपत्वको पुद्रलरिहत पांच दर्जोका परिणाम मानो । अस्तित्व, अन्यत्व, पर्यायवन्त्व, प्रदेशवत्वको सभी छःऊ द्रव्योंका स्वभाव गिन छो । अनादिबन्धनबद्धत्वको जीव पुद्रछ दो द्रव्योंका भाव विचार छो। तभी तो श्री विद्यानंद आचार्यने च राद्धकरके साधारण और असाधारण दोनों जातिके भावोंका समुद्यय किया कहा है । कभी साधारणका अर्थ छ ऊ द्रव्योंमें ठहरना विवक्षित है । ऐसी दशामें जो भाव छः औमें नहीं ठहरता हुआ दो, तीन, चार, पांच, द्रव्योंमें ही पाया जायगा वह असाधारण भाना जायगा और कहीं जीवसहित दो तीन चार, या पांच द्रव्योंमें वर्त रहा भाव भी साधारण हुआ विवक्षाप्राप्त है।

त्रशादित्रहणमत्र न्याय्यमिति वैषा, त्रिविषपारिणायिकयावत्रात्वात्रात्मसंगात् । समुख-यार्थिपि च सक्के सति तुल्यी दोष इति वेषा, प्रधानापेक्षत्वात्त्रित्वप्रतिज्ञायाः । समुखीयमानास्तु विषक्किताप्रधानस्त्रात् प्रचास्तित्वादय इति न दोषः ।

जब कि च राद्र करके अस्तित्व, अन्यत्व आदिक पारिणामिक भावोंका समुच्चय किया जाता है, तब तो इस सूत्रमें " जीवमन्यामन्यत्वादीनि " इस प्रकार आदि राद्वका प्रदृण करना न्यायमार्गसे असंपेत (समुचित ) है। आज्यार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो संका नहीं करना। नयों कि "दिनवादा" इत्यादि सूत्र करके गिनाये गये तीन प्रकारके पारिणामिक भावके प्रतिहा करनेकी हानिका प्रसंख्या है। अतः सूत्रमें आदि शहको नहीं डाउकर तीन प्रकार पारिणामिक भावोंको गिना दिया है। अतः सूत्रमें आदि शहको नहीं डाउकर तीन प्रकार पारिणामिक भावोंको गिना दिया करने सन्ते भी तो यही दोष सम्मानक्ष्यसे लागू होता है। अर्थात न शह करके अस्तित्व आदि पारिणामिक भाव पकड़े जायेंगे तो भी तीन प्रकारके पारिणामिक भावोंकी प्रतिहा करनेकी हानि होय ही ज्ववेगी, अतः प्रतिहामंग दोष तदवस्थ रहा। इसपर प्रन्थकार वहते हैं कि यह कटाक्ष तो नहीं कर सकते हो। क्योंकि पारिणामिक भावोंके तीन संख्याकी प्रतिहाको प्रधानक्ष्यकी अपेक्षा है। हां च शह करके उपरिष्ठात एकत्र करिलेथे गये तो अप्रधान भूत ही अस्तित्व आदिक ले लिये वाते हैं। अर्थात्—जीवत्व आदि तीन प्रधानभूतभाव हैं, और अस्तित्व आदि अप्रधानभूत हैं, जिनको कि कण्ठोक्त करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार कोई दोष नहीं हो पाता है।

कृतः पुनः पारिणामिका जीवत्वादयो भावा इति चेत्, कर्मोपश्रमक्षयक्षयोपश्रमोदयानपेक्ष-त्यात् । तस्य जीवितपूर्वकत्याज्ञीवत्विमिति चेश्व, उपचारतो जीवत्वप्रसंगात् । मुख्यं तु जीवत्वं तस्येष्यते, ततो न बीद्यिकं ।

आत्माक जीवल आदिक भावोंको भला फिर पारिणामिकपना किस ढंगसे नियत किया जाय, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विज्ञानन्दस्वामी कहते हैं कि कमोंके उपशाम, क्षय, क्षयोपशम, और उदय की नहीं अपेक्षा होनेसे जीवल आदि भाव पारिणामिक हैं। कमोंके उपशामादिको निमित्त न मानकर केवल आत्मीय परिणामोंकी अपेक्षासे होनेवाले स्वभाविकभाव पारिणामिक हैं। यहां कोई यों कहें कि म्वादिगणकी " जीव प्राणधारणे " धातुसे बनाया गया जीव शब्द है। अतः बहिरंग प्राण आयुष्य कर्मके उदयकी अपेक्षा रखते हुये जीवल भावको औदियक मानना चाहिये। उदय आदिकी नहीं अपेक्षा रखना, यह पारिणामिकका लक्षण तो उसमें घटता नहीं है। श्री विद्यानंदस्वामी कहते हैं कि यह आक्षेप हमारे ऊपर नहीं हो सकता है। क्योंकि आयुक्तमेंक उदयकी अपेक्षासे यदि जीवल भाव माना जायगा तो सिद्ध महाराजके अजीवपनेका प्रसंग होगा। यदि कोई यों कहे कि अजीवीत, जीवित, जीविल्यित, इति जीवः इस प्रकार तीनों कालमें जीवन कियाकी अपेक्षा रखनेवाला जीव है। श्री सिद्ध-परमेष्ठी पहिले संसार अवस्थामें आयुक्तमेका उदय होता रहनेसे जीव रह चुके हैं। अतः मुत्प्रज्ञापन पनन्यकी अपेक्षा सिद्धोंको अपवारसे ही जीवपनेका प्रसंग हुआ। चास्तवमें देखा जाय तो उन सिद्धोंके संख्य होता हुआ जीवल्यमाव इष्ट किया गया है। सिद्धानी कहते हैं कि व्यव हो जाय तो उन सिद्धोंके सुख्य होता हुआ जीवल्यमाव इष्ट किया गया है। तिस कारण निर्मात हुआ कि जीवल्यमाव औदियेक होते हैं। यारिणामिक ही है।

वृद्ध स सामादि पीयमापास्य वारणात् सिसस्य सुरूपं जीवत्यपित्यभ्युपापे शायिषं जानाद्वांत्रसम्बद्धः सारिषक्षात्रिति हेत् नः जीवन्त्रित्यायाः यहनिष्णस्यर्थत्वात् तदेकार्यस्य सामा पीयायसापात्रसम्य जीवत्रहस्यक्तिविधित्रत्योपपत्तः । अपना न त्रिकास्तिवपयनीयन् भयमं जीवत्वं । कि तर्दि ? विषक्तं न स तदायुख्ययोगेशं न जापि कर्मक्षणपेशं सर्वदाभाषा

यहां और मी किसीकी शंका है कि सिद्धोंके पांच इन्दिय, तीन बल, आयु, स्वासीच्छ्रास, दश हुन्यश्राणोंका ज्ञारण नहीं है। फ़िर भी बान, सुख, नैतन्य, सत्ता इस प्रकारके भावप्राणोंका ध होनेसे सिद्धोंके भी मुख्य जीवल प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार स्वीकार करने पर तो यह जीवल क्षाविक हो जायमा । क्योंकि अनन्तज्ञान आदिक तो ज्ञानावरण आदि कर्मोके क्षयसे उत्पन अग्रायिक हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि प्राणधारणरूप जीवन किय व्याकरण शास द्वारा जीव शद्भकी साधु सिद्धि करने मात्रके छिये हैं। जहां ही जीव द्रव्यमें धारण रूप जीवनिकया रहती है, वहां ही जीवत्व नामकी जाति रहती है, जो दो धर्म इच्चमें समयाय सम्बन्धसे ठहरते हैं। उनका रूप, रसके समान परस्पत्में एकार्य समवाय स साता मुसा है। अतः जीवन नासक सामान्यको जीव शहकी प्रवृत्तिका निमित्तपना युक्तिसे नि हो हहा है। जीवत्व जाति ही जीवत्वभाव है। स्टेडि शद्दोंमें धालर्घ कियाको केवल व्युत्पिक ही माना गया है। उसका परिपूर्ण अर्थ घटित करना आक्श्यक नहीं, अथवा हम यह सिदांत हैं कि तीनों कालोंमें प्राणधारण या जीवत्व जाति इस नामके सद्भाव बने रहनेको हम जीवत्व मानते हैं, तो आप जैन जीवकका रूपा अर्थ करते हैं ! इसका उत्तर यह है कि आत्माका नै गुण ही जीवल है। वह चेतना तो आयुष्य कर्मके उद्यकी अपेक्षा रखनेवाली नहीं है। और चतन्य कर्मीके क्षयकी अपेक्षाको धारनेवाले भी नहीं है। कारण कि अनादिसे अनन्तकालतक नि अवस्थाते हैकर तिस्रोतकमें वह वैतन्यभाव सदा पाया जाता है। औदियकमाव या सायिकमा ·सर्वदा नहीं पाये जाते हैं । अमादिकाछसे अनन्तकाछतक बच्च मुझकर परिणाम करता हुआ के मुग शै जीवल शहूरे लिया जाता है। औदयिकभाग भारावाही रूपसे मलें ही किसी अनादि उ ्रहेसारी जीवके सदा पावे जांय किना व्यक्ति रूपसे वे साहिसान्त हैं। हां चैतन्य तो व्यक्तिरूपरे अनंदि अनन्त है। भन्ने ही घटता बढता रहे साथिकभाव तो सादि अनन्त प्रसिद्ध ही हैं।

पतेन सम्यन्दर्शनद्वानपारिषपरिणामेन सिद्धमधनयोग्यत्वं भव्यत्वं तद्विपरीतप्रभः इत्र व्यक्तिमानिकश्चितं सहद्वापि पर्योद्यपायक्षेशस्त्रक्षिद्धेः सर्वदा भाषात् । अनादिपरिष्

कार कार कार कार कार का भी का दिया गया अपरिशाद उक्षण समझ केना चाहि सन्वयर्गन (स्वयं दोनेकी वर्तमानः

वर्ते रही योग्यता तो भन्यत्वभाव है। और उसमे विपरीत जो रत्नत्रय रूप करके परिणाम नहीं हो सक्ति योग्यता अभन्यत्व है। ये दोनों भाव पारिणामिक जान छेने चाहिये। क्योंकि उन भन्यत्व, जानकाव, दोनोंको भी कर्मके उदय, उपराम, आरिकी नहीं अपेक्षा रखनेवालेपनकी सिंग्न हो जानेते भिन्न हो प्रकार जातिवाले जीवोंमें उन दो की असंकररूपसे सर्वदा सत्ता पाई जाती है। अर्थात् अक्तानन्त प्रमाण अभन्य जीवोंकी रिहामें सर्वदा अभन्यत्व परिणाम होता रहता है, तथा मध्यम अर्ग-तानन्त प्रमाण अक्षय भन्य रिहामें बहुभाग भन्योंके सिद्ध अवस्था होनेतक भन्यत्वभाव बना रहता है। मोक्ष होनेपर भन्यत्वभाव बिगड जाता है। जैसे कि मृत्तिकामें घट बन जानेपर घट परिणाम योग्यता विनश जाती है। हां दूरभन्योंमें भन्यता सर्वदा बनी रहती है, भन्यपना भनिष्यकालकी अपेक्षासे है। कार्य निष्पत्ति हो जानेपर तो भन्यताके स्थानको भूतता घर लेती है। सुवर्णपाषाण और अन्धपाषाणके समान अनादि कालसे चले आ रहे केवलभन्यत्व या अभन्यत्वरूप परिणामोंके निमित्तसे भन्यपना और अभन्यपना निर्णात कर दिया जाता है।

#### कुतः पुनरनादिः परिणामः कर्मोदयाद्युपाधिनिरपेक्षो जीवस्य सिद्ध इत्यारेकायामाइ ।

कर्मीके उदय, उपराम, आदि झगडोंकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ जीवका परिणाम महा अनादि है यह किस प्रमाणसे सिद्ध किया जाय? वताओ, इस प्रकार शिष्यमें संशयका उत्थान होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानको स्पष्ट कहते हैं।

## अनादिपरिणामोस्ति तत्रोपाधिपराङ्मुखः। सोपाधिपरिणामानामन्यथा तत्त्वहानितः॥ १॥

उस जीवमें कर्म, नोकर्म, आदिक उपाधियोंसे सर्वधा पराङ्मुख हो रहा कोई अनादि काछीन परिणाम अवश्य है, क्योंकि पश्चात् उपाधिसहित परिणामोंकी अन्यथा यानी मूळ पारिणामिक क्रिक्तो माने बिना उस उपाधिसहित परिणामपनकी हानि हो जावेगी | मूळ है तो शाखा चळ सकती है "मूळं नास्ति कुतः शाखा " मूळमें कपडा है तो उसपर कोई भी रंग रंगा जा सकता है, आकाशको या आकाशको फ्रळको कोई रंग (रिज्जितकर) नहीं सकता है | इस अन्वय व्यतिरेक बाळे हेतुसे जीवका निजगांठका डीळ पारिणामिकभाव है यह साथ दिया गया है |

नहि स्फटिकादेरसित स्वाभाविकपरिणामे स्वच्छत्वे जपाङ्कृतुमापुपाविसािकध्यभावातु-जन्मा रक्तत्वादिपरिणामः मतीयते तद्भदात्मनोप्यौपाधिकाः परिणामा औपक्रविकाद्यो जावादि-परिणाममंतरेणोपपर्यते शशविषाणादेरपि स्वाभाविकपरिणामरहितस्यौपाधिकपरिणाममसंगात् । ततोस्ति जीवस्यानादिनिरुपाधिकः परिणामः कर्मोपश्चमदिपरिणामवत् । तथा सति। देखी, स्कटिक, काच, आदिक गांठकी स्वाभाविक परिणाम हो रही स्वच्छताने नहीं मानके पुनः क्वापुण, हरापचा, आदि उपावियोंक सिनकट मानसे उत्पन्न हुआ छाड़ रंग, हरापन आदि परिणाम हुये नहीं प्रतीत होते हैं। किन्तु मूलमें स्वच्छ स्कटिक द्रव्य है, तभी उसमें जपापुण्य सिन्नानसे और न उसके शरीरसे कुछ या पूरा मेल ही निकाला जा सकता है। उसी प्रकार आत्माः स्वता है और न उसके शरीरसे कुछ या पूरा मेल ही निकाला जा सकता है। उसी प्रकार आत्माः निज सम्पत्ति हो रहे अनादि कालीन पारिणामिक भागों के बिना उपाधिजन्य औपशिमक, क्षायोपशिमक ऐसे सम्बन्ध, ज्ञान, आदिक परिणाम होना तो नहीं बन सकता है। यदि मूलमितीको माने बिना क्षिण खींचा जा सके तो स्वाभाविक परिणामक्षप निज शरीरसे रहित हो रहे शशश्यंग, आकाशपुण आदिके भी औपाधिक परिणाम होते रहनेका प्रसंग हो जायगा, जो कि किसीको इह नहीं है तिस कारण यह सिद्धान्त बन जाता है कि जैसे जीवके कर्मोकी उपशान्ति, क्षीणता, उदय, आ निमिन्तोंसे सादि या धारावाहि अनादिकालसे हो रहे औपशामक, औदियक आदि परिणाम साधे ज्ञुके हैं, उसी प्रकार जीवके उपाधियोंके विना ही गांठके अनादि कालसे उपज रहे परिणाम सिद्ध जाते हैं अर्थात्—जीवोंके पांचों प्रकारके परिणामोंको हमने प्रमाणसे सिद्ध कर दिया है। अं तैसी व्यवस्था कर जुकनेपर—

#### एतत्समुद्भवा भावा द्यादिभेदा यथाक्रमम् । जीवस्यैवोपपद्यंते चित्स्वभावतमन्वयात् ॥ २ ॥

इन उपराम, क्षय, आदिसे भछे प्रकार उत्पन्न हो रहे भाव तो यथान्नमसे दो, नी, आ भेदोंको धार रहे हैं। ये भाव सब जीवद्रव्यके ही निजतत्त्व सिद्ध हो जाते हैं (प्रतिज्ञा वाक्य क्योंकि जीवकी आत्मा बन रहे चेतन्य स्वभावका सम्पूर्ण भावोंमें भछे प्रकार अन्वय हो रहा अनुभ हो रहा है। अर्थात्—हां धारण, द्रव, उत्णता, ईरण, या रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, आदिका अन्वयदि भावोंमें पाया जाता तब तो इनको पुद्रव्यक्ता निजतत्व कह देते, किन्तु उक्त त्रेपन भावोंमें पुद्र आत्मकपना नहीं देखा जाता है, अतः ये भाव जीवके ही समझ केने चाहिये। कोई समयसाररिह पण्डितमन्य यदि निश्चयनयका अवलम्ब केकर औदियक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावों पुद्रव्यका कह देवे तो यह उसका आपेक्षिक कथन प्रमाण ज्ञान करनेके किये आदरणीय नहीं है।

क्रमणाञ्चपत्रमक्षपत्रयोपश्चमोद्द्यमयोजना औषश्चमिकसायिकसायोपश्चिकौद्यिका भाव कर्मण एकेति न सन्तर्णं, कर्मोपश्चमादिमिः मयुज्यमानादौपश्चमिकादिनां जीवपरिणामत्वोपणं पेतनासंबंधात्वास

ना श्रीपशामिस आदि राष्ट्रीमें प्रयोजन या सब अर्थ में ठण् प्रत्यय करनेपर यों अर्थ किया ज कि कार्यिक उपस्तान, अर्थ अयोपशाम, और उद्ध्य, प्रयोजनको भारनेवाले औपशामिक, श्रायिक सीयापशीयक, सीदियंक ये पंचास भाग ती नामीके ही हैं, इस प्रकार नहीं मानमा चाहिये। क्योंकि जीयशीयके आदिकां स्वतंत्र कर्ता आस्मा ही हैं। प्रयोजक हेतु मेंछे ही कर्मीका उदर्व, उपरान, जादि अवस्थाको सान िया जाय, कर्मीके उपराम, आदिकों करके प्रयोजित किये जा रहे जीवकार्यके आदि सानकों जीवका परिणामपना युक्तिसिंद है। मंबार्थ—युद्धका या क्रूपका वंज रहा बाजा उदर्वा नाचता नहीं है। ये सब क्रियाय योद्धा या नर्तककी स्वालीय कार्य (करततें) है। निर्मित कारणीकों आदर करना वहांतक ही शीमा देता है, जहांतक कि उपादानकारणोंकी निज सम्बत्तिक बाका न डाठा जाय। एक वर्मका आवा एक दालकी चनों मरी हजार मनकी खत्तिमें डाठ देनेसे क्रूपकों में पांचसी मन चनोंका दांवा करना अनीति मार्ग है। दूसरी बात यह है कि जीववानिक आदि भागोंमें अन्वितकएस चेतनाका सम्बन्ध हो जानेसे भी वे सम्यग्दर्शन, गति, आदिक मान सम्बन्ध जीव दल्यके ही है। पुद्रल कर्मके उपादेच नहीं हैं।

प्रधानस्येवते परिणामा, इत्यप्यमाञ्जीविताभिषानं तत एव । न हि स्मिद्भेदेषु पर्णानम्पर्णामकारिषु भावेषु वित्समन्वयोऽसिद्धस्तपागहेकारास्यद्त्वेन प्रतितरात्मायमीगवत । न वाहंकारापि प्रधानपरिणामः पुरुषताद्वित्यनं स्वयं संवदनातं । स्नितं तत्त्वा संवदनिवितं वहं न, वाधकामावात् । अहंकाराद्योऽवेतना एवानित्यत्वात् कल्यादिवल्येतद्वुमानं वाधकामिति वेष, पुरुषानुभवनानेकांतिकत्वात् तस्यापि पर्रापितत्वा कादावित्वत्वतिकत्वातित्वत्वसिद्धिरित्युक्तत्वादुपयोगिसद्वी । कि च—

कपिछ मतानुयायी कहते हैं कि ये ज्ञान, कोथ, आदिक परिणाम तो प्रकृतिक ही परिणाम हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमीगुण, इनकी साम्य अवस्था स्वरूप प्रधान ही परिणाम करता है। आत्मा तो कृटस्थ अपरिणामी है। आचार्य कहते हैं कि यह साल्यमतियोंका कंपन भी उस ही कारण लें क्यांत —कीधादिमें चेतनका सम्बन्ध औत पोत छगा रहनेसे ही अविचारित है। साल्यान चेतन्यका अन्यय आत्मीय मानोंमें ही स्वीकार किया है, कीध वेद आदिमें चेतन्यका स्पष्ट अनुभव हो रहा है। पुनः तुम साल्य यथाक्रमते दो, नी आदि मेदीको धार रहे, अधिका-मिक, क्षायिक, आदिक मानोंमें चेतन्यका समन्यय असिद्ध है, यह तो नहीं कह सकते ही। क्योंकि उन त्रेपन भी मानोंकी चिदासमंका उद्धेस करनेषाछ अहंकारक प्रतिष्ठित स्थानपन करके प्रतीति हो रही है। जैसे कि में भोका हूं, अहं दृष्टा, अहं चेतियता, इनमें आत्मीवताकी प्रतीति हो रही है। मानार्य प्रकृतिकर पृथेखि कीकी द्वारा सम्पादित करावे गये, आत्मिक उपमोगमें वैसे " अहं उपमोक्ता असि " इस प्रकार अहंकारस्थलपनेसे आस्तिकरूप चेतान्यका माने अस्ति अस्ति का रहा है। कपिछ मतानुयायी यों तो नहीं कह सकते हैं कि " प्रकृतिहरूप प्रवास का अस्ति स्थान कर सकते हैं कि " प्रकृतिहरूप प्रवास का अस्ति स्थान कर सकते हैं कि " प्रकृतिहरूप विस्ति सारार्थ वीवश्व का सकते हैं कि " प्रकृतिहरूप वीवश्व का सकते हैं कि " प्रकृतिहरूप वीवश्व का सकते हैं कि " प्रकृतिहरूप का सकता सारार्थ का सकता है। कि स्थानरहरूप वीवश्व का सकता है। कि स्थानरहरूप का सकता है। कि सहस्थान का सकता है। कि स्थानरहरूप का सकता है। कि सकता है। कि सकता है। कि सकता है। कि स्थानरहरूप का सकता है। कि सकत

भी अम्बद्ध प्रहरिका क्यक वरिमार्ग है। देशी यह शहक वी ठीक नहीं है कि आताके सदात्मकपने करके वर्षकारण स्वयंत्रेण स्वयंदन हो तह है। वह शिला, अह चेतनः, यहां अहना आसाने साम तकामन सामानाविकारण है। पुनः वदि साविक वी कहें कि वह और, अहं स्यूट:, के गीरा है, मैं तील हैं। यहाँ गोरापमः, मोरापनं शरीरका अनुविधान करते हैं। उनमें आहेना सम्बन्धः जीवनर करवाका सत्तिक वादार करना जैसे भान्त है, उसी प्रकार आत्माके साथ तदासकाने बास्के व्यक्तिमारको तिस प्रसारः सम्पर्क करना भी सान्त है। आश्रार्थ कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंनि आई गौरः, आई स्पूछः, इन प्रतीतियोंका बाधकप्रमाण विकासन है । आत्मा गोरा या मोटा मार्डि है । पुत्रक निर्मित शरीर ही गोरा या मोटा होता है । इस प्रकार माध्य प्रमाण उत्पन हो जानेसे " अहं गीरः, अहं स्यूजः " यह सम्बेदन असि कहा जा समाता है। किंदा अर्ह त्रोची, श्रदं ज्ञानवान् , अर्दं आत्मा, अर्दं चेतनः, इन प्रतीतियोंका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः अर्दकारका पुरुषके तदात्मकपने करके सम्बदन होना अज्ञान्त है। यदि साल्य उस सम्बदनकी बाधा देनेकाले इस अनुमानको उठावें कि अवंकार, बुद्धि, इकिसी, आदिक प्रदार्थ (पर्क) अचेतन ही है। (सान्य) अनित्य होनेसे (हेतु,) घट, पट, अग्रुटिके समान (अन्बयद्वधान्त) प्रन्थ-कार कहते हैं कि यह बाधक अनुमान ती समीचीन नहीं है। पुरुषके अनुमव करके व्यभिचार दोव उपस्थित हो जाता है 🛊 🕫 बुध्वन्यवसितवयै बुद्धांभेतपते 🥙 बुद्धिके हारा निर्णीत किये गये अर्थको प्रकृष चेतना करता है। उपभोग करता है। इस प्रकार करा पुरुषके अनुभवको भी परकी अपेक्षा होनेसे कभी कभी उत्पत्ति होनेके कारण अनित्यपना सिद्ध है। अतः अनुमन या उपभौगर्मै अनित्यत्व हेर्तु रह गर्ना और अवतनत्व साध्य म रहा । अतः व्यभिनारी हेंनामासंहे उत्पन्न हुआ वह अनुमान समीचीन नहीं है । तुम संस्थिना प्रमाण हान वाधक होता है, अप्रमाणहानं बाच्य होता है। किन्तु यहां प्रकारणमें तो विधरीत प्रस्ताव ही प्रदित हो रहा है। विसंबी जांप संबंध वाधक कह रहे हैं, यह अग्रमाणकान है, और जिसकों आप बाध्य कह रहे हैं। वह अहंकांओं पुरुषके तदालकपने करके संबेदन होना तो प्रमाणकान है। आत्मा उपनोंग संकर्त है, अहंबाद स्वक्रप हैं। इस सिद्धानंतको हम इस अन्यके आदिमें ही दो सी प्रधीसवी वार्तिकारे छेकार दी सी वाक्षणितकी वार्तिकतक संख्यमतका निर्मा करते हुये आत्माको उपयोगात्मक शिव कारते समय विदादकारों कह जुने हैं। इसी बात यह भी है कि-

वर्षका नवनाताः हाः गुरुस्तेन सस्ततः । वर्षकाराक्षाः तस्य सिद्धस्तिति निजयः ॥ ३ ॥ वर्षकाराक्षाः सदस्य स्वतिष्कं यस्त । वर्षकाराक्षाः सम्बद्धाः सः स्वत्वत् ॥ ४ ॥ जिस प्रकार कि एकती अदतालीस भी कमींसे रहित हो जानेपर हुआ सिद्दलमान उस्धाना है पुहलका या प्रधानका नहीं है, इस प्रकार निश्चय है। नैयायिक, मीमांसक, साईयह सबने आत्माकी ही मोक्ष मानी है। उसी सिद्दल भावके समान ज्ञान, दर्शन, आदिक नौ क्षायिक भाव भी कारतिक करपेस आत्माके ही हो सकते हैं। देखिये, सबसे पहिले दशांत रूपकर कहा गया सम्पूर्ण कर्मीके अयसे उत्पन्न हुआ सिद्धल्यभाव तो क्षायिक है और वह सिद्धलमाव आत्माका तदात्मक स्वकृष है, यह सभी वादी, प्रतिवादियोंके यहां प्रसन्ततापूर्वक मान लिया गया है। क्षायिकमांव (पक्ष) आत्माक ही हो सकते हैं (साध्य) क्षायिक होने से (हेतु) सिद्धलके समान (अन्वय दशन्त) हमारे इस अनुमान में दिया गया हेतु अप्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् अन्वयद्धान्त में हेतु की साध्यके साथ व्याति प्रसिद्ध हो रही है।

द्वावीपशिमकी भावी जीवस्य भवतो धुवं । मोक्षदेतुत्वतः कर्मक्षयजन्मदृगादिवत् ॥ ५ ॥ क्षायोपशिमका दृष्टिद्वानचारित्रस्वणाः । भावाः पुंसोऽत एव स्युरन्यथानुपपत्तितः ॥ ६ ॥ प्रधानाद्यात्मका होषा सम्यग्दष्ट्यादिभावना । न पुंसो मोक्षदेतुः स्यास्सर्वथातिप्रसंगतः ॥ ७ ॥

अनुमान द्वारा क्षायिक भावोंको आत्माका ही परिणाम साधकर अब औपरामिक भावोंको भी जीवको तदात्मक परिणामका अनुमान बनाते हैं। उपराम सम्यक्त और उपराम चारिज ये दो औप-शमिक भाव ( पक्ष ) निश्चित ( अवधारित ) रूपसे जीवके होते हैं। ( साध्य ) मोक्षका हेतु होनेसे ( हेतु ) कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुये दर्शन, ज्ञान, आदिके समान ( अन्वयद्धान्त ) अर्थात्—"सम्परंश संगणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ववहारा णिच्चयदो तत्तिय महमो णिओ अप्पा" इस युक्तियूर्ण सिद्धांत अनुसार मोक्षके हेतु बन रहे परिणाम तो जीवके ही तदात्मकभाव माने जाते हैं। अतः जो जो मोक्षका हेतु है, वह जीवनिष्ठ उपादान कारणता निरूपित उपादेयतावान होता हुआ तदात्मक जीवका परिणाम है। यह व्याति बन जाती है। तथा इस ही कारणसे याती बोक्षका हेतु होनेसे ( हेतु ) तीसरे दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप, श्वायोपशमिकभाव भी ( पक्ष ) जीवके ही हो सकेंगे ( साध्य ) अन्वथा थानी जीव आत्मक परिणाम हुये विना दर्शन, ज्ञान, आदिकीकी असिद्धि है। अतः अन्यथानुपपति प्राणको धारनेवाले हेतुसे साध्यकी सिद्धि बन बैठती है। यदि कपिल सिद्धांत अनुसार ये सम्यवदर्शन आदिक पचास या त्रेपनमान महन प्रधानकर प्रशेत का क्षति अनुसार होते प्रविक्ष अपनित्र होता प्रविक्ष के प्रविक्ष अपनित्र होता प्रविक्ष के प्रविक्ष अपनित्र होता प्रविक्ष के प्रविक्ष अपनित्र होता प्रविक्ष स्वत्र अनुसार विक्ष अपनित्र के प्रविक्ष अपनित्र का प्रविक्ष अपनित्र के प्रविक्ष अपनित्र के प्रविक्ष अपनित्र का प्रविद्ध का विक्ष अपनित्र का प्रविक्ष अपनित्र का प्रविद्ध का वित्र अपनित्र अपनित्र का प्रविद्ध का वित्र का का प्रविद्ध का प्रविद्ध का स्वत्र अपनित्र का प्रविद्ध का प्रविद्ध का स्वत्र अपनित्र का प्रविद्ध का स्वत्र अपनित्र का स्वत्र अपनित्र का प्रविद्ध का स्वत्य अपनित्र अपनित्र का प्रविद्ध का स्वत्र अपनित्र अपनित्र का प्रविद्ध का स्वत्र अपनित्र अपनित्र का स्वत्र का स्वत्र अपनित्र अपनित्य अपनित्र अपनित्र अपनित्र अपनित्र अपनित्र अपनित्र अपनित्र अपनित्य अपनित्र अपनित्र अपनित्र अपनित्र अपनित्र अपनित्र अपनित्र अपनित्र

विवर्त होते तो ये मान आत्माक बोधसम्पादक हेतु सर्वया नहीं हो सकते थे । क्योंकि किसी विविधत परार्थिक भाव यदि अविविधित अर्थको मुक्तिके सम्पादक बन बेठे तो अतिप्रसंग हो जायगा । धर्मात्मा जिनदत्तकी श्रुम परिणितयां चोर, व्यभिचारी, यहदत्तको कारागृह (जेल्लाना ) से मुक्ति करादेनेकी कारण बन बेठेंगी । इन्द्रदत्तका अभ्यास या व्युत्पत्ति भी महामूर्ख भवदत्तको परीक्षामें उत्तीर्ण करा देवेगी । सिद्धान्त यह है कि औपश्मिक और क्षायिकमान आत्माको मुक्तिके सम्पादक हैं । अतः ये कीक्षेक ही, तदात्मक परिणाम है । अन्य किसीके विवर्त नहीं हैं।

श्रायोपशिकाः शेषा भाषाः पुंजन्मताभृतः । श्रायोपशिकत्वात्स्यः सम्यग्द्रग्बोधवृत्तवत् ॥ ८ ॥ जीवस्योदयिकाः सर्वे भाषा गत्यादयः स्मृताः । जीवे सत्येव सद्भावादसत्यनुपपत्तितः ॥ ९ ॥ कर्मोदये च तस्येव तथा परिणमत्वतः । तथां तत्परिणामत्वं कर्षांविक विरुध्यते ॥ १० ॥

छठी वार्तिकमें कहे जा जुके सम्बग्दर्शन, ज्ञान, वारित्र, स्वरूप छह क्षायोपरामिक भावेंसि रोष बच रहे कुज्ञान, दर्शन, लिन्ध्यां, संयमासंयम ये बारह क्षायोपरामिक मात्र मी (पक्ष) पुरुष से जन्म छेनेपनको धारण करनेवाले हैं, (साच्य) क्षयोपराम प्रयोजनको धारनेवाला होने से (हेतु) सम्यग्दर्शन, सम्यक्षान, सम्यक्चारित्रक समान (अन्वया दृष्टान्त) अंगुळी पकडकर पाँचा पकडते कुबे सम्पूर्ण रारीर पकड किया जाता है। सर्व प्रसिद्ध सिद्धत्वमावका दृष्टान्त पाकर नी क्षायिकमाव सुरुषके ही बरिणाम है, यह साध दिया गया है। सिद्ध इये क्षायिक मार्वोको दृष्टान्त बनाकर दो ब्रीवश्मिक मार्वोमें जीवका तदात्मकपना अनुमित करा दिया है। उस ही हेतु से तीन क्षायोपरामिक सम्यक्षव क्षम चारित्र स्वरूपोमें जीवका तदात्मकपना साधकर उनको दृष्टान्त बनाते हुये रोष अध्यासिक सार्वोक जन्मका उपादान कारण जीवको साध दिया है। तथा गति, कषाय, आदिक सार्योप जीवके जन्मका उपादान कारण जीवको साध दिया है। तथा गति, कषाय, आदिक सार्योक्ष बोक्षेक्ष होनेपर ही उनका सद्धाव पाया जाता है (हेतु) और जीवके नहीं होनेपर वार्यिक बाबोकी उपपत्ति नहीं होने पाती है (ब्रित्र) कारण कि कर्मके उदयका क्षिणक बाबोकी उपपत्ति नहीं होने पाती है (ब्रित्र) कारण कि कर्मके उदयका क्षिणक क्षावक होनेपर जीवक ही तिस प्रकार गति, कषाय, आदि स्वरूप तदात्मक परिणाम के स्वर्थ कारण करने जिते आदिक मार्वोको उस जीवका तद्दप परिणामपना किसी ढंगसे भी

#### मञ्चाभव्यत्वयोर्जीवस्वभावत्वं विभावते । पारिणामिकतायोगाचेतनत्वविवर्तवत् ॥ ११ ॥ चेतनत्वस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धमित्यसत् । स्वोपयोगस्वभावत्वसिद्धेः पामभिभावतः ॥ १२ ॥

पांचवे पारिणामिक भावोंमें पहे हुये भन्यत्व, अभन्यत्व, भावोंमें (पक्ष) जीवस्वभावपाना विचार लिया जाता है (सान्य), पारिष्प्रामिकपनेका तादस्य सम्बन्ध होनेसे (केंद्र) चेतनत्व (जीवत्व) नामक विवर्त्तके समान (अन्वयदद्यान्त)। यहां यदि कोई चार्वाक या वैशेषिक यों कहें कि आत्माका चितन्यस्वमावपना तो असिद्ध है, आचार्य कहते हैं कि यह उनका कहना असय है। क्योंकि प्रन्यती आदिके प्रदिके प्रवृत्विकों आत्मके निज उपयोग स्वावत्यमकी सिद्धिका कथन हो चुका है। अभी क्षायोपशमिक अवोंको गिनाते समय पांचवे सुक्का निकरण करते हुये भाषामाध्यमें इस बातपर बहुत बछ दिया जा चुका है कि वे औपशमिक आदि त्रेपन भाव सब जीवके ही तदात्मक परिणाम है।

नन्वीपशमिकादीमां स्थामभ्रेकिष्ट्रतात्मनः। निभ्नतभावस्वमासकं नैराल्यं सर्वथा ततः॥ १३॥ तद्रत्यागे तु भोक्षस्याभावः स्यादात्मनः सदा। तत्तो न तत्त्वभावत्वं जीवस्थेत्यपरे विदः॥ १४॥

आदि स्वमायसहितपना ठीक नहीं ज्याता है। शारी जीवन तहात्मक स्वमान औपरामिक आदिक भाव नहीं है। इस प्रकार कोई नैयायिक या बौद्ध दूसरे विद्वार सक्य नैठें हैं। अब आचार्य उत्तरपक्ष कहते हैं उसको छुनो।

तदसंगतशिद्देशवनादेव देहिनः। अपि दिना तिषां तदूपताशिष्टरत्यागांच कथंचन ॥ १५॥ वित्तवभावतयां तावशिषां त्यागः कथंचन। सायोपशिकत्वीपशिमकत्वन तत्विषे ॥ १६॥ तेषामोदियकत्वन नेव स्यानिः स्वभावतः। मोक्षाभावोपि न पुसः क्षायिकाद्यविनाश्चतः। १७॥ प्रे

उन पण्डितोंका वह कथन असंगत है। क्योंकि अपैक्षावर्कक बचनसे ही हम भावोंका त्याग और कर्यचित उन भावोंका अत्याग दोनों बतोंको स्वीकार करते 🐉 ौ चैत स्वभावपने करके कथंचित उन भावोंका त्याग नहीं होता है। अर्थात्-अन्वित होनेवाडे चितन भाक्का सर्वदा सद्भाव है। अतः जीवके उन परिणामोंके साथ तद्भूपपना हमको अभीष्ट है। सिन्प्य नहीं पढाते समय भी गुरुका गुरुपना सदा अवस्थित रहता है। सेवाकार्य न कराते हुये मी स्वासी सेबकका आधिपत्य अक्षुण्ण बना रहता है । उसी प्रकार जो ही चैतन्य परिणाम प**रि**छ नि<del>शिक्तबन्य</del> भावोंमें ओत पोत दुस रहा था वह सिद्ध अवस्थामें भी चैतन्यभाव शुद्ध होकर दमक रहा है। अक चैतन्य स्वभावपनेसे तो इनका किसी भी ढंगसे त्याम नहीं है, हां क्षायोपशमिकपन या श्रीपक्षमिकपन करके उन क्रान बादि या सम्यक्त आदि भागेंका क्षय हो जानेपर तथा औदयिकपन करके उन गति आदिक भावोंका मोक्ष अवस्थामें नाश हो जानेपर तो आत्माका स्वभावरहितपना नहीं प्रसंग् प्रहू होगा तथा हितीय विकल्प अनुसार पुरुषके मोक्षका अभाव भी नहीं होगा । क्योंकि श्वायिक या पारि-णामिक हो रहे केवलहान, जीवल, अस्तिल, आदि मार्चका विनाश नहीं हुआ है। कपडेका बना हुआ चोळा उतार देनेसे मतुष्य गर नहीं जाता है। औपशसिक, श्रायोपशमिक, और औदयिकमान मके ही अपने उपरिष्ठात रंगे हुये रूपसे नष्ट हो जाय, किन्तु क्षायिक और पारिणामिकमान अक्षुप्प तदाबस्य हैं। अतः जीव सर्वधा स्वभावींसे रहित नहीं हुआ और व्यर्थका टण्टा बसेदा हट जानेहे मेश सी नहीं असमतापूर्वक हो जाती है।

न नौगशमिकादीनां नाशाकीवास्त्रभावता । गरिकाणविषतीनां तत्स्त्रभाषत्वद्दानितः ॥ १८ ॥ क्टस्थात्मकतापत्तेः सर्वतार्थिकयाक्षतेः । वस्तुत्वहानितो जीवतत्त्वाभावप्रसंगतः ॥ १९ ॥ तथा च नाशिनो भावाः स्वभावा नात्मनस्तथा । अनात्मनोऽपि ते न स्युरिति तद्वग्तुता कुतः ॥ २० ॥ एवं निःशेषतत्त्वानामभावः केन वार्यते । नास्तिभावस्वभावत्वाभावसाधनवादिनाम् ॥ २१ ॥ ततः स्याद्वादिनां सिद्धः शाश्वतोऽशाश्वतोपि च । स्वभावः सर्ववस्तूनामिति नुस्तत्स्वभावता ॥ २२ ॥

कोई आक्षेप करता है कि आप जैन औपशमिकभाव और आदिपदसे प्रहण किये गये क्षायोपरामिक, औदियक भावोंका नारा मीक्ष अवस्थामें मानते है। ऐसा होनेसे तो औपरामिक आदि भायोंको जीवका स्वभावपना नहीं आया । क्योंकि जिसका स्वभाव है वह स्वभाववान्के नष्ट होनेपर मले नष्ट हो जाय, किन्तु स्वभाववान्के नहीं नष्ट होनेपर तो उसका वह स्वभाव नष्ट नहीं होता है। जबतक अग्ने है उसका उष्णतास्यभाव मदा स्थिर रहता है। कस्त्ररी कभी गन्धरहित नहीं रहती है । अतः औपरामिक आदिकोंका आत्माके विद्यमान होनेपर भी यदि नारा मान लिया जायगा तो. वे जीवका स्वभाव नहीं ठहा सकते हैं। अब आचार्य महाराज कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यों तो प्रत्येक क्षणमें नवीन नवीन हो रहे पर्यायोंको भी उस पर्यायीके स्वभाव होनेकी हानि हो जायगी । अर्थात-प्रत्येक द्रव्यके पूर्वक्षणभावी पर्यायोंका नारा होकर उत्तर क्षणीं नवीन नवीन पर्याय उपज रहे हैं । अतः आप आक्षेपकारके विचार अनुसार वे क्षणिक पर्याय उस पर्यायीके स्वभाव नहीं ठहर पायेंगे। अञ्चद्ध द्रव्य अग्निकी भी तो उष्णता पर्याय प्रति क्षणमें बदल रही है। मध्य अवस्थामें या मध्यान्ह कालमें अग्निकी जितनी तीन उष्णता है उतनी प्रातःकालमें वा आध-अवस्थामें नहीं है । ज्येष्ठ मासका ताप माघ मासमें दुर्लभ हो जाता है । प्रतिक्षण होनेवाले पर्यायोंको यदि उस पर्यायीके स्वभाव नहीं माना जायगा, तब तो पदार्थीके कूटस्थ आत्मकपनेकी आपत्ति बन बैठेगी, इस ढंगसे सभी प्रकारों करके अर्थिकयाकी क्षति हो जानेसे वस्तुत्वकी हानि हो जाती है। और ऐसा हो जानेसे जीव नत्त्वके अभावका प्रसंग हो जायगा, और तिस प्रकारकी अवस्थामें आत्माके हो रहे तिस प्रकार नाश होनेवाछे प्रतिक्षणवर्ती परिणाम तो आत्माके नहीं कहे जा सकते हैं, तथा आत्मासे भिन्न पुद्रछ तत्त्व, धर्म द्रम्य, आदिके भी वे क्षाणिक विवर्त उनके स्वभाव न हो सर्केंगे । ऐसी दशामें जीव और अजीव पदार्थीको भला वस्तुपना कैसे रक्षित रह सकता है ? इस

प्रकार अन्यवस्था मच जानेसे नास्ति हो जानेवाले भावको उसके स्वभावपनके अभावका साधन कर रहे बादियोंके यहां सम्पूर्ण तत्त्वोंका अभाव हो जाना किस करके रोका जा सकता है ? अर्थात् -- प्रतिक्षणके विवर्तीको द्रव्यका स्वभाव न माननेपर कूटस्थपनका प्रसंग होगा । वस्तुका लक्षण अर्थिकियाकारित्य है. अर्थिकिया न होनेसे वस्तुत्वकी हानि होते हुये जीवतत्त्वका ही अभाव हो जायगा। नाशशील भाव जैसे आत्माके नहीं माने जाते हैं, उसी प्रकार अजीव तत्त्रोंके भी नाश होनेवाले विवर्त्त तो स्वभाव न हो सकेंगे । तब तो जीव, अजीव, सबके वस्तुत्वकी क्षांति हो जानेसे श्रन्यवाद आगया । किन्तु वह तो आक्षेपकारको इष्ट नहीं पडेगा । तिस कारणसे स्याद्वादियोंके यहां यह सिद्ध हो जाता है कि चाहे सर्वदा स्थित रहनेवाला शाश्वत परिणाम हो अथवा कदाचित स्थिर रहनेवाला अशाश्वत परिणाम होवे सब सभी वस्तुओंके तदात्मक स्वमाव माने जाते हैं। इसी ढंगसे कदाचित होनेवाले उन औपरामिक आदि भावोंको भी आत्माका स्वभावपना सिद्ध हो जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तको माननेवाले जैनोंके यहां वस्तुके अनेक स्वभाव तो एक क्षणस्थायी ही है। और कितने ही स्वभाव बहुत क्षणोंतक ठहरनेवाले हैं तथा अनन्त स्वभाव सर्वदा नित्य स्थित रहते हैं। देवदत्तकी बाल्य, कुमार, युवा, अवस्थायें तदात्मक स्वभाव होती हुई नष्ट रहती हैं। फिर भी जन्मसे छेकर मरण पर्यंत ही देवदत्त स्थिर कोई भी द्रव्य, कूटत्थ नित्य नहीं है। प्रतिक्षण अनेक उत्पाद, व्यय, ध्रीव्य, पाये जाते हैं, तभी वह सत् बना रह सकता है। मञ्जमिक्क्योंके समुदाय प्राप्त छत्तेमेंसे अनेक मध्म-क्खियां आतीं जातीं रहतीं हैं। उसी प्रकार द्रव्यमें अनेक स्वभावोंके उत्पाद, विनाश, होते रहते हैं। संसार अवस्थामें तदात्मक रूपसे हो जा चुके औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, भावोंका नाश हो चुका है। फिर भी मोक्ष अवस्थामें उन मार्वोका अवस्थाता नित्य द्रव्य आत्मा या चेतना आदि गुण विश्वमान हैं। क्षायिकभाव, पारिणामिकभाव, शास्त्रत गुण इनके बने रहनेसे परिशुद्ध हो रहा जीव द्रव्य अनन्तकालतकके लिये सिद्ध हो जाता है। सुरमतासे विचारो तो। प्रतिक्षण पर्याय रूप हो रहे क्षायिकभाव और पारिणामिक भावोंका भी परिवर्तन हो रहा है । एतावता द्रव्यस्थिति और भी स़रद हो जाती है। चर्म या छोहपत्ती अथवा डोरीको छपछपाते रहनेसे वे अत्यधिक काळान्तरस्थायी होते हुये पृष्ट बन रहते हैं। यहांतक जीवके तदात्मक हो रहे त्रेपन भावोंकी सिद्धि कर दी गयी है। विशेष यह कहना है कि जैसे कर्म शरीरके अनुसार आत्माके औपशमिक आदि माव होते हैं, उसी प्रकार नोकर्मरारीर अनुसारके भी यथासम्भव औपरामिक आदि भाव लगाये जा सकते हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव भी स्वतंत्र रूपसे अथवा कर्म, नोकर्मीकी विभिन्न परिणामित शक्तियों द्वारा जीवोंके अनेक परिणामोक सपादक हैं। भावार्थ कर्मोंके उदय आदि समान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अथवा नोकर्मका वातावरण भी जीवोंके सुखदःख मोक्ष आदि कार्योंके निमित्त कारण हैं।

एवं जीवस्य स्वतस्वं न्याख्याय लक्षणं न्याचिरन्यासुरिदं सूत्रमाह।

इस प्रकार जीवके अनुजीवक निज तत्त्वोंका व्याख्यान कर अब बीवके कक्षणकी न्याख्या कर-केचे असिकाइक श्री तमाखासी महाराज इस अप्रिम सूत्रको स्वतंत्रतायूर्वक दूसरोंके लिये स्पष्ट कह रहे हैं।

# उपयोगो लक्षणम् ॥ ८॥

अन्तरंग, बहिरंग, कारण पिलतेपर ज्ञाता, दृष्टा, आत्माके चैतन्य अंशका अनुविधान करने-काल उपक्रेग परिणाम तो जीवका लक्षण है।

जीवस्थरवञ्चवति । कः पुनः स्वतन्त्रकक्षणयोविशेषः ? स्वतन्त्रं लक्ष्यं स्याङ्कष्तणं च स्वतृष्णं । क्षप्रणं द्वं न लक्ष्यं इति तयोविशेषः ।

दिसीयाच्यायके पहिले स्त्रसे जीवस्य इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। तैसा होनेपर जीवका लक्षण उपयोग है। ऐसा वाक्य अर्थ वन जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि पूर्व स्त्रमें जीवका लक्षण कहा गया है। अतः क्ष्माको कि फिर स्वतस्व और लक्षणमें क्या विशेषता (अन्तर) है ? अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि स्वतस्व तो लक्षण करने योग्य हो रहा स्यात् लक्ष्य भी हो जाता है। और कथंचित क्ष्माम भी हो जाता है। किन्तु लक्षण तो लक्षण ही रहेगा, कथमि लक्ष्य नहीं हो सकता है। इस हमसे उन स्वतस्व और लक्षणमें अन्तर है, अर्थात् जीवको जो निजतस्व हैं वे जीवकी ही आत्मा हैं। क्षा जाते हैं, हां क्ष्माम सर्वद्ध लक्षण ही रहेगा। अतः ल्याप्यल्यापकमात्र या व्यक्ताल्यक्तमावसे इनमें विशेषता पायी जाती है। क्ष्माम सर्वद्ध लक्षण ही रहेगा। अतः ल्याप्यल्यापकमात्र या व्यक्ताल्यक्तमावसे इनमें विशेषता पायी जाती है। क्ष्माम सर्वद्ध लक्षण ही रहेगा। अतः ल्याप्यल्यापकमात्र या व्यक्ताल्यक्तमावसे इनमें विशेषता पायी जाती है। क्ष्माम सर्वद्ध लक्षण ही रहेगा। अतः ल्याप्यल्यापकमात्र या व्यक्ताल्यक्तमावसे इनमें विशेषता पायी जाती है। क्ष्माम सर्वद्ध लक्षण ही हो। स्वतस्वोमें कर्ष क्ष्माम हो व्यक्तिक हो रहा व्यक्त होना चाहिये, अतः लक्षण तो लक्षण ही है। स्वतस्वोमें कर्ष क्ष्माम होने उन मावोसे ही तो जीविपण्ड व्यवस्थित है। मावोके अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं हो। हो, उनमेंसे कुल भाव तो जीवके लक्षण भी हो जाते हैं।

#### यदेवं किमत्र जीवस्य स्वतत्त्वं लक्षणमित्याह।

प्रश्नकर्ता कहता है कि यदि स्वतत्त्व और छक्षणकी इस प्रकार व्यवस्था है तो बताओ, त्रेषन स्वतत्त्वोंमें कौनसा स्वतत्त्व जीवका स्वछक्षण माना जाय ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी सिद्यांतमार्गको बताते हुये कहते हैं।

> तत्र क्षयोद्भवो भावः क्षयोपशमजश्र यः । तद्यक्तिव्यापि सामान्यमुपयोगोस्य लक्षणं ॥ १ ॥

कन स्वतन्त्रोंने को कर्तिक श्रापते उत्पन्न हुआ भाव है और जो कर्तिक क्षयीपशामते उत्पन्न हुना विशेष श्राव है, इनके मकार हो रही कन बारह व्यक्तियोंने सामान्य रूपसे व्याप रहा उपयोग तो इस जीवका रुक्षण है।

सयोज्ञवो भावः शायिको भावस्तस्य व्यक्ती केवलकानदर्शने पृक्षेते, श्रयोपश्रमजो विश्वस्तस्य च व्यक्तमो मत्यादिक्षानानि चत्वारि मत्यक्षानादीनि त्रीणि वश्चर्दर्शनादीनि च पृक्षेते तत्रैवीपयोगसामान्त्रस्य वृत्तरन्यत्रावर्तनात् । तत्र्यापि सामान्यसुपयोगोस्य जीवस्य लक्षणिति विवक्षितत्वात्, तत्र्यक्तेर्लक्षणत्वे लक्षणस्याच्याहिमसंगात् । वासान्यंतरहेतुद्वयसविधाने यथासं-भवसुपलच्युधैतन्याज्ञविधायी परिणाय उपयोग इति वचनात् ।

क्षय से उत्पन्न हुआ भाव क्षायिक कहा जाता है। नौ क्षायिक भावोंमें यहां उसके विशेष व्यक्तिरूप केत्रल्ज्ञान और केवलदर्शन दो भाव प्रहण किये जाते हैं। तथा कर्मीके क्षयोपराम से उत्पन्न हुआ मिश्रभाव सामान्यरूप से अठारह व्यक्तियोंमें क्याप रहा है । किन्तु यहां प्रकरण अनुसार उस क्षायोपरामिककी मतिक्वान आदि चार व्यक्तियां और कुमतिक्कान आदि तीन व्यक्तियां तथा चक्षदर्शन आदि तीन व्यक्तित्रिशेष इस प्रकार दश मिश्रमाव पकडे जाते हैं। उन दो क्षायिक भाव और दश क्षायोपशामिक भाव इस प्रकार बारह व्यक्तिविशेषोंमें ही उपयोग सामान्यकी बृत्ति ही रही है। अन्य दान, सम्यक्त्व, संयमासंयम आदिमें उपयोग सामान्य नहीं वर्तता है। अतः उन बारह व्यक्तियोंमें व्यापनेवाला सामान्यरूप उपयोग इस प्रकरणप्राप्त जीव तत्त्वका लक्षण है, ऐसा अर्थ संत्र-कारको विवक्षित हो रहा है। यदि सामान्य उपयोगको लक्षण नहीं कर उस उपयोगको विशेष व्यक्ति हो रहे मतिहान या कुश्रुतज्ञान अथवा चक्षदर्शन आदिमें से किसी एक व्यक्तिको जीवका छक्षण होना माना जायगा तो लक्षणके अव्याप्ति दोष हो जानेका प्रसंग होगा, जैसे कि गौका लक्षण कपिलपना करनेसे अन्याप्ति आती है उसी प्रकार मतिज्ञानको जीवका लक्षण बनानेसे पहिले तीन गणस्थानोतिकके जीवोंमें या केवल ज्ञानियोंमें लक्षण घटित नहीं होगा, चक्षदर्शनको ही जीवका लक्षण कह देने से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, जीवोंमें तथा तेरवे चौदहवें गुणस्थानवाले आत्माओं या सिद्धोंमें लक्षण समन्वय नहीं होनेसे लक्षण अन्यात हो जायगा । श्री अकलंक देवकृत राजवार्तिक नामक आकर प्रन्थमें इस प्रकार कथन किया गया है कि आत्मभूत और अनात्मभूत दो बहिरंग कारण और असात्मत, आसभत दो अन्तरंग कारणके यथायोग्य सनिधान होनेपर ज्ञातादृष्टा, आत्माके चैतन्यका अन्त्रम स्वानेत्राका परिवास विशेष उपयोग है। इस प्रकार सामान्य उपयोगको जीवका लक्षण आम्नायसे माना गया चला आ रहा है।

अत्र हि न वैतन्यमात्रप्रपयोगो यतस्तदेव जीवस्य रुक्षणं स्यात् । कि तर्हि १ चैत-न्याञ्जविद्याची परिणायः स चीपलम्थुरात्मनो न दुनः प्रधानादेः चैतन्याञ्जविद्यायित्वाभाव- मसंगात् । न चासावहेतुको बाह्यस्याभ्यंतरस्य च हेतोईयस्योपात्तानुपात्तविकल्पस्य सिम्नधाने सति भावात् । न चैवं परिणामविशेष उपयोगो मतिज्ञानादिच्यक्तिरूपः मतिपादितो भवति यथासंभवमिति वचनात् । ततो दर्शनज्ञानसामान्यप्रुपयोग इति सूक्तं ।

अफलंक सिद्धान्त अनुसार श्रीविद्यानन्द स्वाभी कहते हैं कि यहां सूत्रमें प्राह्म, अप्राह्म, संपूर्ण ही चैतन्य या मात्र चेतना नामका अतीन्द्रिय गुण तो उपयोग शब्दसे नहीं पकडे गथे हैं। जिससे कि वह सामान्य चैतन्य ही जीवका लक्षण हो जाय तो कौनसा चैतन्य विशेष उपयोग है ? इसका उत्तर तो यह है कि जैसे खड़ुआ, वाजू, कुण्डल, हंसुली, आदि परिणामींमें सुवर्णपनेका अन्वय लग रहा है, उसीं प्रकार चैतन्यका अन्त्रय रख रहा परिणामविशेष इस प्रकरणमें उपयोग लिया जाता है, और वह उपयोग परिणाम तो आत्माका है। किन्तु फिर प्रकृति या पृथ्वी आदिक तत्त्रोंका नहीं है। क्योंकि जडद्रव्योंका परिणाम माननेसे उपयोगको चैतन्यका अनुविधान रखनेवालेपनके अभावका प्रसंग होगा तथा वह चैतन्यानुविधायी परिणाम अहेतुक भी नहीं है। उसके हेतु विद्यमान हो रहे हैं। देखिये, उपात्त और अनुपात्त विकल्पोंको धार रहे बहिरंग कारणके द्वय तथा अभ्यंतर कारणके द्भयका सिक्रधान होनेपर वह उपयोग उपजता है। उपयोगके बिहरंगकारण आत्मभूत और अनात्म-भूत दो प्रकार हैं। घनांगुलके संद्यातवें भाग या असंद्यातवें भाग क्षेत्रको घेर रही पुद्गल निर्मित स्पर्शन रसना, आदि और मन ये इन्द्रियां तो आत्मभूत हैं। प्रदीप, अंजन, उपनेत्र ( चश्मा ) आदि अनात्मभूत हैं। तथा अन्तरंग कारणोंमें उपयोग त्यानिका उपयोगी दृज्ययोग तो अनात्मभूत जाता है। और भावयोग या क्षयोपरामजन्य लब्धि तो आत्मभूत अभ्यंतर हेतु है। कितने ही प्रदीप आदि कारण तो उपात्त हैं, और लिब्ध आदिक कारण अनुपात्त हैं। एक बात यह भी है कि इस प्रकारका परिणामविशेष उपयोग केवल मतिज्ञान या अवधिज्ञान. आदि अकेली व्यक्तिस्वरूप नहीं कह दिया गया है। क्योंकि पृज्य श्री अकलंकदेवने उपयोगके लक्षणमें " यथासम्भवम् " इस प्रकार पद्रप्रयोग किया है । तिस लक्षणके घटक अवयव पदसे सामान्यरूप करके सभी दर्शन और यात्रन्मात्र ज्ञान व्यस्तरूपसे उपयोग हो जाते हैं। यह ढंग बहुत अन्छा कहा गया है। यहांतक सूत्रके उद्देश्य दलका अकलंकलक्षणपूर्वक अच्छा निरूपण कर दिया गया है। सामान्य उपयोगको जीवका लक्षण कहना बहुत अच्छा है।

कि पुनर्रुक्षणं १ परस्परव्यतिकरे सित येनान्यत्वं रुक्ष्यते तल्लक्षणं । हेमझ्यामिकयो-र्वणीदिविश्वेषवत् । तद्विविधं आत्मभूतानात्मभूतविकरुपात् । तत्रात्मभूतं रुक्षणमग्रेरुष्णगुणवत्, अनात्मभूतं देवदत्तस्य दंडवत् । तत्रेहात्मभूतं रुक्षणम्रुपयोगो जीवस्येति मतिपत्तव्यं ।

किसीका प्रश्न है कि विधेय दलमें पडे हुये लक्षणका किर क्या लक्षण है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विचानन्द स्वामी उत्तर करते हैं कि परश्परमें एक दूसरेसे बन्धरूप या अवस्थ रूप सिमश्रण हो जानेपर विविद्यत पदार्थका जिस धर्म या धर्मी पदार्थकरके भिन्नपना प्रदर्शित कराया जाता है, वह कक्षण है। जैसे कि सुवर्ण और कालिमाका वर्ण गुरुत्व, कान्ति, आदिकी विशेषतायें कक्षण हैं। भावार्थ सोनेमें चांदी, तांबा, या किह, कालिमा, मिल रही है, ऐसी दशामें न्यारिया विशेष रंग या कराना अथवा तापजन्यकान्ति आदि लक्षणोंसे सुवर्णके माग और कालिमाके भागकी परीक्षा कर लेता है। ज्ञान या सूर्यप्रकाशके पहिले सभी पदार्थ अज्ञान अन्धकारकी अवस्थामें घुल मिल रहे हैं। उनमेंसे लक्षण द्वारा ही नियत पदार्थीका परिज्ञान किया जा सकता है। वह लक्षण आत्मभूत और अनात्मभूत विकल्पसे दो प्रकारका है। उन दो प्रकारोंमें अप्रिके उच्चात्व गुण (पर्याय) के समान जो वस्तुके शरीरमें तदात्मक होकर प्रविष्ट हो रहा है वह तो आत्मभूत लक्षण है और जो देवदत्तके लक्षण दण्डसमान वस्तुमें तादात्म्य रखकर ओपपोत नहीं हो रहा है, वह अनात्मभूत लक्षण है। तिन आत्मभूत, अनात्मभूत, लक्षणोंमें यहां जीवका उपयोग लक्षण तो आत्मभूत है ऐसा समझना चाहिये।

नात्मभूतो जीवस्योपयोगो ग्रुणत्वादग्रेरुण्णविदिति चेन्न, एकांतभेदिनिराकरणस्योक्तत्वा-द्रुणग्रुणिनोः, ग्रुणिनः कयंचिदभिन्नस्यैव ग्रुणत्वोपपत्तरन्यथा ग्रुणग्रुणिभावविरोधात् घटपटा-दिवत् । सर्वथा भिन्नमेव छक्ष्याञ्चक्षणं दंडादिवत् इति चेन्न, अनवस्थामसंगात् । छक्षणादिभिनं छक्ष्यं कृतः सिध्येत् ? छक्षणांतराचेत्रतां अपि यदि तक्रिनं तदा छक्षणांतरादेव सिध्येदित्य-नवस्था । सुदूरमपि गत्वा यद्यभिन्नाञ्चक्षणात्कृतश्चित्तत्विध्येत् तदा न सर्वे छक्षणं छक्ष्याद्भिन्नमेव ।

नेही कि जीनोंके उपर कटाक्ष है कि जीनका लक्षण उपयोग तो उसका आत्ममूत लक्षण नहीं है। (प्रतिका नक्य) गुण होनेसे (हेतु) अग्निके उच्ण गुणसमान (अन्वय दृष्टान्त) अर्थात्—गुणीसे गुण सर्वधा मिन्न होता है। तभी तो आधक्षणमें द्रव्यके रहते हुये भी गुण नहीं उपजने पाते हैं। अग्नि द्रव्यसे उच्ण गुण मिन्न है। उसी प्रकार आत्मासे ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, मिन्न होते हुये अनात्ममूत हैं। कोई लक्षण आत्ममूत नहीं हो सकता है। घटका लक्षण घट या कल्या करना व्यर्थ है। अब आचार्य कहते हैं कि यों बेशेषिकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि गुण और गुणीके एकान्त रूपसे मेद होनेके निराकरणको हम कह चुके हैं। गुणी द्रव्यसे कथंचित् अभे-दक्ती प्रात हो रहे पदार्थको गुणपना व्यवस्थित होगा। अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे गुणगुणीमावका निरोध है। जैसे घटका लक्षण पट नहीं हो सकता है, अथना सहाका लक्षण सर्वथा मिन्न पड़ा हुआ विन्थ्य पर्वत नहीं हो सकता है। घटका गुण सर्वथा मिन्न पट नहीं है। सहाका गुण निन्ध्य पर्वत भी नहीं है। सर्वथा मेद तो जड पदार्थ और चैतन्यका है। किन्तु इनमें लक्ष्यलक्षणमाव या गुणगुणीमाव नहीं माना गया है। इसपर नैयायिक या वैशेषिक यदि यों कहें कि जैसे पुरुषसे दण्ड न्यारा है, देवदत्तरी कुण्डल मिन्न है, इन्दरत्तका कालीटोपीके साथ सर्वधा मेद है, किन्तु इनमें लक्ष्य-न्यारा है, देवदत्तरी कुण्डल मिन्न है, इन्दरत्तका कालीटोपीके साथ सर्वधा मेद है, किन्तु इनमें लक्ष्य-न्यारा है, देवदत्तरी कुण्डल मिन्न है, इन्दरत्तका कालीटोपीके साथ सर्वधा मेद है, किन्तु इनमें लक्ष्य-

पदार्थ स्वयं अपना ही परिशापक क्या होगा ? प्रत्यकार कहते हैं कि यह तो न कहना । कारण कि अनवस्था दोष हो जानेका प्रसंग आता है। देखिये, लक्षणसे विशेष रूपकार कि अनवस्था दोष हो जानेका प्रसंग आता है। देखिये, लक्षणसे विशेष रूपकार कि प्रदार कि पहा हुआ लक्ष्य मला बैसे सिद्ध होगा ? बताओ, भिन्न लक्षणसे जानोगे ? और प्रकृत लक्ष्यके न्यारे लक्षणको यदि न्यारे अन्य लक्षणों से जानोगे तब तो वह लक्षण भी अपने लक्ष्यकर लक्षणसे भिन्न ही होगा, भिर उसको भी तीसरे, चौथे, आदि लक्षणोंसे ही सिद्ध कर पाओगे। यही तो अनवस्था दोष है। भिन्नभिन्न पडते चले जा रहे पदार्थों से प्रकरण प्राप्त लक्षणोंकी इति करना असम्भव बन बैटेगा। हां, बहुत दूर भी जाकर यदि किसी अभिन्न हो रहे लक्षण से उस अभिनद लक्षणरूप लक्ष्यको साधोगे तब तो सभी लक्षण लक्ष्यसे भिन्न ही होते हैं, यह तम बैक्षिकोंका एकान्त आग्रह नहीं व्यवस्थित हुआ। दूर जाकर जैसे लक्ष्यलक्षणों अभेद मानना अनिवार्थ पड गया, उसी प्रकार प्रथम ही से क्यों नहीं कथांचित् भेदाभेदका आश्रय पकड़ लिया जाता है ? दीर्घदिशितासे काम लो, दीर्घस्त्रिता से नहीं।

तथा यदि प्रसिद्धं तल्लक्षणं रूक्ष्यस्य प्रज्ञापकं तदा कुतस्तत्मसिद्धं र स्वलक्षणांतसिदिति चेलक्षि स्वलक्षणांतसिदित्यनवस्था । सुद्रमप्यलुस्त्य यदि लक्षणं स्वरूपत एव प्रसिध्धेषदा न सङ्ग्रंक भिष्णान लक्षणं रुक्षणस्य स्वात्मभूतलक्षणत्वात्। न चाऽप्रसिद्धं किचित्कस्यचिल्लक्षणिति प्रयोगातः।

दूसरी बात यह है कि सर्वधा मेद पक्षमें छन्य भी छक्षण हो जाय और छक्षण मी छन्य बन बैठे इसको कीन रोक सकता है ' स्वतंत्र हो रहे उदासीन फक्कडोंकी स्वच्छन्दप्रवृत्ति रोकें रुक्कि भी तो नहीं है । यदि यह स्थूल सिद्धान्त माना जाय कि वह प्रसिद्ध पदार्थ ही उस अप्रिस्द्ध छक्षणकों सिद्धी कैसे करोगे ' बताओ, यदि उस छक्षणके स्वकीय छक्षणान्तर से उसको प्रसिद्ध माना जायगा, तब तो वह छक्षणान्तर भी अपने न्यारे छक्षणान्तरसे प्रसिद्ध होगा और उस बौधी' कोदिके छक्षणकी प्रसिद्ध भी पांचवे आदि छक्षणोंसे होगी, इस तरह जिज्ञासा बढते बढते अनवस्थाक वन बैठेगी । अत्यधिक दूर भी चलते चलते अनवस्थाके निवारणार्थ यदि छक्षणको निजस्तक्रपसे ही प्रसिद्ध कर छिया जायगा तब तो सम्पूर्ण ही छक्षण मिल ही होते हैं, यह आग्रह नहीं चला। दसवीं, बीसवीं कोटिपर जाकर छक्षणका स्वात्मभूत धर्म ही छक्षण हो गया। जो पदार्थ अक्षविधि किस्ति यहां प्रसिद्ध नहीं है, वह तो कोई भी किसीका भी छक्षण हो गया। जो पदार्थ अक्षविधि किसान सहीं है । अतः कोई छक्षण मछे ही छक्ष्यसे भिक्ष नहीं हैं।

तक्षीयज्ञमेव रूक्ष्याञ्चलणमेवरूणादियदिति चैका, विषयेवमसंगात् । तादात्स्यावि-क्षेण्यात्मीषयोगयोगस्म्योण्णयोगीपयोगादिरेव रुक्षणमात्मदिः न पुनरात्मादिरुपयोगादिरिति नियमहेत्वभावात् । मसिद्धत्वादुपयोगादिर्रुक्षणयिति चेत् , किं पुनरात्मादिरमसिद्धः तथीपयी-गमैकं कथमात्मोपयोगयोगस्म्युण्णयोषी तादात्स्यं मसिद्धामसिद्धयोः सर्वथा तादात्स्यविरोजात् ।

कोई अभेद एकांतवादी कहता है कि सर्वथा भेदवादमें दोष आता है, तब तो लक्ष्यमें लक्षण अभिन ही माम लिया जाय। जैसे कि अग्निके उष्ण, दाहकत्व, पाचन, आदि उक्षण अभिन हैं, जैस जन आत्मारे उपयोगको कथंचित् अभिन मानते ही हैं, हमारे कहनेसे सर्वथा अभेद मानलेवें। अब आचार्य कहते हैं, यह तो न कहना । क्योंकि सर्वया अभेद पक्षमें विपरीत होनेका प्रसंग हो जायगा। लक्य भी लक्षण बन बैठेगा। जब कि दोनों एक ही हैं, आत्मा और उपयोग अथवा अब्रि और उच्चताके तादात्म्यका कोई अन्तर न रहते हुये भी उपयोग, उष्णता आदिक है। आत्मा, आंग्ने, आदिकके लक्षण हो जांय, किन्तु फिर उपयोग, उष्णता, आदिके लक्षण आत्मा, अग्नि, आदि न होय इस तुम्हारी बातका नियम करानेवाला तुम्हारे पास कोई हेतु नहीं है। यदि तुम यों कही कि अभिन्न हो जानेसे क्या हुआ ! प्रसिद्ध होनेसे उपयोग, उष्णता, आदिक ही उक्षण हैं। और अप्रसिद्ध हुये आत्मा, अग्नि, ये लक्ष्य हैं। यों कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि क्योंजी, फिर आत्मा अदिक क्या अप्रसिद्ध हैं ? उस उपयोग के अनुसार तो वे एक ही हैं । जब कि आपने उपयोग और आत्माका अभेद मान लिया है, तो दोनों ही प्रसिद्ध या दोनों ही अप्रसिद्ध हो सकेंगे । तदात्मक दो पदार्थीमें एक प्रसिद्ध और दूसरा अप्रसिद्ध यह तो हो नहीं सकता है। दूसरी बात यह है कि प्रसिद्ध हो रहे उपयोग और अप्रसिद्ध हो रहे आत्मा अथवा अप्रसिद्ध हो। रही अप्रि और प्रसिद्ध हो। रहे उच्च गुणका भला तादाल्य भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि प्रसिद्ध अप्रसिद्ध दो पदार्थीमें सर्वधा तादाल्य होनेका विरोध है। तमको स्वयं कण्ठोक्त उनका कथंचित भेद मानना पडा।

न वैकातेनामसिद्धस्य छक्ष्यत्वं खरविषाणवत् । नापि प्रसिद्धस्येव छक्षणवत् कर्याच-त्मसिद्धस्यैव छक्ष्यत्वोषपत्तेः द्रव्यत्वेन मसिद्धस्य हि चन्हरक्षित्वेनामसिद्धस्य छक्ष्यत्वप्रप्रस्थं द्रव्यस्य च सस्वेन प्रसिद्धस्य द्रव्यत्वेनामसिद्धस्य छक्ष्यत्वप्रपण्यते सत्तोपि वस्तुत्वेन प्रसिद्ध-स्यासन्तव्यतिरेकेणामसिद्धस्य छक्ष्यत्वप्रप्रकृत्यते नान्यया । न वैवमनवस्था कस्यचिक्कविणि-र्णयापछक्षः । सर्वमानिर्णयस्य व्याहतत्वात् तस्यैव स्वस्त्रेण निर्णयात् । तदनिर्णयं वा क्रयं सर्वभागिर्णपर्सिद्धः ।

एक बात यह भी है कि तुमने अप्रसिद्धको लग्य और प्रसिद्धको लक्षण कहा था, वह तो ठीक नहीं देखिता है। कारण कि जो पदार्थ एकांत रूपसे यांनी संत्रींग स्वरूपसे अप्रसिद्ध है वह तो खरीनेपाणके संगान लक्ष्य नहीं बन संगता है तथा सर्वया एकान्त रूपसे प्रसिद्ध हो रहे ही पदार्थको कर्षणको नहीं है, जैसे कि प्रकरणमें दोनों वादी प्रतिवादियोंके यहां प्रसिद्ध हो रहा लक्षण उस समय

छ स नहीं माना जाता है। हां कथंचित् अप्रसिद्ध और किसी अपेक्षा प्रसिद्ध हो रहे ही अर्थको लक्ष्यपना बनता है। देखिये, अग्नि उष्ण है इस प्रकार विशेष व्यक्तियों स्वरूप बह्रिका अज्ञान रखनेवाले किसी अन्युत्पनके सन्मुख किसी ज्ञानीने अग्निका उष्णल रुक्षण कहा, यहां द्रव्यपनेसे प्रसिद्ध हो रहे और अग्निपनेसे नहीं प्रसिद्ध हो रहे ही अनलको लक्ष्यपना देखा गया है। पशुपनेसे प्रसिद्ध हो रही गायका लक्षण श्रंगसास्तावत्व कर दिया जाता है। अग्निको द्रव्य समझ रहे या गायको सामान्यरूपसे पशु या जीव समझ रहे मुख्यके प्रति वक्ता द्वारा उष्णपना या सींग, सासनासहितपना, लक्षण करना सार्थक है । जो द्रव्यरूपसे या वस्तुरूपसे भी उक्त पदार्थीको नहीं समझता है उसकी चिकित्सा न्यारी है। ऐसी दशामें अग्निका द्रव्यपना प्रथम समझाने योग्य है। वहां भी सत्पने करके प्रसिद्ध हो रहे और द्रव्यपने करके अप्रसिद्ध हो रहे द्रव्यको छक्ष्यपना बन रहा है। तभी " सद्द्रव्यलक्षणम् " कहना समुचित प्रतीत होगा । यदि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे सहितपन रूप सत्त्व भी किसीको ज्ञात न होय तो फिर उस सत्तको ही छक्ष्य बनाओ । किन्तु वस्तुपने करके प्रसिद्ध हो रहे और असतपनकी भिन्नता करके अप्रसिद्ध हो रहे ऐसे सत्को छक्ष्यपना देखा जा रहा है। अन्य प्रकारों से लक्ष्यपना नहीं वनता है। अर्थात्—उदिष्ट पदार्थका ही लक्षण किया जा सकता है और नामनिर्देश तो किसी न किसी निर्णीत धर्म से युक्त हो रहे पदार्थका किया जायगा। द्रव्यत्व धर्म से प्रसिद्ध हो रही अग्निका लक्षण उष्णत्व हो सकता है। यदि किसीको अग्निमें उष्णपनके समान द्रव्यत्व भी अप्रसिद्ध होय तो दश्यमान या सम्भाव्यमान अग्निका सत्पने करके प्रसिद्ध हो चुकना आवश्यक है। जो उस अग्निरूप पदार्थको खरविषाण आदि असत् पदार्थों से भिन्न समझता हुआ सत् समझ रहा है उस सामान्य सत् अर्थको द्रव्यपने करके लक्षित किया जा सकता है। यदि सत्पनेका भी वहां निर्णय नहीं है तो कमसे कम उसमें वस्तुपनेकी प्रसिद्धी तो अवस्य हो चक्रनी चाहिये । अवस्तुमें सत्पना नहीं दिखाया जागगा । वस्तुपना भी यदि निर्णात न होय तो अर्थ किया-कारित्व लक्षण करके उस सर्वनाम वाच्य अर्थकी प्रसिद्धि हो चुकना आवश्यक है। उत्तरोत्तर दस्वी, बीसवीं, कोटिपर पहुंचते हुये अप्रसिद्धि बनी रहेगी तो ऐसी दशामें उस लक्ष्यका लक्षण नहीं बनना चाहिये। सौमीं कोटिपर जाकर भी यदि छक्ष्य किसी अंशसे प्रसिद्ध होगया है तो उससे उरछी ओरके निन्यानेवे लक्ष्योंको सुलभतासे कथांचित् प्रसिद्ध बनाया जा सकता है। असंख्य कोटिपर पहुं-चकर भी कथमपि नहीं प्रसिद्ध द्वयेको तो किन्हीं भी अन्य उपायों करके छक्ष्यपना नहीं बन पाता है। यदि कोई यों कटाक्ष करे कि इस प्रकार चौथी, बीस्त्रीं, सौमी, आदि कोटियोंतक पहुंचते पहुंचते कहीं भी आगे चलकर ठहरना नहीं होने से अनवस्था हो जायगी, आचार्य कहते हैं कि यों तो न कहना । क्योंकि किसी न किसीको आगे चलते हुये कहीं न कहीं तो निर्णय होना देखा जा रहा हैं। पौंगा मनुष्य बहुत दूर चलकर भी धर्मीके किसी अंशको नहीं जान पाया है, ऐसा कहनेवाले उस निजलोपी शून्यवादीके गुप्त चरके सन्मुख लक्षणवाक्य बोलना

अरण्यरोदन के समान व्यर्थ है। योडीसी भी बुद्धिको रखनेवाला जिल्लास पुरुष वीसवीं, पंचासवीं, तो क्या चौथी, पांचवी, कोटिपर ही द्रव्यपन, सत्व, वस्तुत्व, इन सामान्य धर्मी करके लक्ष्य धर्मीका निर्णय कर चुका प्रतीत हो जाता है। उदयणीय पदार्थको सत् , द्रव्य, या वस्तु समझ रहे बुभुत्सके लिये उपकारी वक्ता द्वारा लक्षण वाक्य करके विशेष अंशोंकी व्यत्पत्ति करा दी जाती है। ल यलक्षणभावको स्वीकार करनेवालोंके यहां सभी पदार्थ, द्रव्य, बस्तु, आदिमें भी अनिर्णय बना रहे यह व्याघात दोषयुक्त वचन है। सबको मानकर पुनः उसमें नहीं निर्णय होनेको कह रहा पुरुष कहीं न कहीं निर्णयको अवस्य स्वीकार करता है। अतः हमको किसीका भी निर्णय नहीं है यों कहनेवाळा पुरुष '' माता मे वन्ध्या '' के समान स्ववचनका विघात कर रहा है। उस पुरुषको उस सर्वत्र अनिर्णयका ही अपने अनिर्णयस्वरूप करके निर्णय हो रहा है। यदि उस अनिर्णयका अपने अनिर्णय डील करके भी निर्णय होना नहीं माना जायगा तो सर्वत्र अनिर्णयकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? अर्थात् — सेयमुभयतः पाशारज्जुः, अनिर्णयका अनिर्णय माना जाय तो भी कहीं न कहीं निर्णय होना बन जाता है। अनिर्णयका अनिर्णय ही तो निर्णय है। दो नञ् लगा देनेसे उसका सद्भाव आ जाता है और यदि अनिर्णयका निर्णय माना जाय तत्र तो सुलभतासे कहीं न कहीं निर्णय हो रहा सब जाता है। अतः सर्वत्र अनिर्णय कहना व्याघात दोषयक्त होता हुआ उसी प्रकार छल्पूर्ण वचन है जैसे कि कोई मीमांसक या बौद्ध विद्वान् वीतराग पुरुषका निषेध करनेके लिये यह युक्ति देता है कि बहुतसे सराग, ढोंगी, बकभक्त, पुरुष भी वीतराग सज्जनके समान चेष्टा करते हैं और बीतराग पुरुष भी कदाचित् पढाते, प्रायश्वित्त देते, प्रमीद भावना पावते हुये, सराग पुरुषोके समान चेष्टा करते हैं। बात यह है कि यह केवल कपटमात्र है। वह विद्वान् अवस्य ही बीतराग और सरागके अन्तस्तलपर पहुंचकर उनके लक्षणोंको पहिचानता है तभी तो बीतराग भी सरागके समान चेष्टा करते हैं। यह सादश्य मूळक वाक्यको कहता है। मूळम्मा सोनेके समान दीखता है, चांदी सीप के समान भासती है। कृत्रिम, अकृत्रिम, मुक्ताफल एकसे दीखते हैं, यों बखाननेबाला पुरुष असली, नकलीकी परख करना अवस्य जानता है । सिद्धान्त कि सर्वथा अप्रसिद्ध ही लक्ष्य नहीं है। कथंचित् प्रसिद्ध और कथंचित् अप्रसिद्धको लक्ष्य कहना यक्तिपूर्ण जचता है।

सर्वथा प्रसिद्धं लक्षणित्यप्ययुक्तं, वृत्तद्राघिमादिना प्रसिद्धस्य दंहस्य कैश्चिदुरुपलक्ष्यै-विश्वेषरप्रसिद्धस्यापि देवदत्तलक्षणत्वप्रतीतेः । न हि प्रतिक्षणपरिणामः स्वर्गप्रापणशक्त्यादि सर्वथा सर्वस्य केनिचदुपलक्षयितुं शक्यते ।

आक्षेप कारने पहिले यह बात कही थी कि एकान्त रूप से अप्रसिद्ध हो रहा पदार्थ लक्ष्य होता है और सभी प्रकारों से प्रसिद्ध हो रहा पदार्थ लक्ष्मण हुआ करता है। हम पहिले लक्ष्मण सर्वेषा अप्रसिद्ध एकान्तवादका निराकरण कर चुके हैं। कथांचित् (बहुभाग) अप्रसिद्ध और कथांचित्

( एक भाग ) प्रसिद्ध पदार्थ है। लक्ष्य हो सकता है। कहीं कहीं पदार्थके एक भागको भी लक्ष्य बजाया जा सकता है तथा सभी प्रकारोंसे प्रसिद्ध हो रहे पदार्थको लक्षण कहना इस प्रकार उनका दूसरा आगह भी युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि गोळ आकार, लम्बाई, कठोरता, सुन्दरता आदि धर्मी करके प्रसिद्ध हो रहे फिर भी कठिनता से देखनेमें आवें ऐसे किन्हीं छपलपापन, सारभाग (जीहर) मूल्य, बांसकी जाति, आदिक त्रिशेषताओं करके अप्रसिद्ध भी हो रहे दण्डको देवदत्तका छक्षणपना झतीत हो रहा है। तभी तो कक्षण कर चुकनेपर भी परीक्षा करना आवश्यक हो जाता है। देसदत्तका डण्डा कितने मूल्यका है ? किस देशका है ? ठोस है या पोछा है ? डण्डेकी इन सभी बातोंको प्रसिद्ध रूपसे जान छेना कठिन कार्य है। बौद्ध मतानुसार सम्पूर्ण पदार्थीको क्षाणिक माना गया है, जैन भी ऋजुसूत्रनयसे सर्वको क्षणवर्ती मानते हैं। दान, पूजन, आदि करनेवाले जीवमें स्वर्ग प्राप्त करनेकी राक्ति मानी गयी है। बीजमें हजारों, लाखों, असंख्य, पीडियोंतक संतान प्रति-संतानरूपसे अंकुरको उत्पन्न करनेकी कुर्बद्रपत्न शक्ति मानी गयी है। सभी देखे जा रहे सम्बृत्तिस्तय इत्रयमान स्कन्नोंको बीँग्रोंने यथार्थरूपसे परमाणु स्वरूप स्वीकार किया है। भावार्थ-सभी पदार्थीमें एकान्तरूपसे विशेषतायें घुसीं हुई हैं। संसारमें अनेक मायाचारी जीवदयाका ै । न जाने किन किन असंख्य अवक्तव्य अभिप्रायोंको छेकर जीव भ्रमण कर रहे हैं । कोई कपडा दो वर्षतक चंछता है तैसे ही कोई वस्न दो, चार, दस, बीस दिनतक कमती बढ़ती टिकाऊ होते हैं। कई हुए, प्रष्ट. शरीरवाले पुरुषोंकी मृत्युयें सुनीं जाती हैं। और दुर्बल, पतले, चिररोगी, अद्वांगप्रस्त लंगड़े, कुड़ी प्रकृष बीसों वर्षतक जीवित बने रहते देखे जा रहे हैं। कितनी ही घडियोंको दस, वीस वर्षतक नहीं अधरवाना पडता है । साथमें बैसी ही घडियोंको एक एक महीनेमें ठीक कराना पडता है । बनारसका ज़ल किसी किसी व्यक्तिको प्रकृतिके अनुकूल नहीं पडता है। साधमें अन्य व्यक्तिको हृष्ट, पृष्ट, बिल्डि, बना देता है। बात यह है कि सम्पूर्ण परार्थीक अन्तरंग क्षणस्थायीपन, स्त्रर्गप्रापणशक्ति, आदि स्वभावों का सभी प्रकार सभी जीवों में किसी भी जीव करके जाननेके छिथे सामर्थ्य नहीं है। अतः सर्वथा प्रसिद्ध हो रहे पदार्थको ही लक्षण कहना उचित नहीं है। सर्वज्ञ देवके सन्मुख तो लक्षण कर-नेकी आक्स्यकता ही नहीं है। जिनको लक्षणके द्वारा लक्ष्यका बोध कराया जाता है वे प्रतिपाद और प्रतिपादक दोनों भी लक्षणके सम्पूर्ण स्वभावोंका निर्णय कर चुकनवाले नहीं होते हैं। अतः कक्षण भी बहुतसे स्वम अंशोंमें अप्रसिद्ध है, फिर भी स्थूळ अंशोंकी प्रसिद्धिके अनुसार बक्ता, श्रोताओंके यहां प्रसिद्ध हो रहा रुक्षण मान लिया जाता है। ऊपरसे सदृढ दीख रहे शरीरमें भी कोई रोग या निर्वस्थताका अंश छिपा हुआ है। अथवा शक्तिशाठी प्रवे कारण जुट जानेपर उसी समय परिस्थिति अनुसार बन जाता है। रोगी कोढी जीवोंमें भी आयुष्य कर्म या नियत हडिओंका दढपना वर्त रहा है। काशीके जलवायुमें भी किसी प्रकृतिवाले शरीरको पोषण करनेके अंश विद्यमान है और दूसरे शरीरको सरोग इसानेके शाकिभाग उसमें पाये जाते हैं। सर्वज्ञके अतिरिक्त किसी भी जीवको किसी भी पदार्थके संपूर्ण

केरोंका परिकार नहीं हो पाता है। न जाने किस निमिन्तरे कहां क्या नैसिनिक भाव क्रमज बैठे। इम्प्रता शीतचाका मिश्रम विशेष होनेपर किसीको शीव इटेप्प ( जुकाम ) हो जाता है। जिससे कि मेरों रस, रुधिर, आदिको नासिका द्वारसे निकालने योग्य वन्खर सारिखे कफको बनातेके लिय उपयोगी यंत्रालय (कारखाना ) शरीरमें बन जाता है। सर्वथा हृष्टपुष्ट नीरोग शरीरमें प्लेग हैजा, आदि छत बीमारियोंका प्रसंग मिलनेपर उसी समय शरीरमें महारोग उत्पादक अंश उपज जाते हैं। शुद्ध द्रव्योंके अतिरिक्त अनन्तानन्त शेष रहे जीव और शरीर, अन्न, जल आदिक पदार्थ तो निमित्तोंके मिलते हैं। झट नैमित्तिक परिणामोंको बनानेके लिये मुंह बांऐ बैठे रहते हैं। जैसे कि लोकमें नाईको धोबीकी, धोबीको कोरियाकी, कोरियाको बढईकी, बढईको किसानकी, किसानको साहकारकी, साहकारको राजाकी, राजाको अध्यापककी, अध्यापकको दुकानदानदारकी, दुकानदारको न्यायालयकी, न्यायालयको अपरा-धियोंकी, इत्यादिक रूपसे परस्परमें एक दूसरेकी आवश्यकतायें पड रहीं हैं, उसी प्रकार जड पदार्थ प्रद्रलोंमें भी परस्परकी अपेक्षा रखते हुये अनेक परिणाम हो रहे हैं। बादल आना, वृष्टि होना, बिजली चमकना, ऋतुयें बदलना, सूर्यका एकसी चौरासी गलियोंपर घूमना, चन्द्रोदय होना, पृथ्वीके गर्भमें विकार होना आंधी, गगनधूरि, कूडा, कचरा, मल मूत्रका सडना इत्यादिक परिणाम अनेक स्कन्धोंको भिन्न मिन्न परिणाम बनानेके उपयोगी निमित्त कारण बना देते हैं । उन निमित्तकारण स्कन्धोंसे जीव या शरीर अथवा जड पदार्थोंमें विभिन्न परिणितियां वर्त्तती रहती हैं जो कि किसी बृक्षके पृष्पोंका उद्गम कराती हैं, कहीं फल लगाती हैं, कहीं पत्तोंको शादती हैं, ऋतुओंके योग्य कुत्ता, गधा, भैंसा, कामित्रकारोंको उत्पन्न कराती हैं। आम, खरबूजा, ककडी, अमरूद, छुकाट, आलुबुखारे, अनार, आदि फलोंको उगाती हैं। कहीं दक्षिण देशमें चैत्रमासमें ज्वार पकती है, जब कि उत्तर प्रान्तमें अगहन मासमें ही पक जाती है। गिरनारजी प्रान्तमें माघ महीनेमें ही खरबूजाका फलकाल ( फसल ) आ जाता है, किन्तु आगरा, सहारनपूरकी ओर जेठमें और लखनऊमें वैसाख महीनेमें उनका फलकाल है। कितने ही प्रान्तोंमें आधफल चैत्र वैसाख में ही फलित ही जाता है। अनेक स्थानोंपर आषाढ सात्रनमें उनका पकना प्रारम्भ होता है | कुछ आम्र बृक्षोंकी ऐसी जातियां हैं, जिनमें भादोंमें बीर आकर कार्तिकमें पकना प्रारम्भ होता है। कोई कोई आम पूष माहमें भी पकते हैं । इत्यादिक सम्पूर्ण कार्यकारणभाव निमित्त नैमित्तिकोंकी योग्यता मिलनेपर व्यवस्थित हो रहे हैं। जीव या पहलोंमें वही शक्ति है। " काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विकिया लक्ष्या. जन्मालोअपि अदि स्वात्त्रिको<del>पारा</del>म्ज्ञान्तिकरणघट्ः " इस वाक्यक्षे प्रतित होता है कि एक छोडासा सम्बं भी मन्त्रकार तीन लोकको और पीट करनेकी सामर्थ्य रखता है। यह दन्योंके अतिरिक्त अवस्तातना इन्सोंको नह उसक पुष्ठ कर सकता है। पदार्थीमें प्रसिद्ध, अप्रसिद्ध, कार्यकारी, अकार्यकारी अनेक स्वभाव भरे हुये हैं। अतः लक्षणको सर्वया प्रसिद्ध ही और उत्पक्ती सर्वया अप्रसिद्ध की कहना न्यासोनित तही है।

यदि पुनर्येन रूपेण प्रसिद्धो दंडादिस्तेन छक्षणं, देवदत्तश्च येन रूपेणाप्रसिद्धस्तेन रूस्य इति प्रतीतेः प्रसिद्धस्य लक्षणत्वमप्रसिद्धस्य तु लक्ष्यत्विमिति मतं, तदा कयं लक्ष्य-लक्षणयोस्तादात्म्यैकांतः स्याद्विरुद्धभर्माध्यासात् । ततः कथंचित्रिक्षयोरभिष्मयोश्र लक्ष्य-रुसणभावः मतीतिसद्भावात् सर्वथा विरोधाभावात्, अन्यथा लक्ष्यलक्षणग्रून्यतापत्तेः।

यदि फिर आक्षेप करनेवाले तुम्हारा यह मन्तव्य होय कि जिस स्वरूप करके दण्ड, टोपी, कुण्डल, आदिक प्रसिद्ध हो रहे हैं, उस प्रसिद्ध स्वरूप करके वे दण्ड आदिक लक्षण हैं, अपने अप-सिद्ध स्वरूपों करके दण्ड आदिक लक्षण नहीं हैं तथा उसी प्रकार जिस स्वरूपकरके देवदत्त अप्र-सिद्ध हो रहा है उस अप्रसिद्ध स्वभावकरके ही देवदत्त लक्ष्य माना गया है, अपने प्रसिद्ध हो रहे स्वमावों करके देवदत्त लक्ष्य नहीं है । क्योंकि इस प्रकार लोकमें बालक, बालिकाओंतकको प्रतीति हो रही है। सम्पूर्ण जन प्रसिद्ध हो रहेको छक्षणपना इष्ट करते हैं और अप्रसिद्ध हो रहेको तो छक्ष्य-पना समझा जा रहा है। ऐसा मन्तव्य होनेपर आचार्य कहते हैं कि तब तो आप अच्छा कह रहे हैं. किन्तु ऐसी अभेदकी दशामें अप्रसिद्ध लक्ष्य और प्रसिद्ध लक्षणका एकान्तरूपसे तादाल्य भला कैसे होगा ! क्योंकि प्रसिद्धि और अप्रसिद्धिकी अपेक्षा लक्षण और लक्ष्यमें विरुद्धधर्मीका अधिकार जम रहा है। तिस कारणसे जैसे प्रसिद्धि अप्रसिद्धिक एकान्तको आपने लक्षण और लक्ष्यमें से उठा लिया है, उसी प्रकार अभेद एकान्तको भी निकाल दीजियेगा । तैसा होजानेसे कथंचित् भिन्न और अभिन्न होरहे दो पदार्थीमें लक्ष्यलक्षणभाव बनेगा। कथंचित् भिन्न अभिन अथवा कथंचित् प्रसिद्ध अप्रसिद्ध पदार्थीमें ही लक्ष्यलक्षणभावको प्रमाणोंसे सिद्ध करनेवाली प्रतीतियां विद्यमान हैं। इस सिद्धान्तमें सभी प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारसे विरोध दोषका अभाव है, अन्यया यानी उक्त " कथंचित स्वरूप जीवन रसायनका अतिक्रमण कर दूसरे प्रकारोंसे लक्ष्यलक्षणभाव माना जायगा तब तो लक्ष्य और लक्षण दोनोंके शून्यपनका प्रसंग हो जायगा। जैसे कि अप्नि और उष्णताका भेद माननेपर नैयायिकोंके यहां अग्निस्वरूप आधारके विना निराधार होरही उच्चता तो मर जायगी और उच्चतासे रीती अग्नि भी स्वभावोंसे रहित होरही शून्य हो जायगी । सर्वथा अभेद पक्षमें भी ज्ञानका नाश हो जानेस आत्माका नाश अवस्यम्भावी है। ऐसी दशामें जगत्से छक्ष्यलक्षणभाव सर्वथा उठ जायगा।

संबुत्या लक्ष्यलक्षणभाव इति चेस्न, संबृत्तेरूपचारत्वे मुख्याभावेऽनुपपत्तेः । मृदात्वे न संवृत्तिर्नाम यया तद्भावः सिध्येत् । विचारतोन्नुपपद्यमाना विकल्पबुद्धिः संवृतिरिति चेत्, क्यं तया लक्ष्यलक्षणभावस्तस्य तत्रावभासनादिति चेत् सिद्धस्तर्हि बौद्धो लक्ष्यलक्षणभावः तद्दद-बौद्धोपि कि न सिध्धेत् ? विकल्पाद्धहिर्भृतस्यासंभवात् इति चेका, तस्यास्युवे विकल्पविषय-त्वायोगात् । न च सर्वो विकल्पविषयो संभवन्नेव , सम्भवतोऽपि विकल्पविष्ट्रवीपपतेः प्रत्यक्ष-विषयवत् सर्वो विकल्पोष्ट्रसंभवद्विषयो किकल्पत्वान्यनोराज्यादिविकल्पवदिति चेत्, सर्वे प्रत्यक्ष- मसंभवद्विषयं मत्यक्षत्वात् केश्रोडकमत्यक्षवदिति किं न स्यात् । मत्यक्षाभासोऽसंभवद्विषयो दृष्टो न मत्यक्षमिति चेत् तर्हि विकल्पाभासोसंभवद्विषयो न विकल्प इति समानः परिहारः ।

बौद्ध कहते हैं कि जगतुमें से वास्तविक लक्ष्यलक्षणभाव उठजाय कोई क्षति नहीं है। आपत्ति जितनी शीघ टले उतनी अच्छी है । स्थलबुद्धिवाले जीवोंने कल्पना करके लक्ष्यलक्षणमाव गढिलिया है। देखी, कभी देवदत्त भी दण्डका लक्षण हो जाता है। देवदत्तको जाननेवाला परुष कदाचित अज्ञात अप्रसिद्ध डण्डेको देवदत्तद्वारा चीन्ह लेता है। अप्रि करके भी अज्ञात उष्णता लक्ष्य हो जाती है। " कहीं नाव छढा पर और कहीं छढा नाव पर " इस नीतिके अनुसार रत्नसे राजा और राजासे रत्नका छक्ष्य कर अथवा गुणसे गुणी और गुणीसे गुणका छक्षण कर छिया जाता है। वचनसे वक्ताकी और वक्तासे वचनकी या पुस्तकनिर्मातासे पुस्तककी और पुस्तकसे पुस्तक निर्माताकी जांच हो जाती है। अतः छक्ष्य या छक्षण कोई नियत पदार्थ नहीं है। व्यवहारमें कल्पना चाहे जैसी करलो, कोई बालक अपने काठके खिलीनेको या उपडेको घोडा कहे एतावता क्या वह वस्तुभूत घोडा होकर अपने ऊपर चढाता हुआ अस्त्रवारको अभीष्ट स्थानपर छे जा सकता है ? कभी नहीं । अब आचार्य कहते हैं कि यह तो बौदोंको नहीं कहना चाहिये । क्योंकि संवृत्ति यदि उपचार स्वरूप मानी जायगी तब तो मुख्यपदार्थको स्वीकार किये विना व्यवहार बनता नहीं है। अतः व्यवहार से लक्ष्यलक्षणभाव मानने वालेको मुख्य लक्ष्यलक्षणभाव भी मान पडेगा। मुख्य घोडा या सिंह जीत्रोंके होने पर ही बालक बिलोनेंमें घोडा, सिंह, हाथी, की कल्पना कर लेता है। सर्वथा असत खरविषाणका उपचार होता हुआ नहीं देखा गया है। यदि संवृत्तिका अर्थ बौद्ध झूंठा, असत् पदार्थ करेंगे तब तो वह संवृत्तिकल्पना नाममात्रको भी नहीं हुई, जिस संवृत्तिसे कि वह लक्ष्यलक्षणभाव साध दिया जाय । परमार्थभूत पदार्थेसे विपरीत पड जानेके कारण झूंठी संवृत्ति कुछ भी नहीं हो सकती है । यदि बौद्ध विचारोंसे नहीं सिद्ध हो रही विकल्पबुद्धिको संश्वति कहेंगे तब तो हम जैन प्छेंगे कि वैसी वस्तुको नहीं विषय करनेवाली उस विकल्पबुद्धिरूप संवृत्तिसे भटा छश्यलक्षणभाव कैसे सिद्ध हो सकेगा ? तुम्ही विचारो । आकाशमें कल्पित भूमिपर उपवन नहीं खडा किया जा सकता है । पुनरिप बौद्ध यदि यों कहें कि हम क्या करें उस विकल्पबुद्धिमें उस छक्ष्यछक्षणमावका व्यवहारी जीवोंको प्रतिभास हो रहा है, यों कहनेपर तो हम जैनोंको कहना पडेगा कि तब तो अन्तरंग बुद्धिमें आरुद्ध हो रहा उदयउक्षणभाव सिद्ध हो चुका। वस, उसी दृष्टान्तके अनुसार विकल्पबुद्धिसे अतिरिक्त बहिरंग बस्तुभृत भी छश्य छक्षणभाव क्यों नहीं सिद्ध हो जायगा ? फिर भी बौद्ध यदि यों कहें कि न्यबहार विकल्पनाओंसे बहिर्भृत छक्ष्यछक्षणभावका असम्भव हो जानेसे अबीद छक्ष्यछक्षणभाव कोई नहीं है। प्रन्थकार यों कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि ज्ञापक विकल्पज्ञानसे बहिर्भूत हो रहे उस रुक्ष्यरुक्षणभाव क्षेयका असम्भव मानोगे तब तो उसको विकल्प क्षानकी विषयताका

अवीग ही जीवना | श्रेयके विना शान किलको जानेगा | बौद्धजन विकल्प जानके विषयभूत पराचीको असम्बन मोम बैठे हैं, उसपर हमारा यह कहना है कि विकर्णज्ञानीके विषय बन रहे संभी विषय असम्मन रहे ही हैं, यह तो नहीं समझना । क्योंकि नास्तविक सम्भन रहे मी पदार्थको निकल्प इनिक्ति विषयता बन रही है, जैसे कि प्रत्यक्षज्ञानका विषयभूत पदार्थ परमार्थरूपसे सम्मव रहा है, इसंपर बौद्ध अनुमान बनाकर आक्षेप करते हैं कि सम्पूर्ण विकल्पज्ञान (पक्ष ) असम्भव हो रहे विषयोंकी जान बैठे हैं (साध्य ) विकल्पना होनेस (हेतु ) मनमें राजापना, इन्ह्रपन, आदिशी विकरिपनीओंके समान ( अन्वय दंष्टान्त ) यो करनेपर तो आचार्य महाराज भी कटाक्ष करते हैं कि संबर्ण प्रत्यक्ष ( पक्ष ) असम्भव हो रहे विषयीको जान रहे हैं ( साध्य ) प्रत्यक्षपना होनेसे (हेत् ) सीपमें इये चाँदीके ज्ञान या मृगतृष्णामें इये जलज्ञान आदि स्नान्त प्रत्यक्षीके समान (अन्वयद्षष्ट्रान्त) यह व्यवस्था भी क्यीं नहीं बन जावेगी ? अर्थात-एक हो विकल्पको छेकर यदि सभी विकल्प ज्ञानको अपरमार्थभूत माना जायगा तब तो कुछ मिथ्या प्रत्यक्षोंको दृष्टान्त बनाकर समी सबै, झंठे, प्रत्यक्षोंको निरालम्ब साथ दिया जायगा । एक कनैटाके सदश सभी प्राणी कनैटा ही जावीं ? यदि बीद्ध यों कहे कि प्रत्यक्षके समान दील रहा झंठा प्रत्यक्षामास तो असम्भव रहें विषयको जान रहा देखा गया है, किन्तु समीचीन प्रत्यक्ष तो असम्भव विषयबाद्या नहीं है। उसका विषय तो बस्तुमूत स्वलक्षण है, तब तो हम जैन भी कह देंगे कि श्रुंठा विकल्प ब्रांनामांस तो असम्भव रहे विषयका प्राहक है। हां, समीचीन विकल्पज्ञान नहीं । प्रमाणात्मक विकल्प-ज्ञानका विषय तो परमार्थभूत सम्मव रहा है। इस प्रकार तुम्हारा प्रत्यक्ष ज्ञानके लिये जो परिहार है वैसा ही हमारा विकल्पज्ञानोंके असम्भव विषयीपनके आरोपका परिहार समान कोटिका है. रेफ मात्र अन्तर नहीं । अतः समीचीन विकल्पज्ञानसे हुआ लक्ष्यलक्षणभाव वास्तविक ठहर जाता है।

कः पुनः सत्यो विकल्पः मत्यक्षं कि सत्यमिति समः पर्यनुयोगः । यतः मवर्तमानीर्थ-क्रियायां न विसंवाद्यते तत्सम्यक् मत्यक्षमिति चेत्, यतो विकल्पाद्ये परिष्ठिद्य मवर्तमानीर्थ-क्रियायां न विसंवाद्यते स सत्यमिति कि नानुमन्यसे ?

बौद्ध विद्वान् आचार्योके प्रति सकटाक्ष प्रश्न करते हैं कि आप जैनोंने समीचीन विकल्पज्ञानका विषय परमार्थमूत कहा है, अतः यह बतलाओ कि जगत्में यह विकल्पन्नाम फिर संख्य कौनला है ? यों पूंछनेपर तो हम जैन भी बौद्धोंस पूछेंगे कि तुम्हारे यहां वह कौनसा प्रत्यक्षण्ञान सख माना गया है जिसका कि विषय वस्तुमूत होय । इस प्रकार तुम्हारे उठाये हुये चौचके समान हमारा मी चौध तुम्हारे ऊपर समान रूपसे वैसाका वैसा ही लग बैठता है । उक्त चौचका यदि बौद्ध यह उत्तर कहें कि जिस प्रत्यक्षप्रमाणसे अर्थको जानता हुआ पुरुष अर्थिकपाको करनेमें पूछ चूक नहीं करता है, यह प्रत्यक्ष समीचीन बौला जाता है । अर्थात जैसे जलकी जानकर यदि कान, पान, अवगाहनकर किया ठीक ठीक उत्तरे ती वह जलका प्रत्यक्ष समीचीन समझा आया। और जलको जानकर बाह्र रेत हाथमें आवे या चांदीको जानकर सीपकी अर्थ कियायें होने लगे तो वह प्रत्यक्ष असत्य है। बीद्रोंके यों कहने पर तो हम जैन भी उनके चोधका उत्तर यों दे सकते हैं कि जिस विकल्प ज्ञानसे अर्थकी परिच्छित्ति कर प्रवृत्ति कर रहा ज्ञाता यदि अर्थ किया करनेमें विसंवाद (चीका) को प्राप्त नहीं होता है वह विकल्प सत्य है। रोष विसंवाद करानेवाले विकल्पज्ञान असत्य हैं, इस हमारी बातको भी क्यों नहीं मान लेते हो ! अर्थात्—अपने हाथके पामरेको बडा भारी श्रमोत्पादक कहना और दूसरेके हाथमें धनरहे पामरेको बीजनाक समान हलका समझना अनुचित है। अतः विकल्पज्ञान और प्रत्यक्षज्ञानको ऊपर किये गये आक्षेप और समाधान दोनों वादी, प्रतिवादियोंके यहां तुल्य हैं।

कि पुनर्विकत्यस्यार्थपरिच्छेदकत्वं ? मत्यक्षस्य कि ? अविचलितस्पष्टार्थावभासित्वमिति चेत्, कस्यचिद्विकत्यस्यापि तदेव, कस्यचित्तु वाधकविधुरास्पष्टार्थावभासित्वमपीति मन्यामहे । अस्पष्टार्थ एव न भवतीति चेत् कृतस्तस्यानर्थत्वं ? पुनरस्पष्टतयानवभासनादिति चेत्, स्पष्टोप्ये-वमनर्थः स्यात् पुनः स्पष्टतयानवभासनात् । यथैव हि दूरात्पादपादिसामान्यमस्पष्टतया मतिभातं पुनर्निकटदेशवर्तितायां तदेवास्पष्टं न मतिभाति तदिशेषस्य तदा मतिभासनात् । तथैव हि सिक्ष-हितस्य पादपादिविश्विष्टं रूपं स्पष्टतया मतिभातं पुनर्द्रतरदेश्ववर्तितायां न तदेव स्पष्टं मतिभासते ।

बौद्ध पूंछते हैं कि आप जैन यह बताओ कि तुम्हारे यहां माने गये प्रमाण आत्मक विकल्प-ज्ञानका अर्थ परिच्छेदकपना क्या है ? इस प्रकार बीद्रोंके आक्षेप करनेपर हम जैन भी बीद्रोंसे पृंछते हैं कि तुम्हारे यहां भी प्रमाण माने गये प्रत्यक्षज्ञानकी अर्थ परिच्छेदकता भळा फिर क्या मानी गयी है ! इसका उत्तर यदि बौद्ध यों कहें कि चलायमान न होकर अर्थका स्पष्टरूपमे प्रकाशकपना ही प्रत्यक्षज्ञानकी अर्थपरिच्छेदकता है, यों कहनेपर तो हम जैन भी वही उत्तर कहेंगे कि किसी किसी साकार प्रत्यक्ष आत्मक विकल्पका भी वह चलनरहित स्पष्ट अर्थका प्रकाशकपना ही अर्थपरिच्छेद-कता मान की जाओ । हां, किसी किसी अनुमान, तर्कज्ञान, आगम, रूप विकल्प ज्ञानोंको तो बाधा रहित होकर अस्पष्ट अर्थका प्रकाशकपना भी उनकी अर्थपरिन्छिति मानी गयी है। स्पष्ट, अस्पष्ट, दोनें प्रकारके विकल्प ज्ञानोंको निर्वाध होकर अर्थप्रकाशकपन है । ऐसा हम जैन स्वीकार कर मान रहे हैं. यदि अकेल प्रत्यक्ष द्वारा ही वस्तुभूत स्पष्ट अर्थका विषय होना माननेवाले बौद्ध यों कहें कि जगतुमें अस्पष्ट अर्थ तों कोई ही नहीं है। जगत्में जो कुछ है वह स्पष्ट हो रहा प्रत्यक्षज्ञानसे ही विषय कर लिया जाता है। अस्पष्ट सामान्यको जाननेवाले अनुमानका या आगम आदि ज्ञानोंका विषय वस्तुभूत ही नहीं है। अपरमार्थ **हैं. को बौदाने कहनेपर जैन कहते हैं** कि तुमने उस अस्पष्टका वास्तविक अर्थपना कैसे नहीं समझा **है : अर्थात्—अस्पष्ट पदार्थ परमार्थभूत न होकर** अनर्थ है यह तुमने कैसे जाना : बताओ : इसके उदारों किर भी तम यो कही कि निज स्वरूप माने गये अस्पष्टपने करके उसका प्रतिभास ही नहीं होता है। अतः वह अस्पष्ट अर्थ अवास्तविक है। जैसे कि बन्ध्यापुत्रका बन्ध्या है पुत्रपने करके

प्रतिभासना नहीं होनेसे वह अनर्थ समझा जाता है। अर्थको तो स्पष्ट रूपसे प्रकाशना चाहिये था। बौद्धोंके यों कहनेपर तो हम ( जैन ) भी कटाक्ष करते हैं कि इस प्रकार तो तुम्हारा माना हुआ स्पष्ट अर्थ भी अनर्थ होजाओ । क्योंकि उसका भी फिर दूर हो जानेपर स्पष्टरूपसे प्रतिभास नहीं होता है। देखो, जिस प्रकार आप बौद्ध अस्परको अनर्थपना सिद्ध करनेके छिए यो कुतर्क देवेंगे कि जिस ही प्रकार दूरसे देखनेपर वृक्ष, प्राम, आदिक समान्य धर्म अस्पष्टपने करके जाने जा खुके हैं. किन्त फिर चलते चलते निकट देशमें वर्त्त जाना होनेपर वही सामान्य अस्पष्ट नहीं दीखता है। क्योंकि निकट चले जानेपर तो उस समय उन बृक्ष, ग्राम, आदिके विशेष धर्मीका स्पष्ट प्रातिभास होने छग जाता है। अतः अस्पष्ट अर्थ कोई वास्तविक नहीं है। यदि अस्पष्ट अर्थ कोई वास्तविक होता तो समीप जानेपर विशेषोंके समान और भी बढिया ढंगसे अस्पष्ट दीखने छग जाता । किन्त इसके विपरीत निकट देश हो जानेपर उस अत्पष्ट अर्थका खोज ही मिट जाता है । अतः अस्पष्ट अर्थ कोई वास्तविक नहीं है। आचार्य ही कह रहे हैं कि जैसे बौद्र यह कटाक्ष करते हैं, उस ही प्रकार हम जैन भी कह देंगे कि देखिये निकटवर्त्ती हो रहे पुरुषको चृक्ष, हवेछी, सुवर्ण, आदिका विशेपोंसे घिरा हुआ स्वरूप तो स्पष्टपने करके प्रतिभास चुका है। पुनः ज्ञाता या ज्ञेयके अधिक दूर देशमें वर्त्त जानेपर फिर वहीं स्पष्टरूप नहीं प्रतिभासता है। एतावता स्पष्ट अर्थ भी अनर्थ बन बैठेगा । कारण वहीं है कि एपष्ट अर्थ यदि वास्तविक होता तो दूर देशवर्ती हो जानेपर भी रपष्ट ही दीखता रहता, जैसे कि चन्द्रमा चन्द्रस्वरूप करके ही दीखता रहता है। देशकी परावृत्ति हो जानेसे अर्थ अपने स्वरूपको नहीं परावृत कर सकता (बदल सकता ) है। मूंसल यदि स्वर्गमें चला जाय तो वहां भी कूटेगा ही, घण्टा, घडियालों, पर स्वर्गमें भी मौंगरोंकी चोटें पडती हैं। बात यह है कि घोडा दूरसे या पाससे देखनेपर हाथी या ऊंट नहीं हो जाता है। तभी तो जैनोंने स्पष्टता या अस्पष्टताको अर्थके धर्म नहीं मानकर ज्ञानका धर्म इष्ट किया है।

यदि पुनः सिम्निहितद्वानग्राद्यमेव तद्व्यं विशिष्टिमिति मितः तदा दिविष्टादिद्वानग्राद्यमेव तद्व्यं सामान्यमिति किं न मतं । यथा विशिष्टं पादपादिरूपं स्वामर्थिकियां निवर्तयित तथा पादपादिसामान्यरूपमि । प्रतिपचुः परितोषकरणं हि यद्यर्थिकया तदा तत्सामान्यस्यापि सास्त्येव कस्यिचत्तावता परितोषात् । अथ स्विषयद्वानजनकत्वं तद्पि सामान्यस्यास्ति ।

यदि स्पष्टको ही वास्तविक अर्थ कहनेवाले बौद्ध फिर यों कहें कि अधिक निकट अवस्थामें हुये ज्ञानके द्वारा प्रहण करने योग्य वह स्पष्ट रूप ही तो विशेषाकान्त हो रहा यथार्थ है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंकी बुद्धि होगी तब तो जैनोंका मी यह मत क्यों नहीं मान लिया जाय कि दूरवर्ती दशा या विशेषके अप्रत्यक्षकी अवस्था अथवा असाधारण धर्मोंका अदर्शन आदि अवस्थाओं हुये ज्ञान द्वारा प्रहण किया जा रहा ही वह अस्पष्टरूप सामान्य पदार्थ वस्तुमृत है। जिस प्रकार कि तुम बौद्धोंके यहां विशेषाकान्त हो रहे वृक्ष, जल, आदिके विशेषरूप अपनी अपनी

बीग्य अर्थिकियाओंको सम्पादन कराते हैं, उस ही प्रकार हमारे यहां वृक्ष, प्राम, आदि सामान्यरूप भी पदार्थ अपनी योग्य अर्थिकियाको बनाते रहते हैं। अर्थात्—सभी स्थलोंपर बढिया विद्वान् नहीं पाये जाते हैं। किन्तु अनेक धनपति या मण्डलियां छोटे छोटे पण्डितोंसे ही अपने अपने रिक्त स्थानकी पूर्ति कर छेते हैं। सूक्ष्म गवेषणं करनेपर यदि यों कहो कि विशेष विद्वान् द्वारा होनेवाछे कार्यको सामान्य बिद्धान नहीं कर सकता है तो हमें भी साथमें कहना पडता है कि " पीर बक्ची भिक्ती खर '' की नीति अनुसार सामान्य विद्वान्के द्वारा सम्हाल लिये गये कार्योको विशेष विद्वान् भी नहीं सम्हाल सकता है। नौकरानीके कार्यको रानी नहीं कर सकती है। यदि बौद्ध यों कहें कि जाता पुरुषंको परितोष करानेवाला पदार्थ तो स्पष्टरूप विशेष ही है। सामान्य गाय, घोडे. दूध देनेमें या असवारी करनेमें उपयोगी नहीं हैं। अतः अच्छा संतोप करा देना ही वस्तुभूत पदार्थकी अर्थिकिया है जो कि स्पष्ट विशेषसे ही साध्य है, तब तो हम जैन कहेंगे कि वह प्रति-पत्ताको पूर्ण सन्तोषित कर देना रूप अर्थिकया तो अस्पष्ट हो रहे सामान्य अर्थिकी भी विद्यमान है। मावार्थ-किसी किसी अल्पसन्तोषीको उतने सामान्यमात्रसे ही परितोष होना देखा जाता है। जो अल्प-आरम्भ परिप्रहको धारते हैं वे उदर पार्तिके लिये रूखासूखा सामान्य भोजन पाकर या मोटा, थोथा, कैसा भी वस्त्र पाकर भरण, आच्छादन, कर प्रसन्त बने रहते हैं। कैसा भी काळा, गोरा, मोटा, पतला, मूर्ज, पण्डित, लडका हो माताको वही सामान्य पुत्र प्रसन्तताका हेतु है। गृहकी या अजीवि-काकी क्रेश करनेवाली पराधीनताको भुगत रहे पुरुषके लिये जो कुछ भी छोटासा अपना गृह स्वतंत्रवृत्तिका साधन प्राप्त हो जातः है वही परितोष उत्पादक है। बात यह है कि अधिक परिचय हो जाने से विशेष पदार्थ ही सामान्य हो जाता है । दुर्लभ अवस्थाओं में सामान्य पदार्थ ही विशेष बन जाता है। रूपको निरखनेवाली कामुक पुरुषोंकी मण्डलीमें अन्य गुण, अवगुणोंकी अपेक्षा नहीं कर जिस सौन्दर्यपर विशेष दृष्टि रखी जाती है, सद्गृहस्थके यहां उसी सौन्दर्य या असुन्दरतापर विशेष छक्ष्य रखते हुये उस व्यक्तिके गुण अवगुणों, की ओर विशेष छक्ष्य रखा जाता है। विद्वानोंके लिये जो सामान्य बातें हैं वही स्थूल बुद्धित्राले समाजके लिये विशेष हो जाती हैं। कदाचित् बहुत से विशेष पदार्थीका मिल जाना उल्टा टंटा, बखेडा, खडा कर देता है। कहीं कहीं तो विशेषकी अपेक्षा सामान्यसे अधिक सन्तोष होता है। जो बृद्ध पुरुप घोडेपर चढना नहीं जानता है उसके लिये साधारण टहू, सन्तोषकारक है। नटखटा, बढिया, घोडा तो उस बृद्धको हिला देगा । दुकानदारको सीधासाधा साधारण प्राहक लाभ देकर जैसा सन्तोष उत्पन्न कर देता है वैसा चंचल ( चलता पुरजा ) प्राहक लाभदायक नहीं है । " घर घर चूल मटियारी है " यह परि-भाषा सामान्यवादको पुष्ट कर रही है। तभी तो जैनोंने वास्तविक अर्थको सामान्य, विशेष, आत्मक स्वीकार किया है। अब बीद यदि यों कहैं कि अपने विषयमें ज्ञानको उत्पन्न करा देना ही वस्तुभूत अर्थ की अर्थिकिया है, आचार्य कहते हैं कि अपने निषयमें शानको पैदा करा देना वह अर्थिकया तो

विशेष पदार्थके समान सामान्य पदार्थकी भी विद्यमान है। जो भोला मनुष्य परीक्षक नहीं है वह सभी प्रकारके घोडोंको सामान्य रूपसे घोडा समझ रहा है। आम्रफल, चावल, मनुष्य, रत्न, पर्या, समको एकसा समझ बैठता है, अथवा सभी पदार्थीके ज्ञानमें विशेषके साथ उसी समय सामान्यका ज्ञान हो रहा देखा जाता है, विशेष घोडेके गुणोंको समझ रहा पुरुष भी उस घोडेको जीव या पशु तो समझ ही रहा है। घोडाको हाथी या जड समझ रहा पुरुष परीक्षक तो क्या अनुत्मत्त कहलानेके योग्य भी नहीं है। यथार्थ बात यह है कि वस्तुके सामान्य और विशेष दोनों अंश वास्तिक होते हुँ। अपना ज्ञान कराते रहते हैं।

सजातीयार्थकरणमर्थिकियेति चेत्, सापि सदशपरिणामस्यास्ति विसदशपरिणामस्येव सद्दश्वेतरपरिणामात्मकाद्धि बालपादपात् सदशेतरपरिणामात्मक एव तरुणपादपः पादुर्भावसुप-स्रुभ्यते । तत्र यथा विसदशपरिणामाद्विशेषाद्वा विसदशपरिणामस्तथा सदशपरिणामात्सामा-न्यात् सदशपरिणाम इति सजातीयार्थकरणमर्थिकिया सिद्धा सामान्यस्य । एतेन विजातीयार्थ-करणमर्थिकिया सामान्यस्य प्रतिपादिता पादपविशेषस्येव पादपसामान्यस्यापि तद्व्यापारात् ।

बीद कहते हैं कि उत्तरोत्तर क्षणोंमें अपने समान जातिवाले अर्थको कर देना ही वस्तुभूत अर्थकी अर्थिकिया है। घट, पट, गाय, घोडा, आदि अपनी जातिवाले उत्तर क्षणोंको उत्पन्न करते रहते हैं. तभी तो उत्तरोत्तर क्षण दूसरे विजातीय पदार्थीसे विलक्षण परिणामवाले बने रहते हैं। यों बौदोंक कहनेपर हम जैन कहते हैं कि वह सजातीय अर्थ का सम्पादन करनारूप अर्थकिया तो सदश परि-णाम रूप सामान्य अर्थक भी वर्त्त रही है, जैसे कि विसदश परिणामरूप विशेषके वह अर्थिकया हो रही है। विचार कर देखा जाय तो विसदश परिणामसे सजातीय अर्थका करना रूप अर्थ किया वैसी नहीं होती है जैसी कि सहशपरिणामसे होती है। अर्थित्रयामें सजातीयता लाना सहश परिणामक<sup>ा</sup> ही कार्य है । विशेष तो विजातीय या विलक्षण अर्थीको करनेका बीज है । सजातीय अर्थ कहते हुये विशेषेकांतवादी बौद्धोंको इस अवसरपर बहुत झेंपना पड़ा है। गम्भीर विद्वत्ताको धारनेवाले आचार्य कहते हैं कि सदश और उससे न्यारे विसदश परिणामध्यरूप हो रहे ही बाल वृक्षसे सदश, विसदश परिणाम स्वरूप हो रहे तरुणवृक्षकी उत्पत्ति हो रही देखी जा रही है। आमका पीदा बढते बढते ऊंट नहीं हो जाता है, बृक्षत्व जातिका सदृश परिणाम उत्तरोत्तर पर्यायोंमें सदा उपजता रहेगा, वह **इक्षमें** जिस प्रकार विसदृश परिणामरूप विशेषसे भिन्न भिन्न जातिका विलक्षण परिणाम होता रहता है, उसी प्रकार पूर्ववर्त्ती सदशपरिणामरूप सामान्यसे उत्तर क्षणमें सदशपरिणाम उपजता रहता है । व्यक्तिसुद्रासे विशेष परिणामके समान सामान्य परिणाम भी पूर्व पूर्वपर्यायोंको नाशकर उत्तरोत्तर पर्यायोंको धारता रहता है इस कारण सजातीय अर्थको करना यह अर्थिकिया तो सामान्यके भी हो रही सिद्ध हो चुकी है। इस उक्त कथनकरके कुछ कुछ विजातीय अर्थको कर देना या सर्वधा विजातीय अर्थका सम्पादन सहीं होने देना यह अर्थिकिया भी सामान्यके हो रही कही जा चुकी है। जैसे कि बुक्किट्रैल कुछ

विजातीय अर्थको करते हुये सर्वथा विजातीय अर्थकी उत्पत्तिको रोक रहे हैं, उसी प्रकार हुआ सामान्यका भी उस कियाको करनेने व्यापार हो रहा है। अर्थात् गोसामान्य भी गायको मरण- पर्यंत गायपना रक्षित रखता हुआ बोडा, हाथी, आदि बननेसे रोकता, रहता है। सामान्यमनुष्य ही कालान्तरमें अन्यास करते हुये नामघारी हो जाते हैं। वस्तुके आत्मभूत हो रहे सामान्यको विस्तृश अर्थके सम्पादनका अनुपयोगी मत समझो। उपरसे साधारण या उदासीन दीख रहे कारण, सममप्त बढे बढे कामोंको साधते हैं।

एकत्र गादपञ्चक्तौ सहसपरिणामः कथं तस्य द्विष्ठत्वदिति चेत्, किं पुनर्विसहशपरि-णागी न द्विष्ठः । द्वितीयाचपैक्षमात्रादेकत्रैच विसहशप्रिरणामः इति चेत्, किं पुनर्वः सहसपरि-णागीपि । सस्येचमापेक्षिकत्वादवस्तुत्विमिति चेत् न, विसहशपरिणामस्याप्यवस्तुत्वत्रसंगात् ।

आप जैनियोंने कहा था कि ससान, असमान, परिणामस्वरूप बालदृक्षसे सदश और विसदश परिणाम आत्मक ही तरुणवृक्ष उपजता है। इसपर हम बौद्रोंका प्रश्न है कि एक ही वृक्षव्यक्तिमें भला सदश परिणाम कैसे ठहर सकता है ! वह सादश्य तो दो आदिमें पाया जाता है 📑 अन्यथा अनन्वय अलंकार या दोष लग बैठेगा, जो कि कवियोंके अतिरिक्त दार्शनिकोंके यहां अभीष्ट नहीं किया गया है। तद्भिनमें तद्गत अनेक सदश धर्मीके पाये जानेसे सादश्य आरोपा जाता है। एक हा व्यक्तिमें रहनेवाले सादश्यका तो एक किनारेवाली नदीके समान असम्भव है, इस प्रकार बौद्धोंके कहते-पर इस जैन मी बौद्धों से पूंछते हैं कि तुम्हारा माना गया विसदश, परिणाम क्या दों में ठहरनेवाळा नहीं है ? फिर वह विशेष मळा एक व्यक्तिमें कैसे ठहर गया ? बताओं । साहस्य जैसे दो आदिमें रहता है उसी प्रकार वैसाहस्य भी दो आदिमें ही पाया जाता है। अकेलेमें विसमानता नहीं है। गाय से विलक्षण भैसा है। एक परमाणु दूसरे परमाणुसे विलक्षण है। मनुष्य मनुष्यमें या बुद्धि बुद्धिमें भेद पड़ा हुआ है। " मुण्डे मुण्डे मतिर्मिना " । बात यह है कि पदार्थ या पदार्थीमें ठहरनेकी अपेक्षा सहशापरिणाम और विसहश परिणाम समान है। यदि बीद यो कहें कि दितीय, तृतीय, आदिकी तो केवल अपेक्षा ही है क्स्तुतः विसहश परिणाम एक ही व्यक्तिमें ठहर जाता है, जैसे कि थैरेषिकों के यहां दूसरे तीसरे पदार्थकी केवल अपेक्षा कर दित्व, त्रित्व, आदि संख्यायें समनायसम्बन्धसे एक ही व्यक्तिमें ठहरतीं मानी गयी हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि यों तो फिर सदशपरिणाम भी क्यों नहीं दितीय आदिकी अपेक्षा रखने मात्र से केवल एकमें ही ठहर रहा मान लिया जाय । यदि बौद्ध यों कहें कि इस प्रकार द्वितीय आदि व्यक्तियोंकी अपेक्षाको धारने-बाला होने से उस सदेश परिणामको अवस्तुपना हो जायगा । क्योंकि दूरवर्तीपन, निकटवर्तीपन, उरकीपार, परकीपार, आदिक पदार्थीके समानं आपेक्षिक: पदार्थ अवस्तु होते हैं । बस्तुमूत पदार्थीसें तो बरिवर्तन नहीं होता है। किन्तु अपेक्षासे होरहे उरलीपार परलीपार आदि धर्म तो इधर उधरके सनुष्योंकी अपेका कट करल जाते हैं। अतः आपेक्षिक धर्मोंको हम वस्तुभूत नहीं मानते हैं। आजार्य

कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो विसदश परिणामको भी अवस्तुपनेका प्रसंग होगा। वैसादश्य भी तो दूसरोंकी अपेक्षासे व्यवहत हो रहा आपेक्षिक है। पुद्रक के रूप, रस, या जीवके झान, सुखके तुल्य अपरिवर्त्तनीय नहीं है। दूसरी बात यह है कि यह व्याप्ति किसने बना दी है! कि जो आपेक्षिक है वह अवस्तु है। देखो, नील नीलतर, मधुर मधुरतर, उच्चाचार, नीचाचार, अल्यदु:ख महादु:ख, ये आपेक्षिक पदार्थ भी वस्तुभूत हैं। अतः हितीय आदिककी अपेक्षा रखते हुये भी दोनों सादश्य, वैसादश्य, परमार्थ है।

मत्यसंबुद्धौ मतिभासमानो विसद्यपरिणामो नापेक्षिक इति चेत्, सद्यपरिणामोपि तत्र मतिभासमानः परापेक्षिको माभूत् । सद्यपरिणामः मत्यक्षे मतिभातीति कृतो ज्यवस्था-प्यते इति चेत्, विसद्यपरिणामस्तत्र मतिभातीति कृतः १ मत्यक्षपृष्ठभाविनो विसद्यविक-स्पादिति चेत् तथाविधात्सद्यविकन्पात्साद्यगतिभासञ्यवस्थास्तु कथमन्यथा यत्रैव जनपेदेनां तत्रैवास्य ममाणतेति घटते ।

बौद कहते हैं कि प्रत्यक्षबुद्धिमें स्पष्ट प्रतिभास रहा विसहश परिणाम तो अन्योंकी अपेक्षास इका नहीं है। अविचारक प्रत्यक्ष द्वारा जान लिया गया जो पदार्थ होगा वह वस्तुभूत होगा। नीळनीळतर या मधुरमधुरतरका प्रकरण होनेपर प्रत्यक्षज्ञान उसको मीठा या अधिक नीळा जान रहा है इससे यह अधिक मीठा है, उससे यह न्यून मीठा है। यह पीछे होनेवाली कल्पनायें हैं, किन्तु यह इससे विसदृश है इस बातको प्रत्यक्षज्ञान निरपेक्ष होकर विशदक्रपसे जान रहा है। यों कहनेपर तो आचार्य महाराज कहते हैं कि उसी प्रकार उस प्रत्यक्ष बुद्धिमें स्पष्ट प्रतिभास रहा सदशपिरणाम भी परकी अपेक्षा रखनेवाला नहीं होवे । स्थापु और पुरुषमें रुहरनेवाली ऊर्ध्वता जैसे प्रत्यक्षसे ही दीख जाती है उसी प्रकार मनुष्यपन, पशुपन, द्रव्यपन, आदिके सदृश परिणाम भी वस्तुके दीख जानेपर ही प्रत्यक्ष द्वारा उसी समय जान छिये जाते हैं। वस्तुके किसी धर्ममें यदि अन्यकी भी अपेक्षा रही आवे तो भी उसका वस्तुभूतपना छींड लिया नहीं जाता है। अग्निकी अपेक्षासे हुआ घटका छाल रंग या पक्कापन उस घटकी वस्तुभूत सम्पत्ति है। परापेक्ष हो जानंसे क्या कोई मर जाता है, तिसपर भी सहश परिणाम परापेक्ष तो नहीं है अतः परमार्थभूत है । बीद्ध कहते हैं कि अभी जैनोंने यह कहा है कि प्रत्यक्षज्ञानमें सहशपरिणाम प्रतिभास जाता है, इस पूंछते हैं कि इस प्रकार किस प्रमाणसे **म्यवस्था कराई** जाती है ! अर्थात्—परमाथग्राही प्रत्यक्षमें सहदापरिणाम देखा जा चुका है यह कैसे निर्णीत किया जाय ? कलको कोई यों भी कह देगा कि घोडेके सिरपर सींग भी प्रत्यक्ष द्वारा दीख रहे हैं। बौद्धोंके यों कड्नेपर तो आचार्य सकटाक्ष प्रश्न करते हैं कि तुम बौद्धोंक कथन अनुसार उस व्रत्यक्ष ज्ञानमें विसदश परिणाम प्रतिभास रहा है यह कैसे जाना जाय ! बताओ । इसपर बौद्ध वदि यों उत्तर कहैं कि प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले और उतने ही प्रत्यक्षगृहीत अंशका निर्णय करनेवाले क्सरशमाही विकल्पज्ञानसे यह निर्णय कर छिया जाता है कि पूर्ववर्सी निर्विकल्पक

प्रस्पक्षने सहशपिरणामको अवस्य विषय किया है। तमी तो उसके पश्चाद्मावी विकल्पने विसहश परिणामका अध्यवसाय किया है। प्रामीण परिभाषा है कि "जों गेंडू खायगा वह गेंडू इंगेगा," " बोवे बीज बम्रके आम कहांसे होय ?" यों करनेपर तो जाचार्य भी कहते हैं कि तिस ही प्रकार अविचारक प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले विचारक सहशप्राही विकल्पनास्वरूप श्रुत-हानसे साहस्यके प्रतिभासकी व्यवस्था बन जाओ। अर्थात् मीठे, अधिक मीठेका विचार कर रहे पीछे होनेवाले श्रुतहानोंसे जैसे यह जान लिया जाता है कि मीठेपनको जाननेवाला पूर्वमें प्रत्यक्ष हान हो चुका है, उसी प्रकार सहश परिणामोंकी भी पीछे अनेक कल्पनायें उठती हैं। अतः उनके मूल कारण सहश परिणामको प्रत्यक्ष हानने अवस्य जान लिया है, यह प्रतीत हो जाता है। अन्यथा यानी प्रत्यक्ष हारा गृहीत नहीं किये गये विषयमें यदि कल्पनायें उठा लीं जावेंगी तो तुम बौद्धोंका यह सिद्धान्त बचन किस प्रकार घटित हो सकेगा कि निर्विकल्पक बुद्धि जिस ही प्रत्यक्ष गृहीत विषयमें इस सिवकल्पक बुद्धिको उत्पन्न करायेगी उस ही अंशमें इस निर्विकल्पक हानको प्रमाणपना व्यवस्थित होता है। भावार्थ इस तुन्हारे सिद्धान्त बचन से पुष्ट होता है कि प्रत्यक्ष हारा विसहश परिणामके समान सहश परिणाम भी गृहीत हो चुका है। तभी तो तदनुसार दोनोंको विषय कर रहे पिछे विकल्पहान उपजते हैं।

नन्ववमध्यक्षसंविदि मतिभासमानः सद्द्रपरिणामो विश्लेष एव स्यात् स्पष्टमतिभास-विषयस्य विश्लेषत्वादिति चेत् तिर्दे मत्यक्षे मतिभासमानो विश्लेषः सद्दश्लपरिणाम एव स्यात् स्पष्टा-वभासगोचरस्य सद्दश्लपरिणामत्वादित्यपि ब्रुषाणः कृतो निषिध्यते १ मतीतिविरोधादिति चेत्, तत एव सामान्यस्य विश्लेषतामापादयभिषिध्यतां ।

बौद्ध अपने पक्षका अवधारण करते हुये छुंझला कर कहते हैं कि इस प्रकार प्रत्यक्ष झानमें इतिभास रहा सहरापरिणाम तो विशेष हा बन बैठेगा। क्योंकि स्पष्ट हो रहे झानके विषयको विशेष-पना निर्णात हो रहा है। अर्थात्—प्रत्यक्षप्रमाणका विषय विशेष पदार्थ ही है। जो कुछ भी छुआ, चाटा, स्ंघा, देखा, सुना, जाता है या मन इन्द्रिय द्वारा संवेदा जाता है, वह विशेषरूप ही पदार्थ है। साहत्र्य या सामान्यको छुआ, स्ंघा, या देखा नहीं जा सकता है। अतः सहशपरिणाम भी विशेष पदार्थ बन बैठा। बौद्धोंके यों कहनेपर तब तो हम यों कहेंगे कि प्रत्यक्षमें प्रतिभास रहा विशेष तो सहशपरिणाम ही हो जावेगा। क्योंकि स्पष्ट प्रतिभासको विषय हो रहे पदार्थको सहशपरिणामपन। है। सहशपरिणामसे आकान्त हो रहे ही पदार्थका छुना, देखना, सुनना, होता है। सभी प्रकारोंसे दूसरोंके साहत्र्यको नहीं पकड रहे खरविषाणके समान पदार्थका अधाविध सर्वक्षको भी प्रत्यक्ष नहीं हो सका है। तिर्थक् सामान्य सभी पदार्थोंमें ओत पोत भरा हुआ है। सजातीयता वस्तुकी गांठकी सम्पत्ति है। इस प्रकार भी कह रहा स्पादादी भका किस सक्क इसे रीका जा सकता है वात यह है कि पदार्थीको सर्वधा अनित्य ही कहनेवाले बौद्धोंके प्रति हमारा नित्यत्वको सिद्ध करनेवाला अञ्चर्य

अस्त्र खड़ा है जब कि प्रत्यक्षमें सहरापरिणाम और विसहरा परिणाम दोनोंसे किर रही वस्तुका अप्यक्ष हो रहा है तो एक हो के प्रत्यक्ष होनेकी चाल दिखाना बौद्धोंका अपनी सदातन टेक्के अनुसार अनु-चित कार्य है। यदि बौद्ध यों कहें कि सहरा परिणामको ही विशेष कहना या सहरापरिणामका प्रत्यक्ष मानना ती प्रतीतियोंसे विरुद्ध पड़ता है। जिसमें प्रतीतियोंसे विरोध आवे ऐसा अस स्पाहादि-योंको नहीं उठाना चाहिये, हम स्याहादियोंको रोक देंगे। इस प्रकार कहनेपर तो आचार्य कहते है कि तिस ही कारणसे यानी प्रतीतियों करके विरोध हो जानेके कारण ही सामान्यको विशेषपनेका आपादन करा रहा बौद्ध भी निषध दिया जाय। प्रत्यक्षमें प्रतिभास जानेसे सामान्य भी विशेष पदार्य हो जायंगा ऐसा कहनेमें भी प्रतीतियोंसे विरोध आता है। क्योंजी, प्रत्यक्षमें प्रतिभास जानेसे हाथ क्या पाँव हो जायंगा ? अर्थात्—नहीं।

प्रत्यक्षे सद्दशपरिणामस्यामतीतेः सकलजनमनोधिष्ठानत्वात् भ्रांताध्यक्षे साद्दश्यमतीति-बीधकसद्भावादिति चेत्, किं तद्वाधकं । प्रतिविकल्पादिद्षणमिति चेन्न, तस्यानेकच्यक्तिच्यापि सामान्यविषयत्वात् । न हि वयं सद्दशपरिणाममनेकच्यक्तिच्यापिनं युगपदुपगच्छामोन्यत्रोप-चारात् । यतस्तस्य स्वच्यक्तिष्वेकदेशेन प्रती सावयवत्वं, स्वावयवेषु चेन्नदेशांतरेण प्रत्यस्वन्य-स्वानं वत्वय प्रत्यक्रपरिसमाप्त्या प्रती व्यक्त्यंतराणां विःसामान्यत्वमेनत्र व्यक्ती कात्स्च्यंन परिक्रमाम्नत्वात् सर्वगतत्वाच तस्य व्यक्त्यंतराले स्वप्रत्ययकर्तृत्वापत्तिरन्यथा कर्तृत्वाकर्तृत्वयो-धर्मयोः परस्यरविरुद्धयोरध्यासादेकत्रावस्थानं स्वच्यक्तिदेशोभिव्यक्ती तदंतराले चानभिव्यक्ती तस्याभिव्यक्तेतराकारमसक्तिः सर्वया नित्यस्यार्थकियाविरोधादयश्च दोषुः प्रसुद्धिन् ।

प्रत्यक्ष ज्ञानमें सहरा परिणामकी प्रतीति नहीं होती रहनेसे पुनरिप प्रत्यक्षमें सहरापनकी प्रतीति होना मानना आन्तियुक्त है। क्योंकि बाधक प्रमाणोंका सद्भाव है। जिन विपरीत ज्ञानोंके बाधक प्रमाण विद्यमान हैं, वे बाध्य होते हुए आन्त ज्ञान हैं। मले ही संपूर्ण जनोंके मानसिक विचारोंमें अधिष्ठित बने रहनेसे सहरा परिणामोंकी कल्पना हो जाय। किन्तु प्रत्यक्षप्रमाणमें साहस्य नहीं दीखता है। जब कि वस्तु स्वकीय डीलसे असाधारण या विसहरा है तो विशेष बस्तुमें साहस्यका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है शिपमें चांदीको जाननेवाले हुये प्रत्यक्षके समान विसहरोंको सहरा जानने वाला प्रत्यक्ष भी अधान्त नहीं है। यों बौद्धोंके कहनेपर आचार्य पूछते हैं कि भाइयो। वह कौनसा बाधक प्रमाण उस सहरापरिणामकी प्रतीतिका बाधक हो रहा है शबताओ तो सही। यदि आप बौद्ध यों कहें कि सहरा पदार्थोंमें भला साहस्य कैसे वर्तेगा शब्तिके विकल्प या सर्वगत, असर्कातपनेके पक्ष उठानेपर अधवा विरुद्ध धर्मोका आरोप हो जानेसे विरोध हो जाना आदिक अमेक दूषण आजाना ही साहस्य प्रतीतिका बाधक है। आप जैनजन विचारिये तो सही कि अनेक घट, पट, घोटे, गाव, आदिक विशोषोंमें व्याप रहा वह सहशपरिणाम भला अपनी आश्रय हो रही व्यक्तियोंमें यदि एक

Î

देशसे बर्तेगा तब तो सावयव हो जायगा जैसे कि अवस्थित हो या टोडोंपर छप्पर छादनेके छिये रखा हुआ बांस एक एक देशसे ठहरता सन्ता सावयह है। सहश परिणाममें गांठके पहिलेसे यदि निज अवयव होंगें तभी तो वह अपने एक एक आमारे अनेकोंमें वर्त जायगा। तथा उन पहिलेको निज अवयवीमें भी वह सहश परिणाम दसरे अपने एक एक देशींसे वर्तेगा और पनः अपने उन भागोंमें तीसरे निज भागोंसे ठहरेगा । कहीं भी दूरतक आकांक्षाकी शान्ति न होनेसे अनवस्था हो जायगी तथा अनेकोंमें रहनेवाले सादस्यको बदि प्रत्येकमें ही परिपूर्ण रूपसे ठहरा दिया जायगा तो अन्य व्यक्तियोंको सादश्यसे रहितपनेका प्रस्ना होगा। क्योंकि एक ही व्यक्तिमें पूर्ण रूपसे साहत्य भर चुका है फिर भी प्रत्येक सहश पद्वार्थमें यदि परिपूर्ण रूपसे साहत्यकी बृत्ति मानी जायगी तो सादश्य अनेक हो जायेंगे तथा यदि सादश्यको सर्वगत माना जायगा तो न्यारे न्यारे स्थानोंपर धरी ह्रयीं सदश व्यक्तियोंके मध्यवर्ती अन्तरालमें ठहर रहे सादश्यको अपना ज्ञान करा देनेका प्रसंग आवेगा जैसे कि यहां से वहांतक दो मनुष्यों के कन्वें।पर रखी ह्रयी पालकी मध्यमें भी अपना न्नान कराती है। अन्यथा व्यक्तियोंमें ज्ञान कराना और अन्तराख्में ज्ञान न कराना थे दो विरुद्ध धर्म एक साहरपमें मानने पड़ेंगे। एकमें तो दो बिरुद्ध धर्म ठहरते नहीं हैं। साहरपको नित्य माननेपर भी व्यक्ति देशमें अभिव्यक्ती और रीते स्थान अन्तरालमें अनभिव्यक्ति इस ढंगसे विरुद्ध धर्मीका समावेश हो जानेसे फिर भी विरोध दोष आता है। कहे जाचुके अनवस्था या विरोध दोषोंके समान संकर, व्यतिकर, आदिक दोष भी जैनोंके सादस्यमें लग बैठेंगे, अब आचार्य कहते हैं कि बौद्धांको इस प्रकार हमारे माने गये साइस्यमें दूषण नहीं उठाने चाहिये क्योंकि '' नित्यमेकमनेकानगतं सामान्यं " वैशेषिकों द्वारा माने गये एक होकर अनेक, व्यक्तियोंमें व्यापनेवाले सामान्य (जाति) में वे दूषण आते हैं ( विषयत्वं सप्तम्यर्थः ) हमारे सादृश्यमें नहीं | हम जैन उस सदृशपरिणामको एक ही कालमें अनेक व्यक्तियोंमें व्यापनेवाला नहीं स्त्रीकार करते हैं, उपचारके अतिरिक्त अर्थात्— वैशेषिक जैसे त्रित्व चतुष्टव आदिक संख्याकी समयवायसम्बन्धसे एक ही व्यक्तिमें वृत्ति मानते हैं। पर्याप्त सम्बंधकी न्यारी बात है, उसी प्रकार हम जैन भी सहशपरिणामको एक कालमें एक ही व्यक्तिमें ठहरता हुआ मानते हू । वस्तुभूत धर्म एक वस्तुमें ही ठहरते हैं । अनन्ताशनन्त वस्तुओंमेंसे किन्हीं भी दो तीन आदि वस्तुओंका द्रन्यरूपसे साझा नहीं है। कल्पना या न्यवहारसे मले ही सादशक दो. तीन, चार आदि पदार्थीका धर्म कह दिया जाय, कोई तुमको रोकता नहीं। अपने अपने नियत हो रहे अनन्तानन्त अंशोंमें तदात्मक होकर व्याप रही वस्तु कर्याचित् विशेष रूप ही है । कोई भी वस्तु किसीके भी रोम मात्रको स्वायत्त नहीं कर सकती है । नैयायिकोंके अभिमत सामान्यमें उक्त दोष अवस्य आते हैं. अत्रयवेंमें अवयवीकी वृत्ति या व्यक्तियोंमें जातिकी वृत्तिके विकल्प उठा कर नैयायकोंके सिद्धान्तका निराकरण किया जा सकता है। हम जैनोंके यहां माने गये अवयंत्री या साहत्य परिणामस्त्ररूप सामान्यमें ये दोष नहीं आते हैं। सर्वधा

एक पदार्थका एक ही समय अनेक व्यक्तियोग ज्यापक होकर वर्तना हम नहीं मानते हैं, जिससे कि उस सहस्यका अपने आधार व्यक्तिमें बिक्देश करके वर्तना माननेपर साक्यवपना आता हो जाय और फिर उन अपने मित्र पूर्व अवय्यामि भी। दूसरे अपने एक देशोंसे वृत्ति माननेकी आकांका बढ़ती रहनेसे अनवस्था दोष हो जाता तथा जिस कारणसे कि प्रत्येक आश्रयमें सहशपरिणामरूप सामान्यकी परिपूर्णरूपसे बृति हो चुकनेपर अन्य व्यक्तियोंको सामान्यरहितपनेका प्रसंग होता। क्योंकि एक ही व्यक्तिमें पूर्ण स्वकीय अंशों केएके वह सामान्य परिसमास होकर वर्त चुका है। उसका बाखाप्र भी अवशेष नहीं बचा है। तथा बैहोषिकोंके विचार अनुसार उस सादश्यरूप सामान्यको सर्वगतपना हो जानेसे आश्रय व्यक्तियोंसे रित बीचके अन्तरालमें सामान्यको अपना ज्ञान करा देश-पनकी आपत्ति आवेगी. अन्यथा यानी अन्तरालमें वह सामान्य ठहर रहा भी यदि अपना झान नहीं करा धाता है तब तो व्यक्ति देशोंमें ज्ञानका कर्तापन और अन्तरालमें ज्ञानका अकर्तापन इन परस्पर विरुद्ध दो धर्मीका युगपत आक्रमण हो जानेसे एक पदार्थमें अवस्थान मानना पडेगा, जो कि विरोध दोषकी जड है। सर्वथा नित्य हो रहे सामान्यका अपनी आश्रय व्यक्तियोंके देशमें प्रकट हीना माना जाय और उन व्यक्तियोंके दस हाथ, सी हाथ, दश कोस, पांचसी कोस मध्यवसी अन्तराख देशमें नित्य साद्दश्यको प्रकट हुआ न माना जाय तब तो उस सामान्यके अभिन्यक्त और उससे न्यारे अनिभन्यक्त इन दो विरुद्ध आकारोंका प्रसंग आता है। सर्वथा कूटस्थ नित्य पदार्थके अर्थकिया होनेका निरोध है। वैयधिकरण्य, संशय, आदिक दीषोंका प्रसंग भी जैनोंके ऊपर तभी छागू होता, अन्यथा नहीं । बात यह है कि सर्वथा भेषवादियोंके जपर लागू होनेवाले दोष कथंचित् पक्षका आदर करनेवाले हम स्यादादियोंके उत्पर नहीं आते हैं। ऐसी दशामें प्रत्यक्षजानके विषय हो रहे साहस्यरूप सामान्यको जाननेवाठी प्रतीतिका कोई बाधकप्रमाण नहीं है, जिससे कि वह अश्वान्त सिद्ध न होय । अतः सिद्ध हुआ कि विशेषके समान एक एक व्यक्तिमें तदात्मक हो रहा सहश परिणाम स्पष्ट जाना जा रहा है।

नतु च सद्दशपरिणामोपि प्रतिन्यक्तिनियते स्याद्वादिनाभ्युपगम्यमाने तद्दस्वापिक्रावप्रयक्ती तस्यां च सत्यां स्वसमानपरिणामेष्वप्येकैकव्यक्तिनिष्ठेषु समानपत्ययोत्पक्तेः सद्दशपरिणामांतरानुषंगादनवस्था तेषु समानपरिणामांतरमंतरेण समानप्रत्ययोत्पक्ती संद्वादिव्यक्तिष्वपि
समानप्रत्ययोत्पक्तिस्तमंतरेण स्याक्ततः सद्दशपरिणामकल्पनमयुक्तमेवेति कश्चित् । तस्यापि
विसद्धपरिणामकल्पनानुपपित्रितदोषाञ्चपंगात् । वैसाद्दश्यक्ष्यि दि प्रतिन्यक्तिमयतेषु बदुषु
विसद्धपरिणामकल्पनानुसद्दशांतरकल्पनायामनवस्थानमद्दश्यभावि तेषु वैसाद्दश्यक्तिमत्तिक्ति।
विसद्धपरिणामे कल्पनोपपद्यते ।

क्रमः पूर्वपश्चीका स्वासिद्धान्त अवधारण है कि जब बैनोंने सहश प्रसिणामको प्रत्येक क नियत मान लिया है तो स्यादादी विद्वान करके सहर्ष स्वीकार किये गये प्रत्येक न्यक्तियोंमें क्रिया सहें सहज्ञ परिकाममें भी पुनः उस सहय परिणामधे सहितपर्वेकी प्राप्ति होना आवस्यक पड अर्थात - वैसे व्यक्तियोंमें सदशपरिणाम ठहर रहा माना गया है, यों सहश परिणाम भी । व्यक्तिरूप जब हो गया तो सदृश परिणामरूप व्यक्तिमें भी पुनः सादृश्य धरना चाहिये और होनेपर वे दवारा ठहरे हुये सदश परिणाम भी घट, पटके, समान व्यक्तिस्वरूप क्न बैठेंगे। पनः तीसरे सदशं परिणामीसे सिंदतपना धरना आवश्यक हो जायगा । ऐसी दशामें एक एक व्य ठहर रहे अपने अपने उन समान परिणामोंमें भी यह साहत्य इस साहत्यके समान है, इस व साहस्य ज्ञान उपजानेके कारण पुनरपि अन्य अन्य सहरा परिणामोंके सद्भावका प्रसंग आनेसे अन दोष होगा । यदि जैन जन उन दुबाराके सदश परिणामोंमें तीसरे समान परिणामोंके विना भी इसके समान है इस प्रकार समान ज्ञानकी उत्पत्ति होना मान छेंगे, तब खण्ड, मुण्ड, शावछेय, लेप, आदिक गौकी विशेष व्यक्तियोंमें भी उस साहत्य परिणामके बिना ही " समान " समान है, " इस आकारवाले ज्ञानकी उत्पत्ति हो जायगी। तैसा हो जानेसे ही सदश परिणामकी कल्पना करना अनुचित ही पडता है, इस प्रकार बौद्धका पक्ष कीई एकदेशी कह रहा है। अब आचार्य कहते हैं कि उस किसी बौद्धके यहां वैसा सा परिणामकी कल्पना करना भी असिद्ध हो जायगा । क्योंकि उनको भी इसी दोषका प्रसंग आता कारण कि प्रत्येक व्यक्तियों में नियत हो रहे बहुत वैसाइस्यों में भी " यह इससे विरुक्षण '' यह इससे विसदश है '' इत्याकारक विसदशज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जानेसे अन्य दूसरे वैसादः कल्पना करते हुये अनवस्था दोष अवस्य होगा । भात्रार्थ —बौद्धोंने व्यक्तियोंमें जैसे वैसाहस्य करानेका उपयोगी वैसादस्य धर्म मान छिया है उस व्यक्तिरूप वैसादस्यमें भी पुनः विसदसताका करानेके लिये व्यक्तिरूप वैसादस्योंकी उत्तरोत्तर कल्पना वढती रहनेसे कहीं भी अवस्थान नहं संकेगा । यदि अनवस्था दोषको हटानेके लिये आप बौद्ध उन बहुतसी उत्तरोत्तर भावी न्यारी वैसादस्य न्यक्तियोंमें अन्य वैसादस्योंके विना ही विलक्षणपने या विसदशपनेका ज्ञान उपजालोगे फिर मूलसे ही सभी व्यक्तियोंमें वैसादस्यकी कल्पना करना व्यर्थ है। क्योंकि जब वैसादस्योंमें उन वैसादर्श्यों के विना भी विसदश ज्ञान सिद्ध हो रहा है तो मुल्में वैसादरयका बोझ क्यों बदा जाता है। इस प्रक्रम सरश परिणानके समान निसहरा परिणानमें भी कैसे विसहरापनकी कल्पन संभाग ? विचारी ती सही । बात यह है कि सादस्य और वैसादस्यके साथ वस्तुका कथांचित अमेदा होनेके पुनः सारक्य और वैसारक्योंकी धारा नहीं बढानी पडती है। हां, विशेषेकान्तवादी ह अर्थ या भेदकारी वैशेषिकके करामें। अनवस्था होगी । जैनसिद्धान्त अनुसार सहश परिणाम मितारा अस्मिमामास्त्रप्र सामान्य, विदेश आत्मक वस्तका आवालकृद्ध विदित प्रत्यक्ष हो रहा है

1

सहरापीरेणामका अपळाप किया जायगा तो निसहरा परिणाम भी जगत्से उठ जायगा। जहां राग नहीं वहां देख भी नहीं है।

अत एव सहन्नेतरपरिणामिकलमाखिलं स्वलक्षणमनिर्देश्यं सर्वयेति वेत् कथमेवम-सादृश्यं न स्यात् । न हि किंचित्तवा पश्यामो यथाक्षीक्रियते परैः सहन्नेतरपरिणामात्मनोन्त-विद्वि वस्तुनोत्नुभवात् ।

बौद्ध कहते हैं कि इस ही कारणसे अर्थात्—सादस्य, वैसादस्य कल्पनाका शंसट अवास्तविक है, ऐसा होनेसे ही हम बौद्ध सम्पूर्ण वस्तुभृत स्वलक्षणोंको सदृश परिणाम और विसदृश सर्वथा रीते हो रहे अवक्तव्य स्वीकार करते हैं । भावार्थ-स्वलक्षण तत्त्व सम्पूर्ण धर्मीसे राहत हो रहा किसी भी शब्दसे नहीं कहा जाता है, निर्विकल्प वस्तुमें सभी प्रकारोंसे शब्द योजना नहीं होती है। स्वलक्षणमें विसदश परिणाम है सदश परिणाम नहीं है, ये भी सब असत्य कल्पनायें हैं । बहुत बढिया पदार्थकी प्रशंसा नहीं हुआ करती है । चुप रहकर उसके गुणोंका मनन करना ही उसकी तहपर पहुं-चना है। मध्यम श्रेणींके सौन्दर्य, विद्वत्ता, तपस्या, बल, आदिकी प्रशंसाके चाहे जितने बढे पुल बांध छो ठल्लुआ बैठेको कौन रोके । अतः परमार्थभूत स्वलक्षण तो सादस्य वैसादस्यसे रहित होता हुआ परिशेषमें स्वलक्षण शद्धते भी अवक्तव्य हो जाता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर प्रन्थकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो भला सदशपना या विसदशपना कैसे नहीं हो जायगा ? स्वलक्षण पदार्थ ब्रह्माद्वेत्रिके समान एक तो है नहीं, अनेक ही हैं । स्वलक्षणपने करके या अनिर्देश्यपने करके अथवा सादृश्य वैसादृश्यसे रिहतपने करके तो उन स्वलक्षणोंमें सदृशता मानी ही जन्यगी तथा अनेकोंमें विस-दुशपना तो विना परिश्रम ही सध जाता है। तभी अनेकपनकी रक्षा हो सकती है। बात यह है कि जिस प्रकार दूसरे निदान् बौद्रों करके वस्तुका स्वरूप अनक्तन्य या सदशविसदृश परिणामरिहतपना अपना स्वलक्षण अंगीकार किया जाता है, उस प्रकार किसी भी स्वलक्षणको हम नहीं देख रहे हैं। यथार्थमें सदश और विसदश परिणाम आत्मक हो रही ही अन्तरंग अथवा बहिरंग वस्तुका अनुमव हो रहा है। ज्ञान, सुख, इच्छा, दु:ख, बेदना, चित्तवृत्ति, ब्रह्मचर्य, ऋष, शक्ति, प्रयत्न, पुरुषार्थ आदि अन्तरंग और घट, पट, पुस्तक, गृह, रूपया, पैसा, आदि बहिरंग पदार्थीमें सदुश परिणाम और विसदृश परिणतियां हो रहीं सबके अनुभवमें आती हैं।

यदि पुनर्वेसादृश्यं वस्तुस्त्ररूपं तत्र विसद्श्वपत्ययो वस्तुन्येव न वस्तुन्यतिरिक्ते वैस-दृश्ये तस्याभावात् कल्पनया तु ततोषोध्दृतेरर्थान्तरत्या वैसादृश्ये विसद्श्वपत्यय श्रीपचारिक एव न मुख्यो यतो वैसादृश्यांतरकल्पनप्रसंग इति मतं, तदा सादृश्यपि वस्तुस्वरूपं तत्र सदृश्यत्ययो वस्तुन्येव न वस्तुन्यतिरिक्ते सादृश्ये तस्याऽभावादर्थान्तरत्यापोद्धृते सदृश्यपि-णामे सदृश्यत्ययो भाक्त एव न मुख्यो यतः सादृश्यांतरकल्पनाद्नवस्थामसिक्तिरिति समा-उपचाद थानं वादिमतिवादिनोः समानमाभ्रेपबृदुपछक्ष्यते । ततो वस्तुसत्सायान्यं विशेषवत्तत्र च प्रव-र्तमानो विकल्पो वस्तुनिर्धासं संबद्धितंवादत्तुप्टिवं एव प्रत्यक्षवत् ताद्दशाच विकल्पाछक्ष्य-छक्षणभावो व्यवस्थाप्यमानो न मुध्यारुद्ध एव यतः सांवृतः स्यात् । पारपार्थिकथ छक्ष्य-छक्षणभावः सिद्धः सम्बयं जीवोपयोगयोः कथंचित्तादात्स्यादुपपद्यते अन्त्युष्णवत् ।

यदि फिर बीटोंका यह मन्तव्य होय कि विसदशपना कोई वस्तुका औपाधिक धर्म नहीं है, बह विसदृशपना तो वस्तुका स्वकीय निजरूप है उस वस्तुके स्वरूप माने गये वैसादश्यमें हो रहा विसदृशपनेका ज्ञान तो वस्तुमें ही होरहा है। वस्तुके अतिरिक्त किसी वैसादश्य नामके भिन्न धर्मको विषय करनेवाळा वह झान नहीं है। क्योंकि वस्तुसे आतिरिक्त शरीरवाळे उन वैसादृश्य धर्मीका अभाव है। अर्थात्—स्वलक्षण या अनिर्देश्य जो कुछ भी वस्तु है वह असाधारण, विशेष, या विसदृश परिणाम स्वरूप ही तो है। हां कल्पना करके तो मले ही उस वस्त्रसे भिन्न अर्थपने करके न्यारे लिये गये वैसादृत्यमें विसदृशपनेका धर्ममूलक ज्ञान उठाको । किन्तु वह ज्ञान उपचारसे किया ही है, मुख्य नहीं है जिससे कि उस वैसादृत्यमें भी विसदृश्यनेका ज्ञान करानेके छिये अन्य वैसादृ-स्योंकी फिर उन वैसादृश्योंमें भी विलक्षणपनेका ज्ञान करानेके लिये त्यारे अनेक वैसादृश्योंकी कल्पना करते रहनेसे अनवस्था दोषका प्रसंग हो जाय । " राहोः शिरः " ऐसी अपोद्धार कल्पना करनेसे राहुसे शिर व्यतिरिक्त समझा जाता है, उसी प्रकार वैसादस्य कोई बस्तुसे न्यारा धर्म नहीं है। आचार्य कहते हैं कि बौद्धोंका यह मत है तब तो हम कहेंगे कि सादस्य भी वस्तुका स्वरूप है। उस सादस्यमें सदस्यपनेका ज्ञान होना वस्तुके निज डीलमें ही ज्ञान होना है। वस्तुसे व्यतिरिक्त हो रहे सादस्यमें वह सादृश प्रत्यय नहीं है । क्योंकि वस्तुसे सादृश्य न्यारा नहीं है । भले ही अर्थान्तरपनेसे न्यारा कल्पित कर उस सदृश परिणाममें " यह इसके सदृश है " " वह इसके समान है " ऐसे सदृशपनेको प्रहण करनेवाछे ज्ञान उठाछो, किन्तु वे ज्ञान गौण ही हैं, मुख्य " शिळापुत्रकस्य शरीरं " केतुका धड है, सोनेका फासा है, यह भेदका ज्ञान गौण है। जिससे कि व्यक्तिरूप न्यारे सादृश्योंमें भी अन्य सादृश्योंकी कल्पना करते रहनेसे हम जैनोंके ऊपर अनवस्था दोषका प्रसंग होता, इस प्रकार वादी जैन और प्रतिवादी बौद्ध दोनोंका समाधान करना समान दीखता है । जैसे कि पहिले दोनों ओरसे किये गये आक्षेप समान देखे जा चुके हैं हम तो बहुत पहिलेसे ही वस्तुको सामान्य विशेष आत्मक कहते चले आ रहे हैं। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि विशेषके समान सादृश्य या सामान्य भी वस्तुभूत होता हुआ सद्गूप है । उस बस्तुभूत सामान्यमें प्रवर्त रहा विकल्पज्ञान ( पक्ष ) वस्तुका ही यथार्थ प्रतिमास करनेवाला है ( साध्य ) बाधारहितपन या सकलप्रवृत्तिजनकत्वरूप सम्बाद करानेवाला होनेसे (हेतु) प्रत्यक्षके समान (दृष्टान्त)। च्युत नहीं होता हुआ परमार्थभूत वस्तुका प्राहक है और तैसे वस्तुप्राही क्किल्पज्ञानसे छक्ष्यलक्षणभाव **व्यवस्थापित किया जाता है।** वह वस्तुको स्पर्श नहीं कर केवल कल्पना बुद्धियोंमें ही आरूढ़ हो

का है। यह कैंग्रेको नहीं सान कैंग्रेस चाहिये, जिस्से कि वह कार्यकारामान व्यवस्थानका संस्थिते की केंग्रेस कर किंग्रेस कार्य माना जाता। अतः तुस केंग्रेसे जो बहुत पहिले आसेप किया का कि कंग्रिके कार्यकारणमान है। यह तुस्त्राता साना व्यवस्थान कार्यकारणमान है। यह तुस्त्राता मन्तव्य व्यवस्थित वहाँ रहा। यह व्यवस्थान पारमार्थिक सिद्ध हो रहा होता जीव और तुष्योगा हा। क्यंकित तादासगराव्यन हो जानेसे का जाता है। जैसे कि " अभिः उष्णः " यह अभि और क्राणका क्यंकित तादासगराव्यन हो जानेसे कर वासा है। जैसे कि " अभिः उष्णः " यह अभि और क्राणका क्यंकित तादासगराव्य हो जानेसे कर्यकारणमान जातत्मसिद्ध हो रहा है।

कश्चिदाह्-नोपयोग्रककृष्णो जीवस्तदात्मकत्वात् विपर्ययभसंगादिति, तं मत्याहः। जात-कात्सिक्केः। जभवयापि स्वहृषनासिक्केः स्वसमयविरोधात् केनचिद्विज्ञानात्मकत्वात् तदात्मकस्य तेनैयः परिणामदर्शतात् क्षीरसीरवद् । निःपरिणाये त्वतिप्रसंग्धर्यस्वभावसंकराविति। स जायमानेपसमाभानविश्विजीतेषयोगयोस्तादात्स्यैकांताश्चयो नयाश्चयश्च पतिपर्यव्यः।

कोई बादी पूर्वपक्ष कह रहा है कि जीवका कक्षण उपयोग नहीं हो सकता है। क्योंकि अपयोग और जीवका तदात्मकप्रना हो रहा है, घट घट ही से उपयुक्त नहीं हो सकता है। तथैव जीव आपने तदात्मक उपयोगासे उपयुज्यमान नहीं बन सकता है । जैनों द्वारा जीव और पुद्रलका अभेद माननेपर विमर्थय हो जानेका प्रसंग हो जायगा, अर्थात—अभेद पक्षमें उपयोगका छक्षण जीव ही क्यों न 🗪 बैठे। जीवकी 🕵 उपयोग परिणतिके समान उपयोगकी ही जीवस्वरूप परिणति क्यों न हो जाय. इस प्रकार कहनेवाळे उस वादक्षि प्रति श्री विचानन्दस्वामी समाधानको कहते हैं कि उक्त आक्षेप ठीक बड़ी है। क्योंकि इस ही से उस उपयोगको उक्षणपनेकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात - जिस ही कारामसे तुम अभेदको सह रहे हो इसी कारणसे उपयोग सिद्ध हो जाता है। सर्वथा अभेद पक्षमें जैसे आकाराकी रूपके साथ उपग्रकता नहीं होती है, उसी प्रकार सर्वथा भेद मानतेपर जीव भी जान दर्शन उपयोगोंसे उपयक्त नहीं हो सकेमा । देखो, घास, पानी, खळ, विनोळा, दरिया, जीरा, आदि कारणोंसे दुध बननेके अभिमुख हो रही दुख शक्ति ही तो उत्तर क्षणमें दूधस्वरूपसे परिणम जाती। है। उसी प्रकार आला भी हान दर्शन स्वमावशाकियोंके वशसे घटहान, पटहान, स्वरूप उपयोग करके परिपाल कर केता है, इस प्रकार कथीचित मिन अभिन्न हो रहा उपयोग उस जीवका लक्ष्मण क्रम जाता है। दूसरी बात यह है कि दोनों प्रकारोंसे भी तुम्हारे वन्क्रमकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अर्थात अनेकान्त प्रक्रियाको नहीं समझ कर तुमने जो यह कहा था कि जो जिस स्तरूप है वह अली करके परिणाम नहीं घार सकता है। इसपर तुम यह विचारों कि तुम्हारे वक्क स्वपक्षके साधक भीर परपक्षके दूषक स्वरूप हैं। स्वपक्ष साम्रन और परपक्ष दूषण यदि उनका स्वभाव मानो तो तस्कारा पिक्क एकान्त वचन हत्पते निकल गया और हमारा जैनसिद्धान्त पुष्ट हो गया और तद्वप परिणति बहीं मातो तो भी तुम्हारा वचन असिद्ध हो जाता है। जो प्रतिपक्षमें दुषण नहीं दे सके वह नहीं कहा नामा साहिता है। सर्वत्र सर्वदा सत्रकी सता साधनेमें क्या प्रयोजन काता है ! तीसरी बात क्रह है कि

तमकी अपने सिद्धान्ती किरीध हो जायमा । आपने स्वयं इस बातकी इष्ट किया है कि कुछी. अप तेया बाय वे महासत बार तत्व गंध, रस. हप, स्पर्श, आत्मक होते हुवे शुक्लस्प आदिक परिण-तियोंको धारते हैं। अंत: तम '' जो जिस स्थरूप है यह उस करके ही उपयुक्त नहीं हो सकता है '' इस बाटाक्षकी छौटा हो । आत्मा यदि क्रानस्थरूप नहीं होगा तो क्या प्रधरकी परिणति कार्न होगी ! देखें वालंकी रोटी बना ती हो । चीची बात यह है कि जिसके यहां आत्मा सर्वेदा होने आत्मक है उसके यहां धाराक्ष्यसे शामस्वरूप पंरिणतियां नहीं वन सकती है। विस जैनसिंहांत अनुसार किसी अंशसे आत्मा झानात्मक है तथा अन्य अंशींसे सुख आस्प्रक इच्छा आत्मक, भी है। अतः अन्य आत्मक हो रहे आत्माका ज्ञानस्वरूप परिणाम होना उमिल है । बाँदे एकान्त कार्य आताका सानआसमा या सन्य इन्छा आदि ही मान छिया जानमा तो तिस भावका कभी किराम मही होगा। उसका किराम माननेकः आसा इन्यके निराम क्षेत्रिका भी प्रस्ति जामानेगा जो कि इष्ट नहीं है। अतः जात्मा किसी मी विवासित स्वक्रप्रसे उपयोगात्मक है और अन्य स्वक्रपेल अन्य आसक है। ऐसे संयंत्रित उपयोगात्मक आत्माका उपयोग धर्म करके उपयुक्तपना बन सकता है। पांचवी बाद 🗱 कि उस अवस्थित ही रहे पदार्थना ही उस करने परिणाम हो रहा देखा जाता है। जैसे कि दूध, पानीका उस ही रूपसे परिणाम होता है। देखिये, मीलापन, सीठा, आदि अपने स्वभावींको नहीं छोडता हुआ हुछ, मुख, बुस, वा जलके सम्बन्धसे मीठा दूध, लस्सी, आदि अन्य परिणामोंको प्राप्त हो जाता है । गीके स्तनंसे निकलते ही दुज पारोष्ण रहता है थीडी देरमें दुध स्नीतक हो जाता है। पूनः अभिके सम्बन्धसे उच्च या रवडी, खोआ, मलाई, बन जाता है। अतः दूधके दूधकर विवर्त हैं। दूधका परिणाम चट, पट, नहीं हो सकता है। जल भी शीतल जेंद्र अथवा हिम ( बरफ़ ) आंत्रक होता हुआ उस रूपने परियम जाता है। बुद्धिमान् शिक्षु ही महिष्यमें उत्तम कोटिमा विद्रान हो जाता है। कड़े खरूप होने योग्य सुवर्ण की खड़ुआ परिणामको धारता है। चूनकी रीटियां बनती हैं। खंडका बेडा बंगता है। असका नहीं। तिस है। प्रकार उपयोगस्थरूप आत्मा अपने उपयोग स्वभावकी महीं छोड़क्त हुआ ज्ञानस्वरूप करके परिणर्भक्त स्हैता है। छटी बांत यह है कि एक पदार्चका दुसरे पदासीके स्वक्ष्य करने तो परिणाम होता ही नहीं है। यद तुम्हरि कथन अनुसार निज आंक्षमा परिणामों करके भी पदार्थकी परिणासियां नहीं मानी कावेगी ती पदार्थ सभी मरिणामोंसे रहित होता हुआ। कुटल्य अपरिकामी, हो जायमा । सर्वमा नित्य पदार्कके सननेपर किया, कारक, प्रसंग, पार्छः आदि स्मवहंग्रस्का खेंग हो जायमा । यदि निज परिणामोके सिक्य अन्य अयंकि परिणाम करके निकेशितः पर्दार्थकी परिकालि कामोगे सो सम्बर्ण पद्मश्रीके स्वभागेंका संकर हो जानगा । जस अपने शीराजिम्बाम्मेसे हो परिकारि कारेगा सहीं ऐशी देशामें जंडका जान, प्रस्तः संपसे परिकास होता अतं बैठेका अध्यामे सम्माय स्था, सह मी हो जायेंगे । सेहि भी अपने निज स्वभानींकी रक्षा नहीं रख सकेगा। यदि अपरिणामीपन और स्वभाव सांकर्यको इष्ट नहीं करना चाहते हो तो अपने अपने स्वरूपसे ही अपनी अपनी अपनी परिणाति होना इष्ट करना चाहिये। बात यह है कि हम जैन इन जीव और उपयोगका एकान्तरूपसे तादाल्य सम्बन्ध नहीं मानते हैं। किन्तु द्रव्यार्थिक नयसे अमेद और पर्यायार्थिक नयसे जीव तथा उपयोगका मेद स्वीकार करते हैं। अतः पूर्व प्रकरणोंमें वह आक्षेपकी विधि तो जीव और उपयोगके एकान्तरूपसे तादाल्यका आश्रय कर उठाई गयी है। तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक नयका अवलम्ब लेकर आचार्य महाराजने समाधानका विधान कर दिया है। यह शिष्योंको मले प्रकार समझ लेना चाहिये।

अत्रापरः प्राह-उपयोगस्य लक्षणत्वाज्यपत्तिर्लक्ष्यस्यात्मनासस्वात् । तथाहि । नास्त्या-त् त्याज्युण्लंभादकारणत्वादकार्यत्वात् त्वरिवषाणादिवदिति । तदयुक्तं । साधनदोषदर्भनात् । अजुपलंभादयो हि हेतवस्ताबदिसद्धाः प्रत्यक्षाजुमानागमैरात्मनोऽनाद्यनंतस्योपलंभात् । योगि-प्रत्यक्षस्य तदुपलंभकस्यागमस्य च प्रमाणभूतस्य निर्णयात्तद्जुपलंभोसिद्ध एव वा अनैकांति कश्च चार्वाकस्य परचेतोष्टृत्तिविभेषैः ।

यहां कोई चार्वीकमतानुयायी दूसरा विद्वान् सगर्व पूर्वपक्ष कहता है कि उपयोगको जीवका लक्षणपना बन नहीं सकता है। क्योंकि उपयोग नामका लक्षणके लक्ष्य माने जा रहे, आत्माका सद्भाव नहीं है। सद्भूत देवदत्तका लक्षण दण्ड हो सकता है। असत् आकाशपुण्यका कोई भी पदार्थ लक्षण नहीं बन सकता है। जब आत्मा पदार्थ ही कोई नहीं है तो फिर लक्षण किसका किया जारहा है? दुल्हांके विना यह किसका विवाह रचा जा रहा है ? देखिये, उस आत्माके अभावको हम अनुमान द्वारा यों साभते हैं कि आत्मा ( पक्ष ) नहीं है ( साध्य ) उपलब्धि नहीं होनेसे ( पहिला हेतु ) निजका पूर्ववर्त्ती उत्पादक कारण नहीं होनेसे ( दूसरा हेतु ) निजका उत्पाद्य उत्तरवर्त्ती कोई कार्य नहीं होनेसे ( तीसरा हेतु ) खरविषाण, वन्ध्या पुत्र, आदिके समान ( अन्वयदृष्टांत ), इस प्रकार आत्माका अभाव सिद्ध है। अब आचार्य कहते हैं कि वह भूतवादियोंका कथन युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि उनके कहे हुये हेतुओंमें अनेक दोष देखे जाते हैं। अनुपलम्भ, अकारणत्व, आदिक हेतु तो सबसे पहिले असिद्ध हेत्वाभास हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, प्रमाणों करके अनादि, अनन्त, आतमा द्रव्यका उपलम्म हो रहा है। उस आत्माका उपलम्भ करनेवाले प्रमाणभूत सर्वन्न प्रत्यक्षका निर्णय हो रहा है। स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष भी सबके पास विद्यमान है तथा आत्माको जाननेवाले प्रमाणभूत अनुमान और आगम का निर्णय हो रहा है। अतः उसका अनुपलम्भ संज्ञक हेतु अपने पक्षमें नहीं ठहरनेसे असिद्ध हेत्वाभास ही है तथा ( अथवा ) चार्त्राककी ओरसे दिया गया अनुपळम्भ हेतु दूसरे पुरुषोंकी विदेश चित्तवृत्तियों करके व्यभिचार दोषयुक्त भी है, अर्थात् अर्थले हम अपनी अपनी स्यूलचित्त वृत्तियोंका प्रत्यक्ष भी करलें किन्तु दूसरोंके मनमें या आत्मामें क्या वर्त रहा है, इसका सर्वक्रके सिवाय

किसीको उपलम्म होता नहीं। अनुमान या आगमसे भूले ही उनकी जानली। सर्वज्ञका निषेध करने वाले और इन्द्रियप्रत्यक्षको ही प्रमाण माननेवाले चार्थाकको तो दूसरेकी चित्तवृत्तियोंका कथर्मा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। किन्तु वे हैं तो सही, चाहे उन्हें भूतकदम्ब कहो या सादि चैतन्य मान भलें ही अनित्य आत्मा कहते फिरो। अकेले चार्वाकसे अतिरिक्त उसके माता, पिता, गुरु, अधक संसारके अन्य प्राणी और उनकी आत्मीय वृत्तियां सभी मर तो नहीं गयी हैं। अतः नास्तित्व साध्यतं नहीं रहते हुये अनुपल्म्म हेतुके वर्तजानेसे अनैकान्तिक दोष लग जाता है।

तथा पर्यायार्थादेशात् पूर्वपूर्वपर्यायदेतुकत्वादुत्तरोत्तरात्मपर्यायस्याकारणत्वादित्ययमप्य सिद्धां हेतुः ।

तथा आत्मा बालक होकर युवा होता है युवा अवस्थाको छोडकर अई इस होता है, अध बूद अवस्थाको कारण मानकर पीछे बुद्ध हो जाता है, अतृप्त आत्मा मोजन कर छेनेपर तृप्त हो जाता है मूर्ख पुरुष अभ्यास करते करते पण्डित बन जाता है, रोगी जीव औषध सेवन करता हुआ निरोक्त बन बैठता है। मनुष्य मरकर देव हो जाता है। देव पुनः तिर्यंच हो जाता है। इस प्रकार पर्यायार्थिं नयकी अपेक्षा कथन करनेसे पिक्छी पिहेली पर्यायोंको हेतु मानकर उत्तर उत्तरवर्ती आत्माकी पर्य योका उत्पाद होता रहता है। इस कारण चार्यांककी ओरसे दिया गया कारणरहितपना यों य हेतु भी पक्षमें नहीं वर्तनेसे असिद्ध हेत्वाभास है, अर्थात्—पर्याय दृष्टिसे देखनेपर आत्माकी सभी बाल्य कुमार, देव, मनुष्य, संसारी मुक्त, आदि पर्यायें हीं तो दीख रहीं हैं। उन पर्यायोंकी पूर्व समयकर पर्यायें कारण हैं अतः आत्मा कारणोंसे सहित होगया। कारणरहितपना हेतु पक्षमें नहीं रहा।

द्रव्यार्थादेशाद्विरुद्धः । तथाहि । अस्त्यात्मा अनाद्यनंतोऽकारणत्वात् पृथिवीत्वादिवत् मानभावेन व्यभिचार इति चेक्, तस्य द्रव्यार्थादेशेऽजुपपद्यमानत्वादनुत्पादव्ययात्मकत्वात् सर्वे द्रव्यस्य । पृथिवीद्रव्यादिभ्योऽतीतरभूतस्तु मागभावः परस्याप्यसिद्ध एवान्यथा तस्य तस्व तरस्वमसंनात् ।

चार्वाकों के अकारणत्य हेतुको असिद्ध बताकर अब उसे विरुद्ध दोषयुक्त भी बताते हैं दिव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथन करनेसे यह अकारणत्व हेतु विरुद्ध भी है। इसी बातको प्रन्थक तैसा प्रसिद्ध करते हुये कहते हैं कि आत्मा (पक्ष ) अनादि कालसे अनन्त कालतक ठहरनेवाद द्रव्य है (साच्य ) अकारणपना होनेसे (हेतु ) पृथ्वीत्व या पृथ्वित्री तत्व, जलतत्त्व, आदिके समा (अन्ययद्धान्त ) अर्थात् —पृथ्वित्रीत्व जाति या चार्वाकोंके यहां माने गये पृथ्वित्रीतत्व, जलतत्त्व, तेव स्तत्व, बायुतत्व, ये चार तत्व अनादि अनन्त नित्य हैं। उन्हींके समान चेतन आत्मा तत्त्व नित्य है इस अनुमान द्वारा अकारणत्व हेतुसे आत्माका नित्यपना साध दिया है। घहिले चार्वाकोंके अनुमा द्वारा आत्माक नास्तित्व साध्यमे प्रयुक्त किया गया अकारणत्व हेतु तो नास्तित्व साध्यसे विपरीत । रहे नित्यव या अनाधनन्त अस्तित्वके साथ व्यातिको रखता है। अतः विरुद्ध हेत्वाभास हुआ। या

किसीकी शंका है कि कारणरहित तो खरिवणण भी है। किन्तु वह नित्य नहीं है। अतः नित्यके लक्षणमें " सदकारणविनत्यं " कहकर सत् विशेषण लगाया गया है। तिससे खरित्राणमें अति न्याप्तिका वारण हो जाता है। वह सत् नहीं है, असत् है। यदि सत् विशेषण न लगाकर केवल अका-रणत्य ही कहा जायगा तो वैशेषिकोके यहां माने गये प्रागभावसे भी व्यभिचार होता है। देखिये, अनादि कालसे चले आये हुये प्रागमावका कोई कारण नहीं है। किन्तु वह अनन्तानन्त नहीं है '' अनादिः सान्तः प्रागभावः ''। हां, सत् विशेषण छगा देनेसे प्रागभावका निवारण हो सकता था, '' न कारणं यस्य '' ऐसी निरुक्ति कर पक्ष पर्युदासका अवलम्ब लेनेसे ही अथवा अकारण शहूसे मतुप प्रत्यय करते हुथे अकारणवत्त्व हेतु कह देनेसे ही खरिविपाण आदि सर्वथा असत् हो रहे पदा-र्थीका निराकरण भले ही हो जाय, असत्में अफारण उपाधिसे सहितपना नहीं है, किन्तु प्रागभाव करके हुआ व्यमिचार तदबस्थ रहेगा। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि नित्य हो रहे द्रव्य अर्थ का कथन करनेपर सम्पूर्ण द्रव्योंको उत्पाद, व्ययोंसे रहित आत्मकपना है। भावार्थ - इन्य नित्य है किसी इन्यमें उत्पाद, न्यय, नहीं होते है । इन्यका उत्पाद होता तो उसकी उत्पत्तिके पहिले प्रागभाव माना जाता, और दृज्यका नाश होने लगता तो दृज्यके पीछे उसका ध्वंस माना जाता । पर्यायोका ही उत्पाद व्यय होता हुआ प्रागभाव और ध्वंस माना जाता है । द्रव्योंका नहीं । " नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पद्गलभावतोस्ति । ( बृहत्स्वयम्भू ) " । तभी तो द्रव्य अर्थकी अपेक्षा हमने अकारणत्य हेतुको विरुद्ध कहा है। अतः प्रागमात्र करके व्यभिचार नहीं हो पाता है। दूसरी बात यह है कि वैशेपिकोंने भावोंसे भिन्न प्रागभाव पदार्थ माना है। किन्तु दूसरे चार्वाकोंके यहां तो प्रथिवी द्रव्य, जलतत्त्र आदिकोंसे मिल हो रहा प्रागमाव सिद्ध ही नहीं है। अन्यथा यानी चार तत्त्वोंसे भिन्न प्रकारका प्रागमावतत्त्व यदि माना जायगा तत्र तो उस प्रागमावकी चार तत्त्वोंसे निराले पांचरें तत्त्वका प्रसंग चार्वाकोंके ऊपर आता है, जो उन्हें इप्ट नहीं है। अतः चार्वाकोंका अकारणत्व हेतु विरुद्ध ही रहा । यहां अकारण शद्ध ही साधु हैं । '' न कर्मधारयः स्यान्मत्वर्थीयो बहुबीहि श्रेदर्धप्रतिपत्तिकरः '' ऐसा नियम है । हां '' सदकारणविक्तरं '' इस प्राचीन ऋषिवाक्यकी न्यारी बात है।

यश्राकार्यत्वादिति हेतुः सोप्यसिद्धः सुखोदरात्मकार्यस्य पर्यायार्थापेणात् प्रसिद्धः कादा-।चित्कार्यविशेषस्याभावादकार्यत्वमनैकांतिकं मुर्भुराद्यवस्थेन।प्रिना, कार्यत्वाभावाऽकार्यत्वं विरुद्धं। तथाहि—सर्वदास्त्यात्माऽकार्यत्वात् पृथिवीत्वादिवत् । न प्रागभावेतरेतराभावात्यन्ताभावेरनै-कांतस्तेषां द्रव्यार्थाश्रयणे तुपपत्तः । पर्यायार्थाश्रयणे कार्यत्वात् । कुटुस्य हि प्रागभावः कुश्रस्यः स च कोश्रकार्यं कोशस्य च शिवकः स च स्थासांतरकार्यमिति । धन्तः

और आमाके नात्तित्वकां सिद्ध करनेके लिये चार्वाकोंने तीसरा हेतु जो अकार्यत्व ऐसा दिया था, आचार्य कहते हैं कि वह भी अकार्यत्व हेतु असिद्ध है। क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा कर

नेसे आत्माके कार्य हो रहे सुखज्ञान, वेदना, पुरुषार्थ, इच्छा या रक्त, वीर्य, उत्पन्न कराना आदि कार्योकी प्रसिद्धि हो रही है। अतः कार्यरिहतपना हेतु आत्मा स्वरूप पक्षमें नहीं ठहरनेसे असिद्ध हेत्वाभास है । पूर्वमें जैसे आत्माके कारणोंको साध दिया था । अब आत्माके उत्तरवर्ती कार्योंको प्रसिद्धकर दिखा दिया है। सन्तानरूपी नदी दोनों ओर अनादि, अनन्त, किनारोंसे घिरी हुई है तथा आत्माके नास्तित्वको सिद्ध करनेके छिये प्रयुक्त किया गया चार्वाकोंका अकार्यत्व हेतु व्यक्तिचारी हेत्वामास भी है । मुरमुर या भूभड आदि अवस्थामें पडी हुई अग्नि भविष्यमें किसी भी कार्यको नहीं कर रही है । अतः कभी कभी विशेष कार्यके नहीं करनेसें अकार्यत्व हेत उस अग्नि करके अनैकान्तिक हो जाता है। जैनसिद्धान्त अनुसार सभी पर्यायें भविष्यमें किसी किसी पर्यायको उत्पन्न कर तब नष्ट होती है। इसकी आग या फुर्लिंगा भी कुछ कार्यीको करते हैं। रुई या बारूदमें फुर्लिंगा आग लगा देता है। शरीरको थोडा भुरसा देता है, कुछ देर उच्णता रखता है, उससे बैसी ही छम्बी चौडी ज्वाला या फुलिंगा ही भविष्यमें सदा उपजता रहे, ऐसा हम जैनोंको एकान्त अभीष्ट नहीं । हां, फुंसक दाह हो चुरुनेपर पीछे भी बच रही आग कुछ भी कार्य नहीं कर रही है, ऐसा चार्याक मानते हैं। तृणोंसे रहित बादू रेतमें पड़ी हुई अग्नि भी जलाना प्रमाना फ्रमोड़ा डालना, सोखना, आदि कार्यीको नहीं कर रही मानी है। जैसे कि नैयायिकोने अन्तके चरम अवयर्शका पुनः कोई अवयवीको उत्पन्न कराना कार्य नहीं माना है। अतः चार्वाकों के अकार्यत्व हेतुको उन्हीं के "मन्तन्य अनुसार मुरमुर फुलिंगा, आदिकी अभिसे व्यभिचारी कर दिया है। इस अभिमें उत्तरवर्ती कार्यको करनेसे रहितपना है । किन्तु असत्व राध्य वहां नहीं है, तथा चार्वाकोंका कार्यत्वके अभावस्त्ररूप अकार्यत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी है । उत्तीको प्रतिद्ध कर दिखाते हैं । आत्मा ( पक्ष ) सदा विद्यमान रहता है, (साध्य) अकार्यपना होनेसे ( हेतु ) पृथित्रीत्व या पृथित्रीतत्त्व आदिके समान ( अन्वयद्दशन्त ) घट, पट, आदि पृथिवी पर्यायोंका नारा हो जानेपर भी चार्त्राक पृथिवी तत्त्रका नारा हो जाना नहीं मानते हैं। अतः इस अनुमान द्वारा आत्माको नित्यत्व सिद्ध करनेवाला अकार्यत्व हेत तो चार्वाकोंके उक्त साध्य नास्तित्वसे विरुद्ध हो रहे सदा अस्तित्वके साथ अविनामात्र रखता है। अतः साध्यसे विपरीत हो रहे के साथ व्याप्तिको रखनेवाला अकार्यत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। आत्माका सदा अस्तित्व साधनेवाले हमारे अकार्यत्व हेतुका प्रागभाव, इतरेतराभाव या उत्पन्न हुआ अभाव याने ध्वंस, अथवा अत्यन्ताभाव करके व्यभिचार नहीं आता है । क्योंकि द्रव्य अर्थका आश्रय करनेपर उन प्रागमाव आदि अभावोंकी सिद्धि नहीं हो पाती है। सर्वदा नित्य द्रव्य विद्यमान रहता है। द्रव्यरूपसे किसीका कोई अभाव नहीं है। हां, पर्यायरूप अर्धका आश्रय करनेपर तो वे प्रागभाव, प्रश्नंस, अन्यो-न्याभाव, अत्यन्ताभाव, कार्य ही हैं । अतः अकार्यत्व हेतुके न रहते हुये असत्व साध्य मधीं भी रहा तो कोई क्षति नहीं है । व्यंस अभावको सभी वादी कार्य मानते हैं । अतः अकार्यत्व हेतुका धंस करके व्यभिचार होना कथमपि सम्भावित नहीं है। अतः उत्पन्नाभावके

स्थानपर अत्यन्तामात्र पाठ अच्छा है । दोखिये, पर्याय अर्थीका अवलम्ब छेनेपर घटकी पूर्वकर्ती कुर्यूछ पर्याय ही घटका प्रागभाव है और वह कुराूल तो उस कुराूलके पूर्ववर्ती कोष पर्यायका कार्य है। अतः कुरालका प्रागमान कोष हुआ तथा कोषका प्रागमान उसकी पूर्व पर्याय शिवक हुआ और वह शिवक दूसरे स्थासका कार्य है। इस द्वंगसे पूर्ववर्ती पर्यायोंको ही हम उत्तरवर्ती पर्यायोंका प्रागमाव मानते हैं। इसपर प्रागमावको अनादि माननेवाले वैशेषिक यदि यो कटाक्ष करें कि हमारे यहां तो प्रागमात्र साना गया है। अतः अनादिकालसे अवतक कार्यकी उत्पत्तिको रोकता हुआ बैठा है। किन्तु जैनोंके यहां जब पूर्वपर्याय ही का नाम प्रागभाव है तो उस पूर्वपर्यायकी पूर्व अवस्थाओंमें घटकी उत्पत्ति हो जानी चाहिये । क्योंकि घटकी उत्पत्तिका प्रतिबन्धक अभी प्रागमाव तो उ<mark>पजा ही नहीं</mark> है। घंस तो घटके उपज जानेपर पीछे होनेवाला अभाव है। इतरेतराभाव और अखन्ताभाव भी घटके उपज चुकनेपर व्यवहार प्राप्त होते हैं । अतः किसी भी प्रतिबन्धक अभावके विद्यमान नहीं होनेसे लम्बी अनादिकाळीन पर्यायसन्तितमे घटकार्यके सद्भावका प्रसंग आता है। अब आचार्य समाधान करते हैं कि वैशेषिकोंका उक्त आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि प्रागभावके विनाशको ही हम कार्यरूप करके स्वीकार करते हैं। अनादि पूर्वपर्यायकी सन्तानमें अभीतक जब प्रागभाव उत्पन्न ही **नहीं** हुआ है तो भला उसका ष्वंस कहांसे होय ? अतः प्रागभावके व्वंसरूप कार्यका पूर्व अवस्थाओंमें सद्भाव हो जानेका प्रसंग नहीं उठा सकते हो । जैसे कि उत्तर अवस्थारूप धंसका धंस हो जानेपर पुनः कार्येके उजीवनका प्रसंग नहीं दे सकते हो । भावार्थ—पूर्व अवस्थारूप प्रागभावका ध्वंस हो जाना कार्य सद्भाव है। "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः" और कार्यकी उत्तर अवस्थारूप ध्वंसका प्रागभावस्वरूप कार्य सद्भाव है। अतः कार्यसद्भावके आगे पीछेकी पर्यायोंके समयोंमें कार्यसद्भावका आपादन करना उचित नहीं है। धंस और प्रागभावको हम तुन्छ पदार्थ नहीं मानते हैं। किन्तु मीमांसकों के समान हमारे यहां रिक्तभाव ही अभाव माना गया है ।

कुटपटयोरितरेतराभावः कुटपटात्मकत्वात्कार्यः चेतनाचेतनयोरत्यंताभावोपि चेतना-चेतनात्मकत्वात् कार्य इति । परस्य तु पृथिव्यादिभ्योर्धातरभूताः मागभावादयो न संत्येवा-न्यथा तेषां तत्त्वांतरत्वप्रसंगात् । तथेतरेतराभावात्यंताभावयोः सर्वदास्तीति मत्ययविषय-त्वात् न ताभ्यामनेकांतः ।

आत्माका सदा अस्तित्व साधनेके छिये दिये गये जैनोके अकार्यत्व हेतुका ही निर्दोषपना दिखाया जा रहा है कि घट और पटमें परस्पर ठहर रहा उनका अन्योन्यामाय तो घट और पट स्वरूप ही है । अतः जब घट, पट कार्य हैं तो उनका तदात्मक अन्योन्यामाव भी कार्य हुआ । अतः अकार्यत्वहेतु अन्योन्यामावमें नहीं ठहरा । ऐसी दशामें साध्य भी नहीं रहे तो हमारे अकार्यत्व हेतुमें (न कि चार्वा कों के अकार्यत्व हेतुमें ) व्यभिचारदोप नहीं चढ बैठेगा । जो पुद्रछ या जीवकी पर्याय वर्तमानमें तद्रूप नहीं है, किन्तु आगे पीछे कालोंमें तद्रूप हो सके ऐसी देव, मनुष्य, बोहा,

हाची, आदि अथवा बट, पट, जौकी, पुस्तक, आदिक सीत्र या प्रह्नकारी पर्यास्त्रेता सर्वाचनकार्को अन्योन्याश्वाव साला गया है। तथा कीनों कालमें जो पर्याय या जन्य तक्ष ज हो एके ऐसी आह, नेतन, या धर्महरूप या अधर्महरूपका एक दूसरेमें अत्यन्तामान सामा गया है, जो कि त्रैकालिक-संस्कृतिबन्धिक है। वैशेषिकोंको भी इसी मार्गका अनुसरण करनेपर विराक्तकता निष्ठ सककी है। अकरणमें इमारे अकार्यत्वहेतुका अल्कतामान करके व्यक्तिकार नहीं आता है। त्योंकि चेवन, अनेतन, पदार्थीका परस्पर अवन्तामाय भी चेतन, अनेतनपर्यायसम्प हो जानेसे कार्य ही दे इस कारण अकार्यत्व हेतके न रहनेपर साध्य नहीं भी रहो कोई बटि नहीं है। हेवके किसी हुने वहां साध्य नहीं ठहरता तो व्यभिचार दोष उठाया जा सकता था । दूसरी बात यह है कि अभागिक अपन्द्रव करनेवाळे उन परपक्षमृत चार्वाक्षोंके यहां तो प्रथिवी आदिक चार तत्त्वोंसे कोई अकीकारमृत हो रहे प्रागभाव आदिक माने ही नहीं गये हैं। अन्यथा उन प्रागभाव, अन्योन्याभाव, आदिकोंको चार तत्त्वोंसे अतिरिक्त तत्त्वान्तरपनेका प्रसंग हो जायगा। तथा तीक्षरा उपाय ग्रह भी है कि व्यक्तिकार उठानेवाले चार्वाक यदि इतरेतराभाव और अव्यन्ताभावमें किसी हंगसे अकार्यनहेतुको रख देगा चाहते हैं तो अच्छी बात है, उन इतरेतग्राभाव और अत्यन्ताभाषमें सदा अस्तियनके झानकी विश्वका हो जानेसे उन करके व्यभिचार नहीं हुआ, अकार्यत्व हेत रह गया तो साधमें सर्वदा अस्तियन वह साध्य भी वहां ठहर गया । कुछीन पतिपत्नीके समान साध्य हेतुओंसे आवेनाभाव वर्ष जातेसे व्यप्त-चारकी शंका भी नहीं रहती हैं। निषमन्याप्ति न होकर यदि हेतु साध्योंमें कहां समन्याप्ति हो गही है, वहां हेतु तो क्या, एकपत्नीक्त पतिके समान साध्य भी व्यभिचारी नहीं हो प्राक्त है। •

लरविषाणादिष्ट्यांतश्च साध्यसाधनविकतः, स्वरविषाणादेरण्येकांतेन मास्तित्वासुपरूज्य-मानत्वायसिद्धेः। गोमस्तकसमवायित्वेन हि यदस्तीति मसिद्धं विषाणं तत्व्वरादिमस्तक-समवायित्वेन नास्तीति निश्चीयते, मेषादिसमवायित्वेन च मसिद्धावित्ते वोषाणे, कूर्यसमवायि-त्वेन च न संति, नोपरुभ्यंते च बनस्पतिसमवायित्वेन प्रसिद्धावित्तेत्वोषर्व्यं कुसुमं गमनसम-वायित्वेन नास्तित्वानुपरूभ्यमानत्वयमीधिकरणं दृष्टं न पुनः सर्वत्र सर्वदा सर्वथा किच-भास्तित्वानुपर्वंभाषिकरणं मसिद्धं विरोधात्। ततो नात्मनः सर्वथा सर्वत्र सर्वदा नास्तित्वे साध्य तथानुपर्वंभादिदेत्वां निदर्शनमस्ति साध्यसाधनविकरूक्वाविदर्शनस्वात्।

चार्वाकांने अनुपरूरम, अकारणत्व, अकार्यत्व, इन तीन हेतुओंसे आत्माके नास्तित्वको साधते हुये जो कि खरविषाण, कच्छपरोम, आदि अन्वयदृष्टान्त कहे थे वे दृष्टान्त मी नास्तित्व साध्य और अनुपरूरम आदि हेतुओंसे रहित हैं। क्योंकि खरविषाण, वन्ध्यापुत्र, आदि दृष्टान्तोंका एकान्त करके (सर्वथा) नास्तिपन और अनुपरूर्यमानत्व (अनुरूर्य) आदिकी तिहि नहीं हो सकी है। देखिये अवयवी गौके मस्तकमें समवायसम्बन्धसे क्यंत्रहेपन करके जो ही सींग प्रसिद्ध हो रहा है, यही सींग तो गथा, घोका, हाथी, आदिके उत्पन्नांगों (हिर्ग्यमान) में समवायसम्बन्धसे वर्तमानपने

करके नहीं है। इस प्रकार निश्चय किया जाता है तथा मेंढा, छिरिया, बन्दर, आदिके अवयवी शरीरमें अवयव होकर समवायसहितपने करके प्रासिद्ध हो रहे रोम ही तो कछवेमें समवायीपने करके नहीं है, और नहीं देखे जा रहे हैं। इस ढंगसे तो नास्तित्व साध्य और अनुपलम्म हेतुको कूर्म रोम धार सकता है, तथा वनस्पतिमें समवायी होकरके प्रसिद्ध हो रहा है अस्तित्व और उपकम्भ जिसका, ऐसा पुष्प ही गगनके समवायीपने करके नास्तित्व ( साध्य ) और अनुपछम्यमानत्व ( हेतु ) धर्मका अधिकरण हो रहा देखा गया है । किन्तु फिर सब ही स्थानोंपर सदा सभी प्रकारोंसे जगत्का कोई भी पदार्थ नास्तिपन और अनुपलम्भका अधिकरण हो रहा ते। अद्याविध प्रसिद्ध नहीं है। न्योंकि विरोध दोष आता है। अर्थात्—जो नास्तिपन या अनुपलम्भ धर्मीका आश्रय होगा वह सत्रूपसे ही प्रसिद्ध होगा । धर्म तो सद्रुपधर्मीमें रहते हैं और जो सत् पदार्थ है उसमें नास्तिपन, अनुपलम्भ, कारणरहितपन, कार्यरहितपन, ये धर्म नहीं ठहर सकते हैं। " संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादते कचित् '' अखण्डपदकी संज्ञावाळे पदार्थका प्रतिषेध करना प्रतिषेध्यकी सत्ता माने विना असम्भव है। एक स्थानपर प्रतिषेष्यकी सत्ता सिद्ध होनेपर अन्य स्थानोंपर उसका निषेश किया जा सकता है। अष्ट-सहस्री प्रन्थमें " अद्वैत राद्वः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमधापेक्षो नञ् पूर्वाखण्डपदत्वादहेत्वभिश्रानवत् " इस अनुमानसे द्वेत, आत्मा, आदि शद्धोंके सद्भावरूप वाच्य अर्थ साध दिये गये हैं। जब कि अस-भाव कहे जा रहे खरविषाण आदि समसित पदोंके वाच्य अर्थकी भी सिद्धि करते हुये उनमें सर्वथा नास्तिपन और अनुपल्रम नहीं साधे जा सकते हैं तो आत्मा या चैतन्यका अस्तित्व साधना तो स्राज्यसान्य है । वैशेषिकमत अनुसार अवयवेंामं अवयवी समन्नाय सम्बन्धसे रहता है । अतः सींग या बाल्स्वरूप अवयवोंमें भैंसा, मेढा, गाय, आदि अवयंत्री समवाय सम्बन्धसे वर्त्त रहे सन्ते समवेत करे जाते हैं। अवयवीके समवायको धार रहे अवयव समवायी माने जाते हैं। किन्त जैनसिद्धांत अनुसार मडी हुई चुनकी छंडमें थे।डा अता और मिला देनेसे पुनः एक अवयवी बन जाता है। उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त अवयवीमें भी कुछ अवयव मिळा देनेसे द्वितीय अवयवी उत्पन्न हो जाता है। यानी अव-यवीमें भी अवयवका रहना जैनंसिद्धान्त अनुसार अभीष्ट है। यहां वैशोषिक यों मान रहे हैं कि मनमर दूधमें छटांक मर दूध मिळानेपर अथवा दश सेर आटे की छंडमें छटांकमर आटा या न्यारे छटांक मर आटेकी छंडको मिला देनेसे एवं चालीस गज लम्बे वस्रमें एक सूत मिलाने या निकालनेसे अव-यवीका नाश हो जाता है ! अत्रयंवी पुनः अत्रयंव उसके भी अवयंव आदि पञ्चाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, बणुक, इस विनाश क्रमसे परमाणु हो जाते हैं। यों पूर्व अवयवीका नाश होकर पुनः सम्मिलित हुये दूसरे अवयवोंके साथ बणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक, पञ्चाणुक, षडणुक, सप्ताणुक, इस क्रमसे अवयव, अवयवी, महावयवी, चरमावयवी, द्रव्यकी पुनः सृष्टि होती है। दो अणुओंसे एक व्यपुक बनता है। तीन व्यपुकोंसे एक त्र्यपुक बनता है। चार त्र्यपुकोंसे एक चतुरपुक बनता है। पांच चतुरणुकोंसे एक पंचाणुक बनता है। यही इंग अवयवी पर्यन्त चळा जाता है। यह सब वैशिषिकोंकी उत्पाद विनाश प्रक्रियाका दिखलाना तो बकना मात्र है। इसमें प्रत्यक्षसे ही विरोध आता है। पांच होर इक्षरसमें छटाकमर दूसरा इक्षरस मिला देनेसे तत्काल नवीन अवययी बन जाता है। '' भेदसंघाताभ्यामुः(पद्यन्ते '' जैन सिद्धान्तमें भेद और संघात तथा कुछका भेद कुछका संघात इन तीनों प्रकारोंसे अवयवीकी उत्पत्ति मानी गयी है। अतः वैशेषिकोंका कहना प्रत्यक्षविरुद्ध पडता है। अवयवीमें भी अवयधों के समवेत हो जानेका कोई विरोध नहीं है। वैशेषिकोंने तीन हाणुकोंसे एक त्रयणक और चार त्रयणुकोंसे एक चतुरणुक इत्यादि जो सृष्टिप्रिक्रिया मानी है वह भी ठीक नहीं है। तीन अणुओस या एक बणुक और एक अणुसे ही त्र्यणुक पैदा होता है। दो बणुक या एक त्र्यणुक और एक अणु अधवा चार अणुओंसे ही चतुरणुक स्कन्ध उपजता है। बात यह है कि चतुरणुकमें चार ही अणुयें होनी चाहिये। पंचाणुक्रमें द्रव्यरूपसे पांच अणुयें ही पर्याप्त हैं, न्यून अधिक नहीं। शब्दके वाच्य अर्थपर भी दृष्टि डालनी चाहिये । यो चाहे जहां मन चाहा अंडगा लगा देना शोभा नहीं देता । वैशेषिकोंके मतानुसार एक सी वीस अणुओंका पंचाणुक स्कन्ध और सातसीबीस परमाण द्रव्योंका बना हुआ एक षडणुक स्कन्य हम जैनोंको अभीष्ट नहीं है । वैरोपिकोंको यह इर छगा द्वआ है कि सृष्टिकी आदिमें ईश्वर इच्छा या अन्यदा अग्निसंयोग, ईश्वर, आदि कारणोंसे जब सभी परमाणुओं के बणुक बन गये तो अब त्र्यणुक बननेके लिये बणुकका साथी अकेला परमाणु आवे ? अथवा वहां रखे हुये सब बणुकोंके जब त्र्यणुक बन गये तो जैन मतानुसार चतुरणुको बना-नेके छिये वहां द्युपक और परमाणुयें कहां रखे हुये हैं ! जिनसे कि चार परमाणु या दो द्युपकोंसे झट एक चतुरणुक बना लिया जाय । इसपर हम जैनोंका यह कहना है कि जगत्में अनन्तानन्त द्यणुक या परमाणुयें ठसाठस भरे हुये हैं । अनन्ताअनन्त परमाणुयें तो ऐसी पडी हुई हैं जो अधापि स्कन्धस्त्ररूप नहीं हुयीं और होंगी भी नहीं। जहां घट, पट, षडणुक, पंचाणुक, चतुरणुक बन रहे हैं वहां भी अनेक परमाणुयें, अनन्ते चणुक, विद्यमान हैं । वहां रखी हुयी सभी परमाणुयें बणुक नहीं बन जातीं हैं | बणुक सभी त्र्यणुक नहीं बन जाते हैं । दूरसे भी परमाणुयें खेंची जा सकती हैं। या कारणवरासे वे चली आतीं हैं। अपनी अपनी योग्यता अनुसार ही ।नेयत पुढ़लेंकी नियमित परिणतियां होतीं हैं, आगे चलकर भी तो वैशेषिकोंने दो कपालिकाओंसे एक कपाल और दो कपा-लोंसे एक घट अवयथीकी उत्पत्ति स्वीकार की है । फिर पहेले पडणुक, सप्ताणुक, स्कन्धोंमें यह अनाचित (बेहुदेपनका) क्रम क्यों बना रखा है ! इस बातको जगतमें डेड बुद्धिको मानकर अपने ही एक पूरी बुद्धिको समझ बैठे औद्धक्य मतानुयायी वैशेषिक ही जानें प्रकरणमें यह कड़ना है कि खरविषाण भी नास्ति और अनुपलभ्यमान नहीं है । चार पांत्रवाला गधा पद्म प्रसिद्ध है। सींग भी गाय, भसामें प्रसिद्ध होरहे केवल गधा और सींगका समवाय हो जाना धर्म ही नहीं देखा जा रहा है। तब तो खरविषाणका एक छोटासा धर्ममात्र ही अप्रसिद्ध हुआ । सर्वत्र, सर्वदा, सर्वधा, खरविषाण पदार्थ तो नास्ति और अनुपलम्भका अधिकरण नहीं है। इसी प्रकार कछवेके रोम या आकाशका फूल भी सर्वया अप्रसिद्ध

नहीं है। मण्डमाशिकण्डम भी अस्ति होकर जाना जा रहा एक ढंगसे प्रसिद्ध है। देखो, क्येंकित असत् हो रहे पदार्थने ही अस्तित्व और उपलम्भ धर्म हैं तथा क्यंचित् सत् पदार्थने ही नास्तिषय और अनुपरुष्य सने गये हैं। न तो सभी प्रकारोंने सत् हो रहे पदार्थके ही अस्तित्व और उपरुष्ध धर्म हैं। क्योंकि याँ तो घटका पट रूपने या जीवरूपने भी सद्भाव बन बैठेगा। यो चाहे जो पदार्थ चाहे जिस पदार्थस्वरूप होता हुआ सर्वसंकरदोष प्रस्त हो जायगा । यदि सर्वथा असत्के ये नास्तित्व या अमुक्कुम्म धर्म माने जायंगे तब तो सर्वशृत्यवादमें बोळने, सुनने, समझने, समझने, का व्यवहार ही मह हो जल्पमा । " स्यादादो विजयतेतरां " । संचितकर्मीकी पराधीनतासे चौरासी लाख योनियोंमें भागा करते हुये जीवको मण्डक ( मैहका ) भवकी प्राप्ति हो चुकनेपर पुनः वह जीव मनुष्य गतिमें क्रमारी अवस्थाको धारण करता है, उस समय उस स्त्रीके जो कौआके पंख समान केश रचना विशेष है वह कुमारी लडकीकी चोटी या वेंनी पूर्वमण्डककी कही जा सकती है। देवदत्तकी दुकान निक जानेकर भी किसी अपेक्षा देवदत्तकी कही जा सकती है। पार्श्वनाथके पहिले भर्जोके कर्त्तन्योंको पार्वनाथकी कृति बखाना जाता है। जब फूलको आकाश अवगाह दे रहा है तो आकाशका पुष्प कड़में क्या अति है ? देखे वृक्षमें जितमी देर या जितने अंशसे पुण संवक्त हो रहा है, उससे कहीं अधिक देखंतक सर्वीमरूपसे आकाशके राथ पुष्पका संबोग बन रहा है । बुक्षसे वियुक्त हो गया भी कुछ कभी आकारांसे प्रच्युत नहीं होता है। इस प्रकार जबतक पुष्प विद्यमान रहेगा आकाशके साथ उसका सम्बन्ध नहीं छूट सकता है। थोडा मातः, पिताका पुत्रके साथ हुये सम्बन्धको अथवा देषदत्तका धन या खेत अथवा शत्रुसे हुये सम्बन्धको निरख छो। जब ऐसे स्तोक सम्बन्धवालें स्थलोंने पृष्ठी विमक्ति आसक्त होकर उतर आती है तो राराविषाण, यन्ध्यापुत्र, मृगतुष्णा-जल आदिमें क्विंगरशाळी वैयाकरणोंके द्वारा समासके प्रथम उतार ही जा चुकी सम्बन्धवाचक पक्कि निभक्तिको निर्मूछ क्यों कहते हो ! बात यह है कि '' सिद्धिरनेकान्तात् '' अनेकान्तसे पदार्थोंकी सिद्धि हो रही है । खरविषाण आदिमें भी नास्तित्व साध्य और अनुष्लम्भ आदि हेत विश्वमान नहीं हैं। तिस कारणसे चार्वाकों द्वारा आत्मद्रव्यका सभी प्रकारोंसे सर्वत्र सदी मस्तिपम साध्य करते सन्ते तिस प्रकार अनुमानमें कहे गये अनुपटम्भ, अकारणत्व, अकार्यत्व, सम्भवद्वाधकत्व, आदि हेतुओंका जगत्वतीं कोई पदार्थ अन्ववदृष्टान्त नहीं है । जो चार्वान कोंके खरविषाण आदि दृष्टान्त उपात्त किये थे, वे तो साध्य और साधन दोनोंसे रहित हो रहे सिद कर दिये गये हैं। जो साध्य और साधनसे विकल है (खाली है) वह अन्ययद्दलन्त नहीं हुआ करता है, अन्वपद्दशन्तमें ही हेत और साध्यकी व्यातिका प्रदर्शन कर ही चार्वक अपना आत्माके नारिसाच सिद्धिका प्रकोजन साथ सकते थे। अब तो उन चार्वाकोंके पास कोई उपाय दोष नहीं है। जमानि प्रत्यक्षा अंतुमार्ग और आत्वाक्यसे आत्माका अस्तित प्रतीत हो रहा है, तो ऐसी दशाने आवाका नास्तित्व सिद्धं करना चार्वाकोंका स्वयं अपनेको अवस्त साधनेका निन्द प्रयस्त है।

## तमात्मा नास्त्रीति पश्च अत्यक्षान्तुपानागमवावितोवगम्यत इति साधने दोषदर्शनात् नातः साधनादात्मनिन्द्वसिद्धिर्वतोस्य नोपपोगो छक्षणं स्यात् ।

तथा चार्वाकांने आत्माक अभावको साधनेक िये जो अनुमान बनाया था, उस अनुमानका आतमा नहीं है। इस प्रकार पक्ष (प्रतिज्ञा) भी तो प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणांसे बाधित हो रहा जाना गया है। पूर्व प्रकरणोंमें साध दिये गये केवळज्ञानसे संपूर्ण मुक्त, संसारी, आत्माओंका प्रत्यक्ष हो रहा है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान हारा भी संसारी बद्ध आत्माका विकळ प्रत्यक्ष हो जाता है, तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे में मुखी हूं, में दुःखी हूं, ज्ञ हूं, आदि आकारोंका उल्लेख करते हुये आत्माका स्वतः प्रत्यक्ष हो रहा है। एवं वाधकोंका असम्भव या हित, अहितके प्राप्तिपरिहारकी किया आदि हेनुहारा आत्माका अनुमान हो जाता है, सर्वज्ञकी आम्नायसे चले आ रहे " जीवाध्य, जीवो उपओगमओ, गुणजीवा पञ्जत्ती, इत्यादि आगमवाक्योंसे आत्माका अस्तित्व निर्णीत है। अतः प्रमाणोंसे बाधित होकर जाने जा रहे साध्यके निर्देश अनन्तर प्रयुक्त हो जानेसे चार्वाकोंका हेनु काखात्ययापदिष्ट है। इस प्रकार चार्वाकोंहारा कहे गये अनुपल्म्भ आदि हेनुओंमें असिद्ध व्याभिचार विरुद्ध, बाधित, इन दोषोंके दीख जानेके कारण इन हेनुओंसे आत्माके अपलाप (होती हुई वस्तुके किये मुकर जाना) की सिद्धि नहीं हो सकती है। जिससे कि इस आत्माका लक्षण उपयोग न हो सक्ते। अर्थात् चार्वाकोंने पहिले जो थे कहा था कि लक्ष्य बनाये जा रहे आत्माका असरव होनेसे उसका लक्षण उपयोग नहीं घटित होता है, यह उनका कहना ठीक नहीं पढ़ा। आत्मतत्त्वकी सिद्धि कर दी गयी है। अतः उपयोग उसका लक्षण बन सकता है। कोई आपत्ति नहीं है।

कि च, स एवाई द्रष्टा, स्पृष्टा, खादयिता, घाता, श्रोतात्तुस्पृता, वेत्यतुसंधानमृत्ययो पृत्रीतकृतः करणजविज्ञानेषु चाऽसंभाव्यमानत्वात् तेषां स्वविषयनियतत्वात् पर्स्परविषय-संक्रमाभावात् ।

अस्मतत्मकी सिद्धि करनेका एक विचार यह भी है कि जो ही मैं चशुसे देखनेवाला हूं, बही में छू रहा हूं वहीं में स्वाद ले रहा हूं, सूंच रहा हूं, अथवा सुननेवाला हूं, इन्द्रियों या मनसे अनुस्व कर चुक्तनेपर धारणा झानद्वारा वही में स्मरण करनेवाला हूं। इस प्रकारके अनुसंधान करनेवाले झान (पक्ष) गृहीता आत्मा करके बनाये गये हैं (साध्य) क्योंकि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये अविचारक विद्यानोंमें उक्त प्रकारके अनुसंधान होनेका असम्भव हो रहा है (हेतु) वे स्पर्शन आदिक इन्द्रियों अपने नियत विषय हो रहे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ध, शब्द, सञ्चेतना, को जानकर परितार्थ हो जाती हैं। छः मासका छोटा क्या या, असंकी या चौइन्द्रिय जीव दर्पणमें अपने प्रति विकारों चश्चसे देख लेता है, किन्तु यह मेरी छाया है इसके अनुसार मुझे अपने मुखका धन्वा मिटा काता चाहिये इन्द्रादि विचार नहीं कर पाता है। चश्च केवल रूपको देख लेगी। रसना रसकी

चाट लेगी। किन्तु ये इन्द्रियां ऐसे प्रत्यवसर्वोंको नहीं कर सकती हैं कि यह वही सूंचा जा रहा है जो कि पापड पहिले देखा या खाया था यह उससे अधिक भुग्भुरा है, यह उससे न्यून लक्षणवान् है। यह शब्द उस शब्दसे गम्भीर है, तिक्षण है, कर्कश है। जैसे कि टेलिफीनोंके यहां वहां जाने, आने, सम्बन्ध मिलाने का संयोजक एक प्रधान कार्यालय होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों हुन्स आगे पिछे हुये ज्ञानोंका अधिकारी एक विमर्षक आत्मा ही उपयोग लगाकर उनका अनुसंधान कर सकता है। इन्द्रियां इस कार्यको काल्प्रयमें नहीं कर सकती हैं। क्योंकि उनके द्वारा प्रहण किये जा चुके कियोंका परस्परमें संक्रमण नहीं हो पाता है। रुपया स्वयं अपना परिवर्तन (एक्सचेंज) नहीं कर लेता है। इस कार्यके लिये चारों ओर का भाव निरख कर ठीक ठीक व्यस्था कर देने वाले कोषाध्यक्ष (बैंकर) की आवश्यकता है। इससे इन्द्रियज्ञानों या विचारक ज्ञानोंका अनुसंधान रखनेवाला गृहीता आत्मा सिद्ध हो जाता है।

गर्भादिमरणपर्यतो महांश्रेतन्यविवर्तो दर्शनस्पर्शनास्त्रादनाघाणश्रवणानुस्मरणलक्षणचैत-न्यिशेषाश्रयो पृहीता तद्वेतुरिति चेन्न, तस्यवात्मत्वेन साधितत्वादनाचनंतत्वापपचेः। न चायं निर्हेतुकः कादाचित्कत्वादिति परिशेषादात्मसिद्धेश्च नात्मनोभावो युक्तः।

चार्वीक कहते हैं कि आत्मा तत्त्व अनादि अनन्त नहीं है । गर्भसे आदि छेकर मरण पर्यन्त लम्बा चौडा महान् चैतन्य परिणाम ही देखना, छना, चाखना, सूंचना, सुनना, पीछे स्मरण करना, ऐसे लक्षणवाले विशेष चैतन्योंका आश्रय है वही गृहीता है और गर्भसे मरणतक है। ठहरनेवाला आत्मा उस अनुसंधान ज्ञान करनेका हेतु है। गर्भसे प्रथम और मरणके पश्चात् भी उसका अन्वय मानते जाना उचित नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस महान चैतन्य विवर्तको ही आत्मपने करके साध दिया गया है, उस चैतन्यका अनादि कालसे हेकर अनन्त कालतक द्रव्यक्रपमे ठहरना बन जाता है। यह चैतन्य विशेष या अनुसंधानज्ञान भला हेतुओंस रहित नहीं है। क्योंकि कभी कभी होता है। जो कार्य कभी कभी होते हैं उनका कोई नियत हेतु अवस्य है। विशेष चैतन्यका हेतु यह शरीर तो नहीं है। मृत शरीरमें व्यभिचार हो जायगा। इन्द्रियां भी चैतन्यका हेत् नहीं हैं । क्योंकि चक्ष या श्रवण इन्द्रियका घात हो जानेपर भी देखे सुने हओंका स्मरण हो रहा देखा जाता है । शरीर, इन्द्रिय, नोइन्द्रिय, ये जड पदार्थ तो घट, पट, समान विचार नहीं कर सकते हैं। चार्वाकों द्वारा माने गये पृथिवि, जल, तेज, वायु, चार तत्त्वोंके बते उक्त कार्य करना अशक्य है। अतः परिशेष न्यायसे चैतन्यविशेषका हेत आत्माद्रव्य सिद्ध जाता है। इस कारण चार्वाकोंको आत्माका अभाव कर देना समुचित नहीं है। गर्भसे प्रारम्भ कर चैतन्य विशेषकी जो उत्पत्ति मानी गयी है वह उपादान कारणसे ही सथ सकती है। उपादानके बिना किसीकी उत्पत्ति नहीं होती है। शब्द, बिजली, आदिके भी अदृश्य उपादान वर्त्त रहे हैं तथा मरण के पश्चात किसी उपादेयको उत्पन्न कर ही चैतन्य ट्रह सकता है। उत्तर अधिकारीको नहीं

उत्पन्न कर किसी भी गुणगरिष्ठको नष्ट होनेका अधिकार नहीं है। आध्य प्रकरणमें विस्तारके साथ आत्माके अनादि अनन्तपनकी सिद्धि की जा चुकी है। अठं विस्तरेण।

किंच, अस्मदादेरात्मास्तीति मत्ययः संज्ञयो विपर्ययो यथार्थनिश्चयो वा स्यात् १ संज्ञयश्चत् सिद्धः मागात्मा अन्यया तत्संज्ञयायोगात् । कदाचिदमसिदस्थाणुपुरुषस्य मतिपचु-स्तत्संज्ञयायोगवत् । विपर्ययश्चत्तयाप्यात्मसिद्धिः कदाचिदात्मनि विपर्ययस्य तिकर्णयपूर्वकत्वात् । ततो यथार्थनिर्णय प्वायमात्मसिद्धिः ।

चार्वाकोंके प्रति आचार्य महाराज प्रश्न करते हैं कि क्योंजी, हम जैन या मीमांसक, नैयायिक आदिकोंके यहां हो रहा '' आत्मा है '' इस प्रकारका ज्ञान क्या संशयकान स्वरूप है ? या विपर्ययक्कान स्वरूप है ! अथना क्या यथार्थ वस्तुका निर्णय समझा जाय ! बताओ । प्रथम पक्ष अनुसार आत्मा तत्त्व विद्यमान है, इस ज्ञानको यदि संशय माना जायगा तब तो चार्वाकोंके यहां पहिले आत्मा तत्त्व सिद्ध हो चुका कहना चाहिये। अन्यथा यानी आत्माका कहीं न कहीं अस्तित्व माने विना अन्यत्र उसके संशय होनेका अयोग है। जैसे कि तलघरमें उपजकर पर्छ ह्रये जिस प्रतिपत्ताको आजतक कभी ठूंठ और पुरुषकी यदि प्रसिद्धि नहीं हो सकी है, उस पुरुषको उन स्थाणु जीर पुरुषको विषय करनेवाले संशय ज्ञान होनेका अयोग है। अर्थात्—जो जिसका संशय करता है वह उसका कही न कहीं निश्चय अत्रश्य कर चुका है। साधारण धर्मीका दर्शन और विशेष अंशोंकी स्मृति हो जानेपर संशय ज्ञानकी उत्पत्ति सबने मानी है । अवस्तुको विषय करनेवाळा संशय नहीं होता है । तथा आत्मा है इस ज्ञानको चार्वाक द्वितीय विकल्प अनुसार यदि विपर्यय ज्ञान मानेंगे तिस प्रकार होनेपर भी आत्मतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि कभी कभी आत्मामें उसका निपर्यय ज्ञान तभी होगा, जब कि करीं न कहीं पूर्वमें उस आत्माका निर्णय किया जा चुका होगा। सीपमें रजतकी स्नान्ति उसी पुरुषको उपजती है जो कि कभी कही यथार्थ चांदीका सम्यन्ज्ञान कर चुका है। इससे भी न्यारे आत्मतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। तिस कारणसे तृतीय विकल्प अनुसार "आत्मा है " यह ज्ञान यथार्थ निर्णय स्त्ररूपी है। यों बढ़ी सुलभताते सभी विकल्पोंमें आत्मा द्रव्यकी सिद्धि हो जाती है।

नन्वेवं सर्वस्य स्वेष्टसिद्धिः स्यात् प्रधानादिपत्ययस्यापि सर्वविकल्पेषु प्रधानाद्यस्ति-त्वसाधनात्। तस्येतदसाधनत्वे कथमात्मास्तीति पत्ययस्यात्मास्तित्वसाधनत्विमितं कश्चित्। तदसत्। प्रधानस्य सत्वरजस्तमोरूपस्याविरुद्धत्वात् तद्धर्मस्येव नित्येकत्वादेनिराकरणात्। एवमीश्वरस्यात्मविश्चेषस्य ब्रह्मादेवीभिमतत्वा । तद्धर्मस्य जगत्कर्तृत्वादेरपाकरणात् सर्वर्थकात-स्वापि सर्ववैकात्कातपा कदाचित्मसिद्धस्तस्य सम्यक्तवेन श्रद्धानस्य निराविकीपितत्वात्। सर्वथा सर्वस्य सर्वत्र संश्वयविषयीयाद्यपत्तेः।

चार्क्तकोंका स्वपक्ष अवधारणके लिये आचार्योंके ऊपर कटाक्ष है कि इस प्रकार विकल्प उठानेपर तो सभी प्रवादियोंके यहां अपने अपने अभीष्ट तत्त्वोंकी सिद्धिः हो जायगी सांख्योंकी मानी हुई प्रकृति, या नैयायिकोंका ईश्वर, अथवा एकान्त, वैकेपिकोंका सातवां पदार्थ अभाव, अद्वेतवादियोंका ब्रह्मतत्त्व, आदि पदार्थीकी भी सिद्धी बन वैठेगी। क्योंकि '' प्रधान है '' '' ईश्वर है '' इत्याकारक ज्ञानको संराय या विपर्वय अथवा यथार्थ निर्णय माननेपर सभी विकल्पोंमें सिद्ध कर लिये आत्मतत्त्वके समान प्रधान आदिके अस्तित्वका भी साधन हो जाता है। प्रधानके ज्ञानको संशय होनेपर भी प्रधानका कही सद्भाव बन चुकता है। या विपर्यय माननेपर भी कचित् अस्तित्व मानना आवश्यक हो जाता है। यथार्थ निर्णय तो उनकी सिद्धीका सर्वमान्य प्रयत्न है। यदि जैन उन विकल्पोंके अनुसार उस प्रधान आदिके ज्ञानको उन प्रधान, ईश्वर, आदिका साधन करनेवाला नहीं मानोगे तब तो " आत्मा है " इस ज्ञानको भी कैसे सर्व विकल्पोंमें आभाके अस्तित्वका साधकपना बन सकता है ? यों यहांतक कोई चार्वाक मतानुपायी कह रहा है। आचार्य कहते हैं कि उसका वह कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि प्रधान, ईश्वर, आदिको हम जैन स्त्रीकार करते हैं। सत्त्वगुण, रजेागुण, तमागुण, स्वरूप प्रधानके साथ हमारा कोई विरोध नहीं है। हां, कापिलोंके यहां उस प्रधानके मान लिये गये नित्यत्व, एकपन, बुद्धि, सुख, दुःख, आदि धर्मीका ही इम निराकरण करते हैं। छत्रुपना, प्रकाशपना, प्रेरकपना, साफ्रियपना, भारीपन, प्रतिबन्धकपन, आदि स्वरूपोंसे तदात्मक हो रहे पद्गळ नामधारी प्रधानका थोडे ही करते हैं ? इसी प्रकार एक विशेष आत्मा ईश्वरको अथवा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सुगत, अद्भैत, ( अनुपम ) आत्मा, खुदा, हुसैन, ईसा, आदि त्रिशेष व्यक्तियोंको हम जैन स्वीकार करते हैं। हां केवल उन पौराणिक, अद्वैतवादी, यवन, आदि द्वारा माने गये उन ईश्वर आदिके जगत्कर्तापन, व्यापक्रपन आदि धर्मोका निराक्ररण करते हैं । खुदा असत् दृश्योंका उत्पाद नहीं कर सकता है । ईम्बर असम्भवको सम्भव नहीं कर सकता है। वृक्षपर फल फूलके समान मनुष्य लगकर नहीं उपजते हैं । उपादान कारण या निमित्त कारणोंके विना कोई भी कार्य कोरे अतिशय, माया या ईश्वरक्रीडा-मात्रसे ही नहीं उत्पन्न हो सकते हैं। कोई भी आत्मा सर्वन्यापक नहीं ही सकता है। ब्रह्मा, सुगत, सात्यिक, ये अपने माता पिताओंके रजोवीर्यसे उत्पन्न हुये हैं। तपश्चरण कर इन्होंने कार्यकारणभावका अतिक्रमण नहीं करते हुये अनेक ऋदियां, सिद्धियां प्राप्त की हैं। किन्तु ऐसी सृष्टि प्रक्रिया युक्तिओंसे वाधित है कि विष्युकी नामिसे उत्पन्न हुये कमलसे बहाकी उत्पत्ति है और बहाने सबसे पहिले ( सर्गस्यादावपोऽमुजत् या सृष्टिः सृष्ट्राचा ) जलको बनाया पीछे प्रियेती. सर्व. चन्द्रमाः आदिका निर्माण किया । क्योंजी, पृथिवी या आकाशके विना ब्रह्माने कहा बैठकर जल बनाया ? समुद्र जलमें विराजमान विष्णु भगवान् और कमल तो ब्रह्मके जन्मसे प्रथम ही बन जुके होंगे इत्यादिक अनेक प्रकारोंसे दूषणगण आते हैं । इस कारण ईश्वर या अझाका जगत् कर्त्वापन आदिका धर्म नहीं सम् पाते हैं। तथा बीद, सास्य, मीमासक, आदि द्वारा सर्वेद्या क्षणिकपन, निरंपपन, आदि एकान्तांके भी सर्वधा एकान्ताखरूप करके कभी कभी हम प्रसिद्धि मानते हैं। हां, केवल उम एकान्तांका ही एकी किनाने करके श्रद्धान करनेके निराकरणकी अभिलाषा हमारे हो चुकी है। ऋजुस्त्रनयामास, संप्रहाभास नयों करके सर्वधा क्षणिकपन और सर्वधा निरंपपन धर्म आन्ताकानों द्वारा कदाचित् जाने जाते हैं। तभी तो उनका समीचीन रूपसे श्रद्धान करनेका निरंकरण हमें अभीश हो रहा है। बात यह है कि सभी प्रकारोंसे सभी स्थलोंपर सम्पूर्ण प्राणियोंको किसी मी विषयका संशय, विपर्यय होना नहीं वन सकता है। कहीं प्रसिद्ध हो रहे ही धर्मका अन्यत्र, अभ्यदा, संशयक्षान, विपर्यज्ञान, होना सम्भवता है। अतः आत्मतत्त्वका सद्भाव विना खटके मान लेना चाहिये।

नन्वेबमात्मनि सत्यपि नोपयोगस्य लक्षणत्वमनवस्थानादिति चेषा, उपयोगसामान्य-स्यावस्थापितत्वाद् । परापरोपयोगनिश्चेषस्य चात्रुपरमात्तस्य लक्षणत्वोपपत्तेः सर्वयोपरमे प्रवरतस्थारणाद्यभावमसत्तेः ।

यहां आत्मद्रव्यको न माननेवाछे चार्वाक या किसी बीद्धकी शंका है कि इस प्रकार युक्ति-पूर्वक आत्माका सद्भाव सिद्ध हो जानेपर भी तो उपयोगको लक्षणपना नहीं बन पाता है। क्योंकि ब्रानस्बरूप या दर्शनस्बरूप उपयोग क्षाणिक है। क्षणस्थायी पदार्थ तो कालान्तरतक ठहरता नहीं है। प्रतिपादक वक्ताके बताये अनुसार शिष्य जबतक आत्माको पहिचाननेके छिये छपकेगा तबतक क्षाग्रस्थायी उपयोग बिगड जायगा । दौडती हुई डांक गाडीमें तीर या बन्दूकका चिन्ह साधना अतीव कठिन हैं। देवदत्तके घरको कीआकी स्थितिसे चीन्हमा नहीं बनेगा। कारण कि कौंआके उड जानेपर वह लक्षणयुक्त घर ही एक प्रकारसे बिगड जाता है। अत: अस्पादी पदार्यको किसीका लक्षण बनाना ठीक नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करना। क्योंकि सामान्यरूपसे कोई न कोई उपयोग आत्मामें सदा उपस्थित रहता साध दिया गया है। एक उपयोगके बिगड जानेपर भी उत्तरोत्तर सन्तानरूपते होनेबाडे अन्य विशेष उपयोगोंका कमी विराम न**हीं हो पाता**ँहै । उपयोगकी परम्परा बनी रहती है । इस कारण उस उपयोगको लक्षणपना बन जाता है। यदि सभी प्रकारोंसे पर, अधर, सभी विशेष उपयोगोंका आस्पामें अभाव मान होगे फिर तो पश्चात् स्वरण, प्रत्यभिक्षान, इष्ट, साधनताक्षान, कृतिसाध्यता ज्ञान आदि होनेके अभावका प्रसंग **ो** जायगा । जसे कि विरोध व्यक्तियोंके मर जानेपर मारतवर्षमें यदि उत्तरोत्तर जन्म धार रहे अन्य विशेष मंत्रायोंका भी अभाव मान किया जायमा तो ऐसी दशामें भारतवर्ष सर्वथा मनुष्योंसे खाळी हो **जनगर । किन्तु ऐसा होना अळीक है । आरमाके भी उपयोगका सर्वथा अभाव मान** लिया जाय तो जड आत्मा पीछिते स्मरण नहीं कर सकेशा । स्मरण तो उपयोगअवस्थामें किसी विशेष उपयोगका ही होता है। अक्रम ज़द पदार्थको अनुपयोग दशामें स्मरण नहीं हो पाता है। जो आत्मा पूर्व शास्त्रमें

अनुमन कर चुका है, वही पीछे अनुभूत अर्थका स्मरण कर सकता है। दूसेर व्यक्तिसे अनुभूत अर्थका स्मरण नहीं कर पाता है।

संतानैकत्वादज्ञुस्मरणादिरिति चेश्व, तस्यात्मनिन्हवे ,संष्ट्रतिसतोज्जस्मरणादि हेतुत्वाघो-गात् । परमार्थसन्त्वे वा नाममात्रभेदात् ।

यदि शंकाकार यों कहें कि उपयोगोंको क्षणिक मानते हुये मी उपयोगोंकी लडी बंधजानारूप सन्तानका एकपना होनेसे अनुस्मरण, परामर्श, आदिक हो जांयगे। लोहेकी सांकलमें अनेक काडियोंके न्यारे न्यारे होते हुये भी एक दूसरेका सम्बन्ध बना रहता है। एक कडीके खींचनेपर पूरी सांकल खिचती, लटकती, बंधी, रहती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तुम बौदोंने अन्वयी आत्म द्रव्यको लिपाया है, माना नहीं है, और सन्तानको संवृत्ति यानी व्यवहारसे सत् माना है। वस्तुतः संवृत्तिको असत् पदार्थ बतलाया है। ऐसी दशामें आत्मतत्त्वका अपलाप करनेपर केवल व्यवहारसे सत् हो रही, उस सन्तानको अनुस्मरण आदिका हेतुपना घटित नहीं होता है। हां, यदि बौद्ध उस संतानका परमार्थरूपसे सद्भाव स्त्रीकार कर ले, तब तो हमारे आत्मतत्त्व और तुम्हारे वस्तुमूत सन्तानमें केवल नामका ही भेद हो रहा कहना चाहिये। अर्थमें कोई भेद या विवाद नहीं रहा। सम्पूर्ण उपयोग विशेषोंमें आत्मद्रव्य अन्वित हो रहा है, जैसे कि सांकलकी कडीमें कडी सन्तानरूपसे पुत्र रही है। उपयोगका सर्वधा विनाश नहीं हो पाया है। किन्तु कथांचित् विनाश और कथांचित् स्थिति है, इस बातको हम अनेक बार कह चुके हैं।

उपयोगसंबंधो लक्षणं जीवस्य नोपयोग इति चेत्, स ति जीवस्यार्थीतरभूतेनोपयो-गेन स संबंधो यदि जीवादन्यस्तदा न लक्षणमर्थीतरवत्, अन्यथोपयोगस्यापि लक्षणत्वसि-देरिविश्चेषात् । अर्थीतरभूतेन संबंधेनाप्यपरः संबंधो लक्षणमिति मतं, कथमनवस्थापरिहारः १ सुद्रिमिप गत्वा यदि संबंधः संबंधिनः कथंचिदनन्यत्वालक्षणमिष्यते ;तदोपयोग एवात्मनो लक्षणमिष्यतां तस्य कथंचित्तादात्म्योपपत्तेः ।

यहां वैशेषिकका कटाक्ष है कि उपयोगक सम्बन्ध हो जानेको जीवका लक्षण कहना चाहिये। उपयोग तो जीवका लक्षण नहीं सम्भवता है। जिस चिन्ह करके लक्ष्य व्यावृत्त कर लिया जाय वह चिन्ह लक्षण कहा जाता है। कोनेमें रखा हुआ दण्ड तो देवदत्तका लक्षण नहीं है, किन्तु पुरुषके साथ दंडका संयोग सम्बन्ध हो जाना पुरुषका लक्षण है। तभी वह संसर्ग ही दण्डरहित पुरुषके दण्डी पुरुषकी व्यावृत्ति कराता हुआ ज्ञापक लक्षण हो जाता है। उसी प्रकार मिन पडे हुये उपयोगको जीवका लक्षण नहीं कहकर उपयोगके समन्त्रायसम्बन्धको जीवका ज्ञापक लक्षण मानना चाहिये। भोज्य पदार्थका उदरमें संसर्ग हो जाना तृत्तिका हेतु है, थालीमें रखा हुआ मोज्य पदार्थ नहीं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार यदि वैशेषिक कहेंगे तब तो हमारा यह विचार

है कि तम्हारे मन्तव्य अनुसार जीवसे सर्वथा भिन्न हो रहे उपयोगके साथ जीवका हो रहा सम्बन्ध यदि जीवसे भिन्न है तब तो वह सर्वथा भिन्न हो रहें पदार्थके समान वह सम्बन्ध भी लक्षण नहीं हो सकता है। अन्यया यानी भिन्न हो रहे भी सम्बन्ध हो यदि लक्षण मान लिया जाय. तब तो विचारे उपयोगको भी लक्षणपनकी सिद्धि हो जायगी, कोई अन्तर नहीं है। अर्थात-भेदबादी वैशेषिकीक यहां दण्डद्रव्यका पुरुषके साथ हो रहा संयोग तो गुण पदार्थ माना गया है और संयोगका दण्डमें न्यारा हो रहा समैत्रायसम्बन्ध तो छठवां स्वतंत्र पदार्थ माना गया है। उसी प्रकार उपयोगका समवाय सम्बन्ध भी तो जीवसे अर्थान्तरभूत ही पढेगा। अतः जिस भेद हो जानके डरसे तुम वैशेषिकोने उपयोगको छोडकर उपयोग सम्बन्धकी शरण ली थी. वह भय तो तदबस्य है। है । उपयोगके न्यारे समवाय सम्बन्धको जोडनेके लिये स्वरूप सम्बन्धको और पनः न्यारे स्वरूप सम्बन्धका योग करनेके छिये अन्य सम्बन्धकी आवश्यकता होती जाती है। फिर भी सर्वथा भिन्न हो रहे सम्बन्धके साथ भी उसका न्यारा सम्बन्ध लक्षण माना जायगा तब तो उस न्यारे सम्बन्धका भी मिलाप करनेके लिये अन्य सम्बन्धोंकी आकांक्षा बढ़ती चली जायेगी। यों मेदवादियोंके मतमें अनवस्था दोषका परिहार कैसे हो सकता है ? सो तुम्ही जानो । हां, यदि उपयोगको भी मानते हुये उपयोगके सम्बन्धको वैशेषिक अभिन्न मान छेते होते तब तो यह उनका कटाक्ष करना हमको और उनको दोनोंको लाभदायक होता । किन्तु वे तो सम्बन्ध और सम्बन्धियोंका सर्वधा भेद माननेकी सीगन्ध छे चुके हैं । अनवस्थाके निचारणार्थ यदि बहुत कुछ दूर भी दशवीं, पचास्वीं, कोटिपर जाकर स्वसम्बन्धिके साथ कथंचित अमेद हो जानेसे सम्बन्धको लक्षण अमीष्ट किया जायगा तब तो उपयोग ही आत्माका रुक्षण अभीष्ट कर लिया जाओ। क्योंकि जैन सिद्धान्तमें उस उपयोगका अपने सम्बन्धी छक्ष्यभूत आत्माके साथ कथांचित् तदात्मकपना युक्तियोंसे सिद्ध हो रहा है। अतः जीवका आत्मभूत हो रहा उपयोग समीचीन लक्षण है, कोई दोष नहीं है।

## तस्योपयोगस्य भेदमतिपादनार्थमाइ ।

जीवके लक्षण उस उपयोगके मेदोंकी प्रतिपत्ति व रानेके लिये जिज्ञासु शिष्यके प्रति श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

## स द्विविधोष्टचतुर्भेदः ॥ ९॥

बह प्रिन्द हो रहा उपयोग दो प्रकारका है एक ज्ञानोपयोग, दूसरा दर्शनोपयोग, तिनमें पहिला ज्ञानोपयोग आठ मेदवाला है, और दूसरे दर्शनोपयोगके चार मेद हैं।

स उपयोगो द्विविधस्तावत्, साकारो ज्ञानोपयोगः सविशेषार्थविषयत्वात्, निराकारो दर्शनोपयोगः सामान्यविषयत्वात् । तत्राद्योऽष्टभेदश्चतुर्भेदोन्य इति संख्याविश्वेषोपादानात्यूर्वे ज्ञानद्वकं अभ्यदितत्वाभिश्वीयते । एतत्सूत्रवचनादेव ।

सूत्रके अर्थको श्री विद्यानन्द स्त्रामी यो कहते हैं कि वह उपयोग दो प्रकारकाल है। सबसे प्रथम तो आकारसहित होरहा ज्ञानोपयोग है। त्रिशेष अंशोंस सहित हो रहे अर्थको विषय करनेवाल होनेसे ब्रानोपयोग साकार कहा जाता है। यहां आकारका अर्थ प्रतिबंब पडना नहीं है। किन्तु हैय अर्थकी विकल्पना करना है । " ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सळक्षणाङ्किताः । सम्बल्याद्वा विस्रोक्षहा सर्वे नाकारमातुकाः । आकारोधीवकल्पस्त्यादर्थः स्वपरगोचरः । सोपयोगो विकल्पो ः वा ह्रानस्यैत-हिल्क्षणम् '' बत्सामान्यमनाकारं साकारं यहिशेषभाक् '' इत्यादि पंचाध्यायीके वान्सींसे भी झानमें स्विकल्पकपना ही आकार निर्णात किया गया है। ज्ञानके सिवाय अन्य गुणोंकी केवल खांशमें स्वसत्ता मात्र अनुभूति होती रहती है । ज्ञान ही स्व, परका विशेष रूपकरके उन्नेख करता है । अतः ज्ञानोपयोग साकार है तथा केवल महासत्ता सामान्यको विषय करनेवाला होनेसे दर्शनोपयोग निराकार या निर्विकल्पक माना जाता है। उन दो भेदवाले उपयोगोंमें आदिके उपात आनोपयोगके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययञ्चान, केवलज्ञान, कुमति, कुश्रुत, विभंग, इस प्रकार आठ प्रभेद हैं। तथा ज्ञानोपयोगसे दूसरा भिन्न दर्शनोपयोग तो चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अविदर्शन, केबलदर्शन, इस प्रकार चार प्रभेदोंको भार रहा है। यद्यपि मूलसूत्रमें पहिले ज्ञान शह और पीछे .दर्शन राद्वका सूत्रकारने कण्ठोक्त प्रयोग नहीं किया है, तो मी विशेषसंख्यां आढका बाचक अष्ट शद्धका सूत्रमें उपादान करनेसे ज्ञानोपयोगका प्रथम प्रहण करना ही अक्षित हो जाता है। ज्ञानके ही आठ भेद हैं। आलोचन करना स्वरूप दर्शनसे अधिक पूज्य होनेके कारण सूत्रमें ज्ञान पहिले कहा गया है, ऐसा इस सूत्रके वचनसे ही निर्णीत हो रहा है। अन्यथा आठ और चार संख्याका इन्द्रसमास होनेपर " संख्याया अल्पीयस्याः " इस सूत्र अनुसार चतुर् शह्नका पूर्वमें निपात हो जाता । जब कि अष्टराद्वका प्रयोग पहिले दीख रहा है, तब तो पूज्य होनेसे ज्ञान ही पहिले कहा समा है, यह निर्णीत है।

## यथोक्तोपयोगन्यक्तिन्यापि सामान्यग्रुपयोगोऽस्य इक्षणमिति दर्श्वयति ।

यद्यपि सम्याज्ञान पांच ही हैं, फिर भी उपयोगका प्रकरण होनेसे तीन विपरीतज्ञान भी पकड़ लिये जाते हैं। सम्यादिष्ट या मिथ्यादिष्ट जीव सदा ज्ञान करते समय आठ उपयोगोमेंसे किसी एक उपयोगसे उपयुक्त अवश्य होगा। इस प्रकार सर्वज्ञ आम्बाय अनुसार सृज्यों ठीक कहे जा चुके आठ उपयोग व्यक्तियों में व्याप रहा सामान्य उपयोग तो इस जीवका लक्षण है। इस बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा शिष्योंके सन्मुख दिखलाते हैं।

स द्विविभोष्टचतुर्भेद इत्युक्तेः सूरिणा स्वयम् । शेषमावत्रयात्मत्वस्यैतलक्ष्यत्वसिद्धितः ॥ १ ॥ वह उपयोग आठ और चार प्रभेदों के क्रमसे धार रहा दो प्रकार है, यों श्री उमास्वामी आचार्य करके स्वयं वण्ठोक्त कथन कर देनेसे यह निर्णीत हुआ समझो कि रोष बचे तीनों भाव स्वरूप जीवको इस उपयोगका लक्ष्यपना सिंह हो जाता है। क्षायिक और क्षायोपशिमिकों के रोष पन्दह और तीनों के अन्य लन्दीस यों इकतालीसका पिण्ड हो रहा जीव लक्ष्य है। अर्थात् दर्शनोपयोग और क्षानोपयोगके साथ जीवका तदात्मक सम्बन्ध मान लेनेपर प्रश्न उठ सकता है कि झानोपयोग और दर्शनोपयोगके अतिरिक्त आत्माका डील क्या बच रहता है, जिसको कि उपयोग नामक लक्षणका लक्ष्य बनाया जाय ! इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि अभिका लक्षण उच्चता करनेपर रोष रहे रूप, तेजस्विता, दाहकत्व, पाचकत्व, आदि गुणोंका पिण्ड हो रहा अप्रिलस्य हो जाता है। शाखाके बोझसे इक्ष दूर पड़ा है, देवदत्त दो पैरोंसे चलता है, इन्द्रदत्त हाथों करके मुखमें खाता है, जिनदत्तको पण्डिताई शोभती है। यहां उन गुणों या अवयवोंसे रोष बचा हुआ पिण्ड जैसे उद्देश्य या लक्ष्य हो जाता है। उसी प्रकार कुछ क्षायोपशिमक और कुछ क्षायिक भावोंसे रोष बच रहे औपशिमक औदिक्षक पारणामिक भावोंसे तदात्मक हो रहे जीवको लक्ष्य समझ लिया जाता है।

जीवस्योपयोगसामान्यमिह छक्षणं निश्चीयते इति श्रेषः, स द्विविध इत्यादिस्त्रेण तद्दि-शेषकयनात् । अष्टाभ्यो ज्ञानव्यक्तिभ्यश्चतस्भ्यो दर्शनव्यक्तिभ्यश्चान्ये शेषा अष्टी शाषोपश्च-मिकभेदाः सप्त च क्षायिकभेदाः परिष्ठश्चंते । भावत्रयं पुनरीपश्चमिकौद्यिकपारिणामिकिविकस्यं मत्येयं । शेषाश्च भावत्रयं च शेषभावत्रयं तदात्मा स्वभावो यस्य जीवस्य स शेषभावत्रयात्मा तस्य भावः शेषभावत्रयात्मत्वं तस्यैतछक्ष्यत्वसिद्धेः भतिपादितोपयोगव्यक्तिगतसायान्येन स्वश्च-णत्वोपपत्तेरित्यर्थः ।

उक्त कारिकामें " लक्ष्यत्व सिद्धितः, ऐसा हेतुपरक वाक्य होनसे जीवका उपयोग सामान्त्र यहां लक्षण निश्चित हो रहा है। इस प्रकार प्रतिज्ञा वाक्य रोष रह गया है। अतः प्रतिज्ञावाक्य और हेतुको मिलाकर वाक्यार्थ कर लेना चाहिये। "स दिविधः " इत्यादि सूत्र करके उस उपयोगके विशेषोंका कथन हो जानेसे जान लिया जाता है कि इससे पूर्व सूत्रमें किया गया जीवका लक्षण उपयोग सामान्य है। वार्त्तिक पूर्वार्द्धका विवरण हो चुका। उत्तरार्द्धकी व्याख्या इस प्रकार है कि आठ संख्यावाली ज्ञान व्यक्तियोंसे और चारदर्शन व्यक्तियोंसे भिन्न रोष वच्च रहे क्षायोगशमिकके आठ भेद और क्षायिकमावके सात भेद पक्षडकर प्रहण कर लिये जाते हैं। अर्थाद् वारह प्रकारके उपयोगमें मित, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, कुमति, कुश्चत, विमंग, ये सात ज्ञान और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये तीन दर्शन इस प्रकार दश भेद तो क्षायोपशमिक भावोंके हैं और केवल्ड्यान, केवल्ड्यान ये तीन दर्शन इस प्रकार दश भेद तो क्षायोपशमिक भावोंके हैं और केवल्ड्यान, केवल्ड्यान ये दो उपयोग क्षापिक भावोंके गिनाये गये हैं। सम्पूर्ण अठारह क्षायोपशमिक भावोंके पूर्वोक्त दश भावोंका उपयोगमें परि-प्रह कर लेनेसे रोष पांच लिक्श्वान, सम्यक्त चारित्र संयमासंयम ये आठ क्षायोपशमिकभाव वचे रह

जाते हैं। और नौ क्षायिक भावोंमेंसे केवलज्ञान और केवलदर्शन के लिये गये तो पांच लिक्स्यां, सम्यक्त, चारित्र ये सात क्षायिक भाव शेष रह जाते है। तथा पनः दो भेदवाले औपशमिक, इक्कीस भेदवाल औदियक, और तीन या अनेक विकल्पोंको बार रहे पारिणामिकभाव ये तीनों भाव समझ छेने चाहिये । राष राज्य और भावत्रय राज्यों ता समाहार द्वन्द्रकर जिस जीवके क्षयोपशमिक और क्षायिकमार्वोमेंसे शेष बच रहे पन्द्रहमात्र तथा औपशमिक, औदयिक, और पारिणामिक ये तीनों भाव तदात्मक होकर स्वभाव हो रहे हैं, वह शेष भावत्रयात्मा है, उसका भाव अर्थमें त्व प्रत्यय करने पर शेष भावत्रयात्मकपना अर्थ हो जाता है । वे शेप पत्प्रहमात्र और औपरामिक आदिके छन्त्रीस-भाव यो इकतालीस भावोंके साथ तदात्मक हो रहे उस जीवको इस उपयोग लक्षणका लक्ष्यपना सिद्ध हैं। भिन्न भिन्न समझा दिये गये बारह उपयोग व्यक्तियोंमें प्राप्त हो रहे सामन्य धर्भकरके उपयोगको **रुक्षणपना बन रहा है । यह वार्तिकका अर्थ है । भावार्थ—कारिकामें कहे गर्थ शेष शब्दका भाव-**त्रयके साथ कर्मधारय समास नहीं करना चाहिये। किन्तु इन्द्र समास कीजियेगा, यह श्रीविद्यानन्द-स्वामीका स्वीपन्न विवरण है। सम्यानान प्रमाण है, यह लक्ष्यलक्षणभाव एक ढंगका है, तथा अग्नि उष्ण है, सींग सासनावाली गौ होती है, यह लक्ष्यलक्षणभाव दूसरे ढंगका है। यहां अग्निका उष्ण-पंना लक्षण करनेपर अग्निके रोष गुण या ध्वमाव लक्ष्यमूत माने जाते हैं। सांग और सासना (ंगळकंबळ ) को ळक्षण मान छेनेपर शेष हाथ, पैर, पेट मस्तक पींठ, आदि अप्रयोंकी धार रही गाय लक्ष्य हो जाती है। इसी प्रकार त्रेपन भावोंसे तन्मय होकर सद्भूत हो रहे जीव पदार्थके तदात्मक बारह भाव तो लक्षण हैं। और इकतालीस भावोंका तदात्मक पिण्ड हो रहा जीव पदार्थ लक्ष्य हैं। एक बात यह भी प्रन्थकार कह रहे हैं कि सामान्यरूपसे बारह उपयोगको हमने जीवका लक्षण कहा है. जिस जीवके जितने उपयोग सम्भव होय वैसा लक्षण घटित कर लेना। वैसे तो लग्नस्थ जीवींके एक समयमें एक ही उपयोग सम्भवता है। हां, केवळज्ञानीके एक साथ दो उपयोग सध जाते हैं। यह भी युगपत्पना ज्ञानावरण दर्शनावरणोंका क्षय हो जानेसे कह दिया जाता है। वस्तुतः सामान्य विशेषात्मक सम्पूर्ण पदार्थीको जान रहे केवछ ज्ञानके चमकते रहनेपर महासत्ताका आछोचन करनेवाला केवलदर्शन नगण्य है। एक गुणकी एक समयमें एक ही पर्धाय होनेका नियम सर्वत्र सर्वदा सबके लिये लागू है, केवलज्ञानी जीवका चेतना गुण भी उसी नियमके अनुसार परिणमेगा। तथा इकताळीस भार्त्रोके पिण्डस्वरूप जीवको छःयपना भी सामान्यरूपसे कहा गया है। बिशेष रूप से तो इकतालीस भावोंमें जितना भी जिस जीव के सम्भवने योग्य है, उतने भावोंके समुदायात्मक जीवको छक्ष्य बनाना चाहिये। जैसे बारहीं उपयोगींका एक जीवने एकदा सद्भाव पाया जाना असम्भव 🕏. उसी प्रकार इकतालीसों भावोंका एकदा पिण्ड बन जाना भी असम्भव है। क्षायोपशमिक ब्रानका क्षायिक ज्ञानके राथ जैसा विरोध है, वैसे ही औपशामिक सम्यक्तवका क्षायिक र स्यक्तवके माथ या क्षायोपशमिक चारित्रका क्षायिक लिन्ययोंके साथ विरोध है। उपयोगमें गिनाये गये

मनःपर्यय ज्ञानका छत्य जीवके अवयव हो रहे उपराम सम्यक्त्वके साथ विरोध है। अतः कथंचित् भेद, अभेदको रखते हुये जीव और उपयोगका छत्त्यछक्षणभाव सिद्ध कर दिया है।

## एवं सूत्रद्वयेनोक्तं लक्षणं लक्षयेत्ररं । कायाद्वेदेन संश्लेषमापनादपि तत्त्वतः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्री उमास्त्रामी महाराजने " उपयोगो लक्षणं " और " स द्विविधोष्टचतुर्मेदः " इन दो सूत्रों करके जीवका लक्षण कह दिया है। परस्परमें संसर्गको प्राप्त हो रहे भी शरीरसे वह लक्षण वास्तविक रूपसे जीवका भित्रपने करके परिचय करा देवेगा। अर्थात्—पुद्गलतस्व और जीवतस्व दोनोंसे मिलकर बने हुथे शरीरधारी जीवमें अनुभूत हो रहा उपयोग उस जीवको तास्विक रूपसे न्यारा न्यारा चिन्हा देगा। जैसे कि न्यारिया टांका मिले हुये सोनेको विशेष लक्षण द्वारा सुवर्णपने करके न्यारा परस्व लेता है।

यथा जलानलयोः संश्लेषमापन्नयोरप्युष्णोदकावस्थायां द्रवोष्णस्वभावलक्षणं भिन्नं भेदं साधयति तथा कायात्मनोः संश्लेषमापन्नयोरपि सूत्रद्वयोक्तं लक्षणं भेदं लक्षयेत्सर्वत्र लक्षण-भेदस्येव भेदच्यवस्थाहेतुत्वात् । तदभावे प्रतिभासभेदादेरभेदकत्वात् ।

जिस प्रकार कि अग्नि द्वारा उष्ण किये गये तप्तज्ञक्की अवस्थामें एकम एक संसर्गकी प्राप्त हो रहे जल और अग्निका वहने योग्य पतलापन स्वभाव और उष्णस्वभाव ये दो भिन्न भिन्न लक्षण उन जल अग्नियोंके भेदको साध देते हैं, तिसी प्रकार एकलबुद्धिजनक सम्बन्धरूप बन्धको प्राप्त हो रहे भी काय और आत्माका पूर्वोक्त दो सूत्रोंमें कहा गया लक्षण, उनके भेदको मान प्रेरणापूर्वक चिन्हा देवेगा । सभी दार्शनिकोंके यहां लक्षण द्वारा किये गये भेदकी ही भेदकी व्यवस्था करा देनेका हेतपना प्राप्त है। यदि किसीका वह छक्षण भिन्न भिन्न नहीं है तो ऐसी दशामें न्यारा न्यारा प्रतिभास होना या न्यारे देशमें रहना आदि तो छश्य पदार्थीका भेद करानेवाले नहीं हो सकते हैं। बात यह है कि जैन सिद्धान्त अनुसार उष्ण जलमें कोई अप्नितत्त्व और जलतत्त्व दो न्यारे न्यारे मिल रहे पदार्थ नहीं हैं । पौद्रिकिक अग्निका निमित्त मिळनेपर जल ही उच्चा स्पर्शवाला बन जाता है । निमित्तके इट जानेपर कुछ देर पश्चात् अपेक्षाकृत शीतल हो जाता है । किन्तु चार्वाक या वैशेषिकके सिद्धान्त अनु-सार आचार्य महाराजने उनके सन्मुख उन्हींका द्यान्त धर दिया है। हां, दूधमें घुछे हुये पानीके समान अभिके कण तो जलमें घुल नहीं सकते हैं । क्योंकि जल और ईंधनकी अभि दोनोंमें क्य घातक बिरोध है। देखी समुद्रकी अप्नि बडवानलकी जाति न्यारी है। बढ़ भी योग्य परिमाणमें जलकी जलाती रहती है। और जल भी उसको बुझाता रहता है। पेटकी आग उदराप्रिकी भी ऐसी अवस्था है। बदार्थीके नैमितिक परिणमनों की विचित्र पद्धति है। बहुमाग न्यक्तियों को उचित पानी पी छेनेपर ही उदरामिद्वारा अन्नका अच्छा परिपाक होता है। दाल भी पानी डालनेपर सीझती है, सूखी दाल नहीं

पकती है। किसी अवसरपर विवादापन विषयको शीघ्र निवटानेके लिये आचार्य महाराज प्रतिकादियों में प्रसिद्ध हो रहे दृष्टान्ति ही उनके सन्मुख अपने अभीष्ट तत्त्वको साध्र देते हैं। लक्षणके भेदसे ही लक्ष्यका भेद समझना न्यायमार्ग है। प्रतिभासके भेदसे लक्ष्योंका भेद नहीं हो सकता है। देखिये, दूरसे, निकटेस, अतिनिकटसे, देखनेपर एक ही वृक्षके अनेक प्रतिभास (झान) हो जाते हैं। एक ही अभिको आगम, अधुमान, प्रत्यक्ष झानोंसे जाना जा सकता है। सादश्यवश या आन्तिवश अनेक क्ष्योंका भी प्रतिभास कभी कभी भेदरहित हो जाता है। ऐसे ही देशभेद या कालभेद अथवा वाक्यरभेदसे भी लक्ष्योंका भेद नहीं सध पाता है। एक देशमें वात, आतप, के समान अनेक पदार्थ दृष्ट जाते हैं। एक बांस या लग्न पदार्थ दृष्ट जाते हैं। एक बांस या लग्न विद्यार्थी कई काष्टासनोंको घर सकता है। एक कालमें अनेक यदार्थ वर्ष रहे हैं। एक पदार्थ भी कालान्तरतक स्थायी रह जाता है। आकारोंके भेदको लक्ष्यका व्यावर्षक माननेपर भी ऐसे ही अन्वयन्यभिचार और न्यतिरेक न्यभिचार आते हैं। अतः प्रकरणमें जीवका लक्षण उपयोग साध दिया गया है।

## के पुनर्जीवस्य भेदा इत्याह।

अब आगेके सूत्रका अवतार दिखानेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी संगतिको समझाते हैं। किसी शिष्यका प्रश्न है कि फिर यह क्ताओ कि उपयोग लक्षणको धारनेवाले जीवके भेद कितने हैं। ऐसी निज्ञासको प्रकट कर रहे प्रतिपाद्यके प्रति श्री उमास्वामी महाराज समाधानके वचन कहते हैं।

# संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, काल परिवर्तन, भवपरिवर्तन, और भावपरिवर्तन, इन पांच प्रकारके संसारको धार रहे संसारी जीव और पांचो प्रकारके संसारसे छूट चुके मुक्त जीव इस प्रकार सामान्यरूपसे जीव दो भेदोंमें विभक्त हैं। अर्थात् जीवके संसारी और मुक्त दो भेद हैं। संसारी जीव बहुत यानी अक्षय अनन्तानन्त हैं तथा मुक्तजीव उन संसारिओंसे यद्यपि अनन्तवे भाग स्वल्प हैं. फिर भी अनन्तानन्त गिनाये गये हैं।

जीवस्येत्यतुर्वतनाद्भेदा भवंतीत्यध्याहारः । आत्मोपचितकर्भवश्वादात्मनो भवांतरा-वाप्तिः संसारः तत्संबंधात् संसारिणो जीवविश्वेषाः । निरस्तद्रव्यभाववंधा मुक्तास्ते जीवस्य सामान्यतोभिष्टितस्य भेदा भवंतीति सूत्रार्थः । ततो नोपयोगेन छक्षणेनैक एव जीवो सस्य इत्यावेदयति ।

द्वितीय अध्यायके प्रथम सूत्रमेंसे " जीवस्य " इस शद्धकी अनुवृत्ति कर छेनेसे संसारी और मुक्त ये दो मेद जीवके हो जाते हैं। इस प्रकार " भेदा " और " भवन्ति " इन शद्धोंका अध्याहार करते हुये अर्थ बन जाता है। अपने ही द्वारा उपार्जित किये आठ प्रकारके कर्मोंकी अधीनतासे आत्माकी अन्य अन्य भवोंमें प्राप्ति होना संसार कहा जाता है। उस संसारका सम्बन्ध हो जानेसे

अन-तानन्त जीवविशेष संसारी बन रहे हैं तथा जिन जीवोंका पौद्रलिक द्रन्यवन्त्र और राग, हेष, अझान, मूर्ति, गुरु, लघुपना, आदि भाववन्ध अपने पुरुषार्थद्वारा अनन्तकालतकके लिय निरस्त कर दिया गया है, वे मुक्त हैं। इस प्रकार सामान्यरूपसे कह दिये गये जीवके ये दो भेद संसारी और मुक्त हो जाते हैं। यों सूत्रका अर्थ घटित हो जाता है, तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि उपयोग नामके लक्षण करके एक अद्वेत जीव ही लक्ष्य नहीं है, किन्तु द्रव्यरूपकरके अनन्तानन्त संख्यको धार रहे जीव ही उपयोगकरके चीन्हे जाते हैं। इसी बातको श्रीविद्यानन्दस्वामी सम्पूर्ण विद्वानोंके सन्मुख निवेदन करें देते हैं, उसको समझ लीजियेगा।

## लक्ष्याः संसारिणो जीवा मुक्ताश्च बहवोन्यथा। तदेकत्वप्रवादः स्यात्स च दृष्टेष्टवाधितः ॥ १ ॥

इस उपयोगके प्रकरणमें मुक्तींसे अनन्त गुणे बहुतसे संसारी जीव और बहुत अनन्तानन्त मुक्त जीव इस उपयोगके छक्ष्य हो रहे हैं। अन्यथा यानी उपयोग छक्षणसे व्यास हो रहे वहुत जीव न माने जाकर दूसरे प्रकारसे अदैत ब्रह्म ही माना जायगा तब तो उस जीव तत्त्वके एकपनका प्रवाद फैल जायगा, और वह ब्रह्माद्देत वादियों द्वारा ढोल पीटकर प्रसिद्ध कर दिया गया आत्माक एकपनका प्रवाद तो दृष्टपमाण यानी प्रत्यक्षप्रमाण और इष्टप्रमाण अनुमान आदिसे बाधित हो रहा है।

संसारिण इति बहुत्वनिर्देशाद्धह्वो जीवा लक्षणीयास्तथा ग्रुक्ताश्रेति वचनात्ततो न दूँद्र-निर्देशो युक्तः संसारिग्रुक्ताविति । तिभर्देशे हि संसार्येक एव ग्रुक्तश्रेकः परमात्मेति भवादः मसज्येत । न चासौ श्रेयान् दृष्टेष्टवाधितत्वात् ।

इस कारिकाका विवरण यों है कि गुरूणां गुरु श्री उमास्त्रामी महाराजने इस सूत्रमें संसारिणः ऐसा बहुत्व संख्याको कहनेवाळी जिस विभक्तिको धार रहे " संसारिणः " इस प्रकार बहुवचन शह स्वरूपका कथन किया है। इससे प्रतीत होता है कि एक नहीं किन्तु बहुतसे जीव इस उपयोग ळक्ष-णसे ळक्ष्य बनाने योग्य हैं। तथा " मुक्ताः " इस प्रकार बहुवचनान्त मुक्त शहका कथन करनेसे बहुतसे मुक्त जीव उस उपयोगके ळक्ष्य हैं, यह निर्णीत हो जाता है। तिस ही कारणसे छाघव गुणका विचार कर " संसारी च मुक्ताश्च " यों इंद्र समास कर " संसारिमुक्ती " ऐसा सूत्र कथन करना श्री उमास्त्रामी महाराजको समुचित नहीं जचा। यदि अर्थको विघात करनेवाळी कोरी ळघुताका बिचार कर वह संसारी एक और मुक्त एक यों उन दो ही जीवोंका निर्देश किया जाता, तब तो नियमसे संसारी जीव एक ही है और मुक्त जीव परमात्मा एक ही है, इस प्रकारके प्रवादका प्रसंग प्राप्त हो जाता। किन्तु वह प्रवाद तो श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि उस सिदान्तमें प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणोंसे अनेक बाधायें प्राप्त हो रही हैं। उन्हीं बाधाओंको दिखाते हैं।

संसारिणस्ताबदेकत्वे जननमरणकरणादिमतिनियमो नोपपद्यते । श्रांतोसाविति चेन्न, भवत इव सर्वस्य तद्श्रांतत्वनिश्रयमसंगात् । मंपैव तिश्रयस्तद्विद्यामश्रयादिति चेन्न, सर्वस्य तद्विद्यामश्रयमसंगात् । अन्यथा त्वचो भेदमसक्तिर्विरुद्धधर्माध्यासात् ।

देखो, पहिले कहे गये संसारी जीवको यदि एक ही माना जायगा तो जन्म लेना मरण करना, आदिका प्रत्येक आत्मामें नियम हो रहा नहीं बन सकता है । अर्थात्—देयदत्तका जन्म हुआ है भवदत्तने मरण किया है, इन्द्रदत्त अपनी आंखोंसे देखता है, जयचन्द्र अपने मनमें विचारता है, एक पण्डित है, दूसरा मूर्ख है, तीसरा नीरोग है, चौथा सुखी है, इत्यादिक प्रत्येक जीवकी नियत हो रहीं व्यवस्थायें नहीं वन सकती हैं । जैसे कि आकाशको सर्वथा एक माननेपर अनेक द्रव्योंमें सम्भवनेवाले अनेक विरुद्धधर्म उसमें नहीं ठहर पाने हैं । संसारी जीवोंको एक ही जीव मान छेनेपर एकके उपज जानेपर सबका जन्म हो जायगा और एकके मर नानेपर सब मर जायेंगे । एकके पण्डित, सुखी, पुर्हिग, क्रोधी, तत्त्रज्ञानी, बन जानेपर सभी पण्डित आदि बन बैठेंगे। भेदभाव मिट जायगा। यदि एक ही संसारी जीवको **भाननेवाला पण्डित यों कहे कि वह जन्म, मरण, आदिका प्रतिनियम करना तो भ्रान्त है, जैसे** कि स्वप्नके व्यवहार भ्रान्त है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि वह प्रतिनियम यदि भान्त है तो आपके समान सभी जीबोंको उसकी भ्रान्तताका निश्चय हो जाना चाहिये। जैसे कि सूर्यविमान या चन्द्रविमानके अल्पपरिमाणको विषय करनेवाले ज्ञानका भ्रान्तपना सबको निर्णीत हो रहा है। स्वप्नकी विकल्पनाओंको सभी जीव भ्रान्त माननेके छिये उद्युक्त हैं। किन्तु जन्म, मरण, बुढापा, युवावस्था, मनुष्य, पशु, आदि प्रतिनियत अवस्थाओंको आप अद्वेतवादी भले ही श्रान्त कहते फिरें, किन्तु सभी विद्वान् तो उसके भ्रान्तपनका अनुभव नहीं कर रहे हैं। यदि तुम अद्वैतवादी यों कही कि सभी विद्वानोंको उस प्रति नियमके भ्रान्तपनके निश्चयका प्रसंग यों नहीं आता है कि उनको अविद्या लगी दुई है। सभी बालक अपने अपने डण्डेमें घोडा जाननेकी स्नान्तिको अस्रम जान बैठे हैं। हां, अविद्याका प्रकृष्ट क्षय हो जानेसे मुझे अद्वैतवादीको ही उन विशेष व्यवस्थाओंके भांतपनका निश्चय हो सका है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, जब कि आत्मा एक ही है तो तुम्हारे समान सभी जीवोंको उसमें हो रही अविद्याके प्रकर्षम्ह्रपसे क्षय हो जानेका प्रसंग हो जायगा । अन्यथा यानी तुम अपनेमें तो अविद्याका क्षय मानो और दूसरोंके अविद्याका प्रक्षय न मानो इस अन्य ढंगसे तो तुमसे उन अन्य जीवोंको भिन्न हो जानेका प्रसंग आया। क्योंकि विरुद्ध धर्मीका अधिकार हो जानेसे भेद होना ही चाहिये । तुममें अविधाका प्रत्यक्ष है और अन्य सब जीवोंमें अधिया धुस रही है। यह रपष्टक्ष्पेस विरुद्धधर्म अधिकार किये बैठे हैं । जो अनेक आत्माओंका भित्रपना साथ देंगे। तुम बालक नहीं हो. इस बातको स्त्रयं विचार सकते हो।

ममाविद्यामक्षयो नान्येषामित्यप्यविद्याविल्लसितमेविति चेत्, सर्वोप्येवं संप्रतिपद्यते तवैव इत्यं प्रतिपत्तौ परेषामप्रतिपत्तौ तु न कदाचिद्विरुद्धभर्माध्यासान्ग्रुच्यते । ततोयं प्रत्यात्म-दृष्टेनात्मभेदेन वाधितः संसार्यात्मैकत्ववादः ।

यदि अदैतवादी यों कहें कि मैं जो यह मान रहा हूं कि मेरे ही अविद्याका प्रक्षय हो रहा है, अन्य जीवों के अविद्याका प्रक्षय नहीं है, सच पूछो तो वह भी अविद्याका विरुप्त ही हुआ कहना चाहिये। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि क्योंजी, जब कि सभी संसारी जीव एक ही है तो सभी जीव इस प्रकार भछा समझ बैठों कि मुझे ही अविद्याका प्रक्षय हो गया है। अन्योंके नहीं। यह अविद्याकी चेछा है। किन्तु हम देखते हैं कि तुम्हारे विचार अनुसार कोई भी जीव ऐसा नहीं समझ बैठा है, और जब कि तुमको ही इस प्रकारकी प्रतिपत्ति हो रही है, अन्य जीवोंके तो ऐसा विद्यास नहीं हो रहा है, तब तो आप कभी भी विरुद्ध धर्मोंके आरूढ हो जानेसे नहीं छुड़ी पा सकते हैं। भावार्थ—तुम्हारी आत्मामें हैं। यह श्रद्धा जम गयी है कि किसी जीवके अविद्याका क्षय और किसी जीवके अविद्याका क्षय नहीं, यह सब भेदव्यवहार अविद्याका ही नम्रनृत्य है। वास्तविक नहीं है। किन्तु फिर दूसरी आत्माओं ऐसी अन्धश्रद्धा हो रही नहीं देखी जाती है। अत: यही तो आत्माओं परस्पर भेदके साधक हो रहे विरुद्ध धर्मोंका अधिकार जमा छेगा है। तिस कारणसे प्रत्येक आत्मामें स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा देखे जा रहे आत्माके विभिन्नपनेकरके यह सम्पूर्ण संसारी आत्माओं एकपनका पक्ष परिग्रह करना बाधाग्रसित हो जाता है। यहांतक कारिकामें कहे गये '' दृष्टवाधित '' अंशका व्याख्यान कर दिया जा चुका है। अब उस एकल्वके प्रवादको '' इष्ट '' प्रमाणोंसे बाधित बना रहे हैं।

#### तथेष्टेनापि प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावादिनेति प्रदर्शितप्रायं ।

तिसी प्रकार अद्रैतवादियोंका यह संसारी आत्माओंके एकपनका सिद्धान्त इष्ट हो रहे प्रतिपाध प्रतिपादक भाव, पितृपुत्रभाव, आदि करके भी बाधा प्राप्त हो जाता है। इस बातको कई बार बढिया ढंगसे पिहले प्रकरणोंमें हम दिखला चुके हैं। अर्थात्—कोई समझाये जाने योग्य शिष्य है, दूसरा समझानेवाला गुरु है, एक राजा है, दूसरा प्रजा है, संसारमें एक जीव न्याय करनेका अधिकारी है, दूसरा अपराध करनेवाला अभिगुक्त है, इत्यादिक रूपसे इष्ट हो रहे मेदभावसे वह संसारी जीवोंके एकपनका कदाप्रह बाधित हो जाता है। अनेक अनुमान या गुक्तियोंसे भी उक्त एकपनेमें बाधार्य प्राप्त हो जाती हैं।

तथा मुक्तात्मनीप्येकत्वे मोक्षसाधनाभ्यासवैकल्यं, ततोन्यस्य मुक्तस्यासंभवात् । संभवे वा मुक्तानेकत्वसिद्धिः । यो यः संसारी निर्वाति स स परमात्मन्येकत्र स्त्रीयतः इत्यप्ययुक्तं, तस्यानित्यत्वपसंगात् । तथा च कृत्सनस्तदेकत्वत्रवादः इत्यसाविष दृष्टेष्टवाधितः ।

जैसे संसारी जीवोंके एकपनका पक्ष पकड छेना प्रमाणोंसे बाधित है, तिसी प्रकार मुक्त आत्माका एकपमा मानने पर भी मोक्षके कारणोंका अभ्यास करना विफल पडेगा। क्योंकि उस अभ्यास करनेवाले जीवसे अन्य हो रहे मुक्तात्माका असम्भव है। वह विचारा किसके लिये व्यर्थ परिश्रम उठावे। जो बम्बईमें बैठा है वह बम्बई जानेका कष्ट क्यों उठाने छग। १ फिर भी मुमुक्षु जीवसे मुक्त जीवको यदि न्यारे होनेकी सम्भावना करोगे तो अनेक मुक्तात्माओंकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात्-मुक्तात्मा जब एक ही है और दूसरा कोई मुक्त हो नहीं सकता है तो ऐसी दशामें कोई उदासीन जीव मोक्षके साधन बन रहे स्वाध्याय, दीक्षा, तपस्या, ध्यान, आदिका अभ्यास क्यों करेगा ! यदि श्रवण, मनन, आदि हारा चाहे किसी जीवके मुक्तिके साधनोंका अभ्यास करना मान लिया जायगा तो ऐसी दशामें असंख्य जीव मुक्तिके साधनोंको साधते हुये मुक्त हो जायंगे और यही मुक्तोंकी अनंतसंख्या मानना जैम सिद्धान्त है। कितनी ही कठिन परीक्षा क्यों न हो, यदि उसका पठनक्रम बना हुआ है और अध्यापक, विद्यालय, आदिका समुचित प्रबन्ध है, तब वर्षमें एक सहस्र या बारहसी सोलहसी विद्यार्थी तो परीक्षा देकर उत्तर्णि हो ही जायंगे । अभ्यासी, ज्ञानवानुके लिये कोई काम असम्भव नहीं है । यदि अद्वैतवादी यों कहें कि जो जो संसारी जीव मुक्तिके साधनोंका अभ्यास करता हुआ निर्वाणको हो जाता है वह वह जीव परमन्नस एक अद्वेत आत्मामें लीन हो जाता है, जैसे कि घट उपाधिके फट जानेपर घटाकारा महान आकारामें लयको प्राप्त हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह कड़ना युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि यों तो उस मुक्त जीवके अनित्यपनका प्रसंग अनादि काल्से चले आरहे अध्माका मुक्त हो जानेपर खोज मिट जायगा अतः आत्माके मुक्त अवस्थामें सर्वथा नष्ट हो जानेसे अनित्यपनकी आपत्ति हुई । इससे तो पिहले सुख, दु:ख, कैसी भी अवस्थामें जीवित बना रहना कहीं अच्छा था । कौन विचारशील पुरुष अपना खोज खो देनेके छिये ऐसी प्रलयकारिणी मुक्तिकी अभिलाघा करेगा ? करोडों, असंख्यों, रुपयोंका पारितोषिक देनेपर भी कोई दरिदातिदरिद जीव भी अपना जीवन अपण करनेके छिये उचक नहीं होता है। क्योंकि पारितोषिकका भोग भोगनेके लिये उसका जीवन ही नहीं रहा। तिस कारणसे संपूर्ण मुक्त जीवोंके उस एकपनका प्रवाद बकते रहना यों वह भी सिद्धान्त विचारा दृष्ट और इष्ट प्रमाणीसे बाधित हो जाता है।

यदि पुनः संसारिम्रका इति द्वन्द्वो निर्दिश्यते तदाप्यर्थीतरत्रतिपत्तिः वसञ्यत संसारिण एव मुक्ताः संसारिम्रका इति, तथा संसारिम्रकेकत्वप्रवादः स्यात् स च द्वेष्टवाधितः, संसारिणां मुक्तस्वभावानाश्रयसंवदनात् संसारित्वेनैवानुभवात् मुक्तिसाधनाम्युपगमविरोधाच मुक्तस्यापि संसार्थीत्मकत्वाप्रच्यतेः।

्यदि फिर कोई यों कहे कि " संसारिमुक्ती " यों इन्द्र करनेपर तो सभी संसारी जीव एक और सभी मुक्त जीवींके एक हो जानेका प्रसंग आता है। किन्तु " संसारिमुक्ताः " ऐसा सूत्र कर देनेपर तो संसारी और मुक्त जीवोंका बहुपना रक्षित हो जाता है। ऐसी दशामें पांच स्वरक्त क्लीका सूत्र न बनाकर श्री उमास्त्रामी महाराजने सात स्वरीवार्छ वर्णीका बडा सूत्र क्यों बनाया ? सूत्रकारको न्यूनसे न्यून शब्दोंके कथनका सर्वदा विचार रखना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि " संसारिणय मुक्ताब इति संसारिमुक्ताः " अनेक संसारी और अनेक मुक्त जितने भी अनन्तानन्त जीव है वे संब " संसारिमुक्ताः" कहे जाते हैं। इस प्रकार यदि द्वन्द्वसमासका निर्देश किया जायगा तो भी एक निराष्टे अर्थकी प्रतिपत्ति हो जानेपर प्रसंग बन बैठेगा । संसारी ही मुक्त हैं यों कर्मधारय समास द्वारा एक विकक्षण अर्थ ही निकल सकता था जो कि सिद्धान्तमुद्दासे अनिष्ट है। संसारी ही जीव तो उसी समय मुक्त नहीं हैं । विद्यार्थी मण्डलको गुरुसंघ कहना या पश्सम्बन्धों नरेशमण्डल कहना जैसे अलीक है, उसी प्रकार संसारी जीवोंको ही मुक्तजीव कहना अनिष्ट पड़ेगा। और तिस प्रकार दौनोंको एक मान छेनेपर शुद्धाद्वेत वादियोंका संसारी और मुक्त जीवोंके एकपनका पक्ष पकडना कर बैठेगा ! किन्तु वह एकत्वका प्रवाद तो दृष्ट और इष्ट प्रमाणोंसे बाधा प्राप्त हो रहा साधा जा चुका है। फिर भी उस बाधाको सुन लीजियेगा । घोडा, गाय, स्त्री, पुरुष, आदिक संसारी जीवोंको अपनी अपनी आत्मामें मुक्तस्वभावके आश्रवरहितपने का स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष हो रहा है, जैसे किसी रोगी या दरिद्रको स्वयं स्वस्थपने या, सेठपने ता अनुभव नहीं है। यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बांघा 💰 । संसारी जीवोंको ही यदि मुक्त मान छिया जायगा तो मोक्षके उपाय हो रहें श्रवण, मनम, तस्वद्वान, संन्यास आदिके स्वीकार करनेका विरोध हो जायगा । पाठशालामें प्रवेश करते ही विवार्थी यदि महान् पण्डित हो जाता है तो परदेशनिवास, कुट्म्बी जनोंका परित्यान, धोषण, अनुमनन, जागरण, भोगोपभोगमें उदासीनता आदि साधनोंका मिळाना भळा कौन चाहेगा ? यह इष्टिवरोध हुआ । दूसरी बात यह है कि संसारी और मुक्तोंके एकपनके सिद्धान्तमें मुक्तजीबोंका भी संसारी आत्मकपना कवनपि छट नहीं सकता है, जैसे कि विद्यार्थी और पण्डितके सर्वथा एक हो जानेपर महानू पण्डिताका भी अ आ इई पढनाया ''अ इउ ण्'' '' आचिकोयण्'' की रटन्त लगानेसे पिण्ड नहीं छूट सकता है। नमस्करणीय आचार्य महाराज महान् उपकारी पुरुष हैं। शिष्योंको विप्रक्रम्भ न होकर सुरुभतासे सुखपूर्वक स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाय इसल्यिये उन्होंने समास**हत्तिको नहीं कर '' संसारिजो** मुक्ताश्च '' ऐसा असन्देहार्थ सूत्र कह दिया है । कण्टकाकीर्ण और हिंसक प्राणियुक्त मार्गको एक दिनमें पूरा कर छेनेकी अपेक्षा सुखपूर्वक निरुषदव मार्ग द्वारा दो दिनमें इष्ट स्थानपर पहुँचना बहुत अच्छा 🐉 ानरापद पद्धतिका अन्वेषण करो ।

संसारिम्रक्तमिति इंइनिर्देशेपि संसार्थेव मुक्तं जीवतस्वमित्यनिष्टार्थेवतीतिवसंगात् तदेशत्व-मवाद एव स्थात्, स च दृष्टेष्टवाधित इस्युक्तं ।

संसारी और मुक्त इन दो पदोंका समाहार बन्द कर देनेसे " संसारिमुक्त " इस प्रकार बन्द-समास द्वारा कथन करनेपर भी संसारी जीव ही मुक्त जीवस्वरूप तत्त्व है, इस प्रकार नहीं अमीष्ट हो रहे अर्थकी प्रतीति हो जानेका प्रसंग आजानेसे वह का वही दोनों जीवोंके एकपनका कुत्सित आपह ही पुन: उपस्थित हो जायगा और वह एकत्व पक्ष तो दृष्ट और इष्टसे बाधित है, इस बातको हम दो, तीन, वार कह चुके हैं। ठाघवका विचार कर यदि संसारी और मुक्त इन दो पदोंका हंद्र किया जाता तो अल्पअक्षर और पूज्यपना होनेसे मुक्त राद्धका पूर्व निपात हो जानेपर " मुक्तसंसारिणः " ऐसा पद कम जाता। और ऐसी दशामें छोड दिया है संसार जिसने वह मुक्त संसार स्वरूपभाव है, और तिद्धि मुक्त जीवोंको ही उपयोग सहितपना प्रान होता। शेष उन मुक्तोंसे अनन्त गुणे संसारी जीव छूट जाते। अतः " स्पष्टवक्ता न वंचकः " इस नीतिके आधारपर श्री उमास्वामी महाराजने इष्ट अर्थकी होडी जलानेवाले समासके झगडेमें न पडकर न्यारे न्यारे पदोंवाला सूत्र रच दिया है।

च शद्वोनर्थक इति चेन्न, इष्टविशेषसमुचयार्थत्वात् । नासंसारिणः सयोगकेविलनः संसारिनोसंसार्यसंसारित्वन्यपेतास्त्वयोगकेविलनोभीष्टास्ते येन समुचीयंते । नोसंसारिणः संसारिण एवेति चेन्न, ते । संसारिवैधर्म्याद्भवांतरावाप्तेरभावात् । मिथ्यादर्शनाविरितपमाद कषायाणां संसारकारणानामभावात् । न चवमसंसारिण एव ते, ये।गमात्रस्य संसारकारणस्य कर्मागमनदेतोः सद्भावात् । क्षीणकषायाः संयोगकेविलवन्नासंसारिण एवेति चन्न किंचिदिनष्टं ।

किसीको शंका है कि इस सुत्रमें च शह व्यर्थ है। क्योंकि प्रथम्बिमक्तिवाले बहुवचनान्त हो पदोंका प्रयोग कर देनेसे ही संसारी और मुक्त जीवोंमें अर्थभेद सिद्ध हो जाता है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । कारण कि इट हो रहे त्रिशेष आत्माओंका समुचय करनेके छिये सूत्र-कारने च शद्धका प्रयोग किया है। सनुचय, अन्याचय, इतरेतरयोग, समाहार, इस प्रकार चकारकी अर्थचौकडीमेंसे यहां च का अर्थ समचय पकडा गया है। जिन जीवोंका संसारमें निवास अत्यन्प शेष रह गया है, अन्तर्मुहर्त्त अधिक आठ वर्षसे कमती एक कोटि पूर्व वर्ष इतना अधिकसे अधिक संसार रोप है, ऐसे तेखें गुणस्थानवर्त्ती सयोग केवली भगवान् नोसंसारी जीव हैं। गर्भके नो मास मिलाकर आठ वर्षका अर्थ पोने नो वर्ष करना चाहिये । भोगभूमियोंमें मनुष्योंके उनचास दिनमें सम्यक्त हो सकता है और भोग भूमिक तिर्थचों के सात आठ दिनमें सम्यक्त हो सकता है। इसमें भी गर्भवास के दिन और जोड़ छेने चाहिये। इसी प्रकार कर्म मूमिके तिंथे चमें छह महींने पश्चात् सम्यक्त्व या व्रतधारण करनेकी योग्यता हो जाती है । यहां भी गर्भके दिनोंको अधिक जोड छेना चाहिये। कई प्रन्थोमें मनुष्य तिंथेचों के आठ वर्ष या उनंचास दिन और छह महीने या सात आठ दिन लिख दिये हैं। उनमें गर्मके दिनोंको जोडनेकी विवक्षा नहीं की गयी है। किन्तु उनका जोडना आवश्यक है । तथा पहिले गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान या बारहवें गुणस्थानतकके संसारी जीव और तेरहर्वे गुणन्यानवर्त्ता नोसंसारी जीव तथा संसारीपनेसे सर्वथा छूट गये सिद्धजीव इन तीनों प्रकारके जीवोंसे रहित हो रहे चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवळी जीव भी तो हमें अभीष्ट

हैं। वे तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानवर्ती जीव जिस च शब्द करके समुचय प्रस्त कर छिये जाते है। अतः वह " च " शब्द सार्थक है। यहां कोई कहे कि ईपत् संसारको धारनेवाले तेरहवें गुणस्थान वर्ती नोसंसारी जीव तो संसारी ही हैं। जबतक कोई जीव संसारमें ठहरेगा उसका संसारी जीवोंमें अन्तर्भाव किया जायगा, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन सयोगकेविटियोंका पैच-परिवर्तन करनेवाले संसारीजीवोंसे विधर्मपना है। कारण कि संसारीजीव तो अनेक दूसरे दूसरे भवोंको प्राप्त होते रहते हैं। किन्तु सयोगकेवली जीवोंको पुनः दूसरे भवकी प्राप्ति होना रूप संसारका अभाव है। ऐसी दशामें उनको संसारी कहनेमें जी हिचकिचाता है। खात, चने, ठड्हें, सब एक कोटिमें नहीं गिने जाते हैं । संसारके कारण हो रहे मिध्यादर्शन, अविरित, प्रमाद, कषाय, इनका सयोग केवलियोंमें अभाव है । इन चारोंकी सहायताके विना केवल योग विचारा एक समय स्थितिको रखनेवाले सातावेदनीय कर्म मात्रका आसन करता है, जो कि अकिंचित्कर है। यदि यहां कोई यों कह बैठे कि जब सयोग केवलीके अन्य भवोंकी प्राप्तिरूप संसार नहीं है और संसारके मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद, और कषाय ये चार कारण भी नहीं हैं, तब तो इस प्रकार वे सयोगंकेवली असंसारी ही हो गये । प्रत्यकार कहते हैं कि यह प्रसंग नहीं उठाना चाहिये । क्योंकि विशेषक्षपमे संसारका कारण हो रहे और कर्मों के आगमनका हेतु बन रहे केवल योगका सद्भाव सयोगकेवलीके पाया जाता है। उस योगके द्वारा शरीर, भाषा और मनको बनानेके उपयोगी नोकर्मद्रव्यका और साता वेदनीयक्रमे । प्रतिक्षण आगमन होता रहता है । अतः संसारी और असंसार (सिद्ध ) दोनों प्रकारके जीवोंसे रहित तेरवें गुणस्थानकाळे जीव नोसंलारी हैं। यहां पुनः किसीका कटाक्ष है कि क्षपक श्रेणीवालोंको छोडकर ग्यारहवें गुणस्थानतक ने जीव भले ही संसार परिश्रमण करते हुये संसारी कहे जांय, किन्तु जिनकी कषायें क्षयको प्राप्त हो चुकी हैं, ऐसे बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव तो सयोगकेविट्योंके समान नोसंसारी ही कहे जांयगे। तुम जैनोंको अभीष्ट हो रहे नोसंसारीपनके **उक्षणका क्षीणक**षाय जीवोंमें सद्भाव है। संसारके चार प्रधान कारणों और अन्य भवोंकी प्रातिका उनके अभाव है। आचार्य कहते हैं कि यों कहनेपर तो हमको कुछ अनिए नहीं पडता है। भळे ही बारहवें गुणस्थानवालोंको भी नोसंसारी कइ दो । उनका भी च शब्द करके समुचय कर लिया जायगा । " बालादिप हितं प्राह्यं युक्तियुक्तं मनीषिभिः " इत नीतिके अनुसार किसीकी भी युक्तिपूर्ण बातको माननेके छिवे हम समद्ध हैं।

अयोगकेविलनो मुक्ता एवेति चेन्न, तेषां पंचाक्षीतिकर्ममकृतिसद्भावात्, कृत्स्नकर्म-विममोक्षाभावादसंसारित्वायोगात् । न चैवं ते नोसंसारिणः केविलनः संसारिनोसंसार्य-संसारित्वव्यपेताश्रायोगकेविलनो दीष्टास्ते संसारकारणस्य योगमात्रस्याप्यभावात् तत एव न संसारिणस्तित्वव्यपेतास्तु निश्रीयंते ।

कोई प्रिष्टित यहां आक्षेप करता है कि चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोगकेवली भगवान तो मुक्त ही हैं। अ इ उ क ल इन पांच लघु अक्षरों का जितने कालमें उच्चारण होय उतने ही कालतक संसारमें ठहरना तो कोई ठहरना नहीं है। अतः अयोग केवलीयों का मक्तोंमें ही अन्तर्भाव . करकेना चाहिये। पंचपरिवर्त्वनरूप संसारका और संसारके कारण योगतक का भी उनके अभाव है। श्री विचानन्द स्वामी कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन अयोगकेवलियोंके पिचासी कर्म प्रकृति-योका सद्भाव है। अतः सम्पूर्ण कमीका विप्रमोक्ष हो जाना रूप मुक्तिका अभी अभाव हो जानेसे बीद्रहवें गुणस्थानवालोंको असंसारीपन यानी मुक्तपनका अयोग है । सम्पूर्ण प्रकृतियां एकसी अहता-**जैस हैं । उनमें आधीसे अधिक प्रकृतियां** चौदहवें गुणस्थानमें आत्माको परतंत्र कर रही हैं । बातिया कर्मोकी सेंतालीस प्रकृतियां तो बारहवें गुणस्थानके अन्ततक नष्ट हो चुकी हैं। तिनमें क्षायिक सम्यक्तको प्रहण करते समय चौथेसे सातवें गुणस्थानतक कहीं भी चार अनन्तानुबन्धियोंका विसंयो-जन और तीन दर्शनमोहनीयका क्षय हो जाता है और नवमें गुणस्थानमें स्यानगृद्धित्रिक, अप्रत्या-रम्यानाबरण चार, प्रत्यारन्यानावरण चार, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि छह नो कषाय, पुरुषवेद, और संज्वलन तीनका क्षय हो जाता है। दशवेंमें लोग नष्ट हो जाता है। बारहवेंमें **इम्बानरण पांच, दर्शना**त्ररण चार, अन्तराय पांच, निद्रा, प्रचला, इन सोलह प्रकृ-तियोंका क्षय हो जाता है। चरमशरीरी जीवके नरक आयु, तिर्य हु और देवायुका सदान ही नहीं है। नामकर्मकी तेरह प्रकृतियां नवमें गुगस्थानके पहिले भागमें क्षयको प्राप्त हो जाती है। अतः नामकर्मकी शेषप्रकृतियां पांच शरीर, पांच वंधन, पांच संघात, 🚒 संस्थान, छह संदनन, तीन अंगोपांग, आठ स्पर्श, पांच रस, दो गंघ, पांचवर्ण, स्थिरद्विक, शुभद्विक, स्वरद्विक, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, निर्माण, अयशस्कीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्यात, अगुरुल्घु, उपघात, परघात, उच्छुास, इस प्रकार य सत्तर प्रकृतियां और वेदनीयकर्मकी दोनोंमेंसे असुदय रूप एक, तथा नीचगोत्र ये बहुत्तर प्रकृतियां अयोगकेवलीके उपान्य सम्बर्धे नष्ट होतीं हैं और अयोग केवलीके अन्त समयमें वेदनीयकी कोई एक तथा नाम कर्मकी मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्ति, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थकर, मनुष्यगत्यानु-पून्ये, ये दस प्रकृतियां, आयुओंमें मनुष्य आयु तथा उच्चगोत्र इस प्रकार तेरह प्रकृतियां अन्त समयमें छूटतीं है। इस ढंगसे अयोगियोंके पिचासी प्रकृतियोंका सद्भाव माना गया है। अतः वे मुक्क जीवोंमें नहीं गिने जा सकते हैं। फिर भी कोई यों कहे कि इस प्रकार होनेपर तो सयोगकेवाछियोंके समान के अयोगकेवली भी तो संसारी गिन किये जांय। चौथी जातिके जीवोंको माननेकी क्या आवस्यकता है ! आचार्य कहते हैं कि यह विश्लेप नहीं डाल सकते हो । क्योंकि संसारीपन, नोसंसारीपन और असंसारीपन, (सिद्दल ) इन तीन जातियोंसे रहित हो रहे चौथी जातिवाले वे अयोगकेवली सग-**पान् अमी**ष्ट किये गये हैं । संसारके कारण हो रहे केवल योगका भी अभाव हो जानेसे वे तेरहरें

युजस्थानवर्सी भगवान् नोसंसारी जीवोमें नहीं गिमे जा सकते हैं। तथा तिस ही कारणेंस यानी संसार और संसारके पांचों कारणका अभाव हो जानेसे वे अयोगी महाराज संसारी भी नहीं हैं। हां, उन संसारी, नोसंसारी और असंसारी इन तीनों जातिके जीवोंसे पृथग्भृत हो रहे तो वे निश्चय किये जा रहे हैं। अतः च शहू करके विशेष रूपसे इष्ट हो रहे तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती (बारहवें गुणस्थानवर्त्ती भी ) और चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती जीवोंका समुख्य हो जाता है। "न कर्मधारयः स्थानमत्त्वर्धीयों बहुनीहिश्चेदर्थप्रतिपत्तिकरः " यह परिभाषा आनित्य है। अतः असंसारी और नोसंसारी ये शहू भी साधु समझे जाय। "

तथान्ये वर्णयंति—ग्रक्तानां परिणामांतरसंक्रमाभाबादुपयोगस्य ग्रुणभावपदर्श्वनार्थे च म्राद्वोपादानमिति, तम् बुध्धामहे तेषां नित्योपयोगसिद्धेः पुनरुपसंहारप्रादुर्भावाभावात् । तत्रोपयोगन्यवहाराभावात् ग्रुणीभृतोत्र तूपयोग इति चेति ।

तथा श्री अकलंकदेवके सिद्धान्त अनुसार अन्य दूसरे पण्डित यो वर्णन करते हैं कि मुक्त जीवोंके अन्य दूसरे दूसरे परिणामोंका संक्रमण होता नहीं है। इस कारण उन मुक्तोंके गीणरूपसे उपयोगका सद्भाव बढिया दिखलानेके लिये श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रमें च शहुका प्रहण किया है। अर्थात् संसारी जीवोंके तो दर्शनीपयोगके पश्चात् ज्ञानोपयोग या चाञ्चषप्रत्यक्षके पीछे रासनप्रत्यक्ष और उसके भी पीछे श्रुतज्ञान इत्यादिरूपसे एक उपयोगको बदल कर दूसरे उपयोगके लग जाना घटित हो जाता है । तभी तो मेरा इस पदार्थमें उपयोग लगा हुआ है, अमुक पदार्थमें उपयोग नहीं लगता है, मुनिजन आत्मतत्त्रमें बहुत देरतक उपयोग लगाये रहते हैं, आखें ख़ुली रहते हुये भी उसकी ओर उपयोग न होनेसे मैं उस पुरुषको नहीं देख सका, न्याय प्रन्थोंक पढनेमें उपयोग लगाओ, इत्यादिक व्यवहार प्रसिद्ध हो। रहे देखे जाते हैं। किन्तु केवलबानी मुक्त जीवोंके किसी उपयुक्त दशाको छोडकर अन्य दूसरे पदार्थमें उपयोग लगता नहीं है। त्रिलोक त्रिकाल-वर्ती पदार्थ सर्वदा उनके ज्ञानमें झलकते रहते हैं। ऐसी दशामें कहांसे हट कर उपयोग कहां दूसरे विषयमें छगे ? विद्यमान स्थानोंपर सर्वत्र व्याप रहा आकाश यदि जावे भी तो कहांसे खिसक कर कहां जात्रे ! इसी प्रकार एक त्रिषयको छोडकर दूसरे शिषयको पकडनेवाला मुख्य उपयोग केवल-**इ**ग्रानियोंमें नहीं माना गया है। अतः मुक्तजीवोंके उपयोगकी गौणता दिखलानेके लिये व्यवच्छेदक च शह्र सूत्रमें डालना आवश्यक है, थों कह चुकनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि उस अकलंकदेवके रहस्यको हम नहीं समझ रहे हैं। उन मुक्तजीवोंके नित्य ही उपयोगकी सिद्धि हो रही है । पुनः पुनः न्यारी जातिने उपयोगोंका निकटवर्ती संहार या प्रादुर्भाव नहीं होता है । एकसा सदा चमक रहा केवळ्ड्यान वर्त्त रहा है। उसमें छोकप्रसिद्ध हो रहे उपयोग के व्यवहारका अभाव है। अतः इन मुक्त जीवोंमें तो उपयोग अप्रधानभूत बना बनाया है। इसके लिये च शहकी आवश्यकता नहीं दीखती | व्यर्थ होकर भी च राज्द इस अप्रकृत अर्थका ज्ञापन नहीं कर सकता है । जैसे कि एक अर्थमें अपनी चित्तवृत्तिका निरोध कर छेना ध्यान है। छग्रस्थ जीवोंमें यह ध्यान मुख्यरूपसे घट जाता है। इधर उधर अनेक स्थानोंपर चिन्ताको फैंकनेवाला जीव पुरुषार्थद्वारा कुछ देरतक मानसिक प्रवृत्तिको यहां इहांसे हटा कर वहीं एक पदार्थमें मनको ठहरा सकता है। किन्तु सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जीवन्मुक्तको ध्यान मानना उपचार मात्र है। तिस ही प्रकार उपयोगकी प्रवृत्ति भी मुक्तोंमें गीणरूप मानी गयी है। इस विषयकी व्याख्यान द्वारा विशेष प्रतिपत्ति हो जाती है। च शद्ध तो अपने चार अर्थोंमेंसे किसी एक अर्थन। द्योतक हो जाता है।

## संसारिग्रहणमादौ कुत इति चेत् , संसारिणां बहुविकल्पत्वात्तत्पूर्वकत्वान्ध्रक्तेः । स्वयं-वेद्यत्वाचेत्येके, उत्तरत्र प्रथमं संसारिपपंचपतिपादनार्थे चेत्यन्ये ।

यहां किसीकी शंका है कि बताओ, सूत्रमें संशारी जीवोंका प्रहण आदिमें किस कारणसे किया गया है ! इन्द्र समास न होते हुये भी न्यारे न्यारे पशेंका उच्चारण करो तो भी पूज्यजीव माने गये मुक्तोंका पहिले निर्देश करना उचित था। यों कहनेपर तो कोई एक आचार्य यह समाधान करते हैं कि संसारी जीवोंके बहुत भेद प्रभेद हैं तथा मोक्षको संभारपूर्वकपना है। पहिले संसार है पीछे मोक्ष होती है। अतः बाज्यकी प्रवृत्ति अनुसार बाज्यक शद्ध कहने चाहिये। तीसरी बात यह है कि प्रन्थकार श्री उमास्त्रामी महाराज स्वयं संसारी जीव हैं, जिसका दिन रात सम्वेदन होता रहता है। उसकी बिना बुलाये शीव उपस्थिति हो जाती है। संसारीपनका उनको स्वयं सम्वेदन होता रहता है। संसारी जीव ही प्रन्थोंके निर्माता, श्रोता, प्रचारक, हैं। अतः एक अपेक्षा यहां संसारियोंकी मान्यता है। कृतकृत्य हो चुके मुक्तजीव अपनी स्वात्मिक्षिद्धेमें पगे हुये है, वे यहां अत्यन्त परोक्ष होनेसे गौण विवक्षित किये गये हैं। दूसरे अन्य आचार्य उक्त शंकाका समाधान यों करते हैं कि उत्तरवर्ती प्रन्थमें सबसे प्रथम संसारी जीवोंके भेद, प्रभेद, जन्म, शरीर, आदिक प्रपंचका प्रतिपादन करनेके लिये मूत्रमें पहिले संसारी शद्धका प्रहण है। श्री विद्यानन्द स्वामीको एक आचार्य और दूसरे अन्य आचार्य दोनोंका मन्तव्य अभीव हो रहा दीखता है।

### यद्येवं किं विशिष्टाः संसारिण इत्याह सूत्रं।

किसीका प्रश्न है कि यदि इस प्रकार बहुत विकल्पत्राले संसारी जीव हैं तो बताओ, वे संसारी जीव किन किन विशेषणोंसे घिरे हुये हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिम सूत्रको स्पष्ट कर रहे हैं ।

## समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

उन संसारी जीवांमें कुछ जीव तो मनसे सिंहत हो रहे समनस्क हैं और शेव एकेन्द्रियसे छेकर असै-क्रिपेचेन्द्रिय पर्यन्त गिनाये जा रहे संसारी जीव अमनस्क हैं, यों संसारी जीवोंकी दो बडी मण्डिछयां हैं। मनसो द्रव्यभावभेदस्य सिक्यानात्समनस्काः तदसंनिधानादमनस्काः । समनस्काश्र मनस्काश्र समनस्कामनस्का इति समनस्कग्रहणमादौ युक्तमभ्यिहितत्वात् । संसारिष्ठक्तप्रक णात् यथासंख्यप्रसंग इति चेत् तथेष्टं संसारिणामेव समनस्कत्वान्युक्तानाममनस्कत्व।दित्येके तद्युक्तं । सर्वसंसारिणां समनस्कत्वप्रसंगात् ।

आठ पत्रवाले कमलके समान द्रव्यमन तो संज्ञी जीवके हृदयस्थलमें होता है । पांच पौद्रलि इन्दियोंके समान वह मन भी अतीन्द्रिय है, जो कि अंगोपांग नामकर्मका उदय होनेपर मनोवर्गण निष्पन्न होता है। तथः वीर्यान्तराय कर्म और नोइन्द्रियावरण नामक मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयो। शमकी अपेक्षा रखनेवाली जीवकी विश्वद्भि तो भावमन है। इन द्रव्य, भाव, दो भेदोंको धार र मनकी सिनकटतारों जीव समनस्क माने जाते हैं और उन दोनों मनोंके मनिधान नहीं होनेसे अने जीव अमनस्य कहे जाते हैं । समनस्य जीव अमनस्य जीव यो इतरेतर द्वंन्द्र करनेपर '' समनस्य मनस्का " ऐमा वाक्य बन जाना है । सूत्रकारद्वारा समनस्क जीवोंका सूत्रके आदिमें पुज्य होनेसे समुचित ही है। यहां कोई आक्षेप करता है कि पूर्व सूत्र अनुमार संसारी और जीवोंका प्रकरण होनेसे इस सूत्रमें यथाक्रम दो संख्याके अनुसार मंसारी समनस्क होते हैं और अमनस्क हैं ऐसे अर्थ करनेका प्रसंग हो जायगा । यो प्रसंग उठानेपर कोई एक पण्डित उत्त देनेके लिये बीचमें अनाधिकार कूद बैठते हैं कि तिस प्रकार अर्थ करना इप्ट है। ययोंकि संसा जीवोंको ही मनसिहतपना है और मुक्तोंको अमनस्कपना है। पूर्वसूत्रका इस सूत्रके साथ यथासंह अन्वय करनेमें कोई क्षति नहीं दीखती है। अब श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि उन एक पण्डितजी कहना युक्तियोंसे रीता है । क्योंकि यों तो सम्पूर्ण एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय, और असंब पंचेन्द्रिय इन संसारीजीवोंको भी मनसहितपना बन बैठेगा, जो कि इष्ट नहीं है ।

कुतस्तर्हि यथासंख्या असंगः, पृथग्योगकरणात् । यथासंग्व्यं तद्भिसंबंधेष्टौ संसारिण मुक्ताश्च समनस्कामनस्का इत्येकयोगः क्रियेत उपिर संसारिवचनप्रत्यासत्तेश्च । संसारिणक्षर स्थावरा इत्यत्र हि संसारिण इति वचनं समनस्कामनस्का इत्यत्र संबध्यते त्रसस्थावरा इत्य च मध्यस्थत्वात् ततो न यथासंख्यसंप्रत्ययः ।

किसीका प्रश्न है कि यों है तब तो बताओं कि यहां यथासंख्यका प्रसंग कैसे नहीं हुआ कोरा मनमाना सिद्धान्त इष्ट कर छेनेसे किसी न्यायप्राप्त प्रसंगका निवारण नहीं हो सकता है। इस उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि पृथक् पृथक् योग करनेसे यानी न्यारा सूत्र बनानेसे वह प्रसंग नहीं। पाता है। इस सूत्रमें संसारी जीवका ही सम्बन्ध हो रहा है। यदि सूत्रकारको आक्षेपकारके विचार अनु सार यथासंख्य रूपसे उन पूर्व सूत्रोक्त उद्देश्योका और इस सूत्रमें कहे गये विधेयोंका सम्बन्ध अभी

होता तो " संसारिणो मुक्ताश्च समनस्कामनस्का " इस प्रकार दोनों सूत्र मिळ कर एक योग कर दिया जाता। यों कर देनेपर बडी सरळतासे आक्षेपकारको अभिप्रत हो रहे संसारी जीव समनस्क हैं और मुक्त जीव अमनस्क हैं, इस अर्थकी प्राप्ति हो सकती थी। इस सूत्रमें संसारी जीवोंका ही सम्बन्ध है, इसके लिये दूसरी बात यह है कि अगळे वश्यमाण उपरक्षे सूत्रमें संसारी शह्यकी निकटता हो रही है। भविष्यके " संमारिणस्त्रसस्थावरा, " ऐसे इस सूत्रमें नियमसे संसारिणः ऐसा शह्य प्रयोग हो रहा है। वहीं " संसारिणः " यह शह्य " समनस्कामनस्काः " इत्याकारक इस सूत्रमें और त्रसस्थावरा इस उक्तरवर्ती सूत्रमें मध्यस्थ होनेके कारण सम्बन्धको प्राप्त हो जाता है। " देहळी दिपक " न्यायसे " संसारिणः " शह्यका दोनों ओर अन्वय है। तिस कारणसे यथासंख्यका भळे प्रकार प्रसंग या ज्ञान हो जाना नहीं बन पाता है।

अथवा संसारिणो मुक्ताश्चेत्यत्र संसारिण इति वचनमनेन संवध्यते न मुक्ता इति तेषां प्रधानशिष्टत्वान्मुक्तानामप्रधानशिष्टत्वात् । तथा सित समनस्कामनस्काः त्रसस्थावरा इति यथासंख्याप्रयोगः, सर्वत्रसानां समनस्कत्वासिद्धेः मध्यस्थसंसारिप्रदृणामिसंबंधेपि वा पृथम्योगकरणाच त्रसस्थावरयथासंख्याभिसंबंधः स्यात् अन्यथैकमेव योगं कुर्वीत, तथा च द्विःसंसारिप्रदृणं न स्यात् । ततः संसारिण एव केचित्समनस्काः केचिद्मनस्का इति सूत्रार्थो व्यवतिष्ठते ।

अथवा एक बात यह भी है कि " संसारिणो मुक्ताश्च " इस पूर्ववर्ती सूत्रमें से " संसारिणः " ये वचन ही इस समनस्कामनस्काः इस सूत्रके साथ सम्बन्धित हो जाता है । " मुक्ता " इस राद्धका इस सूत्रके साथ सम्बन्ध नहीं है । क्योंकि " प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने सम्प्रत्ययः " प्रधान और अप्रधानका अवसर आनेपर प्रधान अर्थमें ही सुरुभतासे ज्ञान उपज बैठता है । इस प्रकरणमें प्रधान हो रहे उन संसारी जीवोंको प्रधान रूपसे शिष्टपना है तथा मुक्तोंको अप्रधान रूपसे परिशेष न्याय द्वारा शिष्टपना है अर्थात्—विधेयप्रतिपादक उत्तरवर्ती न्यारे सूत्रमें पूर्व सूत्रोक्त उद्देश्योंका उद्देश्यके रीते स्थानको भरनेके लिये " अवशेष न्याय " करके ही सम्मेलन हो सकता था। अतः प्रधानरूपसे अवशिष्ट हो रहे उद्देश्यका ही अन्वय इस सूत्रमें माना जायगा। तैसा होनेपर " हमनस्कामनस्काः" इस सूत्रका उत्तरवर्ती " त्रसस्थावराः " इस सूत्रके साथ भी यथासंख्यसे प्रयोग नहीं हो सकता है। यानी त्रस समनस्क हैं और स्थावर जीव मनोरहित हैं, ऐसा यथासंख्य भी सिद्धान्तसे बाधित है। सम्मूर्ण द्वीन्द्रय, त्रीन्द्रिय, आदि त्रसींको समनस्कपना असिद्ध है केवल संक्षी पंचीन्द्रय त्रस ही मनसे सहित्त है। इस्लाके वशसे सम्बन्ध दुआ करता है। इस सूत्रमें उत्तरसूत्रके संसारी पदका ही सम्बन्ध करना, त्रस स्थावरका नहीं। मध्यमें स्थित हो रहे संसारी शब्दके प्रहणका ठीक सम्बन्ध होनेपर भी पृथक्सपूत्र योसको करसीसे त्रस और स्थावरके साथ इस सूत्रमा यथासंख्यक्यकरके सूरा सम्बन्ध होनेपर भी पृथक्सपूत्र योसको करसीसे त्रस और स्थावरके साथ इस सूत्रमा यथासंख्यक्यकरके सूरा सम्बन्ध नहीं हो सकेगा

अन्यथा यानी सूत्रकारको त्रसस्यावर ग्रहणके साथ मी यदि इस सूत्रका सम्बन्ध अमिष्ट होता तो वे दोनों सूत्रोंको मिळाकर एक योग कर देते। और तैसा " समनस्कामनस्काः संसारिणकस-स्थावराः" यों एक योग कर देनेपर दो बार संसारिका ग्रहण नहीं करना पडता। ठाघव हो जाता। किन्तु ऐसा एकयोग नहीं किया है। अतः सिद्ध है कि पहिछे कहे जाचुके संसारी मुक्त प्रहणका और भिक्यके त्रसस्थावर ग्रहणका इस सूत्रके साथ सम्बन्ध नहीं जुडता है। तिस कारणसे सिद्ध है कि संसारी ही कोई कोई समनस्क हैं और बहुभाग कितने ही संसारी जीव अमनस्क हैं, इस प्रकार सूत्रका अर्थ व्यवस्थित हो जाता है।

### कुतस्ते तथा मता इत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि किस कारणसे वे संसारी जीव तिस प्रकार मनसहित अथवा मनरहित दो प्रकारके माने गये हैं ? अच्छा होता कि वैशेषिक मत अनुसार सभी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि प्रत्येक जीवोंमें एक एक मन मान लिया जाता अथवा चार्वाक मत अनुसार किसी भी जीवके एक अतीन्द्रिय मनकी कल्पना न की जाय। जैनोंने भी तो मुक्त जीवोंके मन नहीं माना है । ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

# समनस्कामनस्कास्ते मताः संसारिणो द्विधा । तद्वेदनस्य कार्यस्य सिद्धेरिष्टविशेषतः ॥ १ ॥

वे संसारी जीव कुछ मन इन्द्रियसे सिहत हैं और शेष मन इन्द्रियसे रिहत हैं, यों दो प्रकार माने गये हैं। क्योंकि इस विचारशाली मनके द्वारा बनाये गये विशेष ज्ञानरूप कार्यकी किन्दी जीवोंमें प्रसिद्धि हो रही है। या मनसे रिहत दशामें होनेवाले विलक्षण ज्ञान यानी अविचारक बुद्धि रूप कार्यकी किन्हीं जीवोंमें प्रसिद्धि हो रही है। तथा विशेष रूपसे इष्ट हो रहे आगमप्रमाणसे भी मनसे सिहत और मनोरिहत दो प्रकारके संसारी जीवोंकी व्यवस्था बन रही है।

समनस्काः कंचित्संसारिणः शिक्षाकियालापग्रहणसंवेदनस्य कार्यस्य सिद्धरन्यथाज्ञु-पपचेः, केचित्पुनरमनस्काः श्विक्षाद्यग्राहिबेदनकार्यस्य सिद्धरन्यथाज्ञुपपचेः। इत्येतावता द्विविधाः सेसारिणः सिद्धाः।

कोई तोता, मैना, घोडा, हाधी, मनुष्य, की, देव, देवी, आदिक संसारी जीव (पक्ष) नो इन्द्रिय मनसे सिहित हैं (साध्य)। क्योंकि शिक्षापूर्वक किया करना, आलाप करना, कथन अनुसार समझकर उठाना, धरना, इर्यादिक ज्ञानस्वरूप कार्यकी सिद्धि होना अन्यथा यानी मनको माने विना बन नहीं सकता है। अर्थात्—घोडा, हाथी, बैल, कुत्ता, विद्यार्थी, कन्या, ये जीव कहे हुये को सीख केते हैं। इनका कोई विशेष नाम धर देनेपर तद्दनुसार आ जाते हैं, चले जाते हैं, उठाते, धरते हैं, उपदेश सुनते हैं, इस प्रकार विचारपूर्व म ज्ञान और उसके अन्य मी कार्य अन्तरंग मन इन्द्रियको माने विना अन्य प्रकारोंसे नहीं हो पाते हैं। अतः अतीन्द्रिय मनकी उसके कार्य द्वारा सिद्धि कर दी जाती है। तथा बृक्ष, चींटी, मक्खी, आदि कितने ही जीव (पक्ष) फिर अमनस्क हैं (साध्य) शिक्षा आदिको नहीं प्रहण करनेवाले साधारण ज्ञान होना स्वरूप कार्यकी सिद्धि अन्यया यानी अमनस्क हुये विना दूसरे ढंगों करके नहीं बन सकती है। मक्खी या चींटीको कोई शिक्षा दी जाय उसको वह नहीं समझ पाती है। कल्पित नाम रखनेपर तदनुसार आती जाती नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि वर्र आदि जीवोंके विचारकपन नहीं है। इस प्रकार इतनेसे इन दो हेतुओं करके दो प्रकारके संसारी जीव सिद्ध हो जाते हैं।

इष्टविशेषतश्च । इहेष्टं हि प्रवचनं तस्य विशेषः समनस्केतरजीवप्रवचनं तस्य विशेषः समनस्केतरजीवप्रकाशि वाक्यं, संति संक्षिना जीवाः संत्यसंक्षिन इति । ततश्च ते व्यवतिष्ठंते सर्वया वाधकाभावात् ।

तथा इष्टिविशेषसे भी दो प्रकारके जीवोंकी सिद्धे हो जाती है। यहां प्रकरणमें इष्टपदसे प्रकृष्ट वचन यानी आगम लिया जाता है। सर्वज्ञकी आम्नायसे चले आ रहे उस आगमका विशेष हो रहा समनस्त और अमनस्त जीवोंको कहनेवाला शास्त्र है । उस शास्त्रका भी विशेष हो रहा समनस्त और उससे न्यारे अमनस्क जीवोंको प्रकाश रहा एक वाक्य है। जो कि इस प्रकार है कि संस्थरमें संज्ञी जीव हैं और असंज्ञी जीव भी हैं। जयधवला सिद्धांत आदि प्राचीन प्रन्थोंमें अनेक वाक्य हैं। गोम्मटसारमें भी छिखा है " सिक्खा रियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण, जो जीवो सो सण्णी तन्ब-वरीओ असण्णी दू ॥ १ ॥ " मीमंसदि जो पुत्रं कज्जसकज्जं च तच्चमिदरं च । सिक्खदि णामेणेदिय समणो अमणो य विवरीदो ॥ २ ॥ द्रव्यसंप्रहमें कहा गया है कि समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सके ''। अतः तिस आगम रमाणसे भी वे संज्ञी, असंज्ञी जीव व्यवस्थित हो रहे हैं। सभी प्रकारोंसे कोई बाधक प्रमाण नहीं हैं। जगत्में अनन्तानन्त पदार्थ हैं। तिनमें बहुमाग हम छोगोंके स्थूछ ज्ञानसे छिप पडे हुये हैं। उनकी सिद्धिका सरल उपाय बाधक प्रमाणोंका असम्भव ही ठीक पहला है। किसको इतना अनकाश या सूक्ष्म योग्यता प्राप्त है जो कि सबको बिशेष विशेष रूपसे देखता फिरे । संजी. असंजी, जीवोंकी सिद्धिका बाधक कोई प्रमाण नहीं है ।'' असम्भवद्वाधकप्रमाणत्व '' **हेत्से चाहे** किसी भी पदार्थकी सिद्धि हो जाती है। धनिकोंके रुपयोंको सभी मनुष्य नहीं गिन पाते हैं। फिर भी उनको सेठजी कहते हैं । ठोस विद्वान्की गम्भीर पन्डिताईको कौन टटोलता फिरता है, तप-स्त्रिओंकी साधनाओंको कौन परखै, कुल, जातिका सूक्ष्म गवषेण कौन कर पाता है. केवल बाधाओंक असद्भावसे उनका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

अत्र त्रसा एव संसारिणः समनस्कामनस्का इति केपाँचिदाकूतं, तवपसार्रणायाई ।

यहां किन्हीं विद्यानोंकी ऐसी चेष्टा हो रही है कि त्रस जीव ही संसारी जीव हैं, संसारवर्ती क्योंके ही समनस्क और अमनस्क ये दो भेद हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, इन शरिरोंको आस्नेवाला कोई जीव संसारमें नहीं है। इस कुचेष्टाका निराकरण करनेके लिये श्री उमाखामी महाराज स्पष्टकरासे अमिम स्त्रको कहते हैं।

# संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

संसारी जीव दूसरे ढंगसे त्रस और स्थावर इन दो बडे भेदोंको धार रहे हैं। अर्थात्— समनस्क और अमनस्क इन दो भेदोंमें सभी संसारी जीव गर्भित हो जाते हैं, उसी प्रकार त्रस और स्थावर दो भेदोंमें भी संसारी जीव अन्तः प्रविष्ट हो जाते हैं। लोक या शास्त्रमें जिस प्रकार संसारी जीवोंके भेद प्रसिद्ध हैं उस ढंगसे यहां भेदल्यवस्था कर दी गयी है।

त्रसनामकर्मोदयापादितदृत्तयस्त्रसाः प्रत्येतन्त्राः न पुनस्त्रस्यंतीति त्रसाः पवनादीनां त्रसत्वप्रसंगात् गर्भादिष्वत्रसत्वानुषंगास्त्र, स्थावरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः स्थावराः । स्थानशीलाः स्थावरा इति चेन्न, वाय्वादीनामस्थावरत्त्रप्रसंगात् । इष्टमेवेति चेन्न, समयार्थानवनेषात् । न हि वाय्वादयस्त्रसा इति समयार्थः ।

कितने ही मोटी बुद्धिबाले चलने फिरनेवाले जीवोंको त्रस और एक स्थानपर टहरनेवाले जीवोंको स्थावर कह देते हैं किन्तु यह मन्तव्य सिद्धान्तिवरुद्ध है। जिन जीवोंकी आत्मसम्बन्धी या हारीरसम्बन्धी प्रवृत्तियां त्रस नामक नामकर्मके उदयसे सम्पादित की गर्थी हैं, वे जीव त्रस समझ केने चाहिये। फिर जो उद्देगको प्राप्त होते रहते हैं भागते दौडते हैं इस निरुक्ति द्वारा प्राप्त द्वुये अर्थ करके त्रस नहीं विस्वस्त कर लेने चाहिये। यों यौगिक अर्थका आदर किया जायगा तो चलते, फिरते, पवनको या बहते द्वुये जल अथवा रेलगाडी, मोटर कार, आदि पदार्थोंको भी त्रसपनेका प्रसंग होगा। यह अतिव्याप्ति या आपत्ति द्वुई और साथसे अव्याप्ति या अनुपपत्ति भी है कि गर्भ अवस्था, मूर्च्छित अवस्था , अण्डदशा आदिमें त्रस जीवोंको भी त्रससहितपनेका प्रसंग हो जायगा। त्रसकर्मका उदय होनेपर मनुष्य या तिर्थचकी आत्मामें रक्त, मांस, हन्दी, चर्म, मज्जा आदि धातुओंको इत्यन्न करनेके लिये व्यक्त, अव्यक्त, पुरुषार्थ हो जाते हैं। देव नारिक्योंके धातुरहित वैक्रियिक शरीरके सम्पादक प्रयत्न हो जाते हैं। किन्तु स्थावर जीवोमें तादश पुरुषार्थ नहीं हो पाते हैं। स्थावरोंका शरीर रक्त, मांस, हन्दीमय नहीं है। तथा नाम कर्मकी विशेष हो रही जीवमें स्वकीय अनुभव देनेवाली स्थावर प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुथे विशेष जीव तो स्थावर कहे जाते हैं। किन्तु तिहादित इति स्थावराः इस प्रकार शब्दकी निरुक्ति कर ठहरूना र त्यावर्त क्रियेवर कर्म जाते हैं। क्रिया हो स्थावर इस प्रकार शब्दकी निरुक्ति कर ठहरूना र त्यावर्त क्रियावर कर्म जाते हैं। क्रियावर क्रियावर क्रियावर विशेष जीव स्थावर है यह स्थावर विशेष जीवर स्थावर क्रियावर विशेष जीवर स्थावर है यह स्थावर विशेष जीवर स्थावर विशेष जीवर स्थावर क्रियावर क्रियावर विशेष जीवर स्थावर विशेष जीवर स्थावर क्रियावर विशेष जीवर स्थावर क्रियावर तथा क्रियावर विशेष जीवर स्थावर तथा तथा विशेष जीवर स्थावर क्रियावर विशेष जीवर स्थावर विशेष जीवर स्थावर विशेष जीवर स्थावर क्रियावर क्रियावर क्रियावर क्रियावर क्रियावर विशेष क्रियावर क्रियावर विशेष क्रियावर क्रियावर क्रियावर क्रियावर क्रियावर विशेष क्रियावर क्रियावर क्रियावर

वायु जीव, नीचे प्रदेशकी ओर हुळक जानेवाले जल जीव, ज्वालारूप अग्नि अवस्थामें अर्घ अवल्य करने करनेवाले अग्निकायिक इत्यादि जीवोंको स्थावर रहितपनेका प्रसंग हो जानेगा। यदि कोई स्थूल बुद्धि-वाला प्रामीण पंडित यों कह देवे कि इस प्रकार तो हमको इह ही है। अर्थात्—वायु जलके जीव मले ही स्थावर न होकर त्रस हो जाओ, पृथिवी कायिक वनस्पति कायिक जीव स्थावर बने रहेंगें। स्थावस भी तेज और वायुको त्रस मान बैठे हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि आक्नायसे चले आरहे सर्वज्ञप्रतिपादित शाकोंके अर्थको तुम नहीं समझते हो। व्याकरणके चक्रमें पहकर व्याव्य, कुशल, सम्यग्दर्शन आदि शहोंके समान स्थावर शब्दकी भी निरुक्ति कर देनेसे ही पारिमाधिक अर्थ प्राप्त नहीं हो। जाता है। वायु, जल, आदिके जीव त्रस हैं, ऐसा ऋषिप्रोक्त शाकोंका अर्थ नहीं है। दिइन्द्रिय जीवोंसे लेकर चौदहवें गुणस्थानतकके जीव त्रस माने गये हैं। अतः त्रस और स्थावर कर्मके उदयसे ही त्रस स्थावर जीवोंको लक्षण यक्त करना ठीक पढ़ेगा, चलने और नहीं चलनेकी अपेक्षा त्रसस्थावरपना नहीं है। यौगिक अर्थसे कृदि अर्थ और ततोपि पारिभाधिक अर्थ बलवान होता है।

त्रसाश्च स्थावराश्च त्रसस्थावराः । त्रसग्रहणमादावल्पाक्षरत्वादभ्यहितत्वाञ्च । संसारिण एव त्रसस्थावरा इत्यवधारणान्मुक्तानां तद्भावन्धुदासः, त्रसस्थावरा एव संसारिण इत्यव-धारणाद्विकल्पांतरनिश्वत्तिः ।

त्रस और स्थावर अथवा स्थावर और त्रस भी चाहे कैसा भी विग्रह करो, दोनों पदोंका समास हो जानेपर " त्रसस्थावराः " पद बन जायगा । अन्य अक्षर होनेके कारण और पूज्यपना होनेसे राज्दशक्तिद्वारा त्रसका ग्रहण आदिमें आजाता है । संसारी इस उद्देश्य दलके साथ अन्ययोग व्यवच्छे-दक एवकार लगा देनेसे संसारीजीव ही त्रस और स्थावर दो भेदवाले हैं । अतः पूर्वोक्त दूसरे मुक्त जीवोंके त्रसपन और स्थावरपनका व्यवच्छेद हो जाता है तथा संसारी जीव तो त्रस स्थावर ही हैं । इस प्रकार विधेय दलमें अयोग व्यवच्छेदक एवकार द्वारा अवधारण कर देनेसे अन्य विकल्पों यानी भेदोंकी निष्टित हो जाती है । अर्थात्—सभी संसारी जीव त्रस और स्थावर दो भेदोंमें ही गार्मित हो जाते हैं । अन्य विकल्पोंकी आकांक्षा नहीं रहती है ।

## कुत पुनरेवं प्रकाराः संसारिणो व्यवतिष्टंत इत्याह ।

किसी शिष्यकी जिज्ञासा है कि यों त्रस और स्थावर यों दो प्रकारोंको धार रहे संसारी जीव मळा किस प्रमाणसे व्यवस्थित हो रहे हैं ? बताओ, ऐसी विनीत प्रतिपाधकी प्रतिपित्सा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

> त्रसास्ते स्थावराश्चापि तदन्यतरनिन्हवे । जीवतत्त्वभभेदानां व्यवस्थानाप्रसिद्धितः॥ १ ॥

वे संसारी जीव त्रस हैं और स्थावर भी हैं। यदि उन दोनोंमेंसे किसी भी एकका अविश्वास या अपकाप किया जायगा तब वो जीवतत्त्रके प्रभेदोंकी व्यवस्था करना अप्रसिद्ध हो जायगा । भावार्थ-जीवतत्त्व आकाशतत्त्वके समान अकेला नहीं है। किन्तु उसके संसारी और मुक्त दो भेद हैं। संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर एवं त्रसोंके भी द्विइन्द्रिद, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तथा स्थावरोंके पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदि प्रमेद हैं। इन प्रमेदोंकी प्रमाणों द्वारा सिद्धि हो रही है। हिताहित पूर्वक किया, जन्म, मरण, स्मरण, पुरुषार्थ, आदिक कार्योको कर रहे त्रस जीव त्यारे न्यारे अनेक प्रसिद्ध ही हैं। तथा पृथिवी या वृक्ष आदि वनस्पतियोंमें भी युक्तियोंसे जीवसिद्धि कर दी जाती है। कोई कोई वैज्ञानिक बृक्षोंमें स्पर्शन, रसन, ब्राण, चक्षुः, श्रोतृ, इन पांची इन्द्रियोंको सिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं । किन्तु उनका यह प्रयत्न व्यर्थ पड़ेगा । भछे ही वनस्पति जीवोंमें चक्षः, कर्ण, आदि इन्द्रियों द्वारा होनेवाले कार्यसारिक परिणाम पाये जांय । चीटियां, मक्ली, आदि छोटे छोटे कीट पतंग भी मेघ बरसनेके पहिले बिळोंमें या घरोंमें घुसकर अपनी रक्षाका उपाय कर लेते हैं, सूहर, काक, कितनी ही देर पहिलेसे आंधी आनेका अन्यर्थ, अचूक, ज्ञान कर लेते हैं। एतावता वे कीट पतंग या पशुपक्षी विचारे ज्योतिषशास्त्र या निमित्तशास्त्रोंके ज्ञाता नहीं कहे जा सकते हैं। बात यह है कि जगतके पदार्थीमें प्रतिक्षण अनेक परिणाम होते रहते हैं। बृष्टिके पाईले वायु या पृथिशीमें ऐसी परिणतियां हो जाती हैं जिनको कि अपनी प्रात एक या दो तीन इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर वे जीव अहित मार्गसे अपनी रक्षा कर छेते हैं। व्रक्षकी जड गीछे स्थल या पानी अथवा गढे हुये धन की ओर अधिक जाती है। इतनेसे ही वह आंखवाला नहीं कहा जा सकता है। स्वर्द मुई नामक वनस्पतिको छू छेनेसे कुछ देखे छिये मुस्ता जाती है, एतावता उसको छज्जाशील कुलीन स्नीके समान मनइन्दियवाली नहीं कह सकते हैं। जीव पदार्थ तो क्या, जड पदार्थ भी निमि-त्तोंके मिछ जानेपर नाना परिणतियोंको धार छेते हैं। जो कि चेतन जीवोंको भी विस्मयकारक हो **रंही है । दृक्षमें म**द्दी, खात या जलसे बन गया रस यहां वहां वृक्षसम्बन्धी आत्माके अञ्यक्त अस्व-संतेष पुरुषार्थहारा फल, पत्ते, शाखार्ये, छाल आदिके उपयोगी होकर भेजा जा रहा है। किन्तु वहां आंखे नहीं हैं । चक्कमान् मनुष्य या पशुओंके पेटमेंसे भी अन्य शरीरके अवयवींकी पृष्टिके लिये रस रुधिर, आदि रवाने किये जाते हैं, किन्तु वहां पेटके भीतर चक्क्षेका व्यापार नहीं है। वैज्ञानिकाँके घरमें रक्खे हुये यंत्र भी वृष्टि, भूकम्प, प्रहगतिको बता देते हैं, किन्तु दे जड पदार्थ अष्टाङ्ग निमि-त्तके ज्ञाता विद्वान् नहीं हैं । घडी, थर्मामेटर, आदि विशेष यंत्रों करके समयका परिज्ञान या उष्णता ( गर्मी ) शीतता ( सर्दी ) का ज्ञान हो जाता है । तराजू या कांटा अथवा पुटा जितना ठीक पदार्थको तौंछ देते हैं, बडा भारी नैयायिक या सिद्धान्तशास्त्री भी उतनी ठीक ठीक तौल या नापको नहीं बता सकता है। छोटे बच्चेके अण्डकोषोंकी सिकुडन या ढीलेपनसे ठंड और उष्णताकी परीक्षा हो जाती है। हाथीकी ठीक तील कर की जाती है। नदीमें वहा देनेसे ठीक गोल डण्डेके

काठका ऊपरला, नीचला भाग जान लिया जाता है। बात यह है कि जगत्वर्ती सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिक्षण आश्चर्यकारक परिणितयोंका सभ्पादन कर रहे हैं। न जाने किस परिणितसे आचिन्त्य निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धद्वारा कहां जड या चेतनद्वारा कैसा कैसा भाव उपज बैठे हैं। यह पनका सिद्धान्त है कि कारणके त्रिना कार्य नहीं होता है। साइन्स, न्याय, और गणित इसी राह्यान्तपर अवलम्बित हैं। जिनशासनमें कार्यकारणभावकी पोल नहीं चलती है। अतः उन ज्ञान हो जानेरूप कार्योंमें मात्र तत्त्वोंके परिणाम कारण हैं, इन्द्रियां नहीं । माताके उदर्रमें बच्चा बन जाता है, इतने ही से उस पेटको विश्वकर्मा नहीं कह दिया जाता है । इसी प्रकार वृक्षोंमें अन्तरंग, बहिरंग, कारणी द्वारा हुये परिणामोंके कार्योको चक्षः, रसना, कान, इन इन्द्रियोंका कर्त्तव्य नहीं गढ-लेना चाहिये । पांच स्थावर काय जीनोंके एक ही स्पर्शन इन्द्रिय है, अधिक नहीं । गिडार आदि त्रसेंामें दो आदिक इन्द्रियां हैं। गिडारे, दीमकें अपने रहनेके स्थानोंको बनां छेती हैं। चींटियां योग्य ऋतुओंमें धान्योंका संग्रह कर लेतीं हैं। संचित धान्य बिगडे नहीं इसलिये वे धान्यको बाहर निकाल-कर उचित घाम, बाय, चिद्धिना, लगा देती है। पुनः भीतर धर देती हैं। बरें, भीरी, मधु, मनखी, ये अपने छतोंको बनाती हैं। बच्चोंके शरीरके उपयोगी पुद्गल पिण्ड या झींगुर, लटों को लाकर स्वकीय जातिके श्राणियोंको बनालेती हैं। भिन्न भिन्न ऋतुओंमें एक स्थानको छोड कर अन्य उपयोगी स्थानपर पहुंच जाती हैं । पुनः उसी स्थानपर आजातीं हैं। मकडी चाळाकीसे जीवोंको फसानेके छिये जाला पूरती है। एक प्रकारका छोटासा कीट रेतमें चारों ओरसे लुढकाऊ गोल गड्डा बनाकर उसमें किया रहता है और रपटकर खड़ेमें गिर पड़े, चीटियां, गुबरीले, आदिको भक्षण कर लेता है। बनकी झाडियोंमें या किन्ही किन्ही ज्यार, बाजरा या मेंदिके बृक्षोंपर एक मायाचारी, भयाछ कीट विशेष अपने चारों ओर गाढे चेंपवाले फस्कुरु हो फैलाकर मध्यमें बैठ जाता है। और यहां वहांसे आकर फसूकुरुमें चुपटकर फंसगये कीट पतंगोंको खाजाता है। कोई वृक्ष भी कीट, पतंग, या पक्षियोंको पक्रडकर फरा। छेते हैं । ये सब कार्य विचारनेवाछे मनके द्वारा होनेवाछे कार्यसारिखे दिखते हैं। किन्तु उक्त कीट पतंगोंके मन नहीं माना गया है। बात यह है कि ज्ञान भी बहुत बड़े बड़े कार्योको साधता है। कीट पतंगोंके ज्ञान, इच्छा, राग, द्वेष, अषायें विद्यमान हैं। उनके द्वारा उक्त कार्य क्या इनसे भी अत्यधिक विस्मयकारक कार्य हो सकते हैं। जैन न्यायशास्त्रमें " हिताहितप्राप्तिपरिहार-समर्थ हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेत्र तत्" इस सूत्र अनुसार हितकी प्राप्ति कर छेना और अहितका परिहार करते रहना ज्ञानका ही कार्य बताया गया है। जड कर्म भी बहुत कार्य कर देते हैं। शरीरमें प्रविष्ट होकर औषि वहां ऊचम मचा देती है। आम्र रस रेचक है। दूध भी रेचक है। किन्तु आम खाकर दूध पीछिया जाय तो मल थंब जाता है। खरवूजा रचन करता है, सरवत भी मलको पतला कर देता है। हां, खरवूजा खाकर बरेका सरवत पीलेनेसे पाचन हो जाता है। आत्माकी अनेक कियाओंमें जडकर्मका भी हाथ है। यहां प्रकरणमें इतना है। कहना है कि अनेक प्रकारके त्रस और स्थातर जीवेंकी व्यवस्था प्रसिद्ध हो रही है।

स्थापराः एव सर्वे जीवाः परममहस्त्वेन निष्क्रियाणां चलनासंभवात्त्रसत्वानुषपरिति त्रसनिन्हबस्तावका युक्तः, स्वयमिष्टानां जीवतत्वमभेदानां व्यवस्थानामसिद्धिमसंगात् सर्वगतात्म-न्येकत्रैव नानात्मकार्यपरिसमाप्तिः । सकुक्षानात्मनः संयोगो हि नानात्मकार्ये तश्चकत्रापि प्रयुज्यते नभसि नानाघटादिसंयोगवत् । एतेन युगपक्षानाशरीरेद्रियसंयोगः मतिपादितः ।

वैशेषिक या किसी अन्य विद्वानका कुलित पक्ष है कि जगत्के सम्पूर्ण जीव स्थावर ही हैं। क्योंकि परम महा परिणाम होनेके कारण कियारहित हो रहे व्यापक जीवोंका देश देशान्तरमें चलाय मान होना असम्भव हैं। जो जीव यहां, वहां, नहीं चछ सकता है, उसको त्रसपना नहीं बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार त्रसजीवोंका अपलाप ( निषेध ) कर देना तो युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि यों तो स्वयं उनको अमीष्ट हो रहे जीवतत्त्वके प्रभेदोंकी व्यवस्थाके अप्रसिद्ध हो जानेका प्रसंग आवेगा. जो कि इप्ट नहीं पडेगा। अर्थात् — आत्माको न्यापक मान छेनेपर फिर अनेक जीवोंके मान-नेकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। सर्वस्थानोंपर प्राप्त होकर व्याप्त हो रहे एक ही आत्मामें अनेक आत्माके कार्यीकी परिपूर्ण रूपसे समाप्ति हो जायगी । अतः अनेक आत्माओंकी कल्पना करना व्यर्थ पढ़ेगा । देखिंग एक ही नारमें अनेक आत्माओंका संयोग हो जाना ही तो अनेक आत्माओंका कार्य माना गया है। किंतु वह कार्य तो एक व्यापक आत्मामें भी प्रयुक्त किया जा सकता है। जैसे कि एक व्यापक आकाशमें अनेक घट, पट, आदि पदार्थीका संयोग होना युक्तिघटित हो जाता है, इस उक्त कथन करके प्रन्थकारने यह भी समझा दिया है कि न्यापक एक आत्मामें युगपत् अनेक शरीर और अनेक इन्द्रियोंका संयोग हो जाना भी बन जाता है, ताकि वैशेषिक यों न कह सके कि एक आत्माके माननेपर अनेक शरीर और नाना इन्द्रियोंका एक साथ संयोग कैसे हो सकेगा ? । सदक्ष प्रन्थकार स्थावरजीवींका ही एकान्त माननेवाले पण्डितके सन्मुख व्यापक एक आत्माका ही आपादन कर अभीष्ट अर्थको मनवाना चाहते हैं। अन्य मतका खण्डन और अपने मतका स्थापन इसके कई मार्ग है। समी स्थलींपर एक ही औषधि कार्यको नहीं साधती है।

युगपनानान्नरिरेष्वात्मसमवायिनां सुखदुःखादीनामनुपपत्तिविरोधात् इति चेत्, युग-पनानाभयादिष्वाकान्नसमवायिनां विततादिशब्दानामनुपपत्तिमसंगात् तद्विरोधस्याविशेषात् । तथाविधन्नब्दकारणभेदान तदनुपपत्तिरिति चेत् सुखादिकारणभेदात्तदनुपपत्तिरप्येकत्रात्मनि माभूत् विशेषाभावात् । विरुद्धधर्माध्यासादात्मनो नानात्विमिति चेत्, तत एवाकाञ्चनानात्व-मस्दु । मदेशभेदोपचाराददोष इति चेत्, तत एवात्मन्यदोषः । जननमरणादिनियमोपि सर्व-गतात्मवादिनां नात्मबहुत्वं साध्येत्, एकत्रापि तदुपपत्तिधटाकाञ्चादिजननविनाञ्चवत् । निह घटाकाञ्चस्योत्पत्ती पद्यायाकाञ्चस्योत्पत्तिरेव तदा विनाश्चस्यापिदर्शनात्। विनाशे वा न विनाश एव जनमस्यापि सदोपकंभात् स्थिती वा न स्थितिरेव विनाशोत्पादयोरिष तदा समीक्षणात् ।

यदि अनेक व्यापक आत्माओंको माननेवाले नैयायिक यों कहें कि एक ही व्यापक आत्माके माननेपर तो नाना शरीररूपी उपाधियोंमें आमस्य होकर समवाय सम्बन्धसे ठहर रहे सुख, दु:ख, द्वेष, प्रेम, शयन, जागरण, आदिकी युगपत् सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि विरोध है। अनेक आत्माओं के माननेपर तो किसीमें सुन्व है, अन्य जीवमें दुःख है, तीसरा सीता है, चौथा जागता है, इत्यादि अनेक कार्य सच जाते हैं । किन्तु एक ही आत्मामें व्यापक मान छेनेपर भी एक साथ विरुद्ध कार्य नहीं हो सकते हैं. यें। कडनेपर तो थोड़ी देरके छिये विनोदपर्वक एक ही आत्माकी पृष्टि करने-वाले आचार्य कहते हैं कि तब तो अकेले आकाशमें भी एक ही साथ अनेक नगाडे, टोल, तुरई, आदि उपाधियोंमें अवछित्र हो रहे आकारामें समवायको धारनेवाले वितत, घन, सुषिर, निषाद, आदि शन्दोंकी असिद्धि हो जाने (सिद्धि नहीं हो सकते) का प्रसंग होगा। उस विरोध और इस विरोधका कोई अन्तर नहीं है। अर्थात्-एक आकाशमें यदि भिन्न जातिके मन्द, तीक्ष्ण, कर्कश, मृद, पंचम, मध्यम, आदि अनेक शब्दोंको मान लोगे तो उक्षी प्रकार एक ही आत्मामें शरीरोंकी उपाधिके भेदसे सुख, दुःख, आदि होना बन जाएगा। यदि एक भिन्न जातिके सुख, दु:ख, आदिकी सिद्धिका विरोध मानो तो एक आकाशमें नाना, मृदंग, शतरंगी ( सारंगी ) आदि उपाधियों द्वारा वितत, घन, आदि शह्वोंकी सिद्धिका भी वैसा ही विरोध बन बैठेगा । यदि वैशेषिक या नैयायिक यों कहें कि तिस प्रकारके वितत आदि शद्वोंके कारण हो रहे वादित्र, बाजे, तार, चर्म, आदि पदार्थों भेदसे हुये नाना शहों को अकेला आकाश धार छेता है। अतः उन अनेक राद्वोंकी आकारामें असिद्धि नहीं है। यों कहनेपर आचार्य कहते हैं कि सख, दुःख, आदिके न्यारे न्यारे कारण बन रहे पदार्थौंके भेदसे एक साथ एक आत्मामें भी सुख, दुःख, आदि हो जायेंगे, उनकी भी असिद्धि नहीं होने पात्रे । उपाधिभेदसे एक साथ अनेक समवेत गुणोंको धार छेनेकी अपेक्षा आकाश और आत्मामें कोई विशेषता नहीं है। यदि तुम वैशेषिक यों कहो कि कोई पण्डित है, अन्य प्रामीण मूर्ख है, एक नागरिक धनिक है, चौथा अपन्ययी दिद हो गया है, एक सराग है, दूसरा वीतराग है, कोई शृंगार रसका अनुरागी है, दूसरा शांतिरसमें निमप्त है, एक दाता है, दूसरा पात्र है, कोई सुखी है, कोई दुःखी है, इत्यादिक विरुद्ध धर्मीके आरूढ हो जाने भे जीव तत्त्वको अनेकपना साध दिया जाता है। या कहनेपर तो आक्षेपकार हम जैन भी कह देंगे कि तिस ही कारणसे आकाश द्रव्य भी नाना हो जाओ । आकाशमें भी अनेक विरुद्ध धर्मीका अध्यास हो रहा है। कहीं मन्द शद्ध है, कहीं तीत्र शद्ध है, कचित् छोटा, बडा, शद्ध गूंज रहा है। यदि वैशेषिक यों कहे कि एक अखण्ड आकाश की उपचारसे भिन्न भिन्न प्रदेश मान लिये जाते हैं। अतः आकाराके किसी प्रदेशमें ढोलका शद्ध है अन्य प्रदेशमें तृतीका शद्ध है। तीसरे प्रदेशमें घन हैं । चौथे प्रदेशमें वितत है । यों वाहनेपर तो हम जैन कह देंगे कि तिस ही कारणसे आत्मामें भी कोई दोष नहीं आता है, अर्थात् सर्वन्यापक एक ही अखण्ड आत्माके उपचारसे

प्रदेश भेदोंको मानकर कहीं सुख, अन्यत्र दुःख, कचित् मूर्लता, कहीं कहीं पण्डिताई इन धर्मोंका सम्बन्ध बन जाता है। आत्माको सर्वगत कहनेवाले वादियोंके यहां जन्म लेना, मरना, बंध जाना, मुक्त हो जाना, आदि नियम भी आत्माके बहुतपनको नहीं साध सकेंगे। क्योंकि एक भी आत्मामें उपाधिओंके मेदसे उन जन्म लेना, मरण करना, आदिकी सिद्धि बन जाती है, जैसे कि एक आत्मामें घटाकाशका उपज जाना और कपाल आकाश या पटाकाशका विनाश होना युगपत् सिद्ध हो जाता है। घट उपाधिसे नापे गये आकाशकी उत्पत्ति हो जानेपर पट उपाधिवाले आकाश या कपाल उपाधिवारी आकाशकी मी उत्पत्ति ही होवे, ऐसा कोई नियम नहीं है। उस समय एक उपाधिवाले आकाशकी उत्पत्ति होनेपर अन्य उपाधिवाले आकाशको विनाशका भी दर्शन हो रहा है अथवा किसी विशेषणसे अविच्छित हो रहे आकाशका विनाश हो जानेपर सभी विशेषणोवाले अन्य अन्य आकाशका भी विनाश ही हो जाय ऐसा नहीं है। किन्तु उस विनाश होनेक समय अन्य कार्याविच्छित्र आकाशकी उत्पत्ति भी देखी जा रही है। किसी उपाधिवारी आकाशकी स्थिति होनेपर सभी उपाधिवाले आकाशकी स्थिति ही नहीं होती रहती है। उस स्थितिके समयमें विनाश और उत्पादका भी मला दर्शन हो रहा है। बात यह है कि आकाशको एक माननेपर अधि तत्त्व भी एक ही मानना अनिवार्य पढ़ेगा। यदि जीवतस्वको अनेक मानोगे तो आकाश तत्त्व भी अनेक मानने पढ़ेगे। न्यायमार्गमें किसीका पक्षपात नहीं चलता है।

सित बंधे न मोक्षः सित वा मोक्षे न बंधः स्यादेकत्रात्मिन विरोधादिति वेक, आका-शेपि सित घटवन्ते घटांतरमोक्षाभावमसंगात् । सित वा घटविश्लेषे घटांतरिवश्लेषमसंगात् । मदेशभेदोपचारात्र तत्मसंग इति चेत्, तत एवात्मिन न तत्मसंगः । कथमेक एवात्मा बद्धो मुक्तश्च विरोधादिति चेत्, कथमेकमाकाशं घटादिना बद्धं मुक्तं च युगपदिति समानमेतच्चोद्यम् । नभसः मदेशभेदोपगमे जीवस्याप्येकस्य मदेशभेदोस्त्वित कुतो जीवतत्त्वप्रभेदव्यवस्था । तत-स्तामिच्छता कियावंतो जीवाश्रस्त्रनतो असर्वगता एवाभ्युपगंतव्या इति त्रससिद्धः ।

यदि पूर्वपक्षी वैशोषिक यो कहें कि एक ही आत्माके स्वीकार करनेपर तो एक आत्माका बन्ध हो जानेपर मोक्ष न हो सकेगी अथवा मोक्ष हो जानेपर बन्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि एक ही आत्मामें विरुद्ध माने गये बन्ध या मोक्ष दोनोंके होनेका विरोध है। किन्तु जगत्में बहुतसी आत्माओंके बन्ध हो रहा है और अनेक आत्माओंको मुक्ति प्राप्त हो रही है। आचार्य व हते हैं कि यह उपाय तो नहीं रचना। क्योंकि यों तो एक आकाशके माननेपर भी आकाशको घटसहितपना होनेपर अन्य घटोंसे या पट आदिसे मोक्ष होनेके अभावका प्रसंग होवेगा। अथवा प्रकरणप्राप्त घटका आकाशके साथ विश्लेष हो जानेपर अन्य घटोंके साथ भी विश्लेषण हो जानेका प्रसंग बन बैठेगा। अर्थात् —जब आकाश एक ही है तो घटके साथ संयोग हो जानेपर सभी घटोंके साथ संयोग ही

बना रहना चाहिंये या गृहमें आकाराके साथ घटका विभाग हो जानेपर अन्य घट, पट, आदिके साय भी विभाग हो जायगा । एक अखण्ड आकाशमें किसीके साथ विश्लेष और अन्यके साथ संयोग मानना तो विरुद्ध पडेगा । यदि वैशेषिक उपचारसे आकाशके छोटे छोटे प्रदेशोंके भेदको मानकर उस प्रसंगका निवारण करेंगे तब तो उस ही कारणसे यानी अखण्ड, एक, व्यापक, आत्मामें उपचारसे श्रदेशमेदों की कल्पना कर उस बन्ध या मोक्ष के प्रसंग का भी निषेध हो जाता है तो फिर आत्माको आकाराके समान एक माननेमें अथवा अनेक आत्माओंके समान आकाराको भी अनेक माननेमें क्यों आपत्तियां उठाई जाती हैं ? । यदि पूर्वपक्षी यों कहे कि एक ही आत्मा भछा बद्ध और मुक्त भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि सहानवस्थान नाम हा विरोध है। जिस आत्मामें बद्धपना है वहां मुक्ति नहीं और जहां मुक्तपना है वहां बद्धपना नहीं घटित हो पाता है । यों कहनेपर तो जैन भी कटाक्ष कर सकते हैं कि एक ही आकाश विचारा घट, पट, आदि करके बन्न रहा और उसी समय दूसरीसे छूट रहा भछा युगपत् किस ढंगसे साधा जा सकता है ? इस प्रकार एक आत्माका पक्ष हे हेनेपर हमारे ऊपर उठाया गया यह आपत्ति या अनुपपतिरूप चोद्य आकाश को सर्वथा एक माननेवाले तुम्हारे ऊपर भी समान रूपसे छागू हो जाता है । हां, यदि तुम आकाशके प्रदेशोंको भिन्न भिन्न स्वीकार कर लोगे तब तो हमारे यहां एक ही जीवके भी प्रदेशोका भेद हो जाओ । इस प्रकार जीव तत्त्वके प्रभेदोंकी व्यवस्था मला कैसे हो संकेगी ? मनुष्य, पश्च, पक्षी, माता, पिता, गुरु, बहिन, बेटी, ये सब अनेक प्रकारके जीव तुम्हारे यहां माने गये हैं। तिस कारण उस जीव तत्त्वके प्रमेदींकी व्यवस्थाको चाहनेवाले तुम करके क्रियासहित हो रहे जीव चलने, फिरनेकी अपेक्षासे असर्वगत ही स्वीकार कर छेने चाहिये। कीट, पतंग, पशु, पक्षी, सब चलते, यूमते, अन्यापक ही देखे जा रहे हैं। इस युक्तिसे त्रस जीवोंकी सिद्धि हो जाती है। "स्थावरा एव " यहांसे छेकर " त्रससिद्धिः " तक प्रकरण द्वारा स्थावर जीवोंके एकान्तका निराकरण कर त्रसजीवोंको भी साध दिया है।

त्रसा एव न स्थावरा इति स्थावरिन्हवोषि न श्रेयान्, जीवतत्त्वप्रभेदानां व्यवस्थाना-मसिद्धिप्रसंगात् । जीवतत्त्वसंतानांतराणि हि व्यवस्थापयन पत्यक्षाद्धवस्थापयिद्धमहित तस्य तत्राप्रदृत्तेः । व्यापारव्याहारिलंगात्साधयतीति चेत् न, सुपुप्तमूर्छिताण्डकाद्यवस्थानां संतानांत-राणामव्यवस्थानुपंगात्तत्र तदभावात् । आकारिवशेषात्तत्सिद्धिरिति चेत्, तत एव वनस्यति-कायिकादीनां स्थावराणां प्रसिद्धिरस्तु ।

कोई एकान्तवादी कह रहे हैं कि संसारमें सब जीव त्रस ही हैं। स्थावर जीव कोई भी नहीं है, मन्थकार कहते हैं कि यों अन्यायी राजाकी आज्ञाके समान स्थावरजीवोंका अपलाप करना (होते हुओंका निषेध करना ) श्रेष्ठ नहीं है। हेतु हमारा वही है जोकि वार्तिकके उत्तरार्धमें कहा गया है। अर्थात्—जीव तत्त्वके प्रभेदोंकी व्यवस्थाके अप्रसिद्ध हो जानेका प्रसंग तुम्हारे ऊपर उठा दिया जावैगा।

देखिये, जीव तत्त्वके प्रमेद श्वरूप गुरु, माता, पिता, मित्र, पशु, पश्ची आदिकी भिन्न भिन्न सन्तानीके नियमसे व्यवस्था करा रहे आप या और कोई आपका मित्र भला प्रत्यक्षसे तो उनकी व्यवस्था करा-के के किये समर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि उस युष्पदादिकोंके प्रत्यक्ष प्रमाणका उन अनेक सन्तानोंके जाननेमें प्रश्नुति नहीं हो रही है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तो जड पदार्थीके रूप, रस, आदिको हो जान पाता है । और मानस प्रत्यक्ष केवल अपनी आत्मा या उसके सुख, दु:ख, आदिकोंकी संवित्ति कर लेता है। अन्य आत्माओंकी व्यवस्था करानेमें प्रत्यक्षकी सामर्थ्य नहीं है। हां, यदि तुम शा**रीरिक** क्यापार करना, बचन बोलना, हित अहित ऋिया करना, आदि ज्ञापक हेतुओंसे उन अन्य संतानोंकी सिद्धि कराओगे सो उस अनुमानका हेत् तो ठीक नहीं पड़ेगा । भागासिद्ध हेत्वाभास जायगा । क्योंके यों गादरूपसे सोजानेकी अवस्था या मूर्छी प्राप्त हो अन्यवस्था, अथवा अण्डेकी दशा आदिक अवस्थाओंको प्राप्त हो रहे सन्तानान्तरोंकी व्यवस्था नहीं हो सकनेका प्रसंग होगा। क्योंकि उन सुपुत आदिक दशाओंमें जीव है, किन्तु उन दशाओंमें उन शरीरिक्रया, वचन, उचारण, आदिक ज्ञापक लिंगोंका अभाव है। यदि मागासिद्ध हेतका परित्याग कर जीवित अवस्थामें होनेवाले आकारविशेषसे सुपुत आदि दशाओंमें भी उन सन्तानान्तरोंके जीविततत्त्रोंकी व्यवस्था करोगे तब तो उस ही आकार विशेषसे वनस्पतिकायिक. पृथिवीकायिक, आदिक स्थावर जीवोंकी भी प्रसिद्धि हो जाओ । मनुष्य, पशु, पक्षी, पतंग, कीटके समान घास, मही, आदिमें भी चैतन्यका साधक आकार विशेष पाया जाता है। भग्नक्षत संरोहण हो रहा देखा जाता है।

कः पुनराकारिक्षेषो वनस्पतीनां आहारलाभालाभयोः पुष्टिग्लानलक्षणः ततो यदि वनस्पतीनामसिद्धिरात्मनां तदा संतानांतराणामपि मूर्छितादीनां कुतः सिद्धिरिति जीवतस्व-प्रभेदं व्यवस्थापयता त्रसस्यावर्योरन्यतरिनन्द्वो न विषेयः।

सन्मुख बैठा हुआ एकान्तवादी पूंछता है कि वनस्पति जीवोंके कीनसा आकार विशेष है, जो कि उनको जीवतत्वका प्रभेद साथ देगा ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि आहारके लाम और अलाम होने पर पुष्टि और ग्लानि हो जाना यही उनके आकार विशेषका लक्षण है। अर्थात्—वन पतियोंको खात, जल, मृत्तिका, वायु, आदिका आहार प्राप्त हो जाता है, तब तो वे हरे, मरे, पुष्ट, दीखते हैं और योग्य आहार नहीं मिलनेपर उनमें म्लानता आ जाती हैं, कोई कोई तो सूखकर मर जाते हैं। इस बातको वर्त्तमानके विज्ञानवेत्ताओंने भी युक्तियोंसे साथ दिया है। मेब, जल, सूर्यिकरणें, स्वच्छ वायु, इनका आहार करना समान होनेपर भी कई जातिकी वनस्पतियां भिन्न मिलनेपर खातों की अपेक्षा रखतीं हैं। कोई कोई वनस्पति तो रक्त, मांसका खात मिलनेपर परिपृष्ट होती हैं। कई वन पतियां अपि हारा तपानेपर शीतवाधाके मिट जानेसे पुष्ट होती हैं। शाखा, उपशाबाके टूट जानेपर पुनः प्ररोह हो जाता है। अतः बक्ष, वेल, घास, आदि वनस्पति-

यों अनुमान प्रमाण द्वारा जीव तत्त्वको साथ छेना चाहिये। पर्वतों या खानों में भी आकार विशेष पाया जाता है। अग्नि, जल, वायुंमें भी युक्ति और आगमसे जीव तत्त्वको साथ छेना चाहिये। बिहान (साइन्स) के प्रयोगोंकी वृद्धि होनेपर इनमें भी जीवके साथक अनेक उपाय प्राप्त हो सकते हैं। तिस कारणसे यदि वनस्पति जीवोंकी उस आकारविशेषसे सिद्धि नहीं मानोंगे तब तो मूर्छित या गाढ सोरहे आदि जीवोंके न्यारी न्यारी चैतन्य सन्तानोंकी भी सिद्धि मला कैसे कर सकोंगे ? सन्तानान्तर या मूर्छित, गर्भस्थ, आदिके जीव तत्त्वोंकी व्यवस्थाका जो उपाय है वही स्थावर जीवोंका भी निर्णायक है। इस प्रकार जीव तत्त्वके प्रभेद हो रहे सन्तानान्तर या सुष्कृत भादिक प्रभेदोंकी व्यवस्था करानेवाले विद्वान करके त्रस और स्थावर दोनों प्रकारके जीवोंमेंसे किसी भी एकका निन्हव नहीं करना चाहिये। यहांतक त्रस और स्थावर जीवोंकी सिद्धि कर दी गयी है।

### कोत्र विशेष ? स्थावरा इत्याह ।

इन सामान्य रूपसे जान लिये गये त्रस, स्थावर जीवोमें कौन कौन विशेष प्रभेद हैं ! ऐसा प्रश्न होनेपर प्रथम ही स्थावरोंके विशेष हो रहे भिन्न भिन्न जाति के जो स्थावर हैं, इस बातको प्रन्थकार श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्र द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं। त्रस जीवोंका व्याख्यान अधिक करना है। अतः आनुपूर्वीकी अपेक्षा नहीं कर " सूचीकटाह " न्याय अनुसार पिहले स्थावर जीव ही कहे जा रहे हैं। लुहारके पास एक मनुष्य पिहले करैद्या बनवाने आया। उसके पीछे दूसरा लड़का सुई बनवाने आया। यहां क्रम का उल्लब्धन कर लुहार पिहले सुईवालेको निवटा देता है। इस कियाका नाम " सूचीकटाह न्याय " है। सुई पाव घड़ीमें बनती है, करैद्या बनानेमें दिन भर लगा जायगा।

# पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पिस्ति ये पांच प्रकारके स्थावर जीव हैं। यहां पृथिवीजीव, पृथिवीकायिक, जलजीव, जलकायिक, तेजोजीव, तेजस्थायिक, वायुजीव, वायुकायिक, वनस्पतिजीव, वनस्पतिकायिक, ये स्थावर जीव माने जाते हैं।

# पृथिवीकायिकादिनामकर्मोदयवक्षात्पृथिव्यादयो जीवाः पृथिवीकायिकादयः स्थावराः प्रत्येतव्या न पुनरजीवास्तेषामप्रस्तुतत्वात् ।

मूल प्रकृति माने गये नामकर्मकी उत्तर प्रकृति स्थावर नामक कर्म है। उसके भेद हो रहे पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, आदि नामकर्मके उदयकी अधीनतासे अथवा असंख्याते उत्तरभेदोंको धारनेवाली गिन नामक प्रकृतिकी विशेष हो रही तिर्यगातिके प्रभेदोंके उदयसे पृथिवी आदिक जीव ही पृथिवी कायिक, जलकायिक, आदिक स्थावर समझ लेने चाहिये। किन्तु फिर पृथिवी,

पृथिवीकाय, जल, जलकाय, आदि अजीव पदार्थ तो स्थावर नहीं हैं। क्योंकि जीव तत्त्वके भेद प्र दोंको गिनानेके अवसरपर उन अजीवोंका प्रस्ताव प्राप्त नहीं हैं। अर्थात्—ऋषिप्रोक्त शासोंमें प्रत्येकके पृथिवी आदिक चार भेद कहे हैं। पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक, पृथिवीजीव, एवं ज जलकाय, जलकायिक, जलजीव, इत्यादि समझ लेना । मोटी, कठिनता, आदि गुण स्वरूप हो र अचेतन मिद्दी, पत्थर, खडी, गेरू, कंकड, रत्न ये तो सामान्य रूपसे पृथिवी हैं। पृथिवीकारि जीव द्वारा मरकर शीघ्र छोड दिया गया जडिपण्ड तो पृथिवीकाय बोळा जाता है। जैसे कि मन मरता हुआ अपने शवको छोड देता है। वर्तमानमें जिस जीवके पृथिवीकाय वर्त रही है वह ज प्रधिवीकायिक है. जिसका कि अपनी आयुर्पयन्त उस कायसे सम्बन्ध बना रहता है। और ि जीवके प्रथिवीकायिक नामकर्मका उदय प्राप्त हो गया है, किन्त अभीतक विष्रह गतिमें पड़ा ह कार्मण काय योगमें स्थित है, जबतक वह पृथिवीको नोकर्म शरीररूप करके प्रहण नहीं करता तबतक वह प्रथिवीजीव है। यही ढंग अन्य जल आदि चारों भेदोमे लगा लेना। पहिलेके प्रथिवी अं प्रधिवीकाय ये दो भेद तो अजीव स्वरूप हैं। और तीसरे चौथे ये दो भेद जीवतत्त्व हैं। अथवा पी दो भेदोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, कुछ देर पहिले मरे हुये और बहुत दिन पहिले मरे हुये । इमशान भूमिमें गर्भित हो जाते हैं । अतः प्रथित्रीको सामान्य मान कर उत्तरवर्ती तीनों भेदोंमें उस अन्वय कर लेना चाहिये। प्रथिशीकाय और प्रथिवीकायिक, जलकाय और जलकायिक, तेजस्क और तेजस्कायिक, वायुकाय और वायुकायिक वनस्पतिकाय और वनस्पति कायिक ये स्थावर जीव ा शेष पृथिवी या पृथिवीकाय आदि जडोंको यहां स्थावरोंमें गिनना नहीं चाहिये।

### कुतस्ते अवबोद्धव्या इत्याह ।

वे पृथित्रीकायिक आदिक जीव कैसे किस प्रमाणसे समझ लेने चाहिये हैं ऐसी जिज्ञासा होने श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानको कहते हैं। उसको दत्तावधान होकर श्रवण करो।

# जीवाः पृथ्वीमुखास्तत्र स्थावरा परमागमात् । सुनिर्वाधात्रबोद्धन्या युक्त्या एकेंद्रिया हि ते ॥ १ ॥

उन जीवोंमें पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदिक जीव स्थावर हैं। ये सिद्धान्त प्रक्षित ज तो भले प्रकार बाधाओं ते रहित हो रहे सर्वज्ञ उक्त, उत्कृष्ट, आगमसे अच्छे समझ लेने चाहिये। पृथिवीकायिक आदि जीव नियमसे युक्तियों करके भी एक स्पर्शन इन्द्रियवाले साध दिये जाते हैं अर्थात्—सर्वज्ञकी प्रवाह धारासे चले आ रहे आगम द्वारा स्थावरों की सिद्धि प्रधान रूपसे हो ज है तथा वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा युक्ति करके भी पृथिवी, जल, आदि शरीरोंको धारनेवाले जीवों सिद्धि हो जाती है। सूक्ष्म यंत्रोंसे मही या जलमें छोटे छोटे रेंगते हुये जो कीट दीखते हैं वे सब : जीव हैं। किन्तु मिट्टी या जल ही जिन जीवोंका शरीर है वे स्थावर जीव हैं। एक मिट्टीकी छोटी देली छातीं करोड़ों वस्तुत: असेंस्याते जीवोंका औदारिक शरीर पिण्ड है। इसी प्रकार एक जलकी बूंद भी असंस्य जलकायके जीवोंके प्रहण किये हुये शरीर हैं। अप्नि, वायु, वनस्पतिके शरीरोंको भी अनेक प्रकेंद्रिय जीवोंने प्रहण कर रक्का है। घनाङ्गुलके संख्यातवें भाग या असंख्यातवें भाग एक जीवकी अवगाहना है। हां, वनस्पतिजीव घास बक्ष आदि थोंडसे तो संख्यात घनाङ्गुल प्रमाण भी हैं। किन्तु बहुभाग चनाङ्गुलके असंख्यातवें या संख्यातवें भाग छोटी अवगाहनावाले हैं।

# संति पृथिवीकायिकादयो जीवा इत्यागमात् पृथिवीकायिकादिसिद्धिः । कुतस्तदागमस्य मामाण्यनिश्य इति चेत् , सर्वथा वाभकरहितत्वात् । न ह्यस्य प्रत्यक्षं वाथकं तदविषयत्वात् ।

उक्त कारिकाका विवरण यों है कि " पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदि जीव विद्यमान हैं " इस प्रकारके आगमकाक्यसे पृथिवीकायिक, आदि जीवोंकी अच्छी सिद्धि हो जाती है। कोई प्रश्न करता है कि उस आगमको प्रमाणपनेका निश्चय कैसे किया जाय ? जिसमें कि पृथिवीकायिक आदि जीवोंका सद्भाव माना गया है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि सभी प्रकार बाधक प्रमाणोंका रहितपना होनेसे आत पुरुष करके उपज्ञ हो रहे आगमका प्रमाणपना जान लिया जाता है। देखिये, " सुद्धमणिवातेआभूवातेआपुणिपदिद्विदं इदरं। " " पुढविदगागणिमारुदसाहारणथूल सुहमपत्तेया " " पुढविआऊतेऊवाऊ कम्मोदयेण तत्थेव, णियवण्णच उक्क जुदो ताणं देहो हवे णियमा " इसादिक इन आगम वाक्यों या इनसे भी प्राचीन आर्ष प्रन्थोंको बाधा देनेवाला प्रस्थक्षप्रमाण तो नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण उन अतीन्द्रिय पदार्थोंको विषय नहीं करता है। जो प्रमाण जिस विषयमें नहीं चलता है वह उसका साधक या बाधक नहीं समझा जाता है। जो प्रामीण भोला किसान वैद्य विद्याको नहीं जानता है, उसमें उसका सपश्च या विपक्ष रूपसे टांग अद्याना अनुचित है।

पृथिन्यादयो अचेतना एव न्यापारन्याहाररहितत्वाद्धस्मादिवत् इत्यतुमानं बाधकमिति चैक, अस्य सुपुप्तादिनानेकांतात् । तस्यापि पक्षीकरणमयुक्तं समाधिस्थेनानेकांतात्, पक्षस्य प्रमाणवाधानुषंगात् । सांख्यस्य सुक्तात्मना न्यभिचारात् ।

कोई कटाक्ष कर रहा है कि पृथिवी, जल, आदिक (पक्ष) अचेतन ही हैं (साध्य)। क्योंकि वे शारीरिक व्यापार करना, बोलना, विचारना, इष्टमें प्रवर्तना, अनिष्टसे निवृत्त हो जाना, आदि कियाओंसे रहित हैं, (हेतु) भस्म, रेता, उष्णजल, सूखा काठ, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकारका अनुमानप्रमाण तुम्हारे आगमका बाधक है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि इस अनुमानमें कहे गये हेतुका अचेत सो रहे मनुष्य या मूर्छाप्राप्त जीव, अण्डस्य जीव, आदि करके व्यभिचार दोष आता है। अर्थात् निर्भर सो रहे या मूर्जिंद्र मनुष्यके

कोई शारिरिक किया, वचनव्यवहार, आदिक नहीं हैं। किन्तु वे चेतन हैं। अतः हेतुके ठहर जानेपर साध्यकी स्थित नहीं होतेसे तुम्हारा हेतु व्यभिचारी हो जाता है। उस सोते हुये या मूर्छित हो रहे को भी पक्ष कोटिमें कर ठेना तो उचित नहीं है। क्योंकि समाधि या ध्यानमें स्थित हो रहे जीवकरके व्यभिचार आ जावेगा। अतः प्रतिज्ञास्त्ररूप पक्षकी प्रमाणोंसे बाधा हो जानेका प्रसंग होना। ऐसी दशामें तुम्हारा हेतु वाधित भी बन बैठेगा। भातार्थ सोते हुये या मूर्छित पुरुषको भी यदि व्यापार आदि नहीं होनेसे अचेतन मान छिया जायगा तो भी ध्यान छगाकर बैठे हुये पुरुषके व्यभिचार दोध तदवस्थ रहेगा। सोते हुये पुरुषको मरा हुआ कहना बाधित है। दूसरी बात यह है कि सांख्यमतियोंके यहां प्रकृतिका संसर्ग छूट जानेसे व्यापार करना, बोछना, आदि क्रियाओंस छूट चुके पुक्तजीव करके व्यभिचार आता है। अर्थात् वैशिक भछे ही मुक्त अक्स्थामें जीवको अचेतन कह दे, किन्तु कपिछमतके अनुयायी तो मुक्तजीवोंको बहुत अच्छा चेतन कह रहे हैं। वहां हेतुके रह जानेपर भी अचेतनपना साध्य नहीं है। विपक्षमें हेतुका वर्तजाना व्यभिचार है।

## प्रत्यागमो वाधक इति चेम्न, तस्याप्रमाणत्वापादनात् स्याद्वादस्य प्रमाणभूतस्य व्यव-स्थापनात् । तदेवमागमात्स्रुनिर्वाधात् पृथिवीमस्रुखाः स्थावराः प्राणिनो बोद्धव्याः ।

यदि कोई यों कहे कि जैनोंके आगमसे प्रतिकृत हो रहा दूसरा चार्वाक आदिका आगम उस जिनागमका बाधक है, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस स्थावर जीवोंका निषेध करनेवाले आगमको अप्रमाणताका अपादान किया गया है। अप्रमाणसे प्रमाणको कोई ठेस नहीं पहुंच पाती है। हां, स्यादाद सिद्धान्तको ही प्रमाणभूत होनेकी व्यवस्था पूर्वप्रकरणोंमें कर दी गई है। तिस कारण इस प्रकार मले ढंगपूर्वक बाधाओंसे रहित हो रहे आगमप्रमाणसे पृथिवी, आदिक स्थावर प्राणी समझ लेनी चाहिये। सुखपूर्वक प्रहणका हेतु होनेसे तथा मोटी मूर्ति होनेसे अथवा मोजन, गृह, बक्क, अलंकार, आदि कृप करके बहुत उपकार करनेवाली होनेसे पांचों स्थावरोंमें पृथिवीको प्रमुख माना गया है। उसके अनन्तर जल, तेज, वायु, और वनस्पतिका वचन करना मी साभिप्राय है।

## युक्तंश्व, ज्ञानं कचिदात्मनि परमाऽपकर्षमायाति अपकृष्यमाणविशेषत्वात् परिमाणव-दित्यतो यत्र तदपकर्षपर्यतस्तेऽस्माकमेकेद्रियः स्थावरा एव युक्त्या संभाविताः ।

तथा युक्तिसे भी स्थावर जीवोंको समझ लिया जाता है। सुन लीजिये। ज्ञान (पक्ष) किसी न किसी आत्मामें अत्याधिक अपकर्ष (हीनता) को प्राप्त हो जाता है (साध्य) विशेष रूपसे कमती कमती हो रहा होनेसे (हेतु) परिमाणके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—आकाश, लोक, सुमेरुपर्वत, सम्मेदशिखर, गृह, घर, नारियल, बेल, बेर, कालीमिरच, पोस्त, आदिमें उत्तरोत्तर घट रहा परिमाण जैसे परमाणुमें पहुंचकर अन्तिम अपकर्षको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार केवलज्ञान, श्रुतज्ञान, आचा-पंका ज्ञान, शास्त्रीका ज्ञान, साधारण पण्डितका ज्ञान, पश्च, पश्ची, प्रतंग, कीट, इनका ज्ञान यों

उत्तरोत्तर घटते घटते ज्ञान भी कहीं न कहीं अन्तिम घटीको पहुंच जाता है। ऐसे इस अनुमानसे जहां कहीं जीवोंमें उस ज्ञानकी न्यूनताका अन्तिम आधार है। वे ही हम स्याद्वादियोंके यहां एक स्पर्शन इन्दियवाले स्थावर जीव माने गये हैं। इस प्रकार अनुमानखरूप युक्तिकरके स्थावर जीवोंके सद्भावकी सम्भावना की जा चुकी है।

नतु च भस्मादावनात्मन्येव विज्ञानस्यात्यंतिकापकर्षस्य सिद्धेर्नस्थावरसिद्धिरिति चेक, स्वाश्रय एव ज्ञानापकर्षदर्भनात् अनात्मनि तस्यासंभवादेव हान्यतुपपत्तः। प्रध्वंसी हि हानिः सत एवोपपद्यते नासतोतुत्पक्षस्य वंध्यापुत्रवत् ।

उक्त अनुमान द्वारा स्थावर जीवोंकी सिद्धि कर रहे आचार्यके ऊपर स्थावर जीवोंको नहीं माननेवाले किसी पण्डितकी ओरसे पुनः स्वपक्षका अवधारण है कि जीवतत्त्वसे भिन्न हो रहे जड, मस्म, पीतल, ईट, आदि पदार्थमें ही विज्ञानके अत्यन्त रूपसे होनेवाले अपकर्षकी सिद्धि हो रही है। अतः स्थावर जीवोंकी सिद्धि न हो सकी। मन्दबुद्धि जीवोंमें ज्ञानकी कमी होते होते जड राखेंमें सर्वथा ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो गया है। अपकर्षका बढिया आधार जब मिल गया है तो उस अनुमानसे मला स्थावर जीवोंकी सिद्धि कहां हुयी? आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि ज्ञानके निज आश्रयमें ही ज्ञानका अपकर्ष हो रहा देखा जाता है। आत्मतत्त्वसे सर्वथा भिन्न हो रहे जहमें उस ज्ञानका असम्भव हो जानेसे ही हानिकी सिद्धि नहीं बन सकती है। हानिका अर्थ यहां नियमसे अच्छा चंस हो जाना है। वह घंस तो प्रतियोगीकी सत्तावाले पदार्थकी हानि नहीं हो सकती है। रोगकी हानि जीवके बन सकती है, जडके नहीं। जहां प्रतियोगीका सद्भाव है वहां ही उसका चंस है। वैद्येषिकोंने भी घंसका प्रतियोगीके समवायी देशमें नियत होकर रहना माना है। घटका चंस कपालोंमें और पटका चंस तन्तुओंमें ठहरता है। मस्ममें तो ज्ञानका अत्यन्तामाव है और हम ज्ञानके चंस या न्यूनपनको साथ रहे हैं। वह एकेन्द्रिय जीवोंमें ही पाया जावेगा। किसी मनुष्यको ही निर्धन या अपढ कहा जाता है, पत्थर या डेलको नहीं।

### कचिदात्मन्यप्यत्यंतनाशो ज्ञानस्यास्तीति चेन्न, सतो वस्त्रन उत्यत्तिविनाशानुपपत्तेः।

पुनः कोई वैशेषिकका पक्ष लेकर कहता है कि भस्ममें नहीं सही, किन्तु किसी किसी आत्मा ( मुक्तजीव ) में भी तो ज्ञानका अत्यन्त रूपसे नाश विद्यमान है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि अनादि अनन्त सदूप हो रही वस्तुके उत्पत्ति और विनाश बन नहीं सकते हैं। अर्थात्— " नासतो विद्यते भावो नामावो विद्यते सतः " " नैवासतो जन्म सतो न नाशो "। जैसे पुद्रल द्रव्यमें रूप, रस, आदि गुण अनादि कालसे अनन्त कालतक विद्यमान रहते हैं, कोई नया गुण उपजता नहीं है और न किसी सत् गुणका विनाश होता है। यदि नया गुण उपजने लगे तो जह

द्रव्यमें ज्ञान, सुख, गुण भी उपज जायेंगे। ऐसी दशामें जह और चेतनका विभाग करना अशक्य हो जायगा। तथा यदि विद्यमान गुणोंका विनाश होने छंगे तो किसी दिन संपूर्ण गुणोंका अभाव हो जानेसे वस्तुका ही अभाव हो जायगा। गुणोंका समुदाय ही तो द्रव्य है। हां, विद्यमान हो रहे गुणोंकी पर्यायोंमें अविभाग प्रतिच्छेदोंकी न्यूनता, अधिकता, या विभावपरिणाम होते रहते हैं। तभी तो ज्ञानगुणकी अत्यन्त हानि होते हुये भी सूक्ष्मनिगोदिया छन्त्रि अपर्याप्तक जीवमें अक्षरके अनन्तवें भाग नित्य प्रकाशनेवाछा निरावरण ज्ञान माना गया है। मनुष्य भी कितना ही पागछ, मूर्छित, मूर्ख, पौंगा, दुःखित, क्यों न हो जावे, उसमें थोडा ज्ञान तो अवश्य ही बना रहता है। पण्डिताईके ज्ञानोंका , व्यंस मूर्खता पूर्वक हुये ज्ञानोंके विद्यमान होनेपर पाया जाता है। एकेन्द्रिय दशामें सामान्य अत्यल्पज्ञान होनेपर विशिष्ट ज्ञानोंकी हानि मानी जाती है, ज्ञानका सर्वथा नाश कहीं नहीं हो पाता है।

कर्मणां कथमत्यंतिवनाश इति चेत्, क एवमाह ? तेषामत्यंतिवनाश इति । कर्मरूपाणां हि पुद्रलानामकर्मरूपतापत्तिविनाशः सुवर्णस्य कटकाकारस्याकटकरूपतापत्तिवत् । ततो गणन-परिमाणादारभ्यापक्रव्यमाणिवशेषं परिमाणं यथा परमाणौ परमापकर्षपर्यतमाप्तं सिद्धं तथा शानमिप केवलादारभ्यापकृष्यमाणिवशेषमेकेद्रियेषु परमापकर्षपर्यतमाप्तमवसीयते । इति युक्ति-मत्पृथिवीकायिकादिस्थावरजीवमतिपादनं ।

पूर्वपक्षवाळा कहता है कि बताओ कर्मीका अत्यन्तरूपसे विनाश भला कैसे हो जाता है : मुक्त जीवोंमें भी ज्ञानके समान थोडे, बहुत, कमें विद्यमान रहे आवेंगे। आप जैनोंने अभी कहा था कि सत्का विनाश नहीं हो पाता है । यों कहनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि कौन अविचारी इस प्रकार कह रहा है कि उन कर्मीका अत्यंतरूपसे विनाश हो जाता है कि कर्मस्वरूप हो रहे पुद्रलोंकी अकर्मस्वरूपपने करके प्राप्ति हो जाना ही विनाश है। जैसे कि कडोंके आकारको धारनेवाले सोनेकी कड़े रहित हो रहे कुन्डल, केयूर, आदि अलंकार एपसे प्राप्ति हो जाना ही सोनेका जंस माना जाता है। सोनेका समूलचूल नाश नहीं होता है। मैले वस्त्रको निर्मूल कर देनेपर मलकी पानीमें कीचडरूप अवस्थासे स्थिति बनी रहती है। साबन, तेजाब, आग, किसीसे भी शुद्धि करो, जगत् से मल उठा दिया जाय, ऐसा मलका सत्यानाश कभी नहीं हो सकता है। आत्मासे सम्बन्ध छटकर कर्म भी अन्य पुद्रलकी अवस्थामें अन्यत्र बने रहते हैं। अर्थात्—मुक्तिके लक्षणमें कर्मीका देशसे देशान्तर हो जानारूप विभाग और कर्म अवस्थासे अकर्म अवस्था हो जाना अमीष्ट है । तिस कारण सबसे बढ़े आकाराके परिमाणसे प्रारम्भकर कमती कमती हो रही विशेषताको छिये हुये परिमाण जैसे परमाणुमें उत्कृष्टरूपसे अपकार्यके पर्यतको प्राप्त हो चुका सिद्ध है, उसी प्रकार ज्ञान भी केवळज्ञानसे प्रारम्भ कर विशेषविशेषरूपसे घट रहा संता एकेन्द्रिय जीवोंमें सबसे बढिया हीनताके पर्यन्तको प्राप्त हो चुका जान लिया जाता है। इस प्रकार पृथिनीकायिक, जलकायिक, आदि स्यावर जीवोंका सूत्रकार द्वारा प्रतिपादन करना यक्तियोस सहित है।

## के पुनर्विशेषतस्त्रसा इत्याह ।

श्री उमात्वामी महाराजने संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये दो सेद कहे थे, उनमेंसे स्थावर विशेषरूपसे त्रम जीव कौन कौन है। पुनः अब ये बताओ कि विशेषरूपसे त्रम जीव कौन कौन है। पुनः अब ये बताओ कि विशेषरूपसे त्रम जीव कौन कौन है। ऐसी जिक्कासा होनेपर सूत्रकार महाराज उत्तर बचन कहते हैं।

# द्वीन्द्रियादयस्रसाः॥ १४ ॥

दो स्पर्शन, रसना, इन्द्रियोंको धारनेवाले और स्पर्शन, रसना, ब्राण, इन तीन इन्द्रियोंको धारनेवाले आदिक जीव त्रस हैं।

द्दे स्पर्शनरसमे इंद्रिये वेकां ते द्दीद्रियाः कृज्वाद्यस्ते आद्यो वेकां ते स्म झींद्रियादय इंति व्यवस्थावाचिनादिशक्षेन तद्गुणसंविज्ञानलक्षणान्यपदार्था प्रतिरचयवेन विज्ञहो सम्रदायस्य इंत्यर्थत्वात् ।

जिन जीवोंके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां विद्यमान हैं, वे छट, जौंक, गेंडुआ, संख, सीप, आदिक द्वीन्द्रिय जीव हैं। वे द्वीन्द्रिय जीव जिन जीवोंके आदिभत हैं वे जीव ये द्वीन्द्रिय आदिक 🖏 इस प्रकार आगममें हो रही व्यवस्थाको कहनेवाले आदि शहके साथ अन्य पदार्थको प्रधान रखने-बाली बहुबीहि समास नामकी बृत्ति है । समासमें पडे हुये उन शहुोंके गुण (अर्थ) का अच्छ विकान करादेना जिस ब्रुत्तिका स्वरूप है अथवा एक देश हो रहे अवयवके साथ समासका पूर्ववर्त्ती विग्रह कर किया जाता है और समासकृतिका अर्थ समुदाय हो जाता है। भावार्थ समासचिति पदोंके अर्थसे अन्य अर्थको प्रधानरूपसे कहनेवाली बहुवीहि समास नामक हुत्ति है जैसे कि " दृष्टसागरमानय " जिसने सुमुद्रको देखा है ऐसे पुरुषको छाओ, यहां समासमें पडा हुआ पर्देका अर्थ न समुद्र छाया जात। है न देखना छाया जाता है किन्तु जो मनुष्य पहिल्छे कभी समुद्रको देख चुका है वह पुरुष छाया जाता है, जो कि इन दो पदोंमेंसे किसीका भी अर्थ नहीं है। ऐसी दशामें जिन जीवोंके आदिमें द्वीन्द्रिय जीव हैं ऐसी वृत्ति करनेपर त्रीन्द्रिय आदि जीव तो पकड लिये जावेंगे। किन्तु द्वीन्द्रिय जीवोंका प्रहण नहीं हो सकेगा, जैसे कि पर्वतसे आदि छेकर परछी ओर देवदत्तके खेत 🖏 इस वाक्यमें खेतोंमें पर्वत नहीं गिन लिया जाता है | बात यह है कि " तद्गुणसंविद्यान " और अतद्गुण संविज्ञान '' ये दो बहुवीहि समासके भेद हैं । जहां समासचितित पदींका अर्थ भी वाज्य 😫 जाता है वह तद्गुण संविज्ञान है, जैसे कि '' लम्बकर्णमानय '' जिसके लम्बे कान हैं उसकी छाओ, इस वाक्यके अनुसार लम्बे कानवाला मनुष्य लाया जाता **है। यहां** लम्बे कानका भी छे आना या प्रहण हो जाता है। इसी प्रकार तद्गुण संविज्ञानसे ( अनुसार ) द्वीन्द्रिय जीवका भी अन्तर्भाव हो जाता है। द्वीन्द्रियको भी ग्रहण करनेका दूसरा उपाय यह है कि पूर्णरिशिमेंस एक अवयवंके साथ

बिमह करों और समासदृत्तिका अर्थसमुदाय कर छो। जैसे कि " सर्व " आदि रुद्ध सर्वनाम मान्ने जाते हैं, यहां अकेछे सर्वको कहकर सभी विश्व, उभ, उभय, आदिका संग्रह हो जाता है। "सर्वपद" छोड नहीं दिया जाता है। " जम्बूदीप छत्रणोदादयः " इस सूत्रमें भी ये ही उपाय करने पढ़ेंगे।

### ते च अमाणतः सिद्धा एवेत्वाइ ।

तथा वे त्रसजीव तो प्रमाणोंसे सिद्ध ही हो रहे हैं, इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा कहते हैं।

# त्रसाः पुनः समारव्याताः प्रसिद्धा द्वीन्द्रियादयः । इत्येवं पंचिभः सुत्रैः सर्वसंसारिसंब्रहः ॥ १ ॥

स्थावर जीकोंस न्यारे फिर श्रसनीय तो भछे प्रकार न्याख्यान किये जा चुके द्वीन्त्रिय, श्रीव्हिय, आदिक प्रसिद्ध ही हैं। बाळक, बाळिका, भी दो इन्द्रियक्षे छट, सीप, जोंक, आदिको जान रहे हैं। स्पर्शन, रसना, घाण, इन तीन इन्द्रियोंको स्खनेवाछे चीटी, बिच्छू, खटमळ, ठीख, जूंआ, दीमक, आदि प्रासिद्ध हैं। स्पर्शन, रसना, नाक, आंखे इन चार इन्द्रियोंके धारी भोरा, पतंगा, मक्खी, बर्र, झींगुर, मकडी आदि विख्यात हैं। पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, ये सम पांचों इन्द्रियोंको छिथे हुये हैं। इनके कान भी विश्वमान हैं। यहांतक "संग्रारिणो मुक्ताश्च "समनस्काऽमनस्काः, संसारिणस्रसस्थावराः, पृथिव्यतेजीवासुवबस्पत्तयः स्थावराः, द्रीन्द्रियाद्यस्ताः, इस प्रकार पांच सूत्रों करके सम्पूर्ण संसारी जीकोंका संग्रह सूत्रकारने कर छिया है। गुणस्थान या मार्गणाओं द्वारा किये गये भेद, प्रभेदोंका इन्होंमें अन्तर्भाव हो जाता है।

वित्रहरात्याप्रवास्य संसारिणो असंग्रह इति चेक, तस्यापि त्रसस्वादस्तायकर्योद्ध्यस्तितः स्यासंभवाद् तद्भ्यनेन संग्रहीतात्वात् । सीपि नैकेंद्रियत्वं द्वीद्रियादित्वं वाकिकामति ग्रुक्तस्व-प्रसंगात् । ततो भवत्येव पंचभिः सुत्रैः सर्वसंसारिसंग्रहः ।

कोई शंना करता है कि एक शरीरको छोडकर दूसरे शरीरके प्रहण करनेके छिये हुयी किमहगितको प्राप्त हो रहे संसारी जीनका संप्रह नहीं हो पाया है। क्योंकि इन्त्रियोंकी शक्ति पूर्णता का चार, छह, आदि प्राणोंकी प्राप्ति तो दूसरा शरीर प्रहण कर जुकनेपर होगी। तभी त्रस या स्थानका व्यवहार शोभता है। आचार्य कहते हैं कि यों नहीं कहना। कारण कि उस नवीन शरीरको प्रहण करनेके छिये उद्यम कर रहे कार्मणकाय योगवाले जीनके भी त्रस नामकर्म और स्थावरनामकर्मका उदय विक्रमान है। पूर्व शरीरका सम्बन्ध छुटते ही जीवके उत्तरभवकी आयुके उदयके साथ त्रस प्राप्त स्थावर नामकर्मके उदयसे स्थावर नामकर्मके उदयसे स्थावर हो से किसी भी एक प्रकृतिका उदय अवश्य हो जाता है। त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे स्थावर हो हो हो है। क्रित हो रहे किसी भी संसारी जीनका जगत्में असम्भव है। अतः उस त्रस या स्थावरके बच्च करके

बिग्रह गतिवाले जीवका संग्रह कर लिया जाता है। पहिला शरीर छूट चुका है और दूसरा नोकर्म शरीर अभीतक गृहीत नहीं हुआ है, ऐसी बीचकी विग्रहगतीमें ज्ञानावरणका क्षयोपशम विद्यमान होनेसे लिक्षरूप इन्द्रियां हैं। इन्द्रियजन्य मित, श्रुतज्ञान भी हैं। अतः वह जीव भी एक इन्द्रिय धारीपन या दो इन्द्रिय धारकपनका अतिक्रमण नहीं कर पाता है। यदि विग्रहगितमें इन्द्रियां न मानी जांथगी तो उस जीवको मुक्तपनेका प्रसंग हो जावेगा। " णवि इन्द्रियकरण जुदा" इन्द्रियोंसे रहित तो सिद्ध भगवान ही हैं। इन्द्रियसहितपन या त्रसस्थावरपनका ध्वन्स तो परमत्रहा परमात्मा सिद्धोंमें ही है। तिस कारणसे उक्त पांच सूत्रोंकरके यहां सम्पूर्ण संसारी जीवोंका संग्रह हो जाता ही है।

न कानिचिदिंदियाणि नियतानि संति यत्संबंधादेकेंद्रियादयो व्यवतिष्ठंत इत्याक्षंकां निराकर्तुकामः स्र्रिरिदमाह ।

किसीकी शंका है कि इन्द्रियां कितनी हैं ? यह कोई नियत व्यवस्था नहीं हैं । पांच, छह, ग्यारह, भी इन्द्रियां मानी जा रहीं हैं अथवा कोई भी इन्द्रियां क्रमसे नियत नहीं हैं । जिनके कि सम्बन्धसे एक इन्द्रियवाले या दो इन्द्रियवाले आदिक जीव आगम अनुसार व्यवस्थित हो जावें ? इस प्रकार इयी आशंकाका निराकरण करनेके लिये अभिलाषा रख रहे श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूक्को कहते हैं ।

# पंचेंद्रियाणि ॥ १५॥

इन्द्रियां पांच ही हैं अर्थात्—पहिले स्त्रमें द्वीन्द्रियको आदि लेकर त्रसजीवोंका निर्देश किया था। इन्द्रियोंकी अंतिम संख्या नहीं बतलाई थी जिनको कि अधिकसे अधिक धारण कर वहांतकके जीव "त्रस " समझ लिये जांय ! अतः इन्द्रियोंकी संख्याके परिमाणको नियत करते हुये श्री उमास्वामी आचार्य पांच इन्द्रियोंका निरूपण करते हैं। वे स्पर्शन आदिके क्रमसे व्यवस्थित हो रही पांच हैं।

संसारिणो जीवस्य संतीति वाक्यार्थः । किं पुनिरंद्रियं १ इंद्रेण कर्मणा सृष्टिपिद्रियं स्पर्शनादीद्रियनामकर्मोदयनिमित्तत्वात् । इंद्रस्यात्मनो लिंगमिद्रियं इति वा कर्ममस्त्रीमसस्यात्मनः स्वयमर्थानुपल्लब्धुमसमर्थस्य हि यदर्थोपल्लब्धो लिंगं निमित्तं तदिद्रियमिति भाष्यते ।

" संसारिणः " इस पदकी अनुष्टाति कर संसारी जीवके पांच इन्द्रियां हो सकती हैं, इस प्रकार इस सूत्रके वाक्यका अर्थ हो जाता है । यहां किसीका प्रश्न है कि फिर इन्द्रिय पदार्थ क्या है ! बैदो- विकोने तो "शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानानाश्रयत्वे सित ज्ञानकारणमनः संयोगाश्रयत्वम् इन्द्रियत्वम्" ऐसा उद्याण बांधा है । अब इस विषयमें जैन सिद्धान्त क्या है! सो बताओ । श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं कि परमशक्तिशाली इन्द्र अर्थात् पौद्गलिक कर्म करके जो रची जाय वह इन्द्रिय है । यह " तेन

निवृत्तं " इस सूत्र द्वारा घ प्रत्यय कर शद्धनिरुक्तिसे अर्थ निकलता है। गति नामकर्म या अंगोपांग नामकर्मकी उत्तरोत्तरभेदवाली विशेष प्रकृति हो रहीं स्पर्शन, रसना, आदि इन्द्रियनामक नामकर्मके उदयको निमित्त पाकर स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियां बन जाती हैं। यहां नामकर्म निमित्त हेतु है और इन्द्रियां हेतुमान् कार्य हैं अथवा आत्मा ही अनन्त शक्तियोंको धार रहा परमेश्वर इंद्र है। उस आत्माका प्रापक लिंग इन्द्रिय है। इस निरुक्तिका भाष्य इस प्रकार है कि कर्म सम्बन्धसे मिलन हो रहे और इसी कारण स्वयं अकेले ही अर्थोंको प्रहण करनेके लिये असमर्थ हो रहे आत्माको अर्थकी उपलब्ध करनेमें जो निमित्त हेतु है वह इन्द्रिय है, अर्थात्—उपभोक्ता आत्मा अनन्तशक्तियोंसे भरपूर है। स्वाभाविक अवस्था प्राप्त हो जानेपर पदार्थोंके जाननेमें उसको किसी अन्य सहायककी अपेक्षा नहीं है। फिर भी कर्मोंके आधात करके अधिक मालन हो रहा आत्मा स्वयं अकेला पदार्थोंकी उपलब्ध नहीं कर सकता है। यों उसके सहायक कारणोंको इन्द्रिय कहते हैं। सम्भव है स्वामी समन्तमद आचार्यकृत गन्धहस्तिमहाभाष्यमें यों इन्द्रियशब्दका निर्वचन किया गया होय। " ऐतिह्यान्वेषका विद्वान्सो मार्गयन्तु"।

नन्वेवमात्मनोर्थज्ञानमिदियिकंगादुपजायमानमनुमानं स्यात् । तद्यायुक्तं । किंगस्या-परिज्ञानेनुमानानुदयात् । तस्यानुमानांतरात्परिज्ञाने अनवस्थानुषंगादिति कश्चित्। तदसत् । भावें-द्रियस्योपयोगळक्षणस्य स्वसंविदितत्वात्तद्वलंबिनोर्थज्ञानस्य सिद्धेः । न चैतद्नुमानं परोक्ष-विशेषरूपं, विशदत्वेन देशतः प्रत्यक्षत्वविरोधात्. । परोक्षसामान्यमन्यचु मुख्यतस्तदिष्टमेव परप्रत्ययापेक्षस्य परोक्षत्ववचनात् ।

यहां कोई शंका उठाता है कि इस प्रकार तो आत्माके उत्पन्न हो रहा पदार्थोंका ज्ञान तो इन्द्रिय नामक लिंगसे उत्पन्न होनेके कारण अनुमान हो जायगा । और वह मानना तो युक्त नहीं है । क्योंकि इन्द्रियां अतीन्द्रिय हैं । पौद्रलिक बाह्य निर्शति ही इन्द्रिय है जिसका कि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । ज्ञापक हेतुका परिज्ञान नहीं होनेपर अनुमानकी उत्पत्ति नहीं होपाती है । यदि उस अतीन्द्रिय इन्द्रिय हेतुको पुनः साध्य बनाकर अनुमानान्तरसे परिज्ञान करोगे तब तो उस हेतुको भी जाननेक लिये तीसरे, चौथे आदि हेतुओंकी कल्पना करते करते अनवस्था दोषका प्रसंग होगा, यहांतक कोई कटाक्ष कर रहा है । आचार्य कहते हैं कि यह कथन प्रशंसनीय नहीं है । क्योंकि '' लब्ल्युपयोगी भावेन्द्रियम '' उपयोगस्वरूप भावइन्द्रियां स्वसम्बद्दन प्रत्यक्ष द्वारा प्रत्यक्ष कर ली जा चुकी हैं । अतः उन प्रत्यक्ष की जाचुकी इन्द्रियोंका जनकपनेसे अवलम्ब लेनेवाले पदार्थज्ञानकी सिद्धि हो जाती है । आत्मा और मांवेन्द्रियां अभिन्न हैं । अतः पर्याय और पर्यायीकी भेद विवक्षा कर इन्द्रिय द्वारा हुआ अर्थज्ञान अनुमान नहीं कहा जा सकता है । वह विशद हो स्वथ्त है । जहां साध्यसे भिन्न मान लिये गये हेतुसे व्यातिस्मरणपूर्वक आविशद साध्य हारा प्रत्यक्ष हो साध्यसे मिन्न मान लिये गये हेतुसे व्यातिस्मरणपूर्वक आविशद साध्य हा प्रत्यक्ष है । जहां साध्यसे भिन्न मान लिये गये हेतुसे व्यातिस्मरणपूर्वक आविशद साध्य

कार होता है, वह अनुमान कहा जाता है, अर्थको जाननेमें इन्द्रियां निमित्त हो रहीं कारक हेतु हैं। झापक हेतु नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि यह कोई कोई अनुमान जैनिसद्भान्त असुसार विशेषतया परोक्षझन स्वरूप ही नहीं है। एकदेशसे विशदपना होनेसे अनुमानको प्रत्यक्ष-प्रतेक्ष कोई विरोध नहीं है। अर्थसे अर्थान्तरको जान लेना रूप परार्थानुमान मले ही सर्वथा परोक्ष होने। किन्तु आमीनिबोधरूप खार्थानुमान तो सांत्र्यवहारिक प्रत्यक्ष भी हो सकता है। हां, सामान्य-रूप परोक्ष हो रहे अन्य अनुमान ज्ञानोंको तो मुख्यरूपसे वह परोक्षपना हम स्याद्वादियोंके यहां अभीष्ठ ही किया गया है। क्योंकि जो अपनी उत्पत्तिमें अन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा रखता है उस ज्ञानको परोक्षपना कहा गया है। पहिले प्रकरणोंमें भी इसका विचार हो चुका है।

#### कथं पुनः पंचैवेंद्रियाणि जीवस्येत्याह ।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि आचार्य महाराज ! फिर यह बताओ कि जीवके पांच ही इन्द्रियां हैं, यह सिद्धान्त किस प्रकार प्रमाणसिद्ध माना जावे ! ऐसी अभिलाषा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

पंचेंद्रियाणि जीवस्य मनसोनिंद्रियत्वतः।
बुद्ध्यहंकारयोरात्मरूपयोक्तत्फलत्वतः।। १।।
वागादीनामतो भेदासिद्धेर्धीसाधनत्वतः।
स्पर्शादिज्ञानकार्याणामेवंविधविनिर्णयात्॥ २॥

संसारी जीवने इन्द्रियां पांच ही हैं। क्योंकि द्रव्यमन तो अनिन्द्रिय है तथा बुद्धि और '' अहं अहं '' मैं में इस प्रतीतिका उल्लेख करनेवाला अहंकार भी तो आत्मास्कर है। वे बुद्धि और अहंकार तो इन्द्रिय और मनके कार्य हो रहे फल हैं। हां, यचन बनानेवाले अवयव (जवां) ह्यथ, पांच, आदिक अवयवोंको इस स्पर्शन इन्द्रियसे भिन्न मानना असिद्ध है ज्ञानका साधन होनेसे रस्पर्श, रस, आदिके ज्ञानोंको कार्य बना रहीं स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका ही इस प्रकार पांच भेद रूपसे शेषतया निर्णय किया गया है। कर्मेन्द्रियां मानीं गयीं वाक् आदिक मले ही कियाओंकी साधन हो जांख, किन्तु कानको करानेमें उन वाक् आदिका कोई उपयोग नहीं है। तभी तो ज्ञान इन्द्रियां पांच ही मानी गयीं है।

न हि मनः षष्ट्रमिद्वियं तस्येद्वियवेधम्यीदनिद्वियत्वसिद्धः । नियतविषयाणीद्विषाणि, मनः पुनरनियतविषयमिति तद्वैधम्ये मसिद्धमेव । करणत्वाद्विद्विल्गित्वादिद्वियं पन इति चेत् , तद्व धूमादिनानेकांतात् । तद्पि हि करणमात्मनोर्थोपलब्धौ लिंगं च भवति न चेद्वियमिति । पुन्महंकात्मोरिद्वियत्माम पंचैमेद्वियाणीति चेत् न, तयोरात्मपरिणामयोरिद्वियानिद्वियफलत्वात् । सूत्रकार द्वारा स्पर्शन, रसना, प्राण, चक्कु, कान, इन पांच इन्द्रियोंका कथन कर चुकनेपर कोई विचारशाली पुरुष अपने मनमें खटका उत्पन्न करता है कि छई। इन्द्रिय मन भी तो है, आचार्य कहते हैं कि सो नहीं समझना। क्योंकि पांच इन्द्रियोंसे विध्रमापन होनेके कारण मनको इन्द्रिय मिंक अनिन्द्रियमान सिद्ध है। पांच इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शद्ध ये नियत हो. रहे हैं। किन्द्र फिर मनका विषय कोई नियत नहीं है। सभी विषयोंमें मनकी प्रचृत्ति योग्यतानुसार मानी गयी है। इस कारण '' नोइन्द्रियं अनिन्द्रियं, या न इन्द्रियं '' यों इन्द्रियका ईश्वत् प्रतिषेध करनेसे उन इन्द्रियोंका विधर्मपना मनमें प्रसिद्ध हो ही जाता है। यदि कोई यों कहे कि अर्थकी उपलब्धि करनेमें कर्ता आस्माक करण होनेसे मन छठा इन्द्रिय मान छेना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि वह करणत्य या इन्द्रियंखिंकात्व हेतु तो यहां धूम, शद्ध, आदिक करके व्यभिचार दोष हो जानेसे आदर नहीं पायेंगे। देखिये, वे धूम आदिक भी आत्माको अर्थकी उपलब्धि करनेमें साधकतम हो रहे करण हैं और ज्ञापक हेतु भी हैं। किन्तु वे इन्द्रिय नहीं हैं। हेतु रह गया साध्य नहीं रहा अतः व्यभिचारदोष आया। फिर भी कोई कि बुद्धि और अहंकारको इन्द्रियपना होनेसे पांच ही इन्द्रियां नहीं रही, सात हो गयी, प्रभ्यकार कहते हैं कि यों तो नहीं समझ बैठना। कारण कि आत्माक परिणाम हो रहे वे बुद्धि और आहंकार तो इन्द्रिय और अनिन्द्रियके पत्ल हैं। विचारमें प्राप्त हो रहीं इन्द्रियां जड होती हुयीं, करण हैं। यें महान् अन्तर है।

वाक्पाणिपादपायूपस्थानां कर्मेद्रियत्वात्र पंचैवेत्यप्ययुक्तं, तेषां स्पर्शनांतर्भावात् । तत्रा' नंतर्भावेतिप्रसंगात् ।

कपिल मतानुयायीकी शंका है कि वचनिक्रयाका निमित्त हो रही वाक् इन्द्रिय, हाथ, पांच, गुदास्थान, जननेन्द्रिय ये पांच कर्मेन्द्रिय भी हैं। अतः पांच ही इन्द्रियां नहीं हुयीं, ग्यारह हो गयीं। श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि सांख्योंका यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि उन कर्मेन्द्रियोंका स्पर्शन इन्द्रियमें अन्तर्भाव हो जाता है। हाथ, पग, आदि सब त्वचाके अवयव हैं। यदि हाथ, पर, आदिका उस त्वचा इन्द्रियमें अन्तर्भाव नहीं करोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा अर्थात् कर्म थानी कियाओंको करनेवाले ओठ, अंगुली, नितंब, सिर, मोयैं, प्रीवा, आदिको भी पृथक इन्द्रियां मानमा पडेगा, जो कि हम तुम किसीको भी इष्ट नहीं है।

पंचानामेव बुद्धिसाधनत्वाचेंद्रियाणां पांचिवध्यनिर्णयः कर्तव्यः स्पर्शादिश्वानकार्याणि हि तानि । तथाहि—स्पर्शादिश्वानानि करणसाधनानि कियात्वादिद्वियक्रियावत् । स्वसंविधि-क्रिययानेकांत इति चैश्व, तस्या अपि समनस्कानामंतः करणकारणत्वात् परेषां स्वश्नकिविश्वेष-करणत्वात् । न चैकत्रात्मनि कर्तृकरणकपविरोधः प्रतीतिसिद्धत्वादिति निक्यितं प्राक्ष् । ततः स्पर्शादिश्वानभ्यः कार्यविश्वेषभ्यः पंचभ्यः पंचिन्द्रयाणीति सामर्थ्यात् मनोनिद्वियं पष्टमिति सूत्र-कारेण निवेदितं भवति । तेनैतैर्व्यवस्थितयोगी द्वित्रिचतुः पंचिद्वियाः संश्विमश्र त्रसाः इति निश्वायते ।

दसरी बात यह है कि यहां उपयोगका प्रकरण है। अतः बुद्धिको साधनेवाली होनेसे पांच ही शानेन्द्रियां हैं। तमको भी बुद्धि इन्द्रियोंके पांच प्रकारपनका निर्णय करना होगा वे पांच ही इन्द्रियां स्पर्श, आदि पांच विषयोंके क्कानस्वरूप कार्योंको करती हैं। उसीको स्पष्ट कर यों कहा जाता है। स्पर्श, रस, आदिके ज्ञान ( पक्ष ) करणसे साधे गये कार्य हैं ( साध्य ) क्रिया होनेसे ( हेत् ) इन्द्रियोंकी कियाके समान ( अन्ययदृष्टांत ) । कोई इस अनुमानमें दोष उठाता है कि ज्ञानकी स्वयं अपने आप संवित्ति हो जाती है। किसी अन्य करणकी आवश्यकता नहीं है। यों स्वसंवित्ति क्रियामें कियात्व हेत तो रह गया. किन्त करणसे साधन होना यह साध्य नहीं रहा । अतः हेतुका न्यभिचारदोष हुआ । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि ज्ञान स्वयंको अपने आप जानता है। उस स्वसंवित्ति कियाकी भी मनवाले जीवोंके यहां अन्तरंग करण हो रहे मन इन्द्रिय को कारण मानकर उत्पत्ति हो रही है । हां, दूसरे मनरहित जीवों के अपनी शक्तिविशेषको करण मान कर ज्ञानका स्वयं सम्वेदन हो जाता है, अर्थात्—मनवाले जीवोंके ज्ञान, सुख, दु:ख, इच्छा आदि चेतनात्मक पदार्थोका ब्रान तो नोडान्द्रियमनसे होता है और एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों-तक ब्रान, सुख, वेदना, इच्छा आदिका ब्रान उस अन्तरंग विशेष क्षयोपशमरूप करणशक्तिसे उपज जाता है। वह करणशक्ति आत्मासे अभिन हो रही आत्माका ही परिणाम है। एक आत्मामें कर्तापनका और करणस्वरूप इन दो धर्मीके ठहरनेका विरोध नहीं है। क्योंकि प्रतीतियोंसे एकमें कई स्वभावोंका स्थित रहना सिद्ध होचुका है। अप्नि अपने दाहपरिणाम करके ईंग्नको जलाती है, दीपक अपनी प्रमासे प्रकाश रहा है, दक्ष अपने बोझसे आप ही झुक गया है, यहां परिणाम और परिणा-मीकी भेदिविवक्षासे कर्तापन और करणपनं एक ही पदार्थमें ठहर जाता है। इस बातको हम पहिले प्रकरणमें विस्तारपूर्वक कह चुके हैं। तिस कारणसे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके यह सिद्धांत निवदन कर दिया गया हो जाता है कि इन्दियोंके त्रिशेषरूप करके कार्य हो रहे स्पर्श आदि सम्बन्धी पांच ज्ञानोंसे पांच इन्द्रियां जान ली जाती हैं तथा पूर्वापर सूत्रोंकी सामर्थ्यसे छठा अवस्थित होनेसे अनिन्द्रिय कहा जानेवाला मन भी इन्द्रिय है। तिस कारण जीवोंका इन व्यवस्थाको प्राप्त हो चुकी पांच इन्द्रियों करके सम्बन्ध हो जाता है । दो इन्द्रियों का योग हो जानेसे सीप. शंख आदि दो इन्द्रिय जीव जान लिये जाते हैं । स्पर्शन, रसना, घ्राण, तीन इन्द्रियोंके योगसे जुआं, खटमल आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं। उक्त तीन इन्द्रियोंमें चक्षको मिला देनेसे भौरा, मक्खी, आदिक चतुरिन्द्रिय प्राणी हैं । लचा, जिह्ना, नाक, आंखें, कान, इन पांचों इन्द्रियोंके सम्बन्धसे कोटी कोटी मेंडकी, मंकेंकी, आदि असंक्षी पंचेंद्रियजीव हैं। पांचों वे और छटे मनकी धार रहे बोहा, बैठ, तोता, मैना, मनुष्य आदि संज्ञी पंचेंद्रिय जीव हैं। ऐसा युक्ति, आगम, अनुभव और प्रत्यक्ष प्रमाणसे निश्चय किया जा रहा है।

तानि पुनिरिद्रियाणि पौद्रिलिकान्येकविधान्येवेति कस्याचिदाक्तमपाञ्चवाह ।

वे पांच इन्द्रियां फिर जड पुद्रलसे ही निर्मित की गयाँ हैं। आतम परिणामरूप नहीं हैं तथा वे एक प्रकार ही हैं, इस प्रकार हुये किसी वैशेषिक या अन्य तटस्थ पण्डितकी कुचेष्टाका निराकरण कर रहे, सन्ते श्री उमास्वामी आचार्य आईत सिद्धान्तको अग्रिमसूत्र द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

# द्विविधानि ॥ १६ ॥

वे पांचों भी इन्द्रियां द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय इन भेदोंसे प्रत्येक दो प्रकारवाली हैं।

द्विः प्रकाराणीत्यर्थः प्रकारवाचित्वाद्विधशद्धस्य । शक्तिद्वियाणि व्यक्तिद्वियाणि चेति द्विविधानि केचिन्मन्यते, मूर्तान्यमूर्तानि वेत्यपरे । सूत्रकारास्तु द्रव्येद्वियाणि भावेद्वियाणि चेति चेतिस निधार्यवमाहुः ।

विध शब्द के विधान, प्रकार, युक्त, गत ऐसे कई अर्थ होते हैं। किन्तु इस सूत्रमें प्रकार अर्थकों कहनेवाले विध शब्दका प्रहण किया गया है। अतः प्रत्येक इन्द्रयां दो दो प्रकारवाली है। यह वाक्यका अर्थ हो जाता है। कोई मीमांसक यों मान रहे हैं कि शक्तिरूप इन्द्रियां और व्यक्तिरूप इन्द्रियां इस ढंगसे इन्द्रियोंके दो प्रकार है अथवा दूसरे कोई पण्डित मूर्त इन्द्रियां और अमूर्त इन्द्रियां इस प्रकार इन्द्रियोंके दो प्रकार है अथवा दूसरे कोई पण्डित मूर्त इन्द्रियां और अमूर्त इन्द्रियां इस प्रकार इन्द्रियोंके दो भेद बखान रहे हैं। कान, आकाशस्वरूप होनेसे अमूर्त हैं शेष चार इन्द्रियां इस प्रकार इन्द्रियोंके दो भेद बखान रहे हैं। कान, आकाशस्वरूप होनेसे अमूर्त हैं शेष चार इन्द्रियां इस प्रकार कार्य हिंदियस्वरूप और भाव इन्द्रिय स्वरूप हैं, इस प्रकार चिक्तमें धारण कर इस " द्विविधानि" सूत्रकों कह रहे हैं। अर्थात्—किन्हीं वैशेषिक या अन्य विद्वानोंके मतका हम विरोध नहीं करते हैं। लिन्धरूप शक्ति इन्द्रिय और व्यक्ति रूप उपयोग अथवा शक्तिरूप इन्द्रियाविष्ठिल आतमप्रदेश और पौद्रिलिक रचनास्वरूप व्यक्त इन्द्रिय हमको भी अभीए हैं। इन्द्रियोंके मूर्त अमूर्त मेदोंका मी हम तिरस्कार नहीं करते हैं। लिन्तु उपयोग, ये मायेन्द्रियां और आतम प्रदेशक्रप निर्वृत्तिको जैन सिद्धान्तमें अमूर्त माना गया है। हां, उन आत्म प्रदेशोंपर रचे गये इन्द्रियाकार पौद्रिलिक परिणामको मूर्त इन्द्रिय इष्ट किया है। किन्तु ये और इनसे न्यारे अन्य भी भेद, प्रभेद, इन्हीं दो इव्योन्द्रिय और मावेन्द्रिय भेदोंमें गतार्थ हो जाते हैं। सूत्रकारका यह अभिप्राय ध्वनित हो रहा है।

#### यद्येवं कानि द्रव्येंद्रियाणीत्याह ।

कोई प्रश्न करता है कि यदि इस प्रकार द्रव्येदिय और भावेन्द्रिय दो भेद हैं, तो इन्द्रियोंक। पिहला भेद द्रव्येन्द्रियां कौन हैं १ बताओ । ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज समाधान-कारक सूत्रको कहते हैं।

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येंद्रियम् ॥ १७ ॥

पीद्रिकि कर्मको धेरक निमित्त पाकर कर्जा आत्मा जिस आत्मसम्बन्धी या पुह्रकसम्बन्धी पुरिणामको बनात्म है वह निर्वृत्ति है तथा निर्वृत्तिका उपकार करनेवाका उपकरण होता है। यो निर्वृत्ति और उपकरण यो दो दो मेदस्वरूप पांचों इन्येन्द्रियां हैं।

निर्वर्त्यत इति निर्देशिः सा द्वेषा वाह्याभ्यंतरभेदाद्ध् । तत्र विश्वद्धात्ममदेशवृत्तिरभ्यंतरा तस्यामेव कर्मोदयापादितावस्थाविश्वेषः पुद्रस्त्रप्रचयो वाह्य ।

अप्रेह्न निमित्त हो रहे आत्मा कर्ताको परवश करनेवाले प्रेरक निमित्त नाम कर्म करके आत्म प्रकृषार्थ द्वारा को आत्मा या प्रद्राककी परिणितयां बनबाई जाती हैं वे निकृतिस्करूप इतियां हैं। इस प्रकार अन्यामि, अतिन्यामि, असम्भव, दोषोंका निवारण कारनेवाले कई विशेषणोंको लगाकर निवृद्धि शहकी निरुक्तिसे निर्दोष अर्थ निकाल लिया गया है। यह निवृद्धि बाग्न और अस्यंतर भेटोंसे दो प्रकार है। तिन दो प्रकारोंमें विशुद्ध आत्माके प्रदेशोंका वर्त्तना तो अभ्यन्तर निर्वृत्ति है। और उन आसमदेश स्वरूप अभ्यन्तर निर्वृत्तिमें ही कभीके उदयसे विशेष अवस्थाको प्रांत कराया गया पद्रल पिन्ह तो बाह्यनिवृत्ति है। अर्थात --अंगुलके असंख्यातवें भाग या संख्यातवें भाग अथवा संख्यात र्धनांपुरु परिमित विशुद्ध आत्मप्रदेशोंकी चक्ष, श्रोत्र, घाण, जिह्ना, त्वचा, भ्वरूप रचना ही जाना अभ्यत्तर निर्वृत्ति है । यह जीवतत्त्व आत्मक पदार्घ है तथा योग द्वारा प्रहण आहारबर्गणाओंमेंसे शरीर और श्वासोच्छ्वासके उपयोगी द्रव्यसे शेष बंचे हुये स्बल्प बढिया पुद्रल द्रव्यकी मसूर, यवनाली, तिलपुष्प, (या धतूर पुष्प, ) ख़ुर्पा अथवा अपने अपने शरीर अनुसार अनेक प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय आकृति ऐसी रचनाको धार रहा पुक्रल प्रचय तो बाह्मनिर्वृत्ति है। यह पुद्गल तत्त्व है, जैसे कि आंखोंके भीतर इन्द्रिय आकारवाले आत्माके चेतन प्रदेश आंखहिदयकी अन्यन्तर निर्वृत्ति है। और उन आत्मप्रदेशीपर उपादान कारण आहारवर्गणाका इन्द्रिय पर्याप्तिस्वरूप आत्मपुरुषार्थ द्वारा बना दिया गया मसूर सारिखा अतीन्द्रिय पुद्धल विवर्त तो आंलकी बाह्य निर्वृत्ति है। यह द्रव्येन्द्रिय अतीन्द्रिय है। अन्य दर्शनोंमं प्रायः यही इन्द्रिय बखानी गयी है । शेष इन्द्रिय भेदोंकी गहराईतक वे नहीं पहुंच पाय हैं।

उपक्रियतेनेनेत्युपकरणं । तद्गि द्विविधं बाह्यभ्यंतरभेवात् । तस् बाह्यं क्ष्यपुदादि, कुष्ण-सारमंदलाद्यभ्यंतरं । निर्श्वतिश्रोपकरणं च निर्श्वत्युपकरणे द्रव्यंद्वियमितिः जाल्युभूसंग्रेस्ट्यमनं ।

जिस अवसव करके विशेष आत्म प्रदेश और विशेष पुद्रल रचनास्वरूप निर्मूचिका उपकार किया जाता है वह उपकरण इन्द्रिय है। वह उपकरण भी बाह्य और अभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका है। उनमें बाह्य उपकरण तो नेत्रइन्द्रियके दोनों पलक, रोमावली, आदि हैं तथा नेत्रके भीतरका शुक्ल भाग और उसके भी बीचमें पड़ा हुआ गोल काला या तिल अंश ये सब नेत्र इन्द्रियके अभ्यन्तर उपकारण हैं। कृष्णसास्क्रा अभ्यन्तर अभ्यन्तर उपकारण हैं। कृष्णसास्क्रा अभ्यन्तर अभ्यन्तर अप

पर निष्टांत और उपकरण ये दो इब्वेन्द्रिय है। यो जातिकी अपेक्षा द्रव्येन्द्रिय शहरमें एक बचन कह दिया गया है। अन्यथा निष्टिति और उपकरण इस दिवचनान्त उदेश्य दलका सामानाधिकरण होनेसे हिक्चन कि द्रव्येन्द्रियं " कहना चाहिये या। अथवा पांची इन्द्रियंकी द्रव्येन्द्रियंकी विधि करनेजी अपेक्षा द्रव्येन्द्रियंकी यह बहुक्चनकर प्रयोग उपयोगी पडता। किन्तु जाति शब्द मानकर एक क्यम कह देनेसे सभी प्रयोजन सिद्ध होजाते हैं। गेंहू भन्दा है, चना तेज है, यहां जातिमें एक वचनका प्रयोग है। वैसा ही सूत्रमें जान छेना।

#### कुतः पुनस्तानि मतिपद्यंत इत्याइ।

वे निर्वृत्ति और उपकरणस्त्ररूप इन्द्रियां फिर किस प्रमाणसे जानली जातीं हैं ! बताइये, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री.विधानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

### द्विविधान्ये विश्वैतिस्वभावान्यनुमिन्वते । सिद्धोपकरणात्मानि सञ्ज्युतौ तद्विदश्ज्युतेः ॥ १ ॥

बाह्य, अभ्यन्तर, निर्वृत्ति स्वरूप और प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे सिद्ध हो रहे बहिरंग अन्तरंग उप प्रश्ण स्वरूप दो अपग्रहकी की इक्तियोंको विद्वान अग्रुपात हारा जान रहे हैं, यहां व्यक्तिक घट बहुता है। यदि उन इन्हियोंकी च्युति कर दी जायमी तो उन निर्वृत्ति और उपकरणसे उत्पन्न हुई संविधिकों-की भी च्युति हो जायगी।

बाह्याभ्यंतरोपकरणेंद्रियाणि तानत्यसिद्धान्येव तव्यापारान्तव्यव्यतिरेकानुनिधारिकां स्पर्धादिकानानाग्रवसंभात् । बाह्याभ्यंतरिनर्श्वचस्यावानि चेंद्रियाणि वत एवानुभीयंते व्यापार-वस्त्यच्युपकरणेंद्रियेषु विषयासोकप्रनस्सु च संनिद्दितेषु सत्यपि च भावेंद्रिये कदाचित्स्यसीदि-क्रामानुत्पचैरन्ययानुवपचेरसञ्ज्युताचैव तदिद्रभ्च्युतिसिद्धेः ।

सबसे प्रथम बाह्य उपकरण और अन्यन्तर उपकरण स्वरूप इन्द्रियां तो बालक बालिकाओं, पशु पिक्षयों, तकको प्रसिद्ध हो ही रहीं हैं । क्योंकि उन बहिरंग, अन्तरंग, उपकरणोंके व्यापारके साथ अन्यय, व्यितरेकका अनुविधान करनेवाले स्पर्श, रस, आदि हानोंकी उपलब्ध हो रही है । कारणके होनेपर कार्यका होना अन्यय है और नियत किये जानेवाले कारणके विना कार्यका न होन व्यितरेक है । स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शद्धके ह्यानोंका उपकरण इन्द्रियोंके साथ अन्ययव्यतिरेक बन रहा है । आत्माको अर्थको उपलब्ध करनेमें जो निमित्तकारण पढ़ेगा वह इन्द्रिय है । यह लक्षण पहिले बांधा जा चुका है । तथा तिस ही हेत्रसे बानी स्पर्श, आदिक हानींकी अन्ययानुपपत्ति होनेसे श्री बाह्य विद्या अपना कर लिया जाता है । विद्यानिक्षित और अन्यन्तरिकृति स्वरूप इन्द्रियोंका भी अनुमान कर लिया जाता है । देखिये, ब्यापारको धार रहीं भी उपकरण इन्द्रियोंका होनेपर और स्पर्श, स्वर्शनान, रस, रसवान

आदि विषयोंको जाननेके लिये उत्सुक हो रहे मनके सिनिहित होनेपर भी तथा लिन्धस्वरूप भावेन्द्रियके होते हुये भी कभी कभी स्पर्श आदिके ज्ञान नहीं उपज पाते हैं। वह ज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यधा यानी निर्वृत्तिस्वरूप इन्द्रियोंको माने विना नहीं बन पाती है। अतः निर्वृत्ति स्वरूप इन्द्रियोंकी स्पृति होनेपर ही उन स्पर्श आदिके ज्ञानोंकी स्पृति हो जाना सिद्ध है। इस प्रकार अविनाभावी हेतुसे निर्वृत्ति इन्द्रियां सिद्ध कर दी गयी हैं। पांचों इन्द्रियोंमें और मनमें भी दोनों प्रकारके निर्वृत्ति और उपकरणोंको समझ लेना चाहिये।

#### कानि पुनर्भावेंन्द्रियाणीत्याह ।

दो प्रकारकी इन्द्रियोंमें पिछलीं भावेन्द्रियां फिर कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

## लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

लिय और उपयोग स्वरूप भावेंद्रियां हैं । भावार्थ—पांचों इन्द्रियां और छठे मनके भावेंद्रिय रूपसे प्रत्येकके लिय और उपयोग ये दो दो भेद हो रहे हैं ।

### इन्द्रियनिर्द्वतिहेतुः क्षयोपन्नमविश्लेषो लब्धिः तिभिमित्तः परिणामविश्लेष उपयोगः छन्धि-श्लोपगोगश्च लब्ध्युपयोगौ भार्वेद्रियमिति जात्यपेक्षयैकवचनं ।

द्रच्य इन्द्रियोंकी निर्द्यति (बनाने) का निमित्त कारण हो रहा क्षयोपराम विशेष तो लिख है। अर्थात् - ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपरामसे हुयी विशुद्धि हारा आत्मा द्रव्येदियोंका सम्पादन करता है। जिस आत्माके पास स्पर्शन इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपराम होगा उस आत्माके केवल एक ही स्पर्शन द्रव्य इन्द्रिय बनेगी। मनुष्य जीवके विप्रहगतिमें छऊ इन्द्रियोंका क्षयोपराम हो रहा है। अतः गर्भा-वस्थामें जन्म लेते ही छऊ द्रव्येदियोंका बनना प्रारम्भ हो जाता है तथा उस लिखको निमित्त मानकर हुआ आत्माका परिणामविशेष तो उपयोग है। लिख और उपयोग यों द्रन्द्र समास करनेपर कल्युपयोगों "यह पद बन जाता है। ये दोनों भाव इन्द्रिय हैं, ऐसा वाक्यार्ध कर लिया जाता है। छह इन्द्रियोंके दो दो मेद होकर बारह मार्चेदियां हैं। फिर भी जातिकी अपेक्षा करके "भावेदियम्" ऐसा वचन सूत्रमें कह दिया है। एकेदियसे लेकर संज्ञी पञ्चेदियपर्यंत अनेक लब्ध्यपर्यक्षक जीवोंके भी द्रव्येदियोंका बनना प्रारम्भ हो जाता है। पूर्णता नहीं हो पाती है। तदनुसार उनके लिखकप इन्द्रियां मानी जाती है।

#### कुतः पुनस्तानि परीक्षका जानत इत्याह ।

परीक्षक विद्वाम् फिर उन भावेंद्रियोंको किस प्रमाणसे जानते हैं है ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानंद स्त्रामी उत्तर कहते हैं।

### भावेन्द्रियाणि लब्प्यात्मोपयोगात्मानि जानते । स्वार्थसंविदिः योग्यत्वाद्यापृतत्वाचः संविदः ॥ १ ॥

लिशस्त्ररूप और उपयोगस्त्ररूप हो रहीं भावेंद्रियोंको पण्डितजन जान रहे हैं ( प्रतिक्रा वाक्य ) स्व और अर्थके ज्ञानमें योग्यता होनेसे तथा सम्वित्तिके न्यापार युक्त होनेसे ( देतु ) अर्थात्—स्वार्यसम्वित्तिकी योग्यतासे लिश्वस्वरूप भावेंद्रियका अनुमान हो जाता है; और सम्बितिके न्यापारसे उपयोग आत्मक इन्द्रियोंका अनुमान कर लिया जाता है।

छिष्पिस्वभावानि तावद्भावेद्रियाणि स्वार्थसंवित्तौ योग्यत्वादात्मनः मितप्रधंते । न हि तत्रायोग्यस्यात्मनस्तदुत्पत्तिराकाशवत् स्वार्थसंविद्योग्यतैव च छिष्पिरितिः छण्पीद्रियसिद्धिः । उपयोगस्वभावानि पुनः स्वार्थसंविदो ज्यापृतत्वािश्वाश्रिन्वंति । न ∤ श्रज्यापृतािन स्पर्शादिसंवेद-नािन पुंसः स्पर्शादिमकाशकािन भवितुर्महिति सुषुप्तादीनामपि तत्मकाश्चनमसंगात् ।

प्रथम ही लिब्धस्वरूप छह भावेन्द्रियां तो स्वार्थोंकी संवित्त करनेमें योग्यतासे आत्माक हो रही समझ ली जातीं हैं या विद्वान् इन्द्रियोंको समझ लेते हैं। उस स्वार्थसम्बेदनमें अयोग्य हो रहे आत्माक उन विद्युद्धिस्वरूप लिब्धयोंकी उत्पत्ति नहीं हो पाती है। जैसे कि आकाश द्रव्यके क्षयोपशम विशेष नहीं उपजता है। और स्वार्थसम्बितिकी योग्यता ही तो लिब्ध है। इस प्रकार, अनुमान प्रमाणसे लिख्ध स्वरूप इन्द्रियोंकी सिद्धि हो जाती है तथा फिर उपयोगस्वरूप दूसरी भावेन्द्रियोंको स्वार्थसम्बितिका व्यापार करनेसे पण्डितजन निर्णीत कर लेते हैं। व्यापाररिहतं हो रहे स्पर्श आदिके सम्बेदन तो आत्माको स्पर्श आदिके प्रकाशक नहीं हो सकते हैं। अन्यथा गाढ सोती हुयी अवस्थावाले या मूर्छित हो रहे आदि पुरुषोंको भी उन स्पर्श आदिके प्रकाश जानेका प्रसंग हो जायगा। अतः व्यापार कर-स्पर्श आदिको प्रकाश रहे ज्ञान या दर्शन तो उपयोगस्वरूप भावेन्द्रियां हैं।

स्वार्धप्रकाशने व्यापृतस्य संवदनस्योपयोगत्वे फलत्वादिद्रियत्वातुपपितिति चेन्न, कारण-धर्मस्य कार्यानुवृक्तः । न हि पावकस्य प्रकाशकत्वे तत्कार्यस्य प्रदीपस्य प्रकाशकत्वं विरुध्यते । न च येनैव स्वभावेनोपयोगस्येद्रियत्वं तेनैव फल्लत्विष्यते यतो विरोधः स्यात्, साधकतमत्व-स्वभावेन हि तस्येद्रियव्यपदेशः क्रियारूपत्यां तु फल्लतं प्रदीपवत् । प्रदीपः प्रकाशात्मना मकाश्यतीत्यत्र हि साधकतमः प्रकाशात्मा करणं क्रियात्मा फल्लं स्वतंत्रात्मा कर्तेति प्ररूपितमायं।

किसीकी शंका है कि स्वार्थोंके प्रकाशनेमें व्यापार युक्त हो रहे सम्वेदनिको उपयोगपना मान-नेपर फल होजानेके कारण इन्द्रियपना नहीं बन सकता है, अर्थात्—इन्द्रियोंकों फल उपयोग है, वह भक्त करणस्वरूप इन्द्रिय कैसे हो सकता है ! आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि कारणोंके धर्मकी कार्योमें अनुवृत्ति हो जाती है। कार्यामें इन्तियपना हैं को उसके कार्य वन वहे उन्नयोगमें भी इन्तियपनेका व्यवहार हो जाता है। देखो, अप्रिको प्रकाशकपना माननेपर उस आप्रिके कार्य हो रहे दीपकको प्रकाशकपना विरुद्ध नहीं पढता है। एक बात यह है कि जिस हैं। स्वमाय करके उपयोगको इक्तियकना कहा जाता है उस ही स्वमाय करके फल्ल्पना इष्ट नहीं किया जाता है, जिससे कि विरोध दीच हो जाता है स्वार्थ स्वमाय करके ही उस उपयोगको कियाको करनेमें प्रकृष्ट साधकपन स्वभाव करके ही उस उपयोगको कियाको करनेमें प्रकृष्ट साधकपन स्वभाव करके ही उस उपयोगको कियाको करवेसे में करणपना और फल्पना घटित हो जाता है, अर्थात्—प्रदीप (कर्ता) अपने प्रकाश स्वभाव करके (करण) पदार्थोको या स्वयंको (कर्म) प्रकाश रहा है (किया)। यहां इस वाक्यमें प्रकाशका कियाको साधकतम हो रहा प्रकाशस्वरूप करण है और प्रकाशन कियासकर फल्प है तथा स्वयंको हम कई बार निरूपण कर चुके हैं। इन्द्रिय शब्दका अर्थ उपयोगमें प्रधानतासे विद्यमान है। कथंचित् मेद, अभेद, होनसे उपयोगमें कितने ही अनेक स्वभाव घटित हो जाते हैं।

#### किं व्यपदेशसम्यानि तानीदियाणीत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि उन इन्द्रियोंका नाम निर्देश क्या है ? और किस लक्षणवाली वे इन्द्रियां है ! इस प्रकार बुमुत्सा होनेपर शिष्यके प्रति श्री उमास्त्रामी महाराज अग्रिम सूत्र द्वारा इन्द्रियोंके नाम कीर्चन, आनुपूर्वी और निरुक्तिपूर्वक लक्षणको कह रहे हैं।

# स्पर्शनरसनद्राणचक्षुः श्रोत्राणि ॥ १९ ॥

जिससे झुआ जाय ऐसी स्पर्शन इन्द्रिय १ आत्मा जिससे रसको चाटे यानी पुद्रलके स्वादको जाने ऐसी रसना इन्द्रिय २ सूंघनेमें आत्माका हेतु वन रही घाण इन्द्रिय ३ अर्थोको देखनेमें आत्माका निमित्त हो रही चक्षुः ४ तथा आत्माको राह्र सुनानेवाला कान ५ इस प्रकार पांच इन्द्रियां हैं।

स्पर्धनादीनां करणसाधनत्वं पारतंत्र्यात् कर्तृसाधनत्वं च स्वातंत्र्याद्वहुलवचनात्। तेनान्वर्थसङ्गाकरणदिवेच्यपदेशान्येवंलक्षणानि च पंचेद्रियाणीत्यभिसंबंधः कर्तव्यः।

सूत्रमें कहे गये स्पर्श आदि राद्वोंको करणसाधनपना है। क्योंकि वे परतंत्र हैं और स्वतंत्रता होनेसे स्पर्शन आदि राद्व कर्तामें भी साध लिये जाते हैं। भावार्थ—तुदादि गणकी "स्पृश संस्पर्शन" बात्से करणमें युद् प्रस्थय करनेपर स्पर्शन सद्ध साध लिया जाता है। चुरादि गणकी " रस आस्वादन-केरनदोः" धातुसे करणमें युद् प्रस्थय कर देनेपर रसन राद्व कन जाता है। भ्यादि गणकी " आ गुम्बोचादाने" धातुसे युद् प्रस्थय करतेपर प्राण राद्व सथ जाता है। अदादि गणकी भावीन् कालावां ताचि " धातुसे उसि प्रस्थय कर देनेसे चक्षः राद्व साध हो जाता है। भ्यादि

मणीय " श्रु श्रवणे " भातुसे त्रल् प्रत्यम करनेतर श्रीत्र शाद्वती लिखि हो भाती है। अनेती उत्पित्तमें इन्द्रियां करण हैं। अतः परंतत्रपनेकी विवधासे करणमें युद् आदि प्रत्ययोंको कर देना । हो, स्पर्शन इन्द्रिय छू रही है, रसना इन्द्रिय चाट रही है, यों स्वतंत्रताको विवधा होनेपर वार्थों भी उक्त पांचों शहरोंको साथ लिया जाता है। " युक्या बहुत्यम् " वहां " बहुल् " वनाको कर्तामें भी युद् प्रत्ययकी विधि हो जाती है तिस कारण इन स्पर्शन आदिकीकी शह निरुक्ति अनुसार अर्थवाचक संशा कर देनेसे इस प्रकार स्पर्शन, स्सन, आदि व्यपदेशको धारकेवाली है इन्द्रियां हैं। यों शहर्षिक कर लिया जाय तथा निरुक्ति अनुसार निर्देष स्थाण घट जानेसे इस प्रकार स्पर्शन, सिन्त निर्देष स्थाण घट जानेसे इस प्रकार स्थानित अनुसार निर्देष स्थाण घट जानेसे इस प्रकार स्थाने कि अनुसार निर्देष स्थाण घट जानेसे इस प्रकार स्थाने कि अनुसार निर्देष स्थाण घट जानेसे इस प्रकार स्थाने कि अनुसार निर्देष स्थाण स्थान कर स्थान स्थाने स्थानित स्थान स्थान

स्पर्धनस्य ब्रहणबादी शरीरच्यापित्यात्, वनस्पत्यंतानामेकिमित्यभाभीष्टत्वात् सर्वसंसा-रिष्ट्रपलच्येश्च । ततो रसनव्राणचश्चणं कमवचनशुक्तरोक्तरात्यत्यात्, श्रोत्रस्यांते वयनं बहुष-कारित्वात् । रसनपि वक्तृत्वेन बहुषकारीति चेत् न तेन श्रोत्रमणालिकापादितस्योपदेशस्यी-बारणात् तत्यारतंत्र्यस्वीकरणात् । सर्वश्चे तदभाव इति चेत्र, इन्द्रियाधिकारात् । व दि सर्वश्चस्य शब्दोश्चारणे रसनच्यापारोस्ति तीर्यकरत्वनामकर्मोद्योपजनितत्वात् भगवक्षीर्यकराव-गमस्य करणच्यापारापेक्षत्वे कमप्रश्चित्रसंगात् । सकल्वीर्योतरायक्षयात्र अभमहित्तस्यिति चेत्, तत एव करणापेक्षापि मा भृत् । ततः सक्तं श्रोजस्यांते वक्तं बहुपकारित्यादिति ।

सम्पूर्ण पोद्रालिक शरीरमे ओत, पोत, ज्याप रही होनेसे स्पर्शन इन्द्रियका सम्पूर्ण इन्द्रियके आहिमें महण किया गया है और " एक्वीसे केकर कनस्पतिपर्यंत जीकोंके एक, प्रमाम, या प्रमाम स्पर्शन इन्द्रिय है, " इस प्रकार यहां भविष्य सूत्रमं अनीष्ट होनेसे भी सबके पहिले स्परीन इन्द्रियका प्रहण है। सबसे बड़ी कत तीसरी यह है कि संपूर्ण संसारी जीकोंमे स्पर्शन इन्द्रियकी उपस्थित हो। उसके पछि स्मान जीवोंकी अपेक्षा ज्यापक होनेसे आदिमे स्पर्शनका उपादान सूत्रकारने किया है। उसके पछि स्मान, प्राण, और चक्षुः इन तीन इन्द्रियोंका कास्से वचन किया है। वयोंकि उत्तर थाने प्रदेश अथवा थाने थाने स्वामी हैं। अर्थात—"वनस्य सोदं घरणं जिन्मापारं मत्यवनाति। अतिमानिक विद्यालिक प्रतिमृत्तानुरप्पसमं पासे तु अणेय संकणं ॥ अंगुल्जनंत्रकारणं संविष्ठगण्यां तही विद्यालिक स्वामित क्रियालिक स्वामित व्याप्त असंस्तानुर्यसमं पासे तु अणेय संकणं ॥ अंगुल्जनंत्रकारणं संविष्ठगण्यां तही विद्यालिक स्वामित क्रियालिक स्वामित व्याप्त असंस्तान प्राणे हैं । क्रियालिक स्वामित स्वामित स्वामित स्वामित क्रियालिक स्वामित क्रियालिक स्वामित स्वाम

श्रीन्द्रिय जीव और त्रीन्द्रियोंकी अपेक्षा चतुरिन्द्रियोंके घारी जीव भी थोडे थोडे हैं। सर्व इन्द्रियोंके अंतमें कर्ण इन्द्रियका कथन यों किया गया है कि सभी इन्द्रियोंकी अपेक्षा श्रोत्र इन्द्रिय इस जीवका बहुत उपकारी है। कार्नोंसे उपदेशको सुनकर अनेक जीव दितकी प्राप्ति और अहि-तका परिहार कर ठेते हैं। उत्कृष्ट ज्ञानी या तत्त्रज्ञानी बन जाना कानोंसे ही साध्य हो रहा कार्य है। सभी मोक्षगामी जीव कानोंसे उपदेशको सनकर देशनालन्धि द्वारा साक्षात या परम्परास मुक्तिलाम कर सके हैं। जीवको विशेषक्र बनानेवाला श्रोत्र ही है। यहां किसीकी शंका है कि रसना इन्द्रिय भी तो वक्तापने करके बहुत उपकारी हो रही है। स्वर्ग या मोक्षके उपयोगी पर्दीका उचारण करना, अध्ययन करना, जाप्य देना, इनमें रसना इन्द्रिय कारण है। अतः रसना ही अन्तमें कहनी चाहिये । आचार्य कहते हैं यह तो न कहना । क्योंकि तुमने श्रोत्रको बहत उपकारी स्वीकार कर पुनः रसनाका भी बहुत उपकारीयना आपादान किया है । अतः तुम्हारे मुखसे ही हमारी बातका समर्थन हो जाता है। एक बात यह भी है कि श्रोत्रकी प्रणालिकासे विषयको निर्णीत कर पुनः उस रसनासे उपदेशका उच्चारण होता है । अतः रसनाको श्रोत्रकी परतंत्रता तुमको स्वीकार करनी पडेगी। यहां रसन शब्दसे जिह्नाका खुरपाके समान लम्बा, चौडा, मोद्या उपकरण लेना, कर्मेन्द्रियोंको माननेत्राले जिसको कि वाकु शब्दसे पकडते हैं। सच पूछी तो रसना केवल स्वाद लेनेमें चिरतार्थ हो रही है। हां, चर्मकी जिव्हा वक्तापनेमें व्यापार करती है। यों बोलनेमें उपकरण हो रही जिन्हाने श्रोत्र इन्द्रियकी पराधीनता अङगीकार कर रक्खी है। पुन: यहां कोई यों शंका करता है कि सर्वज्ञमें उस श्रोत्रकी परतंत्रताका अभाव है। अर्थात सर्वन्न भगवान तो श्रोत्रोन्द्रियके बळाधानसे अन्य वक्ताओंसे पदार्थका निर्णय कर पुनः वक्तापन को प्राप्त नहीं होते हैं। किन्तु सर्वब्रदेव तो ज्ञानावरणका क्षय हो जानेसे केवळब्रानको उपजाकर वक्ता-पन करके सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश कर देते हैं । अतः रसना ही बहुत उपकारक प्रतीत होती है । ध्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि यहां प्रकरणमें इन्द्रियोंका अधिकार चला आ रहा 🕯 । अतः जिन जीवोंमें इन्द्रियोंसे किया गया हित, अहित, उपदेश है, उन जीवोंके प्रति श्रोत्र इन्द्रिय अधिक उपकारी मानी गयी है। अतीन्द्रियज्ञानधारी सर्वज्ञ देवकी बात न्यारी है। सामान्य पुरुषोंमें देखी गयी टेवका विशिष्ट पुरुषोंमें भी आपादान नहीं करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि उच्चारण करनेमें सर्वज्ञके रसना इन्द्रियका न्यापार नहीं है। नामकर्मकी विशेष प्रकृति तीर्थकरत्वके उदयसे भग-बान्के सर्व अंगोंसे निकल रही मेघगर्जनके समान दिव्यष्यनि भव्योंके भाग्यवश उपज जाती है। अतः सर्वद्वकी वक्तृत्व कलामें रसनाका कोई व्यापार नहीं है। हां, अन्य वक्ताओंकी वचनकलामें रसना को श्रोत्रकी पराधीनता अनिवार्य है । वे वक्ता पहिले अपने गुरुओंसे स्वकीय श्रोत्र द्वारा वाष्यार्थका निर्णय कर पश्चात् जिन्हासे उपदेश देते हैं। भगवान् तीर्थं करके ज्ञानको यदि इन्द्रियोंके व्यापारकी अपेक्षा मानी जावेगी तो ज्ञानकी कम कमसे प्रवृत्ति होनेका प्रसंग होगा। जोकि किसी भी सर्वज्ञवादीको

इष्ट नहीं है। सर्वन्न देव युगपत् शिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थीका प्रत्यक्ष ज्ञान कर रहे हैं। यदि कोई यों कहें कि सम्पूर्ण वीर्यान्तराय कमीका क्षय हो जानेसे उस सर्वन्नके ज्ञानकी क्रमसे प्रवृत्ति नहीं होगी। अवन्तराफिद्वारा सबका ज्ञान युगपत् हो जायगा। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारणसे अर्थात्—वीर्यान्तरायका क्षय हो जानेसे ही सर्वन्नके ज्ञानको इन्द्रियोंकी अपेक्षा भी नहीं होवे। सर्वन्नके ज्ञानके प्रथम इन्द्रियोंकी अपेक्षा मान कर पीछे अनन्त वीर्य होनेसे क्रम प्रवृत्तिका रोकना क्रिष्ट कल्पना है। तिस ही से तो हमने बहुत अच्छा यों कहा था कि बहुत उपकारी होनेसे उमास्वामी महाराजने सर्व इन्द्रियोंके अन्तमें श्रोत्रका कथन किया है। इस प्रकार प्रकरणको समाप्त कर दो तो अच्छा है।

#### एकैकबुद्धिश्रापनार्थे वा स्पर्शनादिक्रमवचनं ।

अथवा यह सिद्धान्त उत्तर सबसे अच्छा है कि भविष्य चौथे सूत्रमें छट, चींटी, भोंरा, मनुष्य, आदिकोंके एक एक बढी हुयीं इन्द्रियां कहीं जावेंगी । अतः एक एक इन्द्रियकी योग्यतानुसार दृद्धिको समझानेके छिये स्पर्शन, रसन, आदि इन्द्रियोंका कमसे वचन किया गया है । अन्यथा इन्द्र करनेपर अल्प अक्षरवाछी या पूज्य इन्द्रियका पिइले प्रयोग हो जाता। बात यह है कि जीवोंके इन्द्रियोंकी दृद्धि जिस जिस कमसे हुई है, उसी ढंगसे सूत्रमें इन्द्रियोंका पाठकम है ।

#### कुतः पुनः स्पर्श्वनादीनि जीवस्य करणान्यर्थोपलन्धावित्याह ।

यहां कोई जिज्ञासु पुनः पूंछत। है कि जीवके अर्थकी उपलब्धि करनेमें स्पर्शन आदिक इन्द्रियां करण हो रहीं हैं, यह किस प्रमाणसे निर्णय किया जाय ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं।

# स्पर्शनादीनि तान्याहुः कर्तुः सांनिष्यवृत्तितः । क्रियायां करणानीह कर्भवैचित्र्यतस्तथा ॥ १ ॥

कत्ती आत्माके सिन्नेकट वर्तीपनसे प्रवृत्ति करनेसे आचार्य उन स्पर्शन आदिकांको ज्ञप्ति कियामें करण कह रहे हैं तथा कर्मोकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां भावेद्रिय हो। रहीं हैं, अर्थात् नामकर्मकी विचित्रतासे उत्पन्न हुयीं द्वय इन्द्रियां तो ज्ञान करनेमें आत्माकी करण हो। जाती हैं और ज्ञानावरण तथा बीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां भावेन्द्रिय हो। जाती हैं।

स्पर्धनादीनि द्रव्येंद्रियाणि तावसामकर्मणो वैचित्र्याग्रुपलब्धेरात्मनः स्पर्धादिपरिच्छे-दनिक्रयायां व्याप्रियमाणस्य सानिध्येन द्वत्तेः करणानि लोके प्रतीयंते । भावेद्रियाणि पुनस्त-दासस्मवीयीतरायसयोगश्चमस्य वैचित्र्यादिति मंतव्यं ।

जगत्के विधाता नामकर्मकी विचित्रता, चमत्कृति, आदि देखी जा रही हैं। अतः स्पर्धन आदिक पांच बच्चेंद्रियां तो स्पर्श, रस, आदिकी परिच्छिति कियाको करनेमें साधकतम हो रहीं कर्त्या आरमाकी सहायक कारण हैं। क्योंकि परिच्छिति क्रियामें व्यापार कर रहे आत्मके निकंद्यतीयने किरके वर्तनेक कारण वे इन्द्रियां लोकमें करण हो रही जानी जाती हैं। हां, फिर उन उन स्पर्देशान, रिस्तान, आदिका आवरण करनेवाले ज्ञानायरण और नीर्यान्तराय कर्नीके क्षयोपरामकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां आत्मपरिणति स्वरूप मावेन्द्रियां हैं, ऐसा मान छेना चाहिये।

तेषां परस्परं तद्वतश्च भेदाभेदं प्रत्यनेकांतोपपत्तेः। न हि परस्परं ताषदिद्वियाणामभेदैकातः स्वर्धनेन स्वर्शस्येव रसादीनामपि प्रहणप्रसक्तेरिद्वियांतरप्रकल्पनानर्थक्यात् । कस्यविद्वेकल्प साकल्ये वा सर्वेषां वैकल्पस्य साकल्पस्य वा प्रसंगात्। नापि भेदैकांतस्तेषामकत्वसंकल्नकान-जनकत्वाभावपसंगात् । संतानांतरिद्वियवत् । मनस्तस्य जनकिमिति चेस्न, हिंद्रियनिर्पक्षस्य तज्जनकत्वासंभवात् । इदियापेक्षं मनोनुसंधानस्य जनकिमिति चेत्, संतानांतरिद्वियपिक्षं कृतो न जनकं ? प्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्, अत्र का प्रत्यासत्तिः अन्यत्रैकात्मतादात्म्यादेशकालभाव-कृत्यासत्तीनां व्यभिचारात् । ततः स्पर्शनादीनां परस्परं स्यादभेदो द्रव्यार्थदिशात्, स्यादेदः पर्यापार्यदेशात् ।

उन स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका परस्परमें और उस उस इन्द्रियवाले आत्माके साथ भेद तथा अभेदके प्रति अनेकान्त बन रहा है। अर्थात्-इन्द्रियोंका परस्परमें कर्थाचिद् भेद, अभेद है तथा इन्द्रिय बाले आत्माके साथ भी इन्द्रियोंका कथांचित भेद अभेद है। सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद नहीं है। देखिये, इन्द्रियोंका परस्परमें एक दूसरेके साथ एकान्त रूपसे अमेद मानना ती ठीक नहीं पढ़ेगा। क्यों के स्पर्शन इन्द्रियसे जैसे स्पर्शका प्रहण हो रहा है, वैसे ही अकेटी स्पर्शनसे रस, गन्ध, आदिकीं-के भी प्रहण हो जानेका प्रसंग होगा । जब स्पर्श, रसना, घाफ, जांदि स्की इतिस्पा अविज हैं तो ऐसी दशामें स्पर्शनके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंकी कल्पना करना व्यर्थ मखेगा । ब्रह्मरी बात यह है कि किसी एक इन्दियकी विकलता या सकलता हो जानेपर सभी इन्द्रियोंकी विकलता या सफलता हो जाने-का प्रसंग होगा । आंख या कानके टूट जानेपर सभी इन्द्रियां नष्ट भ्रष्ट हो जायंगीं, एकेन्द्रिय जीवके भी पांचों इन्द्रियां वन बैढेंगी। अतः इन्द्रियोंका परस्परमें सर्वथा अभेद मानना उचित नहीं। तथा उन इन्द्रियोंका परस्परमें एकान्त रूपसे भेद भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि एकपन और सक्छन रूपसे क्रानकी उत्पत्ति करानेके अभावका प्रसंग हो जायगा। जैसे कि अन्य सन्तान यानी दूसरी दूसरी आत्माओंकी इन्द्रियोंमें एकत्व रूपसे संकल्न ज्ञान नहीं हो पाता है। भावार्थ-देवदत्तसे जिन दत्त सर्वथा मिन है। देवदत्तने अपनी चक्कसे घटको देखा, जिनदत्तने स्वकीय स्वरीन इन्द्रिवसे बटकी छुआ, ऐसी दशामें जिनदत्त यों नहीं कह सकता है कि की ही मैं देखनेनारा यही में अष्टको छ रहा हूं। कारण कि सर्वधा भिन ज्ञाताओंमें या उनकी इन्द्रियों द्वारा हुए ज्ञानोंमें जीडनेबाला संकलन क्षाम नहीं बंनता है । उसी प्रकार इम्डियोंका भेद भानमेपर जो ही मैं देख खुका हूं नहीं में छ सह

हैं। ऐसा एकमा प्राप्तिकाना नहीं से स्त्रोताः । यदि कोई यों नहे कि व्हर्शनः और स्वरूपको आस्त्र मका कर हो। यह प्रत्यभिक्काका जनका तो मन है। इन्द्रियोंका अभिकारक मत प्रस्परकी योजना का देता, है। आकार कहते हैं कि वह तो न कहना, क्योंकि इन्दियोकी कही अपेक्षा रखनेवाळे मनको उस प्रत्यमिश्चानका असम्भव हैं । यदि जनकपना यों कहें कि इन्द्रियोंकी अपेक्षा रख रहा मन तो प्रत्यभिज्ञानका जनक हो जायगा। यो कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो सर्वधा भेंद पक्षमें अन्य आत्माओं के इन्द्रियोंकी अपेक्षा रख रहा मन भछा क्यों नहीं प्रत्यभिज्ञानका जनक हो जाय है अर्थात्—देवदत्तके देखे हुयेका यज्ञदत्तको अनुसन्धान हो जाना चाहिये । एक आत्माकी भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके समान दूसरे आत्माओंकी इन्द्रियोंका अधिष्ठायक मन हो जाय । यदि भेदवादी वैंशेषिक यों कहें कि सम्बन्ध विशेषके न होनिसे वह मन अन्य आत्माओंके इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं रख सकता हैं। हां, प्रकरणप्राप्त आत्माकी पांची इन्द्रियोंके साधन इस मनका कोई विशेष नाता है। अतः उन इन्द्रियोंके विषयोंकों अन्वित कर देता है, अन्यके विषयोंकों नहीं, याँ कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि भाई, एक आत्मद्रव्यके साथ तदात्मकपन हो जानेके अतिरिक्त यहां प्रकरणमें दूसरी भला क्या प्रत्यासित ( नाता या सम्बन्ध ) हो सकती हैं ! देशप्रत्यासित, काल प्रत्यासित, भावप्रत्यासित, इनका तो व्यभिचार देखा जाता है। अर्धात्—पांचों इन्द्रियोंकी एक द्रव्य ( आत्मा ) प्रत्यासित माननेपर तो देवदत्तकी पांची इन्द्रियोंमें अनुसंधान होता घट जाता है । साथमें सन्तानान्तरोंकी इन्द्रियोंमें परस्पर अनुसन्धान होनेका भी निराकरण हो जाता है। किन्तु देशप्रत्यासत्ति मान लेनेसे इष्टकी सिद्धि और अनिष्टका दूषण ये नहीं बन पाते हैं। एक परीक्षा भवनमें ौठे हुये एक देशवर्त्ती अनेक छात्रोंमें परस्पर अनुसन्धान हो रहा नहीं देखा गया है । हां, यदि सूक्षातासे विचार करोगे तब तो एक देवदत्तके शरीरमें आंख, कान, नाक, जीमका भी न्यारा न्यारा स्थान नियत है। उन्में अनुसंधान नहीं हो सकेगा । अतः देशप्रत्यासित द्वारा अनुसन्धान होना माननेमें अन्वय व्यभि-चार और व्यतिरेक व्यभिचारदोष आते हैं। काल्प्रत्यासित्तमें भी उक्त दोष आते हैं। अर्थात-एक ही कालमें वर्त्त रहे अनेक जीवोंमें कालप्रत्यासत्ति होते हुये भी परस्पर अनुसन्धान **बान, नहीं हो रहा है। साथमें उसी बा**ळक, युवा, वृद्ध, देवदत्तमें कालप्रत्यासत्तिके विना भी संकळन इन हो जाता हैं। इसी प्रकार भावप्रत्यासत्तियोंके भी व्यभिचार आते हैं। समान ज्ञान या सुख, दः खको धारनेवाले जीवोंमें भाग प्रक्यात्वीतं होते हुये भी परस्पर देखे, सुने, छुये, बाटे, सूंघेका विषयगमन होकर अनुसन्धान नहीं हो रहा है। परिशेषमें द्रव्यप्रत्यासत्ति ही निर्दोष ठहरती है। तिस कारण द्रव्याधिकनयदारा कथन करनेसे स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका परस्परमें कथंचित अभेद है और प्रकासार्थितकायकी विवासासे स्पर्धन आदिकोंका करांचित् भेद है ।

चकेनः तेषाः तहको भेदाभेदैकांतीः मत्युक्तौ । आत्मनः करणानामभेदैकांते कर्तृत्वः मर्समानामनत् । आत्मनो वा कारणस्वमसंगः, उभयोरुक्यात्मकत्मकांनो वा विश्वेतात्मानातः। ततस्तेषां भेदैकांते चात्मनः करणत्वाभावः संतानांतरकरणवत् विपर्ययो वेत्यनेकांत प्राञ्चयः णीयः, मतीतिसद्भावाद्धाधकाभावाच । तथा द्रव्येद्रियाणामि परस्परं स्वारंभकपुद्गलद्भवाच भेदाभदं मत्यनेकांतीववोद्धव्यः पुद्गलद्भव्यार्थिदेशादभेदोपपत्तः । मतिनियतपर्यायार्थिद्भावेषां भेदोपपत्तेथ ।

इस उक्त कथनकरके उन इन्द्रियोंका उस इन्द्रियवान् आत्माके साथ सर्वथा भेद और एकान्त अभेदका भी खण्डन कर दिया गया है। देखो, आत्माका इन्द्रियोंके साथ यदि एकान्तरूपसे अभेद माना जायगा तो आत्माके समान इन्द्रियोंको भी कत्तीपनका प्रसंग हो जायगा । ऐसी दशामें इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी अथवा आत्मा और इन्द्रियोंका अभेद माननेपर इन्द्रियोंके समान आत्माको भी करण बन जानेका प्रसंग होगा । तथा आत्मा, इन्द्रिय, दोनोंको कत्ती, करण, दोनों आत्मकपनका प्रसंग हो जावेगा । क्योंकि सर्वथा अभेदपक्षको पकड छेनेपर किसीमें कोई विशेष प्रकारका अन्तर नहीं है। तथा उन इन्द्रियोंका तद्वान उस आत्माके साथ यदि सर्वथा भेद माना जायगा तो अन्य आत्माओंकी इन्द्रियोंके समान प्रकरण प्राप्त आत्माकी भी ये इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी। अर्थात-दूसरेकी इन्द्रियां सर्वथा भिन्न हो रहीं जैसे हमारे ज्ञानमें करण नहीं हो पाती हैं, उसी प्रकार भिन हो रहीं हमारी आत्मासे भी हमारी इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी अथवा विपर्यय ही हो जावेगा । यानी हमारी मिन्न इन्द्रियोंके समान दूसरोंकी इन्द्रियां भी हमारे ज्ञानमें करण बन बैठेंगी। इस कारण कथंचित् भेद, अभेदस्वरूप अनेकान्तका ही आश्रय प्रहण करना चाहिये। कथंचित् भेद, अमेदके स्याद्वाद सिद्धांतमें प्रमाणसिद्ध प्रतीतियोंका सद्भाव है और बाधक प्रमाणींका अभाव है। तिसी प्रकार उक्त भावेंद्रियोंके समान पांचों द्रव्येंद्रियोंका भी परस्परमें और अपनेको बनानेवाळे पुद्गल द्रव्यसे हो रहे भेद अभेदके प्रति अनेकान्त समझ छेना चाहिये। द्रव्यार्थिक नय और पूर्यायार्थिक नयका सर्वत्र अधिकार है। पुद्रल द्रव्यस्वरूप अर्थकी विशेष अपेक्षासे तो द्रव्येंद्रियोंका अभेद बन रहा है और स्पर्शन, रसना, आदि प्रत्येकके छिये नियत हो रही पर्यायस्यरूप अर्थकी अपेक्षा उन द्रव्येन्द्रियोंका भेद सिद्ध हो रहा है। सप्तभङ्गी अनुसार एकत्व और नानात्वसे अतिरिक्त आगेक पांच भंग भी छगा छेना। अभ्यन्तरनिर्वृत्ति स्वरूप द्रव्येद्रियोंका परस्पर या उपादान कारण आत्माके साथ कथंचित् भेदाभेद है।

# इतींद्रियाणि भेदेन व्याख्यातानि मतांतरं । व्यवचिच्छित्सुभिः पंचसूत्र्या युक्त्यागमान्वितेः ॥ २ ॥

यों यहांतक युक्ति और आगम प्रमाणसे अन्तित हो रहे तथा इन्द्रियोंकी एक, दो, ग्यारह, इन संख्याओंको माननेवाले अन्य मतोंके व्यवच्छेद करनेकी इच्छा रखनेवाले श्री उमास्वामी महाराजने पांच सूत्रोंके समुदाय द्वारा भिन्न भिन्न करके पांच इन्द्रियोंको बखान दिया है। अर्थात्—" पंचेंद्रियाणि". द्विविधानि, निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, लब्ध्युपयोगै। मानेन्द्रियम्, स्पर्शनरसनद्राणचक्षुःश्रोत्राणि ?! इन पांच सूत्रों करके नियत पांच इन्द्रियोंका व्याख्यान किया गया है।

#### इदानीमिद्रियानिद्रियनिषयप्रदर्शने कर्तव्ये, के ताबदिद्रियनिषया इत्याह ।

अब इस समय इन्द्रियों और अनिन्द्रियके द्वारा जानने योग्य विषय अर्थका प्रदर्शन करना कर्त्तव्य होनेपर शिष्यकी '' इन्द्रियोंके विषय तो भला कीन है ? '' ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमा-स्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

# स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये उनके इन्द्रियों द्वारा ज्ञातच्य विषय हैं। अर्थात्—स्पर्शन इन्द्रियसे पुद्रलका स्पर्श जाना जाता है, रसना इन्द्रियसे पुद्रलका रस चखा जाता है। बाण इन्द्रियसे पुद्रलका गंध सूंघा जाता है। चक्षु:इन्द्रियसे पुद्रलका रूप देखा जाता है और कर्ण इन्द्रिय द्वारा पुद्रलकी पर्याय हो रहा शब्द सुना जाता है। गुण, और गुणीका अमेद होनेसे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्शन वान् पुद्रल भी छूआ जाता है, रसनेंद्रिय द्वारा रसवान् पुद्रल भी चखा जाता है आदि।

स्पर्जादीनां कर्मभावसाधनत्वं द्रव्यपयीयविवक्षोपपत्तः । तच्छन्दादिद्विपपरामर्ज्ञः तेषामयीस्तद्यीः स्पर्जनादीनां कर्मविषयः स्पर्जाद्य इत्यर्थः । तद्यी इति वृष्यद्वपपत्तिरसामध्यीदिति चेत्, न चात्र गमकत्वात् नित्यसापेक्षेषु संबंधिज्ञब्दवत् । य एव हि वाक्येर्यः संमतीयते ।
स एव वृत्ताविति गमकत्वं नित्यसापेक्षेषु संबंधिज्ञब्देषु कथितं, यथा देवदत्तस्य गुरुकुछं देवदत्तस्य गुरुषुत्रः देवदत्तस्य दासभार्येति । तथेद्दापि तच्छब्दस्य स्पर्जनादिसापेक्षत्वेपि गमकत्वात् वृत्तिर्वेदितव्या ।

द्रव्य और पर्यायकी विवक्षा बन जानेसे स्पर्श, रस, आदिक शब्द तो कर्म और भाव अर्थमें साथ लिये जाते हैं, अर्थात्—जब प्रधान रूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, तब इन्द्रिय करके विषय हो रहा द्रव्य ही पकड़ा जाता है। इस पुद्रल द्रव्यसे न्यारे कोई स्पर्श आदिक नहीं हैं। इन्द्रिय करके जो छूआ जाय वह स्पर्श है, चखा जाय वह रस है, सूंघा जाय वह गंध है, देखा जाय सो वर्ण है, जो बोला जाय वह शब्द है, इस प्रकार स्पर्श आदिक शब्दोंकी कर्मसाधन निरुक्त कर दी गयी है। किन्तु जब प्रधान रूपसे पर्याय विवक्षित है, तब मेद बन रहा है। उदासीनपनेसे अवस्थित हो रहे भावका कथन हो जाता है, तब छूना ही स्पर्श है, चखना रस है, सूंघना गंध है, देखना मात्र वर्ण है, उच्चारण या सुनना शब्द है, इस ढंगसे स्पर्श आदि शब्दोंकी भावमें प्रत्ययकर सिद्धि कर दी गयी है। सूत्रमें पढ़े हुये पूर्वका परामर्ष करनेवाले तत् शद्धसे इन्द्रियों का परामर्श करनेवाले तत् शद्ध कहे जाते हैं। स्पर्शन, रसना, आदि इन्द्रियों के झातव्य कनने योग्य विषय ये स्पर्श, सूत्र अर्थ यहां तदर्थ कहे जाते हैं। स्पर्शन, रसना, आदि इन्द्रियों के झातव्य कनने योग्य विषय ये स्पर्श,

आदिका है। यो लेक्क, क्रिक, वाक्योंका मिळाकर वाल्यार्थ हो जाता है। क्रिस्त्रिकी यहां सेका है भि " समर्थः पदाविधिः " समर्थ अन्यक्षेत्री समास्त्वत्ति हो सकती है । यहां सामर्थ्य नहीं है, इसः कारण तेषां इन्द्रियाणां अर्थाः यो तद्रकार यहां षष्टीतत्पुरुषसमास नहीं हो सकता है। पूर्व सूत्रोंमें इन्द्रि-योंका स्वतंत्र ( प्रथमांत ) निर्देश हैं, तदर्थाः ऐसा समास कर वे इन्द्रियां गौण नहीं की जा सकती हैं। अतः " तैषां अर्थाः " यों व्यस्तपदकी ही बने रहेंगे । इस ढंगसे शंका करनेपर तो आचार्य कहते है कि यह दौंच हमारे ऊपर नहीं आता है। क्योंकि गमकपन होनेसे नित्य ही एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेबाछे पदोमें समास हो जाता है। जैसे कि सम्बन्धी शद्धोंमें समास हो जाता है। देखो, जो ही अर्थ वाक्यमें भछे प्रकार जानाः जा रहा है वहीं अर्घ समासङ्खति करनेपर भी स्थिर रहता है । इस प्रकार नित्म अपेक्षासहित हो रहे संबंधी शद्धोंमें गमकपना कह दिया गया है। जैसे कि देवदत्तका गुरुकुछ है। इसका अर्थ देवदत्तके गुरुका यह कुछ है, इस प्रकार है। देवदत्तका गुरुकुछ है, यह अर्थ नहीं है। देक्दलका गुरुपुत्र इसका अर्थ देवदत्तके गुरुका यह लडका हो जाता है। " देवदत्तस्य दासभायी" इसका अर्थ देवदत्तके दास की यह पत्नी है । यहां गुरु शद्ध नित्य ही शिष्य भी अपेक्षा रखता है। अतः देवदत्तं शिष्य है उसके गुरुका कुछ अर्थ करना आवश्यक है। अन्यथा यह वाक्य ही अशुद्ध हो जायगा। दीक्षक आचार्यके अधीन हो रहा पाठक, शिष्य तथा अन्य कर्मचारियोंका समुदाय कुछ कहा जाता है। समासने पड़े हुये गुरुके साथ देवदत्तका अभेद करना भी अनुचित है। तथैत्र दास शद्ध भी स्वामीकी अपेक्षां रखता है । अतः देवदत्त स्वरूप स्वामीके दासकी स्वी यह अर्थ हो जाता है । " **फरोक्पने पिरार्ज नाडी** तस्म कफापहा " यहां पटोलकी नाडी ( नसें ) कफ दोषको हरती हैं। यों संबंधीं शह अनुसार व्यवस्था की जानी है। तिसी प्रकार यहां भी स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी अपेक्षा धारते हुवे। भी तता शहरों। गमकपमा है । अतः सामध्ये हो। जानेसे " तदर्था: " यहां षष्ठीतत्परुष्कृतिः हुसी समझ छेनी चाहिये ।

#### स्पर्पादीमापातुपूर्व्येण निर्देशः इन्द्रियक्रमाभिसंबंधार्थः।

इस सूत्रमें स्परी, रैस, आदिकोंका आनुपूर्वीपने करके कथन करना तो इन्द्रियोंका कमपूर्वक एक एक विषयके साथ संबंध करानेके छिये हैं । अर्थात — पिहले कही गयी स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्श जाना जाता है, दूसरी रसना इन्द्रियसे रस जाना जाता है, दूसरी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्राह्म विषयोंमें लगा लेका चाहिये। तब तो दूदन्द्र समास किया जानेपर " अल्पाचतर, अन्यहिंस, स्वंत आदि पदोंके पूर्वमें प्रयुक्त किये जानेका झंझट नहीं लगता हैं। शद्ध संबंधी न्यायसे अर्थसंबंधी न्याय प्रधान है।

### किं पुनः स्पर्धादयो द्रव्यात्मका एव पर्यायात्मका एव चेति दुराशंकां निसकरोतिः।

क्याः स्पर्धाः, रसः, आदिकः विषयं ये द्रव्याखरूप ही हैं ! अथवाः क्याः पर्यायस्प्रकःप ही हैं ! ऐकि खेटी संनामाः निसंकरण श्री तिशानन्द वार्तिको द्वारों करते हैं ।

### स्पर्शादयस्तदर्थाः स्युद्रेश्यपर्यायकात्मकाः । द्वर्यकांते क्रियापायात्सर्वथा कूर्मरोमवत् ॥ १ ॥ तथेव पर्ययेकांते भेदेकांते ज्वयोरुपि । अनेकांतात्मका तेषां निर्काधमुगळिकतः ॥ २ ॥

उन इन्द्रियों के निषय हो रहे स्पर्श आदिक अर्थ तो द्रव्य आत्मक और पर्यायआत्मक निष्क हैं वे स्पर्श आदिक न नेपल द्रव्यस्वरूप हैं और केनल पर्यायस्वरूप भी ने नहीं हैं। बंदि उनको संविधा द्रव्य होनेका एकांत माना जायगा तो कूमरोम ( कलने बाल ) के समान असत् हो रहे निष्य कूटस्य द्रव्यमें निया उपजना इष्ट हो जायगा। '' नित्यत्वेदांतपक्षेपि विनिया नेपपथते '' (जी-सर्मतमदः ) तिस ही प्रकार स्पर्शादिकोंको एकांत रूपसे यदि पर्याय ही माना जायगा तो मी द्रव्यके निमा कल्ठपरोमके समान असत् हो रहे पर्यायका विवर्त मही हो सक्तेगा तथा द्रम द्रव्य और पर्याय दोनोंको एकांत रूपसे भेद माननेषर ही दोनोंका असत्व हो जाता है। अप्रिक्त विना अकेली उष्णता नहीं ठहरती हुया असत् हो जाता है जीर उष्णता पर्यायके विना स्केशक्त्य आग्निभी असत् हो जाता है। अता अनेक अमेमानमक्ति क्रिके उम्म स्मर्थ आदिकों की प्राथमिक रहित उपलिख होजानेसे स्पर्श आदिक द्रव्य पर्याय उभयात्मक हैं।

### तती 'अनेकात्मम एव स्पर्शाद्यः स्पर्शनादीनां विषयभावमनुभवंति नान्यभा असित्यकार्याः।

तिस कारणंसे सिद्ध हुआ कि एकत्व, पृथक्त, या मेद, अभेद, अथवा द्रव्यपन, प्योधपन, आदिक अनेक धर्मोंके साथ तदात्मक एकरस हो रहे स्पर्श आदिक क्षेय ही स्पर्शेम आदि इन्द्रियोंके क्षिय हो जानेका अनुभव करते हैं। अन्यथा यानी इसरे प्रकारके एक ही धर्म आत्मक हो रहे स्पर्श आदिक उन स्मर्शन आदि इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं। क्योंकि पदार्थोंको द्रव्यस्करण ही या पर्यापक्षकर ही इस प्रकार एक ही धर्म आत्मक सिद्ध करनेवाठी प्रतीतियोंका अभाव है।

#### अथानिद्रियस्य को विषय इत्याह ।

बहिरंग मांच इन्द्रियोंका निषय कहा जा चुका है। अब आनिखिय छटे बातका विषय क्याहै । इस प्रकार जिल्लासा कोनेपर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अभिम सूत्रको कहते हैं।

# श्रुतमनिद्वियस्य ॥ २१ ॥

चक्क जादि इन्दियोंके समान नियत देश, तिषय, अनस्थान, नहीं होनेसे इन्द्रिय कील ईन्ह्र इन्द्रिय हो रहे मनका क्षेय विषय तो श्रुतज्ञानगम्य पदार्थ है। अर्थात् मतिज्ञानसे पदार्थको जानका क्षाः अर्थीतरका विशेषतया अवधारण करना या विचार करना अंतरंग इन्द्रिय मनके द्वारा होता है। अन्यथा नहीं । उक्त कार्य पांचों बहिरंग इन्द्रियोंसे साध्य नहीं है। शब्दको सुनकर उसके वाच्यार्थका ज्ञान करना, हिताहित विचारपूर्वक किया करना, शिक्षा या उपदेश ग्रहण करना, तथा कर्त्तव्य, अकर्तव्य या तस्व, अतस्वकी मीमांसा करना ये सब विचारक मन इन्द्रियके कार्य हैं।

#### अर्थ इत्यभिसंबंधः सामर्थ्यात् । नतु चाश्रूयमाणमनिद्रियमत्र तत्कथं तस्य विषयो निक्य्यते इत्याह ।

पूर्वसूत्रमें पडे हुये " तदर्थाः " राद्वसे अकेले अर्थकी अनुवृत्ति कर लेना। पूर्वापर सम्बन्ध रखनेवाले वाक्यार्थकी सामर्थ्यसे " तत् " और बहुवचनांत " अर्थाः " की अनुवृत्ति नहीं कर केवल अर्थ राद्वका ही अनुवर्तन किया जायगा। यहां रांका है कि अनीदिय मन तो यहां प्रकरणमें नहीं खुना जा रहा है तो फिर यहां कैसे उस अप्रकृत मनका विषयनिरूपण किया जाता है ? बताओ, ऐसी आरांका होनेपर श्री विद्यानंद आचार्य उत्तरको कहते हैं, सावधान होकर सुनिये।

### सामर्थ्याद्गम्यमानस्यानिंद्रियस्येह सूत्रितः । श्वतमर्थः श्वतज्ञानगम्यं वस्तु तदुच्यते ॥ १ ॥

जब कि इन्द्रियोंके विषय प्रतिपादनका प्रकरण है पूर्वापार कथनकी सामर्थ्यसे जान लिये जा रहे मनका विषय श्रुत है, यें यहां सूत्र द्वारा निरूपण किया गया है। " मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवल्यानि ज्ञानम् " इस सूत्रमें श्रुतका अर्थ श्रुतक्कान है। किंतु इस सूत्रमें श्रुतक्कानद्वारा जानी जा रही वस्तु वह श्रुत कही जा रही है।

पंचैवेंद्रियाणीति वदता मनोनिंद्रियमंतःकरणं सामर्थ्यादित्युक्तं भवति तस्य च विषयः श्रुतमितीइ सूत्रयतो न सूत्रकारस्य विरोधः । श्रुतं पुनः श्रुतज्ञानसमधिगम्यं वस्तूच्यते विषये विषयिण उपचारात् ।

" पंचेंद्रियाणि " इस सूत्र द्वारा पांच है। बहिरंग इन्द्रियोंको कह रहे सूत्रकार करके ईषत् इन्द्रिय हो रहा अंतरंग करण मन तो सामर्थ्यसे ही प्राप्त हुआ, यो कह दिया जाता है। अतः उस मनका विषय श्रुत है। इस प्रकार यहां स्वतंत्र सूत्र बनाकर कह रहे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजको कोई विरोध प्राप्त नहीं होता है। अर्थात्—पहिले अध्यायमें " तदिंद्रियानिर्द्रियानिपत्तम् " मनःपर्ययक्षानं, " न चश्चरानिद्रियाम्याम् " ये कथन किये हैं। दूसरे अध्यायमें भी अभी "समनस्काऽभनस्काः" कहा है। एतावता अंतरंग करण तो मन इन्द्रिय है, ऐसा कह दिया गया प्राप्त हो जाता है। बहिरंग इन्द्रियांके प्रकरणमें मनको नहीं कहा तो क्या हुआ । मनके भी दोनों प्रकार निवृत्ति उपकरण और लिख

उपयोग ये भेद अभीष्ट हैं। हां, मनका विषय अभीतक नहीं बताया था, प्रकरणकी सामध्येंसे भी नहीं जाना जा सकता है। उसके लिये विषय निरूपण में प्रकरणमें अन्य इन्दियों के साथ लगे हाय इस सूत्र द्वारा मनका विषय कण्ठोक्त किया है। सूत्रमें पढ़े हुये श्रुत शब्दका अर्थ फिर श्रुतज्ञान नहीं करना। किंतु श्रुतज्ञानसे मले प्रकार जान लिया गया पदार्थ कहा गया है। विषयमें विषयीका उपचार है। जैसे कि प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय हो रहे घटको प्रत्यक्ष कह देते हैं, वैसे यहां भी श्रुतज्ञानसे जानने योग्य विषयको श्रुत कह दिया है। विषयी हो रहे ज्ञानका धर्म श्रुतपना विषयमें धर दिया है।

मतिज्ञानपरिच्छेद्यं वस्तु कथमनिन्द्रियस्य विषय इति चेका, तस्यापि श्रुतज्ञानपरिच्छेद्य-त्वानितिक्रमात्। अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानपरिच्छेद्यमपि श्रुतज्ञानपरिच्छेद्यत्वादनिद्रियस्य विषयः स्यादिति चेत्, न किंचिदनिष्टं। तथा हि—

यहां कोई शंका करता है कि जब श्रुतज्ञानका विषय ही मनसे जाना जायगा तो मतिज्ञानसे जान लिये गये दुःख, इच्छा, पीडा, आदिक पदार्थ मला मनके विषय किस प्रकार हो सकेंगे ? बताओ । ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंिक मितिज्ञानसे जाने हुये उस पदार्थको भी श्रुत-ज्ञान ह्यारा जानने योग्यपनका अतिक्रमण नहीं होता है । अर्थात्—जो मतिज्ञानसे जाना गया है वह श्रुतज्ञानसे अवस्य जाना जा सकता है । हां, श्रुतज्ञानसे जान लिया गया विषय तो बहुमाग मतिज्ञान हारा जानने योग्य नहीं है । देखो श्रुतज्ञान हारा परोक्षरूपसे विषय की गयीं अनेक अर्थपर्यायोंको मितिज्ञान नहीं छू पाता है । अतः श्रुतज्ञानके विषयको मन जानता है । इतने कथनसे ही मतिज्ञानके विषयको भी मन विचार लेता है, यह विना कहे अर्थापत्त हारा कह दिया जाता है । अकाण्ड ताण्डव बढाना व्यर्थ है । पुनः कोई कटाक्ष करता है कि यों तो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवल्ज्ञान करके जानने योग्य अर्थ भी श्रुतज्ञान हारा जानने योग्य होनेसे मनका विषय बन वैठेगा । क्योंिक अवधि हारा प्रत्यक्ष किये हुये पदार्थमें भी श्रुतज्ञान करके विकल्पनायें उठाई जाती हैं । जैसे मतिज्ञान हारा रूप, रस, आदिका एकदेश प्रत्यक्ष होकर उनमें अर्थान्तरोंको विचारनेवाला श्रुतज्ञान प्रवर्तता है । अतः सभी ज्ञानोंके विषय इस मन इन्द्रियके अर्थ हो जायंगे । ग्रंथकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो हमको कुछ भी अनिष्ट नहीं पडता है । इसी बातको स्पष्ट कर वार्तिकहारा कहे देते हैं ।

### मनोमात्रनिमित्तत्वात् श्वतज्ञानस्य कार्त्स्नतः । स्पर्शनादींद्रियद्गेयस्तद्थीं हि नियम्यते ॥ २ ॥

पदार्थोंको सम्पूर्णरूपसे विषय करनेवाले श्रुतङ्गानका निमित्तकारण केवल मन है। उक्त दो सूत्रोंमें स्पर्शन आदि इन्द्रियोद्वारा जानने योग्य स्पर्श आदिक ही उन इन्द्रियोंके अर्थ हैं। ऐसा नियम किया जा रहा है। अर्थात्—रपर्शन आदि इन्द्रियोंके विषय तो नियत हैं। मनका विषय कोई नियस नहीं है, सभी ज्ञानोंद्वारा जानने योग्य विषयोंको श्रुतज्ञानसे जाननेके अवसरपर मन निमित्त हो जाता है। "सुदकेवलं च णाणं दोणिणवि सरिसाणि होंति बोहादो। सुदणाणं तु परोक्खं पचक्खं केवलं णाणं" (गोम्मटसार) यो श्रुतज्ञानको केवलज्ञानका लघुआता माना जाता है।

अत्र स्पर्शनादींद्रियपरिच्छेद्यः स्पर्शादिरेवेति नियम्यते न पुनर्रनिद्रियपरिच्छेद्यः तस्या-नियतत्वात् । साकल्येन श्रुतज्ञानमात्रानिमित्तात् परिच्छिद्यमानस्य वस्तुनः श्रुतश्चन्देनामिश्चानात् । नन्वेवं सर्वमनिद्रियस्येति वक्तव्यं स्पष्टत्वादिति चेन्न, परोक्षत्वज्ञापनार्थत्वाच्छुतवचनस्य । न हि यथा केवलं सर्वे साक्षात् परिच्छिनत्ति तथानिद्रियं तस्याविश्चद्रस्पत्यार्थपरिच्छेदकत्वात् । ततः सूक्तं श्रुतमनिद्रियस्येति ।

यहां इन्द्रियों का विषय निष्क्षण करनेवाले प्रक्तरणमें स्पर्शन आदि पांच बहिरंग इन्द्रियोंसे जानने योग्य स्पर्श, रस आदिक ही हैं, यह नियम किया जा रहा है। किंतु फिर अनिदिय यानी मनसे जानने योग्य श्रुत ही है ऐसा नियम नहीं किया है। क्योंकि मन इन्द्रियसे जानने योग्य वह श्रुत ही नियत नहीं है। सभी ज्ञानोंके ज्ञेयको श्रुतज्ञानसे जाननेपर मन निमित्तकारण बम जाता है। पहिले सूत्रमें अवधारण करना इस सूत्रमें नहीं। क्योंकि पांचों ज्ञानद्वारा सम्पूर्ण रूपसे जानने योग्य वस्तुओंको यहां सूत्रमें श्रुत शब्द करके उपलक्षणतया कहा जाता है। रहस्य यह है कि जगत्के सम्पूर्ण पदा-धोंको जाननेमें अकेला श्रुतज्ञान निमित्त हो सकता है। पुनः किसीका कटाक्ष है कि "श्रुतमानिदियस्य।" ऐसा सूत्र न कह कर " सर्वमनिदियस्य" यों स्पष्टपनेसे सूत्र कहना चाहिये, जिससे कि व्यामोह नहीं होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको " मनके विषय सम्पूर्ण पदार्थ हैं" यह स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाय। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि परोक्षपना समझानेके लिये सूत्रमें श्रुत शब्द कहा है। जिस प्रकार केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थोंको पूर्ण विशद रूपसे प्रत्यक्ष जान लेता है, उस प्रकार मन विशदरूपसे सबको नहीं जान पाता है। वह मन अविशद रूपसे सम्पूर्ण अर्थोंका परिच्छेदक हैं, यह बात श्रुत कहनेसे ही व्यन्तित हो सकती है। तिसी कारणसे सूत्रकारने यों बहुत अच्छा कहा था कि श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञेय पदार्थ सभी मनका विषय है।

### किमर्थमिन्द्रियमनसां विषयम् इपणमत्र कृतमित्याइ।

यहां तत्त्वार्थ सूत्रमें पांच इन्द्रिय और छठे मनके विषयोंका निरूपण किस लिये किया गया है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं ।

इति सूत्रद्वयेनाक्षमनोर्थानां प्ररूपणं । कृतं तज्जन्मविज्ञाननिरालंबनताछिदे ॥ ३ ॥ इस ब्रक्तार "स्पर्शरसर्गधक्वाराह्मस्तदर्थाः, श्रुतमनिद्रियस्य " इन दोनों सूत्रों करके इन्द्रिय और मनके विषय हो रहें अधींका निरूपण किया गया है, जो कि उस अधेंस विज्ञानका जन्म स्त्रीकार करनेवाले बीद्रमतका खण्डन करनेके लिये हैं। सामार्थ — बीद्र पण्डित विषयजन्य ज्ञानको प्रमाण मानते हैं। घटका ज्ञान घटसे जन्य है। पटका ज्ञान पटको जन्य है। किन्तु उनका यह मन्तव्य निर्दोष नहीं है। इन्द्रिय और अद्द्रिय व्यक्तिचार हो जाता है। देखो, इन्द्रियोंसे या कर्मोंके क्षयोपशमसे ज्ञान जन्य है, किन्तु इनको विषय नहीं करता है। स्पर्शका ज्ञान स्पर्शन इन्द्रियसे जन्य है, फिर भी वह अतीद्रिय हो रही स्पर्शन इन्द्रियको नहीं जानता हुआ स्पर्शको ही जान रहा है। अतः इन्द्रियोंके विषयका निरूपण करनेसे ज्ञानकी अर्धजन्यताका निराकरण हो जाता है। तथा ज्ञानद्वितवादी बीद्र सम्पूर्ण ज्ञानोंको निरालम्बन स्वीकार करते हैं। घटज्ञानका विषय कोई बहिर्भूत कम्बुपीता वाला जड पदार्थ नहीं है, सभी ज्ञान निर्विषय हैं। यों इन बीद्रोंका प्रत्यास्त्रा करनेके लिये इन्द्रियजन्य ज्ञानोंका स्वतंत्र विषय निरूपण किया गया है। भ्रान्त ज्ञानोंको छोड-कर सभी सम्यन्ज्ञान सार्विषय है। यदि विषयको ज्ञानका कारण माना जायगा तो भूत, भविष्य, पदा-धोंको सर्वज्ञ नहीं जान सर्केगे। केवल अन्यवहित पूर्वसमयवर्ती पदार्थोंका ही ज्ञान उपज सकेगा। एवं ज्ञानोंके विषय नहीं माननेपर सम्पूर्ण जीवोंके अनुभव सिद्ध हो रहे लोकिक, पारलोकिक, कर्तव्य अलीक हो जायेंगे।

#### केषां पुनः माणिनां किमिंद्रियमित्याह ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि कौन कौनसे प्राणियोंके कौन इन्द्रिय है ! ऐसी आकांक्षा होने-प्रर श्री उमास्वामी महाराज अभिम सूत्र द्वारा उत्तर बचन कहते हैं ।

# वनस्पत्यंतानामेकम् ॥ २२ ॥

अन्त शहको अवयव, धर्म, अवसान, समीप, पिछला, कई अर्थ हैं। उनमेंसे यहां अवसान अर्थ अमीष्ट है। एक शहको भी असहाय, भिन्न, केवल, अन्य, संख्या, विशेष, प्रधान, प्रथम, कश्चित्, ये अनेक अर्थ हैं। किन्तु यहां प्रकरण अनुसार एक शहका प्रथम अर्थ लिया गया है। पृथिवीको आदि लेकर वकस्पतिपर्यंत जीवोंके पहिली स्पर्शन इन्द्रिय है।

#### ननस्पतिरंतोकसानं येषां ते वनस्पत्यंताः सामध्यीत्वृधिष्यादय इति गम्यंते तेषायकं प्रथममिक्रियं स्पर्धनिमिति मतिपत्तव्यम् ।

जिन जीवों के नन पति अन्त अर्थात्—अवसानमें है वे जीव " वनस्पति अन्त " कहे जाते हैं। अन्त शह आदिकी अपेक्षा रखता है। अतः सामर्थ्यसे पृथ्वी है आदि छेकर वनस्पति पर्यन्त सीम यों जान छिये जाते हैं। उन पांच काय है जीवोंके एक पहिछी स्पर्शन इन्हिप है, यह समझ

क्ना चाहिये। पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, इन पांचों स्थावर जीवोंके एक लचा इन्द्रिय ही है।

#### कुत इत्याह।

किसीका प्रश्न है कि वनस्पति पर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय है। यह सिद्धान्त किस प्रमाणसे निर्णात कर लिया जाय ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमवार्तिक द्वारा प्रक्तिको कहते हैं।

### वनस्पत्यंतजीवानामेकं स्पर्शनमिंद्रियं । तजज्ञाननिमित्तायाः प्रवृत्तेरुपलंभनात् ॥ १ ॥

वनस्पतिपर्यन्त जीवोंके (पक्ष ) एक स्पर्शन इन्द्रिय हैं (साध्य ) उस स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुये ज्ञानको निमित्त पाकर हो रही प्रवृत्तिका उपलम्म होनेसे (हेतु )। भावार्य—पृक्षोंमें स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञानसे हुयाँ प्रवृत्तियां देखी जातीं हैं। केला वृक्ष, केली वृक्षके रजका संपर्क पाकर फलता है। यद्यपि सम्पूर्ण वृक्ष नपुंसक लिंग हैं। फिर भी किन जनोंके अलंकार या कोषकारकी लिंगव्यवस्था अनुसार कितने ही मनुष्योंने उनमें खीपन या पुरुषपनकी झूंठी कल्पना गढ ली है। बनस्पतिकायकी दस लाख जातियां हैं, अड़ाईस लाख करोड कुल हैं, यह जाति कुल्व्यवस्था उस कल्पनाकी मित्ति है। योग्य प्रकरण मिलनेपर केला, अमरूद, आम, आदिकी उत्पत्ति हो जाती है। यदि इसको कारक पक्ष माना जाय तो ज्ञापकपक्षके भी उदाहरण मिलते हैं। कई वृक्ष आहार करने योग्य जढ या नेतन पदार्थोंको पकड लेते हैं। जल या गीली मिडीकी ओर जरों (अपनी जड़ों) को फैलाते हैं। योग्य खातको प्रहण कर अपने अधीन कर लेते हैं। मट्टीकी खान, कङ्कड, पत्यरके कोयलेकी खान, पर्वत इन पृथिनी कायके जीनोंमें भी स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा प्रवृत्ति होती हुई देखी जाती है। जल बिंदु दूसरी जलबिन्दुकी ओर झुक जाती है। अग्निज्ञाला भी सजातीय दूसरी आग्नि क्वालामें मिलनेको उत्सुक रहती हैं। निकटनतीं वृक्ष या लकड़ीको सहारा पानेके लिये वेले उनकी क्वालामें मिलनेको उत्सुक रहती हैं। निकटनतीं वृक्ष या लकड़ीको सहारा पानेके लिये वेले उनकी क्वार झुकपड़ती हैं। इत्यादि युक्तियोंसे स्थावर जीनोंमें एक स्पर्शन इन्द्रिय सिद्ध हो जाती है।

यथास्मदादीनां स्पर्शनजज्ञाननिमित्ताहिताहितस्य संग्रहणपरित्यागलक्षणा प्रवृत्तिरूप-रूभ्यते तथा वनस्पतीनामपि सोपलभ्यमाना स्पर्शनजज्ञानपूर्वकत्वं च साधयति तज्जं च ज्ञानं स्पर्शनमिद्रियमिति निर्वाधं । तद्दत्र्शिक्यादिजीवानामेकमिद्रियं संभाव्यते वाधकाभावात् ।

जिस प्रकार हम छोगोंके स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञानको निमित्त पाकर होती हुई हितकर पदार्थ का संप्रह करना और अहितपदार्थका परित्याग करना स्वरूप प्रवृत्ति देखी जा रही है, तिसी प्रकार अन्वय दृष्टान्त अनुसार वनस्पति जीवोंके भी वह प्रवृत्ति देखी जा रही सन्ती स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान पूर्वकपनको साध देती ह और वह स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान तो स्पर्शन इन्द्रियको साध देता है। इस कारण बाधारहित होकर उन वनस्पति जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय सध जाती है। उस वनस्पतिके समान पृथिवी, जल, आदि जीवोंके भी एक स्पर्शन इन्द्रियकी सल्य संमावना की जाती है। कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

#### केषां बादींद्रियमित्याइ ।

अब महाराज, यह बताओ कि किन किन जीवोंके फिर दो, तीन, आदि इन्द्रियां हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं |

# कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

लट आदिक, चींटी आदिक, भोंरा आदिक, मनुष्य आदिक, इन जीवोंके स्पर्शनको मूल मान-कर रसनासे प्रारम्भ कर एक एक बढ रही इन्द्रियां हैं । कृमि आदिकोंके रसनासे बढ रही स्पर्शन हैं, चींटी आदिकोंके घ्राणसे बढ चुकी स्पर्शन और रसना हैं । इत्यदि लगा लेना ।

### एकैकमिति वीप्सानिर्देशाद्दृद्धानीति बहुत्वनिर्देशाच्च वाक्यांतरोपप्छवं कथिपत्याइ।

सूत्रमें एक एक इस प्रकार कई बार आवृत्त होकर कहा जा चुक्तनेवाला वीप्सा निर्देश किया है और बुद्धानि इस प्रकार बहुत्व संख्याको कहनेवाला बहुवचन निर्देश किया है। अतः अन्य वाक्योंका उपप्लव (प्रवाहरचना) कर लिया जाता है। वे वाक्य किस प्रकार बढ़ा लिये, जाते हैं। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिकोंको कहते हैं।

तथा कृमिप्रकाराणां रसनेनाधिकं मतं ।
वृद्धे पिपीलिकादीनां ते प्राणेन निरूप्यते ॥ १ ॥
वश्चषा तानि वृद्धानि श्रमरादिशरीरिणां ।
श्रोत्रेण तु मनुष्यादिजीवानां तानि निश्चयात् ॥ २ ॥
तत्तद्धेतुकविज्ञानमूलानामुपलिधितः ।
विषयेषु प्रवृत्तीनां स्वस्मिश्चिव विपश्चिताम् ॥ ३ ॥

तिस प्रकार दूसरे दूसरे वाक्योंका उपप्लव करनेपर यों अर्थ हो जाता है कि 'छट, गेंडुआ, जौंक, सीप, आदि प्रकारवाले जीवोंके वह स्पर्शन इन्द्रिय तो दूसरी रसना इन्द्रियसे अधिक हो रही मानी है। अर्थाल्—छट आदिक क्षुद्र कीटोंके स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियां है। ये स्पर्शनसे शीत,

काग, आदिको जानते हैं, जीमसे जानल, मेहूं, रक्त, मट्टी, आदिका स्वाद लेते हैं। और सीटी, स्टानल, जानी, दीमक, आदि जीनोंके ने स्पर्शन, स्सना, दो इन्द्रियां नढ चुकी तीसरी नालिका इन्द्रि की अधिक हैं। ऐसा मन्त्रन्य कहा जाता है। मौरा, मन्त्रनी, मक्खी, मन्त्रस, पतंगा आदि शरीरधारी तथ्य जीनोंके ने स्पर्शन, रसना, प्राण, इन्द्रियां चौथी चक्षु इन्द्रियसे नढ रहीं मानी गयी हैं। एवं मनुष्य, घोडे, नैक, देन, आदि जीनोंके तो ने स्पर्शन, रसना, प्राण, चक्षु इन्द्रियां, पांचवीं श्रोत्र इन्द्रियसे नढ हों विध्यमन हैं। ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण और युक्तियोंसे निश्चय हो रहा है। देखिये, उन उन जीनोंके नियत हो रहीं दो, तीन, चार, या पांच इन्द्रियोंको कारण मानकर हुये विज्ञानके मूलपर होनेवाली विषयोंमें प्रवृत्तियां देखी जा रहीं हैं। विद्वानोंके यहां अपनेमें किसी भी नियत इन्द्रियजन्य ज्ञानकी विक्तिर हुयी प्रवृत्तिकी उपलब्धि हो जानेसे जैसे उत्त इन्द्रियका सद्भाव मान लिया जाता है। हम देखकर पुस्तकको उठा रहे हैं, अतः हमारे चक्षु इन्द्रिय अवस्य है, शब्दोंका श्रवणकर प्रवृत्ति होरही दीखती है, अतः श्रोत्र इन्द्रियका सद्भाव है, उसी प्रकार कृमि आदिक, पिपीलिका आदिक, श्रमर आदिक, मनुष्य आदिक जीनोंके अतीन्द्रिय इन्द्रियां जान ली जाती हैं, उपकरण इन्द्रियोंका बहुत अंशोंने प्रत्यक्ष भी हो रहा है।

### के बुनः संसारिणः समनस्काः के वाऽमनस्का इत्याह ।

शृष्य गुरुकी महाराज, अब यह बताओं कि कीनसे संसारी जीव फिर मनकरके सहित हैं ? जीर कीनसे ग्रंसारी जीव मनसे रहित हैं । इस प्रकार विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज सूत्र द्वारा उत्तर कहते हैं ।

# संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

हितप्राप्ति, अहित परिहार, तथा गुण अथवा दोषको विचार करना स्वरूप संज्ञा जिनके पायी जाती है वे जीव मनसिंहत हैं।

सामर्थ्यादसंक्षिनो अपनस्का इति सुत्रितं, तेनामनस्का एव सर्वे संसारिणः सर्वे सम-नस्का एवेति निरस्तं भवति । क्रुतः पुनः संक्षिनां समनस्कत्वं सिद्धमित्युपदर्शयति ।

संज्ञावान् जीवोंको विधिमुखसे समनस्क कह दिया गया है। अतः परिशेष न्यायकी सामध्येसे असंज्ञी जीव अमनस्क हैं, यह भी सूत्रद्वारा कहा जा चुका है। तिस कथन करके सम्पूर्ण संसारी जीव मनरिहत ही हैं अथवा सभी संसारी जीव मनसिहत ही हैं, इस प्रकार एकान्तमन्तव्य खण्डित हो जाता है। कोई कोई दार्शनिक तो किसी भी आत्माक मनइन्द्रियको नहीं मानते हैं और वैशेषिक तो प्रस्तेक आत्माको मनसिहत स्वीकार करते हैं। जितनी ही आत्मायें हैं उतने ही उनके एक एक निमत हो रहे अनन्ते मन हैं। ये दोनों ही एकांत युक्तियोंने बाबित हैं। जैसे कि सर्वको निर्धन या

धनिकपन माननेका एकांत प्रसंदना गर्हित है। किसीका प्रश्न है कि फिर यह बताओ कि संज्ञानारे जीवोंका मनसहितपना भला किस प्रमाणसे सिद्ध है ? ऐसी आकांक्षा होनेपर श्री विधानंद स्वामी वार्तिकों द्वारा श्रुक्तियोंको दिखलाते हैं।

संज्ञिनां समनस्कत्वं संज्ञायाः प्रतिपत्तितः । सा हि शिक्षािकयालापप्रहणं मुनिभिर्मता ॥ १ ॥ नानादिभवसंभृतविषयानुभवोद्भवा । सामान्यभारणाहारसंज्ञादीनामभीरिष ॥ २ ॥

संज्ञी जीवोंके ( पक्ष ) मनसिंहतपना है ( साध्य ) विचारआत्मक बुद्धिकी प्रतिपत्ति होनेरं (हेतु ) और वह संज्ञा तो निश्चयसे मुनियों करके शिक्षा किया करना, आलाप करना, प्रहण करना, मानी गयी है। अर्थात्—बंदर, घोडा, मैना, तोता, सर्प, आदिक प्राणी सिखाये अनुसा किया करते हैं, कल्पित नाम रख छेनेपर तदनुसार आते जाते हैं, सतर्क रहते हैं, मंगानेपर पदार्थीक ले आते हैं। अतः संज्ञाकी प्रतिपत्ति होनेसे बहुतसे पशु, पक्षी, तथा मनुष्य, स्त्री, देव, देवी, रं सब मनसहित जीव हैं। किंतु अनादिकालकी जन्मपरम्परासे हुये विषयोंके अनुभवसे उत्पन्न हुय सामान्य धारणा, सामान्य अवाय, आदिक और आहार संज्ञा, भय संज्ञा आदिक तो यहां प्रकरणां संज्ञा नहीं मानी गर्यी हैं। नाम मतिज्ञान भी यहां संज्ञा नहीं है। अर्थात्—'' अनाधविद्यादोषोत्य चतुः मंज्ञाञ्वरातुराः '' आहार आदिक चार मंज्ञायें तो सम्पूर्ण जीवोंके अनादि कालसे लग रही व तथा मध्मक्षिका, भोरी, चीटियां, दीमक, मकडी, आदिक कीट पतंग भी सामान्यधारणारू संज्ञाके अनुसार गृह बनाना, बच्चे बनाना, बच्चोंका मोह करना, खाद्य एकत्रित करना, ठहरने योग रक्षाका स्थान बनाना आदि विस्मय जनक कार्योको कर रहे हैं । मधु मक्खी, ततै या बर्र, घरघुळी तो यहां वहां जाकर अपने खाद्य पदार्थोंको और घर बनानेके छिये मट्टी या काठको छाकर पनः अप नियत उसी स्थानपर लौट आते हैं । ये कार्य तो मनके विना अनादि कालीन विषयानुभवकी तृष्णां बना छिथे जाते हैं । किसीका नाम रख छेना या सामान्यरूपसे ज्ञान करना भी संज्ञा सिद्ध हैं किन्तु यहां इन संज्ञाओंका प्रहण करने पर तो सभी संसारी जीव समनस्क हो जायेंगे। को असंबी होनेके लिये नहीं बचेगा । अतः इन संज्ञाओं का प्रहण नहीं करना । किन्त " सिक्खाकिरिट वदेंसाखावगगाही मणोवलंबेण जो जीघो सो सण्णी, तन्त्रिवरीओ असण्णी दु "। शिक्षा, क्रिया, उपदेश आकाम, को मनके अथलम्बसे प्रहण करनेवाले बैल, हाथी, तोता, आदि जीव संझी है। ठीक हितव प्रह्मण और आहितका त्याग जिससे हो सके वह शिक्षा है, इच्छा अनुसार हाथ, पांत्र, आदिको चंडा किया है, वचन, कोडा, आदि द्वारा उपदेश देकर कर्ताच्य पाळन करना उपदेश है, स्रोक आदिन

पाठ आछाप है तथा जो कार्थ अकार्यको विचारता है तत्त्व, अतत्त्व, की शिक्षा छेता है, नाम छेकर बुख्या गया चळा आता है, वह समनस्क है। शेष संसारी जीव अमनस्क है।

न समनस्कानां शिक्षािकयालापग्रहणलक्षणा संज्ञा संभवति यतस्तदुपलकोः केषांचि-स्समनस्कत्वं न सिध्येत् । न चामनस्कानां स्मरणसामान्याभावोऽनादिभवसंभूतविषयानुभवो-द्रावायाः सामान्यधारणायास्तद्वेतोः सद्भावात् आहारसंज्ञादिसिद्धेः प्रशृत्तिविशेषोपलक्षेः । न च सेव संज्ञा सनिविशिष्टा स्मृतिविशेषनिमित्तायास्तस्याः प्रकाशनात् ।

मनरहित एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, जीवोंके वह शिक्षा, किया, आलापोंको प्रहण करना स्वरूप संज्ञा नहीं सम्भवती है। जिससे कि उस संज्ञाकी उपलब्धि रूप हेतसे किन्हीं दसरे विचारक जीवोंके मनसहितपना सिद्ध नहीं होता, अर्थात्-घोडा, मनुष्य, जीवोंमें हेतुके वर्त्तजानेसे समनस्कपना सिद्ध होजाता है। यहां कोई आक्षेप करे कि ब्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि जीवोंके भी आहार, जल, नित्रासस्थान, आदिमें प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः उनके आहार संज्ञा आदिक और उनका कारण धारणा या स्मृति, माननी पडेगी। स्मृति तो मनवाले जीवके होते हैं। अतः द्वीन्द्रिय आदिके भी मनकी सम्भावना है। आचार्य महाराज कहते हैं कि मनरहित जीवोंके सामान्य रूपसे हुये स्मरणका अभाव नहीं है। अनादि संसार परम्परामें ब्राप्त हुये विषयोंके अनुभवसे उत्पन ह्रयी सामान्यधारणा रूप उसके हेतुका सद्भाव अमनस्क जीवोंके भी पाया जाता है। उससे आहार संज्ञा, भयसंज्ञा, आदिकी सिद्धि हो जानेसे अमनस्कोंकी विशेष प्रवृत्तियां हो रहीं दीख रहीं 🕻 । किन्तु वह आहारसंज्ञा या सामान्य धारणा ही तो यहां मुनिवर उमास्वामी महाराज करके संज्ञा अभीष्ट नहीं की गयी है। विशेष रूपसे स्मृतिका निमित्त हो रही उस धारणाका यहां प्रकाश किया है। भावार्थ-सामान्य धारणापूर्वक द्वयी सामान्य स्पृति तो मनरहित जीवोंके भी हो जाती है। किन्त विशेष धारणा होतुक स्मरण तो मनसहित जीवोंके ही होता है।सामान्य ईहा पूर्वक अवाय और सामान्य अवाय पूर्वक धारणा तथा सामान्य धारणा पूर्वक हुये स्मरण ज्ञानोंसे मनरहित जीव भी आहार आदि विषयोंकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति कर रहे देखे जाते हैं। ज्ञानकी सामर्थ्य भी कुछ कम नहीं है। कोई भी हान अपने अपने अभीष्ट हो रहे हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार कर देता है। इस सामान्य कियों मनकी कोई आवश्यकता नहीं है।

एतेन यदुक्तं कैश्विद्मनस्कानां स्मरणाभावेष्यभिलापसिद्धेस्तदहर्जातदारकस्य स्तन्या-भिग्नुस्तं ग्रुस्वमर्जयतोभिलापः स्मरणपूर्वकोऽभिलापत्वात् अस्मदाद्यभिलापवदित्यत्र हेतोरनै-कांतिकत्वात् परलोकासिद्धिः । तथा च " न स्मृतेरभिलापोस्ति विना सापि न दर्भनात् । तद्धि जन्मांतराचाहर्जातमात्रेपि लक्ष्यते " इत्यकलंकवचनमविचारचतुरमायातं इति । तद्पि प्रत्यास्मातं, स्मरणसामान्यमंतरेण क्वचिद्प्यभिलापासंभवात् तद्धेतोरनैक्षांतिकत्वानुपपत्तेः ।

**इस उक्त कथनकरके जो किन्हींने दो तीन पंक्तियोंद्वारा यों कहा था वह भी निराकृत कर** दिया गया है कि देखी मनरहित जीवेंकि स्मरणके विना भी आहार आदिकी अभिलावार्ये सिद्ध हो रही हैं। अतः दूधयुक्त स्तनके अभिमुख अपने मुखको उद्योगी कर रहे, उसी दिनके उत्पन्न हुये बालकनी अभिनाषा ( पक्ष ) समस्मपूर्वक है ( साध्य ) अभिनाषा होनेसे ( हेतु ) अस्मदादिकोंकी अभिन्नापाके समान ( अन्वयद्ध्यन्त ) । इस प्रकार यहां अनुमानमें कहे गये हेतुका व्यभिचार दोष हो जानेसे परलेक भी सिद्धि नहीं हुयी और तैसा होनेपर स्पृति होनेसे ही अभिलापाका सद्भाव नहीं बका । अतः अक्छं कदेवने जो अनुष्ट्रभ छन्दद्वारा कहा था कि स्पृतिके विना जीवोंके अभिलाषा नहीं उपजती है, और वह स्पृति भी अनुभवस्वरूपदर्शन के विना नहीं होती है। और वह दर्शन तो उसी दिनको उत्पन हुये बन्नेमें भी पूर्व जन्मांतरोंसे हुआ लक्षित किया जाता है। इस प्रकार श्रीअक-लंकदेवका वचन विचारपूर्वक चातुर्यको लिये हुये नहीं है यह प्राप्त हुआ। भावार्थ-मक्खी, वर्र. आदि मनरहित जीत्रोंके स्मरणके विना भी अभिळाषा हो जाती है। इसी प्रकार उसी दिनके हुये मनसिंहत बह्रोमें माताके स्तमकी ओर मुख करते हुये उताबलेपनके साथ अभिलाषा करना भी जन्मान्तरके अनुभूत विषयोंकी स्मृतिके विना ही हो जायगा । ऐसी दशामें आत्मा विचारा अनादि अनन्त सिद्ध नहीं हो सकता है। श्रीअकलंकदेवने स्वकीय प्रन्थमें जो परलोकी, अनाधनन्त, जीवको सिद्ध करनेके लिये युक्ति दी है, विचार करनेपर उसमें चातुर्य नहीं दीखता है। कश्चित्से लेकर "आयातम्" तक चार्वाक कह चुके हैं। अब प्रन्थकार कहते हैं कि वह चार्वाकका कहना भी हमने खण्डित कर दिया है। क्योंकि स्मरणसामान्यके विना असंज्ञी या संज्ञी किसी भी जीवमें अभिलाषा होनेका असम्मव है । अतः उस अभिकाषत्व हेतुका अनैकान्तिकपना नहीं बन पाता है । हमारा स्मरण पूर्व-कपना सिद्ध करनेको दिया गया अभिलायत्व हेतु निर्दोष है। अमनस्क जीवोंके सामान्यस्मरणपूर्वक अमिलायायें होकर विशेष प्रकृतियां हो जाती हैं । हां, मनःसहित संज्ञी जीवोंके विशेष स्मरणपूर्वक विकक्षण अमिलाषाओंसे मनः द्वारा है। शिक्षा, क्रिया, अलाप, ग्रहण, करनारूप संज्ञा सम्मवती है। संज्ञी, असंज्ञी, दोनों प्रकारके जीवोंक परछोककी सिद्धि अनिवार्य है। पूर्वजन्मोंकी वासना अस्तार ही अक्षेत्रिओंके चमत्कारक कार्य देखे जाते हैं। कार्यकारणभाव तो तर्कके अगोचर है।

न चायनस्केषु स्मरणसामान्यसद्भावात्समरणिविश्वष्य सिद्धिः तस्य तेनाविनाभावा-भाषात् । न दि यस्यानुभूतस्मरणसामान्यमस्ति तस्य स्मरणिविशेषो नियमादुपलभ्यते विशेष-समयाभाष्मसंगात् । विशेषमात्राविमाभावेषि वा न शिलाक्तियालापप्रहणनिमित्तस्मरणिविशेषा-विमामावः सिध्येत् माणिमात्रस्य तत्मसंगात् । ततो नामगतिवदाहारादिसंक्षा तद्धेतुश्च स्पृति-सामान्यं घारणासामान्यं च तिभित्तमवायसामान्यमीहासामान्यमवप्रहसामान्यं च सर्वप्राणि-सामारणमनाविभवाभ्याससंभूतमभ्युपगंतस्यं, न पुनः श्वयोपश्वमनिमित्तम् भावमनः तस्य प्रतिविधनामाणिविषयत्मानुभूयमानत्वात् । अन्यथा सर्वत्र भावमनसो व्यवस्थापयितुमञ्जतः।

्र कोई आदारहा है कि मनुसहिद जीवोंमें सामान्यकपुरो त्यासमाहसमाहसदान भाष जैनोंने । स्वीकार किया है। है। इस सामान्य समरणाने विद्योग समरमानी अिन मनसहित निर्वित हों काणी। की अस्मार्य कहते हैं कि यह तम नहीं कह सकते हो, नरोंकि उस खमान्यस्मरामका उस क्रिक्स खाके। साम अविनामान नहीं है। देखे, जिस मनुष्यके अनुमन किये हुने अदर्शन सामान्यकारे काराह है। उम् मनुष्मके इस अनुभूत पदार्थका स्मरणविशेष भी होत्र, ऐसा नियमसे नहीं देखा परमाण है। है। अनुसुद्धा निकेषरूपुरे, संकेत्, प्रदण करना हिनः प्रनः प्रयोगोन्तकः हुनः िनिरोशस्पासे, अधस्य क्रिकता हि इनके अभावका प्रसंग हो जायगा । स्थूलबुद्धिकाले विचार्थियोंको भीत्वासानारुगते प्रत्यका समग्र विकार रहता है। किन्तु जुन उन प्रकर्णोका विशेषत्या स्मरणा नहीं होनेसे नेएपरिकामें किउत्तीर्ध तिस्परिकामें पाते हैं। तभी तो उनको उत्कट अस्यास, इंड प्रामुई क्लिक्तों। भामस्यक्ता स्यमकी जाती और दूसरी बात यह है कि स्परणुसामान्यका कैसे न केसे हि केवल कियोगसम्मरण्के स्वयः अनिनाश्रावः मात भी किया जाय तो भी स्मारणसामान्यका शिक्षा, किया, आळापके प्रहणके तिकित हो हेटे अमस्याः विहोषसे अविनाभाव तो कथुमुपि सिद्धानहीं होगा । अन्यथा सभी कीटा प्रतंग नावतस्यकि नवावत्य प्राणियोंके उन् शिक्षा किया आदिके प्रहण कानेमें निमित्र हो रहे स्मरणियोषका प्रसंग हो नामका। किन्तु कीट आदिकाँके शिक्षा, क्रिया, या समरणविशेषका मानना किसी भी वादीकी अमीषःनाही है औ प्रत्यक्षबाधित या अनुमानबाधित प्रोले सिद्धान्तको, मुख्यः क्रीनः विनारचन्नतः प्ररुषः स्वीकारं क्रास्त्रीकारः तिस कारण सिद्ध होता है कि किसीका देवदत्त, जिनदत्त आदि संज्ञपूर्वक नामनिरंश कर्छने असना संबानकप बानसामान्यको यहि संबा माना जायमा हो सभी प्राणियों सामानकप्रमना अपस हो जासका कर इस् विशेषणसे किसी विशेष जीवकी व्याद्वात्ते नहीं हो संकेगी, केळा, सामाः शीषम, हाप्यारं, स्वाधाः ज्याल, जल, व्यंजनपवन, गेंडुआ, जींटी, मक्सी, क्यादि सभी जीवोंका कदि। संबंधवाँद्वरा क्रिकेनीया नाम कथन किया जाता है। इक्ष, जीदी, आदि जीवीके बात भी प्रथायोग्य प्राप्ता जाता है विश्वासार आदि संबायें तो सभी संबी, असंबी, जीनोंके विस्तान हैं।कारिपयानिर्प्रत्योंके प्रदिक्ति हमी जो। सम्बे कोई बोझ नहीं घट एकता है। उन आहार, अस् आदि संज्ञाओं के देत हो सहे स्मृत्मा जामाला भी सब जीवोंके पाये जाते हैं। आरमाझातके विना स्मृति नहीं हो प्राती है। सामाना समिनाव हणा की स्मरणका कारण सब जीवोंकें दृष्ट किया जाता है। उस संस्कारतका प्रसम्मर जानका जिस्ति। अवाय-बार सामान्य और उसका भी कारण हैंडा सामान्य तथा हैंडाका भी। कारण अकारसामान नये सार्थी प्राणियों में साधारण काम विद्यमान हैं। अनादि काल की जन्मसम्पत्तमें को अन्यासके अन्यासके अन्यासके अन्यासके अन्यासके अकाह आदि सामान्य स्वीकार कर लेने नाहिये। साबार्थ नामजिर्देश और सामान्य मित्रवास के समझ वासकी भयः आदि सेवा और जनकी कारणपारपारमें पने इसे समामा असमा। ईवा भनामा असमा के सामी संबी, असंबी, जीवोंमें सामाया होताहे, मानले चाहिये कि किन्त प्रिक्ति होती प्रशासी प्रशासी किन्त पानतः इत्याः सम्बातः तो सभी जीवोंकाः साधारणाः क्यान नहीः है। तेतानुष्ट समानाः तो जानेक कालिए

तिमत है। श्री क्रिपरिशाक मिर्नितिहरा ब्राफियों वर्ता एकं है। अर्थितिहरा प्राफियों के वर्ता है। विकास क्रिप्ति । होने अर्थित स्मिनिति स्मिनिति है। विकास क्रिप्ति । होने अर्थिति स्मिनिति स्मिनिति । होने अर्थिति स्मिनिति स्मिनिति । होने अर्थिति स्मिनिति स्मिनिति । होने अर्थिति स्मिनिति । होने अर्थिति स्मिनिति स्मिनिति । होने अर्थिति स्मिनिति स्मिनिति । होने अर्थिति स्मिनिति । होने सिति । होने सिति

नागर विशेष हो रहे भ्रायापूरी करके युक्त हो रहा जीव किन्ही राजीन पुरुषों करके शिक्षा, क्रिया, जालप के महर्प सेना विशेष हेत्स अनुमनि होरा भावमन तो जान लिया ही जाता है । वह विध-मान ही नहीं भीतमन ( यहा ) दूर्वर मनी क्षा है ( साच्य ) स्व और अवीमा उपक्रिक मस्ती आत्माका कारण होनेसे ( हेतु ) भावस्पर्शन इन्द्रिय आदिके समावार (भानमपद्धानेकः) । इमः ह्याहादि-स्रोंकः यहाँ है। क्रमणमें होनें प्रमाणके मन अभीए हैं अबे कि संबंध जीवोंके पार्ध लावे हैं। मर्थात-प्रोबंदियः क्रिकोंके क्रिके एक्सिया क्रिकेस स्वाप्त स्वाप्त स्वाप्त सिन्द्र होता । तस्या साम्प्रदेश और पीद्रकिक .पिंक्स्बाहरप । व्याप्त स्पर्वकाः इनिस्सः भी है।। उसी प्रकारः मनवाले। जीतोतः असीग्रज्याः असेङ्गातवां भाग्ना प्रवास अवस्थादेशो (६ अम्मनकानिश्वतिः) और मनोर्वाणासे सनाया सादा होदा अप्रेडिक प्रिण्ड स्वस्त्रप्र क्रभामा हिं बाह्यनिर्वेकि । होया मानसः मतिहानार्वस्य एवं विदेशः शतकात्रकारमः वर्मके क्षयोपस्यस्रे हर्ड शिक्षकि हो के निर्देश अनुभव था जिलाएक प्राप्तिया भावमन है जिलामात है । कारी है में सिंग्सिशिविक्रेपादते स्वीपनामिक्षिपणे युत्ती जीव एवं मार्वमनः केविद्युपाई शक्यते। र्वेशमिषादेश कार्यविशेषाञ्चमिती कियमें एवति विशे तस्यापि सेशाविशेषस्पत्वात् । उत्रापीश स्मिका है अज्ञा सिलादिकि बाप्रहणलर्सणैय, मिथा पुनः पाठप्रहणलक्षणालायब्रहरूपैयति । तती अविमेंत्रः विविधिक विक्र किए प्रविधिक प्रविधिक कि विविधिक विक्रिक कि विविधिक कि विधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विधिक कि विविधिक कि विविधिक कि विधिक कि विविधिक कि विधिक करणिया भोवनिरंजत्वार्त् स्वरीनादिमावकरणवम् होते के की है तेरक हेगानाः । है है के विम

" क्षयोपशम विशेष करके युक्त हो रहा जीव ही भावमन है " यह किन्हीं विद्वानों करके संज्ञा विशेषके विना अनुमान करनेके छिये शक्य नहीं है। भावार्य—कर्मोका विशेषक्षयोपशम अती-द्विय है। शिक्षा, किया, आदि संज्ञा विशेषोंसे ही क्षयोपशम और तद्विशिष्ट जीवका अनुमान किया जा सकता है। यदि कोई यों कहे कि क्षयोपशमसे जन्य कार्यविशेषों द्वारा अनुमान किये जा जुके प्रज्ञा, मेघा, प्रतिमा, मनीषा, आदि हेतुओंसे भावमनका अनुमान किया जा सकता है। संज्ञा विशेषका आवश्यकता नहीं है, आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि उन प्रज्ञा या धारणाश्चालिनी अदि मेघा, अथवा नवीन नवीन उन्मेषवाली प्रतिमा आदिको भी विशेषसंज्ञा स्वरूपपना है। देखिये तर्क, वितर्कणा, स्वरूप प्रज्ञा मला शिक्षा आदि कियाको प्रहृण करना स्वरूप ही है। फिर मेघा तो पाढका ग्रहण करना स्वरूप या आलापका प्रहृण करना स्वरूप ही है। इस कारण ये विशेष संज्ञा ही हैं। तिस कारण स्व और अर्थकी उपलब्धि हो जानेसे सिद्ध हो जुका भाषमन पुनः पौद्रलिक द्रव्यमनका आकर्षण करा लेता है। उसी बातको अनुमानद्वारा स्पष्ट कर दिखलाते हैं कि स्वार्योकी उपलब्धि करनेमें भावमन (पक्ष) द्रव्यकरणकी अपेक्षा रखता है (साध्य)। भावस्वरूपकरण होनेसे (हेतु) स्पर्शन आदि भावकरणों (इन्द्रियां) के समान (अन्वयदस्थान्त)।

मनसं अनिद्रयत्वात्करणत्वमसिद्धमिति चेक्, अन्तःकरणत्वेन असिद्धः । अनिद्रियत्वं तु पुनस्तस्यानियतविषयत्वादिद्रियवैधर्म्यात् नाकरणत्वात्, स्वार्थोपछन्धौ साधकतमत्वेन करण-त्वोपपत्तेः । न चैवं सूत्रविरोधः, पंचेन्द्रियाणि द्विविधानि द्रव्यभावविकल्पादित्यत्रानिद्रियस्यापि द्विविधस्य सामर्थ्यसिद्धत्वात् । शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्रलानामित्यत्र सूत्रे पौद्रविकस्य द्रव्यमनसः सूत्रकारेण स्वयमभिधानात् ।

कोई कहता है कि मन तो इन्द्रिय नहीं है । अतःकरणपना हेतु पक्षमें नहीं वर्त्तनेसे असिंह हेत्वामास है । आचार्य कहते हैं यह तो न कहना । क्योंकि अन्तरंगके करणपने करके मनकी प्रसिद्धि हो हो है । हां, फिर अनिन्द्रियपना तो उस्तरमनका नियत विषय नहीं होनेके कारण इन्द्रियोंके विधर्मपनसे है, करणरहितपनेसे नहीं । अर्थात्—इन्द्रियां करण हैं और मन इन्द्रियोंसे भिन्न अनिन्द्रिय है । अतःकरण नहीं होगा, यह नहीं समझ बैठना । देखो, बात यह है कि स्पर्शनादि पांचों बहिरंग इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, आदिक नियत हैं और मनका कोई विषय विशेषक्तपसे नियत नहीं किया गया है । प्रायः सम्पूर्ण विषयोंमें मनकी प्रवृत्ति सबने मानी है । अतः इन्द्रियोंके धर्म नियत विषयत्वसे वैधर्म रखनेवाछे अनियत विषयत्व हो जानेसे मनमें अनिन्द्रियपना है । अन्य इन्द्रियोंके समान मनमें भी स्वार्थोंकी उपलब्धिमें प्रकृष्ट उपकारक होनेसे करणपना समुचित बन रहा है । यदि कोई यों कहें कि यों मनको भी करणपना माननेपर सूत्रसे विरोध हो जायगा। सूत्रमें पांच इन्द्रियां ही करणा मानी गयी है । आचार्य कहते हैं कि यों कोई सूत्रसे विरोध नहीं आता है । क्योंकि " पंचित्रपाणि,

कितिभानि " ये दो सूत्र हैं। पांच इतिस्यां हैं वे द्रव्य और भाव भेदसे प्रस्केत दो अकारवाओं हैं इस प्रकार यहां दो अकारवे मनकी भी विना कहे ही सामर्थित सिद्धि हो जाती है। " तदिन्द्रियानिन्द्रिय-लिमित्तम् " इस सूत्रमें इन्द्रियोंके साथ अनिन्द्रिय भी प्रधानरूपसे कहा गया है तथा पांचमें अध्यायके " शरीरवाक्यन:प्राणापाना: पुद्रलानाम् " इस सूत्रमें सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने पुद्रल निर्मित क्रव्यमनका स्वयं व एठोक्त निरूपण किया है।

तस्मादिद्रियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्योपीत्यककंकैरिप द्विविषेद्वियसामान्यवात्तपत्वेन द्विविषस्य मनसोमीष्ठत्वात् । द्रव्यमनःभतिषेषिवचनामावाच तत्मतिषेषे ममाणामाचाद्युक्त्या-गर्माविरोधाच । तत्राहोपुरुषिकामात्रं केषांचिद्विमावितसिद्धांतत्वमाविर्भावयति ।

तिस ही कारणसे सम्माननीय श्री अकलंक महाराजने भी यों कहकर कि इन्द्रिय और सन दोनों ही विज्ञानके कारण हैं, किंतु विषय हो रहा अर्थ भी विज्ञानका कारण नहीं है। इस कथन दारा दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके प्रतिपादक सामान्य वाक्य होनेसे इन्यमन और भावमन दोनों प्रकारके मनको अभीष्ठ किया है। तथा इन्यमनका प्रतिषेध करनेवाले बचनका अभाव है, उस इन्यमनका निषेध करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। युक्ति और आगमसे भी विरोध आता है। फिर भी वहां इन्यमनका निषेध करनेमें आश्चर्य दिखलाते हुये नम्न, निर्लज, पुरुषकीसी केवल चेष्टायें करना तो किन्ही चार्वाक सहशवादियोंके सिद्धांतविषयक विचाररहितपनको प्रकट करा रहा है। अर्थात् इन्यमनका निषेध करनेवाले चार्वाक विचार सिद्धान्तरहस्यका परामर्श नहीं कर सकते हैं। यहांतक प्रन्यकारने भावमनके साथ इन्यमनको भी सिद्ध कर दिया है। मैं ही पुरुष हूं यों अभिमानजन्य अपनेमें उस्कर्ष सम्भावना (बहादुर) तो आहोपुरुषिका है।

### कियाह-द्रव्यमन एव भावमनोस्ति तचात्मपुद्गलक्यतिरिक्तं द्रव्यांतरमिति तद्प्यपसार्यति ।

कोई वैशेषिक या नैयायिक यों कह रहा है कि द्रव्यमन ही भावमन है और वह द्रव्यमन तो आत्मा और पुद्रल दोनों द्रव्योंसे अतिरिक्त हो रहा न्यारा नीवां द्रव्य है। " पृथिव्यापस्ते जीवायुराकाशं काली दिगात्मा मन इति द्रव्याणि " यों कणादमुनिप्रणीत सूत्र है। इस प्रकार उस वैशेषिकसिद्धान्तका भी निराकरण श्री विधानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिक द्वारा करते हैं।

### आत्मपुद्गलपर्यायन्यतिरिक्तं मनो न तु । द्रन्यमस्ति परैरुक्तं प्रमाणामावतस्त्रया ॥ ५ ॥

अन्तरंग निर्दत्ति और रुचि, उपयोग, रूप मन तो आत्मद्रव्यस्वरूप है तथा बहिरंगनिर्दत्ति और अष्टदरुकमरुरूप, उपकरण स्वरूप मन तो पुद्रककी पर्याय है। आस्मा पर्याय और पुरुक

मिर्वे के क्वालरक है। रही फोई फेन मार्क्स नीमा देनों मही है, हो। कि खूरों बिद्रांत क्रिमिकी ्यारि पहि ची। वियोक्ति सिंस प्रकार पिनकी स्पत्तत्र नीमा प्रक्य मार्गमें साधक प्रकारोंका जिसाब है। निमाणक निमान । तथा निमान । तत्र अकार भगका स्वतंत्र गामा प्रवास गामा प्राप्त अकार भगका स्वतंत्र गामा प्रवास गामा प्रवास अकार भाका स्वतंत्र गामा प्रवास प्रवास । सत्याप द्रव्यमनस्य तद्भाव स्वतं । सत्याप द्रव्यमनस्य तद्भाव । सत्याप स्वतं प्रवास । स्वयाप स्वतं । स्वयाप स्वय निक्रमान्स्य सिंगामति चुन, तती मनीमत्रिस्य प्रतिपत्तिस्तद्द्रव्यतिरत्वासिद्धः । पृथिव्या-दिद्वन्यतिम्पात्पार्श्वरात् तस्य द्वयात्ररत्वासाद्भारति चैनतत् विविधासिदः भे तथाहि स्पर्भवृद्द्रव्यं मनी असवगति व्यत्वति पवनवदिति पुद्रिल्द्रव्यत्वसिद्धः । द्वतः परित्रेपनिस्य द्रध्यी-त्रिरत्वीसमेथीषेष्यते के तस्याग्रतः पौद्राक्षिकस्वामत्यके प्रसंगात् काला विकास <sup>1512 कर क्</sup>चूकि भाव मन ती जात्माकी पंथीय है। क्वीकि वह भावमन तो छिन्न और उपयोग सक्ति हिंग हरपरि आठ प्रतिपाले के मलके प्रमान प्रत्यमनी होते सि भी उसे भावमनेका अभीव हो जिनियर क्वियोकी ब्रीत प्रकट पहीं हो पोती हैं। अतः उस मित्रमुमधी युक्तिप्रमणित प्रसिद्धि हो अति हैं। ही, व्हिसरी देंध्यम्न ती (पेक्ष ) पुरुकती प्रयोध है (प्राच्य ) न्यीकि उस मावमनका उपकीर करमेंबीली करिण हैं ('हेतु') जैसे 'कि स्परीने आदिक इध्येदियां उपकारक करण होनेसे पुद्रेष्ट्रकी प्याय हैं। ि अन्यवेद्देशन्त भे हां, दूसरे वैशेषिको करके उन आत्मपर्याय और पुद्रक्रपर्योवसे विद्यातिरिक्त सा दूसरे द्भिष्यकी मन्ति स्थिति जी सेकता है िंउनके पास मनकी न्यारी ब्रेंक्य सीवनेवाल प्रमाणकी अभाव है। विवाद वेशीविभीके सिद्धार्थी अनुसीर बहु प्रमाण प्रस्तुत करी कि '' ज्ञोनीयीगपचरिक मने!' कि आसी-न्द्रियार्थसनिकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो छिंगम् <sup>१</sup> (विशेषित्रदर्शिमम् १) प्रयंत्मीयीगयेखाजुङ्गानी-मापक विद्या है। अपस्पित क्लोड़ी या पापड़ खनेपर भी पांचों ज्ञान कमसे ही होते हैं। आचार्य मार्थिक विद्या के ति विद्या कि न कहना । उससे तो केवल मनकी विश्वासपूर्वक ज्ञासि हो जाती है। उस मनको स्वतंत्र त्याप इत्यपना सिद्ध जहीं हो पाता है। वैदेशिक कहते हैं कि मनको प्रतिपत्ति हो जानेमर पुनः पृथिवी, बल, आदि आठ इत्यपनका तिषेष हो जानेस परिशेष त्यायहारा उस मनको सिन्न स्वतंत्र द्वयपना सिद्ध ही हो जावेगा। अर्थात् स्पर्शनवाले पृथिवी, जल, तेज, वायु, इन चार द्रव्योंका परिणाम तो मन हो नहीं सिकति हैं। स्थापि एका कि कि कि कि कि कि कि कि हो रहे संयोगके आश्रय ( इंदेश ) जार सर्ववान दूस तो नहीं हैं (विधेय ) तथा सूब, दु:खके साक्षात्कारमें आकाश भी करण नहीं हो सकता है । मनपदार्थ छोटा फूर काल, दिशा, आज्ञा-विकेषों भी महा है। अत! वृथिया, जिल, सेज, वार्य, आकारा, कार्ड, दिशी, आमी, ईन आठ द्रव्योका क्रिक हैं। जामेर ममसो न्यार नीमा प्रक्रियम सिंह हो जाता है। आसार्थ कहरे हैं कि वह ती क

कार कियोंके महाके प्रकार प्रकार कार्य कार

ाण्यकार्थां क्रिक्टान्य क्रिक

कार्मी मान कराना, एक साथ ज्ञान न होने देना, आदि प्रयोजनोंको तुममें करानेवाली नहीं है। है निमास मगवन् ! तुम इस सम्पूर्ण जगत्को हथेलीपर रक्खे हुये आमलेके समान सदा कभीके जान चुकी थे। जसहाय केवलज्ञानका प्रकाश हो जानेपर फिर वोई भी द्रव्येन्द्रिय अपने कार्य भावेन्द्रियका सम्पद्धना नहीं कर पाता है। तिस कारण विज्ञानविशेषसे ही भावमनको साधना चाहिये। ही भावमनको साधना चाहिये। ही भावमनको सिद्ध हो जानेसे द्रव्यमनकी सिद्धि हो जाती है यह निर्दोष व्यवस्था करना है। जिन जिनको भावमक पाया जाता है उनके द्रव्यमन अवस्थ होगा। किन्तु जिनको द्रव्यमन है उनके भावमक होय, नहीं भी होय, इस प्रकार भावमन और द्रव्यमनमें कार्यकारणभावगर्भित व्याप्य-

येषां तु माणिनां श्विभाक्तियालापग्रहणविज्ञानविश्वेषाभावः शश्वत्तद्भवे निश्चितस्तेषां संज्ञित्वामानाक भावमनोस्ति तदभावाक द्रव्यमनोऽनुमीयत इत्यमनस्कास्ते ततो युक्तं संज्ञि-त्वासंज्ञित्वाभ्यां समनस्कामनस्कावं व्यवस्थापवितुम् ।

हां, जिस प्राणियोंके तो उस भवमें सर्गदा शिक्षा, किया, आलाप, प्रहण करनेवाले विद्यान विशिषोंका अमाव निष्यत हो रहा है, उन मक्खी, चीटी, कोई कोई पश्च, पक्षी भी आदि जींबोंके संवीपनका अमाव हो जानेसे भावमन नहीं है और उस भावमनका अभाव हो जानेसे द्रव्यमनके सद्भावका भी अनुमान नहीं किया जा सकता है। कार्यस कारणका अनुमान हो सकता था। अर्थात भावमन इतना परोक्ष नहीं जितना द्रव्यमन परोक्ष है। हमको अपने भावमनका प्रत्यक्ष भी हो जाता है। दूसरेके भावमनका अनुमान सुलभतासे हो जाता है। अतः भावमनके अभावसे द्रव्यमनका अभाव (व्यापक ) से व्याप्यका अभाव (व्यापक ) अनुमित हो जाता है। बेसे कि वन्ह्यभावसे धूमाभावका अनुमान कर लिया जाता है। व्यापक वस्तुका अभाव व्याप्य यानी अल्पदेशहत्ती हो जाता है और व्याप्य पदार्थका अभाव व्यापक यानी बहुदेशहती हो जाता है और व्याप्य पदार्थका अभाव व्यापक यानी बहुदेशहती हो जाता है। यो इस हेतुसे वे असंबी जीव अमनस्क जाने जाते हैं। तिस कारण संबीपन और असंबी- पनसे जीवोंका समनस्कपना और अपनस्कपना व्यवस्था करानेके लिये युक्तिपूर्ण है।

# इति सूत्रत्रयेणाक्षमनसां स्वामिनिश्रयः । संज्ञासंज्ञिविभागश्र सामर्थ्योद्विहितोजसा ॥ ६ ॥

इसः प्रकार तीन सूत्रों करके इन्द्रिय और मनके स्वामी हो रहे जीवोंका निश्चिय कर दिया। गया है। तथा संज्ञी जीवोंका विभाग करते हुये परिशेष न्यायकी सामर्थ्यसे असंज्ञी जीवोंका विभाग भी शिद्धिक कर दिया गया। समझ लेना चाहिये। अर्थात्—'' वनस्पत्यंतानामेकम्'' कृमिपिपी किकान्त्रकरमनुष्यादीनामेकैकमृद्धानि '' इन दोनों सूत्रोंसे पांचों या छऊ इन्द्रियोंके अविकारी या सामी।

हो हो जीवोंका वर्णन किया है तथा तीसरे " तीवनः समनस्ताः " इस स्त्रसे संज्ञी, असंज्ञी, जीवोंका प्रथम्भाव श्री उमास्त्रामी महाराजने कह दिया है। एक एक स्त्रमें अपरिमित्त बान्यार्थ भए पढ़ा है।

यथा स्पर्शनस्य बनस्यत्यंताः स्वामिनः, क्रम्यादयः तस्य रसनदृद्धस्य, पिपीलिकादय-स्तयोशीणदृद्धयोः, भ्रमगद्धयस्तेषां चश्चर्द्धानां, मनुष्यादयस्तेषायपि श्रोत्रदृद्धानां तथा संज्ञिनी मनस इति मतिपत्तव्यं । ये तु मनसोऽस्वामिनः संसारिणस्ते च संज्ञिनः इति संद्रथसंज्ञि-विभागश्च परमार्थतो विद्यतः ।

तिस प्रकारकी पहिली स्पर्शन इन्द्रियंक पृथिवीक्षे प्रारम्भ कर वनस्पतिपर्यंत जीव स्वामी हैं, और रसना इन्द्रियंसे चृद्धिको प्राप्त हो रही उस स्पर्शन इन्द्रियंके स्वामी लट, जींक आदिक जीव हैं। तथा प्राण इन्द्रियंसे बढ रहीं उन स्पर्शन और रसना यों दो मिलकर तीन इन्द्रियोंके स्वामी नीटी, खटमल, आदिक जीव हैं एवं चौथी चक्षु:इन्द्रियंसे बढ चुकी होकर उन स्पर्शन, रसना, प्राण, इन्द्रियोंके स्वामी भीरा, मक्खी, पतंगा, आदि प्राणी हैं, तथेव पांचवी श्रोत्र इन्द्रियंसे अधिक हो रही उन स्पर्शन, रसना, प्राण, और चक्किक स्वामी तो मनुष्य, घोडा, हाथी, आदि जीव हैं। तिस प्रकार ही संज्ञी जीव उन पांचोंके और मनके स्वामी हैं, यो समझ लेना चाहिये। यहां यथाके साथ तथाका अन्वय कर पंक्तिका अर्थ लगा देना। और जो जीव मनके स्वामी नहीं हैं वे संसारी जीव तो संज्ञी नहीं हैं। इस प्रकार वास्तिवक रूपसे संज्ञी और असंज्ञी जीवोंके विभागका विधान इस सूत्रहारा किया जा चुका है। के बल्जानी जीवोंमें संज्ञीपन, असंज्ञीपनका मेद नहीं है। वे दोनों अवस्थाओंसे रहित हैं।

तदेवमान्हिकार्थग्रुपसंहरकाह ।

तिस कारण इस प्रकार प्रकरणोंके समुदायम्त आन्हिकके अर्थका उपसंहार (संकोच ) कर रहे श्री विद्यानन्द महाराज अप्रिम वार्तिकको वंशस्य छंदद्वारा स्पष्ट कहते हैं।

### इति स्वतत्त्वादिविशेषरूपतो निवेदितं तु व्यवहारतो नयात्। तदेव सामान्यमवांतरोदितात्त्वसंश्रहात्तद्दितयश्रमाणतः॥७॥

वितीस अध्यायके आदिमें इस उक्त प्रकार जीवके निजतत्त्व, लक्षण भेद, इन्द्रिय, आदिका सामान्य रूपसे कथन कर पुन: व्यवहार नय करके विशेष रूपसे उन स्वतत्त्व आदिका इन प्रकरणोंमें स्वक्रकार श्री उमास्वामी महाराजद्वारा दार्शनिक और भव्यजीवोंके सन्मुख निवेदन किया जा चुका है। वह स्वमान्य निरूपण ही ब्याप्य विशेषको कहनेवाले स्वकीय, संप्रह, व्यवहार, व्यजहार, नमेंद्वारा विशेष रूपसे कह दिया जाता है तथा दोनों सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको विषय करनेवाले प्रमाणसे सब इह दिया गया समझ लेना चाहिये। नय और प्रमाणोंके विषय हो रहे धर्म, धर्मियों, करके जीवता श्रीकृति हो रहा है। प्रस्यक्ष परीक्षस्वरूप दोनों प्रमाणोंसे सम्पूर्ण विषय परिवात होजाते हैं।

म्याणनवैरिष्णम इत्युक्तं तत्र जीवस्य स्वतस्विग्धं सामान्यं संब्रहादवीतरीक्ताद्विगतं निवेदितं तद्भेदाः परीपश्चमिकादयो व्यवहारनयात् यज्ञीवस्य स्वतस्वं तदीपश्चमिकादिभेदक्षंपिति । पुनरप्यीपश्चमिकादिसामान्यं तत्संग्रहात् तद्भेदो व्यवहारात् । यदीपश्चमिकसमिनन्यं तद्भेदेतं, यत्नायिकसामान्यं तक्षवभेदः यन्मिश्रसामान्यं तद्दष्टादश्चमेदं, यदीदिर्यिकसामान्यं तद्भित्रवर्षते स्वत्ववर्षते सामान्यं तत्त्रिभेदं इति । पुनरपि सम्यक्त्वादिसीमान्यं तत्संग्रहात् तद्भेदो व्यवहारादिति संग्रहव्यवहारिकस्पणपरंपरा माम्यज्ञस्त्राद्वयां । सीमान्यविश्वषात्मकं तु स्वतस्वं सक्तलं प्रधानभावात् प्रमाणतोधियतं निवेदितं सूत्रकारेण । एवं जीवस्य स्वत्रां भेद इन्द्रियं मनस्तिद्वयः तत्स्यामी च सामान्यतः संग्रहाद्विश्वपते व्यवहारात् मधानभावापितकामान्यविश्वतः ममाणादिवगम्यते ।

प्रमाण और नयोंकरके जीवादि पदार्थोंका अधिगम होता है। यह पहिले अध्यापमें कहाँ जी चुका है। उन सात तत्त्वोंमेंसे जीवतत्त्वका निजतत्त्व तो यहां द्वितीय अध्यायके चेहिक सूत्रमें जी सामान्य कहा गया है, वह नयके अवान्तर व्याप्य भेदोंमें कहे गये संप्रह्मयसे जान किया गया कहा जा खुका है। हां, जीवके स्वतत्त्वके भेद हो रहे दूसरे औपशमिक, क्षायिक, जादि भाव तो व्यवस्थार नयसे यों गिनाये गये हैं कि जीवके जो स्वतत्त्व हैं वे औपशामिक, अप्रयेक, आदि मेदस्वकर्ष हैं। फिर भी उस औपशमिक आदि सामान्यको संप्रहनयसे जानकर उन औ<del>पश्चिमक आदिके भेटीका</del> अधिगम व्यवहारनयसे यों जान लिया कह दिया है कि जो औपरामिक सामान्य है, वह दी भेदवाला तत्त्व है, और जो क्षायिक सामान्य स्वतत्त्व है, वह नौ मेदों सो भार 🐯 है, तंत्रा जो जीवका निजतस्व मिश्र सामान्य है, वह अठारह भेदोंमें विभक्त है, एवं जो संग्रहनयसे सामान्य अनुसार एक ही औदियक निजतत्त्व है, वह व्यवहारनयसे इकईस भेदोमें बटा हुआ है। जो पारिपामिक . सामान्य भाव है, वह न्यनहारनयसे वह तीन भेदनान् है, इस प्रकार संग्रह और न्यवहारनयसे स्वतत्त्वके भेद प्रभेदोंका निरूपण आदिके सात सूत्रोंने किया गया है, फिर भी वहीं सम्यक्त आदि मामान्यकी जो संप्रहरी जाना गया है, उसके भेद व्यवहारसे जान किय जॉते हैं। ध्यवहारमयसे जाने चुकेके ऋजुस्त्रनयसे पुनः प्रभेद जान लिये जाते हैं । इस ढंगसे संग्रह और व्यवहारेद्वारा निरू-पंग करनेकी परम्परा सूक्ष्म ऋजुस्त्रनयसे पहिछतक समझ छेनी चाहिये। अर्थात् अवसक एक समयवत्तीं स्त्म एक ही पर्यायतक नहीं पहुंचे, तबतक पहिलेके भेद प्रमेदीको संग्रह जीर न्यवंशरी ही खतियाना चाहिये, जैसे कि प्रासादके दृढ माण्डागारमें बढ़ा सन्द्क है, वहां वड़ा सिओर्सि दिन्ना रक्खा है। दिन्नोमें दिविजा और दिविआमें वस्रवेष्टित हो रहे रत्नमूषण छुरक्षित है। उसी प्रकार पृष्टिक व्यवहारसे जाने गयेको संप्रहका विषय बनाकर पुनः उसके व्यक्ति व्यक्ति व्यक्ति जानी, फिर भी यदि विषयोंके परतींमें छीटे छोटे अनेक परत दीखें तो उस व्यवहारनंबके विषयों

> इति वालार्भ स्तोकसालिकालंकारे दितीयाध्यायस्य प्रथममान्दिकार् । वहांतक तत्वार्वस्को अकंकारस्त्रस्य तत्वार्थस्त्रोककार्तिक मन्यमे दितीय अध्यायका श्री विधानन्द स्वामी कृत पिष्टला आहिक समात हुआ । ॐ दी श्री द्वादमाक्यमभृतिकमनधं मन्त्रमुखारमन्तः । शुक्कध्यानग्रत्यकां यां मतिमवधिमनःपर्ययौ चावहेल्य । प्रमाणक्राक्यपूर्णामद्वायद्वययोभावयन्त्युत्रभक्त्या भाषाक्रीक्रत्वक्वायधिमतिकुम्नस्य साईती सारवी नः ॥ १ ॥

> > ---×\*\*×---

इसके अनन्तर जिहासा होती है कि संसारी जीवके मर जानेपर वाली भुज्यमान आयुःकर्मके भुगत चुकानेपर पूर्वजन्म सम्बन्धी शरीरके नष्ट होते सन्ते विचारक द्रव्यमनका भी विनाश हो चुका है, ऐसी इकामें असहाज आस्पाकी भविष्यमें जन्म ठेने योग्य क्षेत्रके प्रति अभिमुखपने करके प्रहारि भक्त कैसे होगी ! बताओ । ईखर, खुदा, यमदूत आदि तो जैनसिद्धान्त अनुसार क्षेत्रान्तरमें छे जाकर जन्म करा देनेवाछे माने नहीं गये हैं । उनके पक्षपाती पण्डितीन जैसे वे माने हैं वैसे ईखर आदि प्रणाण सिद्ध भी नहीं हैं । इस प्रकार स्मतारण जिहासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज इस अक्रिम स्वका अवतार करते हैं ।

विग्रहराती कर्मयोगः ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण क्षरिरोंके प्ररोहका बीजमूत वह ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मीका समुदायमूत कार्मण स्रिंस ही यहां कर्म कहा जाता है। मन वचन कायके उपयोगी वर्गणाओं मेंसे किसी भी एकका निर्मित्त पाकर हुआ आत्मप्रदेशोंका सकम्पना योग माना जाता है। उत्तरमव सम्बन्धी शरीरके प्रहण करने के छिये आकाश प्रदेश श्रीणयों चे जा रहे जीवके कार्मणयोग हो रहा गतिका सम्पादक है। जगतमें जड पदार्थ बहुत विस्मयजनक कार्योंको कर रहे हैं। चेतनको अनेक वर्षोतक उनकी शिष्यता प्राप्त करमा मान् आवश्यक हो जाता है। वेज्ञानिक विद्वानोंद्वारा जडके चमत्कारक कार्यदृष्टि गोचर करा दिये जाते हैं। चेतन तो मूर्व सरीखा उनके रम्भुख देखता ही रह जाता है। चेतनके भूक, प्यास, शीत, उष्णता, बाधा, रोग आदिको जड ही मेटता है जीवित शरीरमें भी चेतम जीव पोंगा सरीखा खडा रहता है, जिस समय कि शारीरिक प्रकृति अनेक आध्यर्कारक कार्योंका सम्पादन कर रही है अतः जीवकी करिके छिये गतिमें अथवा पुद्रछके आधानके निरोधके साथ हो रही गतिमें कर्मयोग प्रेरक निमित्त हो रहा है।

विग्रहो देहः गतिर्गमनिकया विग्रहाय गितः विग्रहगितः अश्वधासादिवदत्र वृत्तिः कर्म कार्मणं क्षरीरं कर्मेव योगः । कार्मणक्षरीरालंबनात्मपदेक्षपिरस्यंदरूपा कियेत्यर्थः । विग्रहगती-कर्मयोगोस्तीति प्रतिपत्तव्यं, तेन पूर्वे क्षरीरं परित्यज्योत्तरक्षरीराभिग्नुखं गच्छतो जीवास्यांत-राक्षे कर्मादानसिद्धिः ।

विप्रह शब्दके अर्थ देह, राजनीति सम्बन्धी छह गुणोंमें एक गुण, युद्ध, विस्तार, ये कई हैं। किन्तु यहां सूत्रमें पड़े हुये विप्रह शब्दका अर्थ देह पकड़ना चाहिये। तिप्रहक्ते एयम, मुक्ति, इति, प्राप्ति, अर्थोमेंसे यहां गमन करना स्वरूप किया अर्थ छेना चाहिये। विप्रहक्ते छिये जो गति होती है वह विप्रहगति होती है। यहां कोई प्रश्न करे कि "रथाय दारुः रथदारुः कटकाय सुवर्ण कटकसुवर्ण" रथके छिये काठ है, कड़ेके छिये सोना है, इस प्रकार "प्रकृतिविकृतिभाव" सम्बन्ध होनेपर उसके छिये इस अर्थमें चतुर्थी तत्पुरुष समासवृत्ति हो सकती है। किन्तु यहां तो शरीरको बनानेके छिये गति कोई प्रकृति नहीं है। अतः समास होना कठिन है। इसके छिये प्रथमसे ही आचार्य कह देते हैं कि विप्रहगती यहां "अश्वचास, छात्राक, इत्यादिके समान समासवृत्ति कर छेनी चाहिये, धोड़ेके छिये पास है, विद्यार्थीक छिये अन रखा है, यहां प्रकृति विकृति माव नहीं होते हुये भी तद्र्थपनेको कह रही चतुर्थी समासवृत्ति हो जाती है। तथा कर्मका अर्थ आत्मामें प्रवाह रूपसे उपचित हो रहा कार्मण शरीर है। कर्मस्वरूप ही जो योग है वह कर्मयोग है। यानी कार्मण शरीरका अवज्य छेकर हुयी आत्मप्रदेश कम्पन स्वरूप किया इस कर्मयोगका अर्थ है, विप्रहक्षे छिये गतिमें कर्मका योग है यह समझ छेना चाहिये। तिस कारण पूर्वशरीरको छोडकर उत्तरमब सम्बन्धी शरीरके अभिमुख गमन कर रहे जीवके मध्यवर्ती अन्तरालमें कर्मीके प्रहण करनेकी सिद्धि हो जाती है। कार्मणकाय योगहारा उस समय भी कार्मण वर्गणाओं का आकर्षण होकर जीवके ज्ञानावरणादि कर्म बनते रहते हैं।

### कुतः पुनर्विग्रहगती जीवस्य कर्मयोगोस्तीति निश्रीयत इत्याह ।

फिर यह बताओ कि विग्रहगतिमें जीवके कर्मयोग विद्यमान है, यह किस प्रमाणसे निश्चित किया जाता है ! इस प्रकार प्रश्नस्वरूप बाणके छूटनेपर बालबालकी रक्षा करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामी वश्रकवचरूप समाधान वचनको कहते हैं।

## गतौ तु वित्रहार्थायां कर्मयोगो मतोन्यथा । तेन संबंधवेधुर्याद्व्योमविश्ववितात्मवत् ॥ १ ॥

विग्रह के उपार्जन अर्थ हो रही गतिमें तो कर्मयोग प्रेरक कारण माना गया है, अन्यथा यानी कर्मयोग नहीं माननेपर उस समय उन कर्मीक सम्बन्धसे रीते रह जानेके कारण यह जीव आकाशके समान सर्वथा कर्मशून्य हो जायगा अथवा कर्मशुक्त हो रहा जीव मुक्तजीवोंके समान बन बैठेगा । ऐसी दशामें तो मर जानेपर सभी जीवोंको कर्मरिक्त हो जानेसे मुक्तिछाम प्राप्त हो जायगा । संसारपरिवर्तन नहीं हो सकेगा, जोकि किसी भी आस्तिक यहां अभीष्ट नहीं किया गया है।

## येषां विग्रहनिमित्तायां गतौ जीवस्य कर्मयोगो नाभिमतस्तेषां तदा पश्चाद्वा नात्मा पूर्वकर्म-संबंधवान्कर्मयोगरहितत्वादाकाशवन्मुक्तात्मवञ्च विपर्ययप्रसंगी वा ।

जिन प्रतिवादियोंके यहां शरीरके निमित्त हो रही जीवकी गतिमें कर्मयोगको कारण नहीं माना गया है उनके यहां उस समय अथवा पीछे भी आला ( पक्ष ) पूर्व कर्मोंके सम्बन्धवाळा नहीं सम्भवता है ( साध्य ) कर्मयोगसे रहित होनेके कारण ( हेतु ) आकाशके समान और मुक्त आत्माके समान ( दो अन्वयदृष्टान्त ) पहिळा दृष्टान्त तो सर्वथा कर्मोंके अव्यन्ताभावको साध रहा है और दूसरा दृष्टान्त कर्मोंके सद्भावपूर्वक रिक्तता ( ध्वंस ) को पृष्ट करता है । अथवा दूसरी बात यह भी है कि विपर्यय हो जाने का भी प्रसंग होगा । अर्थात् मरते समय कर्मोंसे सर्वथा रीता हो गया आला पुनः जन्मान्तरोंके फळोपयोगी कर्मोंका नवीन ढंगसे यदि उपार्जन कर लेता है तो कर्मोंके भूत, वर्तमान, भविष्य, त्रिकाळ, संसर्गाविष्ठित्र अव्यन्ताभावको धार रहा आकाश अथवा कर्मोंके वर्तमान, भविष्य, काळद्वय संसर्गाविष्ठित धंसको धार रहा मुक्त आला भी पुनः कर्म लिस हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है।

आत्मनः परममहत्त्वात् गतिमत्त्वाभावाद्विग्रहगतिरसिद्धाः । तयोत्तरश्वरीरयोगः एव पूर्वश्वरीरवियागः इत्येककालत्वात्तयोर्नान्तरालमदृष्टयोगरहितं यतो पूर्वकर्मसंबंधभागात्मा न स्यादिति कश्चित् । तं मत्याह ।

यहां कोई बैरोपिक कह रहा है कि विभु द्रव्योमें पाये जानेवाले परम महत्त्व परिमाणका धारी होनेसे आत्माके गतिमान्पनेका अभाव है। अतः विग्रहके लिये गति करना जीवके असिद्ध है तथा एक बात यह भी है कि उत्तर शरीरके साथ सम्बन्ध हो जाना ही तो पूर्वशरीरका वियोग है। इस प्रकार पूर्वभवकी मृत्यु और उत्तर भवके जन्मका एककाल होनेसे उन दोनोंका अन्तराल तो पूर्ववर्ती अरहके योगसे रहित नहीं है । जिससे कि आतम पूर्वकर्षके सम्बन्धको धारनेकाळा न हो सके । अर्थाः उत्तर अर्थाको महण करनेके छिये गमनकी कोई आवश्यकता नहीं है । पहिलेके योग और कर्मकृष्य सब्बन्धिको बेसे ही बने रह सकते हैं । फिर हमारे ऊपर आकाश या मुक्तात्माको समान कर्मरहितपनेका मसंग अथवा विपर्यय हो जानेका प्रसंग व्यर्थमें क्यों उठाया जाता है ? यहांतक क्रोई कटाक्ष कर रहा है । उस वैशेषिकके प्रति श्री विधानन्द आचार्य वार्तिको हास समाधान कहते हैं ।

## गतिमत्त्वं पुनस्तस्य कियाहेतुगुणत्वतः । लोष्टवदेतुभर्मोस्ति तत्र कायकियेक्षणात् ॥ २ ॥

उस जीवको गतिसहितपना तो क्रियाके हेतु, गुण, से युक्त होनेके कारण सिद्ध हो जाता है, जैसे कि फेंके जा रहे ढेलमें क्रियाका हेतु वेगगुण विद्यमान है, उसी प्रकार आत्मामें क्रिया करनेका हेतु प्रयत्न या जीवविपाकी गतिकर्मके उदयसे होनेवाला गातिभावनामक गुण (पर्याय) विद्यमान है। अब हेतुके असिद्ध हो जानेकी शंका हो जानेपर पुन: हेतुको साध्य कोटिपर लग्या जाता है कि उस आत्मामें हेतु धर्म हो रहा क्रियाका हेतुभूत गुण विद्यमान है। क्योंकि शरीरमें उसके द्वारा की गयी क्रिया देखी जाती है। अर्थात्—देखो, जिस समय देवदत्त हाथको उत्पर उसने द्वारा की गयी क्रिया देखी जाती है। अर्थात्—देखो, जिस समय देवदत्त हाथको उत्पर उसने रहा है या चल रहा है उस समय आत्मामें क्रियाका उत्पादक प्रयत्न गुण अवश्य है। अन्यथा शरीरके अवयवोंमें उठाना या पार्वोका चलाना आदि क्रियायें नहीं देखी जा सकती थी। हाथ या वार्वोमें ओलपोत हो रही आत्मा ही उठती चलती फिरती है। उसके साथ शरीर या उसके अवयव तो जिस जाते हैं। जैसे कि धिसहारे मनुष्यके चलनेपर उसके सिरपर रखी हुई घासकी पोटरी मी उसके साथ घिसटती चली जाती है। इस ढंगसे दो हेतुओं द्वारा आत्माकी गतिको साध दिया गया है।

# सर्वगत्वाद्गतिः पुंसः खवनास्तीति ये विदुः। तेषां हेतुरसिद्धोस्य कायमात्रत्ववेदनात् ॥ ३॥

आत्माके (पक्ष) देशसे देशान्तर होनारूप गति नहीं है (साध्य) जगत्के सभी स्थानोंमें प्राप्त हो चुका होनेसे (हेतु) विभु आकाशके समान (अन्वयद्द्यान्त), इस प्रकार जो नैयायिक मान बैठे हैं, उनके यहांका स्वीकृत सर्वगत्व हेतु असिद्ध है। पक्षमें नहीं वर्तता है। क्योंकि इस जीवका केवल गृहीत शरीरमें ही उतने ही लम्बे चौडे, मोटे परिमाणको विषय कर रहा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। अपने अपने शरीरके बाहर आत्माका सम्वेदन किसीको नहीं होता है। अतः आत्मा अधुपरिमाण या महापरिमाण दोनोंसे रीता हो रहा मध्यम परिमाणवाला है। अन्यथा व्यापक मान लेनेपर बड़ा भारी व्यवहारसांकर्य होकर गुटाला मच जायगा। " सर्वम्र्तद्व्यसंग्रेगितं विभुत्वं" यह विभुपना अत्यामें नहीं है।

# विभुः पुमानमूर्तत्वे सति निस्यत्वतः स्ववतः । इत्यादि हेतवीप्येवं प्रत्यक्षहतगोचराः ॥ ४ ॥

फिर वैशेषिक पंडित अनुमान करते हैं कि आत्म (पक्ष ) व्यापक है (साध्य ) शृथिकी, जल, तेज, वाय, और मन इन पांच म्लीते मिल होते सन्ते नित्य होनेसे (हेतु ) काकावाके समान (अन्वयद्दशन्त ) तथा आखा न्यापक है (प्रतिज्ञा) क्योंकि अणुपरिमाणका अधिकरण नहीं हो रहा सन्ता मित्यद्रव्य है ( हेतु ), जैसे कि आकाश व्यापक है ( दृष्यंत ) । अथवा देवदत्तकी अंगनाका शरीर या देवदत्तके सैकडों इजारों कोस दूर बन रहे वस्त्र, अलंकार, कांटे, त्रिप, अंगूर, सेव, आदिक षदार्थ ( पक्ष ) संयुक्त हो रहे देवदत्तकी आत्माके गुणोंद्वारा सम्पादित किये जाते हैं ( साध्य ) क्योंकि कार्य होते हुये वे उस देवदत्तके उपकारक हैं (हेतु ) जैसे कि कीर, गायन, अध्ययम, आदिक हैं। इस अनुमानसे भी आत्माके व्यापक सिद्ध हो जानेपर ही देशान्तरवर्त्ती भोग्य. उपसोग्य पदार्थीसे संयुक्त होकर किया कराना बन पाता है। तथा पुण्य पाप ( पक्ष ) अपने आश्रय आत्माके साथ संयुक्त ( समवेत ) हो रहे सन्ते ही दूसरे आश्रयोंमें कियाका आरम्भ करते हैं ( साध्य ), क्योंकि एक द्रव्यके गुण होते हुये वे कियाके हेतुभूत गुण हैं (हेतु ), प्रयत्नके समान ( अन्वय इध्यंत )। एत्रं आत्मा ( पक्ष ) सर्वन्यापक है ( साध्य ), सर्वत्र जाने जा रहे गुणोंका आधार होनेसे (हेतु ) आकाशके समान ( इच्यांत ) तथा बुद्धिका अधिकरण हो रहा आत्मा द्रव्य व्यापक 🕯 ( साध्य ), क्योंकि नित्य होते हुये अस्मद्रादिकोके द्वारा जानने योग्य गुणोंका अधिष्ठान होनेसे ( हेतु ) आकाशके समान ( अन्वयदृष्टांत ) और भी आत्मा सर्वगत है ( प्रतिज्ञा ), द्रव्य होते हुए अफूर्त होनेसे ( हेतु ) आकाशके समान । अन्य भी अनुमान छीजिये । आत्मा न्यापक है ( प्रतिज्ञा ) मनसे मिन्न होता हुआ स्परीरहित द्रव्य होनेसे (हेतु) आकाशके समान । अब आचार्य कहते हैं कि आत्माको व्यापकल सिद्ध करनेमें दिये गये इसी प्रकार अमूर्त होते हुये नित्यपना आदिक हेतु तो प्रत्यक्षवाधित साध्यको विषय कर चुकनेपर प्रयुक्त हो रहे हैं। अतः बाधित हेत्वामास हैं। जब कि रासनप्रत्यक्षसे मिश्रीका मीठापन प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा गृहीत है। रहा है, ऐसी दशामें दो चार ती क्या सहस्रों हेत भी मिश्रीको कट सिद्ध करनैके छिये समर्थ नहीं है। उसी प्रकार शरीरमें ही आत्माका स्वसम्वदन हो रहा है। अतः आत्माके न्यंपिकत्वकी सार्वनेवारी ६भी हेतु अकिंपित्कर हैं। तथा आत्मा (पक्ष) प्रममहा परिमाणवान् नहीं है (साध्य) क्योंकि देण्यांसरीते उस साधारण ही रहे सामान्यका आधार हो रहा सन्ता अनेक हैं (हेर्त) घट,पट, आदिके समान (अन्वयद्रष्टांत) तथा आत्मा सकैगत नहीं है, दिक्, काल, आकाशसे मिल हीता ह्रभाक्ष्य हीनेसे पुस्तकके समान । एवं आत्मा विशु नहीं है, क्रियामान होनेसे वाण आदिके समान । इत्या-दिक अनुमानोंसे मी आस्माका ज्याधकत्व विमाद दिया जाता है। सब सो पूर्वीक सभी हेतु सहप्रतिषद्ध हेत्यांभार हो जाते हैं।

# हेतुरीश्वरबोधेन व्यभिचारी च कीर्तितः। तस्यामूर्तत्विनत्यत्वसिद्धेरविभुता भृतः॥ ५॥ अनित्यो भावबोधश्रेत्र स्यात्तस्य प्रमाणता। मृहीतप्रहणात्रो चेत् स्मृत्यादेः शास्त्रबाधिता॥ ६॥

आचार्य महाराज दूसरी बात कहते हैं कि वैशेषिकोद्वारा आत्माके विभुत्वको साधनेमें प्रयुक्त किया गया हेतु तो ईश्वरज्ञान करके व्यभिचार दोषवान् भी प्रसिद्ध हो रहा है। देखिये, वैदेशिवकोंके यहां दिक्, काल, आत्मा, आकाश, ये चार द्रव्य व्यापक माने गये हैं । इनके गुण तो परम महापरि-माणवाले नहीं हैं। क्योंकि गुणमें पुनः दूसरे गुण नहीं ठहरते हैं, ज्ञान गुणमें परिमाण गुण नहीं वर्तता है '' गुणो गुणानंगीकारात् । '' '' निर्गुणा गुणाः '' । जबकि पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन, इन पांच मूर्तद्रव्योंसे भिन्न हो रहा वह ईश्वर ज्ञान अमूर्त है, और नित्य भी सिद्ध है, किन्तु अन्या-पकत्वको धारनेवाले उस ज्ञानको न्यापकपना नहीं माना गया है, अतः ईश्वरज्ञानमें हेतुके अविकल ठहर जानेसे और साध्यके नहीं वर्त्तनेसे व्यभिचार दोष हुआ । इस व्यभिचार दोषको हटानेके लिये **वैशेषिक यदि ईश्वरज्ञानको अनि**त्य क**हें** तब तो गृहीतप्राही होनेसे उस ईश्वराज्ञानको धारवाही **ज्ञानके** समान प्रमाणता नहीं हो पायगी । पहिले ज्ञानने जिन पदार्थीको विषय किया था दूसरे ज्ञानने भी भी नवीन उपज कर उन्हीं पदार्थीको जाना, यह गृहीतोंका ही प्रहण हुआ । हां, ईस्वर ज्ञानको नित्य, एक, मान छेनेपर तो गृहीतको ही पुनः दूसरे ज्ञानसे भी ग्रहण करना यह प्रसंग उठानेका अवसर ही नहीं आता है। यदि तुम वैशेषिक गृहीतग्राही होनेपर भी ईश्वरज्ञानकी अप्रमाणता नहीं मानोगे तब तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, धारावाहि ज्ञान आदिको भी प्रमाणता आ टपकेगी, जोकि तुम्हारे शास्त्रोंसे बाधित है, साथमें आत्माका न्यापकपना तो सर्वोगीण निर्दोष उन धर्मी प्राहक प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे बाधित हो रहा है। यह समझे रहो।

गतिमानात्मा क्रियाहेतुगुणसंवंधाङ्घोष्ठवत्। क्रियाहेतुगुणसंवंधोस्त्यात्मिन काये तत्कृतक्रियोपलंभात्। यत्र यत्कृतिक्रियोपलंभः तत्र क्रियाहेतुगुणसंवंधोस्ति यथा वनस्पतौ वायुकृतिकयोपलंभाद्वायौ तथा चात्मकृतिक्रियोपलंभः काये तस्मादात्मिन क्रियाहेतुगुणसंवंधोस्ति इति
निश्रीयते। कः पुनरसावात्मिन क्रियाहेतुगुणः ? प्रयत्नादिः। प्रयत्नवता श्वात्मना बुद्धिपूर्विका
क्रिया काये क्रियते, अबुद्धिपूर्विका तु धर्माधर्मवतान्यथा तदयोगातु।

आत्मा (पक्ष ) गमन करना रूप कियावाला है (साध्य ) कियाके हेतु हो रहे गुणोंका सम्बन्ध रखनेवाला होनेसे (हेतु ) ढेल या गोलीके समान (अन्वयदृष्टान्त )। पुनः आचार्य हेतु दलको साधते हैं कि आत्मामें (पक्ष ) कियाके हेतुभूत गुणोंका सम्बन्ध हो रहा है (साध्य )

शरीरमें उन गुणोंसे की गई कियाका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेसे ( हेतु ) जहां जिसके द्वारा की गयी कियाका उपरूप हो रहा है, वहां कियांके हेतुमूत गुणका सम्बन्ध है। या किया हेतुभूतगुणके समवायी इन्यका सम्बन्ध विद्यमान है (अन्वयद्दशन्त ) जैसे कि वृक्षस्वरूप वनस्पतिमें वायु द्वारा की गई कियाका उपलम्भ होनेसे वायुमें कियाहेतुगुण वेग या कंपानेवाला ईरण (धक्का देना) विषमान 🕯 ( अन्वयदृष्टान्त ) तिसी प्रकार कायमें आत्मा द्वारा की गयी कियाका उपलम्भ हो रहा है ( उपनय ) लिस कारणसे शरीरी आत्मामें क्रियाके हेतुमृत गुणोंका सम्बन्ध है (निगमन)। यो अनुमानसे निश्चय-कर लिया जाता है। यहां कोई प्रश्न करता है कि फिर यह बताओ ! कि आत्मामें कियाका हेत हो रहा वह गुण कौनसा है ? आचार्य उत्तर कहते हैं कि प्रयत्न, वीर्य, उत्साह, बळ, आदिक गुण आत्मामें कियाके सम्पादक हैं। चूँकि प्रयत्नवाले आत्मा करके कायमें बुद्धिपूर्वक क्रिया की जाती है जिससे कि खाना, पीना, चलना, चूमना, उडना, भित्ती ( कुश्ती ), भिरना, शास्त्र लिखना, खेळना, सीमना, कसीदा काढना, आदि कियायें हो जातीं हैं। हां, शरीरमें हुईं अबुद्धिपूर्वक कियायें तो पुष्य पापवाले आत्मा करके अन्यक्त पुरुषार्थ द्वारा बनाली जाती हैं, जिससे नख, केश, आदिकी बृद्धि होना रक्त संचार, अन्न परिपाक, मल उपमलौंका बनना, आदि क्रियाओंका सम्पादन हो जाता है। अन्यथा यानी प्रयत्नवान् आत्माके विना शरीरमे उन बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक हुई क्रियाओंकी निष्पत्ति होनेका अयोग है। अतः क्रियाके सम्पादक गुणोंका सम्बन्ध हो रहा होनेसे आत्मामें गति क्रिया सिद्ध हो जाती है।

नतु च क्रियाहेतुगुणयुक्तः कश्चिदन्यत्र क्रियामारभमाणः क्रियावान् दृष्टो यथा वेगेन युक्तो वार्युनस्पती, कश्चित्पुनरिक्तयो यथाकाशं पतित्रिण तथात्मा क्रियाहेतुगुणयुक्तश्च स्याद् क्रियश्चेति नायं हेतुः क्रियावन्तं साधयेदाकाशेन व्यभिचारात् इति कश्चित्, संत्रिवं पर्यनुयोक्तव्यः । केन क्रियाहेतुना गुणेन युक्तमाकाशमिति १ वायुसंयोगेनेति चेक्न, तस्य क्रियाहेतुत्वा सिद्धः । वनस्पती वायुसंयोगात् क्रियाहेतुरसाविति चेक्न, तस्मिन् सत्यप्यभावात् । विशिष्टं वायुसंयोगः क्रियाहेतुरिति चेत्, कः युनरसी १ नोदनमभिषातश्चेति । किं पुनर्नोदनं कश्चामिष्मतः १ वेगवद्द्रव्यसंयोग इति चेत्, ति वेत्, ति वेग एव क्रियाहेतुस्तद्भावे भावात् तदभावे चाभा वात् न त्वाकाशस्य वेगोस्तीति न क्रियाहेतुगुणयुक्तमाकाशं ततो न तेन साधनस्य व्यभिचारः

यहां कोई वैद्रोषिक मतका अनुयायी अपने आत्माके क्रियारहितपन मन्तन्यका और भी अव भारण कर रहा है कि कोई कोई पदार्थ तो क्रियाके हेतुभूत गुणसे युक्त हो रहा अन्य पदार्थीं क्रियाका आरम्भ कर रहा सन्ता वह क्रियाबान् देखा गया है, जैसे कि क्रियाके कारण वेग गुणसे सहित हो रहा वायु दूसरे वनस्पस्तियोंमें हल्लन, कम्पन, क्रियाओंको उपजाता है। किन्तु कोई कोई पदार्थ ते क्रिर क्रियारहित होता हुआ ही दूसरे पदार्थोंमें क्रियाका आरम्भ कर देता है। जैसे कि आकाश द्रव्य

दूसरे पक्षी या पतंगेमें कियाको करा देता है। तिसी प्रकार आत्मा कियाके कारण गुणोंसे युक्त भी बना एके और किया रहित भी बना रहे कोई क्षति नहीं है। इस कारण अनुकूछ तर्कका अभाव हो जानेसे हुम जैनोंका यह '' क्रियाकारणगुणत्व '' हेतु तो आत्मामें गमनक्रियासहितपनको नहीं साथ सकेगा । क्योंकि आकाराके साथ व्यभिचार दोष हो रहा है। पूर्व प्रकरणोंमें वायु वनस्पतिके संयोगके सहश क्यु आकाश संयोग आकाशमें वर्त रहा क्रियाहेतुगुण साधा जा चुका है। किन्तु आकाश क्रियावान् नहीं है। यहांतक कोई प्रतिवादी कह चुका है, अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कह रहा बह प्रतिवादी यहां यों पर्यनुयोग लगाने योग्य है। अर्थात् — उसके ऊपर यह अभियोग लगा देना चाहिये कि भाई बताओ, कियाके हेतुमूत किस गुणसे युक्त आकाश हो रहा है ? हम तो समझते हैं कि आकाशमें कोई भी कियाका हेतु गुण नहीं है। यदि तुम वैशोषिक यों कहा कि वायुसियोग नामक क्रियाहेतु गुणसे युक्त आकाश है सो यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि उस आकाशवत्ती वायुसंयोगको कियाका हेतुपना असिद्ध है। यदि तुम वैशोषिक पुनः यह कहो कि वनस्पिस्तिमें वायु संयोगसे किया हो जाती है। अतः वह वायुसंयोग क्रियाका हेतुभूत मान छिया जाय। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस वायुसंयोगके होनेपर भी वृक्षमें कियाका अभाव हो रहा है। अर्धरित्रमें वायुका मन्द संचार होनेपर भी बुक्ष अकम्प रहे आते हैं। यदि तुम विशेषताको प्राप्त हो रहे वायुसंयोगको कियाका कारण मानोगे यों कहनेपर तो हम पूछेंगे कि तुम्हारे यहां '' अभिघातो नोदनञ्च राद्धहेतुरिहादिमः, राद्धाहेतुर्द्धितीयः स्यात् '' इस प्रकार संयोगके दो भेद माने गये हैं । अब फिर तुम यह बताओ कि कौनसा वह नोदन अथवा अभिघात नामका विशिष्टसंयोग भला क्रियाका कारण है ? तथा यह भी बताओ कि फिर वह नोदन क्या है ? और अभिघात क्या है ? इसके उत्तरमें यदि तम यों कहा कि शब्दका हेतुभूत संयोग अभिघात है, जैसे कि आट करते हुये ताली बजाते समय हाथोंका अभि-घात संयोग है और शब्दको नहीं उपजानेवाला संयोग तो नोदन है। शब्द किये विना हायको चुपकेसै दूसरे हाथसे मिला देना नोदन है। यहां वेगवाले द्रव्यके साथ अन्यद्रव्यका विशिष्ट संयोग ही क्रियाका हेतु इष्ट है, तब तो हम जैन कहेंगे कि वेग ही कियाका हेतु हुआ। संयोग गुण तो किया संपादक नहीं बना । क्योंकि उस वेगके होनेपर कियाकी उत्पत्तिका अभाव है । यह अन्वयन्यतिरेक पूर्वक बेग और कियाका कार्यकारण भाव सिद्ध है। किन्तु आकाशद्रव्यके तो वे गुण नहीं हैं। " श्वितिर्जरू तथा तेजः, पवनो मन एव च । परापरत्वमूर्तत्विक्रयावेगाश्रया अमी " इस सिद्धांत अनुसारः तुमनेः पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच द्रव्योंमें ही बेगगुण माना है। आकाशमें बेग नहीं है '' षडेव चाम्बरे '' आकाशमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, शन्द, ये छह गुण माने गये हैं। अतः वेगके नहीं होनेसे कियाके हेतुभूत गुणसे युक्त आकाश नहीं है। तिस कारण उस आकाशसे हमारे हेतुका व्यभिचार दोष नहीं लगता है। क्रियाहेतुगुणकत्व इस निर्दोष हेतुसे आत्माका गतिसहितपना सिद्ध हो जाता है।

1

जय मतं न गतिमानात्मा सर्वगतत्वादाकाशवदित्यनुमानाद्गतिमस्वस्य मितिषेवादनुमान-विरुद्धः पक्ष इति । तद्युक्तं, पुंसः सर्वगतत्वासिद्धेः काये एव तस्य संवेदनात् ततो बिहः संवित्त्यभावात् । सर्वगतः पुमान् नित्यत्वे सत्यमूर्तत्वादाकाश्चवदिति चेन्न, अस्य काल्यत्या-पदिष्टत्वात् साधनस्य धर्मिग्राहकममाणवाधितत्वात् मत्यक्षविरुद्धपक्षनिर्देश्वानंतरमयुक्तत्वात् श्रीतो-ग्रिर्द्रव्यत्वात् जलवदित्यादिवत् ।

अब यदि वैशेषिकोंका यह मन्तव्य होय कि आत्मा (पक्ष) गमनकियावाला नहीं है, (साप्य ) सर्वत्र व्यापरहा होनेसे (हेत् ) आकाशके समान (अन्वयदृष्टान्त ) यों आत्माके गति-सहितपनका बढिया निषेध हो जानेसे तुम जैनोंका आत्माको क्रियाका साधक प्रतिकारवरूप पक्ष तो इस अनुमानसे विरुद्ध पड गया । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तुम्हारा वह कहना युक्तिरहित है 🖡 क्योंकि आत्माका सर्वगतपना असिद्ध है। शरीरमें ही उस आत्माका सम्बेदन हो रहा है। उससे बाहर दूसरे शरीरमें या घट, पट, अथवा अन्तरालमें आत्माकी सम्बित्ति नहीं हो रही है । अतः तुम्हारे हेत् स्वरूपासिद्ध हेत्वामास है। यदि वैशेषिक पुनः अनुमान उठाकर हेतुको यों सिद्ध करें कि आत्मा (पक्ष ) सर्वत्र व्यापक है (साध्य) नित्य होते सन्ते अमूर्तपना होनेसे (हेतु) आकाशके समान (इप्टांत) है अकेला नित्यत्व हेतु देनेसे पृथिशी आदिकी परमाणुर्ये औरं मनसे व्यभिचार हो जाता। अतः अमूर्तत्व भी कहना पडा। क्योंकि ये मूर्त हैं और यदि अमूर्तत्व ही हेतु कहा जाता तो अनित्य गुणोंसे न्यभिचार आता । अतः " नित्यत्वे सति अमूर्तत्व " इतना हेतु दिया गया है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यह तुम्हारा साधन तो शरीरमें ही आत्मा नामक धर्मीके प्राह्मक प्रमाणसे बाधित हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरुद्ध हो रहे पक्षके निर्देश अनन्तर प्रयुक्त होनेसे काळात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है, जैसे कि अग्नि शीतळ है, द्रव्य होनेसे जळके समान अथवा आकारा अल्पपरिमाणवाला है, द्रव्य होनेसे, घटके समान, इत्यादिक अनुमानोंके हेतु बाधित हैत्वाभास हैं।

पतनामूर्तद्रव्यत्वात्सर्वजापलभ्यमानगुणत्वादित्येवमादयो हेतवः प्रत्याख्याताः प्रत्यक्ष-बाधितविषयत्वाविश्वेषात् । किं च, नित्यत्वे सत्यमूर्तत्वादित्ययं हेत्तराश्वरक्षानेन अनैकांतिकः तस्यासर्वगतस्यापि नित्यत्वामूर्तत्वसिद्धेः नित्यं द्दीश्वरक्षानमनाद्यनंतत्वात् ग्रुरवर्त्भवत् । तस्य सादिपर्यतत्वे सित महेश्वरस्य सर्वार्थपरिच्छेदविरोधात् ।

वैशेषिकोंने आत्माको व्यापक साधनेके छिये अमूर्तद्रव्यपँन हेतु दिया है। उनके यहां पृथिवी, जरू, तेज, वायु, मन, ये पांच द्रव्य मूर्त माने गये हैं। शेष आकाश, काल, दिशा, आत्मा, ये चार द्रम्य व्यापक ही हैं। तीसरा हेतु सर्वत्र देखे जा रहे गुणसे सहितपना दिया है। चौथा हेतु " अणु-

परिमाणानिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात् "दिया है। इत्यादि इस प्रकारके अन्य भी व्यापकत्व-साधकहेतुओं का इस उक्त कथनसे प्रत्याख्यान कर दिया गया है। जब कि निजशरीरमें ही मध्यम परिमाणको धार रहे आत्माका बालिका, पशु, पक्षियोंतकको प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा सम्वेदन हो रहा है, तो नित्यत्वे सति अमूर्तत्व हेतुके समान इन हेतुओंमें भी प्रत्यक्षबाधित विषयका साधकपना अन्तर-रिहत है। अतः ये सब हेतवाधित हेत्वाभास हैं। दूसरा दोष यह भी कि नित्य होते सन्ते अमूर्तपना यों विशेषण विशेष्यदलवाला यह हेतु तो ईश्वरज्ञान करके व्याभिचार दोषवान् है। देखिये, अमीष्ट-सान्यसे शून्य हो रहे, अञ्यापक भी उस ईश्वरज्ञानको नित्यपना और अमूर्तपना सिद्ध है। पांच मूर्त इन्योंके अतिरिक्त सभी द्रव्य या गुण, कर्म, आदिक पदार्थ तुम्हारे मतमें अमूर्त माने गये हैं। अमृतंद्रव्यत्व लगानेसे सम्भवतः तुम्हारी कुछ रक्षा हो सकती थी । किन्तु इसका विचार पहिले कर दिया गया है । ईश्वरका ज्ञान नित्य तो है ही । यदि नहीं मानना चाहते हो तो इस अनुमानदारा मानना ही पडेगा कि ईश्वरका ज्ञान ( पक्ष ) नित्य है ( साध्य ), अनादिकालसे अनन्तकालतक प्रवर्त्त रहा होनेसे (हेत् ) देवोंका मार्ग यानी आकाशके समान (अन्वयदृष्टान्त ) । यदि उस ईश्वर ज्ञानको सादि, सान्त, माना जायगा तो हमारा हेतु अवश्य असिद्ध हेलाभास जायगा । किन्तु साथमें तुम्हारे अभीष्ट देवता महेश्वरको सम्पूर्ण अर्थीकी करनेका विरोध हो जायगा । पदार्थोंके अंधीन होकर दूसरे दूसरे क्षणमें उपजने, नशनेवाळ ज्ञान द्वारा छाखों या असंस्थाते वर्षीमें भी ईश्वर सम्पूर्ण पदार्थीको जान नहीं सकता है। अतः आत्माके व्यापकत्वको साधनेवाला तुम्हारा हेत व्याभेचारी है।

योग्याह, अनित्यमीश्वरक्षानमुत्पत्तिमस्तात् कलशादिवत् उत्पत्तिमसदात्मांतःकरण-संयोगपिक्षत्वादस्मदादिक्षानवत् । योगजधर्मानुम्रहीतेन हि मनसेश्वरस्य संयोगे सित सर्वीर्थे क्षानमुत्पाद्यते । न वैवं, तदादिपर्यतवत् संतानरूपतयानादिपर्यतत्वोपपत्तः । योगसंतानो हि महेशस्यानादिपर्यतः सदा रागादिमलेरस्पृष्टत्वात् । अनादिशुद्धचिष्ठानत्वात्तत्रश्च धर्मविशेषः तद्नुमृहश्च मनसः तेन संयोगश्चेति तिभिमित्तं सर्वार्थक्षानमनादिपर्यतमुपपद्यते प्रमाणफल्लत्वा-वेश्वरक्षानमनित्यं नित्यत्वे तस्य प्रमाणफल्लत्विरोधात् विशेषगुणत्वाच तद्गित्यं मुखादि-वदिति, तस्यापि मृहीतम्राहीश्वरक्षानमायातं । ततश्च न प्रमाणं स्मरणादिवत् मृहीतम्राहिणोपि तस्य प्रमाणत्वे प्रमाणसंप्लववादिनामनुभूतार्थे स्मरणादेः प्रमाणत्वानुषंगः केन निवार्यतः ।

वैशेषिक में मतको पृष्ट कर रहा जो भी कोई यों कह रहा है कि ईश्वरका झान (पक्ष) अनिस है (साध्यदछ) उत्पत्तिनाला होनेसे (हेतु) कलश, कपडा, आदिके समान, (अन्वयदद्यान्त)। पुनः हेतुके स्वरूपासिद्ध हो जानेकी कोई शंका न करे। अतः वैशेषिक इस हेतुको साध्यकोटिपर लाते हैं कि वह ईश्वरज्ञान (पक्ष) उत्पत्तिवाला है (साध्य) आतमा और मनके संयोगकी अपेक्षा

रसनेवाका होनेते (हेस्) इम् आदिकाँके हानसमान (अन्तयहश्चन्त ) । देखिये, योगास्यास उत्पन्न हुये खुति, प्रराण, प्रसिद्ध धर्मसे अनुप्रहीत हो रहे मनके साथ ईस्तर आत्माका संयोग । जानेपर ईस्वरको सम्पूर्ण अर्थीमें ज्ञान उपजा दिया जाता है। इस प्रकार ज्ञानको उत्पत्तिमान् सा देनेंसे वह ज्ञान आदि, अन्तवाला हो जावेगा, यह नहीं समझ बैठना । हम बीजाङ्कर न्याय अनुस सन्तानरूपसे ईक्यानको अनादि अनन्तपना उचित बताते हैं । कारण कि महेक्सके योगकी सन्ता धाराप्रवाह अनादिकाल्से अनन्तकालतक वह रही है। क्योंकि ईसर सदा ही राग, क्रेश, विपाकाश आदि मर्जो करके अछता रहा है, अनादिकालसे ग्रुहिका अधिष्ठान है। अतः यो उस योगसन्तान विशेष चमत्कारक धर्म उत्पन्न होता है। और उस धर्मका अनुम्रह मनके ऊपर हो जाता है। पक्क उसी मनका ईश्वर आत्माके साथ संयोग होता है। उस ईश्वर मन:संयोगको निमित्त पाकर अनादि, अनन्त काळतक, ईश्वरके सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान होना बन जाता है। ईश्वर ब्लानको अनित्य सिद्ध करनेके लिये दूसरा त यह भी है कि ईस्वरका ज्ञान अनित्य है (प्रतिज्ञा) प्रमाणका फल होनेसे (हेत ) देखिये, कारणेंसि उत्प हो रहे सभी फल अनित्य होते हैं । यदि उस ईस्वर ज्ञानको नित्य माना जायगा तब तो उसको प्रम णके फलपनका विरोध होगा । तीसरी बात यह भी है कि वह ईश्वरज्ञान विशेषगुण होनेसे अनि है जैसे कि आत्माके सुख आदि गुण ( अन्वयदृष्टांत ) | हमने आत्मामें संख्या, परिमाण, पृथक्त संयोग, विभाग ये पांच सामान्य गुण और बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्ग भावना ये नी विशेष गुण यों चीदह गुण माने हैं । ईस्वरमें भी पांच सामान्य गुण और झान, इन्छ प्रयत्न ये तीन विशेष गुण यों आठ गुण इष्ट किये हैं। आत्मा द्रव्यमे सभी विशेषगुण अनित्य हैं '' योपि '' से प्रारंभ कर यहांतक वैशेषिक कह चुका । अब आचार्य कहते हैं कि उस वैशेषिक यहां भी यों तो ईनेरका ज्ञान प्रहीतका ही प्रहण करनेवाला प्राप्त हुआ और तिस कारणसे या गृहीतमाही होनेसे वह बान विचारा स्मरण, धारावाहि बान आदिके समान प्रमाण नहीं हो सक्ता है नैयायिक या वैशेषिकोंने गृहीत विषयको ही पुनरपि उतना ही विषय करनेवाले बानको प्रमाण ना माना है। फिर भी भाक्तिक्श यदि उस गृहीतप्राहक ज्ञानको प्रमाण मानौगे तक तो प्रमाणसंख्यका नैयायिक, वैशेषिक, जैन, मीमांसक, आदि विद्वानोंके यहां अनुभव किये जा चुके विषयमें प्रवर्त र स्मरण, प्रत्यमिज्ञान, आदिको भी प्रमाणपनेका प्रसंग भळा किसके द्वारा रोका जा सकेगा? अर्था अर्थमें विशेष अंशोंको जानवेवाले अवेक प्रमाणोंकी प्रकृति हो जानेको प्रमाणसम्प्लव कहते हैं। नैय यिक " प्रमाणसम्ब्व " को इष्ट करते हैं। अतः कुछ अंश जाने जा चुकेकाः भी पुनः अन्य प्रमाणे द्वारा सम्बद्धन हो सकता है। ऐसी दशामें स्मरण आदिको भी प्रमाणता वन बैठेगी। कोई माईव काल रोक नहीं सकता है।

स्मान्यतं, मयाणांतरेणात्रहीतस्यः सकस्यस्माध्यस्य पदेश्वरक्षानसंतानेन प्रहणाश्य तस् प्रहीतप्राहित्यमिति । तदसद् । धाराबाहिक्कनस्यात्येतं स्वहीतप्राहित्यात्रात्वाद् प्रमाणतापत्रेः तत्ममाणत्वोषगमं तथैव प्रमाणांतराष्ट्रशितप्राह्णनुभवस्मरणप्रत्यभिक्षानादिसंतानस्य प्रवर्तमानस्याग्रहीतप्राहित्वात् प्रमाणत्वमस्तु । यदि पुनरजुभवादीनामेकसंतानत्वेष्यज्ञभवग्रहीतेथें स्मरणादैः
पश्चिरप्रमाणत्वं तदा प्रथमक्षानेन परिच्छिकोर्थे तदुत्तरोत्तरधारावाहिविक्षानानां कुतः प्रमाणत्वं ।
तदुपयोगविश्वेषादिति चेत्, तत एव स्मृत्यादीनां प्रमाणत्वमस्तु सर्वथा विश्वेषाभावाद् । तथा
सति प्रमाणसंख्यानियमो न व्यवतिष्ठेतेत्पुक्तं पुरस्तात् । तस्मादनेन ग्रहीतप्राहित्वात्कस्यचिद्विक्रानस्यात्रमाणत्वप्ररशिक्वता महेश्वरद्वानस्याप्युत्तरोत्तरस्य पूर्वद्वानपरिच्छिकार्थप्राहित्वादममाणत्वं दुःश्वकं परिहर्तु ।

यदि इसपर वैशेषिक अपना मन्तव्य यों बतावें कि दूसरे दूसरे प्रमाणोंसे नहीं जाने जा चुके सम्पूर्ण सूक्म, न्यवहित, विप्रकृष्ट, आदि अर्थीका महेश्वरकी ज्ञानसन्तान करके प्रहण हो रहा है। अतः वह ईश्वर ज्ञानकी संतान गृहीतप्राही नहीं है, अगृहीत विषयों का प्राहक है, यों कह चुकनेपर आचार्य कहते हैं कि वह वैशेषिकोंका मन्तव्य प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि इस प्रकार तो घट है, घट है, घट है, ऐसे धारावाहिक ज्ञानको भी गृहीतम्राहीपना न होनेसे प्रमाणपनेका प्रसंग आ जावेगा । धारावाही ज्ञानमें भी ज्ञानोंकी लम्बी सन्तान अगृहीत विषयका प्रहण कर रही है। यदि उस धारात्राहि ज्ञानकी सन्ता-नका प्रमाण होना स्त्रीकार कर छोगे, तब उस ही प्रकार प्रमाणान्तरोंसे नहीं गृहीत हो चुके अधीका प्रइण करनेवाछे अनुभव, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आदि ज्ञानोंकी प्रवर्तरही सन्तानको भी अगृहीत-प्राह्क होनेसे प्रमाणपना हो जाओ । यदि फिर तुम वैशोषिक यों कहो कि अनुभव, स्मरण, प्रत्यिभ-ज्ञान, आदि ज्ञानोंकी एक सन्तान होनेपर भी अनुभव द्वारा प्रहण किये जा चुके अर्थमें स्मरणकी और स्मरणसे जाने जा चुको अर्थमें प्रत्यमिज्ञान आदिकी प्रवृत्ति हो रही है। अतः वे स्मरण आदिक गृहीत-प्राही होनेसे प्रमाण नहीं हैं, तब तो हम जैन कहेंगे कि प्रथम ज्ञान करके जाने जा चुके अर्थमें उसके उत्तर और उसके भी पीछे पीछे अने म बह रहे धारावाही विज्ञानों को प्रमाणपना कैसे आ सकता है ? अर्थात् कैसे भी नहीं । यदि तुम वैशेषिक उसमें विशेष उपयोग होनेसे प्रमाणपना लाओगे तब तो उस ही कारणसे यानी विशेष विशेष उपयोग होनेसे ही स्पृति आदिकोंको भी प्रमाणपना हो जावी। सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है । प्रत्युत धारावाही ज्ञानोंकी अपेक्षा अनुभव, स्मरण, प्रत्यभिक्कानोंमें विशेष उपयोग हो रहा अच्छा जाना जा रहा है। और तिस प्रकार स्पृति, प्रत्यभिक्षान, आदिकी अतिरिक्त प्रमाण माननेपर तुम्हारी नियत की गयी प्रमाणोंकी संख्या व्यवस्थित नहीं हो सकेगी, इसको हम पहिले प्रकरणोंमें कह चुके हैं। तिस कारण गृहीतप्राही होनेसे किसी भी विज्ञानको अप्रमा-णपना स्वीकार करनेवाले इस वैशेषिक पण्डित करके पूर्वसमयवर्ती ज्ञान द्वारा जाने जा चुके अधीका प्राह्क होनेसे महेश्वरके उत्तरीत्तरसमयवर्ती हानोंका अप्रमाणपना कठिनतासे भी नहीं हटाया जा सकता है। अतः महेक्त्ररके ज्ञानको अनित्य माननेमें अनेक विपत्तियां खडी हो जायंगी 🗗 😘 🗟 🧦

यद्युक्तं, महेश्वरक्षानस्य नित्यवे ममाणफलत्वाभाव इति, तद्ययुक्तं । तस्योपचारतः प्रमाणफलत्वोपपचेः । यथैच ईश्वरस्यांतःकरणसंयोगादिसामग्री नित्यक्षानस्याभिन्यञ्जिकत्वा-दुपचारतः प्रमाणं तथा तद्यंग्यत्वाक्षित्यस्यापीश्वरक्षानस्योपचारतः प्रमाणफलत्वप्रुपण्यत एव । न चाभिन्यक्तिरुत्पत्तिरेव सामान्यादेः स्वन्यक्तिभिरभिन्यंग्यस्योत्यत्तिमन्त्वमसंगात् । ततो नित्यमेवश्वरक्षानमिति । तेन हेतोर्न्यभिचार एव ।

और भी वैशेषिकोंने जो यह कहा था कि महेश्वरका ज्ञान यदि नित्य माना जायगा तो वह प्रमाणका कल नहीं हो सकेगा । आचार्य कहते हैं कि यों वह कहना भी युक्तियोंसे रीता है । कारण कि ईश्वरज्ञानको उपचारसे प्रमाणका फलपना सथता है । जिस ही प्रकार तुम्हारे यहां ईश्वरके साथ अंतःकरणका संयोग होजाना आदि सामधी ईश्वरके नित्यज्ञानकी अभिन्यञ्जक होनेसे उपचारसे प्रमाण मान ली गयी है, उसी प्रकार उस सामधीस न्यंग्य होनेसे नित्य भी ईश्वरज्ञानको उपचारसे प्रमाणका फलपना बन जाता ही है, सर्वञ्चके ज्ञानमें प्रमाणपना और फलपना अभिन्न ही है, उपचारसे मले ही त्यारा न्यारा कल्पित कर लो । इसि सामग्रीको प्रमाण कह लो, साथमें इसिको फल कहलो । सामग्रीहारा अभिन्यक्ति होजाना ही ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं है । अन्यया अपनी अभिन्यंजक आश्रय न्यक्तियोंसे प्रकट होने योग्य सामान्य ( जाति ) समवाय, आदिको भी उत्पत्तिमान् हो जानेका प्रसंग होगा । किन्तु सामान्य और समवाय पदार्थको तुमने नित्य माना है । तिस कारणसे सिद्ध होता है कि ईश्वरका ज्ञान नित्य ही है । ऐसा होनेपर उस ईश्वर ज्ञानकरके तुम्हारे आत्माको व्यापक साधनेके लिये दिये गये नित्य होते हुये अमूर्तपन हेतुका व्यभिचार दोष तदवस्य ही रहा । ईश्वरका ज्ञान नित्य है । आत्माको व्यापक नहीं माना है, शरीरावच्छेदेन आत्माको व्यापक माननेवाले वैशेषिकोंने आत्माके ज्ञानगुणको व्यापक नहीं माना है, शरीरावच्छेदेन आत्माके ज्ञान है, घटावच्छेदेन आत्मामें ज्ञान नहीं है । ऐसा उनका अभिमत है ।

भवतु वा महेश्वरक्षानमनित्यं तथापि सिल्लिपरमाणुरूपादिभिरस्यानैकांतिकता दुष्य-रिहरेत्यलं प्रसंगन, सर्वथात्मनो गतिमस्वस्य पतिषेद्धमञ्चक्तः।

अथवा तुम्हारे मन्तन्य अनुसार मले ही महेश्वरका ज्ञान अनित्य हो जाओ। अतः प्रा हेतु नहीं घटनेसे ईस्वर ज्ञानकरके न्यभिचार दोष नहीं हो सकता है तो भी जल परमाणुके या अग्नि-परमाणुके रूप रस आदि करके इस प्रकृतहेतुका न्यभिचार दोष आना कथषपि टाला नहीं टल सकता है। प्रथिविके परमाणुओं के रूप, रस, आदिक अनित्य हैं। वे पाकज माने गये हैं। किन्तु जल, तेज, वायुके परमाणुओं रूप, रस, आदि गुण नित्य हैं। साथमें जलपरमाणु या अग्नि परमाणु मले ही मूर्त होय, किन्तु इनके गुण तो मूर्त नहीं हैं। अमूर्त हैं। अतः नित्यत्वे सित अमूर्तत्व हेतुका पूरा शरीर घटित हो जानेसे और न्यापकत्व साध्यके नहीं ठहरनेसे,

व्यमिनार दोष तदबस्य रहा । अब अधिक प्रसंग बढानेसे कोई विशेष प्रयोजन नहीं निकलता है । जुन्हारे आक्षेपोंका मुख, पराक्मुख, उत्तर हो चुका है । अब तुम्हारे बूते आत्माका मित्रान्पना सभी प्रकारोंसे निषेषा नहीं जा सकता है । क्रियाहेतु गुणके सम्बन्धसे आत्मा गतिमान् डेलके समान सिद्ध करा दिया जाता है, कोई प्रत्यूह नहीं रहा ।

### कयं पुनरञ्जरीरस्यात्मनी गतिरित्याह ।

महाराज जी ! यह बताओ, कि शरीर सम्बन्धवाले आत्माकी गति तो प्रसिद्ध है। किन्तु मरकर शरीररहित हो गये आत्माकी गति फिर किस प्रकार होती है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

# अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

लोकके बीचसे प्रारम्भ कर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, छऊ दिशाओं में बरफीके समान छह पैल्याली अखण्ड परमाणुसे नापे गये सम संख्याबाले प्रदेश इस अखण्ड लोका-काशमें तदात्मक होकर जड रहे हैं | दोनों ओर समसंख्याबाले पदार्थोंका सबसे छोटा ठीक बीच दो होता है | चारों ओर सम संख्यामें फैल रहे पदार्थोंका बीच चार होता है तथा छऊ ओर सम संख्याबाले पदार्थोंका बीच आठ होता है | लोकके ठीक मध्य सुदर्शन मेरुकी जडमें स्थित हो रहे गोस्तन आकास्थाले आढ प्रदेशोंसे छऊ ओर अखण्ड आकाशमें प्रदेशोंकी श्रेणियां गढ ली जाती हैं | उस श्रेणीके आनुपूर्व्य करके जीवोंकी अन्य भवोंका संक्रमण करनेपर मरणकालमें गति होती है |

आकाशमदेशपंकिः श्रेणिः अनोरातुपूर्व्ये द्वतिः श्रेणेरातुपूर्व्येणातुश्रेणि जीवस्य पुरुलस्य च गतिरिति मतिपत्तव्यं । जीवाधिकारात्पुद्रलस्यासंमत्ययः इति चेक, पुनर्गति- प्रहणात्तत्संमत्ययात् क्रियांतरनिदृत्यर्थमिइ गतिग्रहणमिति चेक, अवस्थानाद्यसंभवात् क्रियां- तरिनदृत्तिसिद्धेः । उत्तरसूत्रे जीवग्रहणाचेइ शरीरपुद्गलस्य जीवस्यातुश्रेणिगतिः संमतीयते ।

लोक, अलोक, पूरे आकाशमें प्रदेशोंकी लम्बी पंक्ति बन रही श्रेणि कही जाती है। अनु-अल्ययका अनुपूर्वीपना अर्थ होनेपर श्रेणिपदकी अनु उपसर्गके साथ अल्ययीमाव समास द्वात्त हो जाती है। श्रेणिके आनुपूर्व्य करके जीव और पुद्रलकी श्रेणि अनुसार गति हो जाती है। यह समझ लेना चाहिये। कोई आक्षेप करता है कि यहां प्रकरणमें जीवद्रल्यका अधिकार होनेसे पुद्रलकी भी श्रेणि अनुसार गति होनेका समीचीनज्ञान नहीं हो सकता है। आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि " विप्रहगती कर्मयोगः " इस सूत्रसे गतिका अधिकार चला ही आरहा था। पुनः इस सूत्रमें गति शब्दका प्रहण किया है। इससे उस पुद्रलकी गतिका संप्रस्थय हो जाता है। अन्यया यदि जीवकी ही श्रेणि अनुसार गति इष्ट होती तो पुनः गति शब्दका प्रयोग करना व्यर्थ

पहला । अन्यत्य बोलनेवाले सूत्रकारके वचन व्यर्थ नहीं हो सकते हैं । अतः यहां सम्पूर्ण गतिवाले पहलीका अहण कर लिया जाता है । कोई पण्डित गति प्रहणका प्रयोजन यों कह रहा है कि अन्य कियाओं निहत्तिके लिये यहां सूत्रमें गति कहा गया है, जिससे जीवकी गतिकिया है। ठी जाय, अन्य कियायें नहीं पकडी जायं । आचार्य कहते हैं कि यह प्रयोजन तो ठीक नहीं है । क्योंकि दूसरे शरीरको प्रहण करनेके लिये उधुक्त हो रहे जीवके बैठना, सोना, बढना, जगना, नमना, पढना आदि कियाओंकी तो संभावना ही नहीं है । अतः स्वतः ही अन्य कियाओंकी निहत्ति सिद्ध है । " सम्भव-व्यक्तियां स्यादिशेषणमर्थवत् " । दूसरी बात यह है कि अव्यवहित उत्तरकालमें कहे जानेवाले " अविप्रहा जीवस्य " सूत्रमें जीवका प्रहण है । अतः इस सूत्रमें शरीर या पुद्रल और जीवकी भी अणि अनुसार गति हो रही अच्छी जानी जा रही है ।

नतु च कृतो जीवस्य पुद्रछस्य चातुश्रेणिगतिर्निश्चिता ज्योतिरादीनां विश्रेणिगतिदर्श-नात् तिभयमानुपपत्तेरिति कश्चित् । तं प्रत्याद् ।

यहां शंका उठती है कि जीन और पुद्रलकी गित श्रेणि अनुसार ही है, यह सिद्धान्त कैसे निर्णात कर लिया जाय ? जब कि सूर्य, चंद्रमा आदि ज्योतिष्क विमान, चक्र, ज्यजन, आदि अथवा विद्याधर या खिलाडी बालकों आदिकी श्रेणिका ज्यातिकम कर भी टेडी, मेडी, घूमती, फुदकती, आदि अनेक प्रकारकी गितयां देखी जारही हैं। अतः आकाशकी ठींक बनी हुयी श्रेणियोंके अनुसार सीधी रेखामें ही गित होनेका नियम नहीं बन सकता है, यहांतक कोई कह रहा है, जिसका कि नाम या मत अनिर्वचनीय है। उसके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

## सिद्धा गतिरनुश्रेणि देहिनः परमागमात् । लोकांतरं प्रतिद्वेयं पुद्गलस्य च नान्यथा ॥ ७ ॥

जीवकी मरण समय या मुक्त अवस्था होनेपर अन्य छोक या सिद्ध छोकके प्रति और पुद्रलॉको भी लोकपर्यंत प्राप्त करानेवाछी गति श्रेणि अनुसार होती है, यह मन्तन्य सर्वह्रोक्त परम आगमसे सिद्ध है। अन्य प्रकारोंसे नियम नहीं हैं, यह समझ छेना चाहिये। अर्थात्—श्रेणि अनुसार ही गति होती है, इसमें काछ और देशका नियम है। काछनियम तो यह है कि संसारी जीवोंकी मरणकाछमें अन्य भवका संक्रमण करते समय और मुक्त जीवोंकी ऊर्घ्य छोकके तनुवातव्ययमें स्थित सिद्धालयतक गमन करते समय प्रदेशपंक्तियोंके अनुसार सरल रेखा बनाती हुयी गति होती है। तथा देशका नियम भी यह है कि ऊर्घ्य छोकसे अधीछोकमें जानेपर या अधीछोकसे ऊर्घ्य छोकमें गति करनेपर अथवा तिवैग् छोकसे अधीगति या ऊर्घ्य गति जहां होगी वह श्रेणि अनुसार ही होगी। इसी प्रकार पुद्रलोंकी छोकके अन्ततक प्राप्त करानेवाछी गति भी श्रेणी अनुसार ही होगी। हां, नियमसे अतिरिक्त दशामें घूमन्त्र, नाचना, आदि गतियां भी हो सकती है।

## **दः युनरसी परमागमस्तदावेदकः कृतो वास्य ममाणत्विमत्साइ ।**

भिर कौनसा उत्कृष्ट आगम मळा उस गतिका निवेदन करनेवाळा है ? बताओ और उस आगमको प्रमाणपना कैसे सिद्ध है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर भी विधानन्द स्वामी वार्तिकको कहते हैं ।

## षोढा प्रक्रमयुक्तोयमात्मेति वचनं प्रमम् । संप्रदायात्स्वनिर्णीतासंभवद्राधकत्वतः ॥ ८॥

थह जीव छह प्रकारके गमन करना स्वरूप प्रक्रमसे युक्त हो रहा है यह वचन प्रमासित है। क्योंकि सर्वज्ञकी परम्परासे संप्रदाय चला आरहा है और बाधक प्रमाणोंके असंभव होनेका मले प्रकार निर्णय कर लिया गया है। अर्थात्—जीवका ऊपरसे नीचे जाना या ऊपरसे ठीक नीचे जाना अथवा पिकानसे पूर्व या पूर्वसे पश्चिम एवं दक्षिणसे उत्तर और उत्तरसे दक्षिण ये छह प्रकारके समनोंको कहनेवाला वचनप्रमाण है। इस सल सिद्धांतका कोई बाधक नहीं है।

षद्मकमयुक्तो जीव इति परमागमः स्वतः संपदायाविच्छेदात्त्रमाणं सुनिणीतासंभव द्वाषकत्वादा मोक्षमार्गवदिति निरूपितप्रायं । ततो जीवस्य पुह्रस्टस्य च देशकास्त्रनियमाद्युः श्रीण गतिः सिद्धा वोद्धव्या ।

छह प्रक्रमोंसे युक्त हो रहा जीव है यह परम आगम (पक्ष ) स्वतः प्रमाण है (साध्य ) सर्वेश्व युक्त सम्प्रदायका विच्छेद नहीं होनेसे (पिहला हेतु ) अथवा बाधकोंके असम्भवका अच्छा निर्णय हो चुका होनेसे (दूसरा हेतु ) सभी आस्तिकोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे अतीन्द्रिय मोक्ष मार्विक समान (अन्वयदृष्टांत ) इस बातको हम पूर्व प्रकरणोंमें बहुल्लासे कह चुके हैं। तिस कारण जीव और पुद्रलकी विशेष देश और विशेष कालका नियम कर देनेसे श्रेणि अनुसार ही, याति सिद्ध हो चुकी समझ लेनी चाहिये।

### मुक्तस्यात्मनः कीद्दशी गतिरित्याह ।

त्रिविध कमोंसे अनन्तकालतकके लिये छूट चुके मुक्त आत्माकी गति कैसी है ? ऐसी जिज्ञास होनेपर श्री उमास्वामी महाराज भविष्य सूत्रको समाधानार्थ उतारते हैं उसको होलियेगा।

# अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

मुक्त जीवोंकी गति कुटिलता का रहित है अर्थात — उन्ने लोकके ठीक बीचमें पतालीस कार्य पातन लंबा चौडा गाल सिद्ध क्षत्र है । महुन्य क्षत्र कही थी गोल होगी उसी समय वह जीव ठीक उत्तर सीधा सिद्धलीक प्रति गमन कर जाता है। कर्मभूमिक तपत्या स्थानोंके आतिरिक्त सभी समुद्र, पर्वत, भ्रोगभूकि, हुमेर आदि स्थलोंसे

सहरण अपेक्षा जीनीकी मीक्ष ही चुकी है। सिद्ध लेक सर्वत्र दुस रहा है। एकब्रदेश मात्र यी सिद्ध आत्माओंसे खाली नहीं है। प्रत्युत प्रत्येक स्थल या परमात्माओंमें अनन्तानन्त मुक्तजीन निस्त्राध संप्रविष्ट हो रहे हैं, तब कहीं सिद्धलोक अनादिकालीन अमूर्त सिद्धोंका आश्रम नन चुका है और वर्तमान इन सिद्धोंसे अनन्तानन्त गुणे सिद्धपरमेष्टी भनिष्यकालमे होकर वहां विराजमान होनेवाले हैं। उनमें और आकाशमें अनन्त अवगाह शक्ति है। आकाशके एक प्रदेशपर भी संपूर्ण जीनोंसे अनंत-गुणी पुद्रल परमाणुपे बैठ सकती है, किर अमूर्तद्रक्योंका तो कहना ही क्या है।

उत्तरसूत्रे संसारिप्रहणादिह मुक्तस्य गतिः । विप्रहो व्याघातः कौटिस्यमिति साबद्धः न विद्यते विप्रहोस्या इत्यविष्रहा मुक्तस्य जीवस्य गतिरित्यभिसंबंधः । कुवः इत्याह ।

उत्तरवर्ती " विग्रहवर्ती च संसारिणः प्राक्चतुर्न्यः " इस सूत्रमें संसारी जीवाँका प्रहण हो जानेंसे यहां मुक्तजीवकी गति समझी जाती है। विग्रहका अर्थ व्याघात हो जाना है, कुटिलता करना, यह विग्रहका तात्पर्य अर्थ है। जिस गतिमें विग्रह यानी कुटिलता नहीं विश्वमान होय इस प्रकारकी मुक्त जीवकी गति अविग्रह है, यों आवश्यक पदोंका उपस्कार कर सूत्रका वाक्यार्थ करते हुये पदोंका चारों ओरसे सम्बन्ध करलेना चाहिये। कोई पूलता है कि मुक्तजीवकी गति कुटिलतारहित है, वह कैसे समझा जाय ? इसके लिये प्रंथकर समाधानवचन कहते हैं।

# गतिर्मुक्तस्य जीवस्याविषद्या वकतां प्रति । निमित्ताभावतस्तस्य स्वभावेनोर्ध्वगत्वतः ॥ १ ॥

चीदहमें गुणस्थानके अंत समयमें सम्यूर्ण इव्यक्तमं, भावकर्म, नोकर्मीका नाश कर उत्तर क्षणमें मुक्त हो रहे जीवकी गति कुटिलतारहित है। कारण कि गतिकी वक्रताके प्रति होनेवाले निमित्तकारणोंका अमाय है। क्योंकि उस मुक्तजीवका स्वभाव करके ही ऊर्ज लोक प्रतिगमन करनेका परिणाम विद्यमान है। जैसे कि अप्रिकी ज्वाला स्वभावसे ही ऊपरको जाती है। हां, सुनार वा पाचककी फंकनी द्वारा प्रेरी गयी वायुका निमित्त पाकर भले ही तिरली, मीची, ली चली जाय । इसी प्रकार वक्रताका निमित्त कारण शेष नहीं रहनेसे ऊर्ज्यगतिस्वमाववाले जीवकी मुक्त हो जानेपर कुटिलता रहित ऋजुगित होजाती है।

अर्ध्वेत्रज्यास्त्रभावो जीव इति युक्त्यागमाभ्याग्रुत्तरत्र निर्णेष्यते, तती ग्रुक्तस्यान्यत्र गर्भेने तर्द्वतीभावे च कारणाभावादकीभावाभावादविग्रहा गतिः।

यह जीवद्रव्य उर्ध्व गमन करनेके स्वभावको सर्वदा लिये हुये है, इस सिद्धांतका उत्तरवर्ती अन्य बुक्ति और आश्रमप्रमाण करके निर्णय कर दिया जावेगा । तिस कारण मुक्तजीवका अन्य स्थानोंमें तिस्ता, अवा, जीवा, गमन करनेमें और उस गमनके अनुसार वकता होनेमें कोई प्रेर्फ

निमित्त कारण अवशिष्ट नहीं रहा है। अतः अकुटिलको कुटिल होनेका अभाव हो जानेसे मुक्तजीवका गमन बाणके समान कुटिलता रहित है।

#### संसारिणः कीद्यी गतिरित्याह ।

कोई जिज्ञासु कह रहा है कि मुक्तजीवकी गतिका अवधारण किया । हे कृपासिन्धो ! अब यह बताओ कि संसारी जीवकी गति पूर्वभवका आयुष्य पूर्ण हो जानेपर कैसी ! यानी टेडी या घूमती अथवा इतराती चळती कैसी होती है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज उत्तर-सूचको कहते हैं।

# विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

मर कर उत्तरभवसम्बन्धी आयुका उदय आ जानेपर संसारी जीवकी चार समयोंसे पहिले वर्षात-तीन समयतक कुटिलतावाली भी गति हो जाती है। अर्थात्-जीवको ऊपर. नीचे या तिरछे देशमें ठीक पंक्तिके अनुसार यदि जन्म लेना है तब तो इषुगति है। हां, यदि उससे कुछ नीचा कचा या बगलमें जन्म लेना होगा तो एक मोडा लग जायगा। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके, अधीन कुछ और भी टेडी विदिशामें जन्म छेना पड़े, तो जीवको वहां जानेमें दो मोडे छग जायंगे। **इां.** ऊर्चलोकमें मृदंग ( पखबाज ) और अधोलोकमें आधे मृदंगके आकारवाले लोकमें जीवको **महा**-**छोकके** निकटनती तिरछे डेढ राजू परली ओरके स्थावर लोकमेंसे यदि नीचे महातम:प्रभाके निकट-क्तीं दो राजू परे स्थावरलोकर्मे कुछ बगलमें चलकर जन्म लेना है, ऐसी दशामें वह जीव ऊर्ध्व **छोकसे ए**क दम सीधा अधोलोकमें नहीं उतर सकता है । क्योंकि मध्यमें अलोकाकाश पडता है। वहां गमनका उदासीनकारण धर्मद्रव्य नहीं है। अतः ऊर्ध्वछोकके स्थावर छोकसे वह जीव तिरछा चलकर पहिले समय ब्रह्मलोकमें आयगा। वहांसे पहिला मोडा लेकर त्रसनालीमें उत्तरता हुआ सातर्वी पृथिवीपर आ जायगा । वहांसे दूसरा मोडा लेकर तिरछा चलता हुआ सातर्वे नरकके पार्श्ववर्त्ती स्यावरलोकमें आ जायगा। वहांसे तीसरा मोडा लेकर कुछ इधर उधर चारों दिशाओंमें किसी विवक्षित दिशाके स्थानपर चौथे समयमें जन्म छेता हुआ आहार कर छेता है। एक समयमें चौद्रह राजुतक सीधी छलांग मार सकनेवाले जीवके लिये लोकमें चौथा मोडा लेनेके लिये कोई स्थान शेष नहीं ै । अधिकसे अधिक तीन मोडेमें ही जीवकी कहींसे भी किसी भी स्थानतक अव्याघात गति हो जाती है।

च श्रद्धादविग्रहा चेति समुख्यः तेन संसारिणो जीवस्य नाविग्रहगतेरपवादो, विग्रह-बत्या विधानादिति संमत्ययः कालपरिच्छेदार्थः माक् चतुर्भ्यः इति वचनं । आको ग्रहणं कथ्वर्षे कर्तव्यमिति चेक, अभिविधिमसंगात् । उभयसंभवे व्याख्यानतो मर्यादासंमत्यय इति चेक, मतिपत्तर्गोरवात् । मतिपत्तिगौरवाद्वरं ग्रंथगौरवं इति वचनाच माम्ग्रहणमस्तु ।

सूत्रमें पडे हुये च शह्नका अर्थ समुचय है। इस कारण च शह्नसे अकुटिल गति भी पकर जाती है। तिस कारण संसारीजीवकी कुटिलतावाळी गतिका विधान कर देनेसे अकुटिल गाँ होनेका अपवाद नहीं हो जाता है। हां, च अन्ययके स्थानमें एव होता तो अकुटिल गतिव व्याकृति हो जाती. जो कि इष्ट नहीं है। इस प्रकार यहां समीचीन विश्वास कर छेना चाहिये कालकी मर्यादा करनेके लिये सूत्रमें चार समयसे पहिले ऐसा वचन पढ़ा गया है। कोरे लाववव और टकटकी लगाकर बैठा हुआ कोई वावदूक आक्षेप करता है कि लाधवगुणके लिये सूत्रकारक आङ्का प्रहण करना चाहिये था । अर्थात्—" प्राक् चतुर्म्यः " के स्थानपर " आचतुर्म्यः कह देनेसे परिमाणकृत छाघव है। यदि पतले शरीरबाले चंचल मनुष्यसे कार्य बन सके तो स्थूर काय पुरुषको दुर्बल टट्टूपर चढाकर प्रामान्तरके प्रति भेजना अनुचित है। आचार्य कहते कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि आङ् अन्ययके, ईषत्अर्थ, अभिन्याप्ति, मर्यादा, अभिविधि ऐ कई अर्थ हैं। तेन विना मर्यादा, तत्सहितोऽभिविधिः, उससे रहित मर्यादा होती है और अभिविं उस विवक्षितसे सहित होती है। आङ् कह देनेसे अभिनिधि अर्थ भी लिया जा सकता था। ऐ दशामें चौथा समय भी वक्रता करनेमें घिर जाता है। यो जीवको पांचवें समयमें आहार करनेव प्रसंग आवेगा, जो कि इष्ट नहीं है। यदि कोई यों कहे कि मर्यादा और अभिविधि इन दोनों अर्थी सम्भव होनेपर व्याख्यान करनेसे आङ्के अर्थ मर्यादाका ही सम्प्रत्यय हो जायगा । पचासों स्थलों विवादापन विषयका व्याख्यान कर देनेसे निर्णय कर छिया जाता है। " व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणं ''। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों पहि संशयापन कहना, फिर कटाक्षोंका आघात सहना, उसको दूर करनेके छिये न्याख्यानका म बढाना, ऐसा करनेसे प्रतिपत्ति होनेमें व्यर्थ गौरव हो जाता है। अतः प्रतिपत्तिके व्यर्थगौरव प्रन्थका गौरव करना कई गुणा श्रेष्ठ है। ऐसा सभी विद्वानोंके यहां कहा भी गया है। तिस कार श्रगडेके बीज आङ् प्रयोगकी अपेक्षा प्रशान्तिवर्द्धक प्राक् पदका ग्रहण ही स्पष्टार्थ बना रही।

कुतश्रतुर्भ्यः समयेभ्यः मागेव विग्रहवती गतिः संसारिणोः न पुनश्रतुर्थे समये परत्रेत्य श्रंकायामिदमाह ।

कोई शिष्य पूंछता है कि चार समयोंसे पहिले ही यानी तीन समयतक संसारी जीवकी गां वकतावाली है। क्योंजी! फिर चौथे समयमें या परले समयोंमें मोडे क्यों नहीं लेती है? जब कि नर्चकी या खिलाडी बालक पचासों मोडे लेकर गमन करता है, ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यान स्वामी वार्त्तिक द्वारा इस समाधानको कहते हैं।

> संसारिणः पुनर्वकीभावयुक्ता च सा मता। चतुर्भ्यः समयेभ्यः प्राक् परतस्तदसंभवात्॥१॥

चार समर्थीस पहिले पहिले संसारी जीवजी वह गति फिर कुठिलपन करके थुक्त मानी गयी

### त्रिवकगतिसंभवः कृत इत्याइ।

तीन मोडेवाळी गतिका सम्भव किस ढंगसे हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्थामी वार्शिकको कहते हैं।

# निष्कुटक्षेत्रसंसिद्धेस्निवकगतिसंभवः । एकद्विवकया गत्या कचिदुत्पत्त्ययोगतः ॥ २ ॥

बात यह है कि छह पैछ आठ कोनवाछ वरफीके समान सम्पूर्ण अछोकाकाशके ठीक बीचमें अनादिनिधन छोकका विन्यास यों हो रहा है कि पूर्व, पिश्वम, दिशाकी ओर नीचे सात राज् है ऋमसे घटता हुआ सात राज् ऊपर चढकर एक राज् चौडा रह गया है। पुनः कमसे बढता हुआ साढे दस राज् ऊपर चढकर पांच राज् चौडा है, फिर अनुक्रमसे घटता हुआ चौदह राज्की ऊंचाईपर एक राज् हो गया है। दक्षिण, उत्तरमें, सर्वत्र सात राज् मोटा है। जीव और पुद्रछको गमनमें सहायक हो रहा धर्मद्रव्य तो छोकमें ही व्यापक है। इस कारण अछोकमें कोई भी जीव गमन नहीं कर पाता है। जीवको सीधे जानेमें अछोकाकाश पडे ऐसे निष्कुट क्षेत्रमें, टेढा, मेढा, जन्म छेनेका जब अवसर आ जाता है, तब जीवको तीन मोडा, छग जाते हैं। यह छोक सर्वधा गोछ या अण्डाके समान छम्बा गोछ अथवा चौकोर, तिकोर, नहीं है। अतः टेढे कोठावर्त्ती क्षेत्रसे तिरछे कोनवाछे क्षेत्रतककी रचनाको धारनेवाछे निष्कुट क्षेत्रकी अबाधित जिनागम द्वारा निर्दोषिसिद्ध हो जानेसे तीन वकतावाछी गति हो जानेका सम्मव है। कहीं कहीं टेढमें पड गये उस निष्कुट क्षेत्रमें एक मोडा, या दो मोडा-वाछी गति करके उपजनेका अयोग है। अतः वहां जन्म छेनेवाछे जीवको तीन मोडावाछी गिति करके उपजनेका अयोग है। अतः वहां जन्म छेनेवाछे जीवको तीन मोडावाछी गिति करकी उपजनेका अयोग है। अतः वहां जन्म छेनेवाछे जीवको तीन मोडावाछी गिति करनी पडती है।

## यदि श्रेकवका गतिः स्याट् द्विकिव वा तदा वेत्रासनाद्याकारे लोके निष्कृटक्षेत्रे कवि-त्यदेशे जीवस्य क्रुतिश्रदेशांतरादागतस्योत्पत्तिर्न स्यात ।

यदि शंकाकारके विचारानुसार एक मोडाबाडी अथवा दो मोडाबाडी है। गति मानी जाय, तब तो अथोडोकमें वेत्रासन ( मृद्धा या स्टूड ) और मन्यलोकमें झड़री ( बजाये जानेबाडी विशेष ढंगकी थाडी ) तथा ऊर्ज डोकमें मृदंग ( पखवाज या छोटे मुंह बड़े पेटवाडी ढोडक ) ऐसे आकारवाडे डोकमें किसी किसी निष्कुट क्षेत्र बन चुके प्रदेशमें किसी भी देशान्तरे आये हुये जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अतः सीन बेडियाडी गतिका आश्रय डेका समुचित है।

# सूक्ष्मनादरकेजींवैः सर्वे छोको निरंतरं। निश्चितः सर्वदेत्येतद्वचः कास्तु तथा सति ॥ ३॥

अनन्तानन्त स्क्ष्मजीव तथा अनंत और असंख्यात लोक प्रमाण बादर जीवोंकरके सर्वदा यह संपूर्ण लोक क्षित्ररहित ठसाठस भरा हुआ है, यह परम आगम सिद्धान्तोंका वचन है। यदि तिस प्रकार एक या दो मोडेवाली गतियां ही मानी जायंगी तो तैसा होनेपर यह वचन कहां रिक्षित रहा। अर्थात् सूक्ष्म या बादर जीव भला जन्म, मरणसे रहित तो नहीं है। लोकमें किसी भी स्थानसे चहि किसी भी स्थानपर जन्म ले सकते हैं। लोकमें देडे, मेडे कोनेवाले अनेक स्थल आगये हैं। अतः वहां तीन मोडेवाली गतिसे ही जन्म लेना सधता है। एक दो मोडेवाली गतिसे वहां वक्ष-स्थानोंमें पहुंचना नहीं बन सकता है।

सूक्ष्मैजीवैः सर्वलोको निरंतरं निचितः बादरकेश्व समासंभक्षमिति परमागमवक्तं। तथेकेन जीवेन सर्वलोकः मतिप्रदेशं क्षेत्रीकृत इति वकावकमलभतः। नहु द्विवक्रया गत्या यत्रो यत्र न्याप्तिः संभवति ततस्तत्र जीवस्योत्पत्तिः सर्वमसमंजसमेतद्वचनमिति चेत्, सर्वस्या- लोक्प्रदेशांत्रस्विम्मन् लोक्प्रदेशांतरे जीवस्य गतिरिति सिद्धान्तन्याद्दतिप्रसंगात्।

यह सम्पूर्ण ठोक सूक्ष्मजीवों करके खचाखच छेदरहित द्वस रहा है और बादर जीवों करके भी वहां ही यथायोग्य स्थानपर सम्भवते अनुसार भरपूर हो रहा है। यह सर्वद्वधारासे चले आ रहे ऋषिप्रोक्त परम आगमका वचन है। तथा पंच परावर्त्तनों में क्षेत्रपरिवर्त्तन करते समय एक जीवने भी प्रत्येक प्रदेशोंका स्पर्श करते हुये सम्पूर्ण ठोकको अपना जन्म क्षेत्र कर लिया है। इस कारण जीवका गमन वक्रपन और अवक्रपनको प्राप्त हो चुका है। यहां यदि कोई शंका यों करे कि दो मोडेवाली गित करके जहांसे जहां क्षेत्रतक व्यापना सम्भवता है, वहांसे वहांतक जीवकी उत्पत्ति हो जायगी। दो, तीन, बार जन्म ठेकर निष्कुट क्षेत्रमें भी उपज जायगा, एक ही जन्ममें निष्कुट क्षेत्रनक पहुंचनेकी क्या आवश्यकता पढ़ी है? जब कि एक दो मोडेवाली गितसे ही निर्वाह हो सकता है, तो ये सब परमागमके वचन न्यायोचित नहीं हैं। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यों तो '' सभी ढोकाकाशके प्रदेशोंसे चाहे कहां सभी ढोकके अन्य प्रदेशोंमें जन्म ठेते हुये जीवकी गित हो जाती है '' इस प्रकार सिद्धान्त वचनोंके व्याधात हो जानंका प्रसंग होगा। चाहे जहांसे छोकमें चाहे जहां कहीं भी जन्म हो जाता है, यह सिद्धांत अटूट है।

वेषां च चतुरसः स्यालोको वृत्तोपि वा मतः । निष्कुटत्वविनिर्मुक्तस्तेषां सा न त्रिवकता ॥ ४ ॥ किन्तु जिन प्रवादियों में यहां छोक चौकोर अथवा गोछ भी माना गया होय उनके यहां तो टेंढे कौनदार या पैछदार स्वरूप निष्कुटपनेसे सर्वथा रीता यह छोक हुआ। अतः उनके यहां तीन वकपना नहीं बनता है। एक दा वक्रताओं से कहीं से भी किसी भी स्थानमें जीवकी गति बन जाती है। एक समयमें एक ओर चाहे जितना सीधा चछनेवाछ जीवको यदि अपने समतछसे ऊपर नीचे टेंडे स्थानमें जन्म छेना है तो दो मोडे अवस्य छगेंगे। इससे अधिककी आवस्यकता नहीं है। हां, परमागम अनुसार छोकरचना मान छनेपर निष्कुट क्षेत्रमें गति करना तो तीन मोडा छेकर ही सम्भवता है।

मा भूदित्ययुक्तं, तथा पाणियुक्ता लांगलिका गोमूत्रिका चैकद्वित्रिवका संसारिणां गतिरिति सिद्धांतविरोधात् । तद्विरुद्धमनुरुध्यमानैः त्रिवका तु गतिरभ्युपगंतव्या, न चासौ निष्कुटत्वविनिर्धक्ते चतुरस्रे वृत्ते वा लोके संभवतीति न तदुपदेशसंभवः।

यदि कोई अतिसाहसी प्रवादी यों कह देवे कि जीवकी गतिमें तीन मोडे मले ही नहीं होवें, हमारी क्या क्षति है। टेडेपनको कमकर जीवमें जितनी सरलता बढे उतना ही अच्छा है। आचार्य कहते हैं कि यों तिद्धांतवाक्यका अतिक्रमण कर मलमानुषी दिखाते हुये प्रशंसा छूटना अनुचित है। क्योंकि तिस प्रकार त्रिवक्रपने का अभाव मान लेनेपर इस सिद्धान्तप्रन्थसे विरोध हो जायगा कि संसारी जीवकी लम्बे बाहु या हाथको ऊपर झुका देनेपर तत्सहश हुई पाणिमुक्ता गति तो एक मोडे-वाली है और दो स्थानीपर टेढे झुक रहे हलके समान आकारवाली लांगलिका गति तो दो वक्रतानवाली है तथा चलते हुये बैलके मूत्र समान आकारवाली गोम् त्रिका गति तो तीन वक्रताओंको धारती है, ये सिद्धान्तके वचन अक्षुण्ण हैं। निर्दोष निर्वाध उन सिद्धान्त वचनोंके अविरुद्ध अनुरोध मानकर प्रवर्त्तनेवाले विद्वानों करके तीन मोडेवाली गति तो अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिये और वह तीन मोडेवाली गति निष्कुटपनसे सर्वथा निर्मुक्त हो रहे चौंकोर अथवा गोल लोकमें नहीं सम्भवती है। इस कारण लोकके चौंकोरपन या गोल्पनका वह उपदेश देना सम्भव नहीं है।

#### कियत्समया पुनरवका गतिरित्याह।

गुरुजी महाराज ! अब यह बताओ, फिर नहीं मोडा छेनेवाछी गति भछा कितने समयोंमें पूरी होती है ? ऐसी शिष्यकी तीव आकांक्षा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

# एकसमयाविग्रहा ॥ २९ ॥

गतिवाले जीव पुद्रलोंकी जिस गतिमें मोडा नहीं है वह लोकपर्यन्त भी हो रही गति एक समयवाली है। अर्थात् सरलक्ष्पसे गमन करनेका अवसर मिल जानेपर जीव और पुद्रल एक समयमें असंख्यात योजनोंवाले चौदह राज्यतक चले जाते हैं। गतिका उदासीन कारण धर्मद्रव्य यदि लोकके बाहर भी होता तो असंख्याते राजुओंपर्यन्त जा सकते थे। किन्तु परवश हो जानेके कारण चौदह राज्ये अधिक गमन करना निषिद्ध हो जाता है।

## गतिरित्यतुवर्तनेन सामानाधिकरण्यात्स्रीलिंगनिर्देशः कृतः । एकः समयोऽस्या इत्येव समया, न विद्यते विग्रहो व्याचातोस्या इत्यविग्रहा ऋज्वी गतिरित्यर्थः । कृतश्रेविमत्याह ।

" अनुश्रेणिगतिः '' इस सूत्रसे गति इस शद्भ्यी अनुवृत्ति करके समान अधिकरणपना । जानेसे गतिकी अपेक्षा एक समया और अविप्रद्या शद्भीका स्त्रीलिंगमें कथन किया गया है। जि गतिका समय एक ही है इस कारण वह एक समय कही जाती है। इस एक समयमें होनेवाली गतिक विप्रद्य अर्थात्—आधात यानी कुटिलता नहीं विष्यमान है। इस अविप्रद्याका अर्थ यह हुआ कि ए समयमें होनेवाली गति वाणगमनके समान सरल है। कोई पृंछता है कि इस प्रकार गतिका सरलपक कैसे निर्णीत किया जाय ? यों आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानकारक अप्रिवार्तिकको कहते हैं।

# अविग्रहा गतिस्तत्र प्रोक्तेकसमयाखिळा । प्राप्तिः समयमात्रेण लोकात्रस्य तनोरपि ॥ १ ॥

उन गतियों में एक समयवाछी सम्पूर्ण गतियां तो कुटिलता रहित हो रहीं सरल हैं। कारण किवल एक समय करके ही लोकके अप्रवर्ती दूसरे शरीरकी भी प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् का लोकमें सबसे ऊपर स्थित हो रहे पन्द्रहसी पिचत्तर बडे चनुष मोटे तनुवातवलयके उत्परके पन्द्रहसी भागमें उसी समय जाकर मुक्तजीव लोकाप्रमें विराज जाते हैं। सबसे बडी सिद्धोंकी अवगाहना पांचर पचीस छोटे धनुषकी है और सबसे छोटी अवगाहना साढे तीन हाथकी है। पन्द्रहसी पिचत्तर धनुष उपरिम तनुवातवलयको पांचसीसे गुणा कर देनेपर छोटे धनुष हो जाते हैं। उनमें बडी अवगाहनाव भाग देनेसे पन्द्रह सी लब्ध आते हैं तथा साढे तीन हाथ यानी सात बटे आठ धनुषकी छोटी आ गाहनाका भाग देनेसे नी लाख लब्ध आते हैं। तनुवातवलयको पन्द्रहसीमे भागमें बढी अवगाहनाव सिद्ध हैं और नी लाखमें भागमें छोटी अवगाहनाकों सिद्ध हैं। मध्यवर्ती अवगाहनाओंके अनेक के विक्रित मध्यमाः।

छोकात्रमापणी गतिर्धुक्तस्य तावदेकसमया समाविर्भूतानंतवीर्यस्य तस्यैकसमयमात्रे छोकात्रमाप्त्युपपक्तः । पूर्वतनुपरित्यागेन तन्वंतरमापणी ऋजुगतिरेकसमयेव संसारिणीं संमाप्तताद्दग्वीर्योतरायक्षयोपश्चमस्य छोकांतरवर्तिन्याः तनोरिप समयमात्रेण माप्तिघटनात् । त सकछाप्यविद्यद्दा गतिरेकसमयेत्युपपनं । सामर्थ्यादेकवका द्विसमया, द्विका त्रिसमया, त्रिक चतुःसमयेति सिद्धं ।

मुक्तजीवकी छोकके उपरिम अग्रभागमें प्राप्त करानेवाली गति तो एक समयमें पूरी हो जा है। क्योंकि वीर्यान्तराय कर्मका क्षय हो जानेसे जिस मुक्त जीवके अनन्तवीर्यगुण भल्छे प्रकार प्रव

हो निया है। उस जीवकी केवल एक समयमें ही लोकके अप्रमागमें प्राप्ति हो जाना बन जाती है। हां, संसारी भी जीवनी पूर्वशरीरका परित्याग करके दूसरे अवके शरीरान्तरकी प्राप्त करानेवाली ऋजु गति भी एक समयवाळी ही है । तिस प्रकारका राजुओंतकका लम्बा उळळनेके उपयोगी बीर्यान्तराय कर्मका क्षस्रोपराम जिस जीवको भले प्रकार प्राप्त हो गया है उसको एक ही समयमें लोकान्तमें वर्स रहे श्रासिकी भी प्राप्ति हो जाना घटित हो जाता है। अर्थात - ऊर्च लोकके तनवातवलयमें स्थित बात कायिक जीव मरकर उसी समय अधोछोकके वातवलयमें चौदहराज नीचे जन्म ले लेता है या नीचेके बातवलयका जीव चौदह राज् ऊपर जाकर ऊपरके बातवल्यमें उसी समय जनम जाता है। सातों प्रथिवियों में दक्षिणकी ओर मरकर प्रथिवीकायिक जीव उसी समय सात राज, चल सातों प्रथि-वियोंमें उत्तरकी ओर जन्म हे हेता है। क्योंकि होक सर्वत्र दक्षिण उत्तर सात राज, मोटा है। कोई भी एकेंद्रिय जीव एक ओरसे दूसरी ओर एक समयमें ऊंचा, नीचा, तिरछा, सीधा सात राजू गमन कर जाता है। उतने अनन्त अविभागप्रतिच्छेदोंकों बार रहा उनके विधिगणका विकास हो रहा है। सुक्मिनगोदिया रुब्ध्यपयीतक जीवके जवन्य ज्ञानमें अनन्तानन्त अधिमाग प्रतिष्ठेद हैं और अनन्त चतुष्ट्य धारीके केवलबानमें भी अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं । हां, यह अनन्त उस अनन्त संख्यासे अनन्तानन्तगुणा बडा है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवके जघन्य वीर्य गुणमें अनन्त शक्त्यंश 👸 और अनन्तचतुष्टयभारी जीवन्मुक्त या मुक्तजीवके भी वीर्य गुणमें भी अनन्तानन्त शक्त्यंश वर्त रहे हैं। भलें ही वे पहिले अंशोंसे अनन्तानन्त गुणे अधिक हैं। एकेन्द्रिय जीव भी चौदह राज, ऊपर या नीचेतक गमन करनेकी शक्तिको रक्षित रखता है। पूर्वभव सम्बन्धी मरण और वहांसे उत्तरभवके लिये चौदह राजतक गमन जाकर नवीन शरीरका प्रदृण कर छेना ये सब एक ही समयमें हो जानेवाले कार्य हैं। हां, पहिले पीछे होते हैं । किन्त समयभेद नहीं है एक समयमें भी असंख्यातासंख्यात शक्त्यंश हैं । तिस कारणसे सम्पूर्ण भी कुटिलतारहित गतियां एक समयमें ही निष्पन्न कर ली जाती हैं, यह सिद्धान्त अन चुका है। साथमें विना कहे ही सामर्थ्यसे यह भी सिद्ध हो चुका है कि एक मोडेवाळी गति में दो समय घिरते हैं, दो मोडेवाळी गति तीन समयमें संपादित होती है, तीन मोडेको धारनेवाळी गति तो चार समयमें निष्पन होती है।

## यद्येवं सर्वत्राहारको जीवः प्रसक्त इत्याकूतं प्रतिषेथयज्ञाह ।

यदि उस प्रकार अविश्रहागतिमें जीव सदा आहारक बना रहता है, यानी पहिले समयमें भी आहार करता हुआ मरा था और अंग्रिम समयमें झट वहां पहुंचकर उसी समय नोकर्मका आहार कर किया, उसी प्रकार सभी एकवका, दिवका, त्रिवका, गतियोंमें भी जीवको आहारी बना रहनेका प्रसंग प्राप्त हुआ । इस प्रकारके सिद्धांतविरुद्ध कुचेष्टितका निषेध करते हुये श्री उमास्वामी महाराज अप्रवर्ती सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

# ः एकं द्वी त्रीन् वानाहारकः ॥ ३० ॥

एक, दो, तीन, मोडवाली गतियोंमें यह संसारी जीव यथाक्रमसे एक या दो अधवा तीन समयोंतक अनाहारक रहता है। अर्थात्—कार्माण काययोगदारा केवल आयुरहित सप्तिविध कर्मीका ही प्रहण करता रहता है। नोकर्मका प्रहण नहीं कर पाता है। वहां पहुंचकर जन्म लेनेके अगले समयमें आहारक बनता है। उसके पहिले एक, दो, तीन, समयतक वह जीव आहारी नहीं है।

एकं वा समयं द्वी वा समयो त्रीन् वा समयाननाहारक हित संमत्येयं, मत्यासकेः समयस्याभिसंत्रधात्, वा शन्दस्य मत्येकं परिसमाप्तेश्व । सप्तमी प्रसंग हित वेश, अत्यंत्रसंगी-गस्य विवक्षितत्वात् ।

वा शब्दका अर्थ यहां विकल्प है | उसका एक, दो, तीन, प्रत्येकमें परिसमाप्तिसे अन्वय कर देना चाहिये | निकटवर्ती होनेसे | "एकसमयाविप्रहा" इस सूत्रसे अनुवृत्ति कर प्राप्त हुये समय शदका यहां तीनोंमें सम्बन्ध हो जाता है । अतः चाहे एक समय अथवा दो समयतक किम्बा तीन समयतक संसारी जीव अनाहारक रहता है, यह पक्का विश्वास रखना चाहिये | यहां किसीकी शंका है कि आहार कियाका काल तो अधिकरण है | अतः एक, दो, तीन, इन संख्या वाचक शब्दोंमें सम्मी विभक्तीकी प्राप्ति हो जानेका प्रसंग आता है, आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना | क्योंकि यहां अत्यन्त संयोग की विवक्षा हो रही है । जहां अति अधिक संयोग विनक्षित होता है वहां ससमीका अपवाद कर दितीया विभक्ति कर दी जाती है ।

कः पुनराहारो नाम येनाहारको जीवः स्यादित्यभिधीयते त्रयाणां श्वरीराणां षणां पर्याप्तीनां योग्यपुद्रस्त्रग्रहणमाहारः तदभावाद्विग्रहमतावनाहारकः न हि तस्यामाहास्कश्चरीरस्य संभवः, नाप्योदारिकवैकियिकश्चरीरयोः षण्णां पर्याप्तीनां व्याघातात् । पुनरात्मैकसमये द्री श्रीन वानाहारको न पुनश्चत्र्र्थमपीत्याह ।

कोई पूछता है कि फिर यह बताओं कि आहार महा क्या पदार्थ है ! जिस आहार करके कि जीव आहारी हो जावेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी करके यो उत्तर कहा जाता है कि अदिदारिक, वैक्रियिक, आहारक, इन तीन शरीरों और आहारपर्याप्ति १ शरीरपर्याप्ति २ इन्द्रिय-पर्याप्ति ३ श्वासत् उद्यास पर्याप्ति ४ भाषापर्याप्ति ५ मनःपर्याप्ति ६ इन छह पर्याप्तियोंके बोग्य हो रहे पुत्रव्यक्यका महाम करना आहार है। यानी जैसे भूंख, प्यास, व्यानेपर यह जीव पित्त अदि हारा अख, जलका आहार कर लेता है। उसी प्रकार विशेष कर्मोका उदय होनेपर योग द्वारा यह जीव अतीन्द्रिय नोकर्म वर्षण्याओंका आहार करता है। उस विश्वहगतिमें तीसरे आहारका शरीरकी लो

सम्भावना ही नहीं है। क्योंकि आहारकशरीर नामक नामकर्मका उदय होनेपर असंयमका परिहार या गृहविषयोंमें उपजे हुये सन्देहको दूर करनेके छिये छठे गुणस्थानवर्ती किसी ऋदि प्राप्त मुनिके व्यान करते समय आहारक शरीर निपजता है। अधिकसे अधिक चौथे गुणस्थानमें हो रही विप्रह-गितिकी दशामें आहारक शरीरको उपजनेकी योग्यता प्राप्त नहीं है। अतः उस समय आहारक शरीरका प्रहण नहीं है। तथा औदारिक, वैक्रियिक शरीरोंका प्रहण करना भी असम्भव है। क्योंकि व्याचात है। मोडा छेते समय आहारिकया कथमिप नहीं हो सकती है। इसी प्रकार छह पर्याप्तियोंके वोग्य पुद्रछ द्रव्यके प्रहणका भी व्याचात है। अर्थात—जैसे कि कोई बहुत पिट रहा या अत्यधिक परिक्रम कर रहा अथवा परवश अधिक दौड रहा मनुष्य खाना पीना भूछ जाता है। उसी प्रकार विप्रह गितिमें नोक्म आहारका व्याचात है। उस समय तो फिर आत्मा एक मोडा छेनेपर एक समयमें अथवा दो मोडेवाछी गतिमें दो समयतक तथा तीन मोडेवाछी गतिमें तीन समयतक अनाहारक रहता है। फिर चौथे समयमें भी अनाहारक नहीं है। आहार अवस्य कर छेता है, इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकों हारा कह रहे हैं कि—

एकं समयमात्मा द्वौ त्रीन् वा नाहारयत्ययं । शरीरत्रयपर्याप्तप्रायोग्यान् पुद्गलानिमान् ॥ १ ॥ चतुर्ये समयेवश्यमाहारस्य प्रसिद्धितः । ऋज्वामिषुगतौ प्राच्ये पुंसः संसारचारिणः ॥ २ ॥ द्वितीये पाणिमुक्तायां लांगलायां तृतीयके । यथा तद्वत्त्रिवकायां चतुर्थे विष्रह्महः ॥ ३ ॥

यह संसारी जीव एक समयतक या दो समयतक अथवा तीन समयतक इन तीन हारीर और छह पर्याप्तियोंके स्वयोग्य होरहे नोकर्मवर्गणास्त्ररूप पुद्रलोंका आहार नहीं कर पाता है। चौथे समयमें अवस्य हा आहारकी सिद्धि होजाती है। धनुषपरसे फंक दिये गये बाणकी गतिके समान सरल (सीधी) ऋजुगतिमें तो इस संसारश्रमण करनेवाले जीवका पूर्वसमयमें ही आहार होजाता है। पूर्वभवका वियोग, उत्तरभवके प्रति गमन, वहां जाकर नोकर्मवर्गणाओंका आहार करलेना और पर्याप्तियोंका कार्य प्रारंभ होजाना ये सब कार्य एक समयमें ही सम्पन्न होजाते हैं। मुखे हुये हाथके समान एक मोडेवाली पाणिमुक्ता नामकी गतिमें तो दूसरे समयमें जीवको आहारकी प्राप्ति होजाती है। हु या सिंहपुच्छके समान दो मोडेवाली लांगलिका गतिमें जैसे तीसरे समयमें नोकर्म आहारकी प्राप्ति हो जाती है उसीके समान तीन मोडेवाली गोमूत्रिका गतिमें चौथे समययें जाकर शरीरका शहण किया जाता है।

## संमति क्षणिकाचेकांतव्यवच्छेदेन स्यादादपक्ष एव विप्रहमतिर्जीवस्य संभवतीत्याह ।

अब इस समय क्षणिकपन, नित्यपन, आदि एकान्त पक्षोंके व्यवच्छेंद करके स्याद्वाद पक्षमें ही जीवकी विग्रह गति होना सम्भवता है, इस रहस्यको श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमवार्त्तिकों द्वारा स्पष्ट खोळ कर कहते हैं।

# क्षणिकं निष्कियं चित्तं स्वशरीरप्रदेशतः। भिन्नं चित्तांतरं नेव प्रारभेत सविष्रहं॥ ४॥ सर्वकारणश्र्न्ये हि देशे कार्यस्य जन्मनि। काले वा न कचिज्जातुमस्य जन्मन सिद्ध्यति॥ ५॥

पहिले क्षणमें उत्पन्न होकर दूसरे क्षणमें समूल चूल नष्ट हो गया, क्रियारहित क्षणिक चित्त तो अपने शरीर प्रदेशसे भिन्न दूसरे शरीरसहित चित्तको नहीं उत्पन्न कर सकेगा। सम्पूर्ण कारणोंसे शून्य हो रहे देशमें अथवा कारणविकल कालमें यदि कार्यका जन्म माना जायगा तब तो कहीं भी देश या कालमें इस कार्यका जन्म नहीं जाना जा सकता है। अतः किस कारणसे किसका जन्म हुआ ? यों कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं हो सकता है। अर्थात् विश्व आत्मद्रव्यको क्षणिक, निष्क्रिय, अणु, विज्ञान स्वरूप मानते हैं। पहिले समयका चित्त सर्वथा नष्ट हो जाता है। दूसरे समयमें सर्वथा, नवीन चित्त उपजता है। उनके यहांकी यह दशा बालक, युवा, वृद्ध, अवस्थाओं में भी घटना किन है। क्षणिक चित्त जन्मान्तरमें जाकर उपज जाय, यह तो असम्भव ही है। बौद्ध तो बाणका भी देशांतरमें पृद्धच जाना, नहीं मानते हैं। पूर्व प्रदेशोंपर स्थित हो रहा बाणस्वरूप अवयवोंकी राशि सर्वथा नष्ट हो जाती है। अगले प्रदेशोंपर दूसरे समयमें अन्य ही बाण उपजता है। यही उत्पादिनशाका क्रम लक्ष्यदेशकी प्राप्ति तक बना रहता है। वहका वही बाण उपजता है। यही उत्पादिनशाका क्रम लक्ष्यदेशकी प्राप्ति तक बना रहता है। वहका वही बाण उपजता है। युक्त महीं पहुंच पाता है। बौद्धोंको असत्के उत्पाद और सत्के विनश जानेका उर नहीं है। यूमते हुये चाकमें भी वे कियाको न मानकर प्रत्येक प्रदेशपर नवीन नवीन चाकका उत्पाद विनाश स्वीकार करते हैं। ऐसा सिद्धान्त माननेपर निष्क्रिय चित्त भला जन्मान्तरमें जाकर दूसरे चित्तको नहीं उत्पन्न करा सकता है। अतः बौद्धोंके यहां विप्रहगिति नहीं सम्भवती है।

## क्रुटस्थोपि पुमानेव जहाति पाच्यविप्रहं। न गृह्णात्युत्तरं कायमनित्यत्वप्रसंगतः॥ ६॥

सर्वया नित्यपक्ष छेनेपर कूटस्थ आत्मा भी पूर्वजन्मके शरीरको नहीं छोड पाता है और उत्तरभवसम्बन्धी कायको नहीं प्रहण कर सकता है। क्योंकि यों तो अनित्यपनेका प्रसंग है

नावेगा, किसीका प्रद्रण करना अन्यका त्याग करना तो कथंचित अनित्य पदार्थके ही सम्भवता

# परिणामी यथा कालं गतिमानाहरत्यतः । स्वोपात्तकर्मसृष्टेष्टदेशादीन् अद्गलान्तरं ॥ ७ ॥

अतः न तो क्षणिक और न क्टस्थ, किन्तु परिणामी जीव गिलमान हो रहा सन्ता अपने पूर्वजन्मोंमें प्रहण किये गये कमी द्वारा रचे गये इष्ट देश, इप्ट फल, आहार्य पदार्थ आदिकोंका यथा-समय आहार कर लेता है तथा अपने योग्य अन्यपुद्रलोंका भी आहार कर लेता है। अर्थात्—एक दो अथवा तीन समयोंको टालकर अपने पुण्य, पाप, अनुसार यह उत्पाद, व्यय, ख्रीव्य, स्वरूप-परिणामका धारी और देशसे देशान्तरको जानेवाला जीव अनेक जातिके न्यारे न्यारे पुद्रलोंका आहार कर लेता है।

# इति विम्रहसंप्राप्त्ये गतिर्जीवस्य युज्यते । षड्डिः सुत्रेः सुनिर्णीता निर्बाधं जैनदर्शने ॥ ८ ॥

इस प्रकार शरीरकी भल्ने प्रकार प्राप्ति करने के लिये संसारी जीवकी गति होना युक्त हो जाता है। श्री अरहन्त देव द्वारा आध्य प्रतिपादन किये गये जैनदर्शनमें अथवा स्वरचित "तत्त्वार्थशास्त्र" नामक जैनदर्शन प्रन्थमें " विप्रहगतौ कमियोगः, अनुश्रेणि गतिः, अविप्रहा जीवस्य, विप्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्म्यः, एक समयाविष्रहा, एकं हो त्रीन् यानाहारकः " इन छह सूत्रों करके श्री उमास्त्रामी महाराजने जीवकी गतिका बाधारहित अच्छा निर्णय कर दिया है। योई खटका नहीं रह जाता है।

### अथैवं निरूपितगतेर्जीवस्य नियतकालात्मलाभस्य षष्टिकाद्यात्मलाभवत्संभाव्यमानस्य जन्मभेदमतिपादनार्थमाह ।

अब इसके अनन्तर जिस जीवकी गतिका इस प्रकार निरूपण किया जा चुका है, नियत किये गये कालमें आत्मलाभ कर रहे और साठी, चावल, वाजरा, कांगुनी, आदिके आत्मलाभ समाव सम्भावना किये जा रहे उस जीवके जन्मभेदोंका प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी मृहाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं। भावार्थ—साठी चावल जैसे साठ दिनमें पकते हैं, न्यून अधिक समयमें नहीं, इस प्रकार कई धान्य और अनेक पत्नोंके परिपाकका समय नियत है। गायें, मैसे, तथा किन्हीं किन्हीं किगोंके गर्मधारणका समय भी नियमित रहता है। उसी प्रकार जीव भी कियत कालमें अपने उत्पात्ति क्षेत्रको प्राप्त कर लेता है। वहां जाकर जीवके कितने प्रकार जन्म होते हैं ! उसका निर्णायक सूत्र यह है। इसको अब समझियेगा।

# संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

सन्पूर्जन, गर्भ, और उपपाद ये तीन संसारी जीवोंके जन्मके प्रकार हैं।

समितते मूर्छनं शरीराकारतया सर्वतः पुद्रलानां सम्मूर्छनं, श्रुकशोणितगरचाद्रभः मास्-प्रयुक्ताहारात्मसात्करणाद्वा, ज्येत्य पद्यतेस्मिनित्युपपादः । एतेषामितरेतरयोगे द्वन्द्वे संमूर्छनस्य प्रहणमादावतिस्थुल्ल्वात् अल्पकालजीवित्वात् ।तत्कार्यकारणमत्यक्षत्वाचे, तदनंतरं गर्भस्य प्रहणं कालप्रकविनिष्यत्तेः, जपपादस्य प्रहणमंते दीर्घजीवित्वात् ।त एते जीवस्य जन्मेति प्रत्येयं ।

तीनों छीकमें जपर, नीचे, तिरछे, कहींसे भी चारी ओरसे भी देहके अवयवीको रच छेना संपर्छन है। पदलोंका सब ओरसे शरीरके आकारपने करके अवयव गढ़ जाना सन्पर्छन जन्म है। जैसे कि सड़े हुये मल, मूत्र, फल, राटी, दाल, आदिमें जीव, आकर चारों ओरसे उन्हीं पदार्थीका हारीर रच लेता है। स्रिके उदरमें पुरुषके शक और माताक रक्तका मिश्रण हो जानेसे गर्भ नामका जन्म होता है अथवा माताके द्वारा खाये गये आहारको अपने अधीन करनेसे गर्भ माना जाता है । गर्भमें हाथी, घोंडे, बालक, बालिका, तोता, मैना, हिरण, बन्दर, आदिक जीव अपनी माताके खाये हुये आहारको अपने शरीररूप मिलाते रहते हैं । जिन कोमल शय्यास्थान या मकर मुख, आदि स्थानीको प्राप्त हीकर इनमें जन्मा जाय, इस कारण यह उपपाद है। देव या नारिक्योंके उत्पत्ति स्थानकी विशेषसंज्ञा उपपाद है। इन सम्पर्छन, गर्भ, उपपादोंका चाहे कैसे भी आगे पीछे रखकर इतरेतर योग नामक इन्द्र समास करनेपर सम्मूर्छन शद्भका आदिमें प्रहण हो जाता है। कारण कि सम्मूर्छन शरीर अधिक स्थूल है, अर्थात्—हजार योजन ऊंचा कमल, बारह योजन लंबा संख, तीन कोस लंबी गिंजाई: चार कोस लंबा भीरा और हजार योजन लंबा राघव मस्य ये सब जीव मोटे सन्पर्छन शरीरको धार रहे हैं। कमलका क्षेत्रफल सातसी पचास योजन है। संखका धनफल तीनसी पेसठ योजन है। गिजाईका क्षेत्रफल सत्ताईस योजनके इक्यासी सी बानवैमे माग है। अगरका क्षेत्रफल तीन बटे आठ योजन है। स्वयं मुरमण समुद्रमें निवास करनेवाले मत्स्यका घनफल साढ़े बारह करोड योजन है। इन जीवोंके सम्भुर्छन जन्म है । नारिकयोंका वैकियिक शरीर अधिकरे अधिक पांचरी बनुष है । देवींका भी मूळशरीर पच्चीस धनुषसे अधिक नहीं है, उत्कृष्ट भोगभूमिके भी मनुष्योंका शरीर तीन कोस लम्बा है। यहां कर्मभूमिमें मनुष्य शरीरकी अपेक्षा बोडे, बृक्ष आदिमें जो बृद्धिका लारतम्य है. वहीं तारतम्य भोगभूमिमें लगाया जा सकता है। अतः गर्भज, और उपपादजकी अपेक्षा सम्मूर्जन शारीर अधिक मोटा है, तथा वैसे भी सम्मूर्कन शारीरकी गढंत गर्भ, उपपादवालोंकी अपेक्षा मोटी है। प्रत्यकार स्त्रयं " परम्परं सुद्धं " आगे कहेनेवाले हैं । इंसरी बात यह है कि एक्जिन्मवाले और उपपादजनमवाले जीवोंकी अपेक्षा सम्पूर्कन प्राणी अल्पकाल जीवित रहते हैं । देखी, सम्पूर्कन मत्स्यकी भायु सातहजार छप्पनके ऊपर सबह बिन्दी छगाकर जितनी संख्या होती है उतन वर्ष प्रमाण

अर्थात् कोटि पूर्ववर्षकी उत्कृष्ट है। किन्तु गर्भजन्मवाले मनुष्यकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है और उपपाद जन्मवाले देष, नारिकयोंकी आयु तेतीस सागर उत्कृष्ट है। जिनमें कि असंस्थाते वर्ष कीनेमें पढे हुये हैं। उपपाद जन्मवाले की जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है और गर्भजन्मवालोंकी जघन्य आयु कुछ बढ़ा अन्तर्मुहूर्त्त है। किन्तु सम्मूच्छेन जीवोंकी जघन्य आयु नाडीगित कालके अठारहमें माग है। अतः अल्पकालतक जीवनेवाले विचारे सम्मूछेन जन्मवालोंका आदिमें प्रहण करना जिनत है। तीसरी बात यह है कि गर्भ और उपपाद जन्मके कार्य और कारणका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। किन्तु उस सम्मूछेन जन्मके कार्यकारण दोनोंका बहिरंग इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष हो भी जाता है। सम्मूछेन शरीरके कारण गले सढ़े पदार्थों या बीज, शाखा, आदिका लोकमें प्रत्यक्ष हो रहा है। तथा उनके कार्य बन गये लट, गिराड, अंकुर आदिका भी प्रायः प्रत्यक्ष हो जाता है। उस सम्मूछेनके पक्षात् गर्भका प्रहण है। क्योंकि सम्मूछेनकी अपेक्षा अधिक बढ़े हुये कालमें गर्भजन्मकी निष्यत्ति होती है। सम्मूछेन शरीर तो अन्तर्मुहूर्त्तमें भी बन जाता है। किन्तु गर्भके लिए चिरैच्या मुर्गी छिरिआ, कुत्ती, की, घोडी मैंस आदिके शरीरमें मास, दो मास, छह मास, नौ मास, बारह मास, तक बननेकी अपेक्षा है। सबके अन्तमें दीर्घकालतक जीवित बना रहना होनेसे उपपादका प्रहण किया है। वे सब इस जीवके जन्म हैं, यह विश्वास रखना चाहिये।

## संमुर्छनादिभेदात् जन्मभेदे वचनभेदमसंग इति चेन्न, जन्मसामान्योपादानात्तदेकत्वोपपत्तेः।

यहां किसीकी शंका है कि सम्मूर्च्छन आदिक भेदसे जब जन्मके तीन भेद हैं, तब तो जन्मशद्धके बहुवचन रूपसे भेद करनेका प्रसंग आता है। अर्थात् जब जन्मके प्रकार तीन हैं तो " जन्मानि " यों बहुवचन होना चाहिये। तभी सामानाधिकरण्य बनेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जाति अर्थमें प्रयुक्त किये गये जन्म शद्ध करके जन्म सामान्यका उपादान है। अतः उस जन्मशद्धकी एकवचन रूपसे सिद्धि हो जाती है। सामान्यको कहनेमें एक वचन कहा जाता है। जैसे कि " जीवाजीवास्त्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वं" यहां विधेय दलमें एक वचनान्त तत्त्व शद्धका प्रहण करना साधु है।

### कुतः पुनः संमुर्छनादय एवं जन्मभेदा इत्याह ।

स्वामीजी महाराज ! फिर यह बताओ कि संमूर्छन आदिक ही जन्मके भेद किस कारणसे हो जाते हैं ? अर्थात् सम्मूर्छन आदिक तीन ही जन्मके प्रकार हैं, अधिक क्यों नहीं हैं ? तथा ऐसे जन्मोंका कारण क्या है सो स्पष्ट कहिये, ऐसी विनीत शिष्यकी जिक्कासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्त्तिकको कहते हैं।

संमूर्छनादयो जन्म पुंसो भेदेन संप्रहात्। सतोपि जन्मभेदस्य परस्यांतर्गतेरिद्द् ॥ १ ॥ सामान्य रूपसे जन्मका एक भेद ही है। विशेषतया सैकडों, हजारों, जन्मके भेद हैं। हां, कति-पय भेदों करके ही संग्रह करनेसे जीवके सम्मूर्छन आदिक तीन जन्म कहे गये हैं। यद्यपि दूसरे दूसरे भी जन्मके विशेष भेद विद्यमान हैं, किन्तु उन विशेष भेद, प्रभेदोंका, इन तीन जन्मोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः अतिरिक्त प्रकारोंके माननेकी आवश्यकता नहीं है।

संस्वेदोद्भेदादयः परे जन्मभेदाः संमूर्छनात् तेषां तत्रैवांतर्गमनात् । भेदेन तु संग्रुग्नमाणं जन्म त्रिविधं व्यवतिष्ठते संमूर्छनादिभेदः पुनर्जीवस्य तत्कारणकर्मभेदात्, सोपि स्वनिमित्ता-ध्यवसायभेदादिति मतिपत्तव्यं ।

लट, डांस, जुआं, आदिक जीव पसीनासे उत्पन्न हो जाते हैं, इनका स्वदेज जन्म कहा जाता है। बुक्ष, वेलि, आदिक उद्भिज्ज हैं। शरीरमें पुष्पमाला पहिननेसे पुष्पोंके रूप आदिकी परावृत्ति हो जाती है। अतः अनुमान किया जाता है कि ऊष्मा या स्वेद निकलता रहता है, जिससे कि जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है तथा भूमिको भेद कर ऊपर निकल आये उद्भितसे जन्म लेनेवाले बुक्ष, धास, आदि हैं। इस प्रकार संस्वेद, उद्भेद, आदिक दूसरे भी जन्मके भेद हैं। किन्तु समन्तात् मूर्छन, होनेसे उन अतिरिक्त प्रकारोंका उन तीन जन्मोंमें ही अन्तर्गमन हो जाता है। हां, भेदकरके संग्रह किये जा रहे जन्म तो तीन प्रकारके ही व्यवस्थित हो रहे हैं। हां, फिर जीवके सम्मूर्छन आदिक जन्मभेद तो उनके कारण कमींके विशेष भेदोंके अनुसार हो जाते हैं और वह कमींका भेद भी अपने निमित्त कारण हो रहे कथायोंके अध्यवसाय स्थानोंके भेदसे बन बैठता है। मावार्थ—जीवोंके परिणाम असंस्थात लोक प्रमाण हैं। उनको निमित्त पाकर कर्मबन्धोंके असंख्याते विकल्प हो जाते हैं। उनकानिमत्त अनुसार संख्यात और असंख्यात भी जन्मके प्रकार हैं। जो कि पूर्णक्रपसे श्रुतज्ञान या केवल ज्ञानहारा गम्य हैं। इस प्रकार समझ लेना चाहिये।

#### तद्योनिप्रतिपादनार्थमाह ।

उन जन्मोंके योनिस्थानोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

# सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चेकशस्तवोनयः॥३२॥

सचित्त १ शीत २ सेवृत ३ और इनसे इतर अर्थात्—अचित्त ४ उष्ण ५ विवृत ६ तथा इनके मिळे हुये यानी सचित्ताअचित्त ७ शीतोष्ण ८ सम्वृत विवृत ९ ये नौ उन जन्मोंकी एक एककी योनियां हैं। अर्थात्—सचित्त आदि स्थळ विशेषोंमें जीव उन तीनों जन्मोंको यथायोग्य धारते हैं।

आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तं, शीतः स्पर्शविशेषः, संदृतो दुरुपलक्ष्यः । सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः, श्रीतोस्यास्तीति शीतः, संत्रियते संदृतः । सचित्तश्च शीतश्च संदृतश्च सचित्तश्च सित्रश्चर्यात्मात्रसंदृताः सहतरैरचित्तोष्णविद्यतैर्वर्तते इति सेतराः समितपक्षाः, मिश्रग्रहणसुभ-यात्मसंग्रहार्ये ।

आत्माके चैतन्यान्वित विशेषपरिणामको चित्त कहते हैं। आठ प्रकारके स्पर्शोमें शीत एक स्पर्शांक्शेष है, जो कि प्रसिद्ध ही है। संवृतका अर्थ भले प्रकार आच्छादित हो रहा यह जो प्रदेश बडी काठिनतासे देखा जा सके या नहीं देखा जा सके वह संवृत है। चित्तके साथ जो वर्तता है, इस कारण वह सचित्त कहा जाता है, शीतस्पर्श नामक गुण जिसके विद्यमान है, इस कारण यह योनिस्थान शीत है, गुणवाचक शीत शब्दसे मत्वर्थीय अच् प्रत्यय कर लेना। जो भले प्रकार ढक दिया जाय वह संवृत है। सचित्त और शीत तथा संवृत इस प्रकार इतरेतर योग द्वन्द्व समास करने पर "सचित्तशीतसंवृताः" पद वन जाता है। ये सचित्त, शीत, संवृत, यदि इतर हो रहे, अचित्त, उष्ण, विवृतोंके साथ वर्त जाते हैं, इस कारण सेतर यानी प्रतिपक्षसहित हो जाते हैं। इस सूत्रेंम मिश्रका प्रहण करना तो सचित्त, अचित्तका उभय और शीत उष्ण दो अवयववाला उभय तथा संवृत, विवृत इन दोनों आत्मक उभयका संग्रह करनेके लिये हैं।

च शद्धः प्रत्येकं समुच्चयार्थ इत्येकं, तदयुक्तं, तमंतरेणापि तत्प्रतीतेः, पृथिव्यप्तेजो-वायुरिति यथा । इतरयोनिभेदसमुच्चयार्थस्तु युक्तश्रश्चद्धः, एकशो प्रहणं क्रममिश्रप्रतिपत्त्यर्थे तेन सचित्तोचित्तो मिश्रश्च श्रीतज्ञणो मिश्रश्च संवृतो विवृतो मिश्रश्चेति नवयोनिभेदास्तस्य जन्मनः प्रतीयंते तच्छद्वस्य प्रकृतापेक्षत्वात ।

कोई एक विद्वान् यों कह रहे हैं कि सूत्रमें पड़ा हुआ च शब्द तो प्रत्येकका समुचय करने के लिये हैं। अर्थात्—प्रत्येकके साथ च शब्द लगा देनेपर ही नौ मेद हो सकते हैं। अन्यथा यानी च शब्द नहीं डाला जायगा तो सचित्त, शीत, संवृत, जब सेतर होकर मिल जांय, तब योनियां हो जाती हैं, यह अर्थ निकल पड़ेगा। और च शब्द कर देनेसे प्रत्येक प्रत्येक योनि हो जाती हैं। प्रत्येकका कहते हैं कि उनका कहना युक्तिरहित हैं। क्योंकि उस च शब्दके विना भी प्रत्येकका समुच्चय हो सकता है जिसे कि " पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि" यहां च शब्दके विना ही और बहुवचनान्त प्रयोगके विना ही पृथिवी, जल, तेज, वायु, ये प्रत्येक प्रत्येक होकर चार तत्त्व हैं, यह अर्थ निकल आता है। हां, संक्षेप प्रातिपादक सूत्रमें योनियोंके जो अन्य मेद नहीं कहे गये हैं, उनका समुचय करनेके लिये तो च शहका प्रयोग करना समुचित है। इस सूत्रमें एक एक इस प्रकार वीप्सामें शस् प्रत्यय कर एकशः शहका प्रहण करना तो क्रमपूर्वक मिश्र योनिर्यंकी प्रतिपत्तिके लिये हैं। तिस " एकशः " शह करके सचित्त और अचित्त रूप मिश्र तथा शीत और उष्ण

रूप मिश्र एवं संद्रत और विद्नत रूप मिश्र यों जान लिया जाता है। सचित्त शीतका मिला हुआ या शीत और संद्रतका मिला हुआ मिश्र नहीं समझ बैठना चाहिये। इस प्रकार उस जन्मकी योनियोंके नी भेद प्रतीत हो रहे हैं। सूत्रमें पड़ा हुआ तद् शह तो प्रकरण प्राप्त सम्मूर्छन आदि जन्मोंकी अपेक्षा रख रहा है।

सिचत्तादीनां दृंद्दे पुंबद्धावाभावो भिकाश्रयत्वादित्येके, तदयुक्तं । पुर्ल्छिगस्य योनि-श्रद्धस्येहाश्रयणात्तस्योभयलिंगत्वात् । स्त्रीलिंगस्य वा प्रयोग औत्तरपदिकद्रस्वत्वस्य विधानात् द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलंबितयोरुपसंख्यानमित्यत्र दृंद्देपि तस्य दर्शनात् ।

कोई एक पण्डित यहां कह रहे हैं कि साचित्ता, अचित्ता, आदि खीलिंग पदोंका दृन्द्र समास करनेपर विभिन्न आश्रय होनेसे पुंबद्भाव होकर हूस्व नहीं हो सकता है। यानी जब कि सिक्ता योनि न्यारी है और शीता योनि भिन्न है तो एकाश्रय नहीं बनता है। हां, सिचत्तस्वरूप ही जो अचित्ता,यों सामानाधिकरण्य होता तो पुंबद्भाव हो सकता था। आचार्य कहते हैं कि वह उनका कहना अयुक्त है। क्योंकि "योनिर्द्रयो" यों अमरकोषके वाक्य अनुसार वह योनि शद्ध पुलिङ्ग और खीलिंग दोनों लिंगोंमें प्रवर्तता है। यहां पुलिङ्गके योनि शद्धका आश्रय किया गया है। अतः सिचत्तः, शीतः, संवृतः, यों पुलिङ्ग शद्धौका समास कर " सिचत्तशीतसंवृताः" शद्ध बना लेना चाहिये। अथवा खीलिङ् भी योनि शद्धका प्रयोग करनेपर उत्तर पदके अनुसार हस्व होनेका विधान है। मध्यमा च विलंबिता च " मध्यमविलंबिते" यहां द्वतायान्तपरकरणे मध्यमविलम्बत्योरुपसंख्यानं इस वार्तिक अनुसार उत्तर-पदके परे रहते उस हस्व हो जानेका विधान देखा जाता है।

योनिजन्मनोरविशेष इति चेश्व, आधाराधेयभेदाद्विशेषोपपत्तेः । सचित्तग्रहणमादौ तस्य चेतनात्मकत्वात्तद्वंतरं श्रीताभिधानं तदाप्यायनहेतुत्वात् । अंते संवृतग्रहणं गुप्तरूपत्वात् तत्राचित्तयोनयो देवनारकाः, गर्भजा मिश्रयोनयः, शेषास्त्रिविकल्पाः ।

कोई आक्षेप करता है कि योनि और जन्ममें कोई अन्तर नहीं है। जो ही जन्म है वही यौनि है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं समझ बैठना। क्योंिक आधार और आध्यक भेदसे योनि और जन्ममें विशेषता बन रही है। योनि आधार है, जन्म आध्य है। सिचत्त आदि योनियों जीव सम्पूर्छन आदि जन्मों करके पुद्रलोंका प्रहण करता है। यहां सूत्रके आदिमें प्रधान चेतन आत्मक होनेसे सिचत्तका प्रहण किया है। उसके पश्चात् उस सिचत्त अर्थकी वृद्धिका कारण होनेसे शितका कथन किया गया है। अन्तमें गुप्तरूप होनेसे संवृतका प्रहण है। उन नी योनियोंमें देव और नारकी जीवोंकी योनि अचित्त है। क्योंिक उनके उपपाद स्थानोंमें किसी भी जीवका सम्बन्ध नहीं है। गर्भज जीवोंकी योनि सिचत्त, अचित्त मिळी हुयी है। अर्थात्—माताके उदरमें शुक्त, शोणित, तो अचित्त हैं। किन्तु गर्भाशयका स्थान जीवित हो रहा सिचत है। मरे हुये गर्भाशयमें यदि शुक्त, शोणित, रख दिये जांय

तो बाउक या अण्ड आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है तथा रोष द्वीन्द्रिय या वृक्ष, आदिक जीव तीनों भेदवाछे हैं। अर्थात्—किसीकी योनि सचित्त है, अन्य किसीकी योनि अचित्त है तथा अन्योंकी सचित्त, अचित्त है।

श्वीतोष्णयोनयो देवनारकाः, उष्णयोनिस्तेजस्कायिकः, इतरे त्रिप्रकाराः, देवनारकैकंद्वियाः संवृतयोनयः, विकल्लेद्रिया विवृतयोनयः, मिश्रयोनयो गर्भजाः तद्भेदाश्रग्रद्धसम्बताः
तत्र्यसङ्गानदृष्टाः, इतरेषामागमगम्याश्रतुरशीतिश्रतसदृष्ट्यस्यः। तदुक्तं-"णिचिदरधादुसत्तयतस्दस्वियल्लिदिष् दो दो अ। मुरणिरयतिरियचदुरो चोद्दस मणुष् सदसहस्सा "।

देव और नारिकयोंके योनि स्थान कुछ शीत प्रदेशवाले हैं और कुछ उष्ण प्रदेशवाले हैं। जैसे 👫 चौंचे नरकतक उन स्थानोंमें उष्णता अधिक है और छठे, सातमें, नरकमें शीत वेदनावाले ही ब्रदेश हैं। पांचमें नरकमें ऊपर दो लाख बिले उष्ण स्थान हैं, और नीचेके एक लाख बिलोंमें शीत अत्यधिक है. हेर्बोंके योनिस्थानोंमें भी सुखकी उत्पादक कहीं शीत व्यवस्था है, और कचित् मनोहर उष्णता है। तैजस्मायिक जीवोंके योनिस्थान उष्ण हैं, दियासलाईके रगडते ही ली उठनेपर झट उस उष्णस्थान में तेजस्कायिक जीव जन्म छे छेते हैं । इसी प्रकार लक्षडीके जलनेपर या तारमें विजलीका प्रवाह क्षकर चमक जानेपर उस उष्णस्थलमें अग्निकायके जीव उत्पन्न हो जाते हैं । अन्य शेष जीव कोई तो उच्चा प्रदेशोंमें उपजते हैं। इनसे भिन्न कोई शीत या शीतोच्या स्थालोंमें जन्म धारते हैं। देव, नारकी और एकेन्द्रिय इन जीवोंकी योनियां संवृत हैं। जन्मते समय इनके उत्पादस्थान रहते हैं। हां, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इनके योनिस्थल स्फूट हैं। गोबर, मल, द्विदल, फल, इनमें त्रसजीव उपज रहे शीघ्र प्रतीत हो जाते हैं । हां, गर्मज जीवोंकी उत्पादस्थान सेवृत, विवत. मिले हुये हैं । समुच्चय अर्थको कहनेवाले च शब्द करके उन नौ योनियोंके भेद प्रभेद संग्रहीत कर लिये जाते हैं। उन चौरासी लाख संख्यावाली योनियोंको विशादकपमे केवलज्ञानियोंने प्रत्यक्षज्ञान द्वारा देख लिया है। हां, अन्य संज्ञी जीवोंमेंसे किसी किसीको योनियोंके भेद, प्रभेदका बान आगमप्रमाणद्वारा परोक्षरूपसे हो जाता है। उन्हीं प्रभेदोंको सिद्धान्तप्रन्थोंमें यो कहा है कि बनस्पति कायके भेद हो रहे नित्यनिगोद और इतर गति निगोदवाले जीवोंकी सात सात लाख योनियां 🟅, पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, जीवींकी भी सात सात लाख योनियां हैं। वनस्पतिकायमें प्रत्येक जीवोंकी दस छाख योनियां हैं, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय जीवोंकी दो छाख योनियां हैं। देव और नारिकयों तथा पंचेंद्रिय तिंर्यचोंकी न्यारी न्यारी चार चार छाख योनियां हैं। मनुष्योंकी चीदड लाख योनियां हैं।

## अथैतेषां योनिभेदानां सद्भावे युक्तिग्रुपदर्श्वयति ।

इसके अनन्तर योनियोंके इन भेदोंका सद्भाव साधनेमें श्रीविद्यानन्द आचार्य युक्तिको अप्रिम-वार्तिकोद्वारा दिखळाते हैं।

# तस्यापि योनयः संति सचित्ताद्या यथोदिताः । स्वावारेण विना जन्म क्रियाया जात्वनीक्षणात् ॥ १ ॥ तद्वैचित्र्यं पुनः कर्मवैचित्र्याद्विनियम्यते । कार्यवैत्रित्र्यसिद्धेस्तु कर्मवैचित्र्यनिर्णयः ॥ २ ॥

उस जन्मके भी इस सूत्रमें कह चुके अनुसार सचित्त आदिक योनियां हैं (प्रतिज्ञा) अपने (जन्मको) ढकनेवाले (योनिस्थान) के विना जन्म लेना रूप क्रियाका कदाचित् भी देखना नहीं होता है (हेतु) उन योनियों और जन्मकी विचित्रता तो फिर अन्तरंग कारण हो रहे क्रमौंकी विचित्रतासे हो जाती है। यों विशेषरूपसे नियम किया जा रहा है और सुख, दुःख आदिक कार्योंके विचित्रपनकी सिद्धिसे तो कर्मोंकी विचित्रताका निर्णय हो रहा है। मावार्थ—परिदृष्ट कारणोंका व्यभिचार हो जानेपर अतीदिय कारणोंकी सिद्धि हो जाती है। जब कि सुख, दुःख आदि अनेक प्रकारके विलक्षण पदार्थ दिख रहे हैं, अतः योनि, कुल, कर्म, आदिकी युक्तियोंसे सिद्ध कर ली जाती है।

न हि स्वभावत एव श्राणिनां सुखदुःखानुभवादिकार्यवैचित्र्यं नियमामानमसंगात् । काळादेवेति चायुक्तं, एकस्मिकपि काळे तद्वैचित्र्यानुभवात् । भूतवैचित्र्यात्स्यादिवैचित्र्यमिति चेत् न, सुखादेः भूतकार्यत्वनिषेधात् । ततः कर्मवैचित्र्यमेव सुखादिकार्यवैचित्र्यं गमयति, तद्यतिरेकेण दृष्टकारणसाकल्येपि कदाचिद्युत्पक्तः, तच कर्मक्रीचित्र्यम्बस्य जन्मनिमिक्तमिति पर्याप्तं प्रपंचकेन ।

अनेक प्राणियोंका सुख, दु:खके अनुमव या धन, पुत्र, आदिकी प्राप्ति अथवा शोक, हास्य, आदिकी दशामें हुवे रहना, उत्कृष्ट विद्वान् या मूर्ख बने रहना इत्यादिक कार्योकी देखी जा रहीं विचित्रतायें स्वभाव ही से तो नहीं हो जाती हैं। दूसरे निमित्त कारणोंके विना ही सुख: दु:ख, आदिकी उत्पत्ति माननेपर तो नियमके अभावका प्रसंग होता है। चाहे कोई भी जीव सुलमतासे विद्वान्, रोगी, मूर्ख, धनवान्, सुकुलवान्, दिद्व, आदि बन बैठेगा। कोई देश, काल, व्यक्ति, आदिका नियम नहीं बन सकेगा। किन्तु उक्त कार्योके होनेमें नियम देखा जा रहा है। अतः ये कार्य स्वभावसे ही न होकर किन्हीं अतान्तिय निमित्तोंसे होरहे मानने पडते हैं। कालसे ही सुखदु:ख, आदि कार्योकी विचित्रता बन बैठती है यह कहना तो युक्त नहीं है। क्योंकि एक भी किसी कालमें उन कार्योकी विचित्रताका अनुभव हो रहा है। अर्थात्—उसी समयमें किसीको लाभ होता है अन्यको व्यापारमें हानि हो रही है। कोई बीमार हो रहा है, कोई उसी समय नीरोग, बलिष्ठ, खडा हुआ है, एक ऋतुमें कोई इक्ष फलता कुलता है, दूसरा बृक्ष सूख जाता है, यहांतक कि अक्रीआ, खरबूजाकी केल, रास्ता, वायसुर्द, आदिक

वनस्पतियां वर्षाकालमें सूख जाती हैं, जब कि अन्य असंख्य वनस्पतियां हरीं भरा रहतीं हैं। अतः काल सावारण कारण मलें ही होय किन्तु असाधारण कारण काल नहीं है। यदि कोई यों कहे कि प्रियेवी, जल, तेन, इन भूतोंकी विचित्रतासे सुख आदि कार्योकी विचित्रता बन जाती है, जैसा जहां भूतवन्य होगा वैसा वहां सुख दुःख, ज्ञान, आदि हो जावेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि भूतके कार्य सुख, दुःख, आदि हैं। इसका पूर्वप्रकरणोंमें निषेच किया जा चुका है। अतः अन्वय, व्याभिचार, व्यातिरेक व्याभिचार, दोष आजानेसे काल, भूत, दुग्ध, व्यापार, गुरु, स्थान, अषिषी, आदि पदार्थ तो सुखादि कार्योके विचित्रपनका अन्यर्थ संपादन नहीं कर पाते हैं। तिस कारण परिशेष न्यायसे कर्मोकी विचित्रता ही को सुखादि कार्योका विचित्रपना ज्ञापित कराता है। उस कर्मकी विचित्रताके विना दृष्टकारणोंकी पूर्णता होनेपर भी कभी, कहीं, उन कार्योकी उत्पत्ति नहीं देखी जा रही है। वही कर्मोकी विचित्रता यहां प्रकरणमें इस जन्म या योनियोंका निमित्त कारण समझी जाती है पूर्व प्रकरणोंमें पौद्रलिक कर्मोकी विलक्षण शक्तियोंका हम निरूपण कर चुके हैं। यहां अधिक विस्तार-लिखनेकी अपेक्षा इतनेसे ही पूरा पड़ो। अधिक प्रकरण बढ़ानेसे कुछ विशेष प्रयोजन नहीं साधता है।

#### केषां पुनर्गर्भजन्मेत्याह ।

संसारवर्ती कौन कौन प्राणियोंके गर्भ नामका जन्म होता है ? अथवा : क्या सम्पूर्ण प्राणियोंके नियम विना चाहे कोई भी जन्म हो जाता है ? बताओ, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको उतारते हैं ।

# जरायुजाण्डजपोतानां गर्मः ॥ ३३ ॥

जरायुमें उत्पन्न हुये मनुष्य, बछरा, पडरा, आदि प्राणियोंके और अण्डेसे उत्पन्न हुये तोता, मैना, कबूतर, आदि जीवोंके तथा उदरसे निकलते ही उछलने दौडनेवाले हिरण आदि पोत तिर्यचोंके गर्भ नामक जन्म होता है।

जालवत्याणिपरिवरणं जरायुः जरायौ जाता जरायुजाः, शुक्रशोणितपरिवरणग्रुपाच-काठिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमंडलमंडं, अंडे जाता अंडजाः, पूर्णावयवः परिस्पंदादिसामध्यों-पक्षितः पोतः । पोतज इत्ययुक्तमर्थभेदाभावात् । आत्मा पोतज इति चेन्न, तस्यापि पोतप-रिमाणादात्मनः पोतत्वात् । जरायुजाश्च अंडजाश्च पोताश्च जरायुजांडजपोता इति सिद्धं ।

प्राणियोंके ऊपर जालके समान चारों ओरसे ढकनेवाला झिल्ली स्वरूप पदार्थ जरायु कहा जाता है, जो कि फैले हुये मांस और श्रेणितका पत्तर है। जरायुमें जो उपजते हैं वे ज़ीय जरायुज है। पुर्लिग तिर्यचका वीर्य और स्नीलिंग तिर्यचका रक्त अपनी अवस्थाको बदलकर काठिन्यको प्रहण करता हुआ नखके वकला सरीखा कुछ लम्बाई लेता हुआ गोल पदार्थ अण्ड कहा जाता है। अर्थात् - ग्रुक्त और रक्तसे जीवका आध नोकर्म शरीर बनता है। उनके कुछ बचे हुये भागसे लीची फलके छिलका समान अण्डेका उपरिम कठोर भाग बन जाता है। पश्चात् वह अन्य आहार्य पदार्थीसे भी बनकर बढता रहता है। उस अण्डेमें उत्पन्न हुये जीव अण्डज कहे जाते हैं। किसी ढक्कनके बिना ही परिपूर्ण अवयववाला होता हुआ योनिसे निकलते ही चलना, फिरना, आदि कियाओंके करनेकी सामर्थ्यसे युक्त हो रहा शरीरी पोत कहा जाता है। कोई कोई जरायुज और अण्डजके समान पोतज शद्ध झट मुंहसे निकाल बैठते हैं, उनका कथन अयुक्त है। क्योंकि पोत और पोतजमें कोई अर्थका मेद नहीं है। यदि तुम यों कहो कि पोत तो शरीर है और उस पोतमें उत्पन्न हुआ आत्मा पोतज है, यों अर्थका मेद बन गया। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि पोतजन्मधारी शरीरके अनुसार उस आत्माका भी पोत परिणतिसे परिणाम हो जाता है। अतः आत्मा भी पोत 'समझा जाता है, पोतज नहीं। जरायुज और अण्डज तथा पोत इस प्रकार इतरेतरयोग नामक इन्द्र समास करनेपर "जरायुजाण्डजपोताः" यह सूत्र उक्तपद सिद्ध हो जाता है।

द्वंद्वे जरायुजग्रहणमादावभ्यहितत्वात् कियारंभञ्चक्तियोगात् केषांचिन्महामभावत्वान्मार्ग-फलाभिसंबंधाच । तदनंतरमंडजग्रहणं पोतेभ्योऽभ्यहितत्वात् । एतेषां गर्भ एव जन्मेति सूत्रार्थः ।

जरायुज, अण्डज, पोत, इन तीनों पदोंको चाहे कैसे भी आगे पीछे बोळकर इन्द्र समास करने पर पूज्य होनेसे जरायुज शहका प्रहण आदिमें प्रयुक्त हो जाता है। जरायुज जीवोंके पूज्य होनेमें ये तीन कारण हैं कि बिटिया कियाओंके आरम्भ करनेकी शिक्तका योग जरायुज जीवोंमें है। अर्थात्—उत्तम भाषा बोळना, अध्ययन करना, बड़े बड़े आविष्कार करना, अनेक ऋदियें प्राप्त करना, ये अञ्चल कियायें जरायुजोंमें हैं तथा जरायुजोंमें सभी तो नहीं किन्तु कोई कोई चक्रवर्ती, बासुदेव, रुद्र तपस्वी आदि जरायुजोंमें हैं तथा जरायुजोंमें सभी तो नहीं किन्तु कोई कोई चक्रवर्ती, बासुदेव, रुद्र तपस्वी आदि जरायुज जीव महान् प्रभाववाले होते हैं। तीसरे सम्यदर्शन आदिक मोक्ष मार्गके फल हो रहे मोक्षसुखका परिपूर्ण सम्बन्ध जरायुजोंके ही पाया जाता है। अन्य जीव मोक्षके साक्षात् अधिकारी नहीं हैं। उस जरायुजके अन्यवहित पीछे अण्डज जीवोंका प्रहण है। क्योंकि पोत जीवोंसे अण्डज जीव अभ्यहित हैं। अण्डजोंमें तोता, मैना, आदिक तो अक्षरोंका उच्चारणतक करते हैं। कन्त्रर, इस, आदिक जीव तो कदाचित् दूतका कार्य मी कर देते हैं। कतिपय पक्षी तो राष्ट्रके सद्राव या ठीक प्रातःकाल समयको बता देना, आंधीकी सूचना देना, आदि कर्म करनेमें कुशल समझे जाते हैं। इन तीन प्रकारके जीवोंके गर्म नामका ही जन्म होता है, यह इस सूचका अर्थ है।

उद्देशे च निर्देशो युक्त इति चेन्न, गौरवमसंगात् । श्रेषाणां संमूर्छनमिति छघुनोपायेन गर्भोपपादानंतरं वचनोपपत्तेः ।

कोई शंका करता है कि उदेशके अनुसार ही निर्देश करना उचित था। जब कि जन्मोंमें ही सम्मूर्क्त जन्म पहिछे कहा गया है तो सन्मूर्कन जन्मवाछे जीवोंका सूत्रकारको प्रथम निरूपण करना चाहिये। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों कहनेसे बढ़े भारी प्रन्थगौरव दोष हो जानेका प्रसंग होगा। गर्भजन्म और उपपाद जन्मके अनन्तर रोषजीषोंके सन्पूर्छन जन्म होता है, इस प्रकार छबु उपाय करके निर्देश करना अच्छा बन जाता है। अर्थात्—यदि आदिमें सन्पूर्छन जन्मकारे जीवोंका कथन किया जाता तो एकेंद्रिय, दीन्द्रिय, प्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा कितने ही बहु भाग पंचेन्द्रिय तिर्येच और छब्न्यपर्याप्त मनुष्यके सन्पूर्छन जन्म होता है। इतना छम्बा सूत्र कहनेसे शासका न्यर्थ बोझ बढ जाता। किन्तु दो प्रकारके जीवोंका निरूपण कर, पुनः रोषोंक सन्पूर्छन जन्म होता है, यो थोडंसे अक्षरोंमें ही अधिक प्रयोजन सध जाता है।

#### कुतः पुनर्जरायुजादीनां गर्भ एव युक्त इत्याह ।

जरायुज आदिक जीवोंके गर्भ ही होता है यों विधेय दलमें एवकार लगाना, फिर किस प्रमा-णसे युक्त सिद्ध कर दिया गया है ? बतलाइयेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि—

### युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भोवधारणात् । देवनारकशेषाणां गर्भाभावविभावनात् ॥ १ ॥

जरायुज आदिक जीवोंके ही गर्भ जन्म मानना युक्त है। क्योंकि यों उद्देश्य दल्में एवकार द्वारा अवधारण कर देनेसे देव और नारकी तथा रोष एकेन्द्रियादि जीवोंके गर्भके अभावका विचार कर लिया जाता है। तथा विधेय दल्में एवकार लगानेसे जरायुज आदि जीवोंके गर्भसे अतिरिक्त उपपाद और सम्मूर्लन जन्मोंका निषेध हो जाता है। अतः अन्ययोगन्यवच्लेदक और अयोग न्यवच्लेदक दो एवकारों द्वारा दोनों ओर ताले लगाकर अवधारण कर दिया है अथवा पहिला अवधारण ही लगाना ठीक है। "देवनारकाणममुषपादः" और "रोषाणां संमूर्लनं" इन सूत्रोंके उद्देश्य दलमें एवकार लगाना आवस्थक ही होगा। उसीसे ही यहांके "गर्भ एव " इस अवधारण द्वारा होने योग्य कार्यको साथ लिया जावेगा।

विद हि जरायुजादीनां गर्भ एवेत्यवधारणं स्यात्तदा जरायुजादयो गर्भनियताः स्युः गर्भस्तु तेष्वनियत इति देवनारकेषु शेषेषु सप्रसज्येत । यदा तु जरायुजादीनामेवेत्यवधारणं तदा तेषु गर्भाभावा विभाव्यत इति युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भः ।

कारण कि जरायुज आदिक जीवोंके गर्भ ही होता है, यदि इसी प्रकार विधेय दलके साथ एवकार लगाकर अवधारण किया जाता तब तो जरायुज आदिक जीव अकेल गर्भ जन्मसे ही नियत होते, उनके सन्मूर्लन जन्म और उपपाद जन्मकी व्यावृत्ति हो जाती, किन्तु उन ही जीवोंमें गर्भ तों नियत होता। अतः देव और नास्की तथा शेष एकइन्द्रियादि जीवोंके भी वह गर्भजन्म प्रसंग प्राप्त हो जाता खोकि इक नहीं हैं। हां, जब जरायुजादिकांके ही गर्भ होता है यें पूर्व दलमें एक लगाकार अवधारण

किया जाता तंब तो उन देवनारक और शेष जीवोंमें गर्मका अभाव निर्णीत किया जा सकता है। इस कारण जरायुज आदिक जीवोंके ही गर्म होता है, यह अवधारण कर कथन करना युक्तिपूर्ण है।

#### केवलमुपपादेपि जरायुजादीनां असक्ती तिश्रवारणार्थमिदमाइ।

अथवा " जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः " इस सूत्रमें पूर्व अवधारण कर जरायुज, अण्डज, पोत, जीवोंके ही गर्म होता है, यों अर्थ करलिया जाय, तब तो केवल जरायुज आदिकोंके ही गर्म हुआ, देन नारिकयोंके गर्भके प्रसंग का निवारण होगया, किन्तु जरायुज आदि जीवोंके दूसरे उपपादमें भी जन्म लेनेका प्रसंग आता है। क्योंकि विधेय दलमें अवधारण तो है नहीं। अतः उस प्रसंगका निवारण करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

# देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

देव और नारकी जीवोंके उपपाद नामका जन्म होता है।

# स्याद्देवनारकाणामुपपादो नियतस्तथा । तस्याभावात्ततोन्येषां तेषां जन्मांतरच्युतेः ॥ १ ॥

देव और नारक जीवों के तिस प्रकार उपपाद जन्म ही नियत हो जायगा। क्योंकि उन देव नार-कियोंसे भिन्न हो रहे दूसरे जीवोंके उस उपपाद जन्मका अभाव है। तिस कारण उन देव नारिकयोंके उपपादसे अतिरिक्त अन्य गर्भ, सन्मूर्छन जन्मोंकी निवृत्ति सिद्ध हो जाती है।

देवनारकाणामेक्रोपपाद इति हि नियमे देवनारकेषु नियत उपपादः देवनारकास्तूपपादे न नियता इति गर्भसंमूर्छनयोरपि प्रसक्ताः पूर्वोत्तरसूत्रावधारणात् तत्र निरवधारणोसौ । उपवाद एव देवनारका अवतिष्ठंते न गर्भे संमूर्छने वा प्रसज्यंते, ततस्तेषां जन्मांतरच्युतिसिद्धे- रूपपाद एव ।

चूंकि देव और नारिकयोंके ही उपपाद जन्म होता है, ऐसा नियम कर देनेपर देव और नारिकयों है। उपपाद जन्म नियत हो जाता है। ऐसा होनेपर जरायुज आदिक और रोष जीवोंके उपपाद जन्मकी न्याहित हो जाती है। किन्तु देव और नारिक जीव तो उपपाद जन्ममें नियत नहीं हुये। इस कारण गर्भ और सम्मूर्छम जन्मों में भी देव और नारिकयोंके उपज जानेका प्रसंग आ जाता है। हां, वहां पूर्वसूत्र " जरायुजाण्डजपोत्तानां गर्भः " और उत्तर सूत्र " रोषाणां संमूर्छनं " इनमें उदेश्यदलमें अवधारण लगा देनेसे वह उपपाद जन्म अवधारणरहित होता हुआ ही प्रसंगको टाल देता है। आगे पिछके सूत्रोंमें अवधारण लगा देनेसे देव और नारिक उपपाद जन्ममें ही उपस्थित रहते हैं।

गर्भ अथवा संसूर्छनमें जन्म छेमेके छिपे प्रसंग प्राप्त नहीं हो पाते हैं। तिस कारण उन देवनारिक्योंके उपपादके सिवाय अन्य जन्मोंकी ज्युतिकी सिद्धि हो जानेसे उपपाद जन्म ही नियत हो जाता है। इस सूत्रके विधेय दछमें एवकार छगानेकी आवश्यकता नहीं है, जैसे कि पूर्व सूत्रके विधेय दछमें एवकार छगानेकी आवश्यकता नहीं पड़ी थी।

#### नन्ववं जरायुजादीनां देवनारकाणां च संमूर्छनेपि मसक्तिरित्याख्यातं मतिघ्नसाह ।

यहां शंका है कि जब गर्भ एव, उपपाद एव, इस प्रकार दोनों स्त्रोंके विश्वय दलमें एवकार नहीं लगाया गया है तब तो जरायुज, अण्डज, आदि जीवोंका और देव नारिकयोंका संमूर्छन जन्म होनेमें भी प्रसंग आता है। मले ही उक्त दोनों स्त्रोंके उदेश्य दलमें एवकार लगाकर जरायुजादिकांके उपपाद जन्मका निराकरण कर दिया जाय और देवनारिकयोंके गर्भजन्मका निवारण कर दिया जाय। किन्तु इन जीवोंके सम्मूर्छन जन्मका निवारण उन एव क्रारेंसे ही नहीं सकता है। इस प्रकारके भिष्ठतका साटोप खण्डन करते हुये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

# रोषाणां संमूर्छनं ॥ ३५ ॥

गर्भ जनमवाले जीव और उपपाद जन्म धारनेवाले जीवोंसे रोष बच रहे एकेंद्रिय, दीन्द्रिय आदि जीवोंके सम्मूर्छन जन्म होता है।

#### शेषाणामेव संमूर्छनमित्यवधारणीयं। के पुनः शेषाः कुतो वा तेषामेव संमूर्छनमित्याह।

पूर्वोक्त दो सूत्रोंके समान इस सूत्रके उद्देश्य दलमें भी एवकार लगाकर देश जीवोंके ही सम्मूर्क्त जन्म होता है यो अवधारण कर लेना चाहिय । कोई जिज्ञासु पूंछता है कि महाराज बताओ, वे देश जीव फिर कौन हैं ? और क्या कारण है कि उनके ही सम्मूर्छन जन्म माना "गया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अश्रिम वार्त्तिकको कहते हैं।

# निर्दिष्टेभ्यस्तु शेषाणां युक्तं संमूर्छनं सदा । गर्भोपपादयोस्तत्र प्रतीत्यनुपपत्तितः ॥ १ ॥

निर्दिष्ट कर दिये गये जरायुज आदिकोंसे और देवनारकोंसे अतिरिक्त होष वस रहे एकेन्द्रि आदि जीवोंके सर्वदा सम्मूर्छन जन्म होना ही युक्तिपूर्ण है । क्योंकि उन एकेन्द्रियादि जीवोंमें गर्क जन्म और उपपाद जन्मकी प्रतीति हो जाना सिद्ध नहीं है ।

उक्तेभ्यो जरायुनादिभ्यो देवनारकेभ्यश्च अन्ये श्रेषास्तेषामेव संमूर्छनं युक्तं सदा गर्भो-पपादयोस्तत्र मतीत्यज्ञुपपत्तेः । तर्हि संस्वेदजादीनां जन्मप्रकारोन्यः असूत्रयितस्य इस्यायंकाय-पसारयन्ताह । बहे जा कुने जरायुज आदिन और देवनारक जीनोंसे अस्य बच रहे जीव यहां रोष जीव माने जाते हैं उन रोष जीनोंके ही सम्पूर्जन जन्म मानना समुचित है। क्योंकि उनमें गर्भ और उपपाद जन्मनी असित होना सर्वदा नहीं बनता है। यहां कोई पुनः रांका उठाता है कि तब तो जीवोंको अच्छा उपजानेवाले पसीना, कीच, आदिसे उपजते हुये स्वेदज, छट, जुंआं, डांस, आदि और भूमिको बतेजक निकले हुये उदिरुख, इक्ष गुरुष आदि जीवोंका भिन्न चौथा जन्मका प्रकार न्यारे सूत्र द्वारा उपलब्ध महाराज करके कहना चाहिये ! इस प्रकारकी आशंकाका निराकरण करते हुये श्री निधाननद स्वामी अधाली वार्तिकको कहते हैं।

## तथा संस्वेदजादीनामपि संमूर्छनं मतं । जन्मति नापरो जन्मशकारो सूत्रितोस्ति नः ॥ २ ॥

तिन एकेंद्रियादि रोष जीवोंके समान उस ही प्रकारसे स्वेदज आदिक जीवोंके भी सम्मूर्छन जन्म माना गया है। इस कारण जन्मके तीन प्रकारोंसे अन्य कोई चौथा, पांचवा, प्रकार हमारे जैन सिद्धान्तमें नहीं है। अतः सूत्रदारा हमने सूचित नहीं किया है।

### इत्येवं पंचिभः सुत्रैः सुत्रितं जन्मजन्मिनां । भेदप्रभेदतिश्चित्यं युक्त्यागमसमाश्रयं ॥ ३॥

यहांतक इस प्रकारके " संमूर्छन गर्भोपपादा जन्म, सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चेकशस्त-चोंच्यः, जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः, देवनारकाणामुपपादः, शेषाणां संमूर्छनं " इन पांच सूत्रों कर के जन्मवाले संसारी प्राणियोंका सूचन किया जा चुका है। युक्तिप्रमाण और आगम प्रमाणका अच्छा आश्रय रखते हुये विद्वानों करके मेद्द, प्रमेद, रूपसे इस जन्मका अन्य भी प्रसमर्श कर लेना चाहिये। सूत्रमें तो संक्षेपसे ही प्रसेष कुछा जा सकता है।

#### अथ जीवस्य कति शरीराणीत्याह ।

हे करुणानिधात ! अब यह बताओ कि संसारी जीवके कितने शरीर होते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिमसूत्रको स्पष्टरूपसे क्रह रहे हैं ।

# औद्मिनिकेविकियिकाद्वारकतेजसकार्मणानि श्ररीराणि।३६।

अोदारिक, वैकियिक, आहारक, तैज़स, और कार्मण ये पांच शरीर हैं।

श्वरीरनामकर्मीद्वे सति शीर्येत इति श्वरीराणि । श्वरणिश्वयात्र न्युत्पत्तिनियित्तं महर्ति निर्मितं तु श्वरीरनामकर्मोदव एवोदितः शरीत्वपरिणामः न पुनरर्योतरभूतशरी-तरकसामाण्यं तस्य विवाधमाणस्थायोगात् । नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियों में गिनाये गये शरीर नामक कर्मका उदय होनेपर जो छिदने, मिदनेवाछे पिण्ड बन जाते हैं, इस कारण ये पांच शरीर कहें जाते हैं। यहां शरीर शह्में शरण किया तो व्याकरण द्वारा शहकी साधुता प्रतिपादक व्युत्पत्ति करनेका ही निमित्त है। रहे किया व्युत्पत्त्ययेंव, किन्तु प्रवृत्तिका निमित्तकारण तो शरीर नामक अतीन्त्रिय हो रहे नामकर्मका उदय ही कहा गया है, जो कि जैनसिद्धान्त अनुसार शरीरपना स्वरूप परिणाम है। जैनसिद्धान्तमें पौद्रिकिक शरीरसे सर्वथा भिन्न हो रहा नित्य एक और अनेकमें समवेत ऐसा शरीरत्त्व नामका सामान्य (जाति) नहीं माना गया है। क्योंकि उस वैशेषिकोंके यहां माने गये सामान्यका यदि विचार चल्राया जाय तो उसकी सिद्धि होनेका योग नहीं बैठता है। मावार्थ— श्रू हिंसायाम् धातुसे शरीर शद्ध बनता है इसका अर्थ छिदना, भिदना, पिटना, नष्ट हो जाना है। यदि शद्धकी निरुक्तिको ही छक्षण मान लिया जाय तो घट, पटमें अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः रूदि शद्धोंमें धान्वर्यरूप किया केयल व्युत्पत्तिके लिये ही मानी गयी है। वस्तुतः लक्षणका बीज तो शरीर नाम कर्मका उदय ही है। वैशेषिकोंने शरीरत्वको एक विशेष जाति माना है, जो कि व्यापक, नित्य, एक और अनेकोंमें समवाय सम्बन्ध द्वारा वर्तती है। पश्चात् संकरदोष आजानेके भयसे " चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वं" चेष्टाश्रयपनको शरीरत्व मानकर सखण्डोपाधि निर्णात किया है। किन्तु जैन सिद्धान्त अनुसार सदश परिणाम ही सामान्य है, जो कि शरीरसे अभिन्न है। सदश परिणामास्तिर्यक् खण्डमुण्डादिष्ठ गोलववत् (परीक्षामुख)।

#### केन पुनः कारणेन जन्मांतरं शरीराण्याहुरित्युच्यते ।

किसीका प्रश्न है कि महाराजजी! यह बताओं कि किस कारणसे अन्य जन्म छेनेको प्राणियोंके शरीर कह देते हैं १ ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा यों समाधान कहा जाता है।

# स्वयोनी जन्म जीवस्य शरीरोत्यत्तिरिष्यते । तेनात्रीदारिकादीनि शरीराणि प्रचक्षते ॥ १ ॥

अपने अपने योग्य योनिमें जीवका जन्म छेना ही यहां शारीरकी उत्पत्ति मानी जाती है। कारण औदारिक, बैक्रियिक, आदिक शरीर हैं यों आचार्य महाराज बढिया ढंगसे स्पष्ट कह देते हैं।

औदारिकादिशरीरनामकर्मविशेषोदयापादितानि पंचैवौदारिकादीनि श्वरीराणि जीवस्य यदुत्पत्तिः स्वयोनौ जन्मोक्तं, न हि गतिनामोदयमात्रं जन्म, अनुत्पकशरीरस्यापि तत्मसंगात् ।

नामकर्मकी उत्तर प्रकृति शरीरसङ्गक है। उस शरीर प्रकृतिके उत्तर भेद १ औदारिक शरीर नामकर्म २ वैकियिक शरीर नामकर्म ३ आहारक शरीर नामकर्म ४ तैजस नामकर्म और ५ कार्मण नामकर्म, ये पांच हैं। आहार वर्गणाको उपादान कारण मानकर और औदारिक नामकर्म, वैकियिक नामकर्म, इन पौद्गलिक अतीन्द्रिय प्रकृतियोंको अंतरंग निमित्त पाकर व्यक्त, अव्यक्त,

पुरुषार्थ द्वारा जीवके औदारिक, वैकियिक, आहारक, ये तीन रारीर बन जाते हैं। तैज नामकर्मका अन्तरंग निमित्त पाकर तैजसवर्गणा जीवके अञ्यक्त पुरुषार्थ द्वारा तैजस रारीररूप परिण हो जाता है। तथा आत्मामें बंधे हुये पूर्वकाल संचित कार्मण रारीर नामक नामकर्मका उदय होनेप जीवके अञ्यक्त पुरुषार्थसे योगद्वारा गृहीत हुई कार्मण वर्गणायें ही कार्मण रारीर बन बैठती हैं, व औदारिक आदि रारीर नामकर्मिविरोषोंके उदय होनेपर आत्मलाभ कर चुके, औदारिक आदि पां ही रारीर जीवके हैं। जिनकी कि उत्पत्ति हो जाना ही जीवका स्वकीय योनिमें जन्म कहा ज चुका है। केवल गतिनामकर्मका उदय ही जन्म नहीं है, अन्यथा यानी गतिनामकर्मके उदयव यदि जन्म मान लिया जायगा तो विप्रह गतिमें जिस जीवके नोकर्म रारीर उत्पन्न नहीं हुआ है उसके भी जन्म होनेका प्रसंग हो जायगा। यद्यपि पूर्वशरीरको छोडते ही झट परभवकी आयुव उदय हो जाता है। विप्रहगतिमें जो एक दो या तीन समय लगते हैं, वे परभव सम्बन्धी गिनती आयुष्य निषेकोंमें परिगणित हैं। फिर भी स्वयोनियोंमें नोकर्मशरिकी उत्पत्ति प्रारम्भ हो जानेप जीवका जन्म माना गया है, गतिका उदय तो जन्म हो चुकनेपर मध्य अवस्थामें भी है। कि जन्म और मरणके बीचमें तो पुनः जन्म नहीं माने जाते हैं।

तत्रोदारं स्थूलं पयोजनमस्येत्यौदारिकं उदारे भवमिति वा, विक्रिया प्रयोजनमस्ये वैकियिकमाहियते तदित्याहारकं, तेजोनिमित्तत्वात्तैजसं, कर्मणामिदं कार्मणं तत्समृहो र एतेषां द्वंद्वे, पूर्वमौदारिकस्य प्रहणमतिस्थूलत्वात् उत्तरेषां क्रमवचनं स्रुक्ष्मक्रमप्रतिपत्त्यर्थे ।

उन शरीरोंमें पिहले औदारिक शरीरकी ल्युत्पत्ति यों करनी चाहिये कि उदार शब्दका अ स्थूल है, जिस शरीरका प्रयोजन स्थूलपन है इस कारण वह औदारिक है अथवा उदार यानी स्थू में जो उपजनेत्राला है इस कारण वह औदारिक शरीर है। उदार शब्दसे प्रयोजन अर्थ अथवा में अर्थ रें उन्न प्रत्यय कर औदारिक शब्द बना लेना चाहिये। छोटा बढ़ा, लम्बा, नाना प्रकार शरी कर लेना, विकिया है। जिस शरीरका प्रयोजन विकिया करना है इस कारण वह वैकियिक है विकिया शब्दसे प्रयोजन अर्थमें उन्न प्रत्यय कर वैकियिक शब्द को साथ लेना चाहिये। छटे गुणस्था वर्त्ती मुनि करके तत्वमें सन्देह होनेपर निर्णय करनेके लिये जो शरीर आहार प्राप्त किया जाता है, इकारण वह आहारक शरीर है। आङ्पूर्वक ह भातुसे कर्ममें खुल प्रत्यय करनेपर आहारक शर बन जाता है। शरीरमें तेज उपजानेका निमित्त होनेसे तैजस शरीर है, तथा कर्मों बनाया हुआ यह ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म समुदायक्रप शरीर अथवा उन कर्मोंका समृह कार्म है। तेजस् शब्द और कर्मन् शब्द और कर्मन् शब्द और कर्मन् समुदायक्रप शरीर अथवा उन कर्मोंका समृह कार्म है। तेजस् शब्द और कर्मन् शब्द और कर्मन् शब्द और कर्मन् शब्द और कर्मन् समुदायक्रप शरीर अथवा इतरेतरयोगद्व-द्वसमास करनेर सबके आदिमें औदारिक एक् हो जाता है। क्योंकि यह औदारिक शरीर अधिक स्थूल है। घोड के, पहु, पक्षी, कीट, पतंग, सबुष्य आदिके स्थूल शरीरोंका बहिरंग इन्द्रियों द्वारा प्रहण हो जाता है। क्योंकि यह औदारिक शरीर अधिक स्थूल है। घोड

है। हां, उत्तरवर्ती वैक्रियिक आदिकोंका कमशः पाठ पढना तो कम क्रमले सूक्ष्मताकी अतिप्रक्रिके किसे है, जो कि अमिन सूत्र दारा उत्तरोत्तर शरीरोंको सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम, अतिस्क्षम, रूपसे कहा ही जायगा।

कार्मणग्रहणमादौ युक्तमौदारिकादिकरीराणां तत्कार्यत्वादिति चेक, तस्यात्यंतपरोक्षत्वात् । औदारिकमपि परोक्षमिति चेक, तस्य केषांचित्मत्यक्षत्वात् । तथाहि—

किसीकी शंका है कि सभी शरीरोंका अधिष्ठाता, निमित्त, जन कि, आदि होनेसे पिताके समान प्रधान कार्मणशरीरका आदिमें प्रहण करना समुचित्त है। क्योंकि औदारिक आदिक पांचों शरीर उसके कार्य हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यह कार्मणशरीर अत्यन्त परोक्ष है। जैसे प्रत्यक्ष योग्य घट आदि कार्यों करके अतीन्द्रिय सूक्ष्म परमाणुओंका अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार औदारिक आदि अथवा सुख, दु:ख, आदिकी विचित्रताओंकी उपलब्धिसे अतीन्द्रिय कार्मण शरीरका अनुमान कर लिया जाता है। अतः ऐसे सूक्ष्म या अतीन्द्रिय पदार्थकी सर्व साधारण प्राणियोंमें प्रधानता नहीं मानी जाती है। अतः अधिक मोटा औदारिक ही सबको प्रधान, भाग्यशाली, प्रतीत हो रहा है। कोई पुनः शंका करता है कि साधारण जीवों या सूक्ष्म जीवों अथवा छोटे छोटे दीन्द्रिय आदिकोंके औदारिक शरीर भी तो परोक्ष हैं। इनमें बहुतसे बहिरिन्दियों द्वारा नहीं देखे जा सकते हैं क्रियकार कहते हैं कि यह को वहीं कहना। क्योंकि उस औदारिकका किन्हीं किन्हीं जीवोंको तो प्रत्यक्ष हो ही जाता है अथक किन्हीं किन्हीं चहुतसे तिर्थचों या मनुष्योंके उस औदारिक शरीरका क्रयक्ष हो ही जाता है। इसी बातको प्रमाण द्वारा साधते हुये प्रन्थकार यों प्रसिद्ध कर दिखाते हैं।

# सिद्धमौदारिकं तिर्यझानुषाणामनेकथा । शरीरं तत्र तम्रामकर्भवैचित्र्यतो बृहत् ॥ २ ॥

ं उन रारीरोंमें सृष्टा नामकर्मकी विचित्रतासे अनेक प्रकारका और मोटा हो रहा वह तियेच और मनुष्योंका औदारिक रारीर सिद्ध ही है।

बृहद्धि शरीरमीदारिकं मनुष्याणां तिरश्चां च प्रत्यक्षतः सिद्धं तेषु शरीरेषु मध्ये। तश्चा-नेकथा तशामकर्मणोनेकविधत्वात्।

कारण कि उन पांच शरीरोंके मध्यमें प्रथम प्रोक्त मनुष्य और तिर्यंचोंका मोटा औदारिक शरीर तो प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध ही है और वह औदारिक शरीर दृक्ष, वेल, पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट, पतंगा, मिट्टी, जल, आदि ढंगका अनेक प्रकार है। क्योंकि उसके कारण हो रहे नामकर्मके अनेक प्रकार है। कारणोंकी विचित्रतासे विचित्र कार्य उपज जाते हैं।

शेषाणि कृतः सिद्धानीत्याह।

किन्हीं किन्हीं जीवोंका भोटा औदारिक शरीर तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध किया किन्तु रोष वैकियिक आदि शरीर भला किस प्रमाणसे सिद्ध हैं ? ऐसी जिज्ञांसा होनेपर श्रीविधानन्द स्वामी बार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं।

# संभाव्यानि ततोन्यानि वाधकाभावनिर्णयात् । परमागमसिद्धानि युक्तितोपि च कार्मणं ॥ ३ ॥

उस स्थूच औदारिकते मिन्न हो रहे सूक्ष्म औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर तो बाधक प्रमाणोंके अभावका निर्णय हो जानेसे संभावना करहेने योग्य हैं, अर्थात् अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हैं, तथा वे शरीर आसोक्त परम आगमसे भी सिद्ध हैं, और कार्मणशरीर तो युक्तियोंस भी सिद्ध हो जाता है।

नह्य कर्मणामिदं कार्मणमित्यस्मिन् पक्षे सर्वमीदारिकादि कार्मणं प्रसक्तमिति चेक्ष, प्रतिनियतकर्मनिमित्तत्वात् तेषां भेदांपपत्तेः । कर्मसामान्यकृतत्वादभेद इति चेक्ष, एकमृदादि-कारणपूर्वकस्यापि घटोदंचनादेर्भेददर्भनात् कार्मणमणास्क्रिया च तक्षिण्यनिः स्वापादान-भेदाक्षेदः प्रसिद्धः ।

महां किसीको शैका है कि अतीन्द्रिय कर्मीके द्वारा बनाया गया यह कार्मण शरीर है, "तस्येदम् " इस सूत्र करके तद्धितमें कर्मन् शद्धसे अण् प्रत्यय करनेपर "कार्मण " शद्ध साध-जाता है। यों इस पक्षमें सभी औदारिक, वैक्रियिक, आदि शरीरोंको बढ़े अच्छे ढंगसे एकसा कार्मण शरीर बनजानेका प्रत्मण प्राप्त हुआ। क्योंकि सभी शरीर पूर्वोमार्जित कर्मोकी सामर्थ्यसे गढ़े गये हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि प्रत्येकके क्रिये व्यारे न्यारे नियत हो रहे कर्मोकी निमित्त मानकर उपजना होनेसे उन शरीरोंका भेद सिद्ध हो जाता है। भावार्थ-इस दश्यमाण औदारिक शरीरका निमित्त गूत न्यारा अदृश्य औदारिक शरीर नामकर्म है और वैक्रियिकका निमित्त पृथक् हो बैक्तियिक शरीरकर्म है, आहारकका निमित्त आहारक शरीरकर्म है। तैजस शरीरका निमित्त पृथक् हो बैक्तियिक शरीरकर्म है, आहारकका निमित्त आहारक शरीरकर्म है। तैजस शरीरका निमित्त अख्य हो तेजसशरीर नामकर्म है और एकसी अडताळीस प्रकृतियोंका पिण्ड हो रहे कार्मण शरीरका निमित्त तो एकसी अडताळीस प्रकृतियोंकी एक कार्मण शरीरनामक नामकर्म है। मूंगका क्या मूंगके ही बांधा जाता है। पुनः किसीकी शंका है कि सामान्यक्रपसे कर्मोद्वारा किये जा चुके होंकेसे उन शरीरोंका परस्परमें अमेद हो जायगा। प्रधकार कहते हैं यह तो नहीं कहना क्योंकि मही, अख्यर, चार्क, छोरा, आदि एक कार्लोद्वारा पूर्ववर्ती होकर बनाये गये घडा, घडिया, दीवळा, सकीरा, मोखआ, आदिका मेद देखा जाता है। कारणोंकी विशेषताओंसे हो रहे न्यारे न्यारे कार्योंकी सामान्य कारण किर समेदकी ओर नहीं झुका सकता है। वस्तुतः मिन्न भिन्न कारणोंसे ही न्यारे न्यारे कार्य उपजित

हैं। कार्मणशरीरकी प्रणालिका (द्वार) करके उन शरीरोंकी निष्पत्ति हो जाती है। अतः निमित्त नैमित्तिक भेदसे उन शरीरोंका पृथग्भाव है। और एक बात है कि अपने अपने उपादान कारणोंके भेदसे उन शरीरोंका भेद प्रासिद्ध हो रहा है। अर्थात्—उपादानकारण आहार वर्गणासे जीवका औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर बन जाता है। तेजोवर्गणाका विवर्त्त तैजस शरीर है और कार्मणवर्गणाका उपादेय कार्मण शरीर है।

पृथगुपलंभयसंग इति चेन्न, विश्रसंापचयन स्थानात् क्रिन्नगुडरेणुश्लेषवदीदारिकादीनां कार्मणनिमित्तच्चे कार्मणं किं निमित्तमिति वाच्यं १ न ताविश्वनिमित्तं तदनिर्मोक्षयसंगादभाव-प्रसंगाद्वा शरीरांतरिनिमित्तत्वे तु तस्याप्यन्यशरीरिनिमित्तत्वेऽनवस्थापित्तिरिति चेन्न, तस्यैव निमित्तभावात् । पूर्वे हि कार्मणं कार्मणस्य निमित्तं तद्दि तदुत्तरस्येति निमित्तनैमित्तिक-भावोऽविरुध्यते, न चैवमनवस्थापित्तः कार्यकारणभावेन तत्संतानस्यानादेरिवरोधात् ।

यहां कोई आक्षेप करता है कि न्यारे न्यारे उपादान कारणोंसे जब पांच शरीर भिन्न भिन्न निष्पन्न (तैयार ) हुये हैं तो उनके पृथक पृथक उपलम्भ हो जानेका प्रसंग आवेगा। किन्त यथासम्भव पाये जानेवाले औदारिक, तैजस, कार्मण, या वैक्रियिक, तैजस, कार्मण, आदि शरीर प्रथक प्रथक तो नहीं दीख रहे हैं। आचार्थ कहते हैं कि यह कटाक्ष नहीं करना। क्योंकि विस्रसोपचय करके उन शरीरोंका अवस्थान हो रहा है । जैसे कि स्वाभाविक परिणामसे गीले गुडपर छोटी छोटी धल चपटकर अवस्थित हो जाती है, उसी प्रकार कार्मण शरीरमें औदारिक आदिकोंका विस्रसोपचय-रूपसे अवस्थान हो रहा है, अतः उनमें नानापन सिद्ध है। भावार्थ-जैसे गीले गुडमें धूल चुपट जाती है, उसी प्रकार प्रवाहरूपसे अनादिकालीन संचित हो रहे कार्मण शरीरमें नोकर्म शरीर लग बैठते हैं। पुनरिप कर्म, नोकर्म, शरीरोंके ऊपर '' जीवादोणन्तगृणा पडिपरमाणुम्हि विस्ससो वचया, जीवेण य समवेदा एक्केक्कं पिंडसमाणा हु '' इस गाथानुसार विस्नसोपचय छदा रहता है । पनः किसीका आक्षेप है कि औदारिक, वैक्रियिक, आदि शरीरोंका निमित्तकारण यदि कार्मण शरीर माना जायगा तो फिर कार्मण शरीरका निमित्त कारण क्या होगा ? यह कहो। वह कार्मण विचारा निमित्तकारणसे रहित तो नहीं है। अन्यथा यानी कार्मणको निमित्तरहित माननेपर उसकी मोक्ष नहीं होनेका प्रसंग आवेगा। जिस सत् पदार्थका हेतु नहीं है, उस नित्य पदार्थका कभी विनाश नहीं हो सकता है। ऐसी दशामें किसी भी जीवकी मोक्ष नहीं हो सकेगी। सदा कर्म चिपके रहेंगे। तथा एक बार कर्मिपिञ्डसे मुक्ति पा जानेपर भी पुनः कर्म चिपट जायंगे । उनका कोई निमित्तकारण मिथ्यादर्शनादि तो अपेक्षणीय है ही नहीं। क्योंकि आप उन कमींको निर्निमित्त मान चुके हैं अथवा कार्मण शरीरका निमित्त यदि कोई हेतु नहीं माना जायगा तो खरिबेषाणके समान उस कार्मण शरीरके अभावका प्रसंग होगा। इन दो दोषोंको टाळनेके लिये कार्मणशरीरका निमित्त यदि दूसरा शरीर माना जायगा तब तो उस

1.

दूसरे शरीरका भी निमित्तकारण न्यारा तीसरा शरीर एवं तीसरेको चौथा और चौथेको पांचवां आदि निमित्त कारणोंकी कल्पना करते करते कहीं दूरतक भी ठहरना नहीं होनेसे अनवस्था दोष हो जानेकी आपित है। प्रत्यकार कहते हैं कि यह आक्षेप नहीं करना। क्योंकि कार्मण शरीरका निमित्त वहीं कार्मण शरीर है। वर्तमान कार्मण शरीरका निमित्त पूर्वसंचित कार्मण और वह वर्तमान कार्मण शरीर भी उसके उत्तरकालमें होनेवाले कार्मणशरीरका निमित्त बन जाता है। इस ढंगसे संतानरूप करके निमित्त नैमित्तिक भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। रपयोंसे रुपया उपजता है। मनुष्य मनुष्यका निमित्त है। पठन पाठन व्यवस्था बहुत दिनसे चली आ रही है। इसी प्रकार बीजांकुर न्यायसे कार्मण शरीरकी धारा बहरही हैं। यदि कोई यो पूंछ बैठे कि इस प्रकार तो अनवस्था दोष हो जानेकी आपित है, आचार्य कहते हैं कि यह अनवस्था दोष नहीं है। क्योंकि उन कर्मोकी धारावाहिक अनादिकालीन सन्तानका कार्यकारणभाव करके चले आनेमें कोई विरोध नहीं है। अर्थात्—अनवस्था सर्वत्र दोष नहीं है। किचित् गुण भी है। व्यसन या पापोंको छोडकर प्रायः सभी दोष लौकिक अवस्थाओंमें कदाचित् गुणस्वरूप परिणम जाते हैं। अन्योन्याश्रय, अनवस्था, संकर, विरोध, अभिमान, संशय, अज्ञान, अनाभाव, इत्यादिक दोषाभास कई स्थलोंपर गुण हो जाते हैं तथा पण्डिताई, एकता, धन, शीक्रता, कार्यदक्षता, प्रशंसा, यौवन, अधिकार दीर्घदर्शिता थे लौकिकगुण अनेक स्थलोंपर दोष गिने जाते हैं। कार्यकारण भावकी रक्षा कर रहीं अनवस्था यहां गुण है।

#### मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच नानिमित्तं कार्मणं ततो नानिर्मोक्षप्रसंगः । तच्चैवंविधं पर-मागमात्सिद्धं वैक्रियिकादिवत् युक्तितश्र यथाप्रदेशं साधयिष्यते ।

एक बात यह भी है कि मिथ्यादर्शन, अविरति, आदि निमित्तकारणों द्वारा उपजना होनेसे कार्मण शरीर निमित्तरिहत नहीं है, तिस कारण उसके निश्शेष रूपसे मोक्ष नहीं होनेका प्रसंग नहीं आता है। अर्थात्—कार्मण यदि निमित्तरिहत होता तो किसीकी भी मोक्ष नहीं हो पाती यह प्रसंग टल गया और तिस कारण इस प्रकारका नैकियिक आदिके समान वह कार्मण शरीर सर्वज्ञप्रतिपादित परम आगमसे सिद्ध हो जाता है तथा युक्तियोंसे भी सिद्ध हो जाता है। प्रकरण आनेपर यथायोग्य प्रदेश प्रकारकों वह कार्मणशरीर युक्तियोंसे साथ भी दिया जायगा। शीष्रता न करो।

#### नज्ञ यद्योदारिकं स्थूछं तदा परं परं कीदशमित्याह !

यहां किसीका प्रश्न है कि यदि औदारिक शरीर स्थूल है तो परले परले वैक्रियिक आदिक शरीर मला कैसे हैं ! बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्तामी महाराज अग्रिम सूत्रकों कहते हैं ।

# परं परं सुक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

सूत्रमें पढ़े गये अनुसार औदारिकसे परले, परले, वैकियिक आदिक शरीर गढ़न्तकी अपेक्षा सूक्ष्म सूक्ष्म हैं। औदारिकसे सूक्ष्म वैकियिक है और वैकियिकसे आहारक सूक्ष्म है। आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मण अतिशय सूक्ष्म हैं।

परसन्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः पृथग्भूतानां सूक्ष्मगुणेन वीप्सानिर्देशः तेनौदारिकात्परं वैकियिकं सूक्ष्मं न स्थूलतरं, ततोप्याद्यारकं, ततोपि तेजसं सूक्ष्मं, ततोपि कार्मणिमिति संपतीयते।

पर शह्नके व्यवस्था, भिन्न, प्रधान, इष्ट, शत्रु, ऐसे कई अर्थ हैं। किन्तु अनेक अर्थ होनेपर भी यहां विवक्षासे व्यवस्था अर्थ जाना जाता है। संज्ञा, छक्षण, प्रयोजन, संख्या, आदि करके पृथक् पृथक् हो चुके भी शरीरोंका सूक्ष्म गुणके साथ वीप्सा करके कथन किया गया है। उस वीप्सा निर्देशसे यों मछे प्रकार प्रतीति कर ही जाती है कि औदारिकसे परले ओरका वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है, किन्तु मोटे औदारिकसे वैक्रियिक शरीर और भी अधिक मोटा नहीं है, उस वैक्रियिकसे भी आहारक शरीर सूक्ष्म ढंगसे रचा गया है, उस आहारकसे भी तैजसशरीर सूक्ष्म है तथा उस तैजससे भी कार्मण शरीर सूक्ष्म है। रुई, तेल, वायु, अग्निज्वाला, विद्युत्प्रभा, बिजलीका करन्ट, की पौद्रलिक रचनाओंमें जिस प्रकार सूक्ष्मपना प्रसिद्ध है, उसी प्रकार शरीरोंमें लगा लेना चाहिये।

#### भदेशतः परं परं कीद्यगित्याह ।

पुनः किसीका प्रश्न है कि पांचों शरीर उत्तरोत्तर जब सूक्ष्म हैं, तब तो परछे परछे शरीर विचारे प्रदेशोंसे भी न्यून होवेंगे। यदि प्रदेशोंसे न्यून नहीं है तो बताओ प्रदेशोंकी अपेक्षा परछे परछे शरीर किस ढंगके रचे हुये हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं। कर्णकुहरको पवित्र करते हुये उसको सुनियेगा।

# प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तेजसात् ॥ ३८ ॥

अवगाहकी अपेक्षा नहीं किन्तु परमाणुस्वरूप प्रदेशों करके उत्तरेत्तरशरीर ये तैजस शरी-रसे पहिले पहिले असंख्यात गुणे हैं। अर्थात्—पत्यका असंख्यातवां भागरूप असंख्यात यहां असंख्यात शद्धेत पकडा गया है। औदारिक शरीरमें जितने परमाणु हैं उनसे असंख्यात गुणे परमाणु बैकियिक शरीरमें हैं, और वैकियिक शरीरमेंक परमाणुओंसे आहारक शरीरके परमाणु असंख्यात गुणे अधिक हैं।

प्रदेशाः परमाणवस्ततोऽसंख्येयगुणं परंपरितयभिसंबंधः । प्राक्तेजसादिति बचनात् न तैजसकार्मणयोरसंख्ययगुणत्वं । किं तर्हि १ औदारिकाद्वैक्तियकं प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं ततो-प्याहारकमिति निश्चयः ॥ जिन करके आकाश आदिकोंका क्षेत्रविभाग संकेतित किया जाय अथवा जो स्वयं घट आदिकोंमें अवयवपने करके निर्दिष्ट किये जायं वे परमाणु यहां प्रदेश कहे जाते हैं, परले परले उत्त-रोत्तर शरीर उन प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणे हैं। इस प्रकार वाक्यका दोनों ओरसे सम्बन्ध कर लेना चाहिये। सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने " तैजस शरीरके पाहिले " यों कण्डोक्त निरूपण किया है। इस कारण तैजस और कार्मण शरीरमें असंख्यात गुणपन नहीं है तो फिर सूत्रकारका अभिप्राय क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर यों निश्चय करलेना चाहिये कि औदारिकसे वैक्रियिक शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणा अधिक है।

#### तैजसकार्मणे किंगुणे इत्याह।

आदिके तीन शरीरोंमें वर्तनेवाले दो असंख्यात गुणोंका निरूपण किया, अब यह बताओ कि अन्तके तैजस और कार्मणशरीर मला प्रदेशोंकी अपेक्षा किस गुणाकारको धार रहे हैं! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिमस्त्रको स्पष्ट रूपसे कहते हैं।

# अनंतग्रणे परे ॥ ३९ ॥

प्रदेशोंकी अपेक्षा आहारकशरीरसे तैजस शरीरमें परमाणु अनन्तगुणे हैं और तैजस शरीर जितने परमाणुओंसे बना हुआ है उनसे अनन्तगुणे परमाणुओं करके कार्मणशरीर सम्पन्न हुआ है यहां अनन्तका अर्थ अभन्य जीवोंसे अनन्तगुणा और सिद्ध जीवोंके अनन्तमें भागस्वरूप कोई मध्यवर्ती जिनदृष्ट अनन्त (संख्या) लिया गया है। अतः पिछले दो तैजस और कार्मण शरीर परमाणुओंके सद्भावकी अपेक्षा अनन्त गुणे हैं।

त्रदेशतः इत्यनुवर्तते परं परिमिति च, तेनाहारकात्परं तैजसं भदेशतोऽनंतगुणं ततोपि कार्मणमनंतगुणमिति विक्रायते । तत एव नोभयोस्तुल्यत्वमाहारकादनंतगुणत्वाभावाद् । अन्यदेव हि आहारकादनंतगुणत्वं तेजसस्य, तेजसाचान्यत् कार्मणस्य तस्यानंतविकस्यत्वात् ।

पूर्वके " प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तेजसात् " सूत्रसे प्रदेशतः इस पदकी अनुवृत्ति कर छी जाती है। और " परं परं सूक्ष्मं " सूत्रसे " परं परं " इस पदकी अनुवृत्ति हो जाती है। तिस कारण सूत्रवाक्यका अर्थ विशेषरूपसे यों जान छिया जाता है कि आहारक शरीरसे परछा तैजस शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा अनंतगुणा है और उन तैजस शरीरसे भी परछा कार्मणशरीर उसके आफजनक परमाणुओंकी गणना करनेपर अनन्त गुणा है। तिस ही कारणसे दोनोंकी तुल्यता नहीं हुयी। क्योंकि आहारकसे अनन्तगुणपना दोनोंमें एकसा नहीं है। अर्थात् — परछा परछा कह देनेसे तैजस और कार्मण दोनों शरीरोंमें परमाणुओंकी संख्या तुल्य नहीं ठहरती है। आहारकसे अनन्तगुणा

तैजस है, किन्तु आहारकसे अनन्तानन्तगुणा कार्मण है। मछे ही सामान्यरूपसे कार्मण शरीरको आहारक या तैजससे अनन्तगुणा कह दिया जाय, किन्तु उस अमन्तके प्रकार अनंतानन्त हैं। आंढारक शरीरसे तैजसशरीरका अनन्तगुणपना भिन्न ही है और तैजस शरीरसे कार्मणशरीरका अनन्तगुणपना भिन्न ही है और तैजस शरीरसे कार्मणशरीरका अनन्तगुणा निराळा ही है। पांच रूपयोंसे एक हजार हो जानेपर सैकडों गुणी बृद्धि कही जाती है। और चार हजार हो जानेपर भी सैकडों गुणी बढवारी समझी जाती है।

#### परस्थित् सत्यारातीयस्यापरत्वात्परे इति निर्देशो न मसज्यते बुद्धिविषयम्यापारा-दुभयोरपि परत्वोपपत्तेः । व्यवहितेपि वा परश्चद्वभयोगात् ।

यहां किसी जिज्ञासका आक्षेप है कि भले ही सैकडों, हजारों, पदार्थ क्यों नहीं होय, परशहसे अन्तका एक ही पकडा जावेगा, जैसे कि लाखोंमेंसे आप एक ही लिया जाता है। अतः " आये " या " परे " इस प्रकार द्विवचनान्त पदका प्रयोग करना ही अलीक है। " परापरे " कह सकते हो। परले एक कार्मण शरीरके होते सन्ते उसके निकट पूर्ववर्ती तैजस शरीरको परपना नहीं प्राप्त होता है। इस कारण तैजस और कार्मणके छिये सूत्रमें सूत्रकार द्वारा प्रयुक्त किया गया दिवचनान्त "परे" यह यों कथन करना प्रसंगप्राप्त नहीं हो पाता है। एक बचनांत "परम्" शद्ध कहना चाहिये। अब आचार्य कहते हैं कि यह प्रसंग उठाना ठीक नहीं है। क्योंकि बुद्धिके विषय हो रहे व्यापारसे दोनों तैजस, कार्मण शरीरोंको भी परपना बन जाता है। अर्थात-पदार्थोंकी परिणति तम कहते हो वैसी ही है। आब पदार्थ या पर पदार्थ एक ही हो सकता है । किन्तु अपनी अपनी बुद्धिक विचार अनुसार दो, चार, दस, बीस, पदार्थ भी आदा या पर कहे जा सकते हैं। जैसा मनमें विचार छिया जाता है वैसा बहिरंगमें व्यवहार कर दिया जाता है। अपनी अपनी बुद्धि विचारोंके सभी जीव खायत्त शासन करने-वालें राजा हैं। अतः दोनों शरीरोंमें भी बुद्धिकृत परत्व सध जाता है। बुद्धिमें तिरखा फैडाकर आहारसे परछे दो तैजस, कार्मण, शरीरोंको " अनन्त गुणेका " व्यपदेश है। शहके उच्चारणके कससे दो में परपना कथमपि नहीं आ सकता है। दूसरी बात यह है कि व्यवधान युक्त पदार्थमें भी पर शद्धका प्रयोग हो रहा देखा जाता है। जैसे कि काशीस समोदशिखर तथि परे हैं, उसी प्रकार यहां आहारकसे तैजसको परत्व समुचित है। साथमें तैजससे व्यवधानको प्राप्त हो रहे भी कार्मणको आहारककी अपेक्षा परपना है।

#### ननु च यदि प्रदेशापेक्षया परं परमसंख्येयगुणमनंतगुणं चोच्यते सूक्ष्मं कथमित्याह ।

यहां कोई शंका करता है कि प्रदेशोंकी अपेक्षा करके यदि परछे, परछे, शरीरोंको असंख्यात गुणा और अनन्तगुणा कहा जाता है तो ऐसी दशामें वे परछे परछे शरीर सूक्ष्म कैसे कहे जा सकेंगे ! परमाणुओंके बढ जानेसे परछे, परछे शरीर छम्बे चौडे महान् बन बैठेंगे, ऐसी जिझासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं।

# क्षेत्रावगाहनाषेक्षां कृत्वा सूक्ष्मं परं परं । तैजसात्प्रागसंस्थेयगुणं द्वेयं प्रदेशतः ॥ १ ॥ स्थूलमाहारकं विद्धि क्षेत्रमेकं विधीयते । तथानंतगुणे द्वेये परे तैजसकार्मणे ॥ २ ॥

यद्यपि प्रदेशोंकी अपक्षा तैजससे पहिलेके और सिक, वैकियक और आहारक शरीर उत्तरीत असंख्यात गुणे हैं तो भी क्षेत्रके अवगाहकी अपेक्षा करके परले परले शरीर सूक्ष्म समझ लेने चाहिये औदारिक शरीर स्थूल है, इससे वैकियिक सूक्ष्म है, और वैकियिक तो स्थूल है। इससे आहारक सूक्ष है। तथा हस्तप्रमाण एक क्षेत्रको अनन्तानन्त परमाणुओं द्वारा बनकर अपना आधार कर रहे आह रक शरीरको स्थूल समझो। इसकी अपेक्षा परले तैजस और कार्मण शरीर अनन्तगुणे समझ ले चाहिये। अर्थात् जैसे कि पांच तेर रईको कितना भी दबा दिया फिर भी दश सेर लोहेका गौर बहुत प्रदेश होनेपर भी अल्प परिमाणवाला रहता है। लोहेसे सोना, या पारा छोटे परिमाणवाला है अतः परमाणुओंके अत्यधिक होनेपर भी अवगाहनकी अपेक्षा छोटे क्षेत्रोंमें वे समाजाते हैं। जस्तैष् अग्निमें जलाकर फूला हुआ बहुत सफेदा बना लिया जाता है।

#### तर्हि समतिघाते ते माने इत्याह !

किसीका प्रश्न है कि तैजस और कार्मण शरीरमें जब परमाणुएँ ठसाठस खर्चित हो रही है तब तो वे तैजस और वार्मण शरीर प्रतिघात सहित प्राप्त हुवे । देखिये, मूर्तिमान् सघन वाण यदि ह या पाषाणसे टकरा जाता है तो वेग अनुसार थोडा घुसकर चुनः रुक जाता है । इसी प्रकार तैज और कार्मण भी मूर्तिमान् द्रव्यसे टक्कर खाकर रुक जावेंगे है ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वा महाराज अग्रिम सूत्रको उतारते हैं । इस सूत्रका अर्थ समझियेगा ।

### अप्रतीघाते ॥ ४० ॥

किसी मोटेसे मोटे भी पदार्थका अमूर्त पदार्थके साथ ज्याचात होता नहीं है। किन्तु सूक्ष्म परिणाम होनेसे मूर्त भी तैजस और कार्मण शरीरका किसी मूर्तिमान पदार्थके साथ भी ज्याचात नहीं। पाता है। पर्वत, नदी, भूमियां, वजपटल, सूर्य, चन्द्रमा, आदिको ज्याचात नहीं पहुंचा कर और सा छिन, भिन्न, नहीं होते हुये तैजस, कार्मण, शरीर सर्वत्र चले जा सकते हैं। मरकर केवल तैजस औ कार्मण शरीरको धार रहे संसारी जीवकी तीन लोकमें कहींसे कहीं भी गति रुक नहीं सकती है। अतः तैजस और कार्मणशरीर प्रतीचातरहित है।

प्रतीयातो मूर्त्यतरव्यायातः स न वियते ययोस्ते प्रमति तैजसकार्यणे । कुतः इत्यादः ।

प्रतीचात शहूका अर्थ अन्य मूर्त पदार्थींसे टकरा कर व्याघातको प्राप्त हो जाना है। वह गिर जाना या छिन भिन्न हो जाना अथवा रुक जाना कोई सा भी प्रतीघात जिन शरीरोंके विद्यमान नहीं है वे तैजस और कार्मणशरीर "अप्रतीघात " माने जाते हैं। कोई सविनय प्रश्न करता है कि यह अप्रतीघात किस कारणसे है १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरवार्तिकको कहते हैं।

## सर्वतोप्यत्रतीघाते परिणामनिमित्ततः । न सर्वतो प्रतीघाते परिणामविशेषतः ॥ १ ॥

तैजस और कार्मणशरीरका परिमाण इस ढंगका सूक्ष्म है जिस कारण कि निमित्तसे वे तैजस, कार्मण शरीर सभी स्थानोंमें प्रतीघात रहित हैं, परिणाम विशेष होनेसे। दूसरे वैक्रियिक और आहारक शरीर सर्वतः प्रतीघातरिहत नहीं हैं। अर्थात्—वौक्रियिक शरीर त्रसनाछीमें यथायोग्य कुछ योजन या डेड राजू चार, पांच, छह, राजू, तेरह राजूतक गमन करनेकी शक्ति रखता है। आहारक शरीर ढाई द्वीपमें सर्वत्र अप्रत्याहत जा सकता है, इससे बाहर जानेपर वैक्रियिक या आहारक शरीर टूट, फूटकर, नष्ट श्रष्ट हो जायगा, जा ही नहीं सकेगा। किन्तु तैजस और कार्मण शरीरकी परिणित उन सूक्ष्म विशेषताओंको छिये हुये हैं, जिनसे कि वे छोकमें सर्वत्र विना रोक टोकके अक्षुण्ण चले जाते हैं।

वैक्रियकाहारकयोरप्यमतीघातत्वमिति न मंतव्यं, सर्वतोऽमतीघातस्य तयोरभावात् । न हि वैक्रियकं सर्वतोऽमतीघातमाहारकं ना मतिनियतविषयत्वात्तदमतीघातस्य । तैजसकार्मणे पुनः सर्वस्य संसारिणः सर्वतोमतीघाते ताभ्यां सह सर्वत्रोत्पादान्यथानुपपत्तेः ।

कोई मान बैठा है कि स्थूछ औदारिक मछे ही पर्वत, वज्रपटळ, आदिसे रुक जावे, किन्तु वैक्रियिक या आहारक शरीरका तो पर्वत, भित्ति, सूर्य, विमान, आदिमें (से) कोई प्रतीघात नहीं होता है। अतः तैजस, कार्मणके समान वैक्रियिक और आहारकको भी प्रतीघातरहितपना है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि छोकमें सब ओरसे सभी स्थछोंमें उनके अप्रतीघातका अभाव है। देखिये, वैक्रियिक अथवा आहारक शरीर सर्व स्थछोंमें प्रतीघात रिदत नहीं हैं। क्योंकि उनकों अप्रतीघात तो प्रतिनियत स्थानोंमें मर्योदित हो रहा है। त्रसनाछीके बाहर स्थावर छोकमें आहारक या वैक्रियिक शरीर महीं जा पाते हैं। किन्तु फिर सम्पूर्ण संसारियोंके तैजस और कार्मण तो सभी स्थानोंसे संभी स्थछोंके छिये जान, आने, में प्रतीघातरहित हैं। क्योंकि उन तैजस और कार्मण शरीरके साथ इस संसारी जीवकी सभी स्थछोंमें उत्पत्ति होना अन्यथा यानी तैजस कार्मण को अप्रतीघात माने विना बन नहीं सकता है। जबतक संसार है तबतक तैजस और कार्मण तो छो दिश्ये। इनके साथ ही जीवका आना, जाना, हो सकता है।

#### ततस्तिर्हं सूत्रे सर्वतो प्रहणं कर्तव्यमिति चेत् न, ग्रुख्यस्य मतीयातस्यात्र विवक्षितत्वात्। कृतः पुनस्ताहन्नोऽमतीयात इति चेत्, सूक्ष्मपरिणामविश्लेषात्यस्पिडे तेजोनुमवेश्लवत्।

कोई पण्डित आक्षेप करता है कि तैसा होनेसे यानी सर्वत्र अप्रतीघातकी विवक्षा करनेपर तब तो इस सूत्रमें सर्वतः यह पदप्रहण करना चाहिये, जब कि सर्व स्थळोंसे छोकके सभी स्थलोंमें वे प्रतीघातरहित हैं ? आचार्य व.हते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि मुख्य प्रती-घातकी यहां विवक्षा प्राप्त हो रही है। अतः विना कहे ही " सर्वत्र अप्रतीचात " यह अर्थ कह दिया जाता है। यों थोडी थोडी दूरके स्थानोंमें तो स्थूल औदारिकका भी अप्रतीघात वन रहा 🕯. इससे क्या हुआ ? सूत्रकारको यहां मुख्य प्रतीघातकी विवक्षा हो रही है। तैजस और कार्मण शरीरमें परिपूर्णरूपसे मुख्य प्रतीघात नहीं है । पुनः यहां कोई पूंछता है कि क्या कारण है ? जिससे तैजस और कार्मण शरीरका तिस प्रकारका सर्वत्र अप्रतीचात है ? कही भी इनको कोई रोक नहीं सकता है ? यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि छोहपिण्डमें जैसे तेजोद्रव्यका अनुप्रवेश हो जाता है, तवेमें नीचेसे अग्नि घुसकर ऊपरकी रोटीमें संयुक्त हो जाती है, उसी प्रकार सूक्ष्म विशेषपरिणाम होनेसे उनका कहीं भी प्रतीघात नहीं होता है। भावार्थ—बडेमें भीतर पानी भर देनेपर कुळ आईता ऊपर झलक आती है। पाषाणमें तेळ घुस जाता है। ताडपीनका तेल चर्ममें प्रविष्ट होकर परली ओर निकल जाता है। चौमासेकी सील सात सन्दूकोंके भीतर घुस जाती है। जब स्थूलपरिमाणवाले पदार्थ भी नियत पदार्थीमें अन्तः प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्मपरिणति विशेष हो जानेसे तैजस और कार्मण शरीर सर्वत्र अप्रत्याहत चले जा सकते हैं। जैनसिद्धान्तों कारण अनुसार कार्यव्यवस्था मानी गयी है। कोई पोछ नहीं है। जिस पदार्थमें जैसा जैसा जहां जहां प्रतीघात, अप्रतीघात, होनेका परिणामविशेष होगा, वह पदार्थ वहांतक प्रतीघातवाला या अप्रती-घातवाला माना जायगा। दीपक या मसालका प्रकाश चर्म, मांस, कपडा, पत्र, आदिको भेदकर भीतर नहीं घस सकता है। किन्तु " ऐक्सरे " नामक यंत्रद्वारा बिजलीका प्रकाश तो चर्म आदिकी पार कर जाता है। ख़दरमेंसे पानी छन जाता है, प्रकाश नहीं। किन्तु कांचमेंसे प्रकाश निकल जाता है. पानी नहीं।

#### ये त्वाहुः, पूर्वे पूर्वे सूक्ष्मं युक्तं मदेश्वतोल्यत्वादिति तान मत्याह ।

जो भी कोई विद्वान यों कह रहे हैं कि परमाणुओंकी संख्याके अल्प, अल्प, होनेस तो पहिले पहिले शरिरोंको सूक्ष्म कहना युक्त है। उनके प्रति तो श्री विद्यानन्द आचार्य यों समाधान कहते हैं।

प्रदेशतोत्पतातारतम्यं कायेषु ये विदुः । सूक्ष्मतातारतम्यस्य साधनं ते कृतार्किकाः ॥ २ ॥

# तस्य कार्पासपिंडेनानेकांताच्छिथिलात्मना । प्रदेशबहुतातारतम्यवत्स्योल्यबंधने ॥ ३ ॥

प्रदेशोंकी अपेक्षा अल्पपनेका तारतम्य ही शरीरोंमें सूक्ष्मपनेके तारतम्यका ज्ञापक हेतु है, इस प्रकार जो नैयायिक समझ बैठे हैं वे खोटी तर्कको धारनेवाले हैं। क्योंकि. उस हेतुका शियिलस्वरूप फूल रहे रुईके पिण्ड करके व्यभिचार दोष हो जाता है। जैसे कि स्थूलपनके बन्धनको साधनेमें प्रयुक्त किये गये प्रदेशबहुतपनेका तारतम्य हेतु रुईसे व्यभिचारी हो जाता है। अर्थात् जिसमें प्रदेश बहुत होते हैं, वह स्थूल होता है। यह हेतु लोहपिण्डसे व्यभिचारी है। उसी प्रकार जिसमें प्रदेश थोड़े होते हैं वह अल्पपरिमाणवाला सूक्ष्म पदार्थ है। इस व्याप्तिका हेतु भी धुनी हुई रुईसे व्यभिचार दोषको धार रहा है। थोड़े प्रदेश होनेपर भी शिथिल रुई लम्बे चौड़े स्थानको चेर रही है, जब कि बहुप्रदेशी लोहपिण्ड छोटे स्थानमें समजाता है।

यथैव प्रदेशवहुत्वतारतम्यग्रुत्तरोत्तरशरीरेषु स्थूळत्वप्रकर्षे साध्ये निविद्यावयवसंयोग-परिणामेनायस्पिडेनानैकांतिकिमिति न तत्र स्थूळतातारतम्यं साधयित तथा प्रदेशाल्यत्व-तारतम्यमपि पूर्वश्वरीरेषु न स्रक्ष्मतातारतम्यमिति स्वहेतुविशेषसांनिध्यात् तैजसकार्मणयोर-नंतग्रुणत्वेपि पूर्वकायात्स्रक्ष्मपरिणामः सिद्धः सर्वतोत्रतीधातत्वं साधयत्त्रेवायस्पिडे तेजोतुप्रवे-शवदिति सूक्तं। न हि तेजसीयस्पिडेन प्रतीधाते तत्रानुप्रवेशो युज्यते।

जिस ही प्रकार पिछले पिछले शरीरोमें स्यूलताके प्रकर्षको साध्य करनेपर प्रयुक्त किया गया प्रदेशोंके बहुतपनेका तारतम्य रूप हेतु तो अवयवों के सचन संयोग हो जाना रूप परिणामको धारने-वाले लोहपिण्डकरके व्यभिचारी है, इ. कारण वह हेतु उन उत्तरोत्तर शरीरोंमें स्यूलपनके तारतम्यको नहीं साध पाता है, तिसी प्रकार प्रदेशोंकी अन्पताका तारतम्य होना रूप ज्ञापक हेतु भी पूर्व पूर्व शरीरोंमें सूक्ष्मताके तारतम्यको नहीं साध पाता है। इस कारण अपने अपने हेतु विशेषोंकी सिन्नकटतासे तेजस और कार्मणको अनन्तगुणा होते हुद्दे भी पूर्वशरीरसे सूक्ष्म परिणाम सहितपना सिद्ध हो जाता है, जो कि सब ओरसे उन दोनोंके अप्रतीधातपनेको साध ही देता है, जैसे कि लेहि पिण्डमें तेजोद्रव्यका अनुप्रवेश हो जाता है। तभी तो इस बातको हम पहिली व्यक्तिंमें बहुत अच्छा कह चुके हैं। यदि तेजोद्रव्यका लोहपिण्ड करके प्रतीधात माना जायगा तो ऐसी दशामें वहां लोहमें अप्रिका प्रवेश नहीं हो सकेगा। किन्तु लोहके तवेमें या पीतल, तांब के पात्रमें तेजोद्रव्य घुस जाता दीखता है, बिजली तो हजारो मील लम्बे ठोस तारमें घुसी चली जाती है।

स्यान्मतं, तेजसः संयोगविशेषादयस्यिद्धावयवेषु कर्मीत्यवते तता विभागस्ततः संयोग-विनाशस्ततोपि तस्यायस्यिदावस्यविनो विनाशस्तवीस्यीय्यापेश्चादश्चिसंयोगास्तवस्यवेष्वतुष्णा- श्रीतस्वर्षविनाषाः परस्मादिष्रसंयोगादुष्णस्यर्षोत्याचिः ततस्तदुपमोक्तुरदृष्ट्विश्ववन्नाद्वयणुकादि प्रक्रमेण तादृशस्यैवायिंस्यिदस्योत्पिक्तः । एवं च नायिंस्यदं तद्वस्थे तेजसोजुपवेशोस्ति यतोऽ-प्रतीयातस्य विश्वाने निदर्शनीकियेतेति । तद्युक्तं, प्रतीतिविरोधात् । स एवायमयिंस्यदस्ते-जोव्याप्तः प्रतिमाति यः पूर्वमनुष्णः सम्रुपलब्ध इति प्रतीतेः । परत्र प्रक्रियामात्रस्य जातुचिद्व-प्रतीतेने भ्रांतत्वं । सदृशापरोत्पचेस्तथा प्रतीतिरिति चेश्व, एकत्वादिवत् । न हि किचिन्पूर्त-पति प्रविन्नद्वर्ते दृष्टं । व्योमदृष्ट्यिति चेश्व, तत्र पूर्वमिति मूर्तेष्विप तथा प्रसंगात् । तथा च तत्कथंचित्पत्यभिद्वानादेकत्वसिद्धिः । वाधकरिताचतस्तित्सद्धौ कथमयस्यिद्धंपि प्रत्य-भिद्वानादेकत्वं न सिध्येत् १ न हि तत्र किचिद्वानकमस्ति ।

यदि यहां वैशोषकोंका मन्तन्य ऐसा होने कि छोहे के तनेमें अप्नि नहीं घुसती है। किन्तु लाल तपा हुआ तबा एक नया पदार्थ ही उत्पन्न हो जाता है। पहिला तबा रहता ही नहीं है। वह पहिले तवेके नाशकी और नये लोडपिण्डके उत्पादकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि तेजोड़क्यके विशेषसंयोगसे लोहपिण्ड के अवयवों में पहिले किया उपजती है। किया या अने क कियाओं के उपज-जानेके पीछे दूसरे समयमें उन लोहअवयवोंका विभाग हो जाता है। अर्थात्-मिले हुये अवयव उस कियाके द्वारा पृथक पृथक दुकडे हो जाते हैं। विभागगुण संयोगगुणका नाशक है। अतः पहिले हो रहे संयोगका विभागकरके तीसरे समयमें नाश हो जाता है। उसके भी पीछे संयोगका नारा हो चुकनेपर उस लोहपिण्ड अवयत्रीका विनाश हो जाता है । स्थल अवयवींका भी नारा होते होते परमाण रह जाते हैं । उसके पीछे उष्णताकी अपेक्षा रखनेवाले अग्निसंयोगसे उन परमाणस्वरूप लोह अवयवोंमें अनुष्पाशीत स्पर्शका विनाश हो जाता है। अर्थात् —वैशेषिकोंने प्रथिवीमें अनुष्पाशीत स्पर्श माना है। जब कि लोहा पृथियी है। अतः उसका स्पर्श अनुष्णाशीत था, अगले क्षणमें अनुष्णाशीत स्पर्शका नारा हो गया। साथमें उन कियाओंका भी नारा हो गया। वैशेषिकोंके यहां किया चार क्षणसे अधिक नहीं ठहरती है। पहिले क्षणमें किया हुई दूसरे क्षणमें उसने विभागको किया, तीसरे क्षणमें पूर्व संयोगका नारा, चौधे क्षणमें उसी कियासे उत्तरदेश संयोग होकर पांच क्षणमें कियाका नारा हो जाता है। पुनः अन्य कियापें उत्पन्न होती रहती हैं। यहांतक अवयवी उसके अवयव उसके भी छोटे छोटे अवयव इस दंगसे लोहपिण्डिक परमाणुर्ये हो गये हैं । यों अवतक पूर्विपिण्डका वितास हो ज़ुका। अब नवीन पिण्डका उत्पाद सुनिये। पुनः दूसरे अग्रिसंयोगसे उन परमाणुओंमें नवीनस्पर्यकी उत्पत्ति होती है, उसके पश्चात् उस उष्णुकोह्मपेण्डद्वारा रसेई जीमना, भूरस जाना, आदिका उपनोग करवेदाके जीवींके विशेष प्रण्य, या पायकी अधीनतासे परमाणुओंसें किया होनेसे क्षेत्रसे क्षेत्रान्तररूप होना विभाग उपजाता है । विभागसे अन्य क्षेत्रके साथ हो रहे पूर्वसंयोगका बिनाश हो जाता है। पीछे दूसरे परमाणुके साथ संयोग हो जाता है। दो दो परमाणुओंका संयोग

हो जुकलेपर पीछे बगणुकोंकी उत्पत्ति होजाती है। तीन, तीन बणुकोंसे वहां सब लोह अवपवीके त्रयणक बन जाते हैं । चार चार त्रयणकोंके सब चतुरणक बन जाते हैं, यों पंचाणक, षडणुक, इस क्रमसे एक बैसे ही अत्युष्ण नवीन छोहपिण्डकी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार हम वैशेषिकोंके यहां बैसाका बैसे ही लोहपिण्डके अवस्थित बने रहनेपर तेजोद्रव्यका अनुप्रवेश नहीं माना गया है। जिससे कि अप्रतीघातका विधान करनेमें आप जैनलोग लोहपिण्डमें अप्रिके प्रवेशको दृष्टान्त कर तकें। यहांतक वैशेषिक कह चुके हैं। अव आचार्य कहते हैं कि यह कथन युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि प्रतीतिओंसे विरोध आता है। यह वहीं लोहपिण्ड भला तेजोदन्यसे न्याप्त हो रहा प्रतिभासता है. जो लोहपिण्ड पहिले अनुष्ण भले प्रकार दील चुका था, ऐसी बालक, बालिकाओंतकको प्रतीति हो रही है। दूसरे वैशेषिकोंके यहां जो उत्पादविनाशकी केवल प्रक्रिया गढ दी गयी है, उसकी तो किसीको कभी प्रतीति नहीं होती है। यदि नीचे अप्न जलानेसे अनुष्ण लोहा या तांबेका बर्तन इट फूट जाता तो उसमें का दूध या घी फैल जाता, किन्तु ऐसा नहीं हो रहा है। किन्तु यह वहीं लोहपिण्ड है, बहका वही बर्तन है, यह प्रतीति हो रही है, जो कि भ्रान्तिस्वरूप नहीं है। यदि यहां वैशोषिक यों कहें कि सदश ही दूसरे दूसरे छोहपिण्डोंकी उत्पत्ति हो जानेसे तुमको तिस प्रकार " यह वहीं है " ऐसी प्रतीति हो गयी है, जैसे कि दीपकलिकाओं में या किसी चूर्णमें वहीं है. यह सादस्यको कारण मानकर प्रतीति हो जाती है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि घटके एकपन तदेवपन, आदिके समान लोहपिण्डमें एकत्व प्रतीति भी समीचीन है । मुत्तिमान पदार्थीमें प्रवेश कर रहा कोई अमूर्त पदार्थ नहीं देखा गया है। यदि कोई यहां यों कहें कि अमूर्त्त आकाश तो मूर्तिमाम घटादि में प्रवेश कर जाता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उस आकाशके मूर्तिमान् होते सन्ते ही घट, पट, आदि मूर्त्त पदार्थीमें भी तिस प्रकारका प्रसंग हो जावेगा । अर्थात्-आकाश मूर्त नहीं है, क्रियावान् भी नहीं है । अतः वह मूर्तोंमें प्रविष्ट नहीं हो सकता है। ( यहांका यह पाठ कुछ अप्रकृतसा दीखता है विशेष बुद्धिमान् पुरुष पूर्वापार संदर्भको ठीक मिला लेवें ) । और तैसा होनेपर कथंचित् एकलको विषय करनेवाले प्रत्यभि-ज्ञानसे एकपनेकी सिद्धि होजाती है, बाधक प्रमाणोंसे रहित हो रहे उस प्रत्यभिज्ञान द्वारा उस एकप-नकी सिद्धि होना मान चुकनेपर लोहपिण्डमें भी एकत्व प्रत्यभिज्ञानसे भला एकत्व क्यों नहीं सिद्ध हो जायगा ? कारण कि वहां भी तो कोई बावक प्रमाण विद्यमान नहीं है।

स्यान्मतं, तेजोऽयरिंपढे तदवस्थे नातुमविश्चाति मूर्तत्वाल्लोष्ठवदित्येतद्वाधकामिति तदस-देतोः संदिग्धविपक्षच्याद्विकत्वात् सर्वज्ञत्वाभावे वक्तुवादिवत् । न हि किंचिन्मूर्तिमति मवि-श्चदमूर्ते दृष्टं । व्योम दृष्टमिति चैत्, तत्र मूर्तिमतोतुमवेशात्तथा मतीतेरवाधत्वादित्यलं मसंगेन । यदि वैशेषिक पण्डित "यह वही लोह पिण्ड है " इस प्रत्यभिज्ञानमें वाधकप्रमाण उपास्थित

क्ररते हुये अपना मन्तव्य यों प्रकाशित करें कि छोहपिण्डकी ठीक वैसीकी वैसी ही अवस्था बनीः

रहनेपर उसमें तेजोद्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता है (प्रतिहा) मूर्त होनेसे (हेतु) डेलके समान (अन्वय दृष्टान्त ) अर्थात् -हेळ जिसमें प्रवेश करता है वह पदार्थ वैसाका वैसा ही नहीं बना रहता है। इसी प्रकार छोहमें अग्निके घुस जानेपर छोहा विनष्ट होकर दूसरा बदल जाता है। यह तुम्हारे एकल प्रत्यभिज्ञानका बाधक प्रमाण खडा हुआ है। आचार्य कहते हैं कि उन वैशेषिकोंका इस प्रकार कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि उनके हेतुकी विपक्षमें व्यावृत्ति होना संदिग्ध हो रहा है, जैसे कि अर्हन् या बुद्धको सर्वज्ञपनेका अभाव साधते समय दिये गये वक्तृत्व, पुरुषत्व, हाथ पांत्र सहितपन आदि हेतुओं की विपक्षसे ज्यावृत्ति होना संदिग्ध है। अर्थात्—अर्हन्त ( पक्ष ) सर्वेज नहीं हो सकते हैं ( साध्य ) वक्ता होनेसे ( हेत् ) गलीके मनुष्य समान ( अन्वय दृष्टान्त ) इस अनुमानका वक्तापन हेत संदिग्धव्यभिचारी है। क्योंकि सर्वज्ञमें भी वक्तापन संभावित है। ज्ञानके प्रकर्ष होनेपर कोई वक्ता-पनका अपकर्ष हो रहा नहीं देखा जाता है। बल्कि ज्ञानके बढनेपर वक्तुत्व शक्ति बढ रही प्रतीत होती है। अथवा विपक्ष हो रहे सर्वज्ञमें पुरुषपना भी वर्त्त सकता है। इसी प्रकार मूर्तत्व हेत भी संदिग्ध व्यभिचारी है। अतः वहका वहीं मूर्त पदार्थ बना रहनेपर भी तेजोद्रव्य प्रवेश कर सकता है । छेदोंबाळी भीतमें डेळा प्रवेश कर जाता है, किन्तु भीत वह की वही बनी रहती है। गढमें गोळी घुस जानेसे सहसा अवस्था नहीं बदल जाती है। पेटमें अन, पान, का प्रवेश करलेने पर देवदत्तके शरीरकी सर्वथा परावृत्ति नहीं हो जाती है । मूर्तिमान पदार्थमें मूर्तपदार्थ प्रवेश करता है । मूर्त्तमें कोई भी अमूर्त्त प्रवेश करता हुआ नहीं देखा गया है। आकाश, धर्म, अधर्म, और काल ये अमूर्त, पदार्थ तो जहांके तहां अवस्थित हैं। ये कहीं जाकर प्रवेश नहीं करते। इनमें भले ही कोई मूर्त पदार्थ प्रवेश कर जाय। हां, शुद्ध जीव मोक्षगमन करते समय ऊर्ज्वेलोक प्रति गमन करता है। वह कोई बाण, डेळ आदिके समान प्रवेश करनेवाळा नहीं माना गया है। शेष संसारी जीव तो कर्म बन्धकी अपेक्षा मूर्त्त ही बने बनाये हैं। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि देखो आकाराद्रव्य अमूर्त्त हो रहा मूर्त्तपुद्गलोंमें प्रवेश कर रहा देखा गया है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि वहां भी आकाशमें मूर्तिमानका प्रवेश है। मूर्तिमानमें आकाशका प्रवेश नहीं है। आकाश तो व्यापक है कहांसे कहां जाय ? बादछों के चळनेपर किसी किसीको चन्द्रमा चळता दीखता है। कभी काळे बादछों में चंद्रमा घुसता दीखता है, यह सब भ्रांति है। अतः छोहपिण्डमें तिस प्रकारकी एकल प्रतीतिका कोई बाधक नहीं है। बाधारहित एकत्व प्रत्यमिक्नानसे वहां एकत्व सिद्ध हो जाता है। वाबदूक वैशेषिकों के सन्मख इमने सारभूत कथन कह दिया है। अधिक प्रसंग बढानेसे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकेगा उनका उत्पाद बिनाश प्रक्रियाको दिखलाना कोरा फटाटोप मात्र है।

नज्ञ कर्मैव कार्मणमित्यास्मिन् पक्षे न तच्छरीरं पुरुषविश्वेषगुणत्वाद्वुध्यादिवदिति काथित्रं प्रत्याद् । यहां नैयायित या वैशेषिककी ओरसे स्वपक्षका अववारण है कि स्वार्थमें अण् प्रत्यय करनेपर कर्म ही कार्मण शरीर है यों इस पक्षमें वह कार्मण तो कोई शरीर नहीं है, प्रस्पुत वह अदृष्ट तो सुदि, सुख, दु:ख आदिके समान पुरुषका विशेष गुण है, जिसकी आप जैन कर्म कहते हैं । उसकी हमारे वहां अदृष्ट यानी पुण्य, पाप, कहा गया है । इस प्रकार अनुमान बनाकर कोई वैशेषिक कह रहा है, उसके प्रति आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं, उसकी सुनिय ।

# कर्मैव कार्मणं तन्न शरीरं नृगुणत्वतः । इत्यसद्द्रव्यरूपेण तस्य पौद्रलिकत्वतः ॥ ३ ॥

कर्म ही कार्मण है जो कि धर्म, अधर्म, कहे जाते हैं वह कर्म (पक्ष) शरीर नहीं है, (साध्य) आत्माका विशेष गुण होनेसे (हेतु) बुद्धिके समान (अन्वयद्द्यान्त) यों वैशेषिकोंका कहना सत्यार्थ नहीं है। क्योंकि उस कर्मको द्रव्यरूपसे पुद्रलों करके निर्मितपना सिद्ध हो रहा है। अर्थात्—कर्म यदि आत्माके गुण होते तो आत्माको पराधीन नहीं कर सकते थे। जो जिसका गुण होता है वही उसको परतन्त्र नहीं बना देता है। जब कि यह संसारी जीव परवश हो रहा है, अतः सिद्ध हो जाता है कि कर्म विजातीय पौद्रलिक द्रव्य हैं। द्रव्यका निज गुण उसको विभाव अवस्थामें नहीं पटक देता है। निजगुणोंको नाश करनेके लिये मुमुक्षुका प्रयत्न नहीं होता है। अन्यथा आत्म द्रव्यका ही नाश हो जायगा।

#### न हि कर्म धर्माधर्मरूपमदृष्टसंज्ञकं पुरुषविश्लेषग्रुणस्तस्य द्रव्यात्मना पौद्रलिकत्वात्ततो नाशरीरत्वसिद्धिः ।

वैशेषिकों के यहां जिनकी संज्ञा अदृष्ट मानी गयी है, ऐसे धर्म, अधर्मस्वरूप कर्म तो आत्माके विशेष गुण नहीं हैं। क्यों कि द्रव्यस्वरूपसे वे पुद्गलके गढ़े हुये हैं। तिस कारण कर्मों को शरीर रहितपनकी सिद्धि नहीं है। संसारी आत्माका सूक्ष्मशरीर पीद्गलिककर्म है, जो कि आत्मद्रव्यसे मिल्न द्रव्यपुद्गलका बन रहा औपाधिक शरीर है, जैसे कि अस्थिमांस रक्तमय यह द्रश्यमान स्थूल शरीर पुद्गल निर्मित है।

#### भावकर्मैवात्मग्रणरूपं न द्रव्यकर्म पुद्रलपर्यायत्वमात्मसात्कुर्वत्यसिद्धमिति मन्यमानं पत्याइ।

वैशेषिक कहते हैं कि जैन पण्डित भी राग, देष, अज्ञान, ईर्ष्या, अनुस्साहको भावकर्म मानते हुये आत्माका गुण (विभावपरिणाम) मानते ही हैं। सच पूछो तो आत्मामें अज्ञान, राग, देष, आदि भावकर्म ही आत्माके गुणप्तरूप हो रहे विद्यमान हैं। पुण्यकर्म तो पुद्रस्कके पर्यायपनको अपने अधीन करता हुआ कोई आजत र प्रसिद्ध नहीं है। कोई भी दार्शनिक विचारा अमूर्त आत्माके

उपर जम रहे पौद्रिक कर्मीको नहीं स्वीकार कर रहा है। इस प्रकार मान रहे वैशेषिकोंके प्रति आचार्य महाराज समाधानवंचन कहते हैं।

### कर्म पुद्रलपर्यायो जीवस्य प्रतिपद्यते । पारतंत्र्यनिमित्तत्वात्कारागारादिवंधवत् ॥ ४ ॥

जीवके कर्म तो पुद्रलकी पर्याय समझे जा रहे हैं (प्रतिक्षा) जीवकी परतंत्रताके निमित्त कारण होनेसे (हेतु) कारागार (जेल्खाना) सांकल, छेज, आदिके बंध समान (अन्वयद्द्धान्त)। अर्थात्—देवदत्त या गायको जेल घर या सांकलमें बांध दिया जाय ऐसी दशामें वह बंधन उन आत्माओंका निजयुण नहीं है, किन्तु पौद्रलिक है। इसी प्रकार जीवकी परतंत्रताका निमित्तकारण हो रहा कर्म पदार्थ भी आत्मासे विजातीय द्रव्य माने गये पुद्रलकी पर्याय है।

कोघादिभिर्व्यभिचार इति चेक्, तेषामि जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तते पौद्रिकिकत्वो-पपत्तेः । चिद्रूपतया संवद्यमानाः कोघादयः कथं पौद्रिकिकाः प्रतीतिविरोधादिति चंत् न, निर्हेतोर्व्यभिचारायोगात् तेषां पारतंत्र्यनिमित्तत्वाभाषात् । द्रव्यक्रीघादय एवं हि जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तं न भावक्रोधादयस्तेषां स्वयं पारतंत्र्यरूपस्वाद्द्रव्यक्रोधादिकर्मोदये हि सति भावक्रोधायुत्पत्तिरेव जीवस्य पारतंत्र्यं न पुनस्तत्कृतमन्यितिविदित्यव्यभिचारी हेतुर्नी-गमकः सदा ।

यदि कोई यों कहे कि कोंध, अभिमान, आदि करके आप जैनिक हेतुका व्यभिचारदोष आता है। देखो, कोंध आदिक मांध भछा जीवको परतित्र करनेके निर्मित्त तो हैं, किन्तु पुंद्रछकी पर्याय नहीं हैं। जीवके औदियकमाव वे कोंधआदिक तो स्वतस्व मांने गये हैं। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जीवकी पराधीनताके निमित्त होनेपर उन कोंध आदिकोंको भी पुद्रछ निर्मितपना बन जाता है। हेतुके रहनेपर साध्य भी रहजाय ऐसी दशमिं व्यभिचारदीष नहीं आता है। केहीं तो पुद्रछ निर्मित कारण है, वे सभी कार्य पौद्रछिक हैं। यदि वैशाषिक फिर यों कहें कि कोंध आदिक तो जीवके निज चैतन्य रूप करके सम्वेदम किये जा रहे हैं, वे आत्मीय पदार्थ मछा कैसे पुद्रछके परिणाम माने जा सकते हैं ? क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध हो जावेगा, यानी कींध आदिक यदि पुद्रछकी पर्याय होते तो घट, पट, आदिके समान बहिर्भूत देखे जाते और साधारण जीव भी उनको बहिरंग इन्द्रियों हारा देख छेते। किन्तु देवदत्तके कोंधका उसीके अंतर्गमें चेतन आत्मकपने करके सम्वेदन हो रहा है। दूसरे जीवोंको देवदत्तके कोंधका इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हो नहीं पाता है। जहां हेतु तो ठहर नाय और साध्य महीं ठहरे वहां व्यभिचार दिया जा सकता है। पाता है। जहां हेतु तो ठहर नाय और साध्य महीं ठहरे वहां व्यभिचार दिया जा सकता है। पाता है। जहां हेतु तो ठहर नाय और साध्य महीं ठहरे वहां व्यभिचार दिया जा सकता है।

हेतुके नहीं ठहरते हुये साध्यके नहीं ठहरनेपर व्यमिचार दोष नहीं छग पाता है। देखिये, उन क्रोधा-दिकोंको परतंत्रताके निमित्त कारण होनेका अभाव है, पुद्रछकी कार्मणवर्गणाओंसे बनाये गये द्रव्य क्रोध, द्रव्यमान, आदिक ही जीवकी परतंत्रताके निमित्त हैं। उन द्रव्यकोध आदिके निमित्तसे हुये जीवके भाव क्रोध, अमिमान आदिक जीवपर्याय तो परतंत्रताके निमित्त नहीं हैं। वे भावकोध आदिक तो स्वयं परतंत्रता स्वरूप हैं। क्योंकि पुद्रछ द्रव्यके बने हुये क्रोध आदिक कर्मोका उदय होते सन्ते ही भाव क्रोध आदि जीव परिणामोंकी उत्पत्ति हो रही जीवकी परतंत्रता है। उन पुद्रछ निर्मित द्रव्य क्रोध आदि हारा की गयी फिर अन्य कोई भी पदार्थ परतंत्रता नहीं है। अर्थात्—क्षमास्त्रहूप जीवका क्रोध रूप हो जाना ही पराधीनता है। सबको जान छेना इस स्वभावको धारनेवाछ जीवका पीद्रछिक ज्ञानावरण कर्मके उदय होनेपर अज्ञानभाव हो जाना ही तो जीवकी पराधीनता है। इस क्रारण हेतुके नहीं घटित होनेपर और साध्यके भी नहीं ठहरनेपर भावकोध द्वारा व्यभिचार नहीं हो सकता है। हमारा प्रयुक्त किया गया परतंत्रताका निमित्तपना हेतु व्यभिचार दोषरहित है। अतः सर्वदा अगमक नहीं है। किन्तु पुद्रछ पर्यायपन साध्यका सर्वदा ज्ञापक है।

#### अत्रापरः स्वप्नांतिकं श्वरीरं परिकल्पयति तमपसारयकाह ।

यहां कोई दूसरा बौद्ध उक्त पांच शरीरोंमें अतिरिक्त स्वप्नमें होनेवाले स्वप्नान्तिक शरीरकी परि-कल्पना कर रहा है उसके मतका निराकरण करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिकको कहते हैं ।

# स्वप्नोपभोगसिष्यर्थं कायं स्वप्नान्तिकं तु ये। प्राहुस्तेषां निवार्यते भोग्याः स्वप्नांतिकाः कथम्॥ ५॥ भोग्यवासनया भोग्याभासं चेत्स्वप्नवेदिनां। शरीरवासनामात्राच्छरीराभासनं न किम्॥ ६॥

स्वप्न दशामें अनेक प्रकारके सुख दुःख भोगने पडते हैं। कभी कुयेमें गिर पडता है, कभी भोजन करनेका स्वप्न आता है, कभी नावमें बैठकर जाता है, इत्यादिक स्वप्नके उपभोगोंकी सिद्धिकी प्राप्ति करनेके लिये जो बौद्धपण्डित एक स्वप्नान्तिक शरीरको अच्छा कह रहे हैं, उनके यहां तो स्वप्न दशामें होनेवाले स्वप्नान्तिक भोग्यपदार्थ भला कैसे निवारे जा सकते हैं! अर्थात्—स्वप्नान्तिक शरीरके समान स्वप्नान्तिक घोडा, नाव, धन, कूप, नदी, भोजन, अलंकार, आदिक भोग्य पदार्थ भी मानने चाहिये। जैसे कि यह स्थूल शरीर खाटपर सो जाता है, कहीं बाहर नाव, घोडापर, चढ नहीं सकता है, खाता, पीता, चलता, फिरता नहीं है, हां, दूसरा स्वप्नान्तिक शरीर उक्त कियाओंको सल्यन्तासे कर लेता है, उसी प्रकार निकटवर्ती भोग्य पदार्थ तो यथास्थान रखे रहते हैं। स्वप्न अवस्थाने

न्यारे ही बोडे, भोजन, क्का, स्त्री, धन, आदिक मोग्य पदार्थ गढ लेने चाहिये। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि स्वप्नका झान करनेवाले जीवोंक पूर्वकालसे लगी आ रही मोग्यपदार्थोंकी वासना करके भोग्यपदार्थोंका प्रतिभास हो जाता है। मिथ्यावासना द्वारा असंख्य झुंठे पदार्थोंका शोकी, मदोन्मत्त, मूर्जित, जीवोंके झान हो रहा देखा जाता है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो शरीरकी भी केवल वासनासे ही शरीरका आमास हो जावो, वास्तवमें वहां कोई न्यारा शरीर नहीं है, जैसे कि मोग्य पदार्थ नदी, उपवन, पर्वत, मृतपिता, मित्र, आदिक कोई न्यारे वहां नहीं हैं। विचारा जाय तो किसी मयंकर पदार्थके स्वप्नमें दीख जानेपर इस स्थूलशरीरमें ही कम्प या इदयमें धडकन हो रही प्रतीत होती है, युवा पुरुषोंको विशेष स्वप्न आनेपर इस स्थूल शरीरमें ही विकार हुआ करते हैं। यों मूर्जित, उन्मत्त, आन्त, दशाओंमें अनेक प्रकारके विपरीत ज्ञान होते हैं। उनके लिये कहातक झुंठे मूठे अप्रमाणिक शरीरोंकी कल्पना करोंगे !

यथैव हि स्वप्नदश्चायां भागोपल्लिशः स्वप्नांतिकं श्वरीरमंतरेण न घटत इति मन्यते तथा भोग्यानर्थानंतरेणापि सा न सुघटेति भवद्भिर्मननीयं, जाब्रदश्चायां श्वरीर इव भोग्येष्विप सत्सु भोगोपल्लेशः सिद्धत्वात् । यदि पुनर्भोग्यवासनामात्रात्स्वप्नदिश्चेनां भोग्याभास इति भवतां पतिस्तदा शरीरवासनामात्राच्छरीराभासनिमिति किं न मतं १ तथा सित स्वप्न-पतिभासस्य मिथ्यात्वं सिध्येत्, अन्यया शरीरमतीतेरिप भोग्यमतीतेः सुखादिभोगोपळ्लेशः स्वप्नत्वमसंगात्। ततो न सौगतानां स्वप्नांतिकं शरीरं कल्पियतुं युक्तं नापि स्वाभाविकमित्याह ।

कारण कि जिस ही प्रकार जीवका स्वध्न अवस्थामें भोग, उपभोगोंकी उपछन्धि करना स्वध्नान्तिक शरीरको माने विना घटित नहीं होता है, यों बौद्ध मान रहे हैं। तिसी प्रकार भोग्य अर्थोंके विना भी वह भोगोंकी उपछन्धि भी भन्ने प्रकार घटित नहीं हो पाती है। इस कारण आप बौद्ध करके स्वध्नान्तिक भोग्य पदार्थ भी मानने चाहिये। क्योंकि जागृतदशामें जैसे शरीरके होनेपर ही भोगोंकी उपछन्धि होती है। अतः स्वध्नमें भी एक न्यारा शरीर मानना पढता है। उसी प्रकार जामत दशामें भोग्य पदार्थोंके होनेपर ही भोगकी उपछन्धि होती है। इससे सिद्ध है कि स्वध्नमें विछ-क्षण प्रकारके भोग्य पदार्थ भी है। यदि बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि स्वध्नदशी पुरुषोंको पूर्वकाळीन भोग्य पदार्थोंकी आत्मामें जम गयीं केवछ वासनाओंसे ही भोग्योंका आभास हो जाता है, आचार्य कहते हैं कि यों आपका विचार होय तब तो शरीरकी केवछ (कोरी) वासनासे स्वध्नमें शरीरका प्रतिभास हो जाता है, यह क्यों नहीं मान छिया जावे ? तैसा होनेपर ही स्वध्न प्रतिभासको मिथ्यापन सिद्ध हो सकेगा। अन्यथा यानी स्वध्नान्तिक भोग्य यदि मान छिये जायेंगे तो स्वध्न सच्चा बन बैठेगा अथवा शरीरकी प्रतीति हो जानेस भोग्योंकी प्रतीति हो रही है, इस कारणके जामत दशाके सुख आदि मौगोंकी उपछन्धिको स्वध्नपनेका प्रसङ्ग हो जावेगा। तिस कारण बौद्धोंको निराष्टे स्वध्नान्तिक इरीरकी

कल्पना करना उचित नहीं है। साथमें स्त्रामानिक शरीर कर्न्पना करना भी युक्त नहीं है। इसी बातकी श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

# स्वाभाविकं पुनर्गात्रं शुद्धं ज्ञानं वदंति ये। कुतस्तेषां विभागः स्यात्तच्छरीरशरीरिणोः॥ ७॥

जो बौद्ध विद्वान् फिर जीवके शुद्ध ज्ञानको स्वामाविक शर्रार कह रहे है, उन बौद्धोंके यहां शिर और शरीरवाले जीवका विभाग भला कैसे होगा ? बताओ। अर्थात्—ज्ञानादैतवादी बौद्ध यदि ज्ञानको ही शरीर कह देंगे तो फिर शरीरधारी आत्मा उनके यहां क्या माना जायगा ? बौद्ध ज्ञानवान् आत्माको स्वतन्त्रतत्त्व मानते नहीं हैं।

तदेव ज्ञानमशरीरिज्याष्ट्रस्या शरीरी स्यादशरीरज्याष्ट्रस्या शरीरिमिति सुगतस्य शृद्धज्ञानात्मनः शरीरत्वं, शरीरित्वं च विभागेन ज्यवितष्ठते कल्पनासामर्थ्यादिति न मंतज्यं,
तद्याष्ट्रतेरेव तत्रासंभवात् । सिद्धे हि तस्य शरीरत्वे वा शरीरिणः शरीराच ज्याष्ट्रतिः सिध्येत्
तित्सद्धौ च शरीरित्वमशरीरित्वं चेति परस्पराश्रयाचैकस्यापि सिद्धिः । ततो न स्वाभाविकं
शरीरं नाम ।

बौद्ध जनोंका यह मन्तव्य है कि ज्ञान पदार्थ तो उपाल्याओंसे रहित है, उसमें कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं ठहरता है। घटत्व, पटत्व, कोई पदार्थ नहीं है। अघटपनकी व्यावृत्ति ही घटत्व है, और अपटपनकी व्यावृत्ति पटत्व है, पटत्व कोई सहरा परिणाम या जाति अथवा सखण्डोपाधि धर्म नहीं है। इसी प्रकार बुद्ध भगवान्के रारीर और रारीरिपन कोई धर्म नहीं है। ज्ञानाहैतवादियोंके यहां वह ज्ञान ही रारीरिरिहतपनेकी व्यावृत्ति करके रारीरी कहा जाता है और रारीररिहतपनकी व्यावृत्ति करके वह ज्ञान ही रारीर कह दिया जाता है। इस प्रकार ग्रुद्ध ज्ञानस्वरूप बुद्ध भगवान्के रारीरपन और रारीरिपन ये दो धर्म विभाग करके व्यस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। अन्यापोह या अतद्व्यावृत्तिकी कल्पनाकी सामध्यसे वस्तुभूत नहीं होते हुये धर्म भी ज्ञानमें गढ छिये जाते हैं। पण्डितका अर्थ " मूर्ख नहीं " एतन्मात्र है। पूर्ण धनवान् होना या पूर्ण पण्डित होना तो बहुत बड़ी बात है। सुंदर बल्वान, कुळीन, पृष्ट, व्याख्याता, स्वादु भोजन, आदि प्रशंसनीय पदार्थोका अर्थ केवल अन्यापोह मात्र है। अब आचार्य कहते है कि यह तो बोद्धोंको नहीं मानना चाहिये। क्योंकि उसका स्वमाव माने विना उससे मिन्नकी व्यावृत्ति हो जानेका ही उसमें असम्भव है। कारण कि उस ज्ञावृत्तिके सिद्ध हो जानेपर शरीरीमन और अरारिपियन सिद्ध होते। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हो जानेसे एककी भी सिद्धां नहीं स्वार्तिक और अरारिपियन सिद्ध हो जानेपर शरीरीमन और अरारिपियन सिद्ध होते। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हो जानेसे एककी भी सिद्धां नहीं

हो सकती है। अर्थात् अग्नि गांठकी उष्ण है तब तो अनुष्ण जल आदि पदार्थों से उसकी व्यावृत्ति हो सकती है। किन्तु जो निजस्वरूपसे उष्ण पदार्थ नहीं है उसकी अनुष्णव्यावृत्ति असंभव है। अन्यथा जलके भी अनुष्णव्यावृत्ति वन बैठेगी। दूसरी बात यह है कि ज्ञान आत्मक बुद्धको शरीरीपना वस्तुभूत सिद्ध हो जाय, तब तो शरीरीसे भिन्न शरीर आदिसे उसकी व्यावृत्ति सभ्याये और व्यावृत्ति सभ्र चुकनेपर शरीरीपन (कल्पित) और अशरीरीपन सभ्यसके। तीसरी बात यह भी है कि चालिनी न्यायसे बुद्धमें किसी भी व्यावृत्तिकों कल्पना नहीं हो सकती है। क्योंकि शरीरत्व सिद्ध करते समय शरीरसे भिन्न शरीरीपन या अशरीरीपन भी व्यावृत्त हो जायगा। बुद्धमें इनकी भी व्यावृत्ति हो जावेगी तथा शरीरीपनको साधते समय शरीरित्वसे भिन्न शरीरत्वकी भी व्यावृत्ति बुद्धमें घुस जावेगी। तिस कारण उक्त पांच शरीरीसे न्यारा कोई स्वाभाविक शरीर नाममात्रको भी नहीं है।

#### यत्पुनरातिवाहिकं नैर्माणिकं च तदस्मदिभमतमेवेत्याह ।

जो भी फिर किसीने आतिवाहिक और नैर्माणिक ये दो शरीर माने हैं, वे तो हमको अमीए ही हैं, इसी बातको प्रन्थकार स्पष्ट कहते हैं।

### कार्मणांतर्गतं युक्तं शरीरं चातिवाहिकं। नैर्माणिकं तु यत्तेषां तन्नो वैकियिकं मतं॥८॥

दोनोंमें पहिला आतिवाहिक शरीर तो कार्मण शरीरमें अन्तर्भूत हो जाता है। अतः मले ही आतिवाहिक शरीर मान लो उचित ही है और जो उनके यहां नैमीणिक शरीर माना गया ह वह तो हम जैनोंके यहां वैक्रियिक शरीर माना जा चुका है। अर्थात्—यहां वहां अनेक योनियोमें परि-अमण करानेवाला आतिवाहिक शरीर कार्मण शरीर ही तो है तथा स्वल्प कालमें अधिक भोगोंको भोगनेके लिये रचे गये नैमीणिक शरीर वैक्रियिक शरीर ही समझे जाते हैं। अतः जैनसिद्धांतसे कोई विरोध नहीं अता है।

#### सांभोगिकं पुनरौदारिकादिशरीरत्रयमभतिषिद्धमेवेति न शरीरांतरमस्ति ।

जिनका प्रयोजन सम्भोग करना है ऐसे साम्भोगिक शरीर तो फिर औदारिक, वैकियिक, आहारक ये तीन शरीर जैनोंके यहां माने ही गये हैं। अतः साम्भोगिक शरीरका हम निषेध नहीं करते हैं। किन्तु वह माने गये पांच शरीरोंसे कोई न्यारा शरीर नहीं है।

#### नन्वौदारिकाद्यानि भिकानि पार्थिवादिशरीराणि संति ततोन्यत्रोपसंख्यातव्यानीति केचित् तान् पत्याह ।

यहां वैशोषिक अपने मतका अवधारण करते हैं कि जो औदारिक शरीरसे मिन हो रहे पृथिवी. निर्मित शरीर वा जलनिर्मित शरीर अथवा तैजस और वायबीय शरीर हैं उनको उस औदारिकसे न्यारा कथन करना चाहिये। यदि सूत्रकारकी त्रुटि हो गयी है तो वार्तिककारको उपसंख्यान द्वारा बद्ध त्रुटि पूरी कर देनी चाहिये, यहांतक कोई कह रहे हैं, उनके प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

## पार्थिबादिशरीराणि येऽतो भिन्नानि मेनिरे । प्रतीतेरपछापेन मन्यतां ते खवारिजम् ॥ ९ ॥

जो बैशेभिक पण्डित इस औदारिक शरीरसे भिन्न पार्थिव शरीर, जलीय शरीर आहिको मान बैठे हैं, प्रतीतिका अपलाप करके चाहे जिस अन्ट, सन्ट, पदार्थको मान लेमेवाले वे वैशिषिक को आकाशकमलको भी मान लेमें, इसमें क्या आश्चर्य है।

न हि पृथिव्यादीनि द्रव्याणि भिक्षजातीयानि संति तेषां पुक्रकपर्यागत्वेन मतीतेः प्रस्परपरिणामदर्शनाद्धिकातीयत्वे तदयोगात् । न ह्याकाशं पृथिवीरूपतया परिणमते कालादिवी । परिणमते च जलं ग्रुक्ताफलादि पृथिवीरूपतया । ततो व तज्ज्वात्यंतरं ग्रुक्तं येन पार्थिवादिशरीराणि संभाव्यंते ।

पृथिवी, जल, आदिक द्रव्य कोई भिन्न जातिवाले न्यारे नत्या तत्त्व नहीं हैं। क्योंकि उन पृथिवी, जल, आदिकोंकी पुद्रक्रके पर्यायपने करके प्रतीति हो रही है, पस्स्परमें एक दूसरेकी पर्याय हो जाना देखा जाता है। यदि पृथिवी, जल, आदिक द्रव्योंको भिन्न भिन्न जातिवाला तत्त्वान्तर माना जावेगा तो उस परस्पर परिणाम होनेका योग नहीं बन सकेगा। तुम वैरोषिकोंके यहां भी पृथिवी स्वाह्म करके अकाश द्रव्य नहीं परिणमता है अथवा काल, आत्मा, आदिक द्रव्य भी पृथिवी या जल नहीं बन जाते हैं। अतः ये मिन्न जातिवाले द्रव्यान्तर हैं। किन्तु सीपके मुखमें पड़ा हुआ जल कुछ काल्म मोती हो जाता है, मेचजल ही अनेक वनस्पतियां बन जाता है, जलके लकडी, पाषाण आदि परिणाम हो जाते हैं, जो कि कठिन होनेसे आपके मतमें पृथिवी पदार्थ माने गये हैं। आकाशमें, विश्रेष वायुर्जे जल होकर बरस जाती हैं। अभिकी भस्म पृथिवी हो जाती है। कपड़ा, लकडी, आदिक प्रार्थिय पदार्थ जलकर अग्नि होजाते हैं। दीपकसे काजल बन जाता है। इस ढंगसे परस्परमें पृथिवी, जल, तेन, वायु-ओंका परिणामपरिणामी भाव देखा जाता है। तिस कारणसे उन पृथिवी, जल आदिकांको न्यारी न्यासी जातिवाल कहना उचित नहीं है, जिससे कि पार्थिव शारीर या जलीय शारीर, आदिक न्यारे शारीरंके सद्भावकी संमावना की जा सके।

संत्यिप तानि नैतेभ्यः शरीरेभ्यो भिजानि प्रतितिर्विषयभावमनुभगंति क्योपार्शनिद्वस्य मार्थिनं हि शरीरं पदिद्रलोके पत्र तैजसमादित्यलोके यदाप्यं वरुप्रलोके यत्र वायक्यं वायुलोके विदितन्यं, तद्रैकियिकमेन देवनारकाणामीपपादिकस्य शरीरस्य विक्रियकस्याह् । यत्र वाहुर्यूः

#### तिकं पांचकीतिकं वा कैश्विदिष्टं शरीरं मनुष्यतिरश्चां तदीदारिकमेन च, न ततीन्यदिति पैचैव वयोक्तानि श्वीराणि व्यवतिष्ठेते सर्वविश्वेषाणां तत्रांतर्भावात् ।

और ये पार्थिय, जलीय, आदि शरीर विद्यमान हैं तो भी वे इन पांच शरीरोंसे मित्र होते हुये प्रतीतिके विषयपनको नहीं अनुभव कर रहे हैं। जैसे कि आकाशपर छगा हुआ कमल कोई सड़त प्रमेय नहीं हैं । उसी प्रसार इन औदारिकादि शरीरोंसे भिन्न कोई प्रथियी तत्त्व निर्मित या जलतत्व निर्मित अथवा अकेले तेजो द्रव्यसे निर्मित तथा कोरी वायसे बने हुये शरीर नहीं जाने जा रहे हैं। तुम वैशेषिकींने प्रथिवीका बना हुआ जो शरीर इन्द्रलोकमें प्रसिद्ध माना है तथा जो सूर्यलोकमें तैजस शरीर कहा है और जो वरुण लोकमें जलनिर्मित शरीर माना गया है एवं वायुलोकमें जीवोंका शरीर जो वायुनिर्मित स्वीकार किया गया है वे तो सब शरीर वैक्रियिक ही हैं। देव और नारिक्योंके उपपाद जन्मसे निपजे हुये शरीर वैक्रियिक हुआ करते हैं। हां, जरायुज, मनुष्य, गाय, मैंस, आदिक और अण्डज पक्षी सर्प आदिकोंका योनिज शरीर तथा गिडार, डांस, बृक्ष आदिकोंका अयोनिज शरीर जो पार्थिव माना गया है वह तो औदारिक है। है। जलकायके जीवोंका शरीर हो रहा सचित्त जल भी औदारिक शरीर है। इसी प्रकार अप्रिकारिक जीव और वायुकायिक जीवोंका सचित्त शरीर भी अप्रि और वायुस्वरूप होता हुआ औदारिक शरीर है। जो भी वैशेषिक यों मान बैठे हैं कि मनुष्य और तिर्यंचोंका शरीर तो प्रथिवी, जल. तेज, वाय, इन चार भृतीका बना हुआ है अथवा इन चारमें आकाशको मिलाकर पांच भृतोंसे बन रहा माना है । अर्थात्-मनुष्य और घोडा, हायी, तोता, मैना, सांप, आदिके शरीरोंमें कठिन भाग पृथिविका है, दय भाग जलका है, उदरामि या उच्याता तो अग्निका भाग है, उक्त शरीरोंमें वायु भी है, इस कारण चारों धातुओंसे ये रारीर बने हुये हैं। उक्त रारीरोंमें भीतर पोछ भी हैं वह आकाराका भाग है, यों पांच भूतोंसे बने हुये ये शरीर किन्ही वादियों करके इष्ट किये गये हैं। आचार्य कहते हैं कि वह मनस्य या तिर्थचों का शरीर तो हमारे यहां औदारिक शरीर ही माना गया है। उनसे न्यारा कोई शरीर नहीं है। इस कारण आम्नाय अनुसार सूत्रकार द्वारा कहे गये शरीर पांच ही व्यवस्थित हो रहे हैं। शरीरके अन्य सभी भेद प्रभेदोंका उन पांचमें ही अन्तर्भाव हो जाता है।

### नतु चामूर्तस्यात्मनः कथं मृर्तिमद्भिः शरीरैस्संबंधो मुक्तात्मनदित्याशंकामपनुदन्नाह ।

यहां किसीकी शंका है कि मुक्त आत्माके समान अमूर्त हो रहे आत्माका मला मूर्तिवाले शरी-रोंके साथ केसे सम्बन्ध हो जाता है! अन्यथा मुक्त परमात्माके भी शरीरके साथ सम्बन्ध बन बैठेगा। इस प्रकारकी आशंकाका निराकरण कर रहे श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कह रहे हैं।

# अनादिसंबंधे च ॥ ४१ ॥

वे तैजस और कार्मण शरीर दोनों आत्माके साथ अनादि कालसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। अर्थास्—मोक्ष होनेक पूर्व कालोंने अनादि कालसे यह जीव प्रवाह रूप करके कर्मीके साथ बंधा रहनेंके कारण मूर्त है। संसारी जीव विचारा मुक्तात्मा या आकाशके समान अमूर्त नहीं है। अतः मूर्तजीवका ही मूर्त शरीरोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। अमूर्तका मूर्तद्रव्यके साथ बंध नहीं हो सकता है।

अनादिः संबंधो ययोरात्मना ते यथा तैजसकार्मणश्चरीरे, च श्रद्धात्सादिसंबंधे ते प्रति-पचन्ये । ततो नैकांतेनामूर्तत्वमात्मनः परश्चरीरसंबंधात्पूर्व येन तद्बुपपत्तिः तत्संबंधात् प्रागपि तस्य तैजसकार्मणाभ्यां संबंधसद्भावात् । ततः पूर्वमप्यपराभ्यां ताभ्यामित्यनादितत्संबंध-संतानः प्रतिविधिष्ठतैजसकार्मणसंबंधात् सैव सादिता ।

जिन तैजस और कार्मणका आत्माक साथ सम्बन्ध अनादिकालसे चला आता है, वे तैजस और कार्मण शरीर थयायोग्य अनादि सम्बन्धवाले कहे जाते हैं। सूत्रमें समुचयवाचक च शह भी पढ़ा हुआ है। इस कारण वे तैजस और कार्मण शरीर सादि सम्बन्धवाले भी समझ लेने चाहिये। अर्थात्—तैजस शरीर ल्यासठ सागरसे अधिक नहीं ठहरता है। कोई भी वर्तमानका कार्मण शरीर सत्तर कोटाकोटी सागरसे अधिक नहीं ठहर सकता है। किन्तु कार्यकारणभावकी सन्तानसे उनका प्रवाह अनादिकालसे चला आ रहा है। तभी तो विशेष विशेष तैजस शरीर या कार्मण शरीरकी अपेक्षासे वे सादि सम्बन्धवाले भी हैं। जैसे कि बीज और इक्षकी सन्तान अनादि है, किन्तु विशेष बीज या कोई एक पकड लिया गया इक्ष तो सादिकालका है। तिस कारणसे दूसरे शरीरोंके सम्बन्धसे पहिले आत्माको एकान्तरूपसे अमूर्तपना नहीं है। जिससे कि उस शरीरके सम्बन्धकी असिदि हो जाय। जिस समय तैजस और कार्मण शरीरोंको वर्तमानमें सम्बन्ध हो रहा है, उस सम्बन्धसे पहिले भी उस आत्माका पूर्ववर्ती तैजस और कार्मण शरीरोंको साथ सम्बन्धका सद्भाव था। और उससे भी पहिले तीसरे उन तैजस कार्मण शरीरोंके साथ आत्माका सम्बन्ध था। इसी प्रकार अनादिकालके जीवकी अनादिकालसे उन तैजस, कार्मण, शरीरोंके सम्बन्धकी सन्तान बन रही है। हां, प्रत्येक विशिष्ट असाधारण किसी तैजस या कार्मणका सम्बन्ध हो जानेसे वही सादिपना उनका व्यवस्थित है। विशिष्ट असाधारण किसी तैजस या कार्मणका सम्बन्ध हो जानेसे वही सादिपना उनका व्यवस्थित है।

#### नतु कस्यचित्रानादिसंबंधे तेऽतः परश्ररीरसंबंधातुपपत्तिरित्याशंकायामिदमाइ ।

यहां कोई शंका करता है कि सम्भवतः किसी किसी जीवके वे तैजस, कार्मण, शरीर तो अनादि सम्बन्धवाछे नहीं हैं। अतः जिस आत्माके तैजस या कार्मणका सादि सम्बन्ध हुआ है, उस अमूर्त आत्माके इस कारण दूसरे औदारिक आदिक मूर्त शरीरोंके सम्बन्ध होनेकी असिदि हो जावेगी। इस प्रकार आशंका होनेपर श्री उमास्वामी इस अगछे सूत्रको कह रहे हैं।

# सर्वस्य ॥ ४२ ॥

सम्पूर्ण संसारी जीवोंके ये दोनों ही शरीर होते हैं। अर्थात्—कोई भी संसारी जीव ऐसा नहीं है जिसे कि वे तैजस कार्मण शरीर प्रवाह रूप करके अनादि काळसे छगे हुये नहीं होंय। सभी संसारी जीव कर्मोंसे बंध रहे हैं।

# सर्वस्य संसारिणस्तैजसकार्मणञ्जरीरे तथानादिसंबंधे न पुनः कस्यचित्सादिसंबंधे येना-त्यनः शरीरसंबंधानुपपत्तिः । क्रुतः इत्याइ ।

सम्पूर्ण संसारी जीवोंके वे तैजस कार्मण शरीर तिस प्रकार धारारूपसे अनादि सम्बन्धवाले हैं। किन्तु फिर किसी भी एक जीवके वे मूल्क्रपसे सादि सम्बन्धवाले नहीं हैं, जिससे कि आत्माके साथ औदारिक आदि शरीरोंके सम्बन्ध हो जानेकी असिद्धि हो जाय। कोई यहां आक्षेप करता है कि किस प्रमाणसे आपने यह जाना कि वे दोनों शरीर सभी जीवोंके अनादि सम्बन्धवाले हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अगली वार्तिकर्में यों समाधान वचन कहते हैं।

### सर्वस्यानादिसंबंधे चोक्ते तैजसकार्मणे । शरीरांतरसंबंधस्यान्यथानुपपत्तितः ॥ १ ॥

सभी जीवोंके वे तैमस और कार्मण शरीर (पक्ष ) अनादि कालसे सन्बन्ध रखनेवाले कहें जा चुके हैं (साध्य ) अन्य शरीरोंके सम्बन्ध होनेकी अन्यथा अनुपपत्ति होनेसे (हेतु ) अर्थात्—मूर्त पदार्थका ही दूसरे मूर्त पदार्थके साथ सम्बन्ध हो सकता है । अमूर्त आकाशमें तलवार या विष अपना प्रभाव नहीं जमा सकते हैं । परतंत्र हो रहा यह आत्मा विजातीय पदार्थके साथ तभी बंध सकता है जब कि पहिलेसे अनादि कालीन कर्मोंके साथ बंध रहा मूर्त होय, अन्यथा नहीं । एतावता जीवके साथ उन दो शरीरोंका अनादिसम्बन्ध सिद्ध हो जाता है ।

#### तैजसकार्मणाभ्यामन्यच्छरीरमौदारिकादि तत्संबंधोस्मदादीनां तावत्सुप्रसिद्ध एव स च तैजसकार्मणाभ्यां संबंधोनादिसंबंधमंतरेण नोपपद्यते ग्रुक्तस्यापि तत्संबंधप्रयोगात् ।

तैजस और कार्मण शरीरोंसे न्यारे शरीर औदारिक आदिक हैं। उन औदारिक आदिकोंका सम्बन्ध तो इम आदि संसारी जीवके भछ प्रकार प्रसिद्ध ही है और वह तैजस और कार्मणके साथ हो रहा सम्बन्ध माने विना नहीं बन सकता है। अन्यथा मुक्तजीवके भी उन शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेका प्रयोग होने छग जावेगा, जो कि किसीने नहीं माना है। अतः तैजस और कार्मणका जीवके साथ अनादिकाछीन सम्बन्ध मानना चाहिये। तभी जीवका औदारिक आदि शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना बन सकेगा जो कि प्रायः सभी जीवोंके प्रत्यक्षगोचर है।

#### अयैतानि शरीराणि युगपदेकस्मिन्नात्मनि कियंति संभाव्यंत इत्याइ।

यहां श्री उमास्त्रामी महाराजके प्रति किसीका प्रश्न है कि ये शरीर एक आत्मामें एक समयमें अधिकसे अधिक कितने हो रहे सम्भव जाते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिमस्त्रको स्पष्टकर कह रहे हैं |

# तददीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

उन तैंबर और कार्मणहारीरको आदि छेकर विकल्प प्राप्त किये जा रहे ये शरीर एक काल्में एक आत्मामें चारतक हो सकते हैं।

तद्प्रइणं प्रकृतस्ररीरद्वयपितिनिर्देशार्थमादिशन्देन व्यवस्थावाचिनान्यपदार्था दृतिः, तेन तैजसकार्मणे आदिर्थेषां शरीराणां तानि तदादीनीति संप्रतीयते । भाज्यानि पृथक्कर्तव्यानि । पृथक्तवादेव तेषां भाज्यब्रहणमनर्थकमिति चेत्, वसैकस्यचिद्वित्रिचतुःशरीरसंबंधविश्वागापप्रचेः। युगपदिति कालैकत्वे वर्तते, आङ्मिविध्यर्थः । तेनैतदुक्तं भवति कचिदात्मनि विश्वहगत्याप्रकेद्वे एव तेजसकार्यणे शरीरे युगपत्संभवतः, कचित् त्रीणि तेजसकार्यणवैक्षियकाणि, तेजसकार्य-णौदारिकाणि वा कचिचत्वारि तान्यवाहारकसहितानि वैक्षियिकसहितानि वा ।

प्रकरण प्राप्त तैजस और कार्मण इन दोनों शरीरोंका प्रतिनिर्देश (परामर्श) करनेके लिय इस सूत्रमें तत् शब्दका प्रहण किया है। सर्वज्ञकी आम्नाय धारासे चले आ रहे आगमके अनुसार व्यवस्थाको कहनेवाले आदि शब्दके साथ तत् शब्दकी अन्य पदार्थको प्रधान रखनेवाली बहुवीहि समास दृत्ति कर छी जाती है। तिस कारण पूर्वसूत्रोंमें व्यवस्थाको प्राप्त हो रहे रारीरोंकी आनुपत्री अनुसार जिन शरीरोंकी आदिमें तैजस और कार्भण शरीर है, वे तदादीनि इस पदके द्वारा भछे प्रकार प्रतीत कर लिये जाते हैं। अवयवके साथ विप्रह है और वृत्तिका अर्थ समुदाय है। अतः तैजस और कार्मण भी छे लिय जाते हैं । सूत्रमें पडे हुये भाज्यानि इस शब्दका अर्थ ''संभावना प्रयुक्त पृथक् पृथक् करने योग्य हैं " यह समझ लेना । यदि यहां कोई यों शंका करे कि ये शरीर परस्पर में और जीवसे प्रथक्ष्मूत हैं ही, क्योंकि जीव उपबेशामय न्याश है और वर्ण, गंघ, स्पर्श, रस, वाले राधीर न्यारे हैं, अतः मूत्रमें भाज्यका प्रहण करना न्यर्थ है । यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि बह रांकाकारका वचन ठीक नहीं है। क्योंकि किसी किसी एक आत्माके दो. तीन. अथवा चार राश-रोंके साथ सम्बन्ध हो जानेका विभाग बन रहा है । यह भाज्य शहका तारपर्य है । इस सूत्रमें पडे हुये " सुगपत् " इस राह्नका अर्थ कालके एकपनेमें प्रवर्तता है । आङ्गका अर्थ अभिविधि है, जिससे कि चार संख्यावाले शरीर भी प्रहण कर छिये जाते हैं। आङ्का अर्थ भर्मादा करनेपर चार शरीरका सम्बन्ध छुट जाता । तिस कारण सूत्रका समुदिल वाक्य बनाकर यह कह दिया जाता है कि मस्कर निप्रद गतिको प्राप्त हो रहे किसी एक अक्षमायें तैजस और कार्कण ये दो ही शरीर एक कारूमें संभवते हैं। हां, जन्म छे चुकनेपर किसी देव या भारकी जीवके तैजस, कार्मण, और वैक्रियिक ये तीन शरीर पाये जाते हैं अथवा कहीं मनुष्य या तिर्थचके तैजस, कार्मण, और औदारिक ये तीन शरीर संभव जाते हैं। कहीं छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके ये ही तीनों शरीर आहारकसे सहित होते; हुये चार पाये जाते हैं अथवा वे तैजल, कार्मण, और औद्धारिक बादि वैकियिक बारीरसे सहित हो जांग तो भी एक समयमें एक साथ चार शरीह बीमन जाते हैं। बंदाये निकित्रजोग खौरा ग्रहण की गई आहर वर्ग- णासे स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा देव नारिकयों करके बना लिया गया वैक्रियिक दारीर ही यथार्थ रूपसे वैक्रियिक दारीर है, फिर भी " वादरते ऊवाऊपंचिदियपुण्णगा विगुन्वति, ओग्रालियं सरीरं विगुन्वण्णं हवे जेसि " इस गाथा अनुसार कितपय तैजस कायिक, वायुकायिक या कोई कोई पंचेन्द्रिय तिर्येच अथवा मोगभूमियां, चक्रवर्ती आदि मनुष्योंके जो पृथक् या अपृथक् विक्रियात्मक दारीर है वे भी वैक्रियिक दारीर माने जाते हैं। अतः तैजास, कार्सणासे युक्त ही सहे औदारिकके साथ वैक्रियिक दारीरके संभव जानेसे एक जीवके ये चार दारीर भी युगपत् सम्बद्ध हो रहे पाये जाते हैं।

#### पंच त्वेकत्र युगपक संभवंतीत्याह ।

पांचों शरीर तो एक जीवमें एक समय (एकदम) में नहीं संभवते हैं, इस बातकों श्री विद्यानन्द स्त्रामी अग्रिमवार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

### तरादीन शरीराणि भाज्यान्येकत्र देहिनि। सकृत्संत्याचतुम्यों न पंचानां तत्र संभवः ॥ १॥

शरीरधारी एक आत्मामें एक समयमें विकल्प प्राप्त हो रहे उन तैजस, कार्मण दो शरीरोंको आदि लेकर चार शरीरोंतक पाये जाते हैं। उस आत्मामें पांचों शरीरोंको होनेकी एक बारमें संभावना नहीं है। क्योंकि " वेगुव्वियआहारयिकिरिया ण समं पमत्तविरदिष्ट " छटे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीरका सद्भाव हो जानेपर उसी समय वैक्रियिक शरीर नहीं उपज सकता है। वैक्रियिक और आहारकका विरोध है।

#### व हि वैकिपिकाहारकयोर्धुगफ्तंभको यतः कवित्यंत्राप्रि स्युः ।

सहानकश्यान नाम के विरोध होमेसे वैक्रियिक और आहारकका युगपत् सद्भाव नहीं पाय जाता है। जिससे कि जिसी विसी आत्मामें पांचों भी हारीर सम्भव जाते। अर्थात्—तेजस और कार्कमका सदा सहचरमाव होनेसे एक आत्मामें एक समय केवल एक शरीर भी नहीं सम्मक्ता है जिसा कि ज्ञानोंमें अकेला केवलज्ञान संभव गया था। तथा वैक्रियिक और आहारक ऋडिक विसेध पढ़ रहा होनेसे पांचशरीर भी एक साथ नहीं पाये जाते हैं।

#### कि पुनरत्र करीरं निरूपभोगं कि वा सोपभोगमित्वाह।

कोई प्रश्न उठाता है कि इन पांचों शरीरोंमें फिर कौनसा शरीर उपभागसहित है ? अधन कौनसा शरीर उपभागसहित है ? अधीव पंचित्य जीव अपने औदास्कि शरीरके रूप, स्पर्श ताइन, अभिधात, आदि को जैसे इन्दियों द्वारा उपलब्धि कर लेता है, वैसे पौत्रकिक पांचों शरीरों रूप, रस, या उन शरीरोंके अवयवोंका संयोग अधना विभाग हो जानेपर उपजे हुये शहूका इन्दियं

द्वारा ज्ञान क्या हो जाता है ! अथवा क्या किसी किसी शरीरके पौद्गलिक भावोंका इन्द्रियोंसे उपलम्भ नहीं भी हो पाता है ! बताओ । इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

# निरुपभोगमंत्यम् ॥ ४४ ॥

शरीरोंको गिनानेवाली सूत्रकथनीके अनुसार अन्तमें प्रयुक्त किया गया कार्मण शरीर तो अन्त्य है। इन्द्रियों द्वारा उसके शद्ध, रूप, रस, आदिकी उपलब्धि नहीं हो सकनेसे कार्मण शरीर उपभोगरहित है।

मागपेक्षया अंत्यं कार्मणं तिकरूपभागिमति । सामर्थ्यादन्यत्सोपभागं गम्यते । कर्मा-दानमुखानुभवनहेतुत्वात्सोपभागं कार्मणिमति चेका, विवक्षितापरिकानात् । इंद्रियनिमित्ता हि महाद्युपलब्धिरूपभागस्तस्माकिष्कांतं निरुपभागिमति विवक्षितं ।

पूर्ववर्ती चारों शरीरोंकी अपेक्षा करके अन्तमें कहा गया पांचवां कार्मण शरीर अन्य है, वह इन्द्रियों द्वारा उपभोग करने योग्य नहीं है। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी अथवा केवलज्ञानी महाराज यद्यपि कार्मण शरीरके रूप, रस, शद्ध, आदिकोंका विशद प्रत्यक्ष कर छेते हैं, किन्तु वे भी बहिरंग इन्द्रियों द्वारा कार्मण शरीरके रूप रस आदिका सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष या मतिज्ञान नहीं कर पाते हैं। जैसे कि सर्वज्ञको परमाणुके रूप, रस, आदिका इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं हो पाता है, श्रेगार रसमें इब रहा परुष क्षींक औदारिक या वैक्रियिक शरीरमें पाये जा रहे गन्ध, स्पर्श, रूप, आदिका उपभोग कर सकता है, दिन रात भोगोंमें लीन हो रहा देवेंद्र भी देवियोंके कार्मण शरीरका इन्द्रियों द्वारा परिभोग नहीं कर सकता है । अतः अन्तका शरीर इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य नहीं है । इस कार्मण शरीरके उपभोग होनेका निषेध कर देनेसे विना कहे ही शद्धसामर्थ्य द्वारा यह अर्थ जान छिया जाता है कि शेष अन्य शरीर तो इन्द्रियों द्वारा उपभोगसिहत हो रहे हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि कार्मण शरीरका अवलम्ब लेकर आत्मा अपने योगनामक प्रयत्न ( पुरुषार्थ ) करके कर्मोंका प्रहृण करता है । कार्मण शरीर द्वारा आत्मा सुखका अनुभव करता है । अतः कर्मप्रहण, सुखानुभव, शरीररचना, वचन बोळना आदिका हेतु होनेसे कार्मणशरीर भी उपभोग सहित है, जैसे कि भोग, उपभोग योग्य सामप्रीका साधन होनेसे रुपया उपभोगसहित मामा जाता है। आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना । क्योंकि प्रकरण अनुसार विवक्षा प्राप्त हो रहे उपभोगका शंकाकारको परिज्ञान नहीं है। कारण कि इन्द्रियोंको निमित्त कारण मान कर हुई शद्ध, रूप, आदिकोंकी इति हो जाना यहां उपभोग माना गया है। उस उपभोगसे जो बाहर निकाल दिया गया है, वह निरूपमोग है, यह अर्थ यहां विवक्षाप्राप्त है।

तैजसम्येतं निरुपभोगमस्तिति चेम्, तस्य योगनिमित्तत्वाभावादनिषकारात् । यदेव दि योगनिमित्तमौदारिकादि तदेव सोपभोगं मोच्यते निरुपभोगत्वादेव च कार्मणयौदारिका-दिभ्यो भिन्नं निश्रीयत इत्याह ।

यहां किसीका प्रश्न है कि बहिरंग इन्द्रियोंद्वारा जिसके शब्द, रूप, आदिको नहीं जाना जा सके. वह शरीर यदि निरुपभोग है, तब तो इस प्रकार तैजसक्षरीर भी उपभोगरहित होजाओ। ऋदिधारी मुनि या सर्वावधिक्कानी अथवा देवेंद्र, अहमिन्द्रोंतकको इन्द्रियोंद्वारा तेजसदारीरके रूप, रस. आदिकी इसि नहीं हो पाती है। आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना। क्योंकि योगका निमित्त-कारण नहीं होनेसे उस तैजसशरीरका यहां प्रकरणमें अधिकार नहीं है। जब कि जो ही आल्म-प्रदेशपरिस्पन्दस्वरूप योगके निमित्तकारण हो रहे औदारिक वैक्रियिक आदिक शरीर हैं, वे ही उपभोगसहित भले प्रकार कहे जा रहे हैं। निरुपभोग होनेसे ही कार्मण शरीर इन औदारिक आदिकोंसे भिन्न हो रहा निश्चय किया जा रहा है । भावार्थ—सात प्रकारके काययोगोंके निमित्त कारण औदारिक, वैकियिक, आहारक और कार्मण ये चार शरीर हैं। औदारिक काययोग, औदा-रिक मिश्रकाययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्रकाययोग, कार्मण काययोग, अथवा सत्य, असऱ्य, उभय, अनुभय, मनोयोग या वचनयोग इन पन्द्रह योगोंमेंसे यथायोग्य जिस समय कोईसा भी एक योग होगा, उसी योग करके आहार कार्गा. भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणाके समान तैजस वर्गणा भी इनके साथ विसटती हुई चली आती है। जब कि वचनयोगसे आहारवर्गणा, मनोवर्गणा, कार्मणवर्गणा, खिच आती है। अथवा विष्रह गतिके कार्मणयोगसे सूक्ष्म स्थूल शरीर भाषा और मनके उपयोगी वर्गणाओंका आक-र्षण हो रहा है, ऐसी दशामें तैजस योगको माने बिना भी तैजस वर्गणाका आकर्षण हो सकता है 🛊 कत्त यह है कि तैजसवर्गणा आत्माके प्रदेश परिस्पन्दका अवलम्ब नहीं है। भिन्न भिन्न पदार्थीमें न्यारी न्यारी जातिकी राक्तियां हैं। जाडेके दिनोंमें शीतजळ दातों या शरीरको कंपा देता है, अग्नि या उष्णजळ नहीं कंपा पाता है, आत्मप्रदेश परिस्पन्द स्वरूप इच्ययोगका अन्तरंग कारण भावयोग है। <sup>44</sup> पुमाळविवाइ देहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स, जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो <sup>27</sup> । जो कि पहिले गुणस्थानसे लेकर तेरहवें तक पाया जा रहा आत्माका पुरुषार्थ विशेष है। जैसे लोटाका जल, घडेका जल, यों उसी जलके आश्रय भेदसे कई भेद कर दिये जाते हैं, उसी प्रकार संचित मन. वचन, काय, या प्रहण करने बेल्य वर्गणाओंका अवकन्त हो जानेसे योगके पन्द्रह भेद कर दिये गये हैं तैजल शरीरके निमित्त्वे आनामें कुंप्र नहीं होने पाला है हम क्या करें ? । अतः योगके निमित्त हो रहे शरीरों के उपभोगसिहतपन और उपभोगरिहतपनका यहां निर्णय किया गया है। भीदारिक शरीरीके हाथोंकी ताली बजानेपर हुये शद्भकी या औदारिकके रूप, गंध, आदिकी इन्द्रियों द्वारा उपलम्घ हो रही है । वैक्रियिक शरीरके रूप आदिकोंका देव और नारकियोंको प्रत्यक्ष हो रहा है। यदि देव दिखाना चाहें तो उनके शरीरके रूपको मनुष्य भी नेत्र द्वारा देख छेते हैं। नाकसे गंधको सूंच छेते हैं। हस्तप्रमाण धोला आहारक शरीर भी अतीन्द्रिय नहीं है। हां, तैजस और कार्मण अतीन्द्रिय हैं। इन्द्रियों द्वारा उनका उपभोग नहीं कियां जा सकता है। इसी बातको प्रन्थकार श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज अप्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

### अंत्यं निरुपभोगत्वाच्छेषेभ्यो भिद्यते वपुः। शब्दाद्यनुभवो ह्यस्मादुपभोगो न जायते॥१॥

अन्तमें होनेवाला कार्मण शरीर तो उपभोगराहित होनेसे योगनिमित्त हुये अवशिष्ट शरीरेंसे भिन्न होजाता है। कारण कि इस कार्मणशरीरसे शद्ध, रूप आदिका अनुभव होजाना रूप उपभोग नहीं उत्पन्न हो पाता है।

#### औदारिकं किंविशिष्टमित्याह ।

कोई पूंछता है कि किन विशेषणोंसे युक्त हो रहा औदारिक शरीर है १ बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको कह रहे हैं।

# गर्भसंमूर्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

मनुष्य या तिंर्यचोंके गर्भ और संमूर्छन जन्मसे उत्पन्न हुये शरीर तो आदिके औदारिक शरीर माने जाते हैं।

गर्भसंमूर्छनजं पाठापेक्षयाद्यमौदारिकं तद्गर्भजं संमूर्छनजं च प्रतिपत्तव्यं। तत एव सोप-भीगाभ्यामपि पराभ्यां ऋरीराभ्यां तद्भिद्यते इत्याह ।

गर्भजन्य और संमूर्छनजन्यका अर्थ यह है कि " औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि " इस सूत्र पाठकी अपेक्षा करके आदिमें उपात्त किया गया औदारिक शरीर है वह गर्भ-जन्मा जीवोंके और संमूर्छन जन्मवाछे जीवोंके सम्भवरहा समझ छेना चाहिये। तिस ही कारणसे उपनिमासहित होरहे परछे वैक्रियिक और आहारक दो शरीरोंसे वह औदारिक शरीर भिन्न होरहा है। इसी बातको प्रंथकार श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

### आद्यं तु सोपभोगाभ्यां पराभ्यां भिन्नमुच्यते । गर्भसंमूर्छनाद्धेतोर्जायमानत्वतो भिदा ॥ १ ॥

सूत्रक्रमकी अपेक्षा आदिमें होनेवाला अथवा मोक्षप्राप्तिकी अपेक्षा प्रधान होरहा आच औदा-रिक शरीर तो (पक्ष) उपभोगसहित होरहे परले दो शरीरेंसे भिन कहा जाता है (साध्यदल) उन वैकियिक, आहारक, दो शरीरोंसे मिन्न हो करके गर्भहेत, और संमूर्छनहेतुसे उपज रहा होनेसे (हेतु ) अर्थात्—उपभोगसहित तीन शरीरोंमें गिनाया जा रहा, औदारिक शरीर अपने हेतु माने गरे गर्भ, संमूर्छन जन्मका भेद होजानेसे शेष दो शरीरोंकी अपेक्षा निराठा ही है ।

# यथैव कार्मणं निरूपभागत्वात्सोपभागभ्यो भिन्नं तथौदारिकं सोपभागमपि कारणभे दात पराभ्यां भिन्नमभिधीयते ।

जिस ही प्रकार कार्मणशरीर उपमोगरहित होनेसे उपभोगसहित शेष शरीगेंसे भिन्न है उसी प्रकार उपभोगसहित भी औदारिकशरीर अपने कारणोंका भेद हो जानेसे परछे दो शरीरेंसे भिन्न हो रहा कहा जाता है।

#### वैकियिकं की हशिमत्याह ।

-

औदारिक शरीरसे परली ओर कहा गया वैिक्तायिक शरीर भला कैसा क्या है ? ऐसी जिज्ञास होनेपर श्री उमास्वामी महाराज भविष्य सूत्रका अवतार करते हुये कह रहे हैं।

# औपपादिकं वैकियिकम् ॥ ४६ ॥

उपपाद जन्मसे होनेवाला देव, नारिकयोंका औपपादिक शरीर तो वैक्रियिक शरीर है।

उपपादो व्याख्यातः तत्र भवमौषपादिकं तद्दैिकायिकं वोद्धव्यं । कुतः पुनरौदारिकादिदं भिक्ममित्याह ।

" संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म " इस सूत्रके विवरणमें उपपादका व्याख्यान किया जा चुका है। देव और नारिकयोंके उपजनेका स्थानविशेष उपपाद कहा जाता है। उस उपपादमें उपज रहा शरीर औपपादिक है, वह सब वैक्रियिक शरीर समझ लेना चाहिये। कोई पूछता है कि किस कारणसे यह वैक्रियिक शरीर फिर औदारिकसे भिन्न है शबताओ। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिकको कहते हैं।

### औपपादिकतासिद्धेर्भित्रमौदारिकादिदं । ताबद्धैिकयिकं देवनारकाणामुदीरितम् ॥ १ ॥

उपपाद जन्मसे उपजनेकी सिद्धि हो जानेसे यह देव नारिकयोंका वैक्रियिक शरीर तो सूत्र-द्वारा उस औदारिकसे मिन्न कहा जा चुका है।

न सौदारिकमेव वैकियिकं ततोन्यस्यौपपादिकस्य देवनारकाणां श्वरीरस्य वैकियिक-त्वात् । तच कारणभेदादौदारिकाद्रिकाश्चच्यते । कारण कि औदारिकशरीर ही तो बैकियिक नहीं है। किन्तु उससे न्यारे देव नारिकर्योंके औपपादिक शरीरको बैकियिकपना है और वह बैकियिक शरीर अपने कारणोंकी विभिन्नता होरा औदारिकसे मिन्न कहा जाता है।

### किमतदेव वैक्रियिकमुतान्यदपीत्याह ।

क्या यह उपपादजन्मवाळा शरीर ही वैक्रियिक शरीर है श्रिथवा क्या अन्य भी कोई शरीर वैक्रियिक है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज समाधानकारक अभिम समको कह रहे हैं।

### लिब्धप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

लिभको कारण मानकर उपजा हुआ विक्रियात्मक औदारिक शरीर भी वैक्रियिक शरीर माना गया है |

तपोतिशयदिर्छिन्धिः सा प्रत्ययः कारणमस्येति छन्धिप्रत्ययं वैक्रियिकमित्यनुनर्तते च सन्दस्तुक्त समुच्चयार्थस्तेन छन्धिप्रत्यमीपपादिकं च वैक्रियिकमिति संप्रत्ययः।

अतिशययुक्त तपस्या करनेसे विशेषऋदिकी प्राप्ति हो जाना यहां प्रकरणमें लिध कही गयी है। जिस शरीरका कारण वह लिध है, वह लिधप्रत्यय वैक्रियिक शरीर है। जैसे कि श्री विष्णुकुमार महाराजने स्वकीयऋदि स्वरूप पुरुषार्थ द्वारा लम्बा चौडा वैक्रियिक शरीर बनाया था। पूर्व स्वृत्रसे "वैक्रियिकं" इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है, और इस सूत्रमें पडा हुआ च शब्द तो पूर्वमें कहे जा चुके वैक्रियिककी विधिका समुचय करनेके लिये है। तिन वैक्रियिक पदकी अनुवृत्ति और समुचय वाचक च शब्द करके सूत्रका अर्थ यों मले प्रकार जान लिया जाता है कि लिधको कारण मानकर हुआ शरीर वैक्रियिक है, तथा उपपाद जन्मसे उपजनेवाले देव नारिक्योंका शरीर तो वैक्रियिक है, यह पूर्व सूत्रमें कहा ही जा चुका है।

#### नन्विदमौदारिकादेः कथं भिषामित्याह ।

यहां किसीका प्रश्न उठता है कि औदारिकशरीरधारी तपस्त्रियोंके ऋदिविशेषसे उत्पन हुआ शरीर तो औदारिक ही होना चाहिये। जब कि उन मुनियोंके बैकियिक काययोग नहीं है, तो उनका वह शरीर वैकियिक नहीं हो सकता है। अतः बताओं कि यह लब्धिसे उपजा शरीर भका औदारिक आदिसे मिन्न किस ढंगसे माना गया है १ ऐसी जिझासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी समाधान करनेके लिये अप्रिम वार्तिकको कहते हैं।

किंचिदौदारिकत्वेपि लिब्धप्रत्ययता गतेः। ततः पृथक् क्यंचित्स्यादेतत्कर्मसमुद्भवं॥१॥ विकिया करनेवाले मुनियोंका औदारिकशरीर ही अनेक प्रकारकी रचनाओंको प्राप्त हो गया है। अतः विकियायुक्त शरीरमें कुछ कुछ औदारिकपना होते हुये भी लिन्धको उसके कारणपनेका निर्णय हो जानेसे यह लिन्धजन्य उत्पन्न हुआ शरीर उस औदारिकसे कर्यन्वित् भिन्न समझा जायगा। तथा इस वैक्रियिक शरीरनामक नामकर्मका उदय हो जानेपर उत्पन्न हुये देव नारक शरीरोंसे भी यह कथंचित् भिन्न है। मनुष्य या तिर्येचोंके तो विकिया करते समय भी औदारिक शरीरसंक्रक नामकर्मका ही उदय है। मनुष्यगतिमें १०२ एक सौ दो प्रकृति तथा तिर्यच गतिमें १०७ एक सौ सात प्रकृतियां उदय होने योग्य है। इनमें वैक्रियिकशरीर नहीं गिनाया गया है। अतः विक्रियायुक्त मनुष्योंका औदारिक शरीर होते हुये भी अणु, महत्, आदि विविधकरणस्वरूप विक्रियाक प्रयोजनवाला होनेसे लिन्धप्रत्यय शरीरको वैक्रियिक कह दिया गया है। सिद्धान्तशास्त्रमें तेजस्कायिक, वायुकायिक जीव और किन्हीं किन्हीं पैचेंद्रिय तिर्यच मनुष्योंके कदाचित् वैक्रियिक शरीरका मी सद्भाव कहा है।

यथौदारिकनामकर्मसमुद्भवमौदारिकं तथा वैक्रियिकनामकर्मसमुद्भवं वैक्रियिकं युक्तं तथा तदलिक्ष्यन्तयं वैक्रियिकं । न हि लिब्धरेवास्य कारणं वैक्रियिकनामकर्मोदयस्यापि कारणत्वादन्यथा सर्वस्य वैक्रियिकस्य तदकारणत्वप्रसंगात् । तेनेदमौदारिकत्वेपि कथंचिदौ-दारिकाद्भिकं लिब्धनत्ययत्विश्रयात् । किंचिदंव हि लिब्धनत्ययं वैक्रियकपिष्टं न सर्वम् ।

जिस प्रकार औदारिक शरीर संक्षक नामकर्मके उदयसे अच्छा उत्पन्न हुआ शरीर औदारिक कहा जाता है, तिस ही प्रकार नामकर्मकी शरीरनामक प्रकृतिके उत्तर मेद हो रहे वैक्रियिकशरीर नामक नामकर्मसे बहुत अच्छे उत्पन्न हुये शरीरको वैक्रियिक शरीर कहना उचित है। किन्तु तिस प्रकार वैक्रियिकशरीर नामक नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ वह देव नारिकयोंका वैक्रियिक शरीर तो छन्निको कारण मानकर नहीं उपजा है और तपस्त्रियोंके वैक्रियिक शरीरमें कारण तो छन्नि है। इस वैक्रियिक शरीरका कारण केवछ छन्नि ही नहीं है। किन्तु देव, नारिकयोंके, शरीरमें वैक्रियिक नामकर्मका उदय भी कारण है अन्यथा यानी औपपादिकोंके भी शरीरका अन्तरङ्ग कारण यदि वैक्रियिक नामकर्मका उदय भी कारण है अन्यथा यानी औपपादिकोंके भी शरीरका अन्तरङ्ग कारण यदि वैक्रियिक नामकर्मका उदय मी कारण है अन्यथा यानी औपपादिकोंके भी शरीरका अन्तरङ्ग कारण यदि वैक्रियिक शरीरकि कारण नहीं हो सकनेका प्रसंग होगा। तिस कारण औदारिक शरीरपना होते हुये भी यह तपिक्षयोंका विक्रियात्मक शरीर सार्वेदिक औदारिकसे कर्यचित् भिन्न है। क्योंकि उस विक्रियात्मक शरीर के विषयमें छन्धिको कारण हो जानेका ज्ञानी जीवोंको निश्चय हो रहा है। कोई ही वैक्रियिक शरीर छन्निनामक कारणसे जन्य माना गया है। सभी वैक्रियिक शरीर तो छन्धिप्रत्य नहीं हैं। देव नार-कियोंका वैक्रियिक शरीर न्यारा है तथा औदारिक शरीरधारी चक्रवर्ती आदिकोंका विक्रियात्मक शरीर भी इस छन्धिप्रत्य वैक्रियिक शरीरसे निराला है, व्याख्याप्रकृतिदंडक नामक सिद्धांत शाकोंके प्रकरणोंमें मनुष्योंके वैक्रियिकशरीरका करारिस होना इष्ट किया है।

#### तैजसमपि किंचिचाइशमित्याइ।

श्री उमास्वामी महाराजके श्रति किसीका प्रश्न है कि क्या तैजस शरीर भी कोई तिस प्रकार किन्नको कारण मानकर उपज जाता है ? आज्ञा दीजिये, यो विनीत शिष्यकी जिज्ञासाको हृदयङ्गत कर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

### तैजसमपि ॥ ४८ ॥

किन्हीं किन्हीं तपस्वियोंके तैजस शरीर भी छन्त्रिको कारण मानकर उपज जाता है। छन्धिमत्ययमित्यतुवर्तते, तेन तैजसमपि छन्धिमत्ययमिप निश्चेयं।

पहिलेके " लिश्यप्रत्यंय च " सूत्रसे लिश्यप्रत्ययं इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है तिस कारण तैजस शरीर भी कोई कोई लिश्यको कारण मानकर भी उपज बैठता है, यह निश्चय कर लेना चाहिये। पहिला अपि शद्ध वैक्रियिकका साहित्य करनेके लिये है और दूसरा अपि शद्ध तौ सभी संसारी जीवोंके साधारण अलिश्यप्रत्यय तैजस शरीरका सहभाव करनेके लिये सार्थक है।

#### तदपि स्रन्धिमत्ययतागतेरेव भिन्नमीदारिकादेरित्याइ।

लिबको कारण मानकर उपजनेकी ज्ञास हो जानेसे ही वह लिब्बप्रत्यय तैजस शरीर भी औदारिक, वैक्रियिक, आदिक शरीरोंसे भिन्न है, इसी बातको प्रन्थकार अप्रिमवार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

### तथा तैजसमप्यत्र लब्धिप्रत्ययमीयतां। साधारणं तु सर्वेषां देहिनां कार्यभेदतः॥ १॥

जिस प्रकार छान्धप्रत्यय वैक्रियिक शरीर है उसी प्रकार यहां तैजस शरीर भी छन्धिप्रत्यय समझ छेना चाहिये। हां, पहिछे गुणस्थानसे प्रारम्भ कर चौदहवें गुणस्थानतक सम्पूर्ण संसारी जीवोंके पाया जानेवाछा साधारण रूपका जो तैजस शरीर है वह तो अपने अपने कर्तव्य कार्योंके भेदसे निराछा है अर्थात्—तेजोवर्गणासे बन कर सभी संसारी जीवोंके पाया जा रहा सूक्ष्म तैजसशरीर न्यारा है, जिसका कि कार्य सभी संसारी जीवोंके शरीरमें साधारण रूपसे प्रभाकी उत्पत्ति कर देना है। शरीरमें विछक्षण कांति या विशेष छावण्य तो आदेय संझक्ष नामकर्मका कार्य है, तथा नियतदेशमें सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, अग्निदाह, आदि कर देना इस छन्धिप्रत्यय तैजसशरीरका कार्य है। इस कारण कार्मणशरीरके साथी साधारण तैजसशरीरसे इस छन्धिप्रत्यय तैजसशरीरका कार्य है। इस कारण कार्मणशरीरके साथी साधारण तैजसशरीरसे इस छन्धिप्रत्यय तैजसमें भेद है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और कार्मणसे तो इसका भेद सप्रसिद्ध ही है।

स्विधमत्ययं तैजसं द्विविधं, निस्सरणात्मकमिनःसरणात्मकं च । द्विविधं निःसरणा-त्मकं च प्रश्नस्ताप्रश्नस्तभेदात् स्वविधमत्यत्वादेव भिक्षं श्वरीरांतरं गम्यतां, यत्तु सर्वेषां संसा-रिणां साधारणं तेजसं तत्स्वकार्यभेदाञ्चिक्षमीयतां । लिखको कारण मानकर उपजा जो तैजस शरीर है, वह दो प्रकारका है। एक तो श बाहर निकला हुआ निस्सरणात्मक है और दूसरा शरीरसे बाहर नहीं निकल रहा अनिस्सरणात्मक पहिला निस्सरणात्मक तैजसशरीर तो प्रशस्त और अप्रशस्त भेदसे दो प्रकारका है। जो त ऋषिके प्रसादकी अपेक्षा रखता हुआ और दुर्भिक्ष, महामारी रोग आदि न्याधियोंका निराकरण ह हुआ सुभिक्ष, सुख, शान्ति, अनुप्रह, आदिका संपादक है, वह प्रशस्त तैजस है। और जो अ कुद्ध हुये द्वीपायन मुनिके समान ऋषिके वामबाहुसे निकलकर इधर उधर कितने ही नियत के दग्ध करता हुआ मुनः मुनिके मूल्शरीरको भी दग्ध कर देता है वह पुतला अप्रशस्त तैजस है। या सातवें गुणस्थानसे उतरकर अत्यन्त कुद्ध हुये मुनिके पहिला गुणस्थान होजाता है। लिब्स कारणसे उत्पन हुआ होनसे ही यह तैजसशरीर भिन्न हो रहा अन्य शरीरोंसे निराला समझ चाहिये। किन्तु जो सम्पूर्ण संसारी जीवोंके साधारण रूपसे पाया जा रहा तैजसशरीर है वा अपने अपने कार्यके भेदसे भिन्न ही समझ लिया जाओ। औदारिक, वैकियिक, और आहारक, रोंके भीतर प्रविष्ट होरहा शरीरोंकी सामान्यदीसिका कारण अनिस्सरणात्मक तैजस है।

तैजसबैक्रियिकयोः लब्धिमत्ययत्वाविश्वेषादभेदमसंग इति चेश्व, कर्मभेदकारणकत् दोपपत्तेः। सत्यपि तयोर्लब्धिमत्ययत्वे तैजसबैक्रियिकनामकर्मविश्वेषोदयापेक्षत्वाद्धेदो युज्यत

यहां कोई शंका करता है कि लिन्धको कारण मानकर जब कोई तैजसशरीर उपज है और लिन्धनामक कारणसे किसी वैक्रियिक शरीरका भी उपजना स्वीकार किया गया है, दशामें कारणके अभेदसे कार्यका भी अभेद होजायगा। दोनों शरीरोंकी उत्पत्ति करनेमें लिन्धको कारण विशेषतारहित होकर विधमान है। अतः तैजस और वैक्रियिक शरीरोंके अभेद होजानेका प्रसंग आर आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना। क्योंकि भिन भिन्न कर्मोंको कारण मानकर वे दोनों शरीर जते हैं। अतः दोनोंमें भेद बन रहा है। यद्यपि उन दोनोंमें लिन्धप्रत्ययपना सामान्य रूपसे वि है, तो भी तैजस या वैक्रियिक इन दो विशेष नामकर्मोंके उदयकी अपेक्षा रखनेवाले होनेसे भेद पड जाना युक्तिपूर्ण ही है। अर्थात्—तपिक्योंमें या अन्य तिर्यंच, मनुष्योंमें वैक्रियिव नामकर्मका उदय नहीं है, लिन्ध करके विक्रिया करते समय मुनिके औदारिक शरीर नामक नाम ही उदय है। किन्तु विक्रियात्मक प्रयोजनको धारनेवाले विशेष औदारिकशरीरको यहां "वैक्रियात्मक मं यह विशेष संक्षा दे दी गई है। तेजोवर्गणासे साधारण सूक्ष्म तैजसशरीर बनाया अथवा लिन्धप्रत्यय तैजस पुतला बनाया जाय, सर्वदा तैजसशरीर संक्षक नामकर्मका उदय रहना स्पष्ट ही है। दूसरी बात यह है कि लिन्ध शद्ध मलें ही एकादश होय किन्तु दोनों लिन्ध जाति न्यारी न्यारी है। भिन्न कारणोंसे मिन्न कार्य हो जाना समुचित है।

संमत्याद्दारकं शरीरग्रुपदर्शयति ।

N.

वैक्रियिक शरीर और प्रसंगप्राप्त विशेष तैजस शरीरका निरूपण कर चुकनेपर श्री उमास्वामी मंद्दाराज अब वर्तमान कालमें प्रकरण प्राप्त आहारक शरीरका निर्धारण कराते हैं ।

# शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥

श्चमकर्म माने गये आहारक काययोगका कारण होनेसे आहारक शरीर शम है। स्वयं मुख्यें भी क्रुभ है, जैसे कि क्रुभ या परम अतीन्द्रिय सुखका कारण होरही अहिंसा निज गांठकी भी क्रुभ और परम सुखस्वरूप है। और पूर्व कालमें उपार्जित विद्युद्ध पुण्यकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीर विश्वद्ध है। निजस्तरूपमें भी विश्वद्ध है, धवल है, यानी सर्वार्थसिद्धिके देवोंके शरीर समान स्वच्छ शक्क वर्ण है । आहारक शरीरसे किसी अन्य पदार्थको आघात नहीं पहुंचता है । अन्य पर्वत, जल, अग्नि आदि पदार्थीसे आहारकशरीरका भी न्याघात नहीं हो पाता है । ऐसा आहारक शरीर छठे गुणस्थान वर्ती प्रमादयुक्त संयमी मुनिके ही कदााचित् पाया जाता है। अर्थात् -छठे गुणस्थानवर्ती मुनि कभी लिधविरोषको जाननेके लिये या कभी सूक्ष्मपदार्थका निर्णय करनेके लिये, जिनचैत्यालयोंकी वंदना करनेके लिये अथवा असंयमको दूर करनेके लिये, स्वकीय अव्यक्त पुरुषार्थ द्वारा आहा-रक शरीरको रचते हैं। निकटवर्ती स्थानोंमें केवली या श्रुतकेवलीका सनिधान नहीं होनेपर उक्त प्रयोजनोंको साधनेके लिये दूरवर्ती केवलियोंके पास पहुंचनेमें स्थल औदारिक शरीरसे गमन करते हुये महान् असंयम हो जाना संभावित है। औदारिक शरीरसे वहां इतना शीव्र पहुंच भी नहीं सकते हैं। अतः मुनि महाराज इस धातुरहित, संहननरहित, शूभसंस्थान, स्वच्छ धीछे, अन्याघाति, आहारकरारीरको बनाकर अपने उत्तमांग शिरसे निकालते हैं। आहारकरारीरमें आंखे. कान, नाक, हथेली, अङ्गली आदि सम्पूर्ण अंग, उपांग पाये जाते हैं । ढाई द्वीपमें कहीं भी विराज रहे के क्ली या श्रुतकेवली मुनिका दर्शन कर वह लौट आता है। अथवा जिनचैत्यालय या तीर्थकर महाराजके तपःकल्याणकका निरीक्षण कर छोट आता है, एक बार बनाया गया आहारकशरीर अन्तर्मृहर्त्ततक टिका रह सकता है, पश्चात् विघट जायगा ।

शुमं मनःशीतिकरं विशुद्धं संक्षेत्ररहितं अव्याघाति सर्वतो व्याघातरहितं च श्रद्धादु-क्तविश्लेषणसम्बयं । एवं विशिष्टमाहारकं श्लरीरमरित्नमात्रं प्रमचसंयतस्यैव ग्रुनेर्नान्यस्येति प्रतिपत्तव्यं ।

सूत्रमें पहे हुये शुभ शह्नका अर्थ मनको प्रीति कर देनेवाला है। विशुद्धका अर्थ तो वह आहारक शरीर संक्रेश परिणामोंसे रहित है। सब ओरसे न तो अपना व्याबात होय और न अपनेसं हुसे पर्श्वीको आयात पंड्ने ऐसा व्यावातरहित आहारक शरीर अव्यावाति है। सूत्रमें पढे हुये च शहूसे उक्त दो विशेषणोका समुब्वय हो जाता है। इस प्रकार कहे विशेषणीसे युक्त हो रहा यह हस्ते (अस्पिन) प्रमाण कोतीसे छेकर सबसे छोटी अंगुलीतक लम्बे हाथकी नापको अरिल कहते हैं। आहारक शरीर अतिशय युक्त ऋद्विधारी प्रमत्तसंयमी मुनिके ही होता है। अधिकसे अधिक या न्यूनसे न्यून छठवें गुणस्थानसे अन्य गुणस्थानोंको धारनेवाले मनुष्योंके नहीं हो पाता है। देव, नारकी, और तिर्थच जीवके आहारक शरीर होनेका असम्भव है, यह समझ छेना चाहिये। आहारक के स्वामी कहें गये प्रमत्तसंयतके साथ एवकार लगा देनेसे प्रमत्तसंयमीके ही आहारक शरीर है, यो अवधारण करना उचित है। प्रमत्तसंयमीके आहारक शहीरक शहीरक बैठना। अतः उक्त मुनिके औदारिक या वैकियिक शरीरकी निवृत्ति नहीं हो पाती है।

## तच्छरीरातरात्कृतो भिषमित्याह ।

श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति किसीका प्रश्न है कि शरीरोंमें परस्पर भेदको सावते हुये आप युक्तियां देते हुये चले आ रहे हैं। तदनुसार यह बताओं कि औदारिक, वैक्रियिक आदि अन्य शरीरोंसे वह आहारक भला किस कारणेंसे भिन हो रहा है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचन कहते हैं।

आहारकं शरीरं तु शुभं कार्यकृतत्वतः । विशुद्धिकारणत्वाच विशुद्धं भिन्नमन्यतः ॥ १॥ अन्याघातिस्वरूपत्वात्प्रमत्ताधिपतित्वतः । फलद्देतुस्वरूपाधिपतिभेदेन निश्चितम् ॥ २॥

औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, कार्मण, ये नहीं किन्तु आहारक शरीर (पक्ष) शुभ है, (साध्य) शुभकार्य आहारक काययोगको करनेवाला होनेसे अथवा शुभक्रियाओं द्वारा बनाया जा चुका होनेसे (हेतु)। इस अनुमान द्वारा आहारक शरीरमें शुभपना सिद्ध होजाता है जो कि अन्य शरीरोंसे आहारकको भिन्न कर देनेका जापकलिंग है। तथा दूसरा अनुमान यह है कि आहारक-शरीर (पक्ष) विश्वद्ध है (साध्य) विश्वद्धिका कारण होनेसे (हेतु)। बहुवीहि वृत्ति करनेपर निरवध विश्वद्ध पुण्यकर्मका कार्य होनेसे यह अर्थ भी निकल पडता है (हेतु)। इस अनुमानद्वारा विश्वद्धता सिद्ध होजानेपर वह विश्वद्ध आहारक शरीर अन्य चार शरीरोंमेंसे निराला साथ लिया जाता है। अन्याधाति स्वरूप होनेसे और जिसका स्वामीपना प्रमत्तसंयमी, मुनि महाराजको है। प्राप्त होरहा होनेसे वह आहारक शरीर अन्याधाति स्वरूप होनेसे और प्रमत्तस्वामिक होता हुआ अन्य शरीरोंसे भिन्न है। यो श्री उमास्वामी महाराज द्वारा इस सूत्रमें कहे गये फल, हेतु, स्वरूप और अधिपतिक भेद करके आहारक शरीरमें भेदका निश्चय कर लिया गया है। श्रुभ, विशुद्ध, अन्याधाति, ये आहारक शरीरके सील विशेषण प्रथमा विभक्तिवाल है तथा पष्ठी विभक्तिका अर्थ स्वामी कर प्रमत्तसंयतस्य का पर्याय सील विशेषण प्रथमा विभक्तिवाल है तथा पष्ठी विभक्तिका अर्थ स्वामी कर प्रमत्तसंयतस्य का पर्याय

वाची शहू " प्रमत्तस्वामिकं " बना लिया जाता है। प्रथमा विभक्तिवाले विशेषण भी काचित् झापक हेतु अर्थमें तत्पर माने जाते हैं। जैसे कि " गुरवो राजमाषा न भक्षणीयाः " प्रकृतिमें भारी हीनेसे रमास नहीं खाने चाहिये, उसी प्रकार इतर शरीरोंसे व्यावृत्तिको साधनेके लिये आहारक शरीरके सम्पूर्ण विशेषणोंको यहां अव्यभिचारी ज्ञापक हेतु बना दिया गया है। पहिला शुभविशेषण तो आहारक शरीरका फल है। दूसरा विशुद्ध विशेषण आहारक शरीरका कारण है। तीसरा अव्याधाति विशेषण तो आहारक शरीरका स्वरूप है और चौथा विशेषण आहारक शरीरके अधिपतिका बखान करनेवाला है। मेद सिद्ध करनेके लिये ये विशेषण पर्याप्त हैं।

आहारकं वैक्रियिकादिभ्यो भिन्नं श्वभफलत्वादित्यत्रानैकांतिकत्वं हेतोः वैक्रियिकादेरिप श्वभफलस्योपलंभादिति न मंतव्यं, नियमेन शुभफलत्वस्य हेतुत्वात् । विश्वद्धिकारणत्वात् ततो भिन्नमित्यत्रापि लब्धिमत्ययेन वैक्रियिकादिना हेतोरनेकांत इति नाशंकनीयं, नियमेन विश्व-दिकारणत्वस्य हेतुत्वात् । सम्रद्भूतलब्धेरिप कोधिदसंक्छेशपरिणामवशादिकियादेनिर्वर्तनाद्दि-शुद्धिकारणत्वनियमाभावात् ।

यहां किसीका आक्षेप है कि आपने जो पहिला अनुमान यह कहा है कि ग्रूभ फलवाला डोनेसे आहारक शरीर वैक्रियिक आदिकोंसे भिन्न है। यों इस अनुमानमें तुम्हारा दिया हुआ शुभ फलव हेतु तो व्यभिचार हेत्वाभास दोषवाला है। क्योंकि कोई वैक्रियिक, औदारिक आदि शरी-रों भे शुभफ्छ सहितपना देखा जाता है। यानी उपकारी पुरुष, ब्रह्मचारिणी विशल्या या परिहार विशुद्धि संयमवाले अथवा औषध ऋद्धिधारी मुनियोंके औदारिक शरीर तथा तपस्वियोंके वैक्रियिक शरीर या उपकारी देवों के वैकिथिक शरीर भी शुभ फल्दायक हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो आक्षेपकारको नहीं मानना चाहिये । क्योंकि इमने हेतुमें नियमेन यह शद्ध जोड दिया है जो नियम करके ग्राम फलवाला होय वह आहारक ही है। बहुतसे कषायी, हिंसक, मनुष्य पश्च पक्षिओंके औदारिक या संक्षिष्ट असुरोंके वैक्रियिक शरीर तो नियमसे शुभफलवाले नहीं हैं। अतः व्यभिचार दोषका निवारण हो जाता है। दूसरे हेतुमें पुनः किसीकी आशंका है कि आहारक शरीर (पक्ष) उन वैक्रियिक भादिकोंसे भिन्न है (साध्य) विश्वद कारण होनेस (हेतु) यों इस अनुमानमें भी लियकारणक वैकियिक आदि करके विशुद्धकारणत्व हेतुका व्यभिचार हो जाता है, मुनियोंके हुआ वैकियिक रारीर भी विशुद्ध कारणवाला है। प्रशस्त तैजस रारीर भी विशुद्ध कारण है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह आशंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि यहां भी हेतु दखमें नियमको कहनेवाळा एवकार छगा देना चाहिये। सभी वैक्रियिक या तैजसशरीर विद्युद्धि कारण नहीं हैं। '' प्रमत्तसंयतस्यैव '' यहां अंतमें पडे हुये एवकारको पूर्वपदोंमें भी अन्वित कर छेना चाहिये। नियम करके विश्वदिकारण आहारक ही है। जिनको निरोष तपस्यासे ऋदि उत्पन्न हो चुकी है, ऐसे मुनिके मी कदाचित् कोष, अरति,

आदि संक्रेश परिणामों की अधीनतासे विकिया, तैजस, आदिका बना छेना देखा जाता है। अतः वैकि-यिक या तैजसशरीरमें विशुद्ध कारणपनेका सार्वित्रिक, सार्विदक, सार्वव्यक्तिक, नियम नहीं है। यों व्यमिचार दोषकी निवृत्ति हो जाती है।

अन्याघातिस्वरूपत्वादाहारकं श्वरीरांतराद्धिश्वमित्यस्मिश्वपि तैजसादिनो हेतार्व्यभिचार इत्यचोर्च, माणिवाधापरिहारलक्षणस्याव्याघातित्वस्य हेतुत्वात् । ममत्ताधिपतित्वमपि नाहार-कस्य श्वरीरांतराङ्गेदे साध्येनैकांतिकं, विशिष्टममत्ताधिपतित्वस्य हेतुत्वात् । ततः सूक्तं फलहेतु-स्वरूपाधिपतिभेदेन मिश्रमाहारकमन्येभ्यः शरीरेभ्यो निश्चितमिति ।

पुनः किसीका तीसरे अनुमानपर कुचीय उठता है कि अन्याचातिस्वरूप होनेसे आहारक-शरीर अन्य वैकियिक आदि शरीरोंसे भिन्न है। यों इस अनुमानमें भी तैजस आदि शरीरों करके अन्याचातिपन हेतुका न्यभिचारदोष आता है । सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवीका औदारिक शरीर अन्याचाति है, कही रुकता नहीं है, किसीको रोकता भी नहीं है। तैजस और कार्मणशरीर तो " अप्रतीघाते " इस सूत्रकरके व्याघातरहित साधे ही जा चुके हैं, वैकियिक शरीर भी पर्वत या वज पटलमें हो कर चछे जाते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह पर्यन्योग हमारे उत्पर नहीं उठाया जा सकता है। क्योंकि प्राणियोंकी बाधाका परिद्वार कर देना यही अञ्याधातिपनका खरूप यहां हेतुकोटिमें विवक्षित है। आहारकशरीर जहां होकर निकल जाता है, वहांके प्राणियोंकी रोग, भय, आदि वाधायें दर होती चली जाती हैं। वैकियिक शरीरधारी इन्द्रकी शक्तिका भी प्रतिघात हो जाना सना गया है। किन्तु आहारकशरीरकी सामर्थ्य अप्रतिहत है। जिसके शरीरमें एक बार होकर निकल जाता है, उसको बार बार आहारक शरीरके आने, जाने, की अभिळाषायें बनी रहती हैं। प्राणियों की बाधाओंका परिहार जितना आहारकशरीरसे होता है, उतना अन्य शरीरोंसे नहीं हो पाता है। भाहारक शरीरके स्वामी छठे गुणस्थानवर्त्ती प्रमत्तसंयमी हैं। यह चौथा हेत् भी आहारकशरीरके इतर शरीरोंसे भेदको साध्य करनेमें व्यभिचारी नहीं है। क्योंकि सभी छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके नहीं, किन्तु इजारों, लाखों, मेंसे किसी एक विशिष्ट प्रमत्तसंयमी मुनिको आहारक रारीरका अधिपतिपना प्राप्त हो सकता है। उस विशिष्टताके छगा देनेसे प्रमत्ताधिपतित्व हेतु निर्दोष बन जाता है। तिस कारण श्री उमास्वामी महाराजने सूत्रमें या मुझ विद्यानन्द स्वामीने उक्त दो वार्तिकोंने यों बहुत अच्छा कहा था कि फल १ हेत २ स्वरूप ३ और अधिपति ४ के भेद करके ये आहारक ज्ञारीर अन्य चारों शरीरोंसे मिन ही निर्णीत कर दिया गया है। यहांतक पांचों शरीरोंका निरूपण समाप्त होचुका है।

> चतुर्दशभिरित्येवं सूत्रैरुक्तं प्रपंचतः। शरीरं तीर्थिकोपेतशरीरविनिवृत्तये॥ ३॥

यहांतक यो उक्त प्रकार चौदह सूत्रों करके विस्तारस संसारी जीवाँके शारिरोंको श्री उमास्वामी महाराजने अन्य दार्शनिको द्वारा स्वीकार किये गये अनेक कल्पित शरीरोंकी विशेषतया निद्वति करनेके किये स्पष्ट कह दिया है। अर्थात—" औदारिकवैकियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीरिणि " से प्रारंभ कर "शुभं विशुद्धमञ्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्येव" इस सूत्र पर्यन्त चौदह सूत्रों करके पांच शरीरोंका व्याख्यान सूत्रकारने किया है, जो कि अन्य मतावलिक्यों द्वारा माने गये शरीरोंकी निवृत्ति करता रहता है। कोई पंडित स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दो होको स्वीकार करते हैं। वैशेषिक तो योनिज और अयोनिज इस प्रकार शरीरके दो भेद मानते हैं। बौद्धजन स्वप्नान्तिक अथवा स्वाभाविक शरीरोंको भी मान बैठे हैं। नैयायिक समाधिअवस्थामें योगी, खी, पुत्र, राज्य, आदि मोगोंको मोगनेके किये अनेक शरीरोंका निर्माण कर लेता है, भोगे विना कर्मोका नाश नहीं हो पाता है, ऐसा मान बैठे हैं। इत्यादि मन्तन्यौकी निवृत्तिके लिये आचार्योने पोच ही शरीरोंका अन्यूनानतिरिक्तरूपसे निरूपण किया है। अब न्यारा प्रकरण चलाया जाता है।

### अय के संसारिणो नपुंसकानीत्याह।

कोई जिज्ञासु पूंछ रहा है कि कौनसे संसारी जीव नपुंसकृष्टिंगी हैं १ ऐसी आकांक्षा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

# नारकसंमुर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

सात नरकोंमें निवास करनेवाले नारकी तथा एकेन्द्रिय, ग्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, जीव और पंचेन्द्रियोंमें अनेक तिर्थच एवं मनुष्योंमें लब्ध्यपर्यासक मनुष्य ये संमूर्छन जन्मवाले जीव नपुंसक-लिक्गी हैं । अर्थात्—अवाकी अग्निके समान कषायवाले इन जीवोंके मैथुनसंज्ञाजन्य तीववेदना बनी रहती है । इस कारण इनकी आत्मामें सर्वदा कलुषता रही आती है । स्त्री या पुरुषोमें पाये जानेवाले स्पर्शन इन्द्रियजन्य सुख इनको नहीं प्राप्त होते हैं ।

### नारकाः संमूर्छिनश्च नपुंसकान्येव भवंति ।

घनांगुल परिमित प्रदेशोंकी संख्याके दूसरे वर्गम्लसे गुणा की गयी जगच्छ्रेणिक प्रदेशों बराबर सम्पूर्ण नारकी जीव असंख्याताऽसंख्यात हैं। तथा सम्पूर्णन जन्मवाले अनन्तानन्त संसारी जीव हैं। ये सब नपुंसक ही होते हैं। भावार्थ—इनमें ली, पुरुष, व्यवहार नहीं है, कभी कभी दो मिन्ख्यां चिपटी हुई देखी जाती हैं। ये उनकी केवल शारीरिक किया है। कोई गर्भधारण किया नहीं है। यों तो कोई कोई खिलोने भी चिपटे हुये देखे जाते हैं, चीटियोंके अण्डे भी उनके पेटसे निकले हुये नहीं हैं। केवल यहां वहां मल, मूझ स्थानोंमेंसे सड़े, गले, हुये पुदुर्ख़ोंको लेकर वे विशेष स्थानोंमें घर लेती हैं, कालान्तरमें वहां जीवाका जन्म होकर बढ़ी पुदुर्ख चीटियोंका शरीर बन

जाता है। मधु मक्खी, खुटमल, शीगुर, ज्ंआ आदि जीवोंकी भी यहाँ व्यवस्था है। माता पिताके शुक्र, शोणित, से गर्भाशयमें इन जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती है। यों तो किन छोगोंने घडा बडी, कटोरा कटोरी, नद नदी, चादर चादरा, आदि जड पदार्थोंमें भी कीलिंग, पुल्लिगका व्यवहार कर लिया है। वैज्ञानिकोंने केला केली, भी मान लिये हैं। क्षियोंके पाद प्रहार या कुल्ला करनेसे कई वृक्षोंका फलना, फलना, अभीष्ट किया गया है। इसमें कल्पना भाग बहुत है। सम्मूर्छन शरीरोंके उपयोगी साधनोंके जुटानेमें सहाय कर देना मात्र भित्तिपर भारी कल्पनायें गढ ली गयी हैं, जो कि नियत कार्यकारणभावका मंग कर देनेवालीं हैं। सिद्धांत दृष्टिसे विचारनेपर सम्पूर्ण सम्मूर्छन जीव नपुंसक लियी ही सिद्ध होंगे। वृक्षोंमें स्त्री या पुरुषोंके समुचित अंगोपांग ही नहीं है। द्वीन्द्रिय, त्रीद्रिय, चीइन्द्रिय जीवोंके गर्भाशय नहीं हैं। अतः आचार्योंने जो इन्हें नपुंसक लियी कहा है, वह युक्तिपूर्ण है।

### देवेषु तत्मतिषेधमाइ।

देवोंमें उस नपुंसक लिंगका सर्वथा निषेध करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम् सूत्रको कह रहे हैं।

## न देवाः ॥ ५१ ॥

चारों निकायके सम्पूर्ण देव नपुंसक लिंगवाले भी नहीं हैं । सम्पूर्ण देविया स्नीलिंग हैं तथा देव सम्पूर्ण पुर्हिंग ही हैं ।

देवा नपुंसकानि नैत संभवंतीति सामर्थ्यात् पुंमासो देवाः स्त्रियश्च देव्यो भवंतीति गम्यते । क्रुत इत्याद्द ।

देव गतिवाले जीवोंमें नपुंसक लिंगकी सम्भावना नहीं है, यों निषेध कर देनेसे विना कहे ही, शद्भकी सामर्थ्यसे विधिमुख करके यह जान लिया जाता है कि देवनिकायमें पुर्लिगवाले देव होते हैं। और खीलिंगवाली देवियां होती हैं। कोई पूंछता है कि यह उक्त सिद्धान्त किस प्रमाणसे सिद्ध किया जाय १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम दो वार्तिकोंमें युक्तियोंको कहते हैं।

नारका देहिनस्तत्र पोक्ताः संमूर्छिनश्च ये । नपुंसकानि ते नित्यं न देवा जातु चित्तथा ॥ १ ॥ स्रीपुंससुखसंशापिहेतु हीनत्वतः पुरा । न पुंसकत्वदुः साप्तिहेत्वभावाद्यथात्रमं ॥ २ ॥

नारकी जीव और सम्मूर्छन शरीरघारी प्राणी जो वहां प्रकरणोंमें अच्छे ढंगसे कहे जा चुके हैं, व सम्पूर्ण जीव अपनी अवस्थापर्यन्त सर्वदा नपुंसकिंछनी ही बने रहते हैं | हां, देव तो कभी भी तिस प्रकार नपुंसकिलगी नहीं हैं । इन दो सूत्रोंके प्रमेयमें वे वक्ष्यमाण दो ज्ञापक हेतु हैं कि पूर्व जनमें श्रियोंके उचित सुखों और पुरुषोंके समुचित सुखोंकी अच्छी प्राप्तिके कारण होरहे श्रुम कियायोंका अनुष्ठान या पुण्यविशेषकी हीनता हो जानेसे नारक और सम्मूर्छन जीव स्वकीय पापोदयसे इस जन्ममें नपुंसकिलगी होजाते हैं। जैसे कि पुण्यहीन अवस्थामें पापकर्मका उदय आजानेपर कई घोडे या बैछ बहिरंग रूपसे नपुंसक कर दिये जाते हैं अथवा कोई कोई गर्मज मनुष्य या पशु भी नपुंसक देखे जाते हैं। देव नपुंसकिलगी नहीं हैं। क्योंकि पूर्वजन्ममें आधुनिक नपुंसकपनेके दुःखकी प्राप्तिका कारण मानी गयीं अश्रुमिकया या नपुंसकवेदकर्मका उपार्जन नहीं होनेसे देव स्वकीय इस जन्ममें. नपुंसक नहीं होपाते हैं। यों दोनों सूत्रोंमें दोनों हेतुओंको यथाक्रमसे लगा लेना चाहिये।

नारकाः संमूर्छिनश्च प्राणिनो नपुंसकान्येव, स्त्रीपुंससुखसंप्राप्तिकारणरहितत्वात् पूर्व-स्मिन् भवे नपुंसकत्वसाधनानुष्ठानात् । देवास्तु न कदाचिष्ठपुंसकानि जायंते नपुंसकत्वदुःखा-प्तिकारणाभावादिति यथाक्रमं साध्यद्वये हेतुद्वयं प्रत्येयं ।

श्री विद्यानन्द स्वामी दो अनुमान बनाते हैं कि नारक जीव और संमूर्छन प्राणी (पक्ष) नपुंसक ही होते हैं, ( साध्य ) | अधिख और पुरुष सुखकी समीचीन प्राप्तिके कारणोंसे रहित होनेसे ( हेतु ) साथमें पूर्वभवमें नपुंसकपनेक साधनोंका अनुष्ठान करनेसे ( हेतु )। अर्थात् — वर्तमानके नारक या संमूर्छन जीवोंने पूर्वभवमें ऐसे प्रशस्त कार्य नहीं किय थे जिससे कि इस जन्ममें स्नीसुख, या पुरुषसुखकी प्राप्ति हो जाती । अधिक लज्जा करना, कोरा श्रृंङ्गार करनेमें समय यापन करना, अधिक अभिमान करना, दब्बू बने रहना, संज्ञी विचारशाली सामर्थ्यवान होते हुये भी महान कार्योको नहीं कर सकता, पुरुषोंसे भ्रेमप्राप्तिके मात्र रखना, इनसे और इनके अतिरिक्त कुछ शुभकर्म करनेसे भी भविष्यमें स्त्रीसुखोंकी प्राप्ति हो जाती है तथा अल्पक्रोध, खदारसन्तोष, श्रृङ्गार करनेमें अनादर, महान् कार्योमें पुरुषार्थ करना, चित्तमें उदारता रखना, वीरता आदि क्रियाओंसे भविष्यमें पुरुष उचित सुखोंकी प्राप्ति होती है । ये दोनों प्रकारके कार्य नारकी और संमुर्छन जीवोंने नहीं कर पाये हैं। तथा प्रचुर क्रोध, गुप्त जनन इन्द्रियोंका घात, स्त्रीपुरुषोंके, कामक्षेत्रन अंगोंसे मिन्न अंगोंमें आसक्ति करना, व्यसन सेवना, परक्षीमें छोल्लपता रखना, तीव अनाचार आदिक नपुंसकत्वके साधनोंका पहिले ज़न्मोंमें अनुष्ठान किया है। इस कारण इस जन्ममें नपुंसकलिंगवाला होना पडा है। इनके की और पुरुषोंमें पाया जा रहा मनोज्ञ पंचेंद्रियोंके विषय माने गये शहू, गन्ध, रस, स्पर्श, रूपके, निमित्तसे होनेवाळा स्वल्प भी सुख नहीं है। तथा दूसरा अनुमान यों है कि देव तो (पक्ष ) कभी भी नपुंसक लिंगवाले नहीं उपजते हैं ( साध्य )। नपुंसकपन दुःखकी प्राप्तिके कारणीका अमाव होनेसे (हेतु), भोगोपभोगी, बलिष्ठ, धनाढ्य, प्रेमयुक्त दम्पतिके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—देव देवियोंने पूर्वभवमें अत्यधिक छोमपरिणाम श्रुभकार्योंमें अनुत्साह, व्यभिचार आदि कारणों द्वारा नपुंसकत्वके साधनों हो नहीं मिला पाया है, किन्तु प्रशस्त कृतियों द्वारा खीयुख, और पुरुष

मुखकी, प्राप्तिके कारणोंको जुटाया है। अतः वे स्नीसम्बन्धी और पुरुषसम्बन्धी निरितशय मुखका अर् भव करते रहते हैं। यों देव नपुंसकिंकगवाले नहीं हैं। इस प्रकार दोनों साध्योंमें यथाक्रम दो हैर् ऑको लगाकर समझ लेना चाहिये। सूत्रकारके प्रतिज्ञावाक्योंमें ही समर्थहेतु लिपा हुआ है। आर् मानिक विद्वानोंकी दृष्टिमें अतीन्द्रिय पदार्थ भी प्रत्यक्षवत् प्रतिभास जाते हैं।

#### शेषाः कियद्वेदा इत्याह ।

नारक, संमूर्छन, प्राणी और देवोंसे अवशिष्ट रहे जीवोंके कितने वेद हैं, ऐसी जिज्ञासा हो पर श्री उमास्वामी महाराज नवीन सूत्रको कहते हैं।

# शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

उक्त तीन प्रकारके जीवोंसे शेष रहे गर्भजन्य जीवोंके खीलिंग, पुर्ल्लिंग, और नपुंसकलिंग तीनों वेद होते हैं।

#### उक्तेभ्ये। ये शेषा गर्भजास्त्रिवेदाः प्रतिपत्तव्याः । क्रुत इत्याह ।

कहे जा चुके जीवोंसे जो शेष रहे गर्मज प्राणी हैं। वे तीनों वेदवाले समझ लेने चाहिये कोई शिष्य जिज्ञासा करता है कि यह सिद्धान्त किस प्रमाणसे साधा जा चुका समझा जाय ? ऐ। जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिकको कहते हैं।

# त्रिवेदाः प्राणिनः शेषास्तेभ्यस्तादक् स्वहेतुतः । इति सुत्रत्रयेणोक्तं लिंगं भेदेन देहिनाम् ॥ १ ॥

तिन नारक, सम्पूर्छन, और देवजीवोंसे शेष रहे प्राणी (पक्ष) स्नी, पुर्छिग, नपुंसक, ती वेदवाले हैं (साध्य) तिस प्रकारके अपने अपने हेतुओंसे निष्पत्ति होनेसे (हेतु) तीन लिंगव प्रसिद्ध सपोंके समान (अन्वय दृष्टान्त)। भावार्थ—चारित्रमोहनीयकर्मके विकल्प हो रहे वेदत्रय उदयसे जो वेदा जाय वह वेद है। इसका अर्थ द्रव्यिलेंग या भाविलेंग हो जाता है। कहीं द्रव्लिंगके अनुसार ही भाविलेंग होते हैं। हां, कर्मभूमिमें विषमता भी हो जाती है। क्षियोंके पुंवेद उदय और पुरुषोंमें सीवेद या नपुंसक वेदका उदय भी कदाचित् पाया जाता है। गर्मज जीवें अपने अपने नियत कारणोंसे यथायोग्य तीनों वेद पाये जाते हैं। इस प्रकार "नारकसंम् ि नपुंसकानि, न देवाः, शेषाक्षिवेदाः " इन तीनों सूत्रों करके शरीरधारी प्राणियोंके भिन्न मिन्न रूप लिंग कह दिये गये हैं।

स्तिवेदादयादिः स्तिवेदस्य हेतुः पुंवेदोदयादिः पुंवेदस्य, नपुंसक्तवेदोदयादिः नपुंसः वेदस्येति । तत एव माणिनां स्तिस्त्रिंगादित्रयसिद्धिरिति भेदेन स्त्रिंगं सक्रव्देहिः सूत्रत्रयेणोक्तं वेदितम्यं । वर्तमानमें किसी जीवके अन्तरंगकारण स्विवेदका उदय होना या बहिरंगमें मृदुभाषण करना, पुरुषके साथ रमण करनेकी अभिलाषा रखना, अधिक श्रृंगार करना, स्वादिष्ट रस युक्त भोजन करना, आदिक कारण स्विवेदके हेतु हैं। और अन्तरंगमें पुम्बेदका उदय होना और बहिरंगमें लोकमें उत्कृष्ट गुणोंका स्वामित्व प्राप्त करना, स्वादिष्ट गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करना, रसायन सेवन, वीररसवर्द्धिनी कियायें करना, आदि कारण जीवके पुम्बेद हो जानेमें हेतु हैं, तथा नपुंसक वेदके कारण तो नपुंसक वेदके कारण तो नपुंसक वेदके वारण तो नपुंसक वेदके वारण सेवन अदिक हैं। तिस ही कारणसे (नीमें गुणस्थानतक) संसारी प्राणियोंके स्वीलिंग आदि तीनों वेदोंकी सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार भिन्न भिन्न रूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंके लिंगको श्री उमास्थामी महाराजने केवल तीन सूत्रों करके ही कह दिया है। यह समझ लेना चाहिये।

### के पुनरत्र शरीरिणोऽनपवर्त्यायुषः के वापवर्त्यायुष इत्याह ।

उक्त देहधारी जीवोंमें फिर कौन जीव यहां अपवर्तन नहीं करने योग्य आयुष्यवाले है ! और किन जीवोंकी आयुक्ता बाह्य कारणोंसे हास हो जाता है ! बताओ । अर्थात्—चारों गतियोंके जीव क्या अपनी सम्पूर्ण आयुक्तो मोग कर मरते हैं ! अथवा क्या पूर्णआयुक्ता मोग नहीं करके भी मरकर अन्य गतियोंको प्राप्त हो जाते हैं ! बताओ । ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज शिष्योंकी न्युत्पत्ति बढानेके लिये अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं ।

# औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।

उपपाद जन्मको धारनेवाले देव और नारकी जीव तथा चरम उत्तम शरीरकी धारनेवाले तीर्थंकर महाराज एवं असंख्यात वर्षोतक जीवित रखनेवाली आयुक्तो धारनेवाले भोग सूमियां, या कुभोन गभूमियां, तिर्थंच या मनुष्य इन जीवोंकी आयुक्ता मध्यमें व्हास नहीं हो पाता है। परिपूर्ण आयुक्तो भोगकर ही ये उत्तरगतिको प्राप्त करते हैं।

औषपादिका देवनारकाः चरमोत्यस्तज्जन्मनिर्वाणाईस्य देहः उत्तम उत्कृष्टः चरमश्रासी उत्तमश्र चरमोत्तमश्वरमिवक्षेषणमुत्तमस्याचरमस्य निवृत्यर्थ उत्तमग्रहणं चरमस्यानुत्तमत्व-च्युदासार्थ । चरमोत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहाः । उपमाप्रमाणगम्यमसंख्येयवर्षायुयेषां ते द्वंद्रवृत्त्या निर्दिष्टाः संसारिणोऽनपवर्त्यायुषो भवंति इति वचनसामध्यात्तिनेये अपवर्त्यायुषो गम्यंते ।

औपपादिक शन्दका अर्थ देव और नारकी जीव है। चरम शन्दका अर्थ सब शरीरों के अंतमें हीनेवाला मोक्षगामी जीवका पिछला शरीर है, जोकि उसी जन्ममें मोक्ष ब्राप्त करनेकी सामर्थ्य रखनेवाले जीवकी देह है। उत्तमका अर्थ उत्कृष्ट है। चरम होरहा संता जो वह उत्तम देह है, वह चरमीरीम

कहा जाता है। यों चरम और उत्तम शद्धमें कर्मधारय वृत्ति कर छी गयी है। उत्तमका विशेषण चरम दिया है। वह उत्तम शरीरके अन्तिमरहितपनेकी निवृत्तिके लिये है। अर्थात्-उत्तमशरीर अन्तमें मोक्षगामी जीवको प्राप्त होता है। अन्य संसारी जीवोंका उत्तमशरीर भी चरम नहीं है तथा चरमके विशेष्य दलमें उत्तम शद्धका प्रहण करना तो चरमशरीरके उत्तमरहितपनकी व्यावृत्ति करनेके लिये है। अर्थात्-व्याभिचारकी संभावना होनेपर ही विशेष्यविशेषणभाव सार्थक माना गया है। जैसे कि नीछं उत्पर्छ. यहां उत्पर्छ दूसरे रंगका भी संभावित है तथा कम्बरू, भौरा, जासून भी नीले होते हैं। किन्तु प्रक-रण प्राप्त होरहा कुवलय नीला कुवलय ही है। इस संघटित अवस्थामें विशेष्यविशेषणभाव बन रहा है। उसी प्रकार यहां भी चरमशरीरी अन्तकृत्केवली भी होते हैं। एवं ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती या वसुदेवके पुत्र श्री कृष्ण नारायण भी उत्तमशरीरवाले माने गये हैं। अतः चरमशरीरवाले होते हुये भी उत्तम देहधारी यहां तीर्थंकर महाराजका प्रहण किया गया है, ऐसा मेरी लघु बुद्धिमें आ रहा है। तत्त्वार्थसूत्रकी श्रुत-सागर आचार्य विरचित टीकामें चरमोत्तमदेहधारी पदसे तीर्थकर परमदेव ही समझाये गये हैं । वहां यों लिखा है कि " चरमों इत्यः उत्तम उत्कृष्टो देहः शरीरं येषां ते चरमोत्तमदेहाः । तज्जन्मनिर्वाणयोग्या-स्तीर्थकरपरमदेवा ज्ञातन्याः । गुरुदत्त पांडवादीनामुपसर्गेण मुक्तत्वदर्शनात् नास्त्यऽनपवर्त्यायुर्नियम इति न्यायकुमृदचन्द्रोदये प्रभाचन्द्रेणोक्तमस्ति । तथा चोत्तमदेहत्वेऽपि सुभौमन्नसदत्तापवर्त्यायुर्दर्शनात । कृष्णस्य च जरत्कुमारवाणेनापमृत्युदर्शनात्मकलाई चक्रवर्तिनामप्यनपवर्त्यायुर्नियमो नास्ति इति राज-वार्त्तिकालंकारे प्रोक्तमस्ति '' । इसका अर्थ यह है । चरम यानी अन्तिम उत्तम यानी उत्कृष्ट देह अर्थात -- शरीर जिन जीवोंका है वे जीव चरमोत्तम देहवाछे हैं। जो कि उसी जन्ममें निर्वाण होनेके योग्य हैं। ये चरमोत्तम शरीरधारी जीव तीर्थंकर परमदेव ही समझने चाहिये। क्योंकि गुरुदत्त मनी. तीन पांडव, या अन्य भी कितने ही महान् उपसर्ग सहनेवाले अन्तकृत्केवली महाराजोंकी उपसर्ग करके मुक्ति होना शास्त्रोंमें देखा जाता है। अतः सम्पूर्ण चरमशरीरियोंके लिये आयुके हास नहीं होनेका नियम नहीं है। यो प्रभाचन्द्र स्त्रामीने न्यायकुमृद्चन्द्रोदय नामक प्रन्थमें कहा हुआ है। तथा उत्तम देहवाले होते हुये भी सुभीम और ब्रह्मदत्त सकलचक्रवर्तीकी आयुका मध्यमें अपवर्त हुआ देखा जाता है एवं उत्तमशरीरधारी अर्धचकी कृष्ण नारायणकी जरत्कुमारके बाण करके अपमृत्य सुनी जाती है। अतः सकलचक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती उत्तमदेहधारियोंकी आयके मध्यमें नहीं किन्न होनेका कोई नियम नहीं रहा । इस बातको श्री अकलंक देवने राजवार्तिकमें बहुत स्पष्ट रूपसे कह दिया है कि " अंत्यचक्रधरवाष्ट्रदेवादीनामायुषोपवर्त्तदर्शनादव्याप्तिः ( वार्त्तिक ) उत्तमदेशाश्वक्रधरादयोऽनपवर्त्त्यायुष इत्येतत् ळक्षणमन्यापि । कुतः ! अत्यस्य चक्रधरस्य महादत्तस्य वास्रदेवस्य च कृष्णस्य अन्येषां च तादृशानां बाह्मनिमित्तवशादागुरपवर्त्तदर्शनात् । न वा चरमशद्भस्यो-क्तमिवशेषणत्वात् । ( वार्त्तिक ) न वैष दोषः किं कारणं ? चरमशद्वस्योत्तमविशेषणत्वात् । चरम उत्तमो देह एषां ते चरमोत्तमदेहा इति '' इसका अर्थ यह है कि चरमदेहभारी और उत्तमदेहभारी यों

न्यास न्यास अर्थ करनेपर दितीय दलमें अन्याति दोष आता है। कारण कि अन्तिम जनाती और वासकेव आदिकांकी आयका शलाघात आदि कारणोंसे मध्यमें ही अपकर्ष हो समा देखा गया है 🛊 उत्तम देहवाळे च कवर्ती आदिक भी परिपूर्ण आयुको भोगते हुये अच्छित्र आयुवाले हैं, वों यह कक्षण अन्यापि दोषवान हैं। क्योंकि अन्तके चक्रधारी बहादत्त और वसदेवके अपत्य कृष्ण तथा अन्य भी तैसे। पांडव आहिकोंकी आयुका बहिरंग निमित्तोंकी अधीनतासे अपवर्त देखा गया है। इस अन्यासि दोषका निराक्तरण करते हुये श्री अकलंक देव उत्तरवार्तिकको कहते हैं कि यह दोष हमारे यहां नहीं साताः है। क्योंकि चरम देहधारी और उत्तम देहधारी ये दो स्वतंत्र वाक्य नहीं माने गये हैं। किस्त उन्तमका विशेषण चरम सद्ध है। जिन जीवोंका देह चरम होता हुआ उत्तम है वे ही अन्त्रिन आयुवाले हैं। अथवा " उत्तमविशेषणत्वात् " यहां बहुबीहि समास करनेपर चरमञ्ज विशेषण उत्तम सम्बन्ध लिया जाय । इस प्रकार कहनेसे चरमशरीरियोंमें तीर्थ कर परम देवाधिदेवकी आयु है। अनपवर्ष्ण है । रोष मोक्षताची जीवोंकी आयुक्ते अनपवर्त्य होनेका नियम नहीं, यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है । महान् उपरार्ग सहते हुये भी सुनि महाराज छडे गुणस्थानमें आयुष्य कर्मकी उदीस्था कर कतिपय अन्तर्महर्तीमें क्षपद्भश्रेणी या बारहवें, तेरहवें, चीदहवें मुणस्थानोंके कर्तव्योंको समाप्त कर इस्टिति मुक्तिकाभ कर केते हैं। मनुष्य आयु कर्मकी उदीरणा छड़ेतक ही मानी गयी है। इतं. '' ओक्ट्रणकरणं पुण अजोशिसत्ताण जोगिचरिमोत्ति '' इस गाथा अनुसार मनुष्य आग्रुका **अपकर्षण** करण तो तेरहवें गुणस्थातक अभीष्ट किया है। उदीरणाके अन्य नियमोंको अन्तकृत केवळीके सिकाय अन्यन्न जीवोंमें छागू रखना जिससे कि सिद्धान्तविरोध नहीं होय । संजयंत, गजकुसार, आदि सूनि-योंने उपर्सा सहते हुये मध्यमें आयुक्तो छिन कर मुक्तिलाम किया है। '' असंख्येमक्सीय '' का अर्थ यह है कि अलोकिकगिषतके मुख्य रूपसे संख्यामान और उपमामान ये दो भेद हैं। पन्य, सामक, अवदि प्रमाणोंसे जिन जीवोंकी आयु नापकर जानी जाती है वे जीव '' असंस्थेयवर्षांग्रहः '' कहे जाते हैं । औपपादिक और चरमोत्तम देहधारी तथा असंख्यात क्योंकी आयुवाले यो इन्द्र समास क्ली करके सूत्रमें कहे जा चुके संसारी जीव अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं। इस नियमकारक क्यानकी सामार्थ्यसे विना कहे ही यों समझ लिया जाता है कि इनसे अन्य संसारी जीवोंकी आयुक्त अपर्कत हो जाता है । भावार्थ-'' विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिछेसेंहि । जस्सासाहाराणं णिरेह्नदो किञ्जदे आऊ ''। विष, शूल, आदिकी तीन वेदना, रक्त, आदि धातुओंका क्षय, तीन भय, शक्क्यात, विशिष्ट संबद्धेश, तथा श्वासोच्छ्रास वा आहारका निरोध होजाना इन कारणेंसे अपमृखु होकर बीचमें 🛍 आहु क्रिन होजाती है । पूर्वजन्ममें आयुष्य कर्मका बन्ध करते समय क्ष्याम अनुसार आयु कर्ममें जिसकी स्थिति डाडी थी उतनी स्थितिका पूरा भोग नहीं कर सध्यमें ही विष, शक्काल, आदि द्वारा अविषयों अने योग्य आयुष्पति निषेक्तिको स्वरूपकालमें भोग लेना ही अपमूख है। जैसे कि छह चंदेने पक्ने पोम्प अनुका कडवानळ चूर्ण क्षस अतिशीघ्र पाचन कर छिया। जाता है, अध्यक्ष साम्रक्तळ, जीवूक

जादि फर्जिको भी मध्यकांक्रमें शीव पंचा किया जाता है, उसी प्रकार स्वन्यपर्यातक जीव या कर्म भूमिक बहुत्तस मनुष्य तिर्पिचांकी आधु मध्यमें ही हासको प्राप्त होजाती है।

### कुतः श्रुनरनप्यत्र्यमाश्रुरीपपादिकादीनामित्याह ।

कोई जिस्स्य कठाश्व करता है कि फिर किस प्रमाणसे आप उक्त सिद्धान्तको साधते हैं कि औपपाँदिक खादिकोंकी आणु बाह्य कारणोंसे हासकी प्राप्त नहीं हो पाती है । जिलने कारूनें मोगंने बोग्य आतु उन्होंने हुई जनमें बांधी थी उतने कारूके एक समय पहिले भी वे मरते नहीं हैं । जाहे कितने ही वज्रवात, केववर्षण, आदि उत्पातोंका प्रकरण प्राप्त होजाय, किन्तु ये परिपूर्ण अस्युक्ते मोगकर ही अन्य गतियोंकों प्राप्त होते हैं । बतलाइयेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेकर भी विकानन्द स्वामी उत्तरवर्शी मार्तिकोंको कहते हैं ।

अत्रीपपादिकादीनां नापवर्त्यं कदाचन । स्वीपात्तमायुरीहक्षाहष्टसामर्थ्यसंगतेः ॥ १ ॥ सामर्थ्यतस्त्रतोन्येषामपवर्त्यं विषादिभिः । सिद्धं चिकित्सितादीनामन्यथा निष्फलत्वतः ॥ २ ॥

यहां प्रकरणमें औपपादिक आदि जीवोंकी निज पुरुषार्थ द्वारा पूर्वजन्ममें उपार्जन की गयी आयु ( पक्ष ) विष, राख, आदि बाह्य कारणों द्वारा कराचित् भी न्हासको प्राप्त नहीं होती है ( साध्य )। क्योंकि इस प्रकार आयुको छिन नहीं होने देनेवाले पुण्य, पाप, स्वरूप अदृष्टकी सामर्थ्य उम जीवोंको मले प्रकार प्राप्त हो रही है ( हेतु )। अर्थात्—नारको अकालमें ही मरना चाहते हैं। किन्तु उन्होंने पूर्वजन्ममें ऐसा पापक्रमें कमाया है, जिससे कि वे दुःखाकीण पूरी आयुको मोग करके ही मरते हैं। छौकान्तिक देव या अन्यसर्वाधीसिद्धिके देव आदिक तो शीव्र ही ममुष्य जन्म लेक्स संयमको साधना चाहते हैं। किन्तु पहिले जन्ममें उपार्जे गये बहुतकालमें लीकिक मुख मुगताने योग्य अखण्डपुष्यकी सामर्थ्यसे ये बीचमें नहीं मर सकते हैं। किन्तु मरपूर आयुको मोग चुकनेपर उनका मरण अवक्यंमाधी है। मुज्यमान आयुका उनकाण मही हो सकता है। परिकृष्ठ आयुको मौगनेके लिये श्री तीर्थकर महाराज केवल्डान हो जानेपर मी कुळ मुहुती अधिक हो रहे आठ वर्षके कमती कोटिपूर्व वर्षतक अधिकसे अधिक संसारमें टिफे रहते हैं। जीवनमुक्त आयाका संसारमें टिफरना इक प्रसारका बन्धन है। चार अधातिया कमीक वशमें पढ़े रहना परम सिद्धिका अभिन्त है। किन्त भी आयुका चार मही होनसे वे मध्यमें ही हार्जित सिद्धालयको अतिथि

नहीं बन सकते हैं। अतः शुभ कहो या अशुभ कहो अनुकूल कहो या प्रतिकूल कहो आयुको मध्यमें नहीं छिन होने देनेवाले बिलक्षण स्वकीय पुण्यपापकी सामर्थ्य द्वारा औपपादिक आदि जीवोंकी आयु परिपूर्णरूपसे भोगी जा रही है। विना कहे ही सूत्रोक्त शद्धोंकी सामर्थ्यसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि उन औपपादिक आदि जीवोंसे शेष बच रहे अन्य जीवोंकी विष, वेदना, आदि बहिरंग कारणोंसे आयु अपवर्तनको प्राप्त हो जाती है। अन्यथा रोगीकी चिकित्सा (इलाज) करना या जीवोंपर दया करना, अभयदान देना, आदिकोंकी निष्फलता बन बैठेगी, जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात् अनेक जीवोंकी अपमृत्यु हो जाती है। पांवके नीचे दबकर कीट, पिपीलिका, आदिक मर जाते हैं। यदि नहीं दबते तो नहीं मर पाते। देखिये, निर्धन या अज्ञानी रोगी योग्य चिकित्सा हुये विना मध्यमें ही कालकवालित हो जाते हैं। भयके मारे अनेक जीव तत्काल प्राणोंको छोड देते हैं, तभी तो उनकी चिकित्सा करना, दया करना, उनको निर्भय कर देना, आदि क्रियायें सफल समझी गयी हैं। अतः बहुभागमें जीवोंकी अपमृत्यु होना सम्भव रही हैं।

बाह्यमत्ययानपवर्तनीयमायुः कमे माणिदयादिकारणिवश्चेषोपार्जिते तादृशादृष्टं तस्य सामर्थ्यग्रुद्यस्तस्य संगतिः संप्राप्तिस्ततो भवधारणमौपपादिकादीनामनपवर्त्यमिति सामर्थ्या-द्रन्येषां संसारिणां तद्विपरीतादृष्टांविशेषाद्यवर्त्यं जीवनं विषादिभिः सिद्धं, चिकित्सितादीनाम-म्यया निष्फळत्वप्रसंगात् ।

प्राणियोंके ऊपर दया करना, नियतकालतक आप्रहपूर्वक क्लेश पहुंचाना, अनेक देशकालके जीवोंको पूर्णरूपसे मोक्षमार्गमें लगानेकी भावना रखना, अखण्ड प्रतिदिन दान देना, आदिक कारणिवशेषोंसे देव, नारकी, तीर्थकर महाराज, भोगभूमियां, जीवोंने पूर्वजन्ममें एक तिस प्रकारका अदृष्ट उपार्जित किया है। जिससे कि इनका आयुःकर्म वर्तमान कालमें किसी विष आदि बाह्य-कारणसे अपवर्त होने योग्य नहीं है। उस अदृष्टकी सामर्थ्य तो इस भवमें उसका समृचित उद्य होना है। उस उद्यक्ती संगति अर्थात्—भले प्रकार प्राप्ति कतिपय जीवोंको हो रही है। तिस कारण देव, नारक, आदि जीवोंका संसारमें धरे रखनेवाला अथवा आत्माको इसी गृहीत शरीरमें दूंसे रखनेवाला आयुष्यकर्म हास होने योग्य नहीं है। यहांतक पहिली वार्तिकके उत्तरार्धका निवरण कर दिया है। दूसरी वार्तिकका तात्पर्य यह है कि विना कहे ही केवल सूत्रोक्त पदोंकी सामर्थसे यह सिद्ध हो जाता है कि उस विलक्षण जातिवाले अदृष्टके विपरीत हो रहे दूसरे जातिवाले निर्वल अदृष्ट विशेषसे अन्य संसारी जीवोंका संसारमें जीवित रहना तो विषप्रयोग, शक्षघात, आदि कारणोंद्वारा हास हो जाने योग्य है। अन्यया चिकित्सा करना, द्रपार्थका उपदेश करना, दुष्काल पीडितोंके लिये अब वस्त्र देना, अग्निकाल, जलकाण्डसे प्राणियोंकी रक्षा करना, आदिके निष्कलपनेका प्रसंग होगा। जब कि वे बीचमें मरेंगे ही नहीं तो उक्त कियायें क्यों की जा रही हैं! किन्तु चिकित्सा

अपदिक कियारों न्यर्थ नहीं हैं । कोई पक्षी या कीट, पतंग, यदि जलप्रवाहमें गिर पडे तो दयालु पुरुष उनको जलबाधासे उद्धार कर किनारेपर धर देता है, यह उनको अपमृत्युसे बचानेका ही उपाय है । यदि दयालु पुरुष उन जीवोंको नहीं निकालता तो उन जीवोंकी आयुःकर्मके निषकोंका उत्कर्षण या उदीरणा होकर हास होते हुये बीचमें ही मरण हो गया होता। जैसे कि असंख्याते जीव वर्तमानमें बचानेका निमित्त नहीं मिलनेसे मध्यमें ही अपमृत्युके प्राप्त हो रहे हैं। हत्यारी चिरैयार्थे उडती हुई हजारों लाखों मिलवर्योंको खा जाती हैं, छपकिल्यां असंख्य कीटोंको निगल जाती हैं, उल्लु, चील, नीलकण्ठ आदि पक्षी, सिंह, न्याप्र, मेडिया, बिल्ली, बीजू, आदि पशु तथा अनेक जलचर मांसमक्षी प्राणी ये सब हत्यारे जीव उन निर्वल खेलते, खाते, पीते, प्राणियोंकी अकालमें हत्या कर डालते हैं। प्लेग, हेजा, आदि रोगोंमें लाखों प्राणियोंकी अपमृत्युचे हो जाती हैं। बालवेच या योग्य औषधियोंके न मिलनेसे लाखों बच्चे मर जाते हैं। इस निकृष्ट पंचम काल्में तो बहुत थोडे जीवोंको परिपूर्ण आयु मोगकर मरनेका सौमाग्य प्राप्त होता होगा। अनेक जातिके रोग, चिन्तायें, वैयन्य, दरिदता, अनिष्ट बांधवोंकी संगति, टोटा, पराजय, अधमर्णता, कुप्रामवास, विधवाकन्याप्रयुक्त शोक अवस्था, आजीविकाकी क्षति, परामव, आदि कारणोंसे बहुतसे जीव आयुको पूर्ण किये विना मध्यमें ही मृत्यु मुखमें पड जाते हैं। जलकायिक, अग्निकायिक, धास, पल, पुण, शाक, तरकारी, आदि बहुमाग एकेंद्रिय जीवोंकी आयु छिन कर दी जाती है।

न ह्यमाप्तकालस्य मरणाभावः खड्गप्रहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात् । प्राप्तकाळस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत्, कः पुनरसौ कालं प्राप्तोऽपमृत्युकालं वाः द्वितीयपक्षे सिद्धसाध्यता, प्रय-मपक्षे खड्गप्रहारादिनिरपेक्षत्वपसंगः सकलबिहःकारणविशेषनिरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युका-लव्यवस्थितः। श्रक्षसंपातादिविहरंगकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकाळत्वोपपत्तः।

कोई आमही पण्डितम्मन्य यों समझ बैठा है कि जिस जीवका मृत्युकाल प्राप्त नहीं हुआ है, उसका कथमपि मरण नहीं होता है। विषप्रयोग या अग्निकाण्ड अथवा जलप्रवाहसे भी जीव रक्षित (बचना) हो जाते हैं। गोली लग जानेपर भी पुनः वीसों वर्षतक जीवित रहते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं समझ बैठना चाहिये। क्योंकि खड्गके प्रह्मर, तोप गोलेका लगना, तीव विषप्रयोग, प्रचण्ड अग्निदाह, अतिसंक्षेश, आदि घातक कारणोंसे जीवोंका मरण होना देखा जा रहा है। भले ही किचित् देवकृत या देवकृत रक्षा हो जानेसे अथवा घातक कारणकी अल्पशक्ति होनेसे अपमृत्यु नहीं हो सके। एतावता अपमृत्युका निराकरण नहीं हो सकता है। एक पुण्यशाली मनुष्य थोडा अपराध बन जानेसे एक, दो, तीन, वार तोप हारा उडाये जानेपर भी मर नहीं सका। जयपुर निवासी अमरचन्द दीवान सिंहके पीजरेमें बाल बाल बच गये। घुना अन्न पीसनेवाली चाकीमें कोई एक दो कीट नहीं मरे, दो पार्टोके बीचमें होकर भी वे जीवित निकल आये, जैसे कि पीसती हुई चाकोंमेंसे कोई गेहूं

बाहर निकल आता है। इतनेसे ही अस्दूक, तोप, द्वारा हजारों भर चुके या बाकीमें लाखी पिस सुक जीयोंकी अपमृत्यु विधानका विधात नहीं हो सकता है। यदि यह आप्रही शैकाकार यों को भि जिसको आप मध्यमें आयुका हास कर अवसृत्युको प्राप्त हो जानेवाला जीव कहरी ही उस जीवकी भी तिस प्रकार पूर्ण आयुग्य काल प्राप्त हो चुकनेपर ही उस निमित्तरे पृख् हाई देखी जाती है। यों कहनेपर तो आचार्य विकल्प उठाकर उस आप्रहीको पूंछले हैं कि बताओं वह हुए पुष्ट तगडा युवा बिचान गीडी या विषक्षे प्रयोगसे स्वल्पकालमें जो मरगवा है या दुष्ट हिंसकोंने मार्गमें द्वतगतिसे जा रहे सांपको छाटियोंसे कुचल डाला है, छपकलीने मक्खीको लीड किया है, क्या वे जीव फिर अपने पूर्ण मरणकालको प्राप्त हो चुके थे ? अथवा क्या मध्यमें ही उनका अपकृष्ट मृत्यु होनेका क्रांल प्राप्त होगया है ? बताओ । दूसरा पक्ष प्रहण करनेपर तो तुम्हारे उतपर सिद्धसाध्यता दोष हैं। क्योंकि साधने योग्य उसी अपमृत्यु कालको हम सिद्ध कर रहे हैं, उसीको तुम मान बैठे हो । ऐसी दशामें हमारा तुम्हारा कोई विवाद ही नहीं है। हां, पहिला पक्ष ऋहण करनेपर तो उनकी मृत्युमें असिप्रहार, त्रिषप्रयोग, घातकप्राणी द्वारा शरीरका विदारण किया जाना आदि कार-णोंकी अपेक्षा नहीं रखनेका प्रसंग होगा । किन्तु जाना गया है कि बलिष्ठ योद्रा, धुवा, मक्स्बी, हिरण, आदि जीवोंको यदि खड्ग प्रहार बुभुक्षित छपकली या व्याव्रका अवसर प्राप्त नहीं होय तो वे दीर्घ-कालतक जीवित बने रहते हैं । हत्यारे मनुष्यको फांसी देकर मार दिया जाता है। यह उसकी अपमृत्यु नहीं तो क्या है ? हां, जो एंक्रेश, असिप्रहार आदि अपचातक कारणोंके विना पूर्ण आयु मोग कर मरता है, वह अपमृत्युरहित होरहा मळ मृत्यु नालको प्राप्त हुआ कहा जाता है। क्योंकि सम्पूर्ण बहिरंग कारण माने गये अन्ननिरोध, फांसी, विष, आदि विशेषोंकी नहीं अपेक्षा रख रहे मृत्युकारणको ही पूर्ण मृत्युका काल, व्यवस्थापित किया गया है। कतिपय मनुष्य बैठे बैठे या जाप्य करते हुये मर जाते हैं । कोई बुक्ष यों ही सूख जाते हैं । चीटियां, मक्खियां, भी बहुतसी घातक कारण विना यों ही मर जाती हैं। घास पककर सूख जाती है। यह जीशेंका मृत्युकाल मना गया है। हां, जिस मृत्युका शक्कावात, विद्युत्वात, जलोदर, कसाई द्वारा इता जाना, आदि बहिरंग कारणोंके साथ अन्त्रक व्यतिरेक का विधान पाया जाता है, अर्थात्-राष्ट्रसम्पात होनेपर मृत्युका होना और शक्काधात यदि महीं होता तो कथमपि मृत्यु नहीं होती, यह अन्वय व्यतिरेक होरहा है, उस मरणकालको अक्मृत्युकाल-पना युक्त माना गया है।

तदभावे पुनरायुर्वेदमामाण्यचिकित्सितादीनां के सामध्योपयोगः । दुःखमतीकारादा-विति चेत्, तथैवापनृत्युप्रतीकारादी तदुपयोगोस्तु तस्योभयथा दर्शनात् ।

यदि रोग, विष, आदि द्वारा उस अपमृत्युकाल होनेको नहीं माना जायगा तो फिर आयुर्वेद या चिकित्साशास्त्रका प्रमाणपन अथवा चिकित्सामें नियुक्त होरहे सह्वैध, रोगमतीकारक संवर्तन, आदिकोंकी स्वापूर्यका उपयोग क्षेता कहां समझा जामसा ! अस्य छिन नहीं होनेवाके जीवोंसे किये ये सब प्रयोग न्यूर्थ हैं। आयुर्वेद या चिकित्सा करना कियापहारक मंत्र ये कोई आयुष्यकर्मको बढा नहीं देते हैं। हां, अपमृत्युक्ते जुटे हुये कारणोंका विष्वंस कर देते हैं । भुज्यमान आयुष्यसे एक समय अधिक भी जीवित रख छैना इन्द्र, अहमिंद्र, प्रह, योगिनी, क्षेत्रपाल, मंत्र, तंत्रके बूते अशक्यानुष्ठान है। हां, प्रतिबन्धकीकी शक्तिका नाश करनेमें जो औषधि आदि समर्थ कारण हैं, वे मध्यमें अपकर्षण या उदीरणाको प्राप्त हो रहे आयुष्पकर्मके निषेकोंकी अवस्थाका ध्वंस कर उतने ही पूरे नियत समयोमें उद्यय आने योग्य कर देते हैं । आयुर्वेदके प्रमाणपन अनुसार या मंत्र आदि शास्त्रोंके यथार्थपन अनुसार मध्यमें सरता हुआ जीव यदि बचा किया जाय, ये क्या थोडी सामध्ये है ? पूर्वजन्ममें बांधी हुई आयुक्तो मध्यमें ही तोड सक्लेबाले प्रतिकथक रोगोंका समिवत चिकित्सा प्रक्रिया हुए। निराकरण सम्माया जाकर पूर्णा आयुक्तो भोमनेके लिये जिन कालोंसे ज्ञान सम्पादन किया जाता है, वे आयुर्वेद शास हैं । न्याय प्रन्थ, व्याकरणाविषयक प्रन्थ, सिद्धान्तवास, ज्योतिषशास्त्रके समान आयुर्वेद भी एक आवश्यक वैक्क विषयके प्रन्थोंका समुदाय है, कोई ऋग्मेद, युजुर्वेदके समान एक नियत प्रन्थ ही आयुर्वेद नहीं है। यदि कोई यहां यों कहे कि दु:लका प्रतीकार हो जाना, कुछ कुछ सुख मिल जाना, चलने फिरने लग जाना, आदिक उन्नर्यमि ही मिकित्साराख या वैद्योंके पुरुषार्थकी सफलता हो जाती है। अर्थात्—बातव्याधि या कुछ, जर्मादर आदि रोगों भी चिकित्सा केवल इस किये की जाती है कि सेगीका दुःख कम हो जाय, उसको कुछ कुछ चैन पढ़ने छग जाय, कुछ चल, फिर सके, खा, पी ले, थोडी नींद ले लेवे, रोगका उपशम हो जाय, बस, इसीलिये रोगीकी चिकित्सा की जाती है। उसका मरना तो आयुक्ते पूर्ण होनेपर ही होना, और तब आयु पूरी हो जानेमर महान् सर्वेध, बडे बडे चरक, सुश्रुत, वारभट्ट, या मंत्र तंत्र शासको प्रन्थ व्यर्थ घरे रहेंगे । जीक्स एक विपल ( एक सेंकिन्डका ढाईमां भाग ) भी कड नहीं सकता है। यों कहनेपर तो आचार्य महले हैं कि जिस प्रकार असावा वेदमीयके उदयसे प्राप्त हुये दुःखके प्रतीकार आदिमें शास्त्र, वैद्य, गारुविक, तंत्र आदिकी समर्थ्य होना माना जा रहा है. उसी प्रकार अपमृत्युका प्रतीकार आयुष्य वर्मकी उद्दीरणा नहीं होने देने आदि कार्योंमें भी उनका उपयोग माना जाओ । जो कारण दुःखका प्रतीकार कर सकते हैं यांनी दुःख देनेवाले पापोदयको टाल सकते हैं वे अपमृत्युको भी हटा सकते है। उनकी उस सामर्थ्यका उपयोग होना दोनों प्रकारसे देखा जाता है। दुःखोंके प्रतीकार हो जाते हैं। अपसूर्यका विनाश भी साधमें हो जाता है। चतुर वैष किसी रोगमें कुछ दिनोंके छिये दुःखको अधिक बढाकर भी रोगीकी अपमृत्युका निमाश कर देला है। गले संडे अंगको शक्तिकित्सा द्वारा काठ कर रोगीको अपगृत्युसे बचा लिया जाता है, सन्निपात रोगसे ज्वर रोगमें लाकर पुनः ज्वरका किनाश करता हुआ वैध उस सेपीको मध्य मृत्युसे रक्षित कर लेता है। सतानेपाले व्यक्त रोग और वर्तमामंबे नहीं दृःख दे रहे रोगोंकी चिकित्सा होना दोनों प्रकारसे देखा जाता है।

नन्वायुःक्षयनिमित्तोपमृत्युः कयं केनचित्यतिक्रियते तर्श्वसद्वेद्योदयनिमित्तं दुःखं कयं केनचित्यतिक्रियतां १ सत्यप्यसद्वेद्योदयेन्तरंगे हेतौ दुःखं बहिरंगे वातादिविकारे तत्यतिपक्षी-षष्ट्रोपयोगोपनीते दुःखस्यानुत्पत्तेः प्रतीकारः स्यादिति चेत्, तर्हि सत्यपि कस्यचिदायुरुद्-येतरंगे हेतौ बहिरंगे पथ्याहारादौ विच्छित्रे जीवनस्याभावे प्रसक्ते तत्संपादनाय जीवनाधान-मेवापमृत्योरस्तु प्रतीकारः ।

यहां किसी अन्यवादीका स्त्रपक्ष अवधारण है कि आयुष्य कर्मका कारणवश पूरा खिर जाना-रूप क्षयको निर्मित्त पाकर होनेवाली अपमृत्य भला किसी भी एक औषधि, मंत्र या अनुष्ठान आदि करके कैसे प्रतीकारको प्राप्त की जा सकती है ? अर्थात्—अपने अपने नियत समय अनुसार ही जीवोंका मरण होना अभीष्ट करनेवाळा वादी यों कह रहा है कि चाहे किसीकी भी मृत्य या अप-मृत्यु क्यों न होय, वह पूर्व उपार्जित आयुष्यकर्मके क्षय होनेपर ही होगी । मध्यमें उसका प्रतीकार करना व्यर्थ है । लिखे, बदेसे एक क्षणमात्र भी आयुः न्यून या अधिक नहीं होपाती है । इस कस्सित अवधारणका प्रत्याख्यान करते हुये आचार्य कहते हैं कि तब तो असातावेदनीयकर्मके उदय को निमित्त मानकर हुआ दुःख भला किस ढंगसे किस चिकित्सा, मंत्र, आदि करके प्रतीकारको प्राप्त किया जा सकेगा ? बताओ । जैसे आप '' नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि '' इस सिद्धान्त अनुसार आयुष्यकर्मका पूरा भोग होकर ही जीवोंका मरण होना स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार असातावेदनीयकर्म भी अपना परिपूर्ण कार्य दुःख देना कितने ही दिनों, महिनोंतक पीडा पहुंचाना, परिताप कर देना, आदि फलेंको देकर ही निवृत्त होगा । औषधि आदिसे असद्वेयका प्रतीकार नहीं किया जा सकेगा, किन्तु आप पिहले चिकित्सा आदि द्वारा दुःखोंका मध्यमें ही प्रतीकार हो जाना स्वीकार कर चुके हैं । यदि तुम यों कहो कि दु:खके अभ्यन्तर कारण असतावेदनीयकर्मका उदय होते संते भी और दु:खके बहिरंगकारण वातन्याधि, उदरराूल, नेत्रपीढा, मस्तकवेदना आदि रोग या वात. पित्त, कफ, दोषजन्य विकारोंकी प्राप्ति हो जानेपर हुये उस दुःखको मेटनेवाली प्रतिपक्ष औषिषिके उपयोगका प्रसंग मिल जानेपर दु:खकी उत्पत्ति नहीं होनेसे ही दु:खका प्रतीकार होना समझ लिया जायगा । तुम्हारे यें। कहनेपर तब तो हम जैनसिद्धान्ती भी कह देंगे कि किसी जीवके जीवित रहनेके अंतरंगकारण लंबे चौडे आयु:कर्मका उदय होते रहते हुये भी यदि जीवित रहनेके बहिरंग कारण पथ्यआहार उचित जलवायुसेवन, पाकाशयकी शुद्धि, आदिका विच्छेद प्राप्त होजानेपर जीवित रहनेके अभावका प्रसंग प्राप्त हो चुका समझो । ऐसी दशामें उस आयु:के मध्यविच्छेदको रोककर उसी दीर्घ जीवनका संपादन करनेके लिये जीवित रहनेको वैसाका वैसा ही पुनः संधारण कर लेना ही अप-मृत्युका प्रतीकार होजाओ । भावार्थ-'' यत्पूर्व विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितं कः क्षमः '' इस निय-मको सर्वत्र छगा बैठना। आत्माके पुरुषार्थ या अन्य कारणोंसे जैसे खींच छी गयीं कार्मण वर्गणायें कर्म

बना छी जाती हैं। बंधे हुये वे कर्म पुनः नियत समय अनुसार उदयावळीमें प्राप्त होकर आत्माको सुखदु:ख देना, स्थूल शरीरमें रोके रहना, आदि फल देते हैं, उसी प्रकार आत्मपुरुषार्थ या अन्य नियत कारणों द्वारा उन कर्मीकी उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, उपशम, निधत्ति, निकाचना, आदि अवस्थायें भी की जा सकती हैं । हां, मुज्यमान आयुको वढानेके छिये या ज्ञानावरणका उपराम कर-नेके लिये अधवा नामकर्मका क्षयोपराम करनेके लिये आत्मा यदि ऐसे अशक्यानुष्ठान कार्यीका प्रयतन करेगा तो उसका परिश्रम या कारणोंका व्यापार पहाडसे माथा टकरानेके समान सर्वेदा व्यर्थ पडेगा। किन्तु उचित काळसे पूर्वकाळमें ही आयुःकर्मकी उदीरणा या अपक्रपेण करनेवाळे अथवा उस आयु-ष्पको मध्यमें ही विष्छेद करनेके लिये मुख फाडे बैठे हुये कारणोंकी सामर्थ्यको नष्ट कर देनेवाछे कारणोंका व्यापार व्यर्थ नहीं जाता 🕻 । आयुको मध्यमें छेद करनेवाला विष, शस्त्रघात, आदि कारण पूर्ण समर्थ होता हुआ यदि प्रतीकारक मंत्र, औषधि, आदिकी शक्तियोंका भी ध्वंस कर देगा तो आयका न्हास अवस्थम्भावी है। किन्तु आयःके मध्यमें छेदनेवाले कारणोंकी शक्तिका चिकित्सा आदि समर्थ कारणों द्वारा विनाश कर दिया गया है तो " अनी टल जानेपर हजार वर्षकी आयु " इस प्रामीण किम्बदन्ती अनुसार दीर्घ जीवन बना बनाया ही है। बात यह है कि चिकित्सा प्रणाली द्वारा अपमृत्युका प्रतीकार किया जा सकता है, जैसे कि सुखके या दुःखनिवृत्तिके कारण मिळा देनेपर असद्देश, अरति, शोक, आदि कर्मीके उदय निमित्त परिणामीका प्रतीकार कर दिया जाता है। जो खाया हुआ पदार्थ प्रमाद दशा होनेपर छह घण्टेमें पच पाता वह न्यायाम या सानन्द वायु सेवनार्थ स्वद्धन्द गमनरूप पुरुषार्थ द्वारा तीन घंटेमें ही पचा लिया जाता है।

सत्यप्यायुषि जीवनस्याभावभसक्तौ कृतप्रणाज्ञः स्यात् इति चेत्, तर्हि सत्यप्यसद्वेद्योदये दुःखस्योपञ्चमने कयं कृतप्रणाज्ञो न भवेत् ?

जैनोंके ऊपर कोई आक्षेप करता है कि दीर्घ कालतक जीवित रखनेके उपयोगी आयुःकर्मका सत्त्व होते हुये भी यदि मध्यमें ही जीवित रहनेके अभावका प्रसंग मिल जाना माना जायगा तब तो कृतका विनाश होजाना, यह बढा भारी दोष आता है। यानी "जो करता है वह अवस्य भरता है" "न कर तो कुछ भी नहीं डर" ऐसी लोकप्रिसिद्धियां हैं। किये हुवे कमों का यदि फल दिये विना ही बढिया नाश होजाय तब तो दान, पूजा, अध्ययन, अध्यापन, सभी शुभकर्म व्यर्थ पढेंगे। हिंसक, व्यभिचारी जीव भी द्यावान् ब्रह्मचारी पुरुषोंकी पंक्तिमें साथ बैठ जायंगे, यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो अस्क्रेदनीय कर्मका उदय होनेपर भी यदि चिकित्सा आदि द्वारा दुःखका उपशम होना माना जायगा तो तुम्हारे ऊपर भी कृतका नाश हो जाना दोष किस प्रकार नहीं बन बैठेगा श बताओ। भावार्य-तुम जो समाधान उस दुःखके उपशम हो जानेमें करते हो वही समाधि इस अपमृत्युमें भी कर केना। यदि किसी जीवने पहिले पुण्यका उपार्जन किया पश्चात् तीव पाप कर लिया ऐसी दशामें पुण्यकर्मका पापकर्म हरसे संक्रमण होजाने पर कोई कृतअगाश नहीं है। सर्पके मुखमें पडे हुये

कार मिया किया हो जाता है, विशेष सीपमें आत हुये जलका बिंदु मोती बन जाता है। जिस सेपस्मासे सीम इन्द्र जीकान्तिक देव, सर्वार्थिसिदिने देव इन पर्दों की अथवा मुंकिकी भी आति हो सकती है, जीछपी जीच निरान नामक पुरुषार्थ हारा छोड़ेसे फलको प्राप्त करनेमें ही परिष्ट्रत होजाता है। यह कमीकी अवस्थाओंका परिवर्तन होना ही तो है। इसमें कृतप्रणाश क्या हुआ ! ज्यायाम कर जाको शींघ पचा किया था औषार्थ करके रोगसे शींघ छुट्टी पा छी इसमें कीई कृतप्रणाश दोष नहीं है। सातिक्ष्य पुण्यशाली जीव अल्यपुरुषार्थसे बहुत लाम उठा लेता है, जब कि पुण्यहीन किसान घीर करिश्रम द्वारा अव्यल्ध आय कर पाता है। इसमें कृतप्रणाश कुछ भी नहीं है। जो नियम यों कर रहा है कि इस जीवको दस वर्षतक दुःख या सुख मोगना है अथवा जीविस रहना है सार्थमें वही नियम यों भी कह रहा है कि बदि इसके प्रतिकृत कारण दृष्य, क्षेत्र, काळ, भाव, मिल जायंगे तो अल्य कालमें भी उन कर्मीका भोग होकर निवारण कर दिया जायगा। केवली भगवान् भी तेरहनें गुण-स्थानमें केवली समुद्र जातस्वरूप स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा तीन अधातिया कर्मीकी स्थितीको अपने आयुष्य कर्मकी स्थितीके समान छोटी कर लेते हैं। इसमें कृतप्रणाश रत्ती भर भी नहीं है। लोकमें भी कारण वश सजायें घटा दी नाती हैं।

बदुकादिभेषजोपयोगजपीडामात्रं स्वकलं दत्वैवासद्वेदस्य निवृत्तेने कृतपणाञ्च इति चेत् , तर्बापुणीप जीवसमात्रं स्वकलं दस्वैव निवृत्तेः कृतपणाञ्चो मा भूत् विश्विष्टफल्ट्याचायस्तू -अयम समानः। तत्वोस्ति कस्यविद्यपृत्युश्चिकिात्सितादीनां सकल्ट्यान्यथानुपपत्तेः कर्मणामयया-कालविपाकोपपत्तेशाचफलादिवत् ।

प्रतिकारी कहता है कि कड़वी, कवैछी, उष्ण, पीडाकारक, आदि वहीं रुष्णमेगाछी औपधियोंके उपयोगसे उत्पन्न हुई वेदनामात्र ही अपने पर्छको हेकर असहिद्यनीय कर्मकी
निहाति हो जाती है। अतः दुःखके उपराम करनेमें कुलकर्मका स्मृत्वकृत्व नाहा महीं हुआ।
अध्यति कड़वी औपधी (दवाई) पी छेने या हृड़ी चढ़ाते समय मर्दन (मालिहा) का दुःख
सुर्गतने अधवा केष्ममें चारों ओरसे दुवक कर पतीना छेने एवं शबहारा चीर फाइकी बेदना
सहने आदि फर्लोको देकर ही असहिद्दनीय कर्मकी निहृत्ति हुई है। फल दिये विना कोई कर्म उस्ता
महीं है। अतः की जा चुकी करनीका प्रणाश नहीं हुआ, यों कहनेपर हम जैन भी कह देंगे कि तम
सी अपवर्तनीय आसुवाले जीवोंके आयुःकर्मकी भी स्कर्मजीवनमें ही अपना पूरा रस दे हेना क्षत्र
अपना मल देकर ही निहृत्ति हुई है। अतः कृतका प्रणाश मत होओं यानी सरमूर खांडमें जितनी
मनुरता है तोले भर मिलाईका सार भी उतना ही मीठा है। मले ही सारसे देह सेर खीलमें छह बड़ी
कन सकें, किन्तु मिष्टकल (सरबत) उतना ही बन जावगा जितना एक सेर खांडसे मीठा प्रनी हो
काता है। यह फल क्या न्यून है । यदि तुम यों कहो कि अपगृत्य मान हैनेपर आयुष्य कर्मका
परिपूर्ण कालतक विशिष्ठ फल देना तो नहीं हुआ, ऐसी दशमें इस जैन भी कह सकते हैं कि जो

अब रोग चार विनतक संक्रेश देता, वह कडबी कुटकी, विरायतानिश्रित औपनिक पी छेनेपर एक क्ष दिनमें उपशान्त हो जाता है, यहां भी तो असदेख द्वारा पूर्ण काळतक विशिष्ठ पळ दिया जाना नहीं है। अतः पूर्व न्यवस्था अनुसार कर्मीक विशिष्टफल देनेका अभाव तो इसारे, तुम्हारे, दोनोंके यहां समान है। तिस कारणले सिद्ध हो जाता है कि किसी किसी जीवकी मध्यमें हो अपमृत्य हो जाती है। ( प्रतिक्षा ) विभिक्तित, मंत्रप्रयोग, पुरुषार्थविशेष आदिकोंकी सफळता अन्यया यांची अपसूत्युको स्वीकार किये निमा नहीं बन पाती है (हेतु )। एक बात यह भी है कि नियस शास्त्रा अतिकामण कर भी अपकर्षण, उन्कर्षण, अनुसार कर्मीके विपास आगे, पीछे, हो जाते हैं । जैसे कि आक्रकाल, पनस, नीबू, खाबूजा, आदि फल समयसे पूर्व है। मुस, रुई, आदिमें पका छिये जाते हैं। अपीए---मुगी, या कब्तर्शके उदरमें विदेश उच्चाताको पहुंचाकर नियत काउसे पाईके प्रस्क करा किया जाता है। उपयोगमें लाने या आतपमें अधिक रखनेसे वस शीव जीर्ण हो जाता है। मीला क्याबा फैला देनेसे शीव्र सूख जाता है। थोडी उमरमें ही गृहस्वीका बोध आपडनेपर सम्बन्धे पहिन्ने बुद्धि परिपक हो जाती है। गम्भीरता आ जाती है। इसी प्रकार अपसृत्यु दशामें आयु:कार्क निषेक अधि सड जाते हैं। दस वर्षतक उदयमें आनेके छिवे रची गयी आयुष्यकर्मकी पंक्तिको शीव उदयमें छाकर भोगता हुआ जीव मध्यमें मर जाता है। अपमृत्युवाले जीवके भी आयुष्य कर्मकी भोग ( फल प्रांति ) भोग कर ही निवृत्ति हुई है। अनुप्रक्रमः निर्वराके समान कर्मीकी उपक्रम किर्जरा भी खेली है। कर्मीका फल यथा अब्रह्मस्पर ही सुनावानेवाले जैसे कारण हैं उसी प्रकार सविष्यमें उदय आनेवाले वर्मकी कारण द्वारा वर्तमानमें भी उदय प्राप्त किया जा सकता है। मूर्ख छोकरा युवा अवस्थाकी परिपक्तताके प्रथम ही बोह-वश युवल भावोंको प्राप्त कर लेता है। वृद्धल और मृत्युको भी शीव बुका लेता है। अतः निम्हात हो जाता है कि देव, नारकी, और तीर्धकर महाराज तथा भोगभूमियां, कुसीगभूमियां, जीवेंकि अति-रिक्त रोष संसारी-नीवोंकी आयुक्त मध्यमें हास हो सकता है।

यश्राह, विवादममाः माणिनः सापवर्त्वायुषः सरीरित्वादिष्ट्रियवश्याष्ट्रः स्रसिद्धसापकः र्वायुष्कमाणिवत् ते वानपवर्त्वायुष्यस्ता एकोपपादिकवदिति, सोपि न कुत्तावादीरपुपदर्शयति ।

जो भी कोई आक्षेपकार यों अनुमान बना कर कह रहा है कि विवादमें प्राप्त हो रहे देव, नारकी, तीर्थिकर और भोग्रमूमियां, प्राणी भी ( पक्ष ) हासको प्राप्त होने पोग्य आयुसे सहित हैं ( साध्य ) राग्रेस्थारी होनेसे ( प्रथम हेतु ) अथवा इन्द्रियवाछे होनेसे ( दित्तीयहेतु ) अपक्तिसहित आयुवाछे प्रविद्ध कर्मभूमियां मनुष्प, तिर्थेच, प्राणियोंके समान ( अन्वयद्धान्तः ) । इस अनुमानसे देध आदि जीकोंकी आयुक्ता हास होना सच जाता है । आथवा जैनसिद्धान्तको विगादनेके छिये दूसरा अनुमान यह भी किया का सकता है कि वे कर्मभूमियां मनुष्प या एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि जीक भी ( पक्ष ) आक्षण्डनीय आयुवाले हैं ( साध्य ) उस ही कारणसे आर्थात् - वारीस्थारी होनेसे अथवा इन्द्रियवाले होनेसे ( हेतुद्दय ) देव, नारकी जीवोंके समान ( अन्वयद्धानतः ) । अब आचार्म कहते हैं कि वह होनेसे ( हेतुद्दय ) देव, नारकी जीवोंके समान ( अन्वयद्धानतः ) । अब आचार्म कहते हैं कि वह

आक्षेपकार भी युक्तिपूर्ण वाद करनेकी टेक्को रखनेवाला नहीं है। भावार्थ जैनसिद्धान्त कोई बर्चोका खेल नहीं है, जो कि चाहे जब बिगाड लिया जाय और बना लिया जाय। जैनसिद्धान्तकी भित्ति द्वन्यके वस्तुभूत परिणामेंपर अवलम्बित है। जैसे जलका दृष्टान्त देकर अप्रिमें अनुष्णत्व सिद्ध करनेवाला द्वन्यत्व हेतु अथवा अप्रिका दृष्टान्त देकर जलमें भी उष्ण स्पर्शको साधनेवाला द्वन्यत्व हेतु, व्यभिचार, बाध, सत्प्रतिपक्ष दोवोंसे परिपूर्ण है। उसी प्रकार शरीरसिहतपन या इन्द्रियधारीपन हेतु भी व्यभिचार आदि हेत्वाभास दोवोंसे प्रिपूर्ण है। अतः अविनाभावस्वरूप प्राणको धारनेवाले जीवित हेतुओंसे नियत साध्योंकी सिद्धिको चाहनेवाले विद्वानोंको अविनाभावविकल मृतहेतुओंसे (हेत्वाभासोंसे) अन्ट सन्ट साध्यको साधनेके लिये कुत्सित प्रयत्न नहीं करना चाहिये। अन्यथा घृणापात्र बननेके अतिरिक्त उन्हें बाध, अनिष्प्रसंग, अपसिद्धान्त, अप्रमाणिकपन, आदि दोषोंको भी होलना पढेगा। इसी बातका श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम दो वार्त्तिकों द्वारा प्रदर्शन कराते हैं।

तदन्यतरदृष्टत्वाच्छरीरित्वादिहेतुभिः । सर्वेषामपवर्त्यं तन्नापपवर्त्यमितीरयन् ॥ ३ ॥ प्रवाच्यते प्रमाणेन स्वेष्टभेदाप्रसिद्धितः । सर्वज्ञानिविरोधाश्च मानमेयाव्यवस्थितेः ॥ ४ ॥

उन अपवर्तनीय आयुवाले और अनपवर्तनीय आयुवाले कर्मभूमियां या देव, नारकी आदि जीव इन दोनोंमेंसे किसी एकमें इष्टसाध्यके साथ देखा जा चुका होनेसे शरीरधारीपन, इन्द्रियधारीपन, प्राणयुक्तपन, संसारीपन, आदि हेतुओं करके यदि सभी शरीरधारी जीवोंकी वह आयु न्हास होने योग्य है अथवा नहीं न्हास होने योग्य है, इस प्रकार कथन कर रहा आक्षेपकार (पक्ष) अच्छे प्रकार प्रमाणों करके बाधित हो जाता है (साध्य) अपने इष्ट भेदोंकी अप्रसिद्धि होजानेसे (प्रथम हेतु) और सर्वक्र, जगत्कर्तृत्व, आकाशव्यापकत्व आदि सिद्धान्तोंका विरोध प्राप्त होजानेसे (दितीय हेतु) अर्थात्—पक्ष और त्रिपक्षमें सामान्य रूपसे पाये जा रहे धर्म करके जो दूसरेके निर्दोध सिद्धान्तपर कुठाराधात करता है वह स्वयं प्रमाणोंसे बाधित होरहा संता अपने अभीष्ट भेद, प्रभेदोंको नहीं साध सकता है । वह सर्वक्र आदिको भी नहीं मान सकेगा । उसकी मानी हुई प्रमाणप्रमेयव्यवस्था सब छप्त होजायगी । मनुष्यत्व हेतुसे दरिद्रका धनिकपना, या मूर्खका पण्डितपना, व्यभिचारीका अक्ष-चारीपन, साधुका गृहस्थपन, वादीका प्रतिवादीपन, अपसिद्धांतीका सिद्धांतीपन, पराजितका जेतापन, स्वामीका भृत्यपन, आदि भी सब सध जायंगे । मारी पोक मच जायगी । अतः अविनामावसे विकछ होरहे सामान्य हेतुओं करके विशेष साध्यक्षी सिद्धि करना स्वयं अपने किये कुठाराधात है । बालक भी अपने किये कांटे बखेरना नहीं चाहता है ।

न सपबर्त्यानपबर्त्ययोरायुषीरन्यतरस्यापि मतिक्षेपं कुर्वन् प्रमाणेन न षाध्यते, अनुमाने नागमेन च तस्य बाघनात् स्वेष्टभेदमसिध्या चायं प्रबाध्यते । स्वयमिष्टं हि केषांचित्पाणिनाम ल्यायुः केषांचिदींर्घे तत्र अक्यं वक्तुं । विवादापकाः माणिनोल्पायुषः श्वरीरित्वात् मसिद्धाल्पा युष्कवत् ते वा दीर्घायुषस्तत एव मसिद्धदीर्घायुष्कवदिति स्वेष्टविभागसिद्धिः मबाधिका ।

विपक्षको अन्वयदृष्टांत बनाकर व्यभिचारी हेतुओं द्वारा अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय दं आयुओंमेंसे किसी भी एक आयुके निराकरणार्थ आक्षेप कर रहा स्थूळबुद्धि पंडित प्रमाण करवं बाधित नहीं होता है, यह नहीं समझ बैठना । क्योंकि अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाणसे उस आक्षा कर्ताके मन्तव्यकी बाधा होजाती है। जब कि प्राणिदया आदि कारण बिहाबोंसे उपार्जित किये गये ति। प्रकारके अदृष्टकी सम्प्राप्ति होजानेसे देव आदि जीबोंकी आयुक्तो अनुमान द्वारा अनपवर्तनीय साधा ज चुका है तथा उसके विपरीत माने गये विशेष अदृष्टके वश हुये कर्मभूमियां जीवोंकी आयुका विष आदि द्वारा ऱ्हास हो सकना सिद्ध कर दिया गया है, ऐसी दशामें आक्षेपकारके अनुमानामार उक्त निरवद्य दो अनुमानोंसे बाधित हो जाते हैं एवं सिद्धान्तप्रन्थोंमें आयुका परिपूर्ण भोग औ कदाचित् मध्यविष्ठेद होना भी समझाया गया है। अन्तकृदशांगमें दारुण उपसर्ग सह कर कर्मक क्षय करनेवाले जीवींकी वर्णना है। अनुत्तरीपपादिकदशांगमें भी उपर्सावाले मुनियोंका वर्णन है तथा सिद्धान्तप्रन्थ अनुसार गोम्मटसारमें आयुःकर्मके संक्रमण विना नो करण स्वीकार किये हैं। '' संकमणा करणूणा णव करणा होति सन्व आऊणं ''। वैद्यक प्रन्थोंमें भी आयुःका पूर्ण भोग होना अथवा किसी जीवकी आयुः का मध्यमें हास हो जाना भी परिपुष्ट किया है। अतः आक्षेप-कारके मन्तव्यको आगमप्रमाणसे भी बाधा (करारी ठेस) प्राप्त हुई । तथा यह सर्वत्र पोछ चलानेवाल आक्षेपकार अपने अमीष्ट किये गये भेदोंकी प्रसिद्धि करके भी चोखा बाधित कर दिया जाता ً । देखिये । इस आक्षेपकारने स्वयं किन्हीं किन्हीं चीटी, मक्खी, गिडोरे, वास, पतंग, प्राणियोंकी अल्प आयु अभीष्ट की है और किन्हीं किन्हीं बृक्ष, हाथी, बलिष्ठ मनुष्य, सर्प, आदि जीवोंकी लम्बी आयु: मानी है। उस दशामें हम भी इसके ऊपर कटाक्ष करते हुये यों कह सकते हैं कि जिन जीवोंकी लम्बी आयु तुमने मानी है वे विवादप्रस्त हो रहे बुक्ष आदि प्राणि भी (पक्ष) अल्प काल्वार्ल आयुको धारते हैं ( साध्य ), शरीरधारी होनेसे ( वही तुम्हारे घरका हेतु ) अल्प आयुवाले प्रसिद्ध वास जीव या रातको दीपकके चारों ओर घूमनेवाले पतंग आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त ) अथव दूसरा अनुमान यों भी बनाया जा सकता है कि अल्प आयुवाले अभीष्ट किये गये वे खटमल मेंढकी गिडार, राजयक्मा रोगवाले प्राणी ( पक्ष ) दीर्घ आयुत्राले हैं ( साध्य ) तिस ही कारणसे अर्थात— तुम्हारा अन्यस्त ळाळित, पाळित, वही शरीरभारीपन हेतु उनमें घटित हो रहा है (हेतु ), प्रसिद्ध हो रहे दीर्घ आयुवाले वटदक्ष, हाथी, मञ्ज पुरुष, आदि जीवोंके समान ( अन्वयदछान्त )। यहां प्रशं साकी बात तो यही है कि हमने तुम्हारे अभीष्ट हो रहे हेतुसे ही तुम्हारे अभिमतसिद्धान्तका निरा- कारणा कर दिस्स है। अतिनारायण के अमीन माने जा रहे रास्त्रारको नारायण हाका प्रक्रिनारायणका खाया नार दिस्स असार है। इस प्रकार आक्रियकार हारा अपने इस हो रहे अल्प्रशास्त्राकों और वीर्ष आधुकाने जीकोंने दो निभागोंकी सिद्धि करना भी उस अन्यप्रतिनीय आयुकां जीगोंको सामवर्त आयुक्त उक्त साधानेयाको और सामवर्त अधुकाने प्राण्योंकी आयुक्तो हासरहित साधानेयाको अनुमानोंको अके प्रकार नाथ देसा है। यो अपने इस विभागको सिद्धि उसीकी प्रवाधिका हो जाती है।

सर्वद्वादिविरोधाकासी वाध्यते तथाहि-विवादापकः पुरुषः सर्वज्ञा वीतरानी कः न भवति क्षरीरित्वादन्यपुरुषवत् वेदार्यक्षो वा न भवति जैविन्यविद्यतत एव तहत् विपर्ययमसंगी वेति मत्ववस्थानस्य कर्तुं क्षणपत्वातः।

तथा वह आयोग तारका निस्तार अभिनत तो सर्वेष. व्यापक आत्मा या सत्करीसे स्वर्धप्राप्ति आहि स्वीकृतियोंसे विशेष आ जानेके कारण भी वाधित हो जाता है। उसी वातको यो स्पष्टरूपसे कहते हैं कि बौदों करते. माना गया बुद्ध या सांख्यों द्वारा माना गया कपिल अथवा और मी विनादमें पड़ा हुआ पुरुष ( पक्ष ) सर्वज्ञ अववा वीतराग नहीं है ( साध्य ) असीरधारीपना होनेसे ( हेतुः ) अन्य रथ्या पुरुष, या किसान आदि मनुष्योंके समान ( अन्वयद्दशन्त ) । तथा मीमांसक पश्चित को जैम्मिन, मत्, आदि पुरुषोंको बेदके अर्थका हाला स्मीकार करते हैं। उनके उत्पर अनुमान द्वारा यह कटाधा किया जा सकता है कि जैमिन, मन, याज्ञवल्क्य आदिक पुरुष (पक्ष ) वेदके अर्थको जानकेवाछे वहीं हैं (साध्य ) उसी शारीब्धारीपन होने हें (हेल ) प्रामीपा पुरुषोंके समान ( वही पहिका आवमदश्चल ) | नैयायिक पण्डित आकाश, काल, दिशा, आत्मा, इन द्रव्योंको व्यापक मारके हैं। उनके उत्पर भी यें। अनुसान बनाकर फेंका जा सकता है कि आत्मा या आकाश ( प्रक्ष ) क्यापक नहीं है ( साध्य ) द्रव्य होनेसे ( हेत् ) घट, पट, आदिके समान ( अन्वयद्यान्त ) एवं घट पट आदि पदार्थ अनिस नहीं हैं ( प्रतिका वाक्य ) द्रव्य होनेसे ( हेत् ) आकाराके समान ( अन्वयद्यक्षान्त )। मीमांसर्कोंके अमेतिक्षेप्तः आदि ग्रामकर्म ( पश्च ) स्त्रर्गको देनेवाले नहीं हैं ( साध्य ) कर्म होतेसे ( हेत् ) कलंजमधाण, चोरी करना, मनुष्यमध आदि कुकुर्तोके समान ( अन्त्रयदृष्टान्त )। अपना निपरीत हो जानेका भी प्रसंग प्राप्त होसा । अर्थाद--रथ्या पुरुष ( पक्ष ) सर्वज्ञ है ( साध्य ) राधिकारी होनेसे (हेत् ) बुद्ध, कपिछ आदिके समान ( अन्वयदशस्त )। तथा प्रामीण पुरुष भी शरीध्यारी होनेसे जैमिन, आदिके समान वेदार्थोंका झाता है। एवं घट, पट, आदि भी द्रव्य होनेसे आकारको समान व्यापक कर्यो नकी मात छिये जांय ! मीमांतकोंको अञ्चास अनुष्ठान भी अमिष्ठोम आदिके समान स्तर्गप्रापक हो जांग। यों आक्षेपकारके ऊपर पूर्वेक्त प्रकार असद उत्तरक्रयसे प्रज्ञानस्थात ( जाति ) किया जा सकता है । जैसे कि उन्होंने किया सीचे समझे हम जैनोंके उत्पर दो अनुसार स्वरूप अंडडाशा ( प्राप्ट ) की तोप लगा दी, थी. जो कि फुस्स डोकर रह गयी। परिणास क्रक नहीं निकला, व्यर्थमें अपयश बीचमें भोगना पड़ा ।

र्यमाणमीयाव्यवस्थानावायं बाज्यते । ध्रम्यं हि वमतुं विवादाध्यासितः प्रमाता प्रमाणसहितः ध्रारित्वात् समिपादावाकुल्यत् ममयस्य वा श्र प्रस्केता स्त एव तहिति। ततः प्रमाणममेथव्यवस्थिति क्षतिमस्योकुर्वन् सर्वकादिष्यवस्थिति स्वष्ट्रिभागसिदि वा नामवास्यस्योक्यस्य सम्प्रातः प्रमाणमभेथव्यवस्थिति क्षतिभस्यक्षित् तस्य प्रतिक्षित्वस्य सम्प्रातः प्रतिक्षेतं कर्षुपदिवि तस्य प्रतिक्षित्वस्य सम्प्रातः ।

चीथी बात यह कि यह अक्षिपकार ( पक्ष ) प्रवाण और प्रमियोंकी अन्यवस्था हो जानेसे ४ हेत् ) शून्यवाद्यीके समान ( अन्यमदृष्टान्त ) स्वयं बाधितं हो जाता है ( साब्य ) | देखिये । उसके एमान हम भी अनुमान गढ़कर यों कह सकते हैं कि जुन्हारा अभीष्ठ हो रहा किन्तु इस समय हमारे तुम्हारे मध्यवर्ती विवादमें पढा हुआ झमाणका कर्ता आत्मा (पक्ष ) क्रमाणकानसे रहित है (साध्य ) शरीरधारी होनेसे (हेतु ) सन्निपात, सर्पर्दश, अपस्मार (मृगी ) मूर्ज्ज आदिसे आङ्गुळित हो रहे मनुष्यके समान ( अन्वयदशन्त )। अथवा दूसरा अनुमान यों छीजिये कि विवादप्राप्त ( पक्ष ) घट आदि प्रमेयोंका परिज्ञापक नहीं है (साध्य) उस ही कारणीस अर्थात्—शरीरधारी होनेसे ही (हैत ) उन्हीं सिनपात आदिसे प्रसित हो रहे मनुष्योंके समान (अन्वयद्धान्त ) । इत्यदिक चाहे जितने असत् कटाक्ष उठाये जा सकते हैं। किन्तु यह अशिष्ट आचार प्रामाणिकपुरुषोंको शोभा नहीं देता है। समीचीन हेत्ओंद्रारा स्वपक्षसाधन करना या परपक्ष दूषण देना वादी, प्रतिबादियोंको शोभता है। तिस कारणसे यह आक्षेपकार यदि प्रमाण या प्रमेयोंकी व्यवस्थाको अथवा प्रमाता या श्रमेयकी व्यवस्थाको यदि किसी भी प्रमाणसे स्वीकार कर रहा है और सर्वज्ञ, बीतुरास, व्यापकपन आदिकी ज्यवस्थाको यदि अभीष्ट कर रहा है तथा अपने इन्हें तर्रवीके विमार्गकी सिद्धिको यदि अभिमत कर रहा है तो ऐसी दशोंने मही डास हीने किय का उससे न्यारा डांब होने कीय आयु:का खण्डन करनेके छिये समर्थ महीं हो सकता है। नयोंकि किसी कीवकी आग्र मध्यमें हास होने योग्य नहीं है तथा किसी किसी प्राणीकी आयु (अप्र) हास होने योग्य है। यो उस आयको प्रमाणिक प्रतीतियों द्वारा साथा जा चुका है। इसी बातको श्रीविधानन्द स्वामी गालिमी छन्दहांश सर्विक में दिखलाते हैं।

> इति सति बहिरंगे कारणे केपि मृद्यो-न मृतिमनुभवति खायुषो हान्यभावे । ज्वलितहुतभुगंतःपातिनां पंचनापि । प्रकानियसनमूनां जीनितस्यापि होः ॥ ५ ॥

इस क्रकार जीकरों कोई कोई नांदकी, देव, कोम बुवियां, आदि जीव तो अपसृत्युके विहरंग कारण, रास्त्रधात, संय, आदिके होनेसर भी अपगृत्युके अन्तरंगकीया वांशी गई आयुःकर्मकी उदी-रणा नहीं होते सन्ते अपने उपार्कित आयुःकी हानि गाहीं होनेसर हांसु (अपसृत्यु ) से मध्यमें ही मरण हो जानेका अनुभव नहीं कर वाते हैं के तथा क्याकरणाव आदिके भीतर पढ जानेवाड़ कीट, पतंग मनुष्यं, आदि जीवोंका तत्काल मध्यमें मरण होना भी देखा जाता है और जिन जीवोंके शरीर परिपूर्ण आयुक्तो भोगनेके लिये प्रतिनियत हो रहे हैं, उन जीवोंका जिश्ति रहना भी देखा जाता है। मावार्थ-इस सूत्रमें कहे गये देव आदि जीवोंकी तो अपमृत्यु होती नहीं है। किन्तु कर्मभूमिमें मी अनेक जीव ऐसे हैं जिनको कि अपमृत्यु होजानेके कातिपय कारणोंका योग मिल जानेपर भी विशिष्ट आयुक्ता संसर्गबल बना रहनेसे वे नहीं मर पाते है। तिखने घरके ऊपरेस गिर पडना, गोली लग जाना, सर्प द्वारा काटा जाना, तोपसे उडाये जानेका अवसर मिल जाना, राजाङ्गा अनुसार भूखे सिंह के पिंजरेमें प्रवेश कर जाना, भीत गिर जाना, नदीमें इब जाना, आदि अपमृत्यु कारणोंका प्रकरण मिल जानेपर भी कई पुण्यशाली जीव मरनेसे बाल बाल बच जाते हैं। अखण्ड जीवदया, परोपकार आदि विशेष कारणोंसे उपार्जित किये पुण्यविशेषका साथी विशिष्ट आयुःकर्म ही यहां बचानेवाला है। हां, तिस प्रकारका पुण्य या नारकीयोंकासा विलक्षण पाप जिनके पास नहीं है, ऐसे असंख्य जीवोंकों आयुका बाह्य कारणों द्वारा मध्यमें विष्केद भी हो सकता है।

तदेवं युक्त्यागमाभ्यामिकद्धोनपवर्त्यंतरायुर्विभागः सूक्त एव । इति द्वितीयमान्दिकम् । तिस कारण इस प्रकार सर्वज्ञ आम्नायसे चले आरहे सूत्रवचन अनुसार श्री विद्यानन्द स्वामीने युक्ति और आगमप्रमाणसे अविरुद्ध होरहा अनपवर्त्य और सापवर्त्य आयुका विभाग बहुत अच्छा ही कह दिया है । यहांतक द्वितीय अध्यायका दूसरा आन्हिक परिपूर्ण हुआ ।

### स्वं तत्त्वं लक्षणं भेदः करणं विषयो गतिः। जन्मयोनिर्वपुर्किगमहीनायुरिहोदितम्॥१॥

इस दूसरे अध्यायमें श्री उमास्त्रामी महाराजने जीवके निज तत्त्व पांच औपशमिकादिक मार्वोका निरूपण किया है, जीवके छक्षण उपयोगका कथन किया है, उस उपयोगके भेदों या जीवके संसारी, मुक्त, पृथिवीकायिक, आदि भेदोंका प्ररूपण किया है, ज्ञानके करण हो रहे द्रव्य इन्द्रिय, और भाव इन्द्रियों तथा उनके स्पर्श आदि विषयोंकी निरूपणा की है, नवीन शरीरको प्रह्रण करनेके छिये या मोक्ष जानेके छिये हो रही जीवकी गतिका वर्णन किया है। पश्चात्—संसारी जीवके तीन जन्म, नौ योनियां, पांच शरीर और तीन छिंगोंका सूत्रण करते हुये स्वामीजीने आयुका हास नहीं कर पूर्ण आयुको भोगनेवाछे जीवोंकी प्ररूपणा की है।

इति श्रीविद्यानंदि आचार्यविरिचित तस्वार्य क्ष्णेकचार्तिकाळंकारे द्वितीयो अध्यायः समाप्तः ॥२॥ इस प्रकार सर्वज्ञकल्प श्री जयास्वामी महाराज विरिचित तत्वार्यसूत्रोंके ऊपर श्री विद्यानन्दि आचार्य महाराज द्वारा विशिष्टक्रपते रचे गये खोकवार्तिकाळंकार नामक महान प्रथमें द्सरा अध्याय समाप्त हुआ ।

# द्वितीयाध्यायकी विषयसूची.

इस द्वितीय अध्यायके प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही श्री विद्यानन्द स्वामीने औपरामिक आदि मार्थोंको प्रक्ति और दृष्टान्तके बक्से बढिया साथ दिया है। अत्यन्तिय कर्मोंके उद्यक्तो स्पष्ट समझा दिया है। उक्त भाव जीवके ही हो सकते हैं। प्रधान आदिके नहीं। मोक्षमें भी कुछ भाव पाये जाते हैं। पुनः उक्षणके ऊपर अच्छा विचार करते हुये अर्थिकिया, साहस्य, वैसाहस्य, को साधकर आत्माको अनादि, अनन्त, सिद्ध कर दिया है। चार्थाकके मतका प्रत्याद्ध्यान कर जीवका तदात्मक उक्षण उपयोग ही करना पर्याप्त बताया है। नाना जीव अपेक्षा बारह प्रकारके उपयोगों अथवा एक जीव अपेक्षा उनमेंसे किसी एक उपयोगको उक्षण बनाते समय उक्ष्य जीव कितना समझा जाय, इस बातका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण कर दिया है। जीवके मेदोंका निरूपण करते समय एकत्व प्रवादका निराकरण करते हुये संसारी, असंसारी, तथा अयोगकेवळी सभी जीवोंका संग्रह कर लिया गया है। आत्माके व्यापकलका खण्डन कर एकेन्द्रिय जीवोंको युक्ति और आगमसे साथ दिया है। ज्ञानका अत्यन्त अपकर्ष भस्म आदि जड पदार्योमें नहीं, किन्तु एकेन्द्रिय जीवोंमें है। पांच इन्द्रियोंके मेद, प्रभेदको युक्तिपूर्वक साधते हुये छटे नोइन्द्रिय मनके भी उसी प्रकार भेद हो रहे बतला दिये हैं। तत्पश्चात्—इन्द्रियोंके विषय दिखलानेमें नवीनताको छाते हुये इन्द्रियोंके स्वामी जीवोंकी युक्तिपूर्ण सिद्धि की है। संज्ञी जीवोंकी संज्ञाका विचार कर दृष्ट्यमनको साधा है। प्रथम आन्हिकको समाप्त करते हुये औपरामिक आदि भावोंमें नयभंगी जोड दी है।

इसके आगे द्वितीय आन्हिकमें आत्माके व्यापकत्वका निराकरण कर आत्माका यहां वहां गमन करना पृष्ट कर दिया है। ईश्वरके झानकी नित्यता, अनित्यतापर चोखा विचार चलाया है। जीवोंकी आकाशप्रदेश श्रेणी अनुसार गतिके छह प्रकार प्रक्रम बताकर लोकके चोकोर संस्थान या गोल रचनापर आक्षेप करते हुये अनाहारक अवस्था बतायी है। जन्म या योनिके कारण होरहे कर्मोकी विचित्रतापर प्रकाश डालते हुये पुनः गर्भ, उपपाद, सम्मूर्छन जन्मके अधिकारी जीवोंके साथ उद्देश्य दलमें एवकार लगाकार अनिष्टकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। शरीरोंकी रचनाका कारण कार्मणशरीरको बताते हुये नामकर्मके वैचित्र्य की प्रशंसा की गयी है। शरीरोंकी रचनाका कारण कार्मणशरीरको बताते हुये मी सूक्ष्म संस्थानको युक्तियोंसे साथ कर कर्मको पौद्रलिक बतला दिया है। बौद्ध, वैशेषिक, चार्वाकोंके कल्पित शरीरोंका निरास कर पांच ही शरीर नियत किये गये हैं। धाराप्रवाह रूपसे तैजस, कार्मण,का अनादिसम्बन्ध प्रसाध कर एक समयमें पांचों शरीरोंका असम्भव बता दिया गया है। तैजस शरीरके निरुप-भोगपनके स्वष्ट कथनकी आवश्यकता नहीं समझी गयी है। शरीरोंको विधेय दलमें डाल कर गर्भ, संमूर्छनज आदि उद्देश्य दलोंको लक्षण सरीखा बनाते हुये लक्षणके फल इतर व्यावृत्ति होनेको अच्छा घटा दिया है। शरीरोंका परस्पर मेद सिद्ध करनेके लिये निर्दोष हेतु दिये गये हैं। आहारक

शरीरको अन्य शरीरोंसे मिन्न साधनेमें चार हेतु सर्वीग सुन्दर मनोहर बतलाये हैं। शरीरोंका प्रतिपादन करनेबाले चौदह सूत्रोंका विवरण कर जीवोंकी लिंगन्यवस्थाको अनुमानों द्वारा सुदृढ कर दिया है। परिशेषमें जाकर हास होने योग्य और नहीं हास होने योग्य आयुष्यवाले जीवोंका बहुत बढिया प्रति-पादन कर मुमुक्षु श्रोताओंको परितृप्त कर दिया है। अन्य वादियोंके ऊपर मीठा कटाक्ष करते हुये आयुके अपवर्त और अनपर्वतको साध कर मालिनी छन्दः द्वारा दितीय अध्यायके विवरणको जयहार (जीतकी माला) पहना दिया है।

जीवमणदा ग्रुनिभिर्दितीयाऽध्याये स्वतत्त्वेन्द्रियगोचरेनाः । गत्युद्धवौ योनिभरीरिकङ्गाऽन्हासायुषश्चोत्कव्विता यथार्षे ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री विद्यानन्द स्वामीकृत महाशास श्री तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिककी आगरा मंडलान्तर्गत चावलीप्रामनिवासी न्यायाचार्य, तर्करत्न, न्यायदिवाकर, सिद्धान्तमहोदधि, स्याद्वादवारिधिपदवी-विभूषित माणिकचन्द्र कृत तत्त्वार्थिचिन्तामणि नामक हिन्दीभाषाटीकामें दितीय अध्याय परिपूर्ण हुआ ।

---×\*\*×----

# अय तृतीयोऽघ्यायः

#### -022020-

### चतुरस्रधनाकारा स्रोकस्यं वी विक्रोकयन् । इस्तामलकवल्लोकं श्री सुपार्श्वः श्रियं कियात् ॥ १॥

श्री उमास्तामी महाराजने प्रथम अन्यायमें जीवके स्वामाविक अनुजीवी गुण हो रहे सम्यादर्शन, और चारित्र या जीवके पार्श्ववर्ती आनुवंगिक तस्त्व तथा ज्ञान और नयोंका निरूपण किया है। दूसरे अध्यायमें विशेष भेददृष्टि अनुसार जीवके अन्तरंग आधार क्षेत्र स्वतस्त्व, उपयोग, आदिका वर्णन करते हुये जीवके बहिरंग क्षेत्रकी ओर छक्ष्य देकर योनि, जन्म, शरीरोंका प्रतिपादन किया है। अब तीसरे अध्यायमें भेददृष्टिको बढाते हुये जीवके उपचरित असद्भूतव्यवहारनय अनुसार बहिरंग क्षेत्रके भी बहिरंग हो रहे स्थानविशेषोंका निर्णय कराते हुये अछोकस्थ, छोकाकाशके अघोळोक और मध्य छोककी प्रतिपत्ति शिष्योंको करानेके छिये श्री उमास्वामी महाराज तृतीय अध्यायको रचते हैं।

मोक्षमार्ग हो रहे सम्यग्दर्शनके विषय जीवादि पदार्थोंकी विशेषतया विश्वति करनेके छिये यह लोकालोकका विभाग समझ लेना अत्यपयोगी है। अनुप्रेक्षा चितन या प्यान करनेमें भी इसकी आवस्यकता है। जगतके सम्पूर्ण पदार्थीनें सबसे अधिक लम्बा, चौडा, मोटा, द्रव्य आकाश है। " सम्बायासमणंतं " अनन्तानन्त नामकी संख्याके मध्य मेदोंमें सर्वेब्रद्ध और गणित शास द्वारा हमको निर्णीत एक विशेष संख्या अनन्तानन्त है। उस अनन्तानन्त परिमाणवाले प्रदेशों बराबर लम्बा और उतना ही चौडा तथा ठीक उतना ही मोटा घन चौकोर आकाश द्रव्य है। आकाशको यदि गोल माना जायगा तो सब ओर आकाश अनन्तानन्त प्रदेशवाला है, इस सिद्धान्तसे विरोध पड जायगा । गोल वस्तके मध्यभाग पेटको पूर्वसे पश्चिम या उत्तरसे दक्षिण नापा जाय तो उसके प्रदेश ठीक उतने ही बराबर बैठ जायंगे । किन्तु गोल वस्तुकी बगल्से ऊपर नीचेका देश नापा जायगा तो प्रदेशोंकी संख्या उत्तरोत्तर घटती जायगी । यहांतक कि गुरुईको अप्रमागपर पहुँचते ह्रये तो अत्यल्प प्रदेशों या एक प्रदेशकी ही उचाई, निचाई, रह जायगी । जब कि आकाश सब ओरसे ठीक उतने ही यानी न्यून अधिक नहीं अनन्तानन्त प्रदेशोंका धारी है तो तिकोना, पचकोना, गोल या लंबोतरा, चौकोर आदि संस्थान उसके कथमपि नहीं हो सकते हैं। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती बिरचित त्रिळोकसारमें द्विरूप वर्गधाराका निरूपण करते समय '' तिविद्व जहण्णाणंतं वगासळाद-लिखेरी सगादिपदं, जीवो पोम्गल कालो सेढी आगास तपदरम् '' इस गाथा अनुसार जघन्य अनन्तसे अनन्त स्थान आगे चळकर दिरूपवर्गधारामें जीव राशिकी अक्षय अनन्तानन्त परिमाण संख्या आई बताई है। उससे अनन्तानन्त गुणी पहल पशि है। पहलोंसे भी अनन्तनन्त गुणे व्यवहार कालके समब

समझाये हैं। काल्समयोंसे अनन्त स्थान चलकीर द्विरूपवर्गधारामें एक प्रदेश लंबी और एक प्रदेश चीडी तथा अनन्तानन्त राज् छन्बी पूर्व ऑकोशकी सूँची श्रेणी औई बताई है। इसका एक बार वर्ग करने पर दिरूप वर्ग धाराके अगळे मैदेमें उतना अनेन्तानन्त प्रदेश छंबा और उतना ही चौडा प्रत-राकाश गिना गया है। जब कि सूची आंकाश, प्रतर आकाशको कंठोक्त कह दिया है तो " सन्ता-यासमणंतं " सब ओरसे आकाश समानरूपसे अनन्तानन्त प्रदेशों वाळा है, इस नियमसे उतना अन-न्तानन्त प्रदेशी मोठा वनस्वरूप भी स्वतः सिद्ध होजाता है। फिर भी स्पष्ट प्रतिपत्ति करानेके अर्थ सिद्धांतचक्रवर्तीने क्रेपा कर दिस्सप धनधारामें " पञ्चधणं विदेगुळजगसेढी छोयपदर जीवधणं, तत्तो पढमं मूछं सन्यागार्सं च जाणेजी '' इस गाथा अनुसार जीवराशिके घनसे अनन्त स्थान चलकर सम्पर्ण आकाराकी छंबाई, चौडाई, मोटाई, की धनस्वरूप स्पष्ट कह दिया है। तथा आचारसारके ततीय अध्यायमें चौबीसवां स्ठोक " न्योमामूर्त स्थितं नित्यं, चतुरस्रं समं धनं, भावावगाहहेतुश्चानन्तानंतं प्रदेशकम " यो है। श्री वीरनन्दि सिद्धातचक्रवर्तीने अनन्तानन्त प्रदेशवाले आकाशको सब ओर समान होरहा धन चौकोर बताया है। बर्फीके समान धनचतुरस अलोकाकाशके ठीक बीचमें लोकाकाश व्यवस्थित है, जो कि दक्षिण, उत्तरमें सर्वेत्र सात राजू है और पूर्व, पश्चिम, दिशामें नीचे सात राजू तथा कमसे घटता हुआ सात राजू ऊपर आकर एक राजू रह गया है। पुनः कमसे बढता हुआ क्षांडे दश राजू ऊपर पांच राजू फैलकर और चौदह राजू ऊपर क्रमसे घटता हुआ एक राजू रह गया है। एक राजू आकाशमें असंख्याते योजन समा जाते हैं। जगच्छेणीका सातवां भाग राजू है। अद्धा-पल्यके अर्धच्छेदोंके असंख्यातवें भाग प्रमाण घनांगुलोंका परस्पर गुणाकार करनेपर श्रेणी नामकी संद्या उपजती है। अद्वापल्यके अर्थच्छेदप्रमाण अद्वापल्योंको परस्पर गुणा करनेपर सूच्यंगुल नपता है। यानी एक प्रदेश लंबे, चौडे और आठ पडे जीके बरावर अंगुळ ऊंचे आकाशमें असंख्यात पल्योंके समयोंसे भी अधिक परमाण बराबर प्रदेश हैं। सच्यंग्रहके प्रतरको प्रतरांग्रह और घनको घनां-गुरु कहते हैं। घनांगुरुसे पांचसी गुणा प्रमाणांगुरु होता है, जो कि अवैसर्पिणीके चतुर्थ कारुकी **आदिमें हुये चक्रवर्तीके पांचसी धनुष छंबे शरीरका अंगुल है। पांच अंगुलियोंमें अंगूठाकी चोंडाई** मानी गयी है। अकृत्रिम पदार्थ छोक, सुमेरु, सूर्य, कुळाचळ, द्वीप, समुद्र, भूमियां, स्वर्गविमान, बातवल्य, आदिकोंकी नाप बंडे योजनोंसे की गयी है. जो कि छोटे योजनसे पांच सी गणा अधिक है। लोकाकाशका ठीक बीच तो सुदर्शन मेरुकी जड़के मध्यमें विराजे हुये आठ प्रदेश हैं। एक. तीन, पांच, सात, आदि संख्याओंको विषम संख्या कहते हैं और दो, चार, छह, आठ, आदि केवल हान पर्यन्त दो से दो दो बंढती हुई संख्याको समधारामें कहा गया है। जब कि राजूके प्रदेश सम-भारामें पड़े हुये हैं तो चौदह राजू ठंबे या सात राजू चौड़े और मध्य छोकमें एक राजू मोटे छोका-काशका ठीक बीच आठ निकलता है, अर्थात्—ऊपरसे नीचे और उत्तरसे दक्षिण तथा पूर्वसे पश्चिम तक जिस पदार्थके प्रदेश समसंख्यायाले हैं ऐसे घन संख्याबान पदार्थीका बीच आठ बैठता है।

समसंख्यावाळी पंक्तिका बीच एक निकाळना गगनकुसुमके समान असम्भव है । सुदर्शः मेरुकी जडके पासबाळी चित्रामें चार और नीचळी वजामें चार यों गोस्तन या गोस्तनी दार ( बंडा अंगूर ) के आकारको धारनेवाले आठ प्रदेश हैं । पुद्रल परमाणुसे या काल पर माणुसे नापे गये अखण्ड आकाशके कल्पित अंशको प्रदेश कहते हैं । जैसे आकाः जितना ही छम्बा उतना ही चौडा और उतना ही ऊंचा है, उसी प्रकार परमाणु भी जितन ही लम्बा है, उतना ही चौडा और उतना ही ऊंचा है। उससे छोटा टुकडा न हुआ, न है, न होगा अतः परमाणु अविभागी कहा जाता है । परमाणुमें सामान्य गुण प्रदेशक्त अवस्य है, उस गुणके हा परमाणुका आकार लम्बाई, चौडाई, मोटाई, कुछ अवस्य होनी चाहिये। गेंदके समान परमाणुको गोः माननेपर तो छोकाकाशमें काछाणुंओंके मध्य पोछ रह जायगी।गोछ पदार्थोंका ढेर कहीं निरन्तर ठसा ठस नहीं भरा जा सकता है। छोकमें ठसाठस भरे हुये धर्म, अधर्म, या आकाशकी ठीक ठीक पूर्व नाप सबसे छोटे गोल दुकडेसे नहीं हो सकती है। अतः परमाणु वर्षीके समान चौकोर मान लेन चाहिये । परमाणुमें पुनः कोई अंश नहीं है और अंशोंसे वह बनाया गया भी नहीं है । अतः निरंद है। किन्तु पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्च, अघः, छहों दिशाओंसे छह परमाणु आकर मध्यवत एक परमाणुसे चिपट जाते हैं । इस कारण परमाणु बढंश भी हैं । द्वयणुक बनते समय छह पैछवारं एक परमाणुकी एक ओरकी भीतसे दूसरे परमाणुकी एक ओरकी भीत भिड जाती है, तब दो प्रदेश वाळा ब्यणुक बन जाता है। यद्यपि एक परमाणुमें अनन्त परमाणु भी सर्वाङ्गीण संयुक्त या बर होकर एक प्रदेशमें विराज रहे हैं। किन्तु लम्बे, चौडे, घडे, पुस्तक, पर्वत, आदि अवयवी पदार्थीकं बनानेके छिये परमाणुके साथ दूसरे परमाणुका एक ओरकी भींतसे ही परस्पर संसर्ग मानने पडेंगे अन्यथा सुमेरु और सरसोंका आकार समान हो जायगा। यदि गोल परमाणुसे छह गोल परमाणु चारं ओरसे चिपट बैठेंगे तो बीचमें पोल अवस्य रह जायगी। रबडके सदश परमाणु घटता बढता नहीं है अतः परमाणुको बर्फीके समान छह पैछत्राला मानो । " अत्तादि अत्तमञ्ज्ञं अत्तत्तं णेव इंदिये गेउजम् जद्दव्यं अविभागी तं परमाणुं विआणेहि '' का भी यही अभिप्राय निकालना चाहिये । सिद्धान्त चक्र वर्ती श्री वीरनन्दी आचार्यने आचारसारके तृतीय अधिकार सम्बन्धी तेरहवें क्लोकमें परमाणुको स्पा रूपसे चौकोर अमीष्ट किया है। " अणुश्च पुद्रलोऽभेदावयवः प्रचयशक्तितः, कायश्च स्कन्धभेदो त्थश्चतुरस्रस्वतीन्द्रियः ''। परमाणु सूक्ष्म है उससे भी अत्यन्त सूक्ष्म आकाश है। यह जो दिन या रातमे उजेला या अंधेरा दीखता है वह तो पुद्रलकी पर्याय है। सूक्ष्म आकाशको तो सर्वावधिवानी भी नहीं देख सकता है । केवळ्ज्ञान या आगमप्रमाणसे आकाश जाना जाता है । सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, पदार्थींगे सर्वज्ञधारा प्राप्त आगम ही प्रमाण है। जो कुछ युक्तियां थोडी बहुत मिल जांय उनको सेंत मेंतर्क समझ कर छट छो । अधिकके लिये हाथ मत बढाओ । आगमप्रमाण सम्पूर्ण प्रमाणोंका शिरोम्चण है । चार वर्फियोंके ऊपर दूसरी चार वर्फियोंको धर देनेपर जो दशा (सूरत ) वन जाती है

वहीं कोकके मन्यवर्ती आठ प्रदेशोंकी आकृति (हुलिया) है। उसको नवयुवती गायके स्तर्नोंकी या बडे अंगूरकी उपमा देना तमी तक शोभता है, जबतक कि दार्छन्त समझमें नहीं आवे । दार्छन्तके समझ केनपर तो वे उपमार्ये देना अधिक महत्वका नहीं समझा जाता है। आचार्य महाराजने एक स्थानपर लिखा है कि अन्धे पुरुषके सन्मुख क्षीरान ( खीर ) की शुक्छताको बतानेके क्रिये बगुलाकी उपमा देना और बगुलाका ज्ञान करानेके लिये अपने मुद्धे हुये हाथको अन्धेके हाथमें पकडा कर समझाना, किंचित् काल ही शोभा देता है। एक बात यहां यह भी समझ लेनी चाहिये कि लोकाकाशकी दक्षिण, उत्तरनाली मीतें एकदम सीधी चौदह राजू ऊंची है। अतः दक्षिण, उत्तर, कालाणुओं या धर्मद्रव्य अथवा बातवलयकी मित्तियां चिकनी सपाट हो रहीं सीधी हैं, खरदरी नहीं हैं । किन्तु पूर्व, पश्चिममें क्रमसे घटना या बढ़ना होनेसे चिकनी भीत नहीं हो पायी है। छह पैछदार विना कटी ईटोंसे यदि घटती बढ़ती हुई भित्ति बनायी जाती है तो उसमें ईंटोंके कोंब निकले रहते हैं। उसी प्रकार पूर्व. पश्चिम लोकाकारामें परमाणुओंके कोंन निकल रहे समझ छेने चाहिये। लोकमें ठसाठस भरी हुई कालाणुओंकी रचनाका भी यही कम है। लोक बराबर लम्बे, चौडे, ऊंचे, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका आकार भी लोकके नीचे ऊपर और दक्षिण उत्तरमें सपाट चिकना सरीखा है। किन्तु पूर्व, पश्चिमकी घटाई बढाईमें खरदरे धर्मद्रव्यके भी जीनाकी सीढियोंके समान असंख्याते पैछ निकले ह्रये हैं। पुद्रल परमाणु, कालाणु, और आकाराके कल्पित प्रदेशकी रचना छह पैलवाली बर्फीके समान एकसी है। जगत्में सबसे छोटा आकार परमाणुका है, जो एक प्रदेशी है और सबसे बडा आकार अनन्तानन्त ब्रदेशी आकाशका है। दोनोंका सांचा एकसा है। सुदर्शन मेरुका भूमिभे गढा हुआ एक हजार योजन निचला भाग चित्रा पृथिवीमें ही गिना जाता है। अतः सात राजू लम्बी एक राजू चौडी हजार योजन गहरी चित्रा प्रथिवीके सबसे निचले भागमें ठीक बीचके चार प्रदेश और बजाके सबसे जपरले भागमें ठीक बीचके चार प्रदेश यों मिलाकर आठ प्रदेश लोकका मध्यभाग है। चौदह राज ऊंचे लोकको ठीक बीचसे काट देनेपर चित्राके निचले चार प्रदेशोंके समतलसे प्रारम्भ कर ऊपरले सात राजू ऊंचे या एकसी सेंताळीस घन राजू भागको ऊर्घळोक कहते हैं। तथा बजासम्बन्धी उपरिम चार प्रदेशोंके समतल्से प्रारम्भ कर सात राजू नीचेका या एकसी छियानवै वन राजवाला भाग अधोलोक समझा जाता है। मध्यलोकके लिये कुछ भी स्थान नहीं बचता है तो भी मध्यलोकसे या मध्यलोकके मध्यम पैतालीस लाख लम्बे चौडे ढाई द्वीपरे मोक्षमार्ग चालु है। विकलत्रय या असंज्ञी. संबी, तिर्येच भी मध्यछोकमें ही पाये जाते हैं। अतः ऊर्धछोकके निचछे भागमेंसे सात राजू छम्बे एक राज चौडे और सुमेरुकी उच्चता बराबर एक छाख चाछीस योजन ऊंचे माग हो ( कर्ज ) **ळेकर मध्य**ळोक मान लिया गया है। श्री उमास्त्रामी महाराज इस तृतीय अध्यायमें अधोळोक और मध्यक्रीकका वर्णन करेंगे । तहां प्रथम ही अघोलोकका वर्णन करनेके लिये उपक्रमकारक सत्रको रचते हैं।

## रत्तरार्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनांबुवाताकाराप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा, ये नीचे नीचे सात भूमियां हैं, जो कि सातों ही घनवातके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। घनवात तो अञ्चुवातपर स्थित हो रहा है और तनुवातके ऊपर अम्बुवात आधेय है, तनुवातका आधार आकाश है, जो कि महापरिमाणवाला होनेसे स्वमें ही प्रतिष्ठित है। आकाशका आलम्बन कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। अर्थात--जहां अस्मदादिक मनुष्य निवास करते हैं वह रत्नप्रभाका ऊपरला भाग है। यहांसे प्रारम्भ कर दक्षिण, उत्तर, सात राजू लम्बी, एक राजू चौडी और एक लाख अस्सी हजार योजन नीचेकी ओर मोटी रतप्रभा है। चूंकि रतप्रभाका ऊपरला एक हजार योजन मोटा चित्राभाग ऊर्घ्यलोकके सात राजूओंमें वट चुका है। अश्रोलोकके सात राजू रत्नप्रभाके वन्नाभागसे प्रारन्भ किये गये हैं। तथा अधोलोकके उपरले एक राजूमें सबसे उपर रत्नप्रमा और सबसे नीचे शर्कराप्रभा है। अतः रत्नप्रभासे दो लाख ग्यारह हजार योजन कमती एक राजू उत्तर कर प्रारम्भ हुयी दक्षिण उत्तर सात राजू लम्बी, पूर्वपश्चिम एक सही छह बटे सात राजू चौडी और बतीस हजार योजन मोटी शर्कराप्रभा भूमि है । शर्करा प्रभासे अहाईस हजार योजन कमती एक राजू नीचे उतर कर मिळ गयी सात राजू ळम्बी दो सही पांच बटे सात राजू चौडी और अड्डाईस हजार योजन मोटी बालूका प्रभा अनादि निधन बनी दुई है। वालुका प्रमासे चौवीस हजार योजन कमती एक राजू नीचे उत्तरकर पा गयी दक्षिण उत्तर सात राजू लम्बी और पूर्व पश्चिम तीन सही चार बटे सात राजू चौडी तथा चौबीस हजार योजन मोटी पंकप्रभा विद्यमान है । पंकप्रभासे बीस हजार योजन कमती एक राजू नीचे उतर कर छग गयी सात राज लम्बी चार सही तीन बढे सात राज चौडी और बीस हजार योजन मोटी धूमप्रभा है। धमप्रभासे सोल्ड हजार कमती एक राज्रुनीचे उतरकर प्राप्त होगयी सात राज्रू लम्बी पांच सही दो बटे सात राजू चौडी और सोलह हजार योजन मोटी तमःप्रमा भूमि जम रही है । तमःप्रमासे आठ हजार योजन कम एक राजू नीचे उत्तरकर छू छी गयी सात राजू छम्बी छह सही एक बटे सात राजू पूर्व पश्चिम चौडी और उर्ध्व अधः आठ इजार योजन मोटी महातमःप्रभा है। सातों भूमियोंमेंसे प्रत्येकके निचे और छोकके तरुमें साठ साठ हजार योजन मोटा वातवलय है। ऊपर ऊर्च्बलेकों सात राज् लम्बी एक राज् पूर्व पश्चिम चौडी आठ योजन मोटी ईष-त्प्रागुभारा नामक आठवीं भूमिक नीचे भी साठ इजार योजन मोटा वातवलय है। श्री त्रिलोकसारमें "जोयण बीससहस्तं बहुलं वलयत्तयाण पत्तेयं मूळोयत्रेले पासे हेहादो जाव रज्जुति" इस गाथा अनुसार उक्त अभिप्रायका निरूपण किया है। छोक या आठ भूमियों के नीचे वीस हजार योजन मोठा घनवात. उसके निचे वीस सहस्र योजन मोटा अंबुवात है अध्युवातको नीचे वीस हजार योजन मोटा तनुवात है, आकाश तो ऊपर नीचे अगल बगल सर्वत्र ही है। लोकके पूर्व, पश्चिम या दक्षिण उत्तर अथवा ऊपर सिएमें जो वातवलय लिपट रहा है, उसमें नीचे बनवात, उसके ऊपर अध्युवात और उसके ऊपर तनुवात है। लोकके सबसे ऊपरले भागमें विराजमान अनन्तानन्त सिद्धपरमेष्ठी भगवान् तनुवातवल्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। जिन सम्पूर्ण सिद्धपरमेष्ठी परमात्माओं के सिरके ऊपरले भागका अलोकाकाशको साथ संयोग हो रहा है। इवर उधर या नीचे तनुवात संयुक्त है। उन शुद्ध आत्माओं को में त्रियोगसे नमस्कार करता हूं। इन तीनों वातवल्यों में वायु कायके असंख्याते जीव हैं। कचित्, कदाचित, जीवरहित जडनवायु भी फैली हुई है। यों सूत्रकारने अधोलोककी सामान्य रचनाको समझा दिया है।

# रत्नादीनामितरेतरयोगे द्वंदः, प्रभाशद्धस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिश्चिनिवत् । साइचर्यात्ता-

रत्न और शर्करा और वालुका और पंक्र और भूम और तम और महातमः इन सात पदोंका परस्पर जोड करते हुये इतरेतरयोग नामक इन्द्र समासमें '' रत्नत्रशराबाङ्गकापंकधूमतमःमहातमांसि '' यों द्वन्द्व समासवाला पद बना लिया जाता है। द्वन्द्व समासके अन्तमें पडे ह्वये प्रभा शद्वकी रतन,शर्करा, आदि प्रत्येकमें पूर्णरूपते समाति कर देनी चाहिये। जैसे किसीने कहा कि देवदत्त, जिनदत्त, गुरुदत्त, इनको भोजन करा दो। यहां भोजन क्रियाका प्रत्येक तीनोंमें अन्वय कर दिया जाता है। रत्नप्रमा, रार्करा-प्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, घूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा, ये सात भूमियोंके नाम उनकी कांतिका अवलम्ब लेकर अनादिसे चले आ रहे हैं । १ घर्मा २ वंशा ३ मेघा ४ अंजना ५ अरिष्टा ६ मधनी ७ माननी ये सात नाम भी सात नर तों ती अपेक्षा प्रसिद्ध हो रहे हैं। यष्टि ( उकडीके ) समान सहचरपनेसे उन रत्नशर्करा, आदिकी प्रभाओं अनुसार रत्नप्रभा आदि शह्यों द्वारा वाच्यपनेकी सिद्धि कर दी जाती है। अर्थात--जैसे लाक्षणिक यहिपद द्वारा यहिके सहचरपनेसे यहिधर देव-दत्तको भी लकडी कह दिया जाता है। या आम बेचनेवालेको आमका साहित्य होनेसे ओ आम या तांगायाळेको तांगा कहकर प्रकार लिया जाता है। उसी प्रकार चित्र, रतन, वजरतन, वैडूर्यमणि, छोहभणि, गोमेद, प्रवाल (मूंगा ) आदि रत्नोंकी सी प्रभाका सनिधान होनेसे पहिली भूमि रत्न-प्रभा मानी गरी है। इस भारत वर्षमें भी किसी देशमें ठाल, कहीं काली किनेत् पीली किसी स्थलपर अधिक काळी आदि कई रंगोंकी भूमियां शोभ रही हैं। ककरीकी प्रभा समान प्रभासे युक्त होरही भूमि शर्कराप्रभा है। वाळके समान कान्तिको धारनेवाळी वाळकाप्रभा है। की चकीसी हातिको पंकप्रभा धार रही है। भूमप्रभामें भूमकी सी छन्नि है। तमःप्रभाकी कान्ति अन्धकारके से रंगको छिये हुने है। गाढ अन्धकारकीसी शोभाको धार रही महातमःप्रभा है । अन्धकार या प्रकाशके साथ दुःखका, सुस्रका, कोई अन्वय व्यतिरेक नहीं है। अन्यकारमें भी निशेष आनन्द आ सकता है। काचित् प्रकाशमें भी जीव

वेदनाके मारे छट पटाता रहता है। अंघरेमें कई जीव क्रूएमें गिर पड़ते हैं, तो दीपककी ज्योतिमें भी अनेक पतंग कीट अपने प्राणों को होम देते हैं। आचार्य महाराजने उन भूमियों में जैसी कांति है, उसका प्रतिपादन कर दिया है। सभी पीद्रलिक पदार्थी से मन्द या तीव कांति अवश्य निकलती रहती है। यानी इनका निमित्त पाकर वड़ां भरे हुये पुद्रलस्कन्थों का वैसा चमकीला परिणाम हो जाता है। यदि घरकी पोलमेंसे पुद्रलोंको कथमपि निकाल दिया जाय तो प्रकाशक द्वारा प्रकाश नहीं हो सकेगा। क्योंकि वे पुद्रल ही तो प्रकाशित होकर चमकते थे। सुधा (कर्ल्ड्स) पुते हुये कमरे और काले हो रहे रसोई घरमें रात या दिनको बैठकर उनकी भूरी, काली, कान्तिओंका स्पष्ट अनुमव हो जाता है। अतः स्वकीय प्रभा अनुसार भूमियोंके सात नामोंकी योजना हो रही है।

तमःमभेति विरुद्धमिति चेन्न, तत्स्वात्पप्रभोपपत्तेः । अनादिपारिणामिकसंज्ञानिर्देशाः देष्टगोपवत् रत्नमभादिसंज्ञाः प्रत्येतव्याः । रूढिश्रद्धानामगमकत्वमवयवार्याभावादिति चेन्न, सूत्रस्य प्रतिपादनोपायत्वात्तेषामपि गमकत्वोपपत्तेः ।

यहां वैशेषिककी शंका है कि तमः तो अन्धकार है और प्रभा प्रकाश है, अन्धकारके होनेपर प्रमा नहीं और प्रभाके होनेपर अन्धकार नहीं सम्भवता है। यों विरोध हो जानेसे छठी प्रथिवीका नाम तमःप्रभा यों कहना विरुद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्येंकि उन अन्य कार या महा अन्धकारके अपनी अपनी निजयभाकी सिद्धि हो रही है । केन्नल धीली, पीली, चमकको ही प्रभा नहीं कहते हैं । किन्तु सम्पूर्ण पौद्रलिक पदार्थोंमें अपनी अपनी काली, घूसरी, आदि प्रभारे प्रसिद्ध हो रही हैं। तभी तो इस काले मनुष्यकी छित्र चिक्रनी काली है। और अमुकके काले शरीरकी छोन रूखी है। काली लोहितमणि या डामर अथवा वर्षाकालकी अमावस्या रात्रिके अन्धकारमें प्रम दृष्टिगोचर हो रही है. अन्धकार तेजो भाव पदार्थ नहीं किन्त पौद्रिक है। अन्धकारकी छविसे कति पय पढार्थ काले हो जाते हैं। अन्य भी कई नवीन नवीन परिणाम अन्धकार करके साध्य हैं। तसवी उतारनेवालोंसे प्रक्रियेगा । दूसरी बात यह है कि अनादि कालसे तिस प्रकारके हो रहे परिणामक अवसम्ब पाकर इन भूमियोंका रत्नप्रभा आदि नाम निर्देश हो रहा है, जैसे कि किसी बाह्मण य क्षत्रिय धार्मिक पुरुषने पुत्रका नाम अपना अभीष्ट गोप या गोपाल रख लिया। इसमें शद्धने अर्थ माने गये गायको पाछनेकी अपेका नहीं है अथवा चौमासेके प्रारम्भमें छाछ मखमछी कीडोंको इन्द्रगोध या रामकी गुडिया कह देते हैं, सीधर्म आदि इन्होंने उन कीटोंको विशेष रूपसे पाला नहीं है। हां, कोई कों मनुष्य मेघको भी इन्द्र कह देते हैं | मेघके वरसनेपर वे मखमछी कीडे सम्पूर्छन उपज जाते हैं । केवर इतना ही निमित्त पाकर उन कीटों हा इन्द्रगोप नाम कह दिया जाता है। इसी प्रकार रत्नप्रभा शर्कराप्रभा, आदि संज्ञायें समझ लेनी चाहिये। यहां किशीका आक्षेप है कि यों रत्नप्रभा आदि रूदि शद्धोंको पदके अवयव बन रहे प्रकृति, प्रत्ययके नियत अर्थीकी घटना नहीं होनेसे भेदकी सिद्धिः गमकपना नहीं है। अर्थात - जैसे पाचक, पाठक, पाठक, पादप, पानक, आदि शहों के अवयवोंक अर्थ चित्र हो जानेसे अर्थमेदकी सिद्धि हो जाती है, उस प्रकार रूढि शद्धों करके वान्यार्थोंका मेद नहीं सब पाता है। आवार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सूत्र केवल प्रतिपित्त करानेका उपाय है न्याहवान कर देनेसे या समुदाय शक्ति द्वारा उन रूढि शद्धोंको भी पदार्थोंके भेदका ज्ञापक-पना वन जाता है। इधर उभरसे अन्य पदार्थोंका उपस्कार कर लघुसूत्र द्वारा भी महन्त् अर्थकी प्रति-पत्ति हो जाती है।

भूमिश्रहणमधिकरणविशेषमतिपत्त्यर्थे, घनादिश्रहणं तदालंबनमिर्कानार्थेः समग्रहणियक् त्राच्छारणार्थे । सामीष्याभात्रादघोऽत्र इति द्वित्वानुपपत्तिरिति चेत्रः, अंतरस्याविवक्षितत्वात् ।

इस सुत्रमें भूमिका प्रद्रुण तो अधिकरण विशेषकी प्रतिपत्तिके लिये हैं। अर्थात — जैसे स्वर्ग-पटल भूमिका आश्रय नहीं करके जहांके तहां न्यवस्थित हो रहे हैं, उस प्रकार नारकी जीवोंके स्थान नहीं है, नारिक्रयों के आवास तो भूमिका आश्रय लेकर ही प्रतिष्ठित हैं। इस सूत्रमें घनाम्ब आदिका प्रहण तो उन भूमियों के आलम्बनका परिज्ञान कराने के लिय है। अर्थात्—स्वाश्रय होते हुये भी पक्षी जैसे वायुके सहारे आकारामें उड रहा है, उसी प्रकार ये सभी भूमियां घनोद्धि नामके वातवल-यपर आश्रय पारही हैं और घनोदधि वातवलय तो घनवातपर डट रहा है तथा तनुवातपर घनवात या अम्बुबात अवलिन्दित है। सूत्रमें सप्त शहुका प्रहण तो भूमियोंकी संख्याके इतने नियत परिमाण होनेका अवधारण करनेके लिये है जिससे कि अधोलोककी सात ही भूमियां समझी जांय छह या आठ नहीं । यहां किसीकी राका है कि तिरछी हो रही रचनाकी निवृत्तिके छिये सूत्रमें अध:का वचन आवश्यक है, किन्तु भूमियोंमें जब असंख्याते योजनोंका मध्यमें अन्तर पडा हुआ है, ऐसी दशामें समीपपन नहीं घटित होनेसे "अयः अधः " इस प्रकार अधः शद्धके दो पनेकी सिद्धि नहीं हो पाती है। हां, वातवलयोंमें अन्तर नहीं होनेसे "अधः अधः " शद्ध अच्छा घटित हो जाता है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि मध्यमें पढ़े हये अन्तरकी यहां विवक्षा नहीं की गयी है। सजातीय पदार्थ करके व्यवधान होता तो शंकाकारका कहना ठीक था। आकाशका अन्तर अगण्य समझा गया है। यहां विशेष यह कहना है कि पहिले घनवातका दूसरा नाम घनोदधिवात है। दूसरे अम्बुवातका अपर नाम घनवात भी है। ये सब चेतन या अचेतन वाय ही हैं। यहां जड जल या सचेतन जल नहीं है। कोरा नाम धर दिया गया है। पहिली बनोदि नामक वायुमें उदिथ शह द्वारा मीटे जल या भापकी अभिन्यक्ति हो जाती है।

### कुतः पुनरेताः संभाव्यंत इत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि महाराज फिर यह बताओं कि वे नीचे नीचे व्यवस्थित हो गई। सात भूमियां भटा किसी प्रमाणसे झात होकर सद्भावको प्राप्त हो रही हैं ! ऐसी जिझासा होकेपा श्री आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा सप्राधान वचन कहते हैं |

## घनां जुपवनाका सप्तिष्ठाः सप्तस्मयः । रत्नप्रभादयोऽघोधः समाव्या वाधकच्युतः ॥ १ ॥

नीचे नीचे प्रदेशोंमें रचनाको प्राप्त हो रहीं और प्रत्येक भूमियां यथाक्रमसे घनवात, अम्बुवात, तनुवात, और आकाशपर दृढ प्रतिष्ठित हो रहीं ये रक्षप्रभा आदिक सात भूमियां (पक्ष) स्वकीय अस्तित्व करके सैमावना करने योग्य हैं (साध्य), अस्तित्वके बाधक प्रमाणोंकी च्युति होनेसे (हेतु)। अर्थात् सत्ताके बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे वस्तुका सद्भाव निर्णात कर लिया जाता है। वही उपाय सात भूमियों और उनके आलम्बनोंके सद्भावका अन्यर्थ प्रसाधक है।

### न हि यथोदितरत्रमभादिभूमिमतिपादकवचनस्य किंचिद्वाथकं कदाचित् संभाव्यते इति निरूपितमायं।

सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार कह दी गयीं रत्नप्रभा आदिक भूमियोंका प्रतिपादन करनेवाछे सूत्र वचनका कभी कोई भी बाधकप्रमाण नहीं सम्भव रहा है, इस बातको हम कई बार अन्य प्रकरणोंमें कह चुके हैं कि बाधक प्रमाणोंके असम्भवसे पदार्थका अस्तित्व साध छिया जाता है।

नन्येता भूषयो वनानिलप्रतिष्ठाः वनानिलस्तंकुवातप्रतिष्ठः सोपि तनुवातप्रतिष्ठस्तनु-वातः पुनराकाशप्रतिष्ठः स्वात्पप्रतिष्ठमाकाशपित्येतदनुपप्णं, व्योगवद्भूपीनायपि स्वात्पप्रति-ष्ठत्वप्रसंगात् भूम्यादिवद्वाकाश्वस्याधारांतरकल्पनायामनवस्थाप्रसंगात् । ततो नात्र वाधकस्युति-रिति कश्चित्तं प्रत्याह ।

यहां कोई आक्षेप करता है कि आप जैनोंन जो यह कहा है कि ये सातों भूमियां बनवात पर प्रतिष्ठित होरही हैं और धनवात तो अम्बुवातपर आश्रय पारहा है तथा वह अम्बुवात भी तनुवातक अवलम्बपर सधा हुआ है। तनुवात फिर आकाशपर प्रतिष्ठित है तथा आकाश अपने स्वरूपमें ही आधार, आधेय, बन रहा स्वाश्रित है। यों जैनियोंका यह कथन सिद्धिको प्राप्त नहीं होपाता है। क्योंकि या तो आकाशके समान भूमियोंको भी अपने अपने निज स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेका प्रसंग आता है अथवा भूमि या धनवात, आदिके समान आकाशका भी अन्य आधार मानना पडेगा और उस आधारके भी छहे, सातवें, आठवें आदि त्यारे त्यारे अन्य आधारोंकी कल्पना करते करते जैनोंक उपर अनवस्था दोष आनेका प्रसंग होता है। तिस कारण यहां बाधकच्युति नहीं है। अर्थात्—भूमि और उनके आधारोंके सद्वावकी सिद्धि करनेमें जो बाधकाभाव हेतु दिया गया है, वह हेतु पश्चमें नहीं वर्तनेसे असिद्ध हेत्याभास है। इस प्रकार कोई अपना नाम नहीं छेता हुआ आक्षेप कर रहा है, इसमें प्रति औ विवानक स्वामी समाधान कहते हैं।

## स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं विभुद्रन्यत्वतोन्यथा । घटादेरिव नैवोपपद्येत विभुतास्य सा ॥ २ ॥

आकाश (पक्ष) अपने निजस्वरूपमें ही प्रतिष्ठित होरहा है (साध्य) व्यापक द्रव्य होनेसे (हेतु) अन्यथा यानी आकाशको स्वप्रतिष्ठित नहीं मानकर यदि आकाशको भी अन्य अन्य अधि-करण माने जायंगे तब तो घट, पट, आदिके समान इस आकाशका वह व्यापकपना नहीं बन सकेगा। अर्थात्—आकाशको अधिकरण माने गये द्रव्यका जहांसे प्रारम्भ होगा वहींतक आकाशकी सीमा समझी जायगी। घरकी पोळरूप आकाशका अधिकरण यदि आंगनको मान लिया जायगा तो ऐसे छोटे छोटे अनन्त आकाशोंकी असद्भूत कल्पना करनी पडेगी। आकाशकी व्यापकता भी नष्ट हो जायगी, जो कि इष्ट नहीं है।

परममइदन्यत्मतिष्ठितं वेति व्याइतमेतत् । ततो व्योम चात्ममतिष्ठं विश्वद्रव्यत्वाद्यनु न स्वात्ममतिष्ठं तम विश्वद्रव्यं यथा घटादि, विश्वद्रव्यं च व्योमेति न तस्याप्याधारांतरकल्पनया-नवस्था स्यात् । नापि भूम्यादीनामपि स्वभितष्ठत्वमसंगस्तेषामविश्वद्रव्यत्वादिति न मक्कतबाधकत्वं ।

इधर आकाशको परम महापरिमाण वाला कहना और उधर आकाशको दूसरे अधिकरण द्रव्यपर प्रतिष्ठित कर देना ये दोनों बातें परस्पर व्याघातदोष युक्त हैं। परम महत् कहते ही आकाशका अन्य द्रव्यपर प्रतिष्ठित कर देना ये दोनों बातें परस्पर व्याघातदोष युक्त हैं। परम महत् कहते ही आकाशका अन्य द्रव्यपर प्रतिष्ठित रहना उसी समय रोक दिया जाता है अथवा घटादिकका अन्य स्थलोंपर घरा रहना कहते ही उसी क्षण महापरिमाणसिहतपना निषिद्ध होजाता है। अन्योन्य तिरुद्ध होरहे धर्मोमेंसे किसी एकको विधि करते ही बच्च रहे दूसरे धर्मका उसी समय झट निषेध हो जाता है। दोनों धर्मकी विधि या दोनोंके युगपत् निषय करनेका असम्भव है। तिस कारणसे सिद्ध होजाता है कि व्यापक द्रव्य होनेसे (हेतु) आकाश (पक्ष) स्वयं अपनेमें ही आधार आध्यभूत प्रतिष्ठित होरहा है (साध्य) जो स्वात्म प्रतिष्ठित नहीं है वह तो विधु द्रव्य भी नहीं है जैसे कि घट, पट, आदिक पदार्थ हैं (व्यतिरेकव्यासिपूर्वक व्यतिरेकदृष्टान्त)। यह आकाश व्यापक द्रव्य है (उपनय) इस कारण वह स्वयं अपना अवल्यव है (निगमन)। अतः पुनः उसके भी अन्य आधारोंकी कल्पना करके अनवस्था दोष नहीं हो पायगा। तथा आकाशके समान भूमि, वायु, आदिकोंको भी स्वप्रतिष्ठितपनेका प्रसंग नहीं वा पाता है। क्योंकि वे भूमि आदिक तो अव्यापक द्रव्य हैं। अतः वे स्वाश्रय नहीं हो सकते हैं। इस कारण हमारे प्रकरणमें प्राप्त सात भूमियां या उनके आधारोंकी निर्वाध, निर्दोष, हेतु द्वारा सत्तासाधनमें तुम्हारा आक्षेप बाधक नहीं हो सकता है। तब तो बाधकच्युति हेतु पक्षमें ठहर गया।

नजु कथमिदानीं व्योम तजुवातस्याधिकरणममूर्तत्वात्तरमाविवंशकत्वादित्यपरस्तं मत्याइ।

पुनः किसीका आक्षेप है कि मूर्त होनेस भूमियोंका अधिकरण घनवात या घनवातका आधार अच्छुवात अधवा अच्छुवातका आश्रय तनुवात मले ही हो जाओ, किन्तु अमूर्त होनेसे मला आकाश इस समय तनुवातका अधिकरण कैसे हो सकता है! क्योंकि उसके प्रतिबन्धकपनका अभाव है! अर्थात्—पुस्तकका आधार चौकी है, मनुष्यका आश्रय मृंद्धा है, यहां आध्यके अधःपतनका प्रतिबन्धक होनेसे चौकी, मृद्धाको आध्यका आधार माना गया है। किन्तु अमूर्त और सबको सर्वत्र अवगाह देनेवाला आकाश तो तनुवातके अधःपातका प्रतिबन्धक नहीं है। तनुवातके नीचे ऊपर, तिरछे, सर्वत्र आकाश भर रहा है। अतः तनुवातका आधार आकाश नहीं सिद्ध होता है। यहांतक कोई दूसरा आक्षेपकार कह रहा है। उसके प्रति (उन्मुख) श्री विद्यानंद स्वामी वार्तिक द्वारा उत्तर वचन कहते हैं।

## तनुवातः पुनर्वेमप्रतिष्ठः प्रतिपद्यते । तनुवातविशेषत्वान्मेघधारणवायुवत् ॥ ३ ॥

फिर तनुवात तो (पक्ष ) आकाशमें प्रतिष्ठित हो रहा समझा जाता है (साध्य ) विशेष स्वरूप धारी तनुवात होनेसे (हेतु ) मेघको धारनेवाळे वायुके समान (अन्वयदृष्टान्त ) अर्थात्—आकाशमें फैल रहे मेघको जैसे अदृश्यवायु धारे रहता है, उसी प्रकार तनुवातको आकाश धारे हुये है । मछलीके चारों ओर फैल रहा जल मछलीको आधार है । मूिममें सैक हो की डे मको डे आश्रय पा रहे हैं । वायुके आधारपर पक्षी उड रहा है ।

मेघधारणो वातावयवी वाय्ववयवमितष्ठ इति चेत् न, अनंतश्चः पवनपरमाणूनां पवनाव-यवत्वात् तेषां वाकाश्चमितिष्ठत्वादिभित्रस्य कथंचित्पवनावयविनोपि तदाधारत्वीपपत्तेने साध्य-विकल्रमुदाहरणं, नापि संदिग्धविपक्षव्याद्यत्तिको हेतुः, कस्यचिद्प्यनाकाशाधारस्य तनुवातस्या-संभवात् । ततः तस्यामूर्तस्यापि पवनाधारत्वम्रुपपत्रं आत्मनः शरीराद्याधारत्ववत् तथा प्रती-तेरबाधितत्वात् ।

यदि यहां कोई वैरोषिक यों कहे कि छोटे छोटे अवयव वायुओंसे बना हुआ अवयवी हो गया, वायु जो कि मेघको धारनेवाला कहा गया है, वह तो अपने समवायी कारण हो रहे अवयवोपर प्रतिष्ठित है, आकाशमें नहीं है। अतः आपका हेतु बाधित है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि अनन्ते अनन्ते वायुके परमाणुऐं उस अवयवी पवनके अवयव हैं। जब कि वे अवयव अन्तमें जाकर आकाशमें प्रतिष्ठित हो रहे माने जाते हैं, तो उन अवयवोंसे कथांचित् अभिन्न हो रहे अवयवी वायुका भी वह आकाश आधार बन जायगा। अर्थात् वायुके आधार वैशेषिकोंने वायुके अवयव माने हैं। उन अवयवोंका आधार उनके भी अवयव हैं, यों चलते चलते पडणुक, पंचाणुक, चतुरणुक, पर पहुंचकर चतुरणुकोंके आधार त्र्यणुक और त्र्यणुकोंके आधार बाणुक तथा

**माणुकीके आधार वायुपरमाणुओंको स्वीकार किया है।** पुनः परमाणुओंका आधार आकाश अभीष्ट किया है। ऐसी दशामें अवयव और अवयबीका कर्यचित् अभेद हो जानेसे तनुवातका अधिकरण यदि आकासनी कह दिया तो इसमें तुन्हारी क्या हानि हो गयी ! सभी आस्तिकोंने सर्व द्रव्योंका आधार परिशेषमें आकाशको ही स्वीकार किया है। अतः कोई वाक्छटा दिखळाना निर्णात विदानोंको नहीं शोभता है। वार्तिक द्वारा कहा गया हमारा अनुमान निर्दोष है। उस अनुमानमें दिया गमा उदाहरण साप्यसे रीता नहीं है । क्योंकि मेघको धारमेवाला वायुका आकाशमें प्रतिष्ठित रहना भाष दिया गया है तथा हमारे हेतका विपक्षते व्यावृत्त होना गुण भी संदेहप्राप्त नहीं है। क्योंकि आकाशके आधारपर नहीं डट रहे किसी भी एक तनुवात का असम्भव हो रहा है। जब कि सभी वायुर्वे अथवा अन्य पदार्थ भी आकाशपर स्थान पा रहे हैं. ऐसी दशामें हेतुकी विवक्षन्यावृत्ति निर्णीत हो चुकी है। इस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि उस अमूर्त आकाशको भी वायुका आधारपना युक्त है। जैसे कि शरीर, इन्द्रिय, अष्टविधक्तर्म, आदिका आधारपना आसाको अधिन रूपसे समुचित माना गया है, आप वैशेषिकोंने "जगतामाश्रयो मतः" इस वचन अनुसार कालको यावद् जगतः का आश्रय माना है। शरीर, इन्द्रिय, आदिका अधिकरण आत्मा हो रहा है। बैठा हुआ देश्रदत्त यदि अपनी बांहको उंचा, नीचा, कर रहा है, इसका ताल्पर्य यह है कि देवदत्त अपनी बाहसे संयुक्त हो रही आल्माको स्वयं ऊंचा नीचा कर रहा है। उस आत्माके साथ बंध रही पौद्रलिक बांह तो आत्माके साथ घिसटती हुयी ऊपर, नीचेको, जा रही है। देवदत्त मार्गमें चल रहा है। वहां भी देवदत्तकी गतिमान् आत्मा चल रही है। उस आत्मापर धरा हुआ शरीर तो उसी प्रकार आत्माके साथ विसटता चलता **है, जैसे कि शरीरके साथ कपड़े, गहने, या घोड़े द्वारा खींची** गयी गाडीपर बैठे द्वये सेठजी खिचरते छदे जा रहे हैं। सूक्ष्म शरीर या स्थूछ शरीरके उपयोगी वर्गणाओंसे आत्मामें ही पौद्रछिक शरीर बन कर वहीं ठहर जाते हैं। अतः शरीर आदिका आधार आत्मा माना जाय यही अच्छा है अमूर्त भी मूर्त पदार्थका आधार हो सकता है। क्योंकि तिस प्रकार की प्रतीतियोंका अवाधितपना प्रसिद्ध है । नैयायिकोंने अमूर्त दिशाको भी मूर्तपदार्थीका आधार माना है । मीमांसक बौद्ध आदि विद्वान मी अमृतीको मृतिका आधार मान बैठे हैं। छोकमें भी मृतीके आधार अमृत दृश्यकी निर्वाध प्रतीति हो रही है।

### तज्जुवातः कथमंबुवातस्याधिकरणं समीरणस्वभावत्वादिति चेदुच्यते ।

यहां कोई प्रश्न करता है कि जब तनुवात ही स्वयं प्रेरक वायुस्वभाव हो रहा गति या कम्पनको कर रहा है तो वह हलता, चलता, तीसरा वायु तनुवात भला दूसरे वायु अन्बुवातका अधिकरण कैसे हो सकेगा ? प्रमाण दो, ऐसी जिक्कासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा वार्त्तिक कहा जाता है।

तद्वतश्रांबुवातः स्यादनात्मार्थस्य धारकः। अंबुवातत्वतो वार्देवीचीवायुविशोषवत् ॥ ४॥ उस तीसरे तनुवात करके मके प्रकार धारण कर लिए गया दूसरा अंबुवात तो कठिन सक्दर्भ अर्थ तीसरे घनवातका धारक है ( प्रतिज्ञा ) अंबुवात होनेसे ( हेतु ) जैसे कि समुद्रको धारणेबाली लहरोंकी विशेष वासु है ( दृष्टांत ) । अर्थात्—बायु स्वभाव भी तनुवात ऊपरले अंबुवात नामक वायुका आधार होजाता है और कुछ कुछ पतला, मोटा, अंबुवात तो ऊपरले सचन, स्थूल, घनवातका आधार संभव जाता है, जैसे कि विशेषताओंसे युक्त लहरीली वायु समुद्रको धारे रहती है ।

### स च तज्ञवातमतिष्ठोंबुतातो घनबातस्य स्थितिहेतुः सोपि भूमेर्न पुनः कूर्मादिरित्यावेदपति।

यों वह पतले पतले स्कन्थोंको धार रहे तनुवातवलयपर प्रतिष्ठित हो रहा दूसरा अम्बुवात तो ऊपरले घनवातकी स्थितिका कारण हो रहा प्रतिष्ठापक है और वह घनवात भी रत्नप्रभा भूमिका आधार है । प्रियंशिक पिर कोई कच्छप, शूकर, गोश्रृंग, आदि आधार नहीं है । इसी बातकी प्रन्थकार विद्वारि कराते हैं ।

घनानिलं प्रतिष्ठानहेतुः कुर्मः स एष नः । न कूर्मादिरनाधारो दष्टकूर्मादिवत्सदा ॥ ५ ॥ तिक्रवासजनादृष्टिविशेषवञ्चतो यदि । कूर्मादिराश्रयः किं न वायुर्देष्टान्तसारतः ॥ ६ ॥

मृमिके वहां ने वहां प्रतिष्ठित बने रहनेका कारण वह धनवात है। हम जैनोंके यहा कल्ला माना गया है। कोई दूसरा कच्लम प्राणी या श्कर आदि जीव तो भूमिके आधार नहीं हैं। क्योंकि वे कच्लप आदि स्वयं दूसरे आधारपर टिके हुये नहीं माने गये हैं। कल्ला या श्लर अन्य आधारके विना ठहर नहीं सकता है, जैसे कि आजकल देखे गये कल्ला, सूजर आदिक जीव अन्य आधारसे रहित होतहे सन्ते किसीके अधिकरण नहीं बन पाते हैं। अन्य आधारोंकी कल्ला की जायगी तो अनवस्था दोव होगा। अतः देखे हुये कल्ला आदिके समान वह पीराणिकोंके कल्ला, सूजर आदि भी भूमिको धारनेवाले नहीं माने जासकते हैं। अर्थात्—इस रलक्ष्मा के नीचे सात राज् लंबे, एक राज् चौंके बीस हजार योजन मोटे धनकत या साठ हजार योजन मोटे धनकत या साठ हजार योजन मोटे धातवल्यको भले ही कवियोंकी भाषामें कल्ला या स्वाक्ती उपमा दी जाय। यदि कोई विष्णुके कच्लप अनतार, बराह अवतार, आदिमें अंधभक्तिको धार रहा पीराणिक यों कहे कि भूमियोंके निवास करनेवाले प्राणिकोंके पुण्य, पाप, विशेषकी अधीनतासे के निराधार भी कच्लप भगवान या बराह भगवान इस भूमिके आश्रय होजाते हैं। आचार्य कहते हैं कि तब तो प्रत्यक्षप्रमाणके द्वारा देखे हुये पदार्थके अल्लार होनेसे वास ही भूमिका आश्रय कर्खें वहीं मान लिया जाय! जब कि मेघ, वायुयान, विमान, पक्षी, ये बहुतसे पदार्थ स्वयुपर हट सहें हैं मान लिया जाय! जब कि मेघ, वायुयान, विमान, पक्षी, ये बहुतसे पदार्थ स्वयुपर हट सहें हैं

 तो भूमिका आधार भी वायु मानना उचित है। वायुमें अनन्त राक्ति है। कछ्या या सूअर कितने भी छंबे चौडे बडे माने जांय वे आधार बिना ठहर नहीं सकते हैं।

### सोयं कूर्म बराइं वा स्वयमनाधारं भूमेराश्रयं कल्पयन् दृष्ट्रहान्या निर्धार्यते ।

यह वहीं प्राप्तिद्ध पौराणिक किसी अन्य आधारपर नहीं डट रहे यें। ही अनंत आकाशमें स्वयं निराधार होरहे कछत्रा अथत्रा शुक्तरको इस लम्बी चौडी भूमिका आश्रय कल्पित कर रहा बिचारा दृष्टहानि करके निर्धारण कर लिया जाता है। अर्थात् —पौराणिककी कल्पनामें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा विरोध आता है। ऐसी दृष्टविरुद्ध गृष्पोंको अभीष्ट करनेत्राला अंधमक्त वादी प्रामाणिक पुरुषों द्वारा पृथक्भूत समझ लिया जाता है।

कश्चिदाह-न स्थिरा भूमिर्दर्पणाकारा। किं ति १ गोलकाकारा सर्वदोध्यीयो भ्राम्यति, स्थिरं तु नक्षत्रचकं मेरोः पादक्षिण्येनावस्थानात्। तत एव पूर्वादिदिग्देशभेदेन नक्षत्रादीनां संपत्ययो न विरुध्यते। तथोदयास्तमनयोश्चंद्रादीनां भूमिसंलप्रतया प्रतीतिश्च घटते नान्यथेति, तं प्रति वाधकश्चपदर्शयति।

कोई आधुनिक विद्वान् अपना पूर्वपक्ष यों कह रहा है कि आप जैनोंके यहां लम्बी, चौडी, पतली, सपाट दर्पणके समान जो भूमि मानी गयी है, वह रत्नप्रमा भूमिका आकार ठीक नहीं है। तथा भूमि जो स्थिर मानी गयी है और नक्षत्र मण्डलको मेरूकी प्रदक्षिणा करता हुआ ढाई द्वीपमें भ्रमणशील माना गया है, वह भी ठीक नहीं है। तो भूमि कैसी है ? इसपर हमारा पक्ष यह है कि यह भूमि गेंद या नारंगी के समान गोल आकारको धारती है। उसका आकार चपटा नहीं है। भूमि सर्वदा स्थिर भी नहीं किन्तु सर्वदा ऊपर, नीचे, घुमती रहती है। हां, सूर्य, चंद्र, या शनि, शुक्र आदि प्रह्, अश्विनी, भरणी, आदि नक्षत्रचक्र तो मेरूके चारों ओर प्रदक्षिणारूपसे जहांका तहां अवस्थित हो रहा है, घुमता नहीं है। तिस ही कारणसे यानी नक्षत्र-मण्डलकी स्थिरतासे और भूमिका श्रमण होनेसे ही पूर्व, उत्तर, आदि दिशाओं या विदेह आदि देशोंके भेद करके नक्षत्र, सूर्य, आदिकोंका समीचीन ज्ञान हो रहा विरुद्ध नहीं पडता है तथा उदय होते समय या अस्त होनेके अवसरमें चन्द्र, सूर्य, शुक्र आदि ज्योतिष्कोंकी भूमिमें संख्यापने करके प्रतीति होना घटित हो जाता है, अन्यथा नहीं । अर्थात्—कदाचित् अपरिचित स्थानकी नदीमें नाव-पर बैठे हुये हम इधर उधर आवें जावें तो दिशा आन्ति हो जाती है, इसी प्रकार घूमती हुई पृथिबी-पर बैठे हुये हमको नक्षत्र मण्डल यहांसे वहां हो गया दीखता है। उदय होता हुआ सूर्य दूरवर्ती भूमिमें चिपट रहा दीखता है, यह सब भूमिके भ्रमणसे सम्भव जाता है। अन्य कोई उपाय नहीं हैं। अब आचार्य महाराज उस विद्वान्के सन्भुख त्रूम रही गोल पृथिवीके मन्तन्योंका बाधक प्रमाण ( णोंको ) वार्तिक द्वारा दिखळाते हैं।

## नोर्घाधोम्रमणं भूमेर्घटते गोलकात्मनः । सदा तथैव तद्भांतिहेतोरनुपपत्तितः ॥ ७ ॥

गोळ स्वरूप हो रही भूमिका ऊपर नीचे श्रमण होना घटित नहीं हो पाता है। क्योंकि सर्वदा तिस ही प्रकार उस भूमिके श्रमणके कारक हेतुकी सिद्धि नहीं हो चुकी है। चौबीस घन्टे या ऋतु अनुसार पृथिवीको तिस ही प्रकार धुमानेवाळे कारणोंकी सिद्धि नहीं हो पाती है। नियत कारणके विना नियत कार्य नहीं हो सकता है।

वायुरेबोर्ध्वाचो भ्रमत्सर्वदा भूपेस्तथा भ्रमणहेतुरिति न संगतं, मगाणाभावात्। आगमः ममाणिमिति चेन्न, तस्यानुब्राहकममाणांतराभावात्। तस्यानुमानमनुब्राहकमस्तीति चेन्न, अविनाभाविद्धिंगाभावात्।

यदि आधुनिक पण्डित यों कहें कि वायु ही ऊपर नीचे भ्रमण कर रही संती तिस प्रकार भूमिके सर्नदा नियमित भ्रमणका हेतु हैं। आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो संगतिप्रस्त होकर हृदय स्पर्शी नहीं है, असम्बद्ध है। क्योंकि यूम रही वायुके अनुसार भूमिके भ्रमणको साधनेवाला कोई पृष्ठ प्रमाण नहीं है। यदि आप इस विषयमें आगमप्रमाणको प्रस्तुत करें कि आर्यमहने अपने प्रथमें पृथिवीको चळती हुई साधा है। अपनी कक्षासे बाहर गमन नहीं करना सो ही अचलपना है और भी कितनी ही इंग्रेजी पुस्तकोंमें पृथिवीका भ्रमण सिद्ध किया गया है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस आगमका अनुप्रहकारक कोई दूसरा प्रमाण नहीं है। जबतक आगममें कही हुई बातको परिपुष्ट करनेके लिये अन्य प्रमाण सहायता नहीं देते हैं, तबतक चाहे जिस आगमके उपन्यासेंके समान किसी भी प्रमेयको आंख भीचकर नहीं मान लिया जाता है। यदि कोई भूभमणवादी यों कहे कि उस आगमका अनुप्रहकारक अनुमान प्रमाण विद्यमान है। प्रन्यकार कहते हैं कि यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि उस अनुमानमें अविनामावको धारनेवाला समीचीन लिंग नहीं है। अन्ययानुपपत्ति करके रीते हो रहे हेतुसे समीचीन अनुमान बान नहीं उपज पाता है।

नतु च यत्पुरुषप्रयत्नाद्यभावेपि श्राम्यति तद् श्रमदायुद्देतुकं श्रमणं यथाकाशे पर्णादि तथा च भूगोल इत्यविनाभावि लिंगमनुमानं पुरुषप्रयत्नकृतचक्रादिश्रमणेन पाषाणादिसंघद्दकत-नदीजलादिश्रमणेन च व्यभिचाराभावात् । न च पुरुषप्रयत्नाद्यभावोऽसिद्धः पृथिवीगोलक-भ्रमणे महेन्दरदेः कारणस्य निराकरणात् । पाषाणसंघद्दादिसंभवाभावात् भूगोलभ्रमणमसिद्धं इति न मंतव्यं तद्भावे तत्स्थजनानां चंद्राकादिविंबस्योद्यास्तमनयोभिंबदेशादितया प्रतीतर-प्रकात् । सास्ति च प्रतीतिस्ततो भूगोलभ्रमः प्रमाणसिद्ध इति कश्चित् ।

भूश्रमवादी अपने मन्तन्यका अवधारण कारनेके लिये हेर्नुमें अविनामावकी हिस्त्रस्त्रेते हुये यो अनुमान प्रमाण कहते हैं कि जो पदार्थ पुरुषके प्रयत्न या पत्थरकी टक्कर आदिक कारणोंके नहीं होनेपर भी घूम रहा है (हेतु ) उसकी वेंह भ्रमण घूम रही नीर्वुकी कॉरिंग मीर्नकेर हुआ है (साप्य ) जैसे कि आकाशमें आंधी चलते समय पत्ते, तिनके, आदि पदार्थ घूमती हुई बायु द्वारा वृम जाते हैं (अन्वयद्यान्त ) तिस ही प्रकार भूगोल वृम रहा है (उपनय ) अतः वासुन्नमण अनुसार मुगोल माम लेना चाहियें ( निगभन ) इस प्रकार अविनामाववाले हेर्तुसे इस अनुमानका इत्थान हुआ है । हेतुमें पुरुषके प्रयत आदिका अभाव यह विशेषण तो व्यभिचारकी निवृत्तिके लिये देया है। अतः पुरुषके प्रयत द्वारा की गयी चाक आदि की भ्रांति करके और पत्थरकी या वेगयुक्त नल आदिको अच्छी टक्कर लग जानेसे किये गये नदिजल, समद्रजल, आदिके भवरों करके व्यमि-बार नहीं हो पाता है। यहां अमणमें पुरुषप्रयत्न, पाषाणघट्टन, आदिका अभाव असिद्ध नहीं है। ार्योकि प्रथिनीत्वरूप गोलाके भ्रमण करनेमें महेश्वर, त्रिधाता, आदि कारणीका निराकरण कर दिया े और पत्थरों ती टक्कर, विद्युतप्रवाह आदि कारणोंकी भी संभावना नहीं है । अतः हेतुका विशेषण ए पक्षमें वर्तता हुआ सिंह होजाता है। भूचमवादी ही कहे जा रहे हैं कि प्रथिवी स्वस्तप गोलेका त्रमण करना असिद्ध होय यह मान बैठना भी उचित नहीं है। क्योंकि उस अमगका अभाव मान रेने ार तो उसं भूमिमें ठहरंनेवाले मनुष्योंको चंद्रविंव, सूर्यविंव, शुक्र आदिके उदय या अस्त होनेपर केंत्र किस देश क्लीपन या न्यारे न्यारे आकार आदिएने करके प्रतीति होना नहीं घटित हो पावेगा गैर वह मिन्न भिन्न देशवर्ती आदिपने करके प्रतीति तो होरही है । तिस कारणसे भूगोलका श्रमण ोमा प्रमाणसे सिंह है, यों अमण देत पक्षमें ठहर जाता है। इस प्रकार मनुसे लेकर यहांतक कोई क पंण्डिल कह रहा है।

सीत्रैवं पर्यद्वियोक्तं । भन्नमः कस्मान भवतीति तदावदिनः प्रवचनस्य सङ्गावात् । तिनियतानेकदेशादितयाकादिनां प्रतितरिप घटनात् भून्रमणहेतीविरुद्धत्वोपपत्तः । भूगोछ-।मणे साधनस्याञ्चमानादिवाधितशक्षतानुषंगात् । कारणाभावात् भन्नमोवतिष्ठत इति चेत्र् धाविधादृष्टवेचित्र्यात्तद्भ्रमणोपपत्तः ।

अब आचार्य कहते हैं कि उस मूजमवादिक ऊपर यहां प्रकरणमें इस प्रकार चींच उठाना हिये कि मूजमणके समान नक्षत्र मण्डल या सूर्य आदिकोंका अमण हो रहा क्यों नहीं माना ता है ! जब कि उस ज्योतिष चक्के अमणका आवेदन करनेवाल आसवाक्य स्वरूप आगमका हाव ही रहा है, उदय, अस्त, देशोंने सूर्यका दूर स्थित मूमिक साथ स्पर्श है। रहा देखिना और यांक्ष अपर दोखना तथा बींचमें तिर्पक् उचा देखना या प्रतिनियत अनेक देश या दिशा आदिमें तिर्पक् उचा दोखना या प्रतिनियत अनेक देश या दिशा आदिमें तिर्पक् तथा मि सभी बिटत होता है, अब कि हरियकिको अपला

कौर ज्योतिर्मण्डलको पृत्र रहा माना जायराम। अतः भूजमणके तिह करनेवाले तुम्हारे हेतुको विरुद्ध हैना साल्य या प्रथमें अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा वाधा उपस्थित हो जातेसे उस हेतुको वाधित हेत्यहमासपनका प्रसंग अता है। प्रथमित हो पश्ची या कियान मीलों उंचे या हजारों कोस विरुद्ध चलकर वहांके वहीं नियत स्थानवर छोट आते हैं। उत्तर दिशामें धुक्तारा वहांका वहीं हीखता रहता है। यदि वर्धा यों कहे कि द्वानोवाले कारणोंका अभाव हो जातेसे ज्योतिश्वकका अवग्र वहीं हो सकेगा। सर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि जहांके तहां बैठे रहेंगे। यों कहनेपर तो हम जैन यह उपपित देते हैं कि तिस प्रकारके प्रण्य, पापकी, विचित्रतासे उन सूर्य आदिकोंका अमण वन जाता है। किन्हीं किन्हीं करीके पल विचित्रतासे अनुभव जाते हैं। गमन पर्यायमें ही रमण कर रहे अमियोग्य जातिक देवों करके ज्योतिष्क विमान नियतगति अनुसार धुमाये जाते हैं।

भूगोलभूमणे तु वायुभ्रमणं न कारणं भवितुमईति सर्वदा तस्य तथा भ्रमण्नियमातु-पपचरनियतगतित्वात् । ततो नाभिन्नतिदगभिग्रलं भ्रमणं भूगोलस्य स्यात् । भाण्यदृष्टवभाद्रा-योनियतं तथा तदसिद्धः । प्रसिद्धे भ्रमणमिति चेक, तत्कार्यासिद्धौ तदसिद्धः । मस्द्रिद्ध हि सुखादिकार्ये निर्विवादे दृष्टकारणन्यभिचारे चादृष्टं तत्कारणमृजुमीयते न चाभिन्नतवाद्वभूमपूर्णं निर्विवादं सिद्धं यतो न दृष्टकारणन्यभिचारे तत्कारणमृद्धमृतुमीयत ।

हां, तुम्हारे भूगोलके असणमें तो वायुका अमण कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि उस जब वायुके दारा सदा उस पृथिवीके तिस प्रकार नियम अनुसार असण होते रहनेकी उपपाति नहीं है। क्योंकि वायुक्त कोई नियत गति नहीं है। क्यों पूर्वकी वायु चलती है। क्यों पांक्रमकी वायु बहती है। क्यों पांक्रमकी वायु बहती है। क्यों पांक्रमकी वायु अहित है। क्यों पांक्रमकी वायु अहित है। क्यों पांक्रमकी वायु असित है। क्यों पांक्रमकी वायु अमलित हो। वायुक्त अमण सामना स्वयं अपनेको चक्करमें डाल्ना है। यदि कोई यहां यों आक्षेप को अनुसार भूगोलक अमण मामना स्वयं अपनेको चक्करमें डाल्ना है। यदि कोई यहां यों आक्षेप को का प्राणियोंके पुण्य, पांक्रम अधीनतासे वायुका तिस प्रकार नियत हो रहा अमण हो जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस अदहवे कार्य साने जा रहे वायुक्तमण मा पृथिवीक्रमणकी अनतक सिदि नहीं हो सकेगी, तवतक उस वायुक्तमणके कारण अदहकी सिदि नहीं हो सकेगी, तवतक उस वायुक्तमणके कारण अदहकी सिदि नहीं हो सकेगी, ववतक उस वायुक्तमणके कारण अदहकी सिदि नहीं हो सकेगी, ववतक उस वायुक्तमणके कारण अदहकी सिदि वहीं परित्रक बहुक्त, दुःव आदि अनुभवे जा रहे कार्योंके विवादरहित प्रसिद्ध हो जानेपर ही परित्रक बहुक्त, दुःव, खी, वल, हवेकी, आदि या प्रामवास, अल्युक्तपुक्त, अल्पधन, आदि दृष्ट कारणोंका अन्यक्रप्त कारण अस्त कारण प्रमास अहित कारण प्राप्त असक्त अनुमान कर लिया जाता है। किन्तु ग्रहां आपको असीह हो रहा वायुक्तमण तो सक्ति क्रिक्त कारणोंका असीह हो रहा वायुक्तमणके दृष्ट कारणोंका असीह हो रहा वायुक्तमणके हो जानेपर

उसके कारण अदृष्टका अनुमान करनेके छिये परिश्रम कराया जाता है। हम जैन तो अभी वायुके ध्रमणमें ही विवाद उठा रहे हैं। स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा या आकाशमें उडाये गये पत्ते अथवा पतंगों द्वारा जिस साधारण वायुका हान किया जाता है, उस वायुकी गति कोई नियत नहीं है। वह वायु चौवीस घंटे या अडतालीस घंटेमें कोई नियत कार्य करती हुई नहीं जानी जाती है। अतः हम तो समझते हैं कि पृथिवीमण्डलको गाडीको पहिये समान उत्तर नीचे घुमानेवाली कोई वायु नहीं है।

भूभ्रमात् मबदद्वायुसिद्धिरिति चेका, तस्यापि तद्वद्सिद्धेः । नानादिग्देशादितयार्कादिस्तीतिस्तु भूभ्रमेपि घटमाना न भूभ्रमं साधयतीति । कयं १ अनुमितानुमानाद्प्यदृष्टविशेषसिद्धिरिति सक्तं न भूमेरूर्ध्वाघोभ्रमणं षद्चकवदेकानुभवं संपरिश्वत्तिर्वा घटते तद्भ्रमणहेतोः
स्राभ्युपगतस्य सर्वयानुपपद्यमानत्वात् परेष्टभूभ्रमादिवदिति ।

यदि भूअमणवादी यों कहे कि भूका अमण हो रहा है, इस ज्ञापक हेतुसे प्रकाण्ड रूपसे वह-ही, चूमती हुई, वायुकी सिद्धि हो जाती है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। न्योंकि उस वायुभ्रमणके समान उस भूश्रमणकी सिद्धि नहीं हो सकी है। अन्योन्याश्रय ोषवाले आसिद्ध हेतुओंसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। पूर्व, पश्चिम, देशाओंमें **या बं**गाल, पंजाब, यूरोप, अमेरिका, आदि देशोंमें दीखना अथवा लाल पीले. ीले, आकार धार लेना, प्रहण पड जाना, भूमिमें लग जाना, आदि ढगोंकरके सूर्य आदिकी ो रही प्रतीति तो नक्षत्रमण्डल या सूर्य आदिके भ्रमण माननेपर भी घटित हो रही संती भूभ्रमण ी सिद्धि नहीं करा पाती है। इस कारण अनुमित किये गये हेतुद्वारा पुनः उठाये गये अनुमानसे ों मला अदृष्ट विशेषकी सिद्धि कैसे हो सकती। है ? अर्थात्—भूश्रमणवादीने कारक पक्षमें अदृष्ट शिषसे वायुका श्रमण और वायुश्रमणसे भूश्रमण होना माना है और ज्ञापक पक्षमें भूश्रमणसे ायुके अमणकी इति और वायुअमण नामक कार्य हेतुसे अदृष्टकी सिद्धि ( इति ) की है , आचार्य हते हैं यों अनुमित अनुमानसे भी तुम अदृष्टकी सिद्धि नहीं कर सके हो। इस कारण हमने वार्तिकमें हुत अच्छा कहा था कि छह पहियेवाले यंत्रके समान या चरखाके समान भूमिका ऊपर नीचे भ्रमण ाना नहीं घटित होपाता है अथवा एक व्यक्तिके अनुमव अनुसार भले प्रकार परिवर्तन होना नहीं दित होता है । क्योंकि दूसरोंके द्वारा माने गये उस पृथिवीकी श्रान्तिके हेतुओंकी सभी प्रकारोंसे उप-त्ते नहीं होपाती है। जैसे कि अन्य वादियों के यहां इष्ट किया गया पृथिवीका गेंद या नारंगीके समान रछा वूमना आदिके हेतुओंकी सिद्धि नहीं हो सकी है। यहां आदि पदसे पृथिविके पतन आदि भी ये जा सकते हैं। कोई वादी भारी पृथिवीका नितरां अधीगमन होना भी मान बैठे हैं तथा कोई धुनिक पण्डित अपनी ढेड बुद्धिमें यों जान बैठे हैं कि पृथिवी दिनपर दिन सूर्यके निकट होती ब्री जारही है। इसके विरुद्ध कोई यों कह रहे हैं कि अनुदिन सूर्यसे पृथिवी दूरतम होती चली जा

Ĺ.

रही है। इसी प्रकार कोई परिपूर्ण जलभागते पृथिनीका कुछ कालते उदय हुआ इष्ट किये हैं। कुछ दिनोंमें भूमाग मिटकर जलमाग होजायगा तथा कोई जलमाग कम होकर पृथिनी भागका निस्तार कलिपत कर रहे हैं, किन्तु उक्त कल्पनायें प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं होपाती हैं। थोडेसे ही दिनोंमें परस्पर एक दूसरेका निरोध करनेवाले निद्धान खडे होजाते हैं। पहले पहले निद्धान या जोतिषयंत्रके प्रयोग भी युक्तियों द्वारा निगाड दिये जाते हैं। यों छोटे छोटे परिवर्तन तो दिन रात होते रहते हैं। इनसे क्या होता है ? यहांतक उक्त वार्तिककी व्याख्या कर दी गयी है !

#### तथा दृष्टव्याघाताच न सोस्तीत्याइ।

तथा एक बात यह भी है कि देखे हुये पदार्थीका व्याघात होजानेसे वह दूसरोंका माना गया भूअमण नहीं घटित होपाता है, इस बातको श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं।

### दृश्यमानसमुद्रादिजलस्थितिविरोधतः । गोले आम्यति पाषाणगोलवत्क विशेषवाक् ॥ ८॥

भूगोलका भ्रमण होना मानते संते तो समुद्र, नदी, सरोवर आदिके जलेंकी देखी जारही स्थितीका विरोध होजाता है। जैसे कि पाषाणके गोलाको घूमता हुआ माननेपर उसपर अधिक जल ठहर नहीं पाता है। अतः भू अचला है, भ्रमण नहीं करती है, पृथियीको घुमा दे और जलको ठहराये रहे ऐसा कथन कहां संभव सकता है ? अर्थात्—गंगा नदी जैसे हरिद्वारसे कलकतेकी ओर बहती है, पृथिवीके गोल होनेपर वह उल्टी भी बह जायगी। समुद्र या कृपजल गिर पडेंगे। घूमते हुये पदार्थ पर मोटा जल नहीं टिककर गिर पडेगा। पवनमें अन्य कोई विशेषता नहीं है।

न हि जलादेः पतनधर्मणो भूयसो भ्राम्यति पाषाणगोले स्थितिर्देष्टा यतो भूगोलेपि सा संभाव्यत । धारकवायुवशात्तत्र तस्य स्थितिर्न विरुध्यत इति चेत्, स धारको वायुः कथं मेरकवायुना न मितहन्यते १ मवाहतो हि सर्वदा भूगोलं च भ्रमयन् समंततापि तत्स्थसमुद्रा-दिघारकवायुं विघटयत्येव मेघधारकवायुंमिव तत्मितिपक्षवात इति विरुद्धैव तदवस्थितिः, सर्वथा विश्लेषपवनस्पासंभवात ।

भारी होनेसे अधःपतन धर्मवाले बहुतसे जल, बाद्ध रेत, आदि पदार्थोकी पाषाण गोलेके घूमते सन्ते वैसीकी वैसी ही स्थिति होरही नहीं देखी जाचुकी है जिससे कि भूगोलके घूमते सन्ते भी वह जलकी स्थिति वैसीकी वैसी संभव जावे । यदि कोई यों कह बैठे कि घूमते हुये उस भूगोलमें भी जलको धारे रहनेवाले बायुकी अधीनतासे उस जलकी स्थिति बनी रहनेका कोई विरोध नहीं आता है, यों कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि क्योंजी वह धारक बायु भला प्रेरक बायु करके कल्यारक निर्वल बायुका

तिघात क्षेत्राना चाहिये । जैसे कि आकाशमें मेश छाये खते हैं, किन्तु जब उनके प्रतिपक्ष वास्त हैं तो वह प्रतिकृत वास उस मेलको धारनेवाकी वास्त्रका कर देती है। मेघ तितर कितर क्षेत्रर ह को जाते हैं या देशांतरमें चले जाते हैं । उसी प्रकार अपने कल्यान प्रवाहसे सर्वदा भूगोलको सब तिस्त्र प्रमार की प्रेरक वास भी वहां स्थिर होरही समुद्र, सरोवर आदिको धारनेवाली वासुका विस्तरक त्या ही देनेगी। इस प्रकार कर जक्की अवस्थिति बनी रहता विरुद्ध ही है। कोई विशेष जातिकी प्रवन्ता तो सर्वथा असंभव है। अतः बक्कान प्रेरक वास भूगोलको अकिरान सुमाती रहे और निर्कल जक तरक वासु अञ्चल्या बनी रहे ये नितान्त असंभव कार्य है।

### अत्र पराकृतमाशंक्य मतिषेधयति ।

पृथिवीमें शाकर्षण्य राक्तिको माननेवाळे दूसरे पण्डितोंके मन्तव्यचेष्टाकी आकांक्षा कर अनुवाद रते हुये प्रथकार उस मन्तव्यका प्रतिषेध अप्रिम वार्तिक द्वारा करते हैं।

### गुर्वर्थस्याभिमुख्येत भूमेः सर्वस्य पात्तः । तत्स्यतिश्चेत् प्रतीयेत नाथस्तात्पातदृष्टितः ॥ ९ ॥

पूर्वपक्षी कह रहा है कि पृथिवीमें आकर्षण शक्ति है। उदनुसार सम्पूर्ण भारी अर्थोका भूमिक ।सिमुख्यने करके पतन होता है। भूगोलपरसे जल गिरेगा तो भी पृथिवीकी ओर ही फिरकर वहांका है। ठहरा रहेगा। अतः उस जलकी स्थिति होना प्रतीत हो जावेगा। यो कहनेपर तो आचार्य कहते कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि भारी अर्थोका नीचेकी ओर पडना ही दृष्टिगोचर हो गहा है। ।र्थाद—पृथिवीमें एक हाथ लाना चौहा गढ़डा खोदकर उस मिहीको गढ़डेकी एक ओर ढलाऊं उंचा खाकर यदि उसपर गेंद घर दी जाय ऐसी दशामें वह गेंद नीचीकी ओर गढ्डेमें दुलक पडती है, व कि उपरले भागमें मही अधिक है तो विशेष आकर्षण शक्ति होनेसे गेंदको उपर देशमें ही वेपटा रहना चाहिये था। अतः कहना पड़ता है कि मले ही पृथिवीमें आकर्षण शक्ति होय, किन्तु उस । कर्षण शक्ति सामर्थ्यसे जलका चूम रही पृथिवीसे तिरला परली ओर गिर जाना नहीं हक सकता है।

भूगोळे श्राम्यति पतदपि समुद्रजलादि स्थितमिव भाति तस्य तद्द्रिमिष्टुरूमेन पतनाद् । विस्य गुरोरर्थस्य भूमेरनिममुखतया पतनादर्शनादिति चेत्रैनं, अधस्तात् गुर्वर्थस्य पातदर्शनात्, तथाभितोभिभातायभावे स्वस्थानात् प्रच्युतोधस्तात्पतित गुरूत्वाळीष्ठादिवत् । न हि त्राभिधातो नोदनं वा पुरुषयत्नादिकृतमस्ति येशान्यथायतिः स्यात् । न वात्र हेतोः बंदुका-हेना न्यभित्रारः, अभिधातायभावे सतीति विशेषणात् । नापि साध्यसाधनविक्ते दृष्टान्तः सधनस्य गुरुत्तस्य यथोक्रविशेषणस्य साध्यस्य वाधस्तात्मतनस्य लोष्ठादी प्रसिद्धत्वात । विशेषणात् । स्यस्तात्मतनस्य लोष्ठादी प्रसिद्धत्वात । विशेषणात् । क्षियस्य साध्यस्य साध्यस्य लोष्ठादी प्रसिद्धत्वात ।

भूजमंगियादी कह रहा है कि भूगीलका अनेग हो रहे सन्ते अधःपतनशील समुद्र जेल आदिक गिरते हुये मी स्थित हो रहे के संमान ही दीखते हैं। क्योंकि उस जलका उस मूमिक अमि-मुखपने करके पतन हो रहा है। सम्पूर्ण भारी पदार्थीका भूमिक अभिमुख नहीं हो करके पतन होना नहीं देखा जाता है । आचार्य सहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना । क्योंकि गुरुपदायीका जहां स्थित है, वहाँसै ठीक परली और नीचे गिरमा देखा गया है तथा तुम्हारे पक्षका बाधक दूसरा अनु-मान यह है कि समुद्रजल, लोहगोलक, कल आदि पदार्थ ( पक्ष ) यदि स्वस्थानसे स्युत है। जाय तौ अवश्य ठीक नीचे पड जाते हैं (साध्य ) इधर उधरसे बंखवान प्रेरक पदार्थका शहू जनके अभिघातनामक संयोग या प्रतिकृष्ठ वायु आदिका अमाव होते संते भारी हीनेसे (हेतु ) डेलं, मेघजल, आदिके समान (अन्वयद्दष्टान्त )। उस समुद्रजलमें शद्धहेतु संयोग पुरुषप्रयत्न, त्रिचुत प्रयत्न, आदि द्वारा किया गया कीई शद्धहेत हो रहा प्रेरक संयोग तो नहीं है, जिससे कि भूमिपर एखे हुये जलकी दूसरे प्रकारसे यानी भूमिस परली ओर नहीं गिरकर भूमिमाऊं ही जलकी गति ही जाय। तथा इस अनुमानमें दिये गुरुत्व हेतुका गेंद या बन्दूककी गोली आदिसे व्यभिचार नहीं हो सकता है। क्योंकि हमने हेतुका विशेषण " अभिषात आदिकका अभाव होते संते " यह दे रक्ता है । वैशवार्छ हाथ द्वारा भूमिम चोट खाकर नीचे नहीं गिरती हुई गेंद ऊपरको उन्छठ जाती है। बन्दूककी गोली तिरछी खंडी जाती है, कबूतर ऊपरको उड जाता है, इनमें अभिघात और कारण हैं, जहां अभिधात और नहीं है वहां गुरुपदार्थीका अवस्य अवस्पात हो जाता है। हमारा दिया हुआ डेल आदि द्रशान्त भी सान्य और साधनसे रीता नहीं है। क्योंकि पूर्वमें कहे जा चुके अनुसार अभिधात आदिकका अभाव इस विरोषणंसे युक्त हो रहे गुरुव हेतुकी डेल आदिने प्रसिद्धि हो रही है और वृक्तवृक्त स्थानस प्रतिकृत परली ओर नीचे गिर जाना इस साध्यकी भी डेल आदिमें प्रसिद्धि है । तिस कारणेंसे युक्तियों द्वारा जान लिया जाता है कि ऊपर, नीचे, पृथिवीका अभिन और वादिकि समान यह प्रहोंकी आकर्षणराक्ति अनुसार पृथिवीका तिरछा या टैढा, मेढा, समण मानमेवाला वादी भी सत्यवचन कहनेवाला नहीं है। एक बात यह भी समझ लेनेकी है कि-

> भूत्रमागमसत्यत्वैज्यूत्रमानपत्यतः । किं न स्यासर्वया न्योतिक्षीयसिक्षेर्वेदकः ॥ १०॥ द्रयोः सत्यत्विम् चेत्काविरुद्धार्यता संघीः । प्रवक्त्रोसप्तता नैव सुगते यर्घोति ॥ ११॥

जिन्होंने आर्यभट या इंटली, योरीप, आदि देशीके वासी विदानीकी पुस्तकीक अनुसार मू का अमल स्वीकृत किया है, उनके प्रति हमारा वह आक्षेप है कि यदि भूक्षमणका प्रतिपादम करने-

बाढ़े आगमको सत्य माना जाता है तो अच्छा प्रथिवीके अमणको नहीं कहनेवाडे आगमका सत्यपना क्यों नहीं समझ लिया जाय ? क्योंकि ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञानकी सिद्धि होनेका सभी प्रकारसे अमेद है। पृथिवीको अचला या सचला माननेवाले दोनों विद्वानोंके मतानुसार सूर्यग्रहण. दिन रातका व्यवहार, राशिपरिवर्तन, शुक्रका उदय, अस्त होना आदि ज्योतिष शास्त्रके ज्ञान एकसे सघ जाते 🕻 🖠 यदि पृथिवी भ्रमण और ज्योतिष्कचकका भ्रमण कहनेवाले दोनों भी आगर्मोका सत्यपना अभीष्ट है तब उन दोनों आगमोंको अविरुद्ध अर्थका प्रतिपादकपना कहां रहा ? और इस प्रकार तो बुद्ध और महेक्चरके समान दोनों प्रकृष्ट माने जा रहे विरुद्ध वक्ताओंको आप्तपना यानी सत्यार्थ वक्तापन नहीं आ सकता है। अर्थात-बद्ध सृष्टिके कत्तीको नहीं मानते हुये सभी पदार्थीको क्षणिक मानते हैं। किन्तु ईश्वरवादी पण्डित तो प्रथिवी आदिको बनानेवाले ईश्वरकी कल्पना करते हुये पदार्थीको नित्य या कालान्तरस्थायी मान रहे हैं. परस्पर विरुद्ध अर्थको कह रहे ये दोनो तो बढिया वक्ता नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रथिवी को सचला या अचला माननेवाले भी आप नहीं हो सकते हैं। कमसे कम एक पण्डितके आगम का सत्यपना रक्षित नहीं रह सकता है। अपरिचित स्थलमें नांव द्वारा श्रमण कर रहा पुरुष भल्ने ही नावका वमना नहीं मानकर नगर या तीरस्थ प्रासादोंका भ्रमण अभीष्ट कर छे, एतावता उसके दिशा विभ्रमका समाधान भी भले ही हो जाय, किन्तु वस्तुतः विचारनेपर नगरका स्थिरता और नावका चलपना माना जायगा । इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणद्वार। ज्योतिष चक्र ही भ्रमण कर रहा प्रतीत हो रहा है। साधारण मनुष्य या पशुको थोडा यूम जानेसे ही आंखोंमें घूमनी आने छग जाती है। कभी कभी खण्डदेशमें अत्यल्प भूचाल ( भूकम्प ) आनेपर शरीरमें कपकपी, मस्तकमें भ्रान्ति होने लग जाती है। यदि डांकगाडीकी गतिसे भी अधिक वेगवाली पृथिवीकी चाल मानी जायगी, ऐसी दशामें मस्तक, शरीर, पुराने गृह, कूपजल, समुद्र आदिकी क्या व्यवस्था होगी ? इस बात का बुद्धिमान् स्वयं विचार कर सकते हैं।

### मतांतरमुपदर्श्य निवारयश्वाह ।

अब श्री विद्यानन्द आचार्य भूश्रमणसे अतिरिक्त दूसरे मतोंका संकेत मात्र दिखलाकर उनका निवारण करते हुये अग्रिम वार्त्तिकोंको कह रहे हैं ।

सर्वदाधः पतन्त्येताः भूमयो मरुतोऽस्थितेः । ईरणात्मत्वतो दृष्टप्रभंजनवदित्यसत् ॥ १२ ॥ मरुतो धारकस्यापि दर्शनाचोयदादिषु । सर्वदा धारकत्वस्यानादित्वाचत्र न क्षतिः ॥ १३ ॥

किसी अन्यवादीका मन्तव्य है कि ये भूमियां सर्वदा ( पक्ष ) नीचे गिरती रहती हैं (साध्य)। क्योंकि चंचळ और कंपन स्वभाववाळी होनेसे वायुकी एक स्थानपर स्थिति नहीं होने पाती है (हेत्)

जैसे कि देखी जा चुकी वायु है (अन्वय दृष्टान्त )। आचार्य कहते हैं कि यह कहना मिध्या है। क्योंकि मेघ, पक्षी, आदि पदार्थोंमें धारनेवाळी वायु मी देखी जाती है। अनादि होनेसे सदा धारकपनेकी उस बायुमें कोई क्षिति नहीं है। अर्थात्—जो कंपनेवाळी चंचळ वायु है, वह मूमियोंको दढ नहीं डाट सकती है, किन्तु बादळोंको जैसे धारक बायु देरतक धारे रहती है, उसी प्रकार अनादि काळसे पृथिवीको धार रहे तीन वातवळय चंचळ या कंपनेवाळे नहीं होनेसे भूमियोंको अविचळ धार रहे हैं। कोई हानि नहीं हो पाती है।

न हि भूभ्याधारो वायुरनवस्थितस्तस्यरणात्मत्वाभावात् । तश्वासंभवाशायमीरणात्म-कत्वरहितो मरुत्तोयदादिधारणात्मकस्यापि दर्शनात् । सर्वदाधारकत्वं न दृष्टं इति चेत्, सादे-रनादेवी १ सादेश्वेत् सिद्धसाध्यता । यदि पुनरनादेरपि सर्वदाधारकत्वं पवनस्य न स्यात्तदा-त्माकाञ्चादेरप्यपूर्वत्वविश्वत्वादिधमधारणविरोधः । अत्राधाराधययोरनादित्वात्सर्वदा तज्ञाव इति चेत्, भूमिगन्धभृतोरपि तत एव तथा सोस्तु । तथा सर्वदाधः पत्तंति भूमयः श्रमाणाभावात् ।

भमियों हा अधिकरण हो रही वाय कोई अस्थिर नहीं है। क्योंकि वह धारक वाय गमन स्वभाव वाली या चंचल स्वभाववाली नहीं है। अतः असंभव होनेसे वह भूमियोंके सर्वदा नीचे गिरते रहनेका मन्तव्य प्रशस्त नहीं है। " ईरणात्मत्वाभाव " हेतुको यो पृष्ट करते हैं कि यह भूमियोंका आधार होरही वायु ( पक्ष ) ईरण स्वभावसे रहित है ( साध्य ) क्योंकि वायुका बादल आदिकोंको धारे रहना स्वरूप भी देखा जाता है (हेत् )। अर्थात् — कई दिनोंतक वायुके आधारपर बादछ आकाशमें डटे रहते हैं। शरीरमें कुपित होगयी वायु किसी नसमें रक्तको कई वर्षोतक डाटे रहती है, चलायमान नहीं होने देती है। काचकी शीसी या नलीमें भर दी गयी बायु गोलीको डाटे रहती है। यदि यहां कोई यों कहे कि बाय कुछ देरतक भले ही बादल, रक्त, गोली आदिको घारे रहे किन्तु सर्वदा धारकपना किसी भी बायुमें नहीं देखा गया है, यों कहनेपर तो इम विकल्प उठाते हैं कि कुछ काछसे उपजी इर्ड सादि वायुको सदा भारकपने हा निषेय करते हो ! अथवा क्या अनादिकाळसे सदश परिणामोंको धार रही अकम्प अनादि नायुको भी पृथिनीके सदा धारनेका निषेध करते हो ! बताओ। यदि प्रथम पक्ष अनुसार आदि वायुको प्रथिवीका धारकपना निषेत्रते हो तो तुम्हारे जपर सिद्धसाध्यता (सिद्ध साधन ) दोष लगता है जिसको इम सिद्ध मानते हैं उसको पुनः साधनेकी क्या आक्यकता पढी है! निरर्थक बातोंको सुननेका इमको अवसर नहीं है, सादि वायुको इम प्रथमसे है। प्रिक्षिशीयोंका धारक नहीं मान रहे हैं। हां, यदि फिर दितीय विकल्प अनुसार अनादि काछीन द्वार वायुकी भी सदा पृथिवीयोंका धारकपना नहीं बाना जायगा तब तो आत्मा, आकाश, आदिक द्रश्योंका भी अपूर्तपन, न्यापकपन, गुणतदितपन, आदि धर्मी के धारने का निरोध हो जायगा। जैसे आसा, आकाश, आदिक इम्य अनादि कालमें अमूर्तपन आदिक वर्गों के बारक माने जारहे हैं. उसी प्रकार अनादि बायु मी मदासे प्रशिवीयोंको धार रही बनी बैठी है। यदि कोई यहां यों कहे कि इन आतमा आदिक आकार और अपूर्तपूर्व आदि आधेयोंमें अनादि होनेसे सदा वह "आधारआधेयभाव " बन रहा है। यों कहने पर दो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी अनादि होनेसे ही भूमि और गन्धवाह सानी वायुका भी तिस प्रकार सदा वह आधार आधेय भाव हो जाओ। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि भूमियां सर्वदा नीचे तीचे नहीं पडती रहती हैं, क्योंकि इसमें कोई पृष्ठ प्रमाण नहीं है।

एतेन सर्वदोत्पतंत्येव तिर्यगेव गच्छंतीति वा निरस्तं, धारकस्य वावीरवाधितस्य सिद्धेककवरतामानिक्षेभात् ।

इस उक्त कथन करके इन मतींका भी खण्डन कर दिया गया समझो कि भूमियां सर्वदा उछ-लती ही तहती हैं अग्रवा भूमियां सर्वदा तिरछी हैं। चलती रहती हैं, क्योंकि इन कोनी मतोंका पोषक बलवान प्रसाण नहीं है, जब कि भूमियोंको धारनेवाले वायुकी बाधारहित हो रही शिक्तिनी जा खुकी है। इस काश्या कुन भूमियोंके ठीक ठीक ज्यों के ल्यों अवस्थित बने रहनेका कोई विरोध तहीं आता है।

कश्चिद्धार्-विचादापका भूमिर्भूम्यंतराधारा भूमित्वात्तथा मसिद्धभूमिवत् । साय्यपरा भूमिर्भूम्यंतराधारा भूमित्वात्तथा प्रसिद्धभूमिवत् साय्यपरा भूमिर्भूम्यंतराधारा तत एव तद्व-दिति अन्वद्दमर्थता तिर्थगधोपीति तं पत्याह ।

यहां कोई विद्राम् पूर्वपक्ष उठाकर कर रहा है कि विवादमें प्राप्त हो रही सूमि ( पक्ष ) अन्य दूसरी सूमिक आधारपर जमी हुई है ( साध्य ) भूमि होनेसे ( हेंतु ) तिस प्रकार प्रसिद्ध हो रही इस चित्रा सूमिक आधारपर स्थिर है । ( साध्य ) भूमि होनेसे ( हेतु ) तिस प्रकार प्रसिद्ध हो रही वजा भूमिक आधारपर स्थिर है । ( साध्य ) भूमि होनेसे ( हेतु ) तिस प्रकार प्रसिद्ध हो रही वजा भूमिक समाम ( अन्वयदद्यान्त ) । तथा यह तीसरी निराठी भूमि भी ( पक्ष ) भिन्न चौथी भूमिपर धरी हुई है ( साध्य ) तिस ही कारणसे यानी भूमि होनेसे ( हेतु ) उस ही प्रसिद्ध हो रही वैदूर्य भूमिक समान ( अन्वयदद्यान्त ) । इस प्रकार चौथी भूमि पांचवीपर और पांचवी छड़ीपर यौ पुनः पुनः मिरन्तर चळते हुये इधर उधर तिरठी अनन्त और नीचे नीचे भी अनन्त भूमियां हैं । अनादि काळके समान भूमियोंका कोई पर्यन्त स्थान नहीं है, यहांतक कोई झानळबदुर्विद्रध कह रहा है, उसके प्रति श्री विद्यानय आचार्य समाधान वचन कहते हैं ।

### नापूर्यता धराधोपि सिद्धा संस्थानभेदतः । भरवत्त्वमपर्यतं सिद्धं संस्थानवन्न हि ॥ १४ ॥

भीचे मीचे भी मृष्कियां अनन्तःसंख्यावालीं सिद्ध नहीं हैं ( प्रतिज्ञा ) विशेष रचनाःहोनेसे । ( हेतु ) 'पर्वतको समानः ( अन्वयद्दृष्टान्त ) । जो परिदृष्ट विशेष संस्थानवाला वाहीं है वह यदार्थ ।

ŗ,

मर्थिदारहित हो यहा अनन्त है जैसे कि आकाश (व्यतिरेक दशान्त )। पृथिनी तो विशेष संस्थान-नाली ही रही सान्त ही है।

धरः पर्वतः संस्थानवान् सपर्यन्तो दृष्टो यः पुनरपर्यतः स न संस्थानवान् यथाकाशा -दिरिति विपक्षात्रावृत्तो देहः पर्यतवत्तां धरायाः साधयत्यव ।

धर यानी पर्वत (पक्ष) निरोष रचना या आकारवाडा है (साष्य) आतः मर्यादा युक्त छम्नाई, चौडाई, मोटाई, को छे रहा पर्यन्तसहित देखा गया (हेतु) जो जो संस्थानवानर है, वह समर्याद है, जैसे घट (अन्वयद्धान्त)। और जो पदार्थ मित अनन्त है वह परिनित संस्थानवाला नहीं है, जैसे कि आकारा, दिशा, आदि हैं (व्यतिरेक्द्रधान्त) इस प्रकार विपक्षारे व्याह्मत हो रहा संस्थानविरोष सदेतु फिर पृथिवीके मर्यादासहितपनको साथ देता है।

यत्पुनरभ्यषायि-विवादीपंत्रा घरा घराघारा घरात्वात्मसिद्धंधराँवदिति । तद्युक्तं, हेतोरादित्यघरादिनानेकांतात् न हि तस्याधरातरोधारत्वं सिद्धमतराखाँकानेकसंगात् । ततः पर्यतवत्यो भूमय इति निरारेकं मित्रक्षयं ।

जो फिर तुमने यों पहिले अनुमान द्वारा कहा था कि विवादमें पडी हुई भूमें ( पंत ) पूना पृथिवीके आधारपर हैं ( साध्य ) पृथिवी होनेसे ( हेतु ) प्रसिद्ध घराके समान ( अन्वयदृष्टान्त ) वह कथन अयुक्त है। क्योंकि तुम्हारे हेतुका सूर्यकी पृथिवी या चंद्रकी पृथिवी आदि करके व्यक्तिचार हो जाता है। देखो, उन सूर्य, चन्द्रमाकी पृथिवियोंका पुनः अन्य पृष्टियोंके आधारपर स्थित रहना सिद्ध नहीं है। अन्यम्य अनुसार अनुसार अनुसार कहा हो जायगा। अर्थात् कहें मोजन अनुसार अन्वतालीस कटे इकस्तर या छण्यन वटे इकसर योजन छन्वा चौडा और इससे अधा मोटा जो सूर्य विमान या चन्द्र विमान है अथवा जितना भी कुछ मोटा सूर्य विमान या चन्द्र सिद्धान तुमने सूना है उतनी मोटी पृथिवीके नीचे यदि दूमरी पृथिवी और वृद्धातिक नीचे तीसरी, चौथी, आदि पृथिविया यदि मानी जायगी तो यहां इस भूमितलसे सूर्य और चन्द्रमातक जो अन्तराल दीख रहा है, अनेक आधारभूत अन्य पृथ्वियोंके नीचे नीचे भर जानेपर वह व्यवधान नहीं रह पायगा। किन्तु हमकी यहांसे सूर्यतकका पृथ्वियोंकी वित्त हो रहा व्यवधान दीख रहा है। अतः पृथ्वियोंके आधारभूत पुनः अनेक पृथ्वियोंकी कल्पना करना अयुक्त है। तिस कारणसे सम्पूर्ण भूमियां छहां दिशामें पिगिन मर्यादाको है रही अन्तवाली हैं। इस जैनसिद्धान्तको संशयरहित समझ लेना चाहिये।

नतु वाधोकः सप्तसु भृतिषु जीवस्य गतिवैविष्यं विरुद्धं ततो अमूश्यः शून्याभिस्ता-भिर्भविषय्यं । तथा च तत्सस्यनावैयर्थ्यं जीवाधिकरणविशेष्यरूपणार्थाः हि तत्सार्केट्सन्। श्रेषसी नाम्ययति वर्दते नत्सार् अब यहां किसीकी दूसरे प्रकारकी शंका खड़ी होती है कि नीचे नीचे सात भूमियों जीबोंकी विचित्रक्रमंसे गति होना तो विरुद्ध है। यदि समतलपर सातों भूमियां होती तब तो कोई जीव कहीं और अन्य जीव दूसरी भूमियोंमें चला जा सकता था। कई भूमियोंको भेदकर नीचे जीवका जाना कठिन है। तिस कारण उन अन्तरालनचीं भूमियोंसे उन भूमियोंको शून्य (रीता) होना चाहिये और तिस प्रकार अन्तरालरहित भूमियोंके हो जानेपर उन सात भूमियोंको कल्पना करना व्यर्थ है। उत्तरोत्तर अधिक पापको धारनेवाले जीवोंके विशेष अधिकरणोंकी प्रक्रपणांके लिये ही तो उन भूमियोंकी लम्बी, चौडी, संख्याओंमें कल्पना करना श्रेष्ठ था। अन्यथा नहीं। केवल एक भूमि मानना ही पर्याप्त है, उसीमें जीवोंको गति सुलभतासे सम्भव जाती है। इस प्रकार कह रहे वादीके प्रति श्री विधानन्द आचार्य समाधानको कहते हैं।

### नाधोधो गतिवैचित्र्यं विरुद्धं प्राणिनामिह । ताद्यक् पापस्य वैचित्र्यात्तन्निमित्तस्य तत्त्वतः ॥ १५॥

इन भूमियों में नीचे नीचे प्राणियों भी गतिकी विचित्रता निरुद्ध नहीं है। क्यों कि वास्तिवक रूपसे उस विचित्र गतिके निमित्त हो रहे तिस जातिके पापकी विचित्रता पायी जा रही है। अर्थात् मर जानेपर संसारी जीवकी गति छोकमें सर्वत्र अप्रतीचात है। मात्र तैजस कार्माण शरीरों को धार रहा जीव कहीं से कहीं भी जाकर जन्म छे सकता है। भूमि, पर्वत, स्मुद्ध, कोई उसे रोक नहीं सकते हैं।

शिसदं हिताबदशुभफलं कर्म पापं तस्य मकर्षतारतम्यं तत्कल्लस्य मकर्षतारतम्यादिति शाणिनां रत्नमभादिनरकभूमिसग्रुदभूतिनिमित्तभूतस्य पापविश्लेषस्य वैविष्ट्यात्तद्गतिवैविष्ट्यं न विरुष्यते तिर्यगादिगतिवैविष्ट्यवत् । यत एवं—

अशुभ फलेंको देनेवाला पापकर्म तो जगत्में प्रसिद्ध ही है, उस पापके फलकी प्रकर्षताका तारतम्य देखा जाता है। इस कारण उस पापके प्रकर्षका तारतम्य भी सिद्ध है। अर्थात्—दिदी, दुःखी, पीडाक्रान्त, रोगी, जीवोंमें अनेक जातिके पाप फलेंकी अतिशय बृद्धियां देखी जाती हैं। किसीको अल्प रोग है। अन्यको विशेष वेदनावाला रोग है। तृतीयको असाध्य रोग है। अथवा कोई अल्पधनी है, दूसरा दिर्द्ध, तीसरेको भरपेट भोजन भी नहीं मिळता है, चौथा उच्छिष्ट मांगकर भी उदरज्वालाको शांत नहीं कर सकता है, यो पापके फलोंकी प्रकर्षता बढ़ती बढ़ती देखी जा रही है। इसी प्रकार नरकगामी प्राणियोंके रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, आदि नरक भूमियोंमें ठीक उत्पन्न करा देनेके निमित्त हो चुके विशेषपापकी विचित्रतासे उन उन पृष्टियोंमें नीचे नीचे गमन कर जानेकी विचित्रताका कोई विशेष नहीं आता है जैसे कि तिर्थव आदि गतियोंकी विचित्रताका अविरोध मसिद्ध

है। अर्थात्—कोई जीव मरकर एकेन्द्रिय हुझ हो जाता है। अन्य जीव गेंडुआ, मक्खी, गधा, ल्दीआ घोडा, आदि तियं बोंमें जन्म ले लेता है। कतिपय जीव धनिकोंके हाथी, घोडे बल्ध होकर उपजते हैं। यह सब कर्मोंकी विश्वित्रता अनुसार यहां वहां गमन करना, जन्म लेना सिद्ध हो जाता है, जिस कारणसे इस प्रकारका सिद्धान्त व्यवस्थित है। इसका विधेय दल अग्रिमकारिकामें देखो।

## ततः सप्तेति संख्यानं भूमीनां न विरुष्यते । संख्यांतरं च संक्षेपविस्तरादिवशान्मतं ॥ १६ ॥

तिस कारणसे भूमियोंकी सात यह नियत संख्या करना विरुद्ध नहीं पढता है। यदि चाहे तो संक्षेप, विस्तार, मध्यसंक्षेप, मध्यविस्तार, अतिविस्तार आदिकी विवक्षाके बरासे भूमिकी अन्य संख्यायें भी मानी जा सकती हैं। अनेकान्तवाद अनुसार व्यर्थका आग्रह करना हमको अभीष्ट नहीं है। वे सब हमको स्वीकृत हैं।

### न दि संक्षेपादेकाथोभूमिरिति विरुध्यते विस्तरतो वा सैकर्विश्वातिभेदा सप्तानां प्रत्येकं जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्यात् ।

सात भूमियोंको नहीं मानकर संक्षेपसे एक ही अधोभूमि मान छी जाय यह कोई विरोध करने योग्य नहीं है, अथवा सात भूमियोंमेंसे प्रत्येक के जचन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट, मेद कर देनेसे वह अधोभूमि विस्तारसे इनकीस भेदवाछी कह दी जाय, इस मन्तव्यका भी हम विरोध नहीं ठानते हैं। पटलोंकी अपेक्षा उनंचास ४९ भेद कर दिये जांय, उसकी भी हम माननेक छिये संनद्ध हैं।

### तद्रतनरकसंख्याविश्रेषमदर्शनार्थमाइ।

अब उन भूमियोंमें प्राप्त हो रहे नरक स्थानोंकी संख्या विशेषका प्रदर्शन करानेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

## तासु त्रिंशत्पंचिवंशतिपंचदशदशित्रपंचोनैकनरकशत-सहस्राणि पंच चैव यथाक्रमस् ॥ २ ॥

उन भूमियोंमें सर्वत्र नारकी नहीं रहते हैं, किन्तु उन रक्षप्रमा आदि मूमियोंमें यथात्रमसे तीस छाख, पद्मीस छाख, पंदह छाख, दश छाख, तीन छाख, पांच कम एक छाख और केवछ पांच ही यों चौराशी छाख नरकविछ बने हुये हैं, जो कि वातवछयानत या अलोकाकाशको छू रही छम्बी सीबी सूमियोंके त्रस्ताकी मागमें ही कचित् स्थित है।

त्रिशक पंचानिकातिक पंचादक व द्या च त्रयध पंचीनेकं चेति द्वंद्वः, नरकाणां अतसह-साणि नरकंशतसहसारिण च तानीति स्वयदायी द्वतिः, तास्थिति रज्ञमभादिभूमिपरामश्रः, ययात्रम्यचर्ण ययासंख्याभिसंबंधार्थ। तेन रत्नमभायां त्रिश्रमरकश्चतसहसाणि, सर्करामभायां पंचिनिकातिः, बालुकामभायां पंचदश, पंकमभायां दश, धूममभायां त्रीणि, तमःमभायां पंचीनेकं नरकश्चतसहस्रं, महातमामभायां पंचनस्याणि भवेतीति विकाधते। कुतः पुनिक्षिश्रलक्षादि-संख्या रत्नमभादिषु सिद्धेत्याह।

तीस और पद्मीस और पन्द्रह और दश और तीन और पांच कम एक इस प्रकार विप्रहमें बहुतसे चकारोंको देकर तीस आदि पदोंका परस्पर सम्बन्ध करते हुये इन्द्रसमास करना चाहिये। पुनः "नरकोंके लाख " यों षष्ठी तत्पुरुष समास कर त्रिशत् आदिक जो वे नरक लक्ष हैं, इस प्रकार समासब्रिटित निज पदोंके अर्थकी प्रधानताको लिये हुये कर्मधारय समास कर लेना चाहिये। "तासु" इस तत्त शद्ध करके राजप्रमा आदि भूमियोंका परामर्श किया जाता है। सूत्रमें यथाक्रम शद्धका बचन तो राजप्रभा आदिके साथ तीस लाख आदिका यथा संख्य व्यवस्था अनुसार सम्बन्ध करनेक लिये है। तिस यथाक्रम शद्धकी सामर्थ्य करके राजप्रभामें तीस लाख शर्कराप्रभामें पद्धीस लाख, वालुकाप्रभामें पन्द्रहलाख नरक, पंकप्रभामें दशलाख, धूमप्रभामें तीन लाख, तमःप्रभामें पांच कम एक लाख, और सातवीं महातमःप्रभामें केवल पांच है। नरक है यह समझ लिया जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि किस युक्तिसे फिर राजप्रभा आदि भूमियोंमें तीस लाख आदि नरकोंकी संख्या सिद्ध की गयी है श्रिताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक हारा समाधान कहते हैं।

## त्रिंशलक्षादिसंख्या च नारकाणां सुसूत्रिता । रत्नप्रभादिषुक्तासु प्राण्यदृष्टविशेषतः ॥ १ ॥

श्री उमास्त्रामी महाराजने कही जा चुकी रत्नप्रभा आदि पृथ्वियोंमें नरकोंकी तीस लाख, पश्चीस लाख, आदि संख्या बहुत अच्छी सूत्र द्वारा समझा दी है, जो कि नारक प्राणियोंके तिस प्रकार पूर्व जम्म उपार्जित विशेष अद्यक्ति हो रही नियंत है।

ताहरतः शाणिमां तंशिकासिनामदृष्ट्विकेषः पूर्वेपासाः संमाण्यते यतस्तासु त्रिश्रहः क्षादिसंख्या नरकाणां रत्नभभादिसंख्या च सिध्यतीति शोभनं सूत्रिता सा ।

उन नरकोंमें निवास, करनेवाले प्राणियोंके पूर्व जन्ममें उपार्जित और िस प्रकारकी जातिको धार रहे ईषद् पुण्यमिश्चित पापविशेष सम्भावित हो रहे हैं जिनसे कि उन भूमियोंमें नरकोंकी तीस छाख आदि संख्यार्थे और रत्नप्रभा आदि भूमियोंकी सात संख्यार्थे सिद्ध हो जाती हैं। इस अकार श्री उमास्वामी महाराजने सुन्दरतापूर्वक सूत्रमें उस संख्याको दर्शा दिया है। भाषाये — सूर्य, चन्द्रमा, आदि अकृतिम पदार्थ अनादिसे निर्मित हैं तो भी जहां सूर्य चन्द्रमाका प्रकाश हो रहा है, ऐसे स्थानोंमें जीवोंका जन्म देना पुण्य, पापसे, सम्बन्ध रखता है। तीर्धकर महाराजके पुण्य अनुसार पहिछेसे ही सुन्दर स्थानोंका निर्माण हो जाता है, तथा पापा जीवोंके निवास स्थान अतीय घृणास्पद बन चुके रहते हैं, यवापि ये सात भूमियां और चौरासी छाख किले अनादि अनन्त अकृतिम हैं। फिर भी अनादि अनन्त कालीन अनन्तानन्त नारिकियों के समुद्दित पुण्य, पाप, अनुसार सफुट या विचिपिचे स्थानोंमें जन्म छेन। अदृष्ट अनुसार समझा गया है, पुण्य और पापमें बडी विलक्षण शक्तियां भरी हुई हैं।

## इति सूत्रद्वयेनाधोलोकावासविनिश्रयः। श्रेयान् सर्वविदायातस्यान्नायस्य विलोपतः॥ २॥

इस प्रकार " रत्न, शर्करा " प्रश्ति और " तासु किरात " सादि इन दोनों सुने करके सूत्रकारने सर्वक्षकी धाराने चली आ रही आन्नामको अनिच्छेद हो जानेसे अधीलोकों अकृतिम बन रहे निवास स्थानोंका विशेष रूपते श्रेष्ठ निर्णय कर दिया है, अधवा यों अनुमान बना को कि अधीलोकके निवास स्थानोंका विशेष रूपसे तिश्चय कर हेना (पश्च) श्रेष्ठ है (साम्म) क्योंकि लोक, अलोकको प्रत्यक्ष देखनेवाले सर्वक्षकी चली आ रही आम्नायका असीतक विच्छेद सहीं हो पाया है।

न हि सर्वविदायातत्वमेतदाम्बायस्यासिकं काभकाशावात् स्वर्गायाम्बायस्य, माक्-चितितं चागमस्य मामाप्यमिति नेष्ठ मतन्यते ।

गुरूपरम्परासे चले आ रहे इस श्री उमास्तामी महाराजके समीचीन उपदेशकी सर्वन्न भारासे चला आयापन असिद्ध नहीं है ( प्रतिन्ना ) सम्बन्ध प्रमाणींका अमान होमेसे ( हेतु ) स्वर्ग भोगभूमि, मोक्ष, आदिके सम्प्रदाय समान ( अन्त्रबद्धान्त ) इस अनुमानसे इस स्क्रके अर्थकी सर्वन्न धारासे प्राप्ति होना सध जाता है । आगमकी प्रमाणताका हम पूर्व प्रकरणोंमें बहुत अच्छा विचार कर चुके हैं, इस कारण यहां संक्षित न्याख्यानोंमें उसका अधिक विस्तार बद्धाया नहीं जाता है । अते शक्के शक्के देत अधिक प्रमेयकी प्रतिपत्ति कर छेनेकी टेवको बढाओं ।

#### कीरक्षेत्रपाद्यस्तत्र पाणिनोः वसंतीत्वाहः।

उन नरकोंमें किस जातिकी लेश्याबाले या किस ढंगके परिणाम आदिको धारनेबाले प्राणी निवास करते हैं ! ऐसी जिज्ञासा दोनेपर और उमाजानी नद्दाय आगिन स्वत्रको जाहरे हैं

## नारका निस्याग्रभलस्केश्यापरिकामदेहवेश्यक्रियाः॥

नरकोंमें निवास करनेवाछे जीव निख ही अत्यन्त अशुभ लेक्यावाले बने रहते हैं। कृष्ण, नीख, कापोत, इन लेक्याओं ने निकृष्ट अंश उन जीवों के पाये जाते हैं। नारकी जीवों के क्षेत्र विशेषकी अपेक्षा हुये अत्यन्त अशुभ परिणाम हैं, जो कि दिन, रात, अंतरंग, बहिरंग, अत्यन्त दुःखों के कारण बन रहे हैं। नारक जीवों के शरीर अशुभनामकर्म के उदयसे उपने विकृत पृणित आकृतिवाले अत्यन्त अशुभ हैं। अन्तरंग, बहिरंग कारणोंसे हुई नारिकयोंकी वेदना अतीव अशुभ है, तथा नारिकयोंके मले ही अच्छी विकिया बनानेकी इच्छा हो किन्तु उनके तीव पाप के फल अनुसार अशुभ शरीर विकृतियां बन बैठती हैं, जिससे कि स्व और परको अतीव दुःख उपजाया जा सके, नारिकयोंके ये भाव नीचे नीचे अधिक अशुभ बढते हुये समझ लेने चाहिये।

छेज्ञ्यादिशन्दा उक्तार्थाः । तिर्यग्न्यपेक्षयातिश्चयानिर्देशः पूर्वेपेक्षो वाधोगतानां । नित्य-प्रहणाह्येज्याद्यनिष्टत्तिप्रसंग इति चेन्न, आभीक्ष्ण्यवचनत्वाभित्यश्चद्रस्य नित्यप्रहसितवत् ।

हेला है। यहां नारकी जीवोंकी अधुमतर छेल्या आदिका तिर्यगातिमें होनेवाछे अशुम छेल्या आदिकी अपेक्षा करके अतिशयरूप कथन किया गया है। अथवा पहिछी पहिछी भूमियोंमें निवास करनेवाछे नारिकियोंकी अपेक्षा उनसे नीचे, नीचे भूमियोंमें प्राप्त हो रहे नारिकियोंकी छेल्या आदिक अतिशयको छिये हुये अशुम हैं। यदि कोई यहां यों कहें कि नारिकियोंके छेल्या आदिक अतिशयको छिये हुये अशुम हैं। यदि कोई यहां यों कहें कि नारिकियोंके छेल्या आदिक जब सर्वदा अति अशुम ही बने रहते हैं, तब तो उनकी छेल्या आदिकी कभी निवृत्ति या परावृत्ति नहीं हो सक्तनेका प्रसंग प्राप्त हो जायगा। एक ही छेल्या बनी रहेगी। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यहां नित्यका अर्थ आकाशके समान अविचलमात्र बना रहना नहीं है, किन्तु यहां नित्य शाहको अर्थ अभीक्षण इष्ट किया गया है। जैसे कि " नित्यः प्रहसितो देवदत्तः" देवदत्त नित्य ही हसता रहता है, यहां नित्यका अर्थ बहुत कालतक ही समझा गया है। खाते, पीते, सोते, पढते उसका हंसना छूटे ही नहीं यह अर्थ नहीं है। अभीक्ष्यका अर्थ प्रायः, बहुत या बहुमाग अथवा पुनः पुनः है।

### के पुनरेवं विशेष्यमाणा नारकाणामित्वाह ।

महाराज फिर यह बताओं कि इस प्रकार विशेषित हो रहे वे जीव भंजा कौनसे हैं ! जिनकी अपेक्षा नारिकरों की लेक्सा, परिणाम, आदिक अधिक अशुभ कहे गये हैं । ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अपिमवार्तिक हान समाधान वचन कहते हैं ।

तिर्यंचोऽश्चभक्तेश्याद्यास्तेभ्योप्यतिशयेन ये। प्राणिनोऽश्चभक्तेश्याद्याः केचित्ते तत्र नारकाः ॥ १ ॥ जगत्में अशुभ केश्या, अशुभ परिणाम, अशुभ देह, आदिको धारनेवाले जीव तिर्येच हैं, उन तिर्येचोंसे भी अतिशय करके अशुभ लेश्या आदिको धारनेवाले जो कोई भी प्राणी हैं, उन संसारी जीवोंमें वे प्राणी नारकी समझे जाते हैं। इस ढंगसे श्री विधानन्द स्वामीने श्री उमास्वामी भग-वान्के सूत्रको लक्ष्य लक्षण भाव या हेतु साध्यभावके अनुसार घटित कर दिया है।

तिर्यचस्तावद्युमलेक्याः केचित्यसिद्धास्ततोप्यतिभयेनाशुमलेक्याः प्राणिनो नारकाः संमान्यंते अशुभतरलेक्याः, प्रथमायां भूमौ एवमशुभतरपरिणामादयोपीति प्रसिद्धा एव प्रति-पादितिवभेषाथारा नारकाः, ततोप्यतिभयेनाशुभलेक्यादयो द्वितीयायां, तृतीयायां, तृतीपि चतुर्थ्यां, ततोपि पंचम्यां, ततोपि षष्ठ्यां, ततोपि सप्तम्यामिति ।

गिडार, मकडी, चिर्इया, कौआ, सांप, मेडिया, बिछी, उल्द्र आदि किन्हीं किन्हीं तियंचोंके तो अशुभ छेश्या हो रही प्रसिद्ध ही है। उनसे भी आतिशय करके अशुभ छेश्यावाछे नारकी प्राणी संभावित हो रहे हैं। अतः पहछी पृथ्वीमें नारिक्रयोंको अशुभतर छेश्यावाछा कहा जाता है, इसी प्रकार अनेक तियंचोंके परिणाम, शरीर, बेदना, आदि भी अशुभ प्रसिद्ध ही होरहे हैं। उनकी अपेक्षा अत्यधिक अशुभ परिणाम आदिको धारनेवाछे पिह्छी भूमिके नारकी जीव कहे जा चुके विशेषोंके आधार होरहे प्रसिद्ध हो जाते हैं। उन पिहछी पृथिवीवाछे नारिक्रयोंसे भी अतिशय करके अशुभ छेश्या, परिणाम, आदिको धारनेवाछे जीव दूसरी पृथिवीमें हैं, उन दूसरीवाछोंसे भी तीसरीमें, उस तीसरीसे भी चौथीमें, उस चौथीसे भी पांचवीमें, उस पांचवीसे भी छठी भूमिमें और उस छठीसे भी सातवीं भूमिमें नारिक्रयोंके अशुभ छेश्या, परिणाम आदिक अतिशय करके बढते जाते हैं। इस प्रकार धनांगुछके दितीय वर्गमूछसे गुणित जगच्छेणी प्रमाण संपूर्ण नारिक्रयोंके छेश्या, परिणाम आदिक नीचे नीचे मूमियोंमें अधिक अधिक निकृष्ट होते चछे गये हैं।

### कथं पुनरेतदशुभत्वतारतम्यं सिद्धमित्याइ।

यह छेश्या आदिकोंके अशुभपनका उत्तरोत्तर तरतम रूपसे बढना फिर किस प्रमाणसे सिद्ध है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिकको कहते हैं ।

## संक्लेशतारतम्येनाशुभतातारतम्यता । सिष्धेदशुभलेश्यादितारतम्यमशेषतः ॥ २ ॥

नीचे नीचे भूमियोंमें नारकी जीबोंके संक्लेशकी तरतमतासे छेश्या आदिकोंके कारण अशुभपन का तरतमपना सिद्ध होजाता है, और उसी तरतमतासे अशुभ छेश्या आदिकोंका तरतमपना सम्पूर्ण रूपसे सब जावेगा ।

### संबक्षेश्व श्रीवस्याविद्यद्विपरिणामो मिथ्यादर्शनादिस्तस्य तारतम्यादद्यभत्वतारतम्यय-श्रेषतोषि केष्यादीनां सिध्येदिति न तदहेतुकं यत्नोतिमसज्येत ।

जीतके विश्व नहीं हुये मिथ्यादर्शन, क्रोध, असातवेदन, आदि अशुद्ध परिणामीको संक्रेश माना गया है। उस संक्रेशके तारतम्यसे सम्पूर्ण रूपसे मी छेल्या, परिणाम, आदिकोंके अशुभयनका तारतम्य सिद्ध होजावेगा। इस कारण वह नीचे नीचे छेल्या आदिकोंका अशुभयना स्वकीयकारक हेत-आसे रहित नहीं है, जिसे कि नारिकियोंसे आतिरिक्त अन्य श्रेष्ठ मनुष्य या देवोंमें भी अशुभतर छेल्या आदिके पाये जानेका अतिप्रसंग हो जाता। अर्थात्—नारिकियोंके समान अन्य जीवोंमें कारण नहीं होनसे अशुभतर छेल्या आदिक विवर्त नहीं पाये जाते हैं।

### न्तु चैकांतिकदुःखयोगिनो नारकाः मुखदुःखयोगिनां तिर्यश्मनुष्यवचनात्, ऐकांतिक-सरीरमुखयोगिनां देवत्वाभिधानात् । तत्र किमुदीरितदुःखास्ते नारका इत्याह ।

यहां किसी शिष्यकी समिचीन शंका है कि नारकी प्राणियोंके तो एकांतरूपसे सर्वथा दुःखोंका ही योग छम रहा है और सामान्य रूपसे तिर्थच या मनुष्योंमें न्यून या अधिक रूपसे छुल और
दुःखका सम्बन्ध होना कहा गया है तथा एकांत रूपसे शारिरिक छुलका योग धारनेवाछे प्राणियोंको
देवपना कहा गया है। अर्थात्—एकांतरूपसे दुःखी नारकी जीव हैं और एकांत रूपसे शारिरिक
छुलबाछे देव हैं। अर्थात्—मनुष्य और तिर्थच तो कदाचित् छुली और कदाचित् दुःखी समझे गये
हैं। दिदि पुरुषोंको त्योहारके दिन कुछ अच्छा भोजन मिछ जानेसे आपेक्षिक उतना ही छुल मिछ
जाता है जितना कि धनिकोंको महीनोंतक षट्रस प्रित मोजन करनेसे प्राप्त होता है। पटरानी या
सेठानीको रक्तजबित सूर्वण भूषणोंसे जितना आनन्द मिछता है उससे कही अधिक कौडी, गोंगची,
पीतल, कांच, आदिके बने हुये आभूषणोंको पहननेवाछी मीछिनिको आभिमानिक सुल प्राप्त होजाता
है। अधिक परिश्रम या क्छेश उठानेवाछे पशुपिक्षयोंमें भी कुछ आपेक्षिक छुल होरहा है, जीवको अनुकुछ होरहे तिर्थच शरीरमें आत्माको ठंसे रहनेवाछी तिर्थमायुः कर्मका पुण्यप्रकृतियोंमें पाठ है। यहां
उस नारकियोंके विषयमें हमको यह पूंछना है कि क्या वे नारकी उदीरणाको प्राप्त हुये दुःखके
भोगनेवाछे भी हैं! ऐसी आशंका होनेपर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अपिम सूत्रको कहते हैं।

## परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

भवप्रत्यय अवधि करके नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको दूरसे ही दुःखका कारण समझाकर शृगाल आदिके समान अन्तरंगकारण असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा द्वारा परस्परमें अतितीव दुःखको उपजाते रहते हैं। अर्थात्—उन नारकियोंमें परस्पर करके दुःख उपजाया जाता है।

नतु च कोपोत्पची सत्यां परस्परं दुःखोदीरणं दृष्टं नान्यथा न च तेषां तदुत्पची कारणमस्ति न चाकारणिका सांतिमसंगादिति चक्क, निर्दयत्वाचेषां परस्परदंश्वेन सर्ति कोपोत्यचिनदिवका त्यचेः श्वत् । सत्यंतरंगे कीधकर्मीदय बहिरंगे च परस्परदर्शने तेषां कोपोत्यचिनदिवका यतोतिमसंगः स्यादिति ।

कोई शिष्य शंका करता है कि तीन कोपकी उत्पत्ति होते संतं, तीतरों, मेसों कुतों मुगों आदिके समान कित्यय जीनों में परस्पर दुःखकी उदीरणा (प्रवाहित होता) देखी गयी है। अन्यया नहीं। यानी कोधकी उत्पत्ति हुये विना सज्जन, छिरिया, आदिकों के दुःख उपनता हुआ नहीं देखा गया है। जब कि उन नारकी जीनों के उस क्रोधकी उत्पत्ति होने कोई कारण ही नहीं है तो ऐसी दशामें कारणको निमित्त नहीं पाकर वह कोधकी उत्पत्ति नहीं हो। सकती है। यदि कारणोंके विना ही निष्कारण कोध उपज बैठेगा, तब तो अतिप्रसंगदोष हो जायगा। अर्थात् सज्जन साधु पुरुषों भी तीन कोध पाया जानेगा। अतः कोधके विना नारिकयों में दुःखकी उदीरणा नहीं हो सकती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि निर्दय होनेसे कुचोंके समान उन नारिकयोंके परस्पर एक दूसरेको देखते सन्ते ही कोपकी उत्पत्ति हो जाती है। अन्तरंग कारणा पोक्रिके कर्मका उदय होनेपर और बहिरंगकारण परस्परका दर्शन होनेपर उन नारिकयोंके कोधकी उत्पत्ति हो रही हेतुओंसे रहित नहीं है, जिससे कि साधुओंमें भी इसी प्रकार कोध उपजानेका अतिप्रसंग होता। कोधको सकारण मान छेनेपर अतिन्यांति टळ जाती है। जगत्के पाकर् कार्य नियत कारणोंसे ही बनाये जाते हैं।

तथा तैर्नारकेर्दुःसं परस्परमुदीर्यते । रोद्रप्यानात्समुद्भूतेः कुद्धैर्मपादिभिर्यथा ॥ १ ॥ निमित्तदेतवस्त्वेतेऽन्योन्यं दुःस्तसमुद्भवे । बहिरंगास्तथाभृते सति स्वकृतकर्मणि ॥ २ ॥

तथा खोटे रौद्रध्यानसे नरकमें उत्पत्ति होनेके कारण उन कोशी नारिकयों करके परस्परमें दुःख उभार दिया जाता है, जैसे कि उत्साहसहित छछकारनेसे कुपित हो रहे मैदा, मुर्गा, दुष्टजन, अविकों करके परस्परमें दुःख उभार छिया जाता है। अतः तिस प्रकार तीव दुःखके अन्तरंगकारण निज उपार्जित कमीके होते संते परस्पर दुःखके उपजानेमें नारकी जीव बहिरंग निमित्तकारण हो जाते हैं।

### तती नेदं परस्यसदीरितदुःस्वत्वं नारकाणामसंभाव्यं युक्तिमन्त्वात् ।

तिसंकारण युक्तियोंका सङ्गत्र हो जानेस यह नारकी जीवोंके परस्परमें उदौरित हुये दुःखसे सिहतपना असम्भव नहीं है।

### अन्योदीरितदुःखाश्र ते इत्याइ।

तथा अन्य कारणोंसे भी उदीरणा प्राप्त हुये दुःखोंको धारनेवाछे वे नारकी जीव हैं, इस सिद्धान्तको प्रकट करनेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

## संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

चतुर्थी भूमिसे पिहेले यानी तीसरी तक संक्षेत्रको प्राप्त हो रहे कतिपय असुरकुमार जातिके देवों करके उदीरणाको प्राप्त किये जा रहे दुःखको झेलनेवाले भी नारकी हैं।

पूर्वभवसंक्रेशपरिणामोपात्ताग्चभकर्मोदयात् सततं क्रिष्टाः संक्रिष्टा असुरनामकर्मोदयाद-सुराः संक्रिष्टाश्च तेऽसुराश्चेति । संक्रिष्टविश्लेषणमन्यासुरनिष्ट्रत्यर्थे, असुराणां गतिविषयनियम-मद्शेनार्थे पाक्चतुर्थ्यो इति वचनं । आङो प्रदणं छघ्वर्थिमिति चेन्न, संदेहात् ।

पूर्व जन्ममें भावना किये गये अत्यन्त संक्षेश परिणाम करके उपार्जित अश्रभ कर्मका उदय हो जानेसे नित्य ही क्रेश युक्त हो रहे जीव संक्रिष्ट कहे जाते हैं। देव गतिकी उत्तरोत्तर भेदरूप असुर मामकर्म प्रकृतिके उदयसे इये जीव असर हैं । संक्रिप्ट हो रहे जो वे असर देव हैं इस प्रकार कर्मधारय कृति करके " संक्रिष्टासुराः " राह्नको बना छेना चाहिये। सम्पूर्ण असुरकुमार देव तो नारिकयोंको द:ख नहीं उपजाते हैं । किन्तु अम्बावरीष आदि कोई कोई असुरकुमार ही कलहाविय हो रहे उन नारिक्यों की भिडाते रहते हैं। इस कारण अन्य भद्र असुरोंकी निवृत्ति के छिये सूत्रमें असुर शहका विशेषण " संक्रिप्ट " पद दे रक्खा है । दुःख वेदनाकी उदीरणाके कारण बन रहे संक्रिप्ट असुरोंकी गति तीन प्रश्विमोर्ने ही है, इससे नीचे नहीं है। इस गति विषयक नियमका प्रदर्शन करानेके छिये सत्रमें चतुर्थींसे पहिले पहिले यह वचन कहा है । कोई प्रश्न करता है कि प्राक् शद्धकी अपेक्षा आङ्का प्रहण लाववके लिये उचित है '' प्राक्चतुर्धाः '' की अपेक्षा आचतुर्धाः कहनेमें परि-णामकृत छाध्व है। सूत्रकारको एक एक मात्राके छाधवपर छक्ष्य रखना चाहिये। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तुच्छता प्रदर्शक लाघव तो नहीं दिखलाना चाहिये, क्योंकि संदेह हो जायगा। आङ् निपातका अर्थ तद्रित मर्यादा और तत्सिहत अभिविध दोनों होते हैं। ऐसी दशामें संशय हो सकता है कि चतुर्यी भूमि भी छी गयी है ! अथवा क्या उससे प्रथम तीसरी भूमितक ही असुर जाते हैं ! । ऐसी दशामें कोई चतुर्थी भूमिको भी हे हेते। अतः संदेहकी निवृत्ति के हिये स्पष्ट रूपसे प्राक् शद्धका कथन करना सूत्रकारको समुचित पडता है।

चश्रद्धः पूर्वहेतुसश्चयार्थः । अनंतरत्वादुदीरितग्रहणस्यहानर्थवयमिति चेन्न, तस्य वृत्ती परार्थत्वात् । वाक्यवचनमिति चेन्न, उदीरणहेतुशकारप्रदर्शनार्थत्वात् पुनरुदीरितग्रहणस्य । तेन कुंमीपाकाद्यदीरितदुःखाश्रेति प्रतिपादितं भवति । कथं पुनः—

इस सूत्रमें पढ़ा हुआ च शह तो पूर्वमें कहे जा चुके हेतुओंका एकत्रीकरण करनेके लिये है । अर्थात्—तीसरी भूमितक असुरकुमार भी नारिकयोंको दुःख उपजाते हैं, और पूर्वसूत्र अनुसार परस्परमें भी उनको दुःखकी उदीरणा की जा रही है। अन्यया यानी च शहका कथन नहीं करनेपर पहिली तीन भूमियोंमें पूर्वोक्त हेतुओंके अभावका प्रसंग आवेगा जो कि इष्ट नहीं है । यहां किसीका आक्षेप है कि पूर्व सूत्रमेंसे अव्यवहित होनेके कारण उदीरित शहकी अनुशत्ति होय ही जायगी। पुनः इस सूत्रमें उदीरित शहूका प्रहण करना व्यर्थ है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि वह पूर्व सूत्रका उदीरित शद्ध तो समास वृत्तिमें दूसरेके छिये विशेषण होकर गीण हो चुका है। अर्थात् —'' पदार्थः पदार्थेनान्वेति नत्वेकदेशेन '' पदार्थका पूरे पदार्थके साथ अन्वय होता है, एक देशके साथ नहीं । देखो, भृत्यको यदि जल लानेके लिये कहा जाय या भोजन बनना देखनेको कहा जाय तो उस भृत्यका केवल हाथ या आंखें ही नहीं चले जाते हैं, किन्तु अंगोपांगसहित पूरा शरीर जाता है, अथवा कर्मचोर भृत्यका कोई भी अवयव नहीं जाता है। इसी प्रकार समासमें गीण हो चुके केवल उदीरित शह्न भी अनुकृति नहीं हो सकती है। यदि आक्षेपकार पुनः यों कहे कि तब तो और भी अच्छा हुआ । समसितपद नहीं कहकर सूत्रकारको यों वाक्य ही कह देना चाँहिये कि " परस्प-रेण उदीरितदुःखाः, संक्लिष्टासुरैक्ष, प्राक् चतुर्च्याः '' अर्धात्—नारकी परस्पर करके उदीरित हुये दु:खवाछे हैं और चौथी पृथ्वीसे पाईछे संक्लिष्ट असुरों करके उदीरित हुये दु:खको भी भुगत रहे हैं. आचार्य कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं। क्योंकि ऐसी दशामें उदीरित शद्ध अवश्य ही व्यर्थ पढ़ेगा। किन्तु आचार्यके व्यर्थ होरहे शद्वमें भी अट्टट प्रमेय धन भरा हुआ है। अतः पुनः उदीरित शद्वका प्रहण करना तो उदरिणाके कारण होरहे इतर प्रकारोंका प्रदर्शन करनेके छिये है, तिस करके यह भी कह दिया गया समझा जाता है कि कुम्भीपाक, छोहघनघात, आदि कारणोंसे भी नारिकयोंको की उदीरणा होरही है। नरकोंमें तप्त छोहेके स्तम्भोंसे चिपटना, तीखे तलवार या छूरेसे काटा जाना. तपे तैलमें डुबो देना, हिंदुयांमें पका देना, लोहके मीगरोंसे पीटा जाना, कोल्ह्रमें पिलना, तथा स्वयं नारिक्यों द्वारा विक्रिया कर छिये गये रीछ, व्याघ्र, लिहरिया, बिछी, नौला, गृद्ध, उल्लू, कौआ, चील, आदि वैकियिक देहधारी प्राणियों करके खाया जाना, आदिक कारणोंसे भी भारी द:ख उपजाये जारहे 崔 । अब कोई पूंछता है कि सूत्रकारका उक्त सिद्धान्त फिर किस युक्तिके आधारपर समझ छिया जाय ? इसका समाधान करनेके लिये श्री विधानन्द स्वामी अप्रिम वार्तिकोंको कहते हैं।

> संक्लिष्टेरसुरेर्दुः सं नारकाणामुदीर्यते । मेषादीनां यथा तादकरूपेस्तिसृषु भूमिषु ॥ १ ॥ परासु गमनाभावातेषां तद्वासिदेहिनां । दुःस्वोत्पत्ती निमित्तत्वमसुराणां न विद्यते ॥ २ ॥

### एवं सूत्रत्रयोत्रीतस्वभावा नारकांगिनः। स्वकर्भवदातः संति प्रयाणनयगोचराः॥ ३॥

उपरही तीन भूमियों में नारिकयों को सिक्केष्ट असुरों करके दुःखकी उदीरणा कराई जाती है जैसे कि तिस जाति के संक्रेरा स्वरूपवाके प्रतिमक्क या मेटा आदिको छडानेवाले कछह प्रिय मनुष्यों करके मेटा, तीतर, बैछ, आदिके दुःखोंकी उदीरणा करा दी जाती है। उन असुरकुमारोंका परछी चौथी, पांचवीं, आदि भूमियोंमें गमन नहीं होता है। तिस कारण उन चौथी आदि भूमियोंमें निवास करनेवाछे शरीरधारी नारिकयोंके दुःखकी उत्पत्तिमें उन असुरकुमारोंको निमित्तकारणपना विध्यान नहीं है। इस प्रकार " नारका नित्वासुभतरछेश्यापरिणामवेदनाविक्रियाः, परस्परोदीरितदुःखाः, सिक्केष्ठासुरोदीरितदुखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः" इन तीन सूत्रों करके नारक प्राणियोंके परिणाम आगम-प्रमाणहारा भछे प्रकार समझ छिये गये हैं। अपने पूर्व उपार्जित कर्मोंकी अधीनतासे नारकी जीव तिस प्रकार अग्रुम परिणाम या दुःखोंक भाजन बन रहे हैं। वे तिस प्रकारके नारकी जीव तो प्रमाण और नयके विषय हो रहे जान छिये जाते हैं। अतः आगमके समान युक्तियोंका भी वहां अवकाश है।

प्रमाणं परमागमः स्याद्वादस्तद्विषयास्तावद्ययोश्नीता नारका जीवाः साकल्येन तेषां ततः प्रतिपत्तेः नयविषयाश्च विप्रतिपत्तिसमाक्रांतैकदेशप्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तिरिति प्रमाणनयैर-षिगमो नानानारकाणामृश्वः ।

सर्वोत्कृष्ट आगमप्रमाण स्याद्वाद सिद्धान्त है, उसके विषय हो रहे वे पूर्वोक्त कथन अनुसार नारकी जीव ज्ञानळक्षणप्रत्यासित द्वारा जान किये गये ही हैं। क्योंकि उस आगमप्रमाणसे उन नारकियोंकी सम्पूर्णरूपसे प्रतिपत्ति हो जाती है तथा नय ज्ञानके भी विषय होरहे नारकी जीव हैं। क्योंकि विवादस्थळमें भले प्रकार प्राप्त हुये विषयकी एक देशसे प्रतिपत्ति होनेकी अन्यथा यानी नय-प्रवृत्तिके विना असिदि है, इस प्रकार अनेक नारकियोंका प्रमाण और नय करके अधिगम करना, विचार छेना चाहिये। अर्थात्—वस्तुकी साकल्येन प्रतिपत्ति करानेवाळा प्रमाणज्ञान है और वस्तुके एक देशकी प्रतिपत्ति करानेवाळा नय है, इनके द्वारा नारकियोंकी सम्पूर्ण व्यवस्था जानी जाती है। नरक मूमियोंके प्रस्तार, इन्द्रकविळ, श्रेणी विळ, पुष्पप्रकीर्णक विळ, उष्णवरक, शीतनरक, संख्यात का असंख्यात योजनवाळे विळे, शरीरकी उच्चाई, भोजन, पान, आदि व्यवस्थाओंको स्यादाद सिद्धान्त द्वारा निर्णय कर छेना चाहिये। संक्षेप कथनका छक्ष्य होजाने पर विस्तृत कहनेकी रुचि नहीं होती है। 'प्रमाणनयरिधिगमः' यह सूत्र सर्वत्र अन्वित हो द्वा है। तदनुसार अल्य रुचिवाळे या मध्यम रुचिवाळे अथवा विस्तृत विचारवाळे जीताओंको वैसे वैसे साथमीदारा प्रमेयोंकी प्रतिपत्ति कर छेनी चाहिये।

### अयः रत्वप्रभाविनरकेषु त्रिश्वञ्जक्षाविसंख्येषु यथाकमं स्थितिविश्वेषयतिपर्यर्थमाह ।

इसके अमन्तर अब श्री उमास्वामी महाराज तीस लगव, पर्वास छाख, आदि संस्थानाठे रल-प्रभा आदि स्मियोंमें स्थित हो रहे नस्कोंमें यथाकामसे उपार्जित आयुष्य कर्म द्वारा हो रही स्थिति विरोषकी प्रतिपत्ति करानेके किये अग्रिम सूचको कहते हैं।

## तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयश्चिशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

उन चौरासी लाख नरकोंमें निवास करनेवाले नारक प्राणियोंकी अनुकासी एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर, तेतीस सागर प्रमाण उत्क्रष्ट स्थिति है।

सागर उपमा येषां तानि सागरोपमाणि, सागरस्योपमात्वं द्रव्यभूयस्त्वात् । एकत्रिसप्त-दश्वसप्तदश्वद्वाविश्वतित्रयत्रिश्वत्सागरोपमाणि यस्या सा तथेत्येकादीनां कृतद्वन्द्वानां सागरो-पमविश्वषणत्वं ।

अछौकिक मान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भेदोंसे चार प्रकारका है। तिनमें द्रव्यमानके संख्या-प्रमाण और उपमा प्रमाण दो भेद हैं । उपमा प्रमाणके आठ भेदोंमें सागर नामका भी प्रकार है, जिन मानों या आयुओंकी उपमा छवण समुद्र है, वे सागरोपम हैं। अछौकिक मानोंमें सागरको उपमापना तो जल द्रव्यकी बहुलतासे दिया गया है। अद्धापल्यते दश कोटाकोटी गुणी बढी और सूच्यंगुलके असं-ख्यातवें भाग छोटी सागर नामक एक उपमा प्रमाणसे नापी गयी संख्याविशेष हैं। एक योजन छम्बे, चौडे, गहरे, गर्तको, जन्मसे सात दिन भीतरके भैदाके कर्तरीसे पुनः किन नहीं हो। सके ऐसे बाला-ग्रोंसे भरकर पुनः सौ सौ वर्ष पीछे निकालते हुये जितना समय लगता है, वह व्यवहार पत्य समझा जाता है। व्यवहार पत्यसे असंख्यात गुणा उद्धारपत्य है, अद्धापत्य तो इससे भी असंख्यात गुण है। एक योजनवाळे पल्यके समान दो काख योजन चौडे और पांच छाख योजन न्यासवाळे इजार योजन गहरे ख्वण समुद्रको वैसे हा रोमोंसे भरा जाय और **छह** केरोंको घेरनेवाळे जळके उळीचनेमें यदि **पद्या**स समय डमें तो पूरे छवण समुद्रको खाछी करनेमें कितने समय छमेंगे ! यों त्रैराशिक की जाय तब दश कोटी ब्ब्ब आ जाता है। यह सागर परिमाणकी उपपेति है। जिस्र स्थितिका एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस, तेतीस, सागरोपम परिमाण है, वह स्थिति उस प्रकार '' एकत्रिससदशसम्हा-विशितित्रयिक्षशत् सागरीपमा " कही जाती है। इस प्रकार एक और तीन और सात और दश और सत्रह और बाईस और तेतीस यों बहु समान किये जा कि बहु सहिए आहि क्लेंको सागरोपमका विशेषण होना सब्ह क्रिया जाता है।

रत्नमभादिभिरानुपूर्व्येण संबंधी यथाक्रमानुष्ट्येः । नरकप्रसंगरतेष्विति वचनादिति वेक, रत्नमभाष्यपलक्षितानि हि नरकाणि त्रिंशच्छतसहस्रादिसंख्यानि तेष्वित्यनेन परामृष्ट्येते, साइचर्याद्वा ताच्छव्यात्सिद्धिः । तती यथोक्तसंख्यनरकसाइचर्याद्रत्नमभादयो नरकशब्द-वाच्याः मतीयंते । यथेवं रत्नमभादिष्वधिकरणभूतासु नरकाणां स्थितिः मसक्तेति चेत्, सच्चानामिति वचनात् । परोत्कृष्टा न पुनरिष्टा परशब्दस्येष्टवाचकस्यहाग्रहणात् ।

दूसरे सूत्रमें पडे हुये " यथाक्रमम् " पदकी अनुवृत्ति कर छेनेसे एक आदिकोंका रत्नप्रभा आदिके साथ आनुपूर्व्य करके संबंध कर छेना चाहिये। यदि यहां कोई यों आक्षेप करें कि सूत्रकी आदिमें '' तेषु '' ऐसा वचन है । इस कारण तत्पदद्वारा नरकोंका परामर्श किया जाकर नरकोंकी स्थितिको एक, तीन, सागर आदिके होनेका प्रसंग आवेगा । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि रत्नप्रभा आदिके आधेय होकर उपलक्षित हो रहे जो तीस लाख, पश्चीस लाख आदि संख्यावाळे नरक हैं, पूर्व परामरीक तेषु इस पदकरके उन नरकोंका ही परामरी किया जाता है। अथवा सहचरपनेसे भी उसी शब्दद्वारा कहाजानापन हो रहा है । सहारनपुरका साहचर्य होनेसे सहारनपुरकी स्टेशनको भी सहारनपुर कह दिया जाता है, यहांके गन्नोंको भी सहारनपुर कह देते हैं । अतः रत्नप्रभा आदि भूमियोंको भी नरक शद्ध द्वारा कथन किये जानेकी सिद्धि होजाती है । तिस कारण पूर्वमें यथायाय कही गयी संख्याको धारनेवाले नरकोंके साइचर्यसे रत्नप्रभा आदि भूमियां नरक शह द्वारा कहीं जारहीं प्रतीत होजाती हैं। जैसे कि बम्बईसे सहचरित होरहे प्रान्त देशको बम्बई कह देते हैं। पुनः किसीका आक्षेप उठता है कि इस प्रकार तत् राद्व वाच्य नरकोंसे यदि रत्नप्रभा आदि भूमियोंको पकडा जायगा तब तो अधि-करण होचुकी रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें आधेय होरहे नरकोंकी स्थिती एक. तीन. आदि साग-रोंकी प्रसंगप्राप्त हुयी । यह स्थिति नारकी जीवोंकी तो नहीं समझी गयी । यो कहनेपर तो प्रन्थकार कहते हैं कि भाई, इसीलिये तो सत्रकारने " सत्त्वानां" यह पद प्रहण किया है। यह स्थिति उन नरकोंमें रहनेवाले प्राणियोंकी है, नरकोंकी नहीं। नरकविले तो अनादिसे अनन्त कालतक जहांके तहां स्थित हो रहे हैं। परा शद्धका अर्थ उक्ताष्ट है फिर इष्ट अर्थ नहीं। क्योंकि इष्ट अर्थको कहनेवाले पर शद्धका यहां प्रहण नहीं किया गया है। अतः यह नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति यों समझ छेनी चाहिये।

#### कुतः सोत्कृष्टा स्थितिः सन्तानां प्रसिद्धेत्याइ ।

कोई पूछता है कि नारक प्राणियोंकी वह उत्कृष्ट स्थिति भछा किस प्रमाण या युक्तिसे प्रसिद्ध है ! बताओ, ऐसी ओरका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरवार्त्तिकों द्वारा समाधान कहते हैं।

> नरकेषदितैकादिसागरोपमसम्मिता । श्वितिरस्यत्र सत्त्वानां सद्भावाचाद्यगायुषः ॥ १ ॥

### संक्षेपादपरा त्वप्रे वक्ष्यमाणा तु मध्यमा । सामर्थ्यादुबहुधा प्रोक्ता निर्णेतव्या यथाऋमं ॥ २ ॥

इन नरकों में नारक प्राणियों की स्थिति (पक्ष) कहे जा चुके अनुसार एक, तीन, आदि सागरोपमोंसे मले प्रकार नाप ली जाती है (साध्य) जीवों के तिस तिस प्रकारकी आयुका सद्भाव हो जाने से (हेतु) इस अनुमान द्वारा नारिक्षयों की आयु साध दी जाती है। नारिक्षयों ने पूर्वजन्ममें नरकायुः कर्मका इतना बड़ा भारी पुद्रलिपण्ड बांध लिया है जिसका कि क्रमक्रमसे उदय आने पर हजारों वर्ष या असंख्याते वर्षोमें भोग हो पाता है। अंजुलीका जल शीघ्र निकल जाता है, किन्तु बड़ी टंकी में भरे हुये पानी को बूंद बूंद अनुसार निकलते हुये बहुत दिन लग जाते हैं। इस सूत्रमें नारिक्षयों की उत्कृष्ट स्थितिका निरूपण किया है। यदि यहां ही जधन्यस्थितिका वर्णन किया जाता तो प्रन्थका विस्तार हो जाता। अतः संक्षिप्तप्रन्थसे जधन्य स्थिति तो आगे चतुर्थ अध्यायमें कही जाने वाली है। जो कि "नारकाणां च दितीयादिषु, दशवर्षसहस्नाणि प्रथमायां" इन दो सूत्रों करके कह दी जायगी। उत्कृष्ट स्थिति और जधन्य स्थितिका कण्ठोक्त निरूपण कर देने मात्रसे निना कहे ही सामर्थसे बहुत प्रकारकी मध्यमा स्थिति अन्छी कह दी गयी समझ ली जाती है, जो कि सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार चले आ रहे आगम अनुसार निर्णय कर लेने योग्य हैं। नरकों के उनंचास पटलों में भी आगम अनुसार जधन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थितियों का निर्णय कर लेना चाहिये।

परा स्थितिरस्ति प्राणिनां परमायुष्कत्वान्यथातुपपत्तेः । परमायुष्कत्वं पुनः केषांचित्त-देतुपरिणापविशेषात्स्वोपात्ताञ्चवस्य बाध्यते मनुष्यितिरश्चामायुःमक्षेप्रसिद्धः । तत्र रत्नप्रभायां नरकेषु सन्त्वानां परास्थितिरेकसागरापमप्रमिताः, श्रक्षराप्रभायां त्रिसागरोपमप्रमिताः, वालुका-प्रभायां सप्तसागरोपमप्रमिताः, पंकप्रभायां दश्वसागरापमप्रमिताः, ध्रूपप्रभायां सप्तदश्वसागरोपम-प्रमिताः, तमःप्रभायां द्वाविश्वतिसागरोपमप्रमिताः, महातमःप्रभायां त्रयित्विश्वत्सागरोपम-प्रमिताः इति वचनसामर्थ्यान्मध्यमा स्थितिरनेकथा यथागमं निर्णीयते । जघन्यायाः स्थिते-स्त्वत्र संक्षेपाद्वक्ष्यमाणत्वादित्यलं प्रपंचेन ।

किन्हीं विवादापन्न प्राणियोंकी स्थित उत्कृष्ट है (प्रतिज्ञा) अन्यथा परम आयुका धारमा बनता नहीं है। फिर किन्हीं किन्हीं जीवोंके परम आयुष्यका धारकपना तो उसके कारणभूत हो रहे निज उपार्जित परिणाम विशेषोंसे हो रहा न्रावित नहीं है। क्योंकि कतिपय मनुष्य और तिर्यचोंके आयुष्यका प्रकर्ष हो रहा प्रसिद्ध ही है। अर्थात्—अपने अपने विशेष परिणामोद्धारा अविक स्थिति वाले आयुष्य कर्मका उपार्जन कर जीव उत्कृष्ट स्थितियोंको धार रहे प्रसिद्ध हैं। उन स्थितियोंमें यह विवरण समिश्चियाा कि रत्नप्रभामें विन्यासको प्राप्त हो रहे नरकोंमें स्थित प्राणियोंकी एक सागरोंपमको

धार रही उत्कृष्ट स्थिति है और शर्कराप्रभामें नारिकेयोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोप्रम प्रमाण है। बालुकाप्रमामें नारिकेयोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम परिमित है। पैकप्रभामें नारिकेयोंकी उत्कृष्ट स्थिति दश सागरोपम प्रमाणसे सरपूर है। घूमप्रभामें नारिकेयोंकी उत्कृष्ट स्थिति सब्ह सागरोपम परिमाणवाली है। तमःप्रभामें नारिकेयोंकी उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागरोपमसे नाप दी गयी है और सातवां महातमःप्रभामें निवास कर रहे असंख्याते नारिकेयोंकी उत्कृष्ट स्थिति उपमा प्रमाणद्वारा तेतीस सागरकी परिमित कर दी गयी है। इस प्रकार सूत्रकारने कण्ठोक्त उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन कर दिया है। विना कहे ही परिशेष वचनकी सामर्थ्यसे अनेक प्रकारकी मध्यमा स्थितिका आगमको अतिक्रमण नहीं कर निर्णय कर लिया जाता है। क्योंकि " तन्मध्यपतितस्तदप्रहणेन गृह्यते " इस नीति अनुसार उत्कृष्ट और जघन्यके बाचिकी मध्यमा स्थिति तो यो ही गम्यमान हो जाती है। इस प्रध्यमें संक्षेपसे कथन करनेका लक्ष्य रखनेके कारण जघन्य स्थितिको स्वयं सूत्रकार चौथे अध्यायमें कहनेवाले हैं। अतः स्थितिका अधिक विस्तार पूर्वक कथन करनेसे पूरा पड़ो, बुद्धिमानोंके सन्मुख इंगित ( इशारा ) मात्र पर्यात है। अधिक बढ़ाकर भी यदि लिख दिया जाय फिर भी तो उससे कहीं अधिक लिखे जानेकी आकांक्षायें वना रहती हैं। " श्रेयिस कस्तृप्यति "।

## इह प्रपंचेन विचितनीयं शरीरिणोधोगतिभाजनस्य । स्वतत्त्वमाधारविशेषशिष्टं बुंधैः स्वसंवेगविरक्तिसिष्दुयै ॥२॥

उपेन्द्रवज्ञा छन्दः द्वारा श्री विद्यानन्द स्वामी तृतीय अध्यायके ष्रथम आन्द्रिकको समाप्त करते हुँ यहांतक कहे जा चुके प्रकरणका उपसंहार करते हैं कि विद्वान् पुरुषों करके अपने संवेगभाव और वैराग्यभावोंकी सिद्धिके छिये इन छह सूत्रोंमें अधोगतिके पात्र हो रहे वैक्रियिक शरीरधारी नारक जीगेंका आधार विशेषरूपसे सिखा दिया गया निजतत्व तो विशेषरूप करके विचार छेने योग्य है, अथवा नारिकयोंका निकृष्ट आचार विशेषसे परिशेषमें मोगना पढा उनका निजतत्व विचारने योग्य है, जिससे कि बुद्धिमान् जीवोंको संसारसे भीरुता और वैराग्यकी प्राप्ति हो जाय। भावार्थ—नारकी जीवोंका वर्णन करना मुमुझु जीवोंके संवेग और वैराग्यकी प्राप्ति हो दशलक्षणपर्वमें जिनवाणीकी पूजा करते समय तत्वार्थसूत्रके अध्याय या सूत्रोंको अर्घ चढाया जाता है, इसका ताल्पर्य यही है कि इन सूत्रोंके प्रमेयोंको अर्घ नहीं चढाते हैं। किन्तु इनके ज्ञानकी हम पूजा करते हैं, जिसके कि संवेग और वैराग्य परिणाम बढें।

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे तृतीयाध्यायस्य प्रथममान्हिकं समाप्तं । यो ग्रुभ भावनाओंको भावते हुये विवरण कर श्री विद्यानन्द स्वामीने तत्त्वार्थसूत्रके स्लोकवार्तिक अलंकाररूप व्याख्यानमें तृतीय अध्यायका पहिला प्रकरणोंका समुदाय स्वरूप आव्हिक यहांतक समाप्त कर दिया है ।

#### चला वृलेकि ज्योतिष्काः सर्वत्राष्ट्री स्थिरा द्ववः । दुःखार्ता नारका ध्याता संवेगात्र्यै भवन्तु नः ॥ १ ॥

अधोछोकका वर्णन कर चुकनेपर श्री उमाखामी महाराज अब मध्यछोक या तिरछे फैल रहे तिर्यक्छोकका वर्णन करते हुये द्वीप, समुद्रोंको समझाते हैं।

## जम्बद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

सात राज् छम्बे, एक राज् चौडे, और मेरुसमान एक छाल चाछीस योजन ऊंचे मध्यक्षेकमें या एक राज् छम्बी चौडी और चौदह राज् ऊंचीमेंसे केवल मेरुसम ऊंची इतनी चौकोर त्रसनाछीमें इक्षुवर, घृतवर, नन्दीश्वर, ऐसे ग्रुमनामबाले असंख्याते जम्बूद्दीप, धातकी द्वीप, आदिक द्वीप और छवणसमुद्र, कालोदक समुद्र आदिक समुद्र स्वयम्भूरमणपर्यन्त तिरछे गोल रचित हो रहे हैं।

प्रतिविशिष्टजंबृद्यक्षासाधारणाधिकरणाञ्जंबृद्दीपः, लवणोदकातुयोगान्छवणोदः । आदिश्रद्धः प्रत्येकपिसंबध्यते तेन जंबृद्दीपादयो द्दीपा लवणोदादयः समुद्रा इति संप्रत्ययः। ग्रुभनामान इति वचनादश्वभनामत्वनिरासः।

अकृत्रिम, अत्यधिक सुन्दर, सपरिवार, जम्बूवृक्षका असाधारणरूपसे अधिकरण होनेसे यह मध्यवत्तीद्वीप जम्बूदीप कहा गया है। अर्थात् उत्तरकुरु भोगभूमिमें सुदर्शन नामका पृथ्वीमय, जम्बूबुक्ष, अनादि ानिधन, रत्नमय, बना हुआ है, जो कि बृक्ष अन्य द्वीपोंमें हो रही साधारण रचनासे असाधारणपनेको भार रहा है । इस जम्बृब्क्षके सहचारसे द्वीपका नाम जम्बू-द्वीप पड गया है। वस्तुतः सिद्धान्त यह है कि शद्ध तो संख्याते ही हैं और ढाई सागरके समयों प्रमाण संख्यावाले दीप, समुद्र, असंख्याते हैं । ऐसी दशामें उन द्वीपोमें लाखों जम्बूद्वीप होंगे और लाखों ही उपणसमुद्र नामको धारनेवाले समुद्र होंगे । करोडों धातकी खण्ड द्वीपींकी सम्भावना है। अतः इस मध्यवर्ती द्वीपकी जम्बूद्वीप यह संज्ञा अनादिकाळसे यों ही निमित्तान्तरानपेक्ष चळी आ रही है। यहाँ उत्तर धीमानोंको संतोषकारक है। छवण समुद्रके जलका स्वाद नोंन मिले हुये जल सरीखा है। अतः क्वणमिश्रितजळ सारिखे जलका योग हो जानेसे पाइके समुद्रका नाम लवणोद पड गया है। इन्द्र समासके अन्तमें पड़े हुये आदि शहका सम्पूर्ण पदोंमेंसे प्रत्येकपदके साथ सम्बन्ध कर लिया जाता है। तिस आदि राद्व करके जम्बूद्वीप आदिक द्वीप और लगणोद आदि अनेक समुद्र यह भल्ने प्रकार निर्णय हो जाता है। सूत्रमें " शुभनामानः " ऐसा कथन करनेसे द्वीप समुद्रोंके अशुभनाम सहितपनका निराकरण हो जाता है। अर्थात् - जम्बूदीप, छवणोद, धातुकीखण्ड, कालोद, पुष्करवर, पुष्करोद, बारुणीवर, बारुणोद, क्षीरवर, क्षीरोद, घृतवर, घृतोद,इक्षुवर, इक्ष्ट्र, नन्दीश्वर, नन्दीश्वरोद, अरुणवर अरुणोद, अरुणाभासवर, अरुणाभासीद, ऋण्डलवर, ऋण्डलोद, रुचकवर, रुचकवरोद, मुजगवर, मुज- गोद, आदि शुभ नामवाले द्वीप समुद्र हैं । विटद्वीप, क्षारद्वीप, उद्धकद्वीप, वक, विडाल, उष्ट्र, तस, संप्रज्वालित, आदि अशुभ संज्ञाओंको धारनेवाले द्वीप समुद्र नहीं हैं ।

#### किं विष्कंभाः किं परिक्षेपिणः किमाकृतयश्च ते इत्याह ।

यहां प्रश्व कि जम्बूद्वीप, छवणसमुद्र आदिक कितनी कितनी चौडाईको धारते हैं ? और किस किसका परिक्षेप ( घेरा ) रखनेबाले हैं ? तथा कैसी कैसी आकृति यानी रचनाको प्राप्त हो रहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रका उच्चारण करते हैं ।

## द्विर्द्विविष्कंभाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

जम्बूद्दीपको आदि छेकर असंख्याते द्वीप और छवण समुद्रको आदि छेकर असंख्यात समुद्र ये सब दूने दूने विष्कम्भ यानी विस्तारको छिये हुये विश्वज्ञ रहे हैं। पहिले पहिछे द्वीप या समुद्रको परछा परछा द्वीप या समुद्र परिक्षेप यानी वेष्टित ( छपेटे ) किये हुये हैं तथा ये सभी कंकणकीसी आकृ-तिको धारे हुये चारों ओरसे गोछ हैं।

द्विद्विरिति वीप्साभ्याष्ट्रचेवचनं विष्कंभद्विगुणत्वन्याप्त्यर्ये, पूर्वपूर्वपरिक्षेपिण इति वच-नादिनष्टिनिवेशिनिष्ठात्तः, वळयाकृतय इति वचनाचतुरस्नादिसंस्थानिष्ठात्तिः । जंबृद्वीपस्य द्विकिं-ष्कंभत्वपूर्वपरिश्लेपित्ववलयाकृतित्वाभावादन्यापीनि विशेषणानीति चेत् न, जंबृद्वीपस्यतदपवाद-रूक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वात् । ' तन्मध्ये ' इत्यादि सूत्रस्यानंतरस्य सद्भावात् ।

स्त्रमें दिर् दिर् इस प्रकार वीप्सापूर्वक अभ्याद्यति होनेसे (का) जो कथन किया गया है वह चौडाईके दूनेपनको व्यापक करनेके छिये हैं। एक छाख योजन चौडा जम्बूदीपसे दूना दो छाख योजन चौडा छवणसमुद्र है, और छवण समुद्रसे दूना चार छाख योजन चौडा धातुकी खण्ड द्वाप है। इस प्रकार दूनी दूनी चौडाई सर्वत्र समझ छेनी चाहिये। यहां दिः दिः ऐसी वीप्सा और अभ्याद्यतिका सूचक सुच् प्रत्यय भी दो बार किया है इसले अन्तके स्वयम्भू रमणसमुद्र पर्यंत अधिक दूरवर्ती अलंख्याते स्थानोंमें दूनी दूनी चौडाईका अन्वय वहा दिया जाता है, जिससे पचास, सी, द्वीप ही दूने दूने चौडे हो सकते हैं, आगेके द्वीप नहीं, इस अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति होजाती है। शद्वप्रयोग करनेवाले मनुष्यकी एक ही बार अनेकोंमें व्यास करनेकी इच्छाको वीप्सा कहते हैं। " वीप्साथ पदस्य " इम सूत्रसे दिः होजाता है। वीप्सा अर्थ बोल्य होनेपर पदको दिल्य होजाता है। तथा सूत्रकारके " पूर्वपूर्वपरिक्षोपणः " इस वचनसे अनिष्ट सिनेवेशकी निवृत्ति होजाती है, जिससे कि प्राम उपवन, नगर, प्रासद, आदिके समान उन दीप समुद्रोंका अनिष्ट विनिवेश नहीं समझ छिया जाय। जम्बूद्वीप छवण समुद्रसे और छवण समुद्र धातुकी खण्डसे वेष्टित होरहा है। यो अन्तके स्वयम्भू रमणनतक छना। तथा " वछयाकृतयः " इस वचनसे चौकोर, तिकोने, छएकोने, अठपैछ, आदि

अनिष्ट संस्थानकी निवृत्ति होजाती है । कोई कोई अनुमान प्रेमी विद्वान् साधारण स्वरूपके प्रतिपादक विरोषणोंका निरादर कर अव्यभिचारी उद्देश्य दछको हेत और विषेय दछको साध्य बनाते हुये सर्वत्र विधायक वाक्योंको अनुमान मुद्रामें गढ छेते हैं। तदनुसार इस सूत्रमें कहे गये १ द्विर्दिविष्कंभाः, र पूर्वपूर्वपरिक्षोपिणः, ३ वल्रयाकृतयः, इन तीन विशेषणोंके साथ और जम्बूद्वीप ल्व्यणसमुद्र आदि इस विरोष्य दर्छके साथ रुक्ष्यरुक्षणभाव और हेत हेतुमद्भाव बना केना चाहिये। तभी रुक्षणके अन्याप्ति अतिव्याति, असम्भव, दोषोंका निवारण और हेतुके व्यभिचार, विरोध आदि दोषोंका प्रत्याख्यान करना अच्छा शोभता है। यहां किसीकी शंका है कि आपने जम्बूद्वीपको आदि छेकरके सभी द्वीप समु-ब्रोंको उद्देश्य दलमें डालकर विधेयांश रूपसे यह सूत्र कहा है, किन्तु सबके आदिवर्ती जम्बुद्वीपके दना चौडापन और पूर्वको वेरे रहना तथा कंकणकीसी आकृतिका धारकपना नहीं घटित होता है । इस कारण ये रुक्षणकोटिमें पडे हुये तीनों विशेषण अन्याप्ति दोषसे प्रसित हैं, अथवा अनुमानमूडा अनुसार तुम्हारे तीनों हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास हैं । यदि अतद्गुण सम्यम्बान बहुनीहि समासका आश्रय कर जिनके आदिमें जम्बूद्वीप हैं यों अर्थ करते हुये जम्बूद्वीपको टाल दिया जायगा तो लवणसमुद्र भी टल जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। साथमें जम्बूद्रीपके शुभनामपनका और द्वीपपनका भी निराकरण बन बैठेगा। अतः '' शुक्छ्याससमानय '' इसके समान तद्गुण संत्रिज्ञान बहुन्नीहिका आश्रय ही छेना पडेगा। ऐसी दशामें हमारी शंका परिपुष्ट होजाती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जम्बूद्दीपको छोडकर अन्य सम्पूर्ण द्वीपसमुद्रोंमें ये तीनों छक्षण घटित होते हैं। जब कि जम्बूद्वीपके छिये " तन्मध्ये मेरुनाभिः " इत्यादि अञ्यवहित उत्तरवर्ती सूत्रका सद्भाव है तो उस अपवाद मार्गको टाळकर उत्सर्ग विधियां प्रवर्तेगी । इन तीनों रुक्षणोंका अपवाद कर जम्बृद्वीपका रुक्षण निकट भाविष्यमें कह दिया जायगा, अतः अन्याप्ति दोषको बालाप्र भी स्थान नहीं मिलता है। " अपवादपयं परित्यज्योत्सर्ग-विधयः प्रवर्तन्ते "।

#### क पुनिरमे द्वीपसमुद्रा इत्याह ।

फिर ये अनेक द्वीप और असंख्य समुद्र भळा कहां स्थित होरहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानको कहते हैं।

## सप्ताभो भूमयो यस्मान्भश्यलोको बलादृतः । तत्र द्वीपसमुद्राः स्युः सूत्रद्वितयवर्णिताः ॥ १ ॥

जिस कारणसे अधोछोकमें सात नीचे नीचे भूमियां कही जा चुकी हैं। अतः बिना कहे ही सामर्थ्यसे अर्थापत्था मध्यलोक जान छिया ही जाता है। अर्थात् अधोछोकसे ऊपर ऊर्ध्वलोक नियत ही है। तथा ऊर्ध्व और अधःके बीचका मध्यलोक विना कहे यों ही समझ छिया जाता है। उस मध्यलोकमें अनेक दीप, समुद्र, हो सकते हैं जो कि सूत्रकारने उक्त दो सूत्रोंसे वर्णित कर दिये हैं।

ऊर्घ्याचीलोकवचनसामध्यीन्मध्यक्षेकस्ताबद्गत एव यस्मादघोरत्रमभायाः सप्तसूनयः मतिपादितास्तास्तिन् मध्यलोके द्वीपसंद्युद्धाः संक्षेपादभिहिताः सुत्रद्वयेन भपंचतोसंस्वयेयास्त ययागमं मतिपत्तच्याः।

ऊर्च छोक और अधोछोकके कथन कर देनेकी सामर्थ्येस मध्यलोक तो अपने आप जान लिया जाता ही है जिस कारणसे कि अधोछोकमें रत्नप्रभा आदिक सात भूमियां कही जा चुकी हैं। उस मध्यलोकमें द्वीप समुद्र हैं जो कि संक्षेपसे दो सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने कह दिये हैं विस्तारसे कथन करनेपर वे द्वीप समुद्र पचीस कोटा कोटी उद्धार पल्योंके समय प्रमाण नियत संख्या-वाछे असंख्यात हैं। उनको आतोक्त आगम अनुसार समझ छेना चाहिये। छवण समुद्रका जछ उंचा उठा हुआ है, पुष्कर द्वीपके मध्यमें मानुषोत्तर पर्वत पढ़ा हुआ है, नन्दीश्वर द्वीपमें सोछह बावडी और बावन जिन चैत्यालय अनादि निधन बने हुये हैं, ढाई द्वीपसे बाहर तिर्यक्लोकमें जघन्य भोगभूमिकी सी रचना है। अन्तिम आधे द्वीप और अन्तकें समुद्र तथा मध्यलोककी त्रसनालीके चारों कोनोंमें कर्मभूमिकीकी प्रक्रिया है। मोक्षमार्गकी व्यवस्था नहीं है। तथापि पांचवें गुणस्थानको भी धारनेवाले असंख्य तिर्यच वहां स्वयंप्रम पर्वतके परली और पाये जाते हैं, इत्यादिक विशेष व्याख्यानको आकर प्रन्थोंक अनुसार समझ छेना चाहिये।

#### क पुनरयं जंबुदीपः कीदृशश्रेत्याह ।

यह जम्बूद्रीप फिर कहां और किस प्रकारका व्यवस्थित हैं ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमा-स्वामी महाराज उत्तरवर्ती सूत्रको कहते हैं ।

## तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कंभो जंबुद्वीपः

उन सम्पूर्ण पूर्वोक्त द्वीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीप विराजमान है और उस जम्बूद्वीपके ठीक मध्यमें सुमेरुपर्वत नाभिके समान व्यवस्थित है। जम्बूद्वीप थालीके समान गोल है। और एक लाख योजन चीडा है।

तच्छद्वः पूर्वद्वीपसग्रद्धनिर्देधार्यः । जेव्द्वीपस्य निर्देश्वश्रसंगः पूर्वोक्तत्वाविश्वेषादिति चेत्, तस्य मितनियतदेशादितया मितपार्थत्वात् तत्परिक्षेषिणामेव परामश्चोषपत्तः । तिर्दे पूर्वोक्तसग्र-द्वद्वीपनिर्देशार्थस्तच्छद्व इति वक्तव्यं जंब्द्वीपपरिक्षेपिणां सग्रद्धादित्वादिति चेश्व, स्थितिकमस्या विवक्षायां पूर्वोक्तद्वीपसग्रद्धनिर्देशार्थ इति वचनाविरोधात्, यत्र द्वृत्रचिद्वस्थितानां द्वीपानां सग्रद्धाणां च विवक्षितत्वात् । द्वीपश्रद्धस्याल्याच्तरत्वाच दंद्वे पूर्ववचनेपि सग्रद्धादय एवार्योन्न्या-यात् परामृह्यंते । तत इदग्रकं भवति तेषां सग्रद्धादीनां मध्यं तन्मध्यं तस्मन् जंब्द्वीपः ।

सूत्रमें पड़ा हुआ तत् शह तो पूर्वमें कहे जा चुके द्वीप, समुद्रों, का परावर्श करनेके छिये है। यहां कोई शंका करता है कि जब पूर्वमें कहा जा चुकापन जम्बूद्वीपमें विशेषतारहित है तो जम्बूद्धीपके निर्देश हो जानेका भी प्रसंग हो जायगा। अर्थात्—तत् शहू करके जब सभी द्वीप समुद्रोंका आकर्षण हो जाता है तब तो अन्यद्वीप समुद्रोंके समान उस जम्बूद्वीपके मध्यमें भी जम्बुद्वीपके विराजनेका प्रसंग आता है, जो कि असंगत है । कैसा भी नरम वस्न होय या छोटा घडा होय स्वयं अपने मध्यभागमें पूरा नहीं समा सकता है । निश्चयनयसे भी अपने परिपूर्ण निजस्वस्त्रमें भले ही पदार्थ ठहर जाय, किन्तु अपने किंचित् मध्यभागमें तो कोई क्तु नहीं ठहर पाती है। यों शंका करनेपर तो आचार्य कहते हैं कि प्रतिनियत हो रहे देशमें स्थित होने या प्रतिनियत आकार लम्बाई, चौडाई, आदि रूप करके वह जम्बूदीप तो जब समझाने योग्य ही हो रहा है। अतः उस जम्बृद्वीपको घेरे रहनेवाछे समुद्र और द्वीपोंका ही तत् शद्ध द्वारा परामर्श होना युक्त है। जैसे कि मन्थके बीचका पत्र निकाल लो या पद्यीस विद्यार्थियोंके बीचके विद्यार्थीको बुला लाओ । यहां प्रतिपादनीय नियत व्यक्तिको अगण्य कर शेष बहुभागका मध्य पकड लिया जाता है। पुनरिप किसीका आक्षेप है कि तब तो पूर्वोक्त समुद्र और द्वीपोंके निर्देशके लिये तत् शद्ध है यों कहना चाहिये था । क्योंकि जम्बूद्वीपको परिक्षेप ( घरा ) करनेवाछे द्वीप, समुद्रोंमें सबका आदिभूत लवण समुद्र है। अतः उन समुद्र और दीपोंके मध्यम जम्बूद्वीप है, यह कहना ठीक है। किन्तु उन द्वीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बुद्वीप है यों कहनेपर तो पहिले द्वीपपदसे जम्बुद्वीप ही पकडा जायगा । ऐसी दशामें जम्बूद्वीपके मध्यमें स्वयं जम्बूद्वीपका विराज जाना होनेसे हमारी पूर्वोक्त आल्पाश्रय दोषवार्छ, शंका परिपृष्ट हो जाती है। पहिले द्वीपपदसे यदि घातकी खण्ड लिया जाय तब तो लवण समुद्र द्वारा जम्बूद्वीपका घिरा रहना छूट जायगा । अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि द्वीप, समुद्रों की स्थितिके क्रमकी नहीं विवक्षा करते सन्ते पूर्वोक्त द्वीप समुद्रोंके निर्देशके छिये तद शह है। इस इमारे वचनका कोई विरोध नहीं आता है। जहां भी कहीं आगे या पछि अवस्थित हो रहे द्वीप और समुद्रोंकी विवक्षा यहां उपजायी गयी है। अतः मछे ही जम्बूद्वीपको सबसे पाइंछे घेरनेवाळा ळवण समुद्र है, तो भी इस स्थितिके क्रमका विचार नहीं कर श्री उमास्वासी महाराजने उन दीप समुद्रोंके मध्येंमें जम्बूद्वीपका बिन्याप्त हो रहा कह दिया है। यचपि जम्बूद्वीपको घेरनेवाले द्वीप और समुद्रोंमें द्वीपोंकी अपेक्षा समुद्रोंकी संख्या एक अधिक है। तथा सबकी आदिमें जम्बूढीपका घेरा देनेवाळा भी समुद्र ही है। सबके अन्तमें भी समुद्र पढ़ा हुआ सबको घेर रहा है, फिर भी हुस क्या करें व्याकरणके नियमोंकी अधीनतासे शहीका उचारण करनेके क्रिये इम या सूत्रकार महाराज पराधीन हैं। इंद्र समासमें जिस पद्में अल्पक्षे अल्प अन् (स्वर ) होंगे वह पद पहिले आजायगा । चाहे द्वीप और समुद्र यों समास करी अथवा अपनी इच्छानुसार समुद्र और दीप यों इतरेतर योग करो द्वीप शदका पहिले निपात होकर

" द्वीपसमुद्ध " शद्ध बन जाता है। तेलमें सिललके डालनेपर या जलमें तेलको गिरा देनेपर तेल ही उपर आजायगा। यहां भी समुद्ध शद्धमें तीन स्वर हैं और द्वीप शद्धमें दो अन्य हैं अतः अल्प अन्य सिहितपना होनेसे भले ही शद्धसंबंधी न्यायसे दंदमें द्वीप शद्धका पूर्वमें उन्नारण होजाय तो भी अर्थसम्बन्धी न्यायसे द्वीप समुद्धपदसे समुद्ध आदिका ही परामर्श किया जाता है। तिस कारणसे सूत्रकार द्वारा यह कह दिया गया समझा जाता है कि उन समुद्ध आदिकोंके मध्यको इस सूत्रमें तन्मध्यपदसे लिया गया है। उन समुद्ध आदिकोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है। यद्यपि " जंबूद्वीपल्डवणोदादयः श्रुभनामानो द्वीपसमुद्धाः " इस सूत्रमें शद्धशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनोंके अनुसार द्वीपसमुद्धाः कद्धना शोभता है। अन्यया जम्बूद्वीपको समुद्धपना और ल्वणोदको द्वीपपना प्राप्त हो जायगा। फिर भी " द्विद्विविध्कंमाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः " और " तन्मध्ये मेरुनामिर्कृतो योजन शतसहस्त्र-विध्कंभो जम्बूद्वीपः " इन दोनों सूत्रोंमें अर्थसम्बन्धी न्यायके अनुसार समुद्ध, द्वीप, यों समाम्नाय करनेसे समीचीन प्रतिपत्ति हो जाती है। यथायोग्य सन्तोष हो जानेपर फिर भी कुचोद्योंका तांता नहीं तोडनेके लिये सदा मुंह उठाये रखना गम्भीर शास्त्रीय विद्वानोंको शोभा नहीं देता है।

स च मेरुनाभिरुपचरितमध्यदेशस्थमेरुत्वात् । दृत्तो न चतुरस्नादिसंस्थानः । तत्परि-क्षेपिणां वल्लयाकृतिवचनादेव तस्य दृत्तत्वं सिद्धमिति चेश्न, चतुरस्नादिपरिक्षेपिणामपि बल्लया-कृतित्वाविरोधात् । योजनञ्जतसहस्रविष्कंभ इति बचनात् तद्विगुणद्विगुणविष्कंभादिनिर्णयः श्रेषसमुद्रादीनां कृतो भवति । एवं च ।

और वह जम्बूद्दीप उभरी हुई नाभिके समान मेरुको मध्यमें धार रहा है। क्योंकि उसके उपचारसे माने गये मध्यदेशमें मेरु स्थित हो रहा है। मेरुस्थानको जम्बूद्दीपका उपचारसे मध्यभाग यों माना गया है कि लोकका मध्य तो सुदर्शन मेरुके जडमें केन्द्रीभूत हो रहे आठ प्रदेश हैं। अतः मध्यलोक स्वयं ऊर्ध्वलोकमें विराज रहा उपचारित है। अधोलोकसे ऊपर और ऊर्ध्वलोकके निचले मागमें सात राज् लम्बे, एक राज् चौडे और मेरुसम ऊंचे स्थानको यदि मध्यलोक माना जाता है तो इसका ठीक मध्य भी मुदर्शन मेरुकी जडमें स्थित आठ प्रदेशोंसे पचात हजार वीस ५००२० योजन ऊपर चलकर चार प्रदेश मिलेंगे। जहां कि जम्बूद्वीप कथमपि विद्यमान नहीं है, वहां तो सुदर्शन मेरु खड़ा हुआ है। हां, ऊर्ध्व अधो दिशाका लक्ष्य नहीं कर केवल मध्यलोकके निचले हजार योजन दुकडेकी पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, चार ही दिशाओंका मध्यमाग लिया जाय तो जम्बूद्दीपको मध्यमें स्थित हो रहा कह सकते हैं। क्ला पृथिवीके उपरिम मध्यवर्ती समतल प्रदेशोंपर मेरु पर्वत धरा हुआ है, वह लोकका मध्य मले ही कह दिया जाय, किन्तु वह स्थल जम्बूद्दीपका मध्य तो कथमपि नहीं कहा जा सकता है। अतः मेरुके (मेरुकी जडके) ठहरनेके स्थानको जम्बूदीपका मध्य उपचारसे माना गया है। वह जम्बूदीप

" बूतः" यानी चकरेके समान गोछ है। गेंदके समान गोछ या चौकोर, तिकोना, आदि संस्थानोंको धारतेवाला नहीं है। यहां कोई आक्षेप करता है कि उस जम्बूद्वीपका वेरा देकर फैल रहे द्वीप सस्-होंकी आकृतिको पूर्व सूत्रमें कंकणके समान कह देनेसे ही उस जम्बूदीपका चाकीके समान गोलपना स्वतः सिद्ध हो जाता है । पुनः इस सूत्रमें ''वृत्तः '' यानी रुपयाके समान मोछ कहनेकी क्या आवश्य-कता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि चौकोर, छह कीन, तिकीने आदि आकार-वाले पदार्थको धरा देनेवाले अन्य द्वीप समुद्रोंक भी कंकण आकृतिधारीपनका कोई विरोध नहीं है। जैसे कि चौकार प्रासादको गोल वेदिकासे घेरा जा सकता है। गोल 'फैली हुई गढकी ऊंची भीतोंसे भीतरके तिकोने, छह पैछ महल या कोठियां भी घेर ली जाती हैं। गोल सूर्य मण्डलपर अनेक चौकोर महल बने हुये हैं। मले ही कुछ स्थान रीता पड़ा रहा रहे, इससे हमें क्या प्रयोजन है ? बेर-नेवाळा पदार्थ दुरवर्ती गोल हो कर मध्यवर्ती कैसे भी तिकोने, चौकोने, पदार्थको परिक्षेप कर बैठेगा। देखो छह कुळाचळों या देवारण्य, भूतारण्यको, जम्बूदीपकी बेदिका वेढ रही है, अतः जम्बूदीपकी ठीक रचनाको समझानेके लिये इस सूत्रमें वृत्त राद्ध कहा है। इस सूत्रमें यों सी हजार ( एक लाख ) योजन चौढे जम्बूद्वीपका कथन कर देनेसे शेष बचे हुये समुद्र आदिकोंकी उस जम्बूद्वीपसे दुगुनी दग्नी, चौडाई और पूर्व पूर्वका परिक्षेप करना आदिका निर्णय कर दिया समझ लिया जाता है। अर्थात् — रोष समुद्रोंकी दुनी दुनी चौडाई किसकी अपेक्षासे समझी जाय ! इसके लिये पहिले जम्बू-द्वीपको एक लाख योजन चौडा कहा है । द्वीप समुद्रोंकी दुनी दुनी चौडाई तो प्राम, नगर, नदी, पर्वत, आदिके समान रचना होनेपर भी सम्भव जाती है। अतः " पूर्वपूर्वपरिश्लेपिणः " कहना सार्थक है तिकोने, चौकोने, होम कुण्डोंकी कटनियोंके समान दूनी दूनी चौडाई या पूर्व पूर्वको घेरे रहना तो त्रिकोण, चतुरकोण पदार्थका भी संभव जाता है। अतः द्वीप समुद्रोंकी आकृति वल्रयके समान कहना वस्तुस्थितिका घोतक है और यों इस प्रकार जम्बुद्दीपका वर्णन कर देनेपर:---

# तन्मध्ये मेरुनाभिः स्याज्जंबृद्वीपो यथोदितः । सुत्रेणैकेन निःशेषकुमतानां व्यपोद्दनात् ॥ १ ॥

उन समुद्र द्वीपोंके मध्यमें मेरुको नामिके समान धारनैवाला जम्बूद्वीप है जो कि आर्ष आम्नाय अनुसार इमने एक सूत्र करके स्पष्ट बखान दिया है, इतनेसे ही सम्पूर्ण खोटे मतोंका निरा-करण होजाता है।

सक्कसर्वयैकांतनिराकरणे हि न्यायवस्त्रादिहिते स्यादाद एव व्यवतिष्ठते परमागमः, स च ययोदितजंबृद्दीपमकाञ्चक इति भवेदेवं सूत्रितो जंबृद्दीपः सर्वथा बाधकाभावात् अत्र ।

सर्वथा एकान्तवादी पण्डितमन्योंके सम्पूर्ण एकान्त मतोंका न्यायकी सामर्थ्यसे निराकरण कर जुकवेपर जिनोक्त स्यादाद सिद्धान्त ही परम आगम न्यवस्थित होजाता है, और वह आसोक्त आगम ही आम्नायका अतिक्रमण नहीं कर कहे जा चुके जम्बूद्वीपका प्रकाशक हो सकता है। इस प्रकार एक सूत्र द्वारा जंबूद्वीपका यों सूचन कर दिया जा चुका है। क्योंकि इस आगममें सभी प्रकारोंसे बाधक प्रमाणोंका अभाव है।

#### तत्र कानि क्षेत्राणीत्याइ।

उस जंबूद्वीपमें कितने निवासक क्षेत्र हैं ? ऐसी त्रिनीत शिष्यकी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

## भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि॥

उस जंबूद्वीपमें छह कुलाचलोंसे विमक्त होरहे भरत वर्ष १ हैमत वर्ष २ हरिवर्ष ३ विदेह वर्ष ४ रम्यक वर्ष ५ हैरण्यवत वर्ष ६ और ऐरावत वर्ष ७ ये सात क्षेत्र पूर्व पश्चिम लंबे और उत्तर, दक्षिण, चौडे व्यवस्थित होरहे हैं ।

भरतक्षत्रिययोगाद्धरतो वर्षः अनादिसंज्ञासंबंधत्वाद्वा आदिमदनादिरूपतोपपत्तेः । स च हिमवत्समुद्रत्रयमध्ये क्षेयः । तत्र पंचाक्षयोजनविस्तारस्तदर्धोत्सेधः सक्रोशषड्योजनावगाहो रजताद्रिर्विजयार्धोन्वर्थः सकळचक्रधरविजयस्यार्धसीमात्मकत्वात् ।

दक्षिण ओरके पहिले क्षेत्रकी " भरत " यह संज्ञा कैसे बन रही है ? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक अवसर्पिणीके चौथे कालकी आदिमें भरत नामका पहिला चक्रवर्ती इसके छह खण्डोंको भोगता है । अतः भरत नामके क्षत्रियका स्वस्वामिभाव सम्बन्ध हो जानेसे पहिले क्षेत्रको भरतवर्ष कहते हैं, अथवा दूसरा सिद्धान्त उत्तर यह है कि जगत् अनादि है, अनादिकालीन निज परिणितिके अनुसार इसकी भरतसंज्ञा चली आ रही है । वैयाकरणोंने जैसे शद्धके व्युत्पन और अव्युत्पन दो पक्ष स्वीकार किये हैं, मीमांसक और मांत्रिकोंने तो शद्धकी अनादितापर ही सन्तोष प्रकट किया है । उसी प्रकार भरतक्षत्रियके योगसे आदिमान् स्वरूपसे सहितपना अथवा अनादिकालीन संज्ञाका सम्बन्ध हो जानेसे भरतवर्षको अनादिस्वरूपमा समुचित समझ लिया जाता है । वह भरतवर्ष तो उत्तर दिशामें हिमवान् और पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, दिशाओंमें तीनो ओरसे घर रहे तीन समुद्रोंके मध्यमें विराज रहा जान लेना चाहियें। उस भरतक्षेत्रके ठीक बीचमें फैल रहा पूर्व, पश्चिम, लम्बा और दक्षिण उत्तर पचास योजन चौडा तथा उससे आधा पचीस योजन ऊंचा एवं एक कोससहित छह योजन यानी सवा छह योजन गहरा रजतबहुल एक विजयाई नामक पर्वत है जो कि सम्पूर्ण चक्रवर्तीके विजयकी आधी सीमा स्वरूप होनेसे " विजयाई " इस अन्वर्य नामको धारता है । अर्थात् उसका नाम अपने वाच्य अर्थको लिये हुये ठीक घट जाता है ।

हिमवतोऽदूरभवः सोस्मिन्नस्तीति वा हैमवतः स च श्रुद्रहिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये, तन्मध्ये श्रद्धवान् इत्तवेदाङ्यः। हरिवर्णमनुष्ययोगाद्धरिवर्षः स निषधमहाहिमवतोर्मध्ये, तन्मध्ये विकृतवान् वेदाद्ध्यः । विदेह्योगाञ्जनपदेपि विदेह्य्यपदेशः निषधनीळवतीरंतरे तत्संनिवेशः । स चतुर्विधः पूर्वविदेहादिभेदात् । रमणीयदेशयोगाद्रम्यकाभिधानं नीळकविम-णोरंतराळे तत्संनिवेशः तन्मध्ये गन्धवान् वृत्तवेदाद्ध्यः । हिरण्यवतोऽद्रभवत्वाद्धैरण्यवतव्य-पदेशः रुक्मिश्चिखरिणोरंतरे ताद्विस्तारः तन्मध्ये माल्यवान् वृत्तवेदाद्ध्यः । ऐरावतक्षत्रिययो-गादैरावताभिधानं श्चिखरिसम्बद्धत्रयांतरे तद्विन्यासः, तन्मध्ये पूर्ववद्विजयार्थः ।

हिमवान् पर्वतसे जो दूर नहीं किन्तु निकटमें विद्यमान हो रहा हैमवतक्षेत्र है अथवा वह हिमवान पर्वत जिस देशमें है वह हैमवत नामक वर्ष है। हिमवान शहसे "अद्रमवश्व" या " तदस्मिनस्तीति देशे तन्नाम्नि " सूत्रोंद्वारा अण्प्रस्यय करनेपर " हैमनत " शद्ध बन जाता है और वह हैमहतक्षेत्र तो छघु हिमवान् पर्वतसे उत्तरकी ओर और महाहिमवान् पर्वतसे दक्षिणकी ओर मध्यमें तिष्ठा है। उस हैमवत क्षेत्रके मध्यमें शह्ववान् नामका वृत्तवेदाट्य पर्वत है। ढोलके समान गोल होनेसे बृत्त माना गया है । इसकी प्रदक्षिणा देकर रोहितास्या नदी पश्चिम समद्रकी ओर बही जाती है और प्रदक्षिणा करती हुई रोहित नदी पूर्वकी ओर बह जाती है। हरि यानी सिंहके वर्णसमान शुक्छ वर्णवाले मनुष्यों के योगसे हरिवर्ष क्षेत्र निष्यात होरहा है। वह हरिवर्ष निषय पर्वतके दक्षिणकी ओर और महाद्विमवानके उत्तरकी ओर तथा पूर्व पश्चिम लवण समुद्रके अन्तरालमें स्थित है। उस हरिवर्षके मध्यमें विकृतवान् नामका ढोल समान गोल वेदाव्य पर्वत है। हरिकान्ता नदी आधा योजन दूरसे उसकी प्रदाक्षिणा करती हुई पश्चिम समुद्रकी ओर चछी जाती है और हरित् नदी इस वेदाव्यकी प्रदक्षिणा कर पूर्वकी ओर बह रही है। विदेहके योगसे देशमें भी विदेह यह नाम-निर्देश कर दिया जाता है। अर्थात्-बहां सर्वदा मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति बनी रहनेसे अनेक मनुष्य कर्म-बन्धका उच्छेद कर देहरहित होजाते हैं। मुनिवर इस स्थूल देह और सूक्ष देहका उच्छेद करनेके छिये प्रयत्न कर रहे विदेहपनको प्राप्त होजाते हैं । अतः मुनियोंमें रहनेवाळा विदेहत्व धर्म तद्धिकरण क्षेत्रमें भी उपचरित होरहा है, जैसे कि यष्टित्व धर्मको यष्टिवान् देवदत्तमें धर दिया जाता है। दक्षिणमें निषध और उत्तरमें नीळवान पर्वत और पूर्व, पश्चिम, छवण समुद्रके अन्तरालमें उस विदेष्ट क्षेत्रका सिनेवेश है । वह विदेहक्षेत्र पूर्व विदेह, उत्तर विदेह, देवकुरु, उत्तर कुरु,इस प्रकार चार प्रकारका है । सुदर्शन मेरुसे पूर्व दिशामें बाईस हजार योजन चौडे भद्रसाल बनका उल्लंघन कर सीता नदीके दक्षिण उत्तरमें आठ आठ बिदेह हैं। इसी प्रकार सुदर्शन मेरुसे पश्चिम दिशाकी ओर सीतोदा नदीके दोनों ओर आठ आठ बिदेह हैं। यों एक मेरुसम्बन्धी बत्तीस विदेहोंकी रचना है। तथा रमणीय देशों, नदी, पर्वत, वन, आदि करके युक्त होरहा होनेसे पांचवे देशका रम्यक यह नाम निर्देश है । नीळ पर्वतसे उत्तर और रुक्मी पर्वतसे दक्षिण तथा पूर्वापर समुद्रोंके अन्तराळमें उस रम्यक देशकी रचना होरही है। उस रम्यकके मध्यमें गन्धवान् नामका वृत्तवेदाट्य पर्वत है जिसकी प्रदाक्षणा कर नारी, नरकान्ता, निद्यां पूर्व, पिश्वम, समुद्रकी ओर वह जाती हैं। दूसरे रुक्मी नामको धारनेका हिरण्यवान् पर्वतस जो अदूर होरहा है, इस कारण उस छठे क्षेत्रका नामनिर्देश हैरण्यवत है। रुक्मीसे उस और शिखरी पर्वतसे दक्षिण तथा पूर्व, पश्चिम, समुद्रों के मध्यमें उसका विस्तार (चौडाई छम्बाई) समझ छेन चाहिये। उस हैरण्यवतके मध्यमें माल्यवान् नामका हुत वेदाव्य शैछ है। जिसके कुछ भागोंकी प्रविक्षणा देकर सुवर्णकुछा, रुप्यकूछा, निद्यां पूर्व और पश्चिम समुद्रकी ओर वहीं जा रही हैं। भरतवं समान ऐरावत नामक चक्रवर्तीके सम्बन्धसे सात्रों क्षेत्रका नाम ऐरावत है। शिखरी पर्वतसे उत्तर औ तीनों ओर समुद्रों के मध्यमें उसकी रचना बन रही है। उस ऐरावतके मध्यमें भी पहिले भरतक्षेत्रवं विजयार्ध समान एक पूर्व, पश्चिम छंबा विजयार्ध पर्वत पड़ा हुआ है।

#### कियर्थे पुनर्भरतादीनि क्षेत्राणि सप्तोक्तानीत्याह ।

महाराज फिर यह बताओ कि अतिरिक्त सूत्र द्वारा ये भरत आदिक सातक्षेत्र भछा किस छिं कोइ गये हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानकारक वार्त्तिकको कहते हैं।

### क्षेत्राणि भरतादीनि सप्त तत्रापरेण तु । सुत्रेणोक्तानि तत्संस्यां हंतुं तीर्थ(र्थि)ककल्पिताम् ॥ १ ॥

पौराणिक या अन्य दार्शनिक पण्डितों द्वारा कल्पना की गयी उन क्षेत्रोंकी संख्याका घा करनेके छिये श्री उमास्वामी महाराजने इस न्यारे सूत्र करके तो उस जम्बूदीपमें भरत आदि सा क्षेत्र निश्चित रूपसे कह दिये हैं।

कुतः पुनस्तीर्थककल्पिता क्षेत्रसंख्यानेन प्रतिहन्यते वचनस्याविशेषात् स्याद्वादाश्रयत्व। देतद्वचनस्य प्रमाणत्वोपपत्तः संवादकत्वात्सर्वथा वाध्वैधुर्यात्सर्वथैकांतवादिवचनस्य तेन प्रति घातसिद्धेरिति निरूपितपायं ।

 वचनका प्रतिषात होना सिद्ध हो जाता है। इस बातका हम बहुत बार स्थान स्थानोंपर निरूपण क चुके हैं। अनेकान्त वादियोंके प्रमाण कुठारोंकरके सर्वथा एकान्तवादियोंकी बुद्धि शाखायें खण् खण्ड होकर नष्ट, भ्रष्ट, कर दी जाती हैं।

जिन पर्वतों करके विभागको प्राप्त किये गये ये सात क्षेत्र कहे जा चुके हैं, यह तो बताव वे पर्वत कौन और किस ढंगसे व्यवस्थित हैं ! ऐसी जिल्लासा होनेपर अप्रिम सूत्र कहा जाता है ।

# तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील सिमिश्चिमशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

उन क्षेत्रोंका विमाग करनेवाळी टेनको धार रहे और पूर्व पश्चिमकी ओर लम्बे हो रा १ हिमनान् २ महाहिमनान् ३ निषध ४ नील ५ हक्मी और ६ शिखरी ये छह वर्षधर पर्वत हैं अर्थात्—क्षेत्र परस्पर मिल नहीं सकें इस ढंगसे उन क्षेत्रोंका विभाग कर देनेनाले होनेसे पर्वतोंव वर्षधर कह दिया गया है। अनेक प्रान्तोंमें भूमिके नीचे ऊपर पर्वत फैल रहे हैं। जहां पर्वत अधि होते हैं वहां भूकम्प न्यून होता है। ज्वालामुखी पर्वत मले ही उष्णताने नेग होनेसे ही प्रान्तभूमिक कंपा देवें, किन्तु शेष पर्वत तो भूडोलको सेकते रहते हैं। हिंद्रियां शरीरको धारे रहती हैं। शर हिंद्रिओंको नहीं धारता है। मैंस या हाधीकी पीठके हद्रेपर सम्पूर्ण शरीर लटक रहा है। यही दशा बैर मनुष्य, घोडा, लिरिया, आदिकी समझ लेनी चाहिये। अतः यों चल, विचल, कम्प, नहीं होने देनेक अपेक्षा पृथ्वीको धारे रहना कार्य करनेसे भी पर्वतोंकी वर्षधर संज्ञा अन्वर्य कही जा सकती है।

हिमाभिसंबंधतो हिमबद्यपदेशः भरतहैमबतयोः सीमनि स्थितः, महाहिमविश्वति चोः हैमबतहरिबर्षयोर्भागकरः, निषीदंति तस्मिश्विति निषधो हरिविदेहयोर्मर्यादाहेतुः, नीखवर्णयं गाश्रीख्रव्यपदेशः विदेहरम्यकविनिवेशविभाजी, रूक्मसद्भावतो रूक्मीत्यभिधानं रम्यकहैरण बतविवेककरः, शिखरसद्भावाच्छिखरीति संज्ञा हैरण्यवतैरावतसेतृबंधः शिखरी।

हिम ( वर्फ ) का चारों ओर सम्बन्ध होनेसे पहिले पर्वतका " हिमवान् " यह नाम निर्दे हो रहा है। अन्य पर्वतोंमें या इस भरत क्षेत्र सम्बन्धी आर्य खण्डके हिमालय पर्वतमें भी हिमका धनि सम्बन्ध है। अतः रूढि पक्षका अवलम्ब लेना ही सन्तोषाधायक है। यह हिमवान् पर्वत भरत क्षेत्र और हैमवत क्षेत्रकी सीमामें व्यवस्थित हो रहा है। तथा महाहिमावानको सम्बन्ध हम यों कह चुके हैं कि हिमके सम्बन्धसे हिमवान कहा जाता है, महान् जो हिमवान् वह महिमवान् है। मले ही हिम नहीं होय तो भी रामकी गुडियाके समान नाम रख देनेमें कौनसी भा क्षाति हुई जाती है। हैमवत क्षेत्र और हरिवर्षका विभाग कर रहा यह महाहिमवान् पर्वत विन्यस्त है देव और देवियां तिसमें कीडा करने के लिये विराजते हैं, इस कारण पर्वतका नाम निषध है, जो।



साढि होरहा हरि और विदेह क्षेत्रकी मर्यादाका हेतु है। नीठ वर्णका सम्बन्ध होनेसे पर्वत नीठ कहा जाता है, जो कि विदेहके उत्तर और रम्यकके दक्षिण भागमें विनिवेशको प्राप्त होरहा विदेह और रम्यक क्षेत्रका विभाजक है। रुक्म यानी सुवर्णका सद्भाव होनेसे पांचवें पर्वतका रुक्मी ऐसा नाम पड गया है जो कि रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रके पृथग्भावको कर रहा है। शिखर यानी क्टोंके सद्भावसे छड़े पर्वकी शिखरी यह संज्ञा है। जो कि हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रका माना पुछ ही बंधा हुआ है, ऐसा शिखरी पर्वत शोभ रहा है। इन सम्पूर्ण पर्वतों के नाममें यौगिक अर्थ गोण है, रूढि अर्थकी प्रधानता है।

हिमबदादीनामितरेतरयोगे द्वंद्वा अवयवमधानत्वात्, वर्षधरपर्वता इति वचनमवर्षधराणां वर्षधराणां पर्वतानामपर्वतानां च निरासार्थ । तद्विभाजिन इति वचनात् भरतादिवर्षविभाग-हेत्रत्वासिद्धिः, पूर्वापरायता इति विश्लेषणादन्यथायतत्वमनायतत्वं च व्युदस्तम् ।

हिमवान, महाहिमवान आदि शहोंका इतरेतर योग होनेपर दंद समाप्त होजाता है। क्योंकि " सर्वपदार्थप्रधानो ढंढ: " ढंढ समासके सम्पूर्ण घटकावयव पद प्रधान हुआ करते हैं। इस सूत्रमें "वर्षघर-पर्वता: '' यह निरूपण करना तो अवर्षधर पर्वत और वर्षधर अपर्वतोंका निराकरण करनेके छिये हैं। अर्थात-व्यमिचार निवृत्ति करनेवाळे विशेषणोंको सार्थक समझा जाता है। " नीळोत्पळं " यहां नीळ कमलमें नील शद्भ तो अनील उत्पर्लो यानी लाल, भेत कमलोंकी न्यावृत्ति कर रहा है और उत्पर्ल शद्ध तो नील होरहे अनुत्पलों जामन, भोरा आदिकी निशृत्ति करनेको चिल्ला रहा है। इसी प्रकार जंबू-द्वीपमें कई पर्वत, यमकगिरी, शद्भवान्, विकृतवान्, गन्धवान्, माल्यवान्, गन्धमादनगजदंत, सीमनसगजदंत, सुदर्शन मेरु ये पर्वत होते हुये भी क्षेत्रोंके विभाजक नहीं होनेके कारण वर्षधर नहीं हैं। अतः अवर्षधर पर्वतोंका न्यवच्छेद करनेके लिये हिमवान् , महाहिमवान् आदिमें वर्षधर पर्वतपनेका विधान सार्थक है, तथा इसी जंबद्वीपमें भरत आदि क्षेत्रोंके उत्तर, दक्षिण, भागोंका विभाग जैसे इन हिमवान आदि पर्वतोंने किया है, उसी प्रकार उक्त क्षेत्रोंके पूर्वापर विभागको करनेवाले पूर्वापर छवण समद्र भी तो हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रोंका तो तीनों ओरसे समुद्रने विभाग कर रक्खा है। विदेह क्षेत्रमें बड़े भद्रसाल वनके साथ देवकुरु, उत्तरकुरुका विमाग गजदंत पर्वतोंने कर रक्ला है । इसी भरतमें दक्षिणभरत या उत्तरभरतके विभाजक विजयार्थ और षट्खण्डोंका विभाग करनेवाली गंगा सिन्धु नदियां भी हैं। जम्बुद्धीपके बत्तीस विदेहोंमें कसा, सुकत्सा, आदि एक एक जनपद ही भरत और ऐरावत क्षेत्रोंसे कई गुना बडा है, जिनको कि वक्षार पर्वत या विभंगा नदियोंने न्यारा २ विभक्त बना रक्खा है। इस युक्ति द्वारा पर्वत भिन्न समुद्र आदि भी वर्षधर माने जा सकते हैं। अतः वर्षघर पर्वत कह देनेसे हिमवान् आदिमें वर्षघर अपर्वतपनेका निराक्षरण हो जाता है। इस सूत्रमें " तद्विभाजिन: '' यों कथन कर देनेसे हिमवान् आदि पर्वतोंको भरत आदि क्षेत्रोंके विमागका हेतुपना सिद्ध हो जाता है तथा " पूर्वापरायता " पूर्व, पश्चिम, लम्बे इस विशेषणसे दूसरे ढंगका लम्बाईपन और लम्बाई रहितपनका न्युदास कर दिया गया है । अर्थात्-ये पर्वत पूर्व पश्चिमकी ओर लम्बे पड़े हुये हैं, दक्षिण उत्तर या विदिशाओंकी ओर लम्बे नहीं हैं। तथा ये पर्वत लम्बे नहीं होकर गोल चौकोर, तिकोने, आकारवाले होय, इस सम्भावनका भी आयतपदसे प्रत्याख्यान हो जाता है। अतः ये विशेषण उन पर्वतोंकी ताहरा सिद्धि करनेमें सदेतु बना लिये जांय या उन लक्ष्यभूत पर्वतोंके निर्दोष लक्षण भी बना लिये जांय तो कोई क्षति नहीं होगी। इस बातका हम जैन न्यायसिद्धान्त अनुसार दिंढोरा पीटनेके लिये संनद्ध हैं।

#### किं परिणामास्ते इत्याह ।

वे पर्वत किस धातुके बने हुये परिणाम यानी विवर्त हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको बोळते हैं ।

## हेमार्ज्जनतपनीयवैद्धर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

ये हिमत्रान्, महाहिमवान्, आदि पर्वत यथाक्रमसे हेममय, अर्जुनमय, तपनीयमय, वैहूर्य-मय, रजतमय, हेममय हैं। विकार या प्राचुर्य अर्थमें मयट् प्रत्यय किया है। इन पर्वतों के वर्ण विशेष भी उन उन धातुओं के रंगके समान हैं। अवयव या विकार अर्थमें मयट् प्रत्यय हो जाता है।

हमयो हिमवान्, अर्जुनमयो महाहिमवान्, तपनीयमयो निषधः, वैद्वर्यमयो नीछः, रजतमयो रुक्मी, हेममयः शिखरीति । हेमादिपरिणामा हिमवदादयः तथानादिसिद्धत्वादन्य-थोपदेशस्य परमागमप्रतिहतत्वात् ।

चीन देशीय कोशेयके समान वर्णको धारनेवाला हेममय हिमवान पर्वत है। अर्जुन जातिके सुवर्ण समान रंगको धारनेवाला महाहिमवान् पर्वत शुक्लवर्णका अर्जुनमय है, तपनीय जातिके सुवर्णकी प्रचुरताको धारनेवाला निषध है, जो कि मध्याह्कालके सूर्यकी प्रभा समान आमाको धारता है, मयूरप्रीवाके वर्ण समान वैद्ध्यमणिमय नीला नीलपर्वत है, चांदीका विकार हो रहा शुक्र रुक्मी पर्वत है और हिमवानके समान हेममय थोडा पीला चीनाई रेशमके समान कान्तिको धारनेवाला हिममय शिखरी पर्वत है। अर्थात्—वर्तमानमें सुवर्ण स्थूलतासे एक प्रकारका प्राप्त हो रहा है। किन्तु सुवर्ण धातु कई रंग और अनेक प्रकारके गुणोंको धारनेवाली कई जातिकी मानी गयी है। सहस्रनाममें भगवान्के शरीर कान्तिकी परनिमित्त या स्वयं भिन्नताओंको धारनेवाली मानकर कई जातिके सुवर्णीसे उपमा दी गयी है। " मर्माभः, सुप्रभः, कनकप्रभः, सुवर्णवर्णो, रुक्मामः, सूर्यको-टिसमप्रभः, तपनीयनिमन्तुगो वालाकीभोऽनलप्रभः, संन्याश्रव शुक्रमानस्तरचामीकरच्छिवः, निष्टसकन-कच्छायः कनद्काञ्चनसन्तिमः, हिरण्यवर्णः स्वर्णीमः, शातकुम्भनिमप्रभः, गुम्नमा जातक्रपामो दीतजाम्बूनद्वातः, सुधीतकल्योतश्रीः प्रदीतो हाटकच्चातिः " इन स्तुतियोंके स्रोको द्वारा प्रतीत हो जाता है कि सुवर्ण कई रंग और अनेक कान्तियाँसे युक्त है। भन्ने ही अमरकोचमें " स्वर्ण सुवर्ण जाता है कि सुवर्ण कई रंग और अनेक कान्तियाँसे युक्त है। भन्ने ही अमरकोचमें " स्वर्ण सुवर्ण

कनकं हिरण्यं हैम हाटकम्, तपनीयं शातकुम्भं गाङ्गेयं भर्मकर्बुरम्, । चामीकरं जातक्रपं महारजतकाञ्चने, रुक्मकार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽिक्षयाम् "ये उन्नीस पर्यायवाची नाम सोनेके गिनाये हैं।
फिर भी "जेतियमित्ता सहा तेतियमित्ता हु होंति परमत्या " इस नियम अथवा एवम्भूत नयकी
अपेक्षासे सुवर्णका नानापना अनिवार्य है। यद्यपि आजकल भी प्रातः, मण्यान्ह, सायंकाल, रात्रिके समय
एक ही प्रकारके सुवर्णको देखनेपर परिनिमित्तोंसे नाना कान्तियां प्रतीत हो जाती हैं। करकेंटाके रंग
समान सोना स्वयं भी कान्तियोंको बदलता रहता है। तथापि देखे जा रहे कई जातिकी चांदियां अनेक
प्रकारके सुवर्ण नाना ढंगके हीरकमणियोंका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है। शुक्र विमान, सूर्यमण्डल, बृहस्पति, बुधमह, या अन्य ताराओंमें मणियोंकी अनेक जातियां प्रत्यक्ष गोचर हैं। अतः इस
विषयमें अभिक विस्तार करना व्यर्थ है। ये हिमवान्, महाहिमवान् आदिक पर्वत सुवर्ण आदिके बन
रहे परिणाम हैं। क्योंकि तिसप्रकारके ही वे अनादि कालके स्वयं सिद्ध हो रहे हैं। यदि अन्य प्रकारोंसे
इनका उपदेश किया जायगा जैसा कि भारकराचार्य या अन्य पौराणिक विद्वानोंने स्वीकृत किया है,
उस मिश्योपदेशका इस परमागम करके प्रतिधात कर दिया जाता है। अतः स्वांक व्यवस्थाको
निर्दोष समझ लीजियेगा।

#### पुनरपि किं विशिष्टास्त इत्याह ।

फिर भी वे पर्वत किन मनोहर पदार्थोंसे विशिष्ट हो रहे हैं, ऐसी प्रतिपित्ता होनेपर श्री उमा-स्वामी महासज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

## मणिविचित्रपाइर्वाः ॥ १३ ॥

प्रभाव, कान्ति, शक्ति, आदि अनेक गुणोंसे युक्त होरही मणियों करके विचित्र होरहे पार्च-भागोंको धारनेवाले वे पर्वत हैं।

#### मणिभिर्विचित्राणि पार्श्वाणि येषां ते तथा । अनेन तेषामनादिपरिणाममणिविचित्रपा-र्श्वत्वं प्रतिपादितं ।

जिन पूर्वतोंके पस्त्राढे मळा मणियों करके चित्र, विचित्र, हो रहे वे पर्वत तिस प्रकार " मिनिविचित्रपार्श्वाः" कहे जाते हैं। इस विशेषण द्वारा उन पर्वतोंका अनादि काळसे परिणाम होरहा यह मणियों करके विचित्र पस्त्राडोंसे सहितपना कह दिया गया समझ ळिया जाता है।

#### तद्भिन्तरविश्रेषमतिपादनार्थमाइ।

उन पर्वतों के विशेष रूपसे विस्तारको प्रतिपादन करनेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अगरे सूत्रको कहते हैं।

## उपरि मुले च तुल्यविस्ताराः ॥ १४ ॥

वे हिमबान् आदिक पर्वत ऊपर भाग और मूळ भागमें समान चौडाईको क्रिये हुये हैं। अर्थात्—भीतके समान ऊपर नीचे बीचमें उनकी चौडाई एकसी है।

#### च श्रद्धान्मध्ये च, तथा चानिष्टविस्तारसंस्थाननिष्टाचः प्रतीयते ।

सूत्रमें पड़े हुये च शहूसे मध्यमें भी उनका समान विस्तार समझ केना चाहिय, और तिस प्रकार उपर, नीचे, बीच, में तुल्यविस्तारका कथन करनेसे अनिष्ट विस्तारवाछे संस्थानोंकी निहित्ते प्रतीत होजाती है। अर्थात्—सुमेहके समान नीचेसे उपरकी ओर घटते घटते रहना या विजयार्थके समान कटनियोंका होना अथवा मानुषोत्तर पर्वतके समान एक ओर मौतका आकार और दूसरी ओर दखा हुआ आकार इत्यादि संस्थान इन कुळाचळोंका नहीं है। ये तो पक्की भीतके समान उपर नीचे बीचमें तुल्यविस्तारवाछे हैं।

#### तदेवं सूत्रचतुष्ट्रयेन पर्वताः शोक्ता इत्युपसंहराति ।

तिस कारण इस प्रकार उक्त चारों सूत्रों करके कुछाचछ पर्वतीका वर्णन सूत्रकारने अच्छा कह दिया है। इस बातका श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा उपसंद्धार करते हैं। अर्थात्— '' मणिविचित्रपार्थाः '' और '' उपरि मूळे च तुल्यविस्ताराः '' ये दो सूत्र हैं। एक नहीं, दो इनके पूर्वमें हैं यों चार सूत्र हुये।

## पूर्वीपरायतास्त्रत्र पर्वतास्त्रद्विभाजिनः । षद्प्रधानाः परेणेते प्रोक्ता हिमवदादयः ॥ १ ॥

उस जम्बूदीपमें उन क्षेत्रोंक विभाग करनेवाके पूर्व, पश्चिम, छन्वे पडे हुये ये हिमवान् आदिक छह प्रधान पर्वत सूत्रकार द्वारा न्यारे सूत्रों करके अच्छे कहे जा चुको हैं।

सूत्रेणित पूर्वश्चोशावसुद्वाचिः परेणित सूत्रविश्वषणं तेत श्रेणियस्यायस्य सूत्रेण दिस्वदादयः पद्मधानाः पर्वताः शोक्ताः इति संबंधः वर्तन्यः। पूर्वपशयतास्त्रद्विशाणिन इति विश्वपणद्वयस्यनं हेमादिसयत्वस्रणिवित्रिष्ठपार्थत्वरेपरि सृष्ठे च तुस्यविस्तारत्वविश्लेषणाः नामुपालक्षणार्थे । हेसादिसमाः पणिभिवित्रित्रभार्थाः तयोष्ट्रि सृके च तुस्यविद्वाराः मोक्ताः सुक्षत्रयेण ।

इस वार्तिकसे पहिली "क्षेत्राणि भरतादीनि सम तत्रापरेण तुं। सूत्रेणोत्तानि तसंस्थां हंदुं तीर्धिककान्धिताम्" उत्त वार्तिक क्षेकसे सूत्रेण इस पदकी अनुहत्ति कर छेनी चाहिये। इस वार्ति-कर्में पढा हुआ " परेण" यह शह उस सूत्रका विशेषण हो जाता है। तिस कारण क्षेत्रोंका कथन क्रिकेशके " भरतहैमवतहनिवेहहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि" इस सूत्रने परत्री ओरके

"तिद्देभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवानिषयनोळरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः " इस सूत्र करके सूत्रकार द्वारा हिमवान् आदिक छह प्रधान पर्वत बहुत अच्छे कहे जा चुके हैं। यो वार्तिकके पदोंका सम्बन्ध कर संगत अर्थ कर छेना चाहिये। पर्वतोंके प्रतिपादक पहिछे सूत्रमें जो पूर्व, पश्चिम, उम्बे और उन क्षेत्रों का विभाग कर रहे यों पर्वतोंके इन दो विशेषणोंका कथन तो अगछे तीन सूत्रोंमें कहे गये हेम, अर्जुन, आदिका विकारपना और मणियोंसे विचित्र पत्तवाडोंका धारना तथा उपर या जडमें समान विस्तार सहितपना इन तीन विशेषणोंका उपलक्षण करनेके छिये है, जो कि पर्वत श्री उमान्स्वामी महाराजने उत्तरवर्ती तान सूत्रों करके हेम आदिके परिणाम और मणियोंसे विचित्र पस्तवाडेवाछे तथा उपर, नीचे, बीचमें, तुल्य विस्तारवाछे यों भछे प्रकार तीन सूत्रों द्वारा कहे जा चुके हैं। अर्थात् छन्यछक्षण भावकी अपेक्षा भविष्यके तीन सूत्रोंमें कहे गये प्रमेयका पहिले सूत्रमें ही आकर्षण कर " तिद्वभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवित्रधनीलधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षवरपर्वताः " इस पहिले सूत्रको ही छह कुलाचलोंका निर्दोष सर्वाङ्गीण लक्षण समझ छेना चाहिये। वही चारों सूत्रोंकी एकवाक्यता हो जानेपर निष्कर्ष निकलता है।

#### तेषां हिमवदादीनामुपरि पद्मादिइदसद्भावनिवेदनार्थमाह ।

उन हिमवान् आदि पर्वतोंके ऊपर पद्म आदि सरोवरोंके सद्भावका निवेदन करनेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

# पद्ममहापद्मितिगिंछकेसरिमहापुंडरीकपंडरीका-हृदास्तेषामुपरि ॥ १५ ॥

उन हिमवान्, महाहिमवान् , आदि छह पर्वतोंके ऊपर ठीक बीचमें यथाक्रमसे पद्म, महा-पद्म, तिंगछ, केसरी, महापुण्डरीक, पुण्डरीक, इन नामोंको धारनेवाले सरोवर हैं।

हिमवत उपरि पद्मो इदः, महाहिमवतो महापद्मः, निषधस्य तिर्गिछः, नीलस्य केसरी, क्षिमणः महापुंडरीकः, शिखरिणः पुंडरीक इति, संबंधो यथाकमं वेदितव्यः। पद्मादिजलकुसुम-विश्वेषसहचरितत्वात् पद्मादयो इदा व्यपदिश्यंते, तथा रूढिसद्भावाद्वा हिमवदादिव्यपदेशवत्।

हिमबान् पर्वतके ऊपर पद्मनामका हद है । महाहिमबान् पर्वतके ऊपर ठीक बीचमें महापद्म संज्ञक सरोवर है । निषध पर्वतके ऊपर तिगिछ नामबाछा पद्माकर है । नीछ पर्वतके ऊपर केसरी अभिधाबाछा अगाध जल भरा हुआ तडाग है । रुक्मी पर्वतपर महापुण्डरीक इस नामका धारी हद है तथा शिखरी पर्वतके ऊपर पुण्डरीक संज्ञावान् आयतचतुरस्र सरोवर है । इस प्रकार छह पर्वतोंके ऊपर प्रथाकमसे छह हदोंका सम्बन्ध हो रहा समझ लेना चाहिये। उन हदोंमें बिराज रहे और पद्म, महापद्म

भादि नामोंको धारनेवाले विशेष कमलोंके सहचरितपनेसे इदोंका भी पद्म, महापद्म, आदि नामों करके निर्देश कर दिया जाता है। अथवा सिद्धान्त उपाय वहीं है कि जैसे हिमकी या महाहिमकी प्रधानता नहीं कर अनादि कालीन रूढिके सद्भावसे पर्वतोंका हिमवान, महाहिमवान, आदि व्यपदेश है, उसी प्रकार अनादि, अनन्त, रूढिके सद्भावसे इन इदोंका नाम भी पद्म, महापद्म, आदि रूप करके अनादि निधन प्रवर्त रहा है।

## पद्मादयो हदास्तेषामुपरि प्रतिपादिताः । सुत्रेणैकेन विद्गेया यथागममसंशयम् ॥ १॥

श्री उमास्त्रामी महाराजने इस एक सूत्र करके उन पर्वतोंके ऊपर पद्म आदि हदोंका शिष्योंकी व्युत्पत्तिके लिये प्रशस्त प्रतिपादन कर दिया है। विशेष वर्णना युक्त उन पर्वतोंको आगम अनुसार संशयरित होते हुये समझ लेना चाहिये। अर्थात्—वे पर्वत पूर्व पश्चिम लम्बे हैं, उत्तर दक्षिण चौडे हैं नाना माणि, सुवर्ण, रजत धातुओंसे उनके तट चितेरे गये हैं। उनमें निर्मल स्वच्छ अक्षय जल भरा हुआ है उनके चारों ओर वनखण्ड शोभ रहे हैं! जलप्रवाह तोरण आदि कहां कैसे व्यव-स्थित हैं! इन सब बातोंको जिनोक्त आगम अनुसार हृदयंगत कर लेना चाहिये।

#### तत्र प्रथमो हृदः किमायामविष्कंभ इत्याह ।

उन छह हदोंमें पहिला हद कितनी लम्बाई और चौडाईको धार रहां है ? यो जिज्ञासा होने-पर श्री उमास्त्रामी महाराज अगले सूत्रको कहते हैं।

## प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कंभो हृदः ॥ १६ ॥

उन छह हदोंमें पहिला पद्म नामका हद तो बढे योजनोंसे एक सहस्र योजन लम्बा और उससे आधा यानी पांचसो योजन चौडा है।

#### सूत्रपाठापेक्षया प्रथमः पद्मो इदः योजनसङ्ख्यायाम इति वचनादन्यथा तद्दैर्घव्यवच्छेदः, तदर्भविष्कंभ इति वचनात् पंचयोजनञ्चतविष्कंभत्वप्रतिपत्तिरन्यथा तद्दिस्तारनिरासः प्रतिपत्तव्यः।

हदोंके प्रतिपादक पूर्व सूत्रमें कहे अनुसार पाठकी अपेक्षा करके पहिला गिना गया दक्षिण ओरका पग्न नामका हद तो सहस्रयोजन लम्बा है, यो कथन कर देनेसे अन्य प्रकारों करके गढ़ ली गयी उसकी दीर्घताका न्यवच्छेद हो जाता है। अर्थात् पग्न हद हजार योजनसे न्यून य अधिक लम्बा नहीं है और यह लम्बाई पूर्व पश्चिम है, दक्षिण, उत्तर, की ओर नहीं है। हदके दूसरे विशेषण उससे आधा चौडा यों कथन कर देनेसे पांचसी योजन चौडाईकी प्रतिपात्ति हो जाती है। अतः अन्य प्रकारोंसे कल्पित किये गये उसके विस्तारका निराकरण समझ हेना चाहिये।

#### किमवगाहीसावित्याह ।

नह पहिला हद किसने अवगाह (गहराई) को धारता है ? ऐसी बुमुत्सा होनेपर औ अभारतामी महाराज सूत्रको कहते हैं।

### दर्शयोजनीवगाहः॥ १७॥

यह पहिला हद दश योजन अवगाहको धार रहा है।

#### पृयम्योगकरणं सर्वद्रदासाधारणावगाहप्रतिपन्यर्थे ।

पहिले पद्म हदकी लम्बाई, चौडाईका सूचन करनेशाले पूर्व सूत्रके इस सूत्रका पृथक् योग करना तो सम्पूर्ण हदोंके न्यारे न्यारे असाधारण अवगाहोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये हैं।

## संख्ययायामविष्कंभावगाहगतया हदः । सुत्रद्वयेन निर्दिष्टः प्रथमः सर्ववेदिभिः ॥ १ ॥

सर्व पदार्थीको आममेवाले सर्वक्षोपम श्री उमास्वामी महाराज श्रुतक्कानीने उक्त दोनों स्त्रोंद्वारा सहस्र, पांचसी और दश योजनवाली संख्याके साथ लम्बाई, चौडाई, और गहराईको प्राप्त हो रहेपन करके पहिले हदका निरूपण कर दिया है।

सामर्थ्यादेकेन सूत्रेण हिमक्दादीनासुपरि षट्पबादयो हृदा निर्दिष्टा इति गम्यते, तत्याठापेक्षया पश्चस्य हृदस्य मथमत्ववचनात् ।

उक्त दो सूत्रोंमें कहे गये प्रयेयके वर्णनकी सामर्थ्येस हैं। " पद्म, महापद्म, तिगंछ, आदि " एक सूत्र करके हिम्मान् आदि पर्वतींके ऊपर छह पद्म आदि हद कहे जा चुके हैं यों वार्तिकमें कहे बिना ही समझ लिया जाता है। क्योंकि उसी पंदहमें सूत्रके पाठकी अपेक्सासे ही तो सोल्ह्बें, सत्र-हवें, सूत्र द्वारा बखाने गये पद्म हदको प्रथमपनका बचन कहा गया है।

#### जब तन्मध्ये विश्विष्ट परिणामं पुष्करं मंतिपादयति ।

श्रव इसके अनन्तर उन इंदोंके मध्यमें अनेक विशेषणोंसे युक्त होखें परिणामको धारनेवाछे पुक्कर जातिके पार्थिन कमळका श्री उमास्वामी महाराज प्रतिपादन करते हैं।

## तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १८ ॥

उस पहिले पद्म इदके मध्यमें एक योजन लंबा, चौडा, वर्तुकाकार कमल है।

द्विकोश्वकर्णिकत्वादेककोश्ववहरूपवत्वाच योजनपरिमाणं योजनं पुष्करं जस्रक्कुमुगंतथा-नादिपरिचामाद्वेदितव्यम् । क तद् ? तस्य पग्नद्रदस्य मध्ये । कमळके बीचका कोष तो दो कोस छंबा, चौडा, गोळ है, जो कि कार्णिका कही जाती है और इधर उधर चारों ओर एक एक कोस छंबे कई कमळपत्र हैं। इस कारण वह जलका छल कमल तिस प्रकार अगादि काळीन पृथ्वी परिणामसे रचा हुआ बढ़े योजनसे एक योजन लम्बे चौड़े परिमाणको धार रहा एक योजनका समझ लेना चाहिये। वह कमल कहां है ! इस आकांक्षाको शान्त करनेके लिये सूत्रकारने " तन्मध्ये" कहा है। अर्थात्—उस पमहदके ठीक बीचमें जल तळसे दो कोस उठे हुये नाळवाला, वज्रमणिमय जडका धारी, रजतमणिनिर्मित मृणालका धारका, और वैहुर्यमणिके दढ नालको धार रहा वह पार्थिव कमल है, वनस्पतिकायका नहीं है। वनस्पतिकाय जीवकी उत्कृष्ट स्थिति केवल दश हजार वर्ष है। किन्तु यह कमल अनादिसे अनन्त काळतक सहशपरिणामोंको धार रहा सुल्यवस्थित है। मले ही सूक्ष्म परिणातिओंके अनुसार अनन्त परमाणुये उसमें आते, जाते रहें या पृथिवीकायिक जीव उपजते, मरते, रहें। किन्तु स्थूलपर्याय सदा एकसी बनी रहती है।

#### शेषद्दपुष्करपरिमाणमतिपादनार्थमाह ।

पहिले पद्म हदसे अतिरिक्त बचे हुये पांच हदोंमें स्थित हो रहे कमळोंकी लम्बाई चौडाई, गहराई के परिमाणों या परिणामोंकी प्रतिपत्ति करानेके क्रिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

# तद्दिग्रणद्विग्रणा हदाः पुष्कराणि च ॥ १९ ॥

उस पद्म हृदसे दुगुनी दुगुनी, लम्बाई, चौडाई, और गहराईको धारनेवाले उत्तरवर्ती हृद और कमल हैं। उत्तर तथा दक्षिण, के हृद और कमलोंका परिमाण समान है। पद्म सरीवरसे महापद्मका क्षेत्रफल अठ गुना और पद्मसे तिगञ्छ हृदका क्षेत्रफल चौसठ गुना बढा है।

ततः पगड्दात् पुंदरीकड्दाच द्विगुणद्विगुणा इदा महापद्ममहापुण्टरीकादयः, योजन-परिमाणाच पुष्कराहिक्षणादुत्तरस्माच द्विगुणद्विगुणानि पुष्करिण विष्कंमायामानीति वीप्सा-निर्देशात् संमतीयंते " उत्तरा दक्षिणतुल्याः " इति वक्ष्यमाणसूत्रसंबंधत्वात् । तत्संबंधः पुन-वेहुवचनसामध्यीदन्यया द्विचनमसंगात् तद्विगुणौ द्विगुणाविति । तदेवं—

उस पहिले पद्महदसे उत्तरकी ओर और छड़े पुण्डरीक हदसे दक्षिणकी ओरके महापद्म, महापुण्डरीक, आदिक हद द्विगुनी दिगुनी लम्बाई, चौडाई, और गहराईको धारनेवाले हैं तथा दक्षिण दिशावर्ती पहिले और उत्तरदिशावती अन्तके एक योजन परिमाणवाले कमले द्विगुने द्विगुने चौडाई, लम्बाई, परिमाणवाले परले, उरले, कमल हैं। इस बातकी '' दिगुणादिगुणा '' इस बीएसके निर्देश कर देनेसे मले प्रकार प्रतीति होजाती है। भी

राजवार्तिक प्रन्थमें अकलंक देव महाराजने अगले अगले हदोंके अवगाहको भी कण्ठोक्त हिगुना हिगुना लिखा है। यहां भी हिगुनी गहराईका निषेध नहीं है, जब कि जम्बूदीपके उत्तरवर्ती स्थानोंकी रचना दक्षिण दिशावर्ती स्थानोंकी तुल्य है। इसको समझानेके लिये "उत्तरा दक्षिणतुल्याः" इस बहुवचनकी सम्बन्ध हो रहा है। इससे प्रतीत हो जाता है कि सूत्रमें फिर "हिगुणहिगुणाः" इस बहुवचनकी सामर्थ्यसे उन, दूनी दूनी लम्बाई, चीडाई, गहराईयोंका सम्बन्ध हो जाता है। अन्यथा "तिहुगुणों हिगुणों उस प्रकार अर्थकृत लावव करते हुये सूत्रकारको "हिगुणहिगुणों " इतना ही कह देनेका प्रसंग प्राप्त होगा। अर्थात्—पद्म हदसे दूना महापद्म हद है और महापद्मसे दूना तिगिल हद है तथा पुण्डरीक हदसे महापुण्डरीक हद दूना लम्बा चीडा गहरा है और महापुण्डरीक सरोवरसे केसरी हद हिगुना है, यह केवल दो स्थानोंपर ही हिगुनापना दिखलाया गया है। यों ही दो स्थानोंपर कमलोंका भी दूनापन निर्णात हो रहा है। ऐसी दशामें सूत्रकारको संक्षेपसे "तिहुगणहिगुणों कहना चाहिये था। फिर जो सूत्रकारने "तिहुगुणहिगुणाः" यों बहुवचनान्तपद कहा है, इससे जाना जाता है कि दक्षिण, उत्तर, आदि अन्तके दो हद या कमलोंकी संख्या दूनी दूनी नहीं है। एक एक ही बराबर है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर जो हुआ उसे सुनो।

# तन्मध्ये योजनं प्रोक्तं पुष्करं द्विगुणास्ततः। इदाश्च पुष्कराणीति सूत्रद्वितयतोंजसा ॥१॥

उस ह्दके मध्यमें एक योजनका पुष्कर और उससे द्विगुने, द्विगुने, आकारवाले हृद और पुष्कर हैं, इस अर्थको उक्त दोनों सूत्रोंते श्री उमास्वामी महाराजने स्पष्ट रूपसे अच्छा कह दिया है ।

#### तिभवासिन्यो देव्यः काः किं स्थितयः परिवाराश्च श्रूयन्त इत्याह !

अब महाराजजी, यह बताओं कि उन पुष्करोंमें बने हुये महलोंमें निवास करनेवाली देवियां कीन हैं ? सर्वज्ञ आम्नायसे चले आ रहे द्वादशांग के अंग मूत शाखों में उन देवियों की कितनी स्थिति कही है ? तथा ऋषि सम्प्रदाय द्वारा उनका परिवार कितना शाखों में सुना जा रहा है ? यों विनीत शिष्यकी श्रुश्रूषाको ज्ञात कर चुकनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र कहते हैं।

## तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्यीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्मयः पल्योपमस्थितयः संसामानिकपरिषत्काः॥ २०॥

उन कमलोंमें यथाक्रमसे निवास करनेका शील रखनेवाली १ श्री २ ही ३ धृति ४ कीर्ति ५ बुद्धि ६ लक्ष्मी ये लंड व्यन्त्रर देव जातिकी देवियां वास कर रहीं हैं। उन सम्पूर्ण देवियोंके मुज्य- मान आयुष्य कर्मकी स्थिति तो एक अद्धापल्योपम है। वे देवियां सामानिक जातिके देव और समाओं में बैठनेवाले पारिषद् जातिके देवोंसे सिहत होरहीं हैं। बिशेषतः श्री, ही, घृति, तो सौधर्म इन्द्रकी आज्ञा मानती हैं और कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, ये ईशान इन्द्रकी आज्ञानुमार प्रवर्तती हैं। पांचों मेरु संबंधी देवियोंकी यही व्यवस्था है। ये सब ब्रह्मचीरिणी हैं। भगवान्की माताकी सेवामें इनका विशेष अनुराग है।

तेषु पुष्करेषु निवसनशीलास्तिषासिन्यः, देवगतिनामकर्मविशेषादुपजाता इति देव्यः श्रीभभृतयः तत्र पद्मइदपुष्करमासादेषु । श्रेषहदपुष्करमासादेषु द्रीप्रभृतयो यथाक्रमं निवसं-तीति यथागमं वेदितव्यं । ताः पल्योपमस्थितयस्तावदायुष्कत्वेनोत्पत्तेः । सामानिकाः परिषदश्च वक्ष्यपाणलक्षणाः सह ताभिर्वर्ततेत इति ससामानिकपरिषत्काः । एतेन तासां परिवारविभूतिं कथितवान् । एतदेवाह—

जिन देवियोंकी देव उन पुष्करोंमें निवास करनेकी है, वे देवियां तिनवासिनी कही जातों हैं। निवास शहरे शील अर्थमें तद्वितान्त इन् प्रत्यय कर दिया जाता है। नामकर्मकी उत्तर प्रकृति देवगति नामक नामकर्भके उत्तरोत्तर भेदस्वरूप विशेषकर्मसे विशेष व्यंतरोंमें उत्पन्न द्वया है। इस कारण श्री. ही, आदिक देवियां मानी जाती हैं। पग्रहृदके कमलमें बन रहे प्रासादोंमें श्रीदेवी निवास करती है तथा शेष हदवर्ती पुष्करोंमें बने हुये प्रासादोंमें यथाक्रमसे ही, धृति आदि देवियां निवास करती हैं। यों आगम मर्यादाका अतिक्रमण नहीं कर समझ लेना चाहिये। अर्थात्—उन कमलोंकी कर्णिकाके बीचमें एक कोस लम्बा आधा कोस चौडा कुछ कम एक कोस ऊंचा महल बना हुआ है। उसमें देवी रहती है । यहां प्रासादोंका बहुतपना यों घटित हो जाता है कि एक कमलमें भी कई प्रासाद सम्भवते हैं तथा एक कमलके परिवार हो रहे एक लाख चालीस हजार एक सौ पचास कमलोंपर भी इतने ही प्रासाद बने हुये हैं अथवा पांच मेरु सम्बन्धी पांच पद्म हदोंके पांच महलोंमें न्यारी न्यारी आत्मा-ओंको लिये हुये भिन्न भिन्न पांच श्री देवियां निवास करती हैं, इत्यादि रूपसे आम्रायके अनुसार यों सम्पूर्ण व्यवस्था वन जाती है। वे देवियां पल्योपम स्थितिको धार कर उतने कालतक जीवित रहती हैं। पुनः एक देवीके मर जानेपर दूसरी देवी उपज जाती है। क्योंकि उतने एक पत्य परिमाणवाछे आयुसे सिहतपने करके उनकी वहां उत्पत्ति हुआ करती है ( हेतु )। सामानिक और परिषद जातिक देवोंका लक्षण मविष्यमें कह दिया जायगा। ये देव उन देवियोंके साथ कमलोंमे उन देवियोंके अन-गामी होकर वर्तते हैं। इस कारण देवियोंको सामानिक और परिषद सम्बन्धी देवोंसे सहितपना कहा गया है। इस विशेषणसे उन देवियोंकी परिवार सम्बन्धी विभूतिको सूत्रकार कह चुके हैं। इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा कहते हैं।

> देव्यः श्रीमुखाः स्याताः सूत्रेणैकेन सूचनात् । पडेव तिन्नवासिन्यस्ताः ससामानिकादयः ॥ १ ॥

श्री उमास्त्रामी महाराजने एक ही इस सूत्र करके श्री, ही, प्रभृति देवियोंका व्याख्यान किया जा चुका सूचन कर दिया है। एक मेरु सम्बन्धी छह कुळाचळोंपर वे देवियां सामानिक आदि देवोंसे सिहित हो रहीं सन्ती उन कमळोंमें निवास करनेवाळी छह ही हैं। इतने प्रमेयको सूत्रकारने एक ही सूत्रमें भर दिया है " जैनर्षयस्ते विजयन्ताम् "।

उन भरत आदि क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येक क्षेत्र जिन मध्य गामिनी नदियों करके तीन या चार विभागोंको प्राप्त हो जाता है, श्री उमास्त्रामी महाराज उन नदियोंका निरूपण करनेके लिये अप्रिम् सूत्रको कहते हैं । श्रद्धा लाकर सुनिये ।

## गंगासिंधूरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकांतासीतासीतोदानारी नरकांतासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाःसरितस्तन्मध्यगाः।

१ गंगा २ सिंधु ३ रोहित् ४ रोहितास्या ५ हरित् ६ हरिकान्ता ७ सीता ८ सीतोदा ९ नारी १० नरकांता ११ सुवर्णकूळा १२ रूप्यकूळा १३ रक्ता १४ रक्तोदा ये चौदह महानदिय। उन सात क्षेत्रोंक मध्यमें होकर गमन करती हैं।

सरितो न वाप्यः, तेषां भरतादिक्षेत्राणां मध्यं तन्मध्यं तन्मध्ये गच्छंतीति तन्मध्यगा इत्यनेनान्यथागति गंगासिध्वादीनां निवारयति ।

इस सूत्रमें सरित शद्ध इसिल्ये कहा है कि ये चौदह संख्यावाली निदयां हैं, बाविदयां नहीं हैं। यद्यपि नन्दीश्वर द्वीपिकी एक लाख योजन लम्बी, चौडी, और हजार योजन गहरी चौकोर बाविड्यां इन निदयोंसे द्विगुनी, तिगुनी, लम्बी और वीसी, पचासों, गुनी चौडी तथा सैकडों गुनी गहरी हैं। तथापि पर्वतसे थाराहर निकलकर नीची नीची भूमिमें गमन करते करते और परिवारकों बढाते हुये महान् जलाशयमें मिल जाना यह निदयोंका लक्षण इन चौदह निदयोंमें अथवा अन्य निदयोंमें भी घटित हो जाता है। अतः वास्तविक रूपसे ये निदयां मानी गयी हैं। निम्नभूमिपर समतल अवस्थामें रुके हुये जलको थारने वाली वापियां इन निदयोंसे बिलक्षण हैं। उन भरत आदि क्षेत्रोंके मध्य स्थानको तन्मध्य माना गया है। " उस तन्मध्यमें गमन कर रहीं हैं " इस निरुक्ति द्वारा ये निदयां " तन्मध्यगाः " कही जाती हैं। इस प्रकार तन्मध्यगा इस विशेषण करके गंगा सिन्धु आदि निदयोंकी किल्पत की गयी दूसरे प्रकार गतियोंका निवारण कर दिया जाता है। अर्थात् ये निदयों क्षेत्रोंके मध्यमें बह रहीं हैं। आदि माग, अन्तमाग, या बहिभीगोंमें नहीं बहती हैं और अपनी गित अनुसार सदा गमन ही करती रहती हैं। सियर होकर नहीं बैठ जातीं हैं।

तत्र भरतक्षेत्रमध्ये गंगासिध्यो, हैमवत्तमध्यमे रोहिद्रोहितास्य, हरिमध्यमे हरिद्धरिकाति, विदेहमध्यमे सीतासीतोदे, रम्यकमध्यमे नारीनरकाते, हैरण्यवतमध्यमे सुपर्णकप्यकुछे, पेरावतमध्यमे रक्तारकोदे इति ।

उस पहिले भरतक्षेत्रके मध्यमें गैगा, सिन्धु, दो निर्दियां वह रही है। मानार्थ-हिमनान् पर्वतके ऊपर स्थित होरहे पद्म नामक सरोवरके पूर्व दिशा सम्बन्धी सवा छह योजन चौडे और आधा थीजन गहरे द्वार ( मोरी ) से निकलकर पर्वत पर ही पाचसी योजन पूर्वको बहती हुई गंगा नदी पनः दक्षिणकी ओर मुडकर ( बल खाकर ) कुछ अधिक पांचसी तेईस योजन पर्वतकी आधी चौडा... र्धपर ऊपर ही गमन करती है। पर्वतकी चौडाईमेंसे नदीकी धारकी कमती कर आधा कर देनेसे तक संख्या आजाती है। सी योजन ऊंचे हिमवान पर्वतसे गिरकर काहरू (रणसिंहाकाँजे) या अर्धमालाके समान आकारको धारती हुई दस योजन चौडी होगयी गंगा नदी पर्वतको पचास योजन छोडकर नीचे गिरती है। हिमबान पर्वतसे पचास योजन दक्षिणकी ओर इटकर साठ योजन छंबा चौडा और दश योजन गहरा एक चौकोर कुण्ड बना हुआ है। कुण्डके मध्यमें साढे दश यौजन ऊंचा और आठ योजन लंबा. चौडा, एक संदर दीप शोम रहा है। उस द्वीपके मध्यमें दश योजन ऊंचा वजमय पर्वत है। उस पर्वतके ऊपर डेढ कोस, एक कोस, आधा कोस, क्रमसे नीचे, मध्य, ऊपर भागमें चौडा और एक कोस जंचा ढळवां श्रीदेवीका गृह बना हुआ है. जिसका आकार मंदिरकी शिखर (गुम्मज) के समान है। श्रीगृहके मस्तकपर बने हुये कमळकी कर्णिकामें सिंहासन घरा हुआ है। उस सिंहासनपर अनुप्रम सुन्दर जिनप्रतिमा विराजमान है। अन्य चैत्यालयोंकी प्रतिमासे इस प्रतिमामें इतनी विशेषता है कि इनके केश जटा सहश होरहे ऊपर की ओर लम्बे बंबे हुये हैं। वह केशोंका जटाजूट मुक्कट सारिखा प्रतीत होता है । ऐसे मनोज़ जिनबिम्बका अमिषेक करनेके किये ही मानू हिमबानप्रवेतसे गंगा अव-तीर्ण होती है । सौ योजन ऊंचे स्वर्गसमान हिमबान पर्वतसे महान देव जिनेन्द्र विम्बक्ते जटायक्त सिर पर गंगाकी धार पडती है। इसी दस्यके आश्रयपर पौराणिक परोहितेंनि अनेक प्रकारकी कयारे गढ की हैं। अनादिकालसे पड रहे जलके आधातसे जिनम्रतिमामें बालाप्र भी परिवर्तन नहीं होता है। ऐसी दिष्य शोमाको धार रहे जिनबिम्बको इम त्रियोगद्वारा नमस्कार करते हैं । गंगा नदीका जस एक प्रकार अभिषेक जल है। है । कुण्डके दक्षिणहारसे निकलकर म्लैंच्छ खण्डीमें बहुती हुई विजयार्ध की खण्डप्रपात नामक गुफामें प्रवेश कर आर्थखण्डके पूर्वीय प्रान्त भागमें गमन करती हुई साढे वासठ योजन चौडी होकर लवणसमुद्रमें मिल गयी है। इसी प्रकार सिन्धु आदि नंदियोंका वर्णन समझना चाहिये। नदियोंकी उद्गम स्थलपर जितनी चौडाई है, अन्तमें जाकर उससे दशगनी चौडाई होजाती है। चौडाईसे साढे बारहर्वे भाग या पदास्त्रें भाग गहराई जान छेनी चाहिये। नदियाँके निकलने और प्रवेश होनेके स्थानों पर तौरण बने हुये हैं 1 तीरणोंके उपर मनोब्र अक्रक्रिम जिन प्रतिबंब विराजमान हैं। मीचे दिक्तुमारी देवियां निवास करती हैं। कुण्डोमें नदियां गिरती हैं। उन कुण्डोंमें स्थित होरहे द्वीवोंके ऊपर पांचसी धनुष छम्बे शरीरकी पद्मासनसे जिन प्रतिसायें विराजमान े हैं । इस प्रकार गंगा आदि नदियोंका सामान्य वर्णन है । विश्लेकसार आदि महान् प्रन्थोंमें पूर्वाचार्यीने विस्तारसे बढ़ा है। बढ़ खण्डवाडे भरतक्षेत्रसम्बन्धी आर्थिकप्टके मध्य भागमें जी छोटासा यह

भरत खण्ड ( हिंदुस्तान ) है, इसके उत्तरमें हिमालय है और पश्चिममें सिन्धु नदी तथा पूर्व भागमें गंगा नदी बढ़ रही हैं |न तो यह हिमालय हिमबान पर्वत है और न ये क्षद्र गंगा नदी, सिंधु नदी ही महागंगा नदी महासिन्ध नदी हैं । किन्त आर्थखण्डकी अयोध्या नगरीसे उत्तर दिशाकी ओर लगभग चारसी सात योजन चलनेपर हिमनान पर्वत मिल सकता है और आर्य खण्डसे पूर्व या दक्षिणकी ओर कई सौ योजन चलकर महागंगा नदी मिळ सकती है। उससे पहिले यहीं बीस पद्मीस कोस चलकर ही महागंगा नदी नहीं मिल जाती है। यदि कोई मनुष्य विमानदारा इतना चल सके तो वह जैन सिद्धान्तके करणानुयोग शास्त्रोंके अनुसार गंगाको पा सकता है। ये सब योजन दो हजार धनुषसे नापे गये कोसोंकी दो हजार गुनी नापके बने हुये बडे योजन हैं । तथा हैमवत क्षेत्रके मध्यमें प्राप्त होकर रोहित और रोहितास्या ये दो नदियां वह रहीं हैं। महाप्रमक्ते दक्षिण द्वारसे निकळकर सोळहसी पांच योजन पर्वतके ऊपर ही दक्षिणकी और वह कर दो सौ योजन ऊंचे पर्वतसे रोहित नदी गिरती। है। महाहिमवान् पर्वत चार हजार दो सौ दस और दस वटे उन्नीस योजन चौडा है। हजार योजन चौड़े हृदको घटाकर आधा कर देनेसे सोछह सौ पांच और पांच बटे उनीस योजन पर्वतके ऊपर रोहित्का बहुना निकल आता है। पग्न हदके उत्तर द्वारसे निकल कर दो सो लहत्तर और लह बटे उनीस योजन हिमवान् पर्वतके ऊपर उत्तरमुख बह रही प्रारम्भमें साढे बारह योजन चौडो रोहितास्या नदी है। हरित और हरिकान्ता नदियां तो हरिक्षेत्रके मध्यमें प्राप्त हो रहीं हैं। तिर्गिछ हदके दक्षिण तोरण द्वारसे निकली हुई हरित नदी निषयके ऊपर सात हजार चार सौ इक्कीस और एक बटे उनीस योजन दक्षिणकी ओर चलकर चार सी योजन पर्वतके ऊपरसे गिरती है। हरिकान्ता नदी तो महापदा इदके उत्तर द्वारसे निकलकर सोल्ह सौ पांच और पांच बटे उनीस योजन महाहिमवान पर्वतके ऊपर बहती हुई पचीस योजन चौडी हो रही कुछ अधिक दो सौ योजन ऊंचे धाराप्रपातसे गिरती है। विदेह क्षेत्रके मध्यको प्राप्त हो रहीं सीता, सीतोदा दो नदियां हैं। केसरी हदके दक्षिण द्वारसे निकलकर नील पर्वतके ऊपर सात हजार चार सौ इक्कीस और एक बटे अनीस योजन पर्वतके ऊपर बहती हुई पचास योजन चौडी सीता नदी चार सौ योजन ऊंचे पर्वतसे गिरती है। तिगिछ हदके उत्तर द्वारसे सीतोदा निकलती है। रम्यक क्षेत्रके मध्यमें होकर पूर्व, पश्चिमकी ओर वह रहीं नारी, नरकान्ता, नदियां हैं। महापण्डरीक हदके दक्षिण द्वारसे नारी नदी निकलती है, जो कि नारी देवीके निवास प्रासा-दसे यक्त हो रहे नारी कुण्डमें पडती है। केसरी हदके उत्तर तोरणकी मोरीसे नरकान्ता महानदी निक-लती है। हैंग्ण्यवत क्षेत्रके मध्यमें प्राप्त हो रहीं सुवर्णकृला, रूप्यकृला नदियां है। शिखरी पर्वतके जपर बने हुये पुण्डरीक हदके दक्षिण तोरण द्वारसे सुवर्णकूला नदी बहती है और महापुण्डरीक हृदके उत्तर द्वारसे निक्तलकर रूप्यकूला महानदी गमन करती है। रक्ता, रक्तीदा, दो नदियां ऐरावत क्षेत्रके मध्यको प्राप्त हो रही हैं । पुण्डरीक हदके जिनविम्ब अछंक्रत पूर्वतोरणकी नीचे मोरीसे सवा छह योजन चौडी रक्ता नदी बह रही है। पुण्डरीक इदके पश्चिम तोरणदारकी मोरी तो रक्तोदाका प्रभव- स्थान है। इस प्रकार ये चौदह नदियां कुण्डमें बने हुये द्वीपके गुम्मजपर विराजमान कमछस्य प्रतिमा-ओंके ऊपर गिरती है। धाराप्रपात अवययीका मध्यमाग प्रतिमाजीके मस्तकपर गिरता है। रोष इधर उधरका जळप्रवाह गुम्मजपर या रीते आकाशमें गिरता हुआ छम्बे, चौडे, कुण्डके बीचमें पड जाता है।

#### अधितबीईयोः का पूर्वसमुद्रं गच्छतीत्याह ।

अब महाराज यह बताओं कि चौदह निदयों सात युगल होकर इन दो दोमें मला कौनसी कौनसी नदी पूर्व लवणसमुद्रकी ओर गमन करती है ? ऐसी बुमुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

## द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण नदियोंके सात युगल बनाकर दो दो नदियोंमें पहिली नदियां पूर्व समुदकी ओर गमन करती हैं।

#### द्वयोर्द्वयोरेकक्षेत्रं विषय इत्यभिसंबंधादेकत्र सर्वासां प्रसंगनिवृत्तिः, पूर्वाः पूर्वगा इति वचनं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थे ।

गंगा, सिन्धु, आदि चौदह नदियां हैं और भरत आदि सात क्षेत्र हैं। दो दो नदियोंका अधिकरण हो रहा एक एक क्षेत्र विषय है। इस प्रकार सूत्रके पदींका समुचित संबन्ध कर देनेंसे एक ही क्षेत्रमें सम्पूर्ण नदियोंकी शांति हो जानेके प्रसंगक्ता निवारण कर दिया जाता है। सूत्रकारके पिहलीं नदियां पूर्व समुद्रको जाती हैं, इस कथनका प्रयोजन तो विशेष दिशाकी प्रतिपत्ति करा देना है, जिससे कि पिछली नदियोंका पूर्वगमन या युगलोंमें पहिले उपात्त हो रहीं नदियोंका पिश्चम, दिक्षण, या उत्तर दिशाके समुद्रोंमें प्राप्त होना न्यावृत्त हो जाता है। " दो दोमें पिछलीं पहिलीं यों वाक्य सम्बन्ध कर देनेसे गंगा, सिन्धु, रोहित्, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता इन पहिली सात नदियोंका पूर्व समुद्रकी ओर गमन करना निषद्ध हो जाता है।

#### अथापरं समुद्रं का गच्छंतीत्याइ।

इसके अनन्तर पश्चिम समुद्रकी ओर कीनसी नदियां जा रहीं हैं ! बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगिळे सूत्रको कहते हैं ।

## शेषास्त्वपरगाः ॥ २३ ॥

दो दो नदियोंमेंसे पहिले कहीं गयीं पूर्वगामिनी नदियोंसे शेष बच रहीं पिछलीं पिछलीं नदियां तो पश्चिम समुद्रकी ओर गमन करतीं हैं।

द्वयोर्द्वयारेकत्रैकक्षेत्रे वर्तमानयोर्नधोर्याः पूर्वास्ताभ्योन्याः शेषाः सरितोऽपरं सप्धदं गच्छंतीति । तत्र पद्मद्रदमभवा पूर्वतोरणद्वारिनर्गता गंगा, अपरतोरणद्वारिनर्गता सिन्धुः, उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता सेहितास्या । यहापब्रह्दमभवापाच्यदोरणद्वारनिर्गता रोहित्, उदीच्य-तोरणद्वारनिर्गता इरिकांता । तिर्गिछद्दसमुद्धवा दक्षिणद्वारनिर्गता हरित्, उदीच्यक्षरणद्वार निर्मता सीतोदा । केसरिद्दमभवा अवाच्यद्वारनिर्गता सीता, उदीच्यद्वारनिर्गता नारी । यहा-पुंढरीकद्रदमभवा दक्षिणद्वारनिर्गता नरकांता, उदीच्यद्वारनिर्गता रूप्यक्का । पुंढरीकद्रदमभवा अवाच्यद्वारनिर्गता सुवर्णकृत्व, पूर्वतोरणद्वारनिर्गता रक्ता, मतीच्यद्वारनिर्गमा रक्तोद्वा ।

एक एक क्षेत्रमें विद्यमान होरहीं दो दो नदियोंमें पहिली गंगा. रोहित आदि जो सात नदियां 诺. उनसे शेष बची हुयी अन्य सिन्धु, रोहितास्या, आदि सात नदियां, यो इस सूत्र अनुसार पश्चिम समुद्रकी और गमन कर रहीं मानी जाती हैं। इन नदियोंमें गंगाकी पहिन्नी प्रकटता या उपलब्धिको कराने वाले आध स्थान होरहे पदाहदसे गंगा नदी उपजती है, जो कि पदाहदके चारों दिशाओंकी ओर बने हुये तोरणोंमेंसे पूर्व दिशाके तोरणके निचले दरवाजेसे निकली हुयी है। उसी पग्रहृद संबंधी पश्चिम तोरणके निचले द्वार (मोर्रा) से सिन्धु नदी निकली है और उत्तरतोरणके द्वारसे रोहि-तास्या नदी निकटती है। तथा महापग्न हदसे आद्यमें जन्म छेरही रोहित नदी उसके दक्षिण तोरण-द्वारसे निकल गयी है। महापदा इदके उत्तर दिशावाले तोरण द्वारसे हरिकान्ता नदी निकलती है। तिगिंछ हदसे भट्टे प्रकार उत्पन्न होरही हरित नदी उसके दक्षिण द्वारसे निकटती है। और तिगिछ हदके उत्तर दिशा सम्बन्धी तौरण द्वारसे सीतोदा निकलती है। केसरी हदसे सबसे पहिले उपज कर सीता नदी उसके दक्षिण द्वारसे निकलती है और केसरी इदके उत्तर द्वारसे नारी निकलती है। महापुण्डरीक हदते आध जन्म लेरही नरकान्ता उसके दक्षिण द्वारसे निकलती है और महापुण्डरीक इदके उत्तर दिग्वती द्वारसे रूप्यकूळा निकलती है। पुण्डरीक इदसे पहिले ही पहिले उपज रही सुवर्णकुला महानदी उसके दक्षिण द्वारसे निकल जाती है और रक्ता नदी पुण्डरिकके पूर्व तोरण द्वारसे प्रवाहित होरही है तथा रक्तोदा नदीका भी धारा निर्गमस्थान पुण्डरीक हदका पश्चिम दिशा सम्बन्धी द्वार है। प्राप्ताद या सरोजरोंके चारों ओर शोभायक्त बने हुये बाहरले द्वारको तोरण कहते हैं। तोर-णोंके नीचे बनी ह्यों मोरियों द्वारा नदियां निकलती रहतीं हैं। उनका आब वहना वहांसे प्रारंभ होजाता है।

#### अब कियमदीपरिष्टता एता नद्य इत्याह।

अब कोई प्रतिपाद्य प्रश्न करता है कि ये उक्त नदियां कितनीं कितनीं नदियोंके परिवारसे युक्त होरहीं हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर भवकान् उमास्वामी महाराज अप्रिम सुप्रको कहते हैं ।

# चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिंघ्वादयो नद्यः ॥ २४ ॥

गंगा आदिक पूर्वगामिनीं नदियां और सिन्धु आदि पश्चिम गमिनी नदियां चौदह, चौदह, हजार नदियोंके परिवारको धारे हुये हैं। आगे तीन युगलोंमें इससे दूना दूना परिवार है।

# गंगासिध्वाचप्रहणं प्रकरणादिति चेस, अनंतरप्रहणप्रसंगात् । गंगादिप्रहणमिति चेस, पूर्वगाणां प्रहणप्रसंगात् । नदीप्रहणात्सिद्धिरिति चेस, तस्योत्तरत्रं द्विग्रणभिसंबंधनार्थत्वात् ।

यहां कोई शंका करता है कि सत्रकारको गंगा, सिंध आदिका प्रहण नहीं करना चाहिये। क्येंकि प्रकरण चला आ रहा होनेसे नदियोंका प्रहण स्वतः ही हो जाता है। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि " अनन्तरस्य विधिर्वा मवति प्रतिषेधो वा " । अध्यवहित पूर्ववर्ती पदार्यका ही विधि अथवा निषेध उत्तरवर्ती वाक्य द्वारा किया जाता है। इस परिमाषाके अनुसार अन्यवहित पूर्वमें नहीं गयी पश्चिमगामिनी सिन्धु, रीहितास्या आदि सात नदियोंके ही प्रहण होनेका प्रसंग आ जावेगा । गंगा रोहित् आदि सात नदियां छुटा जाती हैं । अतः गंगा, सिन्धु, आदि पट व्यर्थरूपसे शंकित किया जा रहा ज्ञापन करता है कि पूर्व सूत्र और प्रपूर्व सूत्रमें कहीं जा चुकी सम्पर्ण चौदह नदियों का प्रहण कर छेना चाहिये । पुनः आक्षेपकार यदि यों कहे कि तब तो गंगा आदि प्रहण करना ही पर्याप्त है. सिन्य पद व्यर्थ पडता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह भी नहीं कहना, क्योंकि गंगा आदि इतना ही कहनेपर पूर्वगामिनी सात नदियोंके ही प्रहण हो जानेका प्रसंग होगा, संपूर्ण नदियां नहीं पकडी जा सकेगी। फिर भी आक्षेपकार यों कहें कि नदियां तो प्रकरण प्राप्त हैं हीं, नदी प्रहणके विना भी नदियोंकी प्रतीति हो सकती है। तथापि सूत्रकारने नदी शन्दका प्रहण किया है। अतः सम्पूर्ण निदयोंकी प्रतिपत्ति हो जायगी। गंगा सिन्धु आदि प्रहण करना पुनरिप व्यर्थ है । आचार्य कहते हैं कि यह तो आक्षेप नहीं करना । क्योंकि उस गंगा सिन्धु आदि पदके प्रहण करनेका प्रयोजन तो उत्तरवर्ती परछी औरकी नदियोंमें हिगुना हिगुना सम्बन्ध कर देना है। रान्दीकी अधिकतासे शिष्योंको अधिक अर्थकी इति हो जाती है। मावार्थ-गंगा सिन्धके परिवारसे रोहित . रोहितास्या, प्रत्येकका परिवार दूना यानी अष्टाईस अहाईस हजार नदियां हैं और हरित्, हरिकान्ता, नदियोंका परिवार इससे भी दूना यानी छप्पन छप्पन हजार है। सीता सीतोदामें से प्रत्येकका परिवार एक छक्ष बारह हजार नदियां बैठता है. किन्तु त्रिछोकसार प्रन्थ अनुसार चौरासी हजार माना गया है और नारी, नरकान्ता, नदियौंमें प्रत्येकका परिवार छण्पन हजार है । तथा सवर्ण कुछा रूप्यकुछा नदियोंमें प्रत्येकका परिवार अहाईस हजार है और रक्ता रक्तोदा नदियोंका परिवार चैदह, चैदह, हजार हैं। गंगा आदिक नदियोंकी परिवार नदियां परछी ओर दूनी दूनी हैं। इतना ही कह देनेसे सिन्धुका परिवार भी गंगा नदींसे हिंगुना वन बैठेगा। अतः सिन्धुपद भी सार्यक है।

#### सर्वयैवासंभाच्या गंगादयो नद्यः सूत्रिता इति कस्यंचिदारेकां निराकर्त्वे मकमते ।

कोई शंका करता है कि सूत्रकार महाराजने जिन गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंका सूत्रद्वारा निरूपण किया है वे नदियां सभी प्रकारोंसे असम्भव हैं। हजारों कोस चौडी उक्त नदियां वर्तमानमें द्वित्रगोचर नहीं हो रहीं हैं। उनका प्रमव करनेवाले हद, कुण्ड, तोरणहार तथा उनके दोनों और वेदिकायुक्त वनखण्ड आदि माने गये तो दूर दूर तक जाकर भी नहीं देखनेमें आ रहे हैं। इस प्रकार किसी एक स्थूल्डिशिशले शिष्यकी आशेकाका निराक्तरण करनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी प्रकासको बांधते हैं।

## अथ गंगादयः शोक्ताः सरिताः क्षेत्रमध्यगाः । पूर्वापरसमुद्रांतः प्रवेशिन्यो यथागमं ॥ १॥

सात क्षेत्रोंके मध्यमें होकर गमन करनेवालीं और पूर्व समुद्र, पश्चिम समुद्रके भीतर या कोई कोई गंगा सिन्धु, रक्ता रक्तोदा, ये दक्षिण या उत्तरकी ओरके मध्यवर्ती समुद्रमें प्रवेश करनेवाली गंगा, सिन्धु, आदिक सम्पूर्ण नदियां आगममार्गका अतिक्रमण नहीं कर सूत्रकारने बहुत अच्छे ढंगसे कह दीं हैं। अर्थात्—देशान्तरित पदार्थों की इतिके लिये आतोक्त आगम, पुस्तकें, नकशा ये प्रधान साधन हैं। सभी देश देशान्तरोंका या समुद्र, पर्वलोंका, कौन चक्कर लगाता फिरता है ? सूर्य, चन्द्र, विमानोंके ऊपर क्या क्या रचना बनी हुई है ? संसारमें कहां कहां कैसे कितने स्थान हैं ? इन सम्पूर्ण रहस्योंको सर्वत्र सम्प्रदायसे चला आ रहा आगम ही प्रकाशित करता है। गंगा, सिन्धु आदिक चौदह नदियां और विदेह क्षेत्रकी बारह विभंगा नदियां तथा बत्तीस विदेह खण्डोंकी गंगा सिन्धु या रक्ता रक्तोदा द्वारा दो दो होकर हुयों चौसठ नदियां, ये जम्बूद्वीपकी नब्बे मूल नदियां तथा सत्रह लाख बानवे हजार परिवार नदियां, इन सब-ता निर्णय आगम अनुसार कर लिया जाता है। जगदकी प्रक्रिया या देश, देशान्तर, समुद्र, नदी, पर्वत, खान, कूप, बावडी, समुद्रतल आदिको जाननेके लिये सबको आगमकी बहुमाग शरण लेनी पडती है। " न हि सर्वः सर्ववित् " सभी प्राणी तो विश्वके साक्षात्कर्ता सर्वञ्च नहीं हैं।

## परिवारनदीसंख्याविशेषसिहताः र्पृथक् । चतुर्दश चतुःसूत्र्या नासंभाव्याः कथंचन ॥ २ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने "गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्या हरिद्रिरिकान्ता सीतासीतोदा नारीनरकान्ता सुवर्णरूप्यकूळा रक्तारकोदाः सितस्तन्मध्यगाः, द्रयोद्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः, रोषास्त्वपरगाः, चतुर्दरानदी-सहस्रपरिवृता गंगासिध्वादयो नद्यः " इन चारों सूत्रों करके जो पृथक् पृथक् परिवार नदियोंकी संख्या विशेषसे सिहत हो रहीं चौदह नदियोंका वर्णन किया है, वह किसी भी प्रकारसे असम्भव नहीं है। अर्थात्—" सपरिवारा गंगासिन्ध्वादयश्चतुर्दरा नद्यः सन्ति (प्रतिज्ञा) सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाण-त्वाद् (हेतु) सुखादिवत् " नदियोंके सद्भावके बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे परिवार सिहत चौदह नदियोंकी सत्ता निर्णात कर छी जाती है, जैसे कि दूसरी आत्माओंके सुख या समुद्रतळ अथवा महान् पर्वतोंके नीचेकी मध्य भागस्य मूळ ( जड ) आदिका ज्ञान " वाधकासंभव " से कर

िख्या जाता है। पर्वतको उखाड कर बीचळा भाग कौन देखे !। अपनी पूरी ह्वेलीके परिपूर्ण भागोंका देखना तो कष्टमाध्य हो रहा है। स्वशरीरके भीतरसे अवयव ही नहीं दीख रहे हैं। भावार्थ—गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंके परिवारके सिहत जम्बूद्वीपमें सम्पूर्ण नदियां सम्रहलाख बानवे हजार नन्ने १७९२०९० हैं। धातुकीखण्ड द्वीप और पुष्करार्धमें भी नदियोंका सद्भाव बाधवेधुयंसे आगम अनुसार निश्चित हो जाता है।

संभाव्यंत एव हि गंगासिंघ्वादयो महानद्यो यथागममायामविष्कंभावगाहैरपरैश्र विश्वेषेस्तद्धिकरणस्य महस्वादिहास्ति कासांचिष्मदीनां सरय्वादीनां महाविस्ताराणाद्धपछंभात् कस्यचिद्वाधकस्यासंभवात् ।

गंगा, सिन्धु, आदिक महानदियां अपनी अपनी लम्बाई, चौडाई, और गहराई तथा अन्य भी विशेषताओं करके सिहत हो रहीं आगम अनुसार सम्भावित ही हो रहीं हैं। असम्भव नहीं हैं। क्योंकि उन नदियोंके अधिकरणभूत स्थान बहुत बड़े महान् हैं। कितनी हीं नदियां तो वर्तमानमें देखे जा रहे हिन्द महासागर, एटलान्टिक आदि समुद्रोंसे भी बड़ी हैं। वर्तमान परिदृष्ट देशोंमें यह। भी किन्हीं किन्हीं सरजू नदी, क्षुद्र गंगा, क्षुद्र सिन्धु, सुवर्णभद्र, यमुना, टाइम्स, मिशीसिनी, मिसीरी, पो, राइन, आदि नदियोंका महान् विस्तार देखा जाता है। इसी प्रकार छोटे कोसोंसे हजारों कोस चौड़ीं और लाखों कोस लम्बीं महागंगा आदि नदियां भी सम्भव जातीं हैं। किसी भी विचारशील व्यक्तिको उनके सद्भावमें बाधा देनेवाले प्रमाणका असम्भव है अथवा उन नदियोंमें बाधा देनेवाले किसी भी प्रत्यक्ष अनुमान या आगम प्रमाणकी सम्भावना नहीं है।

#### अथ कियदिष्कंभी भरतो वर्ष इत्याह ।

अब यहां किसीका प्रश्न है कि पहिला क्षेत्र भरत नामक वर्ष भला कितनी चौडाईको धार रहा है १ ऐसी पृच्छना होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

# भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतिवस्तारः षट्चैकोन-विंशतिभागा योजनस्य ॥ २५ ॥

छन्त्रीस अधिक पांचसी योजन और योजनके उन्नीस मागोंमेंसे छह भाग इतने विस्तार (चौडाई) को धारनेवाळा भरतक्षेत्र है। अर्थात्—भरत क्षेत्रकी चौडाई पांचसी छन्त्रीस छह बटे उन्नीस योजन है।

भरतविष्कंभस्योत्तरत्र वचनादिशवचनमिति चेख, जंबृद्वीपनवतिश्वतभागस्येयत्ताप्रति-पादनार्यत्वादेवत्युत्रस्य तत्संख्यानयनोपायमतिपत्त्यर्थत्वात् ।

कोई आक्षेप कर रहा है कि भरत क्षेत्रकी चीडाईका उत्तरवर्ती " भरतस्य विश्वंमी जंसूदी-पस्य नवतिशतभागः " इस सूत्रमें कथन किया है। जावेगा । अतः यहां इस सूत्र द्वारा निरूपण करना व्यर्थ है। व्यर्थ सूत्रका उद्यारण नहीं करना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यह सूत्र तो उत्तरवर्ती सूत्र द्वारा कही गयी जम्बूदीपके एकसी नक्बेंचे भाग की इतने परिमाण वाली संख्याका प्रतिपादन करनेके लिये हैं। इस सूत्रका प्रयोजन केवल उस एकसी नब्बेंत्रें भाग संख्याके छानेके उपायकी प्रतिपत्ति करा देना है । अर्थात्-एक छाख योजन चौडे जम्बूद्वीपकी एकसी नक्वे झळाव।ओंमें एक राळाका भरत क्षेत्रको प्राप्त होती है। एक लाखमें एकसी नब्बेका भाग देने पर पांचसी छन्बीस छह बटे उन्नीस योजन संख्या आजाती है। उस संख्याकी प्रतिपत्ति इस सूत्र द्वारा कर छेनी चाहिये। " अस्मत् सिद्धान्तविद्यागुरवस्तु खल्पेऽप्याकाशे महत्याः भूमेरवगाहमङ्गीकृत्य न्यूनतरभूमि क्षेत्रप्रतिपादकिरं सूत्रमित्याहः ''। मझ टीकाकारके सिद्धांतिविद्यागुरु पंडित गोपालदासजीका यह मंतन्य है कि " भरतस्य विष्कम्भो जंबूद्वीपस्य नवतिशतभागः " इस सूत्र करके आकाशकी नाप कर दी गयी है। भरत क्षेत्रका आकाश जम्बूद्धापके एकसी नब्बैवें भाग ही रहेगा, न्यून अधिक नहीं। हां, उतने ही आकाशमें त्यनसे न्यन पांचसी छन्बीस छह बटे उनीस योजनकी भूमि समा जायगा और उतने ही आकाशों इससे दशों गुनी बडी भूमि भी समा सकती है। '' ताभ्यामपरा भूनयोऽव-स्थिताः " इस सूत्रमें पड़ा हुआ " भूमयः " शहू भी इसी सिद्धांतको पुष्ट करता है। एक हाथ छंबे चौडे आकाशमें पांच हाथकी लम्बी चौडी भूमि आसकती है। गुरुजीका यह विचार युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। संभन्न है कुछ दिनोंमें निज्ञान भी इसी तत्त्वका निर्णय करे, जब कि जैनसिद्धांत तो तभी युक्त समझा जाता है। अनन्त बादरस्कन्ध इस असंख्य प्रदेशी छोकमें धरे हैं । २९ अंक प्रमाण मनुष्य ढाई द्वीपमें निवास कर रहे हैं।

#### अतोन्ये वर्षधरादयः किंविस्तारा इत्याह ।

इस भरत क्षेत्रसे अन्य पर्वत या क्षेत्र अथवा नदी आदिक भला कितनी, कितनी, चीडाईको धारण किये हुये हैं ! ऐसी पृच्छा होनेपर श्री उमासामी महाराज अप्रिम सूत्रको ऋहते हैं ।

# तद्द्विग्रणद्विग्रणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः ॥ २६ ॥

उस भरतक्षेत्रसे द्विगुने ब्रिगुने बिस्तारको प्राप्त हो रहे कुळाचळ पर्वत और हैमवत आदिक क्षेत्र हैं। सह व्यवस्था विदेह क्षेत्रपर्यंत पर्वत या क्षेत्रोंकी समझ छेनी चाहिये।

वर्षथरशब्दस्य पूर्वनिपातस्तदानुपूर्व्यमितप्रस्पर्यः वर्णानामानुपूर्व्येण इति निरुक्तकारव-चनस्यानस्याच्तराणामन्येषामपि ययाभिधानभानानुपूर्व्येण पूर्वनिपातर्मतेषादनार्वत्वात् तथा मायः प्रयोगदर्शनात् ।

यद्यपि वर्षधर और वर्ष शद्भका द्वन्द्र समास करनेपर अल्प अच् होनेके कारण वर्ष शद्भका पहिले निपात हो जाना चाहिये, तथापि उन पर्वत या क्षेत्रोंकी ठीक ठाँक न्यवस्थित हो रही आनु-पूर्वीकी प्रतिपत्ति करानेके लिये वर्षधर शहूका पूर्वमें निपात कर प्रयोग किया गया है। व्याकरण शास्त्रमें " अल्पाचृतरं '' इस सूत्रका अपवाद करनेके छिये ''वर्णानामानुपूर्व्येण '' यों निरुक्त या व्याकरणकी वार्त्तिकोंको बनानेवालेका वचन तो अन्य अधिक अच्याले या अपूज्य भी पदोंका उचारण अनुसार आनुपूर्व्यकरके पूर्वनिपातकी प्रतिपत्तिको करानेके छिये है। तिस प्रकार अनेक स्थलोपर बहुतसे पदोंका प्रयोग करना देखा जाता है । अर्थात् - - द्वन्द्व समासमें अल्प अच्त्राळे पदोंका पूर्वमें निपात करा देनेवाला " अल्पाच्तरम् " यह सूत्र है । इसके अपत्रादमें " वर्णानामानुपूर्व्येण " यह वार्त्तिक है । " ब्राम्हणक्षत्रियविट्सूदाः " इस पदमें ब्राह्मण आदि वर्णीका आनूपूर्वी करके जैसे पद प्रयोग होजाता है, उसी प्रकार अन्य भी प्रामीकी परिपार्टा या तिथियोंके अनुक्रम देश, परिमाण, पर्वत, आदिकोंकि आनुपूर्वी अनुसार पद प्रयोग कर दिया जाता है '' बाल्यकीमार्युवावस्थाः, पुष्पप्तले, स्पर्शनरसना-घाणचक्षःश्रोत्राणि, ऊर्व्वमध्याधोलोकाः, अवप्रहेहावायधारणाः, रत्नरार्करावालुकाः " आदि पदोंमे अल्प अचोंका या काचित् पूज्योंका भी छक्ष्य नहीं रखकर आनू पूर्वी अनुसार आगे पीछे पद बोछ दिये गये हैं। इसी प्रकार यहां भी कहे जाचुके भरत क्षेत्रके परली ओर हिमवान पर्वत है, तत पश्चात हैमवत क्षेत्र है, अतः सूत्रकारने " वर्षधरवर्षाः " यें। रचना क्रम अनुसार वाचक पदोंका प्रयोग किया है । भरतका वर्णन कर चुकनेपर इसके पश्चात् हिमवान् पर्वत, पुनः हैमवत क्षेत्र, यें। पर्वत और क्षेत्रोंका कम है।

विदेशंतवचनं मर्यादार्थं तेन भरतविष्कंभाद्विग्रणविष्कंभो हिमवान् वर्षधरः, ततो हैम-वतो वर्षः, ततो महाहिमवान् वर्षधरः, ततो हरिवर्षः, ततो निषधो वर्षधरस्ततोऽपि विदेशे वर्ष इत्युक्तं भवति ।

इस सूत्रमें विदेहपर्यन्त यह कथन करना तो मर्यादाको बांधनेके लिये है। तिस कथन करके इस प्रकार कह दिया जाता है कि भरत क्षेत्रकी चौडाईसे दूनी चौडाईवाला दस सो वायन बारह बटे उन्नीस योजनका हिमबान् पर्वत है। उस हिमबान्से द्विगुना दो हजार एकसी पांच और पांच बटे उन्नीस योजन चौडा हैमबत क्षेत्र है। उस हैमबत क्षेत्रसे महाहिमबान् पर्वत चार हजार दो सो दस और दस बटे उन्नीस योजन चौडा है। उस महाहिमबान् पर्वतसे हरिवर्ष क्षेत्र आठ हजार चार सौ इक्कीस और एक बटे उन्नीस योजन दूनी चौडाईको लिये हुये है। उस हरिवर्षसे निषध पर्वत द्विगुना यानी सौल्डह हजार आठ सो व्यालीस और दो बटे उन्नीस योजन चौडा है। उस निषध पर्वतसे भी दूना चौडा तेतीस हजार छहसो चौरासी और चार बटे उन्नीस योजन चौडा विदेह क्षेत्र है। पूरे जंबूदीपमेसे भरत क्षेत्रको एक, हिमबान् पर्वतको दो, हैमबत क्षेत्रको चार, महाहिमबान् पर्वतको आठ, हरिक्षेत्रको सोल्डह, निषधको बत्तीस और विदेहको चौसठ शलाकायें, नीलको बर्चास, रम्यकको सोल्डह,

रुक्मीको आठ, हैरण्यवत क्षेत्रको चार, शिखरी पर्वतको दो, और ऐरावत क्षेत्रको एक, यो सातों क्षेत्र छः पर्वतोंके एकसी नब्बै शलाकायें प्राप्त हैं। जंबूद्वीपके एक लाख योजन चौढे क्षेत्रमें एकसी नब्बैका भाग देकर पुनः अपनी अपनी प्राप्त शलाकाओंसे गुणा कर देने पर पर्वत और क्षेत्रोंकी उक्त चौडाई निकल आती है।

#### परे वर्षधरादयः किं विस्तारा इत्याह ।

विदेह क्षेत्रसे परली ओरके पर्वत आदिक क्यों जी, कितने विस्तारके धारी हैं ? इस प्रकार प्रतिपित्सा होने पर श्री उमास्त्रामी महाराज अगले सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

## उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २७ ॥

उत्तरवर्ती ऐरावत आदिक नील पर्यंत क्षेत्र या पर्वत तो दक्षिणवर्ती भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वतोंके समान समझ लेने चाहिये। हद, कमल, नदी, कुण्ड आदि अकृत्रिम पदार्थोकी रचना भी तुल्य है।

निषधेन तुल्या नीलो वर्षधरः, हरिणा रम्यको वर्षः, महाहिमवता रुक्मीवर्षधरः, हैम-बतेन हैरण्यवतो वर्षः, हिमवता शिखरी वर्षधरः, भरतेन दक्षिणेनोत्तर ऐरावत इति योज्यं।

निषध पर्वतके समान नील पर्वत है, हरिक्षेत्रके समान रम्यक वर्ष है, महाहिमबानके समान रुक्मी पर्वत भी चार हजार दो सौ दस और दस बटे उनीस योजन चौडा है। हैमवत क्षेत्रसे हैरण्यवत वर्ष तुल्यताको रखता है। शिखरी पर्वत हिमबान् पर्वतके सम है और दक्षिण दिशावती भरतके समान उत्तरिशाका ऐरावत क्षेत्र है। गंगा, सिन्धु, के साथ रक्ता, रक्तोदाकी, पद्मके साथ पुण्डरीक हदकी तथा अन्य नदी, कमल, आदिकोंकी, तुल्यताकी योजना इसी प्रकार कर लेनी चाहिये।

#### अथ भरतैरावतयोरनवस्थितत्वप्रतिपत्त्यर्थमाइ।

अब इसके पश्चात् श्री उमास्वामी महाराज भरत और ऐरावत क्षेत्रके (में ) अनवस्थितपनेकी प्रातिपात्ति करानेके छिये अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

## भरतैरावतयोर्वद्धिहासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्य-वसर्पिणीभ्याम् ॥ २८ ॥

दुःषम दुःषमा आदि या सुषमसुषमा आदि छइ समयोंको धार रहे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक व्यवहार कालों करके भरत और ऐरावत दो क्षेत्रोंके (में ) इदि और हास हो जाते हैं।

तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसिद्धर्भरतैरावतयोर्द्वद्विद्वासयोगः अधिकरणनिर्देशी वा, तत्रस्थानां हि पनुष्यादीनामनुभवायुःमपाणादिकृती वृद्धिद्वासी पट्कालाभ्यायुत्सर्पिण्यवसार्पिणीभ्यां ।

#### तत्रातुभवादिभिरुत्सर्पणक्षीला उत्सर्पिणी तैरेवावसर्पणशीलावसर्पिणी । षट्कालाः पुनरुत्स-र्पिण्यां दुःषमदुःषमादयोऽवसर्पिण्यां सुषमसुषमादयः मनिपत्तन्याः ।

उसमें स्थित हो जानेके कारण उसके वाचक शद्ध द्वारा कहे जानेकी सिद्धि है, इस कारण भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके वृद्धि और हासका योग बतला दिया है। अर्थात्—" पर्वतदाह " इस पद अनुसार पहाडमें ठहर रहीं वनस्पतियोंका अरिण निर्मथन ( बासों या अन्य विशेष काठकी रगड ) द्वारा दाह हो जानेपर पर्वत जल रहा है, यों कह दिया जाता है। यह उस पर्वतमें ठहरनेवाले वृक्ष, वही, पत्ते, आदि आधेर्योका पर्वत शहूसे कथन हैं। इसी प्रकार भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी या भरत, ऐरावत, क्षेत्रवर्ति आकाशकी हीनता, या अधिकता, तो सम्भव नहीं है । अतः उसमें स्थित हो रहे कतिपय पदार्थोंकी बृद्धि या हानिका हो जाना समझ छेना चाहिये अथवा '' भरतैरावतयोः '' यह पद षष्टी विभक्तिका द्विवचन नहीं समझा जाय, किन्तु सप्तमी विभक्तिका द्विवचन मान लिया जाय । ऐसी दशा होनेपर उनमें स्थित हो रहे मनुष्य, तियेच, पश्च, पक्षी, आदि जीवोंके अनुभव, आयुष्यपिर-माण, शरीरकी उचाई, बल, सुख, आदिसे किये गये बृद्धि और हास ये छह समयवाले उत्स-र्पिणी या अवसर्पिणी कालों करके होते रहते हैं । अर्थात्—ऋतुपरिवर्तन, शीतकी अधि-कता, सूर्यका प्रचण्ड प्रताप, नियत वनस्पस्तियोंका फलना फलना आदि कार्य जैसे द्रव्य परिवर्तन स्वरूप कतिपय व्यवहार कालों द्वारा सम्पादित हो जाते हैं. उसी प्रकार अनेक और उत्सर्पिणी, अत्रक्षपिणी, इन व्यवहार काळोंको निमित्त पाकर जीवोंके अनुभव आदिकी वृद्धि, हानियां हो जातीं हैं। उन कालोंमें अनुभव, आयुष्य, आदि करके ऊपरको सरकना ( वृद्धि ) स्वभाववाळी जत्सर्पिणी है और उन हीं अनुभव आदि करके नीचेको सरकना ( हानि ) स्वभाववाळी अवसर्पिणी है । फिर उत्सर्पिणीमें छह काळ दुःषमदुःषमा आदिक हैं और अवसर्पिणीमें सुषमसुषमा आदिक छह काल समझ लेने चाहिये। सुषमसुषमा चार कोटाकोटी सागर तक चळता है। उस समय यहां उत्तम भोगभूमिकी रचना हो जाती है। पीछे कमसे हानि होते हुये तीन कोटाकोटी अद्धा सागरका सुषमा काल प्रवर्तता है। उसकी आदिमें मनुष्य हरिवर्षके मनुष्योंके समान मध्यम भोगभूमिवाछे समझे जाते हैं। पश्चात् क्रमसे अनुभव आदिकी हानि होते हुये दो कोटाकोटी सागर स्थितिवाला जघन्य भोग भूमिकी रचनासे युक्त सुषमदुःयमा काल चालू होजाता है । उसके अनन्तर क्रमसे हीनता होनेपर बियाजीस हजार वर्ष कमती एक कोटाकोटी सागर पर्यंत कर्मभूमिका दुःषमसुषमा काल विदेह समान स्चनावाला प्रवर्तता है। विदेहमें क्रमसे हानि नहीं है। समान काळ रहता है। पश्चात क्रमसे न्यूनता होते हुये इकीस हजार वर्षतक कर्मभूमिका दःषमः काल वर्तता है। पुनः अनुभव आदिकी न्यूनता होते होते दुःषमदुःषमा काल इकीस हजार वर्षका , प्रवर्तता है। यह अवसर्पिणीकी दशा बता दी है। उत्सर्पिणीमें सुख आदिकी क्रमसे बढ़ती हुई इससे ं विपरीत व्यवस्थाको आगम अनुसार समझ छेना चाहिये।

#### अथ भरतेरावताभ्यामपरा भूमयोवस्थिता एवेत्यावेदयति ।

अब श्री उमास्वामी महाराज भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्रसे मिन पडी हुई भूमियां अवस्थित हैं। इस सिद्धान्तका विज्ञापन कराते हैं।

## ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः॥ २९॥

उन भरत क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्रोंसे शेष बच रहीं अन्य भूमियां अवस्थित एकसी रहती हैं। उन भूमियोंमें उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, कालोंका परिवर्तन नहीं है।

तत्स्थमाणिनामनुभवादिभिर्द्योद्धासाभावात् । षट्समययोरुत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरसंभवा-देकैककालत्वादवस्थिता एव ताभ्यामपरा भूमयोऽवगंतच्याः । तदेवं—

उन हैमवत, हैरण्यवत आदि क्षेत्रोंकी भूमियोंमें ठहर रहे प्राणियोंके अनुभव, आयुष्य आदि करके बढने और घटनेका अभाव हो जानेसे वे भूमियां अवस्थित कही जातीं हैं। दुःषमदुःषमा आदि या सुषमसुषमा आदि छह समयोंको घारनेवाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीका असम्भव हो जानेसे सदा यथायोग्य एक एक ही कालकी वर्तना होनेके कारण उन भरत ऐरावतोंसे भिन्न हो रहीं शेष भूमियां अवस्थित ही समझ लेनीं चाहिये और तिस कारण इस प्रकार होनेपरः—

## वर्षवर्षधराबाध्यविष्कंभकथनं कृतं । सूत्रत्रयेण भूमीनां स्थितिभेदो द्वयेन तु ॥ १ ॥

श्री उमास्त्रामी महाराजने पचीसर्वे, छन्त्रीसर्वे, सत्ताईसर्वे, तीन सूत्रों करके क्षेत्र और पर्वतोंकी चौडाईका बाधा रहित कथन कर दिया है और अडाईसर्वे, उन्तीसर्वे, इन दोनों सूत्रों करके तो भरत, ऐरावन, और उनसे न्यारे क्षेत्र या पर्वतोंमें स्थितियोंके भेदका निर्वाध निरूपण कर दिया है।

न हि भरतादिवर्षाणां हिमवदादिवर्षधराणां च सूत्रत्रयेण विष्कंभस्य कथनं बाध्यते मत्यक्षानुमानयोस्तदविषयत्वेन तद्घाधकत्वायोगात् भवचने हदेशस्य च तद्घाधकस्याभावात् आग-मांतरस्य च तद्घाधकस्याममाणत्वात् ।

श्री उमास्त्रामी महाराज द्वारा "भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतिविस्तारः षट् चैकोनविंशति भागा योजनस्य, तिंद्विगुणिदिगुणिविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः, उत्तरा दक्षिणतुल्याः " इन तीनों सूत्रों करके भरत हैमवत, आदि क्षेत्रोंकी और हिमवान् महाहिमवान् आदि पर्वतोंकी चौडाईका किया जा चुका निरूपण फिर किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं हो। जाता है। क्योंकि उन सूत्रोंके प्रतिपाद्य अर्थको नहीं विषय करनेवाले होनेके कारण इन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंको उस प्रतिपाद्य अर्थके बाधकपनका अयोग है। जो प्रमाण जिस विषयमें नहीं प्रवर्तता है वह उस विषयका साधक या बाधक नहीं हो सकता है। व्याकरणको पढा हुआ पण्डित विचारा वैद्यक प्रयोगोंका खण्डन या मण्डन नहीं

कर सकता है। तथा तीसरे आगम प्रमाणके एक देशको तो उस तीन सूत्रों द्वारा कहे गये प्रमेयका बाधकपना नहीं है। क्योंकि समीचीन शास्त्रोंके प्रकरण तो इन ही उक्त सिद्धान्तोंकी पृष्टि करते हैं। हां, उस प्रमेयके बाधक माने जा रहे अन्य कुरान, वर्ल्ड जीगरफी, सिद्धान्तिशिमाणे, प्राकृतिकभूगोल, ऐटलस, आदि न्यारे आगमोंको तो प्रमाणपना व्यवस्थित नहीं है। अर्थात्—अप्रमाण आगम किसी समीचीन आगम द्वारा प्रतिपाद्य विषयका बाधक नहीं होता है। स्वयं अंधा मला दूसरे सूझतोंको क्या मार्ग बतायगा ! किसी नकटे द्वारा भगवदर्शनका प्रलोभ देनेपर स्वकीय नासिका छेद कर देना अनुचित है। नासिकाकी प्रतिष्ठाके समान इन सर्वज्ञ आम्नात आगमोंको ही प्रामाण्य मिलता रहा है। और परिशेषमें भी इन्हींको प्रामाण्य प्राप्त होगा। दिम्भ्रमी पुरुष मध्यमें भलें ही कुळका कुळ समझ बैठे।

#### तत एव सूत्रद्वयेन भरतैरावतयोस्तद्परभूमिषु च स्थितेर्भेदस्य द्यदिद्रासयोगाभ्यां विहितस्य प्रकथनं न बाध्यते, तथाऽसंभवात् अन्ययाभावावेदकप्रमाणाभावाचेति पर्याप्तं प्रपंचेन ।

तिस ही कारणसे यानी प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणों करके बाधित नहीं होनेके कारण श्री उमास्त्रामी महाराज करके " भरतेरावतयोर्वृद्धिहासी षट्समयाभ्यामुत्सिर्पण्यवसिर्पणाभ्याम्, ताभ्याम-परा भूमयोऽविश्वताः " इन दो सूत्रों द्वारा भरत ऐरावतों में और उनसे न्यारी भूमियों में वृद्धि हासों के योग तथा वृद्धि हासों के अयोगसे किये गये स्थितिके भेदका बढिया कथन किया जाना किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं होता है । क्यों कि तिस प्रकार बाधक प्रमाणोंका असम्भव होजानेसे और क्षेत्रोंकी स्थितिके दूसरे प्रकारोंसे सद्भावका आवेदन करनेवाले ज्ञानोंकी प्रमाणताका अभाव होजानेसे सूत्रकारका छंदर निरूपण निर्वाध ठहर जाता है । यो इस जिनागमकी प्रमाणताको हम कई बार कह चुके हैं । अतः यहां विस्तार कथन करनेसे पूरा पड़ो । विचारशील विद्वानोंके प्रति अल्प कथन ही तुष्टिकर है ।

#### अथ भरतेरावताभ्यामपरा भूमयः किंस्थितय इत्याह ।

इसके अनन्तर भरत और ऐरावतसे निराली होरहीं भूमियां या उन भूमिओंमें स्थित होरहें मनुष्य, तिर्थेच, भला कितनी स्थितिको धार रहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर अप्रिम सूत्र कहा जाता है।

## एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदेव-कुरवकाः ॥ ३० ॥

एक, दो, तीन, पल्योपमस्थितियोंको धारनेवाले हैमवतक और हारिवर्षक तथा दैवकुरुवक हैं। अर्थात्—हैमवत क्षेत्रमें रहनेवाले जघन्य भोग भूमियां मनुष्य और पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्येचोंकी उत्कृष्ट आयु दो अद्धापल्य है। देवकुरुमें निवास कर रहे उत्तम भोगभूमियां मनुष्य तिर्येचोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है। इनकी जघन्य आयु तो एक समय अधिक एक कोटि पूर्व वर्ष और एक समय अधिक एक पत्य तथा एक समय अधिक दो पल्य यथाक्रमसे समझ छेना।

हैमवतादिभ्यो भवार्थे वुन्, हैमवतकादीनां द्वन्द्वे सति हैमवतकस्यात्नपूर्व्यमतिपन्धर्यः पूर्विनपातः । एकादीनां हैमवतकादिभिर्यश्वासंख्यं संबंधः, तेनैकपल्योपमस्थितयो हैमवतकादिभिर्यश्वासंख्यं देवकुरवका इत्युक्तं भवति ।

हैमवत, हरिवर्ष, देवकुरु, इस प्रकार शहोंसे तत्र भव इस अर्थमें बुज् प्रत्यय कर पुनः बु को अक और अित्पनेसे पूर्व अच्को बृद्धि करते हुये हैंमवतक, हारिवर्षक, देवकुरुवक, शहोंको साधु बमा छेना चाहिये। इन हैमवतक आदि शहोंका इतरेतर योग इन्द्र समास करनेपर हैमवतक शहका ठीक आनुपूर्व्यकी प्रतिपत्ति करानेके छिये पूर्वमें निपतन हो जाता है। एक, दो, आदि पदोंका हैमवतक, आदिके साथ यथासंख्य सम्बन्ध कर छेना। ऐसा सम्बन्ध कर छेनेसे सूत्र द्वारा यों कहा जा चुका समझा जाता है कि एक पल्योपम स्थितिको बार रहे हैमवत क्षेत्र निवासी भोगभूमियां जीव हैं, दो पल्योपम स्थितिको धार रहे हारिवर्षक हैं और देवकुरु निवासी भोगभूमियोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है।

#### विदेशदुत्तराः कथमित्याह ।

विदेह क्षेत्रसे उत्तरवर्ती परछी ओरके भोगभूमियोंकी किस प्रकार स्थितियां हैं ? यो जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

# तथोत्तराः ॥ ३१ ॥

तिस ही प्रकार उत्तर देशवर्ती जीवोंकी स्थितियोंको समझ छेना चाहिये। अर्थात्—पांच मेरु सम्बन्धी पांच हैरण्यवत क्षेत्रोंमें भोगभूमियोंकी स्थिति एक पन्योपम है। वहां सर्वदा सुषमदुःषमा काल अवस्थित रहता है। पांच मेरु सम्बन्धी रम्यक क्षेत्रोंमें भोगभूमियां दो पल्यकी आयुको धारनेवाछे हैं। यहां सर्वदा सुषमाकाल तदवस्थ रहता है तथा पांच उत्तरकुरुओंमें तीन पल्योपमकी स्थिति है। यहां सर्वदा सुषमसुषमा काल वर्तता रहता है। यों जम्बूदीपके उत्तर प्रान्तमें जवन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भोगभूमियां तदवस्थ हैं।

### हैरण्यक्तकरम्यकोत्तरकुरवका एकदित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकादिवदित्वर्थः।

इस सूत्रका यह अर्थ है कि हैमक्तक आदिके समान ही पस्त्री ओरके जीवोंकी स्थिति है। हैमक्तकोंके समान हैरण्यवतक जीवोंकी स्थिति एक पत्योपम है; हरिवर्षमें रहनेवाले मनुष्य, तिर्थचोंके समान रम्यक निवासियोंकी दो पत्योपम आयुःस्थिति है। दैवकुरुवकोंके समान उत्तरकुरुस्थायी मनुष्य तिर्यच तो तीन पत्योपम स्थितिको धार रहे हैं। अर्थात्—भोगभूमियोंमें विकल्प्य और लब्ध्य-पर्याप्तक जीव नहीं पाये जाते हैं। हां, पांचों कायके स्थावर जीव वहां विद्यमान हैं। उत्कृष्ट स्थिति बाईस हजार वर्ष, सात हजार वर्ष, तीन दिन, तीन हजार वर्ष, दस हजार वर्ष, यथाक्रमसे पृथ्वी,

जल, तेज, वायु, वनस्पतिकायिक जीवींकी है, इनकी जघन्यस्पिति अन्तर्मुहर्त्त भी वहां पायी जाती है । जैसे कि उत्तरकुरुमें जघन्य आयु एक समय अधिक दो पल्य और उत्कृष्ट परे तीन पत्यकी है ये भोगभूमियां मनुष्य या तिर्येच दोनों स्त्री और पुरुषका युगल होकर उपजते हैं। पाहिले युगलकी क्षियां छीकते और पुरुष केवल जेमाई लेनेसे पूर्ण आयुक्ते अन्तमें मर जाते हैं, विध-त्के समान उनका शरीर विघट जाता है। नवीन युगल सात दिनतक अपने अंगूठेका पान करते हुये ऊपरको मुख करके छोटते रहते हैं। पीछे सात दिनतक भूमिमें रेंगते रहते हैं। तीसरे सप्ताहमें अव्यक्त मधर भाषण करते हुये गिरते पढते पार्वोसे चलते हैं। चौथे सप्ताहमें पार्वोको जमाकर चल लेते हैं। पांचवे सप्ताहमें कलागुणोंको धार लेते हैं। छड़े सप्ताहमें तरुण अवस्थाको प्राप्त होकर मोगोंको भोगते हैं और सातवें सप्ताह करके सम्यक्त ग्रहणकी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। जघन्य भोगभियां मनष्योंका शरीर दो हजार धनुष ऊंचा है। एक दिन बीचमें देकर दूसरे दिन एक बार आमले बराबर भोजन करते हैं। मध्यम भोगभूमियां मनुष्योंका शरीर चार हजार धनुष ऊंचा है। दो दिन बीचमें देकर तीसरे दिन एक बार बहेडे समान आहार छेते हैं। यह आहार अतीय गरिष्ठ होता है, जैसे कि चंक्रवर्सी या नाराक्षण, प्रतिनारायणके भोजनको साधारण मनुष्य नहीं पचा सकता है, भोगभूमियोंका आहारयोग्य इन्य उससे भी कहीं अत्यधिक गरिष्ठ होता है । उत्तम भोगभूमियां मनुष्योंका शरीर छह हजार धनुष यानी तीन कोस ऊंचा है और आठवें भक्त यानी तीन दिन बीचमें देकर चौथे दिन छोटे बेर तल्य एक बार आहार लेते हैं । कर्म भूमिक मनुष्योंकी अपेक्षा जैसे हाथी, घोडे, बैल, आदिका शरीर जिस असमें बढ़ा हुआ है, उसी प्रकार वहां भी तिंथेचों का शरीर मनुष्य शरीरसे बढ़ा है। हां, गेंह, चने, जी, आदिमें कोई विशेष अंतर नहीं है। यो देश भेदसे इनमें थोडा बहुत अब भी अंतर पाया जाता है । जो वनस्पतियां बीज अनुसार उपजती हैं वे गेई, चना, आम, नीच, अनार, आदि भौगभूमि-योंमें अवस्य पायीं जातीं हैं। मले ही उनका उपयोग नहीं होय। आज कल भी तो लाखों वनस्पतियां वनमें यों ही नष्ट होजाती हैं। बीज सैतान उनकी बनी रहती है। भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंमें भोगभूमियोंके समय भी बीजांकर न्यायते अनादि कालीन उक्त वनस्पतियां अवस्य थी । हां, कर्मभूमियोंके वृक्षोंके तार-तम्य अनुसार भोग भूमिमें भी मनुष्योंकी अपेक्षा बृक्ष महान हैं। वनस्पतिकायिक कल्पवृक्ष भी हैं। दश प्रकारके प्रथ्वी विकार कल्पवृक्ष जघन्य भोगभूमिमें दश कीस उंचे हैं। मध्यम भोगभूमिमें बीस कोस ऊंचे और उत्तम भोगभूमिमें तीस कोस ऊंचे धृक्ष है। उन कल्पबृक्षोंसे उत्पन हुये भोगोंको भौगभूमियां जीव सदा भौगते रहते हैं। मचांग जातिके वृक्षींसे वे मचको प्राप्त कर छेते हैं. जैसे कि ताड कृतींसे भील ताडीको प्राप्त कर लेते हैं। यहां मधका अर्थ सुरा ( शराब ) नहीं है, किंतु दूध, दहीं, भी, इक्षरस, आम्ररस, आदिकीसी सुरौधियोंको धार रहा पीने योग्य दबदव्य है। कामशक्तिका जनक होंमें से उसको उपचारसे मद कह दिया जाता है। बादिशंग जातिक कल्पवृक्षींसे मुदंग, ढींख, बंटा, बीणा आदि करू कर रहे बाजे प्राप्त होजाते हैं। तीसरे भूषणांग जातिके कल्पवृक्षोंसे भीग भूमियां पर कर रहे करे.

करधीनी, हार, कुंडल, अंगूठी आदि अलंकारोंको लेकर पहन लेते हैं । चौथे माल्यांग कल्प इक्षोंसे चंपा, चमेळी, केवडा, जुही, गुळाब, आदिकी फळती, फ्लती मालाओं या पुष्पोंको तोडकर व्यव-हारमें छाते हैं । पांचवें ज्योतिरंग कल्पवृक्षोंसे ऐसे चमकीले पदार्थोंको प्राप्त कर लेते हैं जिनसे कि सूर्य, चंद्रमा, शुक्र आदि विमानोंकी कांति भी छिप जाती है। इस ही कारण तीनों भोग भूमियोंमें अमिभूत सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिष्क्रमंडलका दर्शन नहीं होपाता है, जैसे कि दिनमें तारामंडल नहीं दीखता है। छठे दीपांग जातिके कल्पवृक्षोंसे चमकदार फले हुये लाल, हरे, पीले, दीपोंको तोड छाकर वे अपने घरमें घर छेते हैं । सातवें गृहांग जातिके कल्पवृक्ष तो रतनमय कोठियां, कोट, महल. कमरा, आदि रूप करके परिणमते द्वये फल जाते हैं। आठवें भोजनांग कल्पवृक्ष तो छह रस यक्त अमृतमय दिव्य आहार रूप होकर फलते हैं । नीवें भाजनांग कल्पवृक्ष सीने, चांदी, रत्नोंके बने हुये कल्हा, थाली, कटोरा, डेग, आदि रूप पल जाते हैं तथा दशवें वस्नांग, जातिके कल्पवृक्षाेंसे अनेक प्रकारके सुन्दर वर्ष्णोंको वे प्राप्त कर लेते हैं । ये पार्थिय कल्पवृक्ष इन पांचों भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें भोगभूमि सम्बन्धी व्यवहार कालको निमित्त पाकर उपज जाते हैं। कर्मभूमि सम्बन्धी व्यवहार कालकी प्रवृत्ति होनेपर विनश जाते हैं । किन्तु स्वर्ग, हैमवतक, देवकुरु, हरिवर्ष, सूर्यविमान, श्रीदेवी-गृह, भननवासी या ब्यंतरोंके भनन आदिमें ये कल्पवृक्ष सर्वदा बने रहते है। आजकल भी प्रायः सभी भोगोपभोगोंके उपयोगी पदार्थ इन्हीं एकेन्द्रिय बृक्ष या खानोंसे उपजते हैं। भूषण या प्रकाशके उप-योगी सवर्ण, रत्न, आदि पदार्थ तो खानोंसे प्राप्त कर छिये जाते हैं। खानोंसे मही, पत्थर, कंकड, लोहेको लाकर सुन्दर, गृह, किले, कोठियां, महल, बना दिये जाते हैं। वृक्षोंकी लकडीसे किवाड बन जाते हैं । पुष्प या माला अथवा भोजन तो प्रायः वृक्ष या वेळोंसे ही प्राप्त किये जाते है। अन्तर इतना ही है कि कार्तिक मासमें गेंहू वो देनेपर हमको वैसाखमें फलकर छह या पांच महीने पश्चात् खेतसे गेंह्र प्राप्त होता है और उस उस जातिके कल्पन्नक्षोंसे अन्तर्मुहूर्त्तमें ही नियत अभिलाषित वस्तुकी इच्छा अनुसार प्राप्ति हो जाती है । इसमें कोई आश्वर्य नहीं है । कदाचित् किसी किसी व्यक्तिकी इच्छाओं अनु-सार तत्क्षण मलसाव ( मूंतना इंगना ) जंभाई लेना मद ( नशा ) हो जाना आदि क्रियांचे हो जाती हैं। जगत्के सम्पूर्ण कार्य अपने अपने कारणों द्वारा सम्पादित हो रहे हैं। अन्तर इतना हीं है कि कोई कार्य विरुम्बसाध्य हैं । तथा पुण्यशालियोंके अनेक कार्य क्षिप्र हो जाते हैं। वर्तमान कर्मभूमिमें भी उत्पाद प्रित्रयाका तारतभ्य देखा जाता है। हथिनी अठारह मही-नेमें प्रसव करती है । गर्भधारणके तेरहमास पीछे उटिनी बचाको जनती हैं । घोडी बारह महीनेमें, भैंस दश महीनेमें, गायें या श्रियां नी मासमें अपत्यको उपजाती हैं। छिरिया छह महीनेमें कुतिया तीन महीनेमें न्याय जाती हैं। गर्भ स्थितिके पश्चात् मुर्गी दश दिन पीछे अण्डा देना प्रारम्भ कर देती है। कबूतरी गर्भारिवातिके सात दिन पश्चात् प्रसूता हो जाती है। भिन्न भिन्न ऋतु या न्यारी न्यारी देशपरिस्थिति अथवा विज्ञान प्रयोगप्रिक्रिया द्वारा शीलोण्यता अनुसार

उक्त कार मर्यादाने न्यूनता, अधिकता भी हो जाती है । विज्ञानप्रक्रिया द्वारा कबूतरी, मुर्गी, आदिका प्रसन शीघ भी करा दिया जा सकता है। पदार्थीमें अचित्य निमित्त नैमित्तिक शक्तियां भरी हुई हैं। वर्षींके कार्य महीनोंमें और महिनोंके कार्य दिनोंमें तथा दिनोंके कार्य वर्ण्टोंमें उपज जाते हैं। इस द्दीनताके तारतम्य अनुसार कल्पवृक्षोंसे भी उसी प्रकार उचित भोगोपमोगके योग्य पदायौकी प्राप्ति होजाती है। कल्पवृक्ष चाहे जो भी सभी पदार्थीको नहीं दे सकते हैं। आमके पेडपर अमरूद नहीं फलते हैं। इसी प्रकार पुत्र, गाय, घोडा, हाथी, मक्खी, चीटी, या चरखा, खात, कुडा, समाचारपत्र, पुस्तकों, अस्त, शस्त्र, आदि पदार्थीको वे दल १० जातिके कल्पवृक्ष नहीं दे सकते हैं। क्योंकि पुत्र आदि हे उपजानेकी उन कल्पवृक्षोंमें निमित्त नैमित्तिक शक्तियां या उपादान, उपादेय, व्यवस्थायें नहीं हैं। जब कि जगत्में पोरुषार्थिक या प्राकृतिक नियम अनुसार कार्योत्पत्तिमें अनेक विचित्रतायें दृष्टिगोचर होरही हैं। छकडों या बैळगाडियों द्वारा जो मार्ग महीनोंमें परिपूर्ण किया जाता था रेलगाडियों या विमानों द्वारा वह मार्ग दिनों या घंटोंमें गमन कर लिया जाता है। मिनिटों या सैकिंडोंमें हजारों कोस दूर समाचार पहुंचा दिये जाते हैं। गुळाब शीघ्र उपजा छिया जाता है। उसका फूळ दस गुना वडा कर ळिया है। प्रयोगों द्वारा नीवकी कटता न्यून कर दी जा सकती है। साङ्कर्य यानी कलम लगा देनेसे आम, लकाट, सन्तरों आदिकी दशायें परिवर्त्तित हो जाती हैं। दुर्बल मनुष्य अतिशीघ्र सबल और बलवान जीव प्रयोगों या औषधियों द्वारा शीघ्र निर्बल किया जा सकता है । तथा भूमियां ऋतुर्ये या फलने, फूलने, के व्यवहारकाल उपादान द्रव्य आदिके अनुसार प्राकृतिक नियमोंमें विष्ठक्षणतायें हैं। बीज बोये जानेसे पचास वर्ष पीछे खिरनीका वृक्ष फळता है। अखरोट कदाचित् इससे भी अधिक समय हे हेता है। इमही, कटहर वपन होनेके पश्चात् बीस, पनीस, वर्षमें फलित होते हैं। आग्रफल पांच, छह वर्षके वृक्षपर ही आ जाते हैं। बीज डाळनेके दो वर्ष पीछे आडू या आछू बुखारे ये बृक्षपर लग जाते हैं। अरण्ड एक वर्षमें फल जाता है। बोये पीछे ग्यारह महीनेमें अरहर पक कर आ जाती है । गेंह पांच महीनेमें, बाजरा मका तीन महीनेमें, समा चावल दो महीनेमें फल दे देता है। भूमिमें बीये जानेके पश्चात् पोदीना पन्दह दिनमें, मेथी तीन दिनमें और सणी एक दिनमें नवीन पत्ते दे देती हैं। इसी प्रकार कल्प बृक्षोंसे कुछ मिनिटोंमें हैं। नियत पदार्थ उपज जाते हैं। ताडबूक्षकी छाल ताना बाना पुरे हुँये वसके समान है। कई बृक्षींपर कटोरा कटोरी सरीखे पते या फूछ छग जाते हैं। तोरईका बाजा बजाया जा सकता है। छीकातुम्बी तो बीन, सितार, तमूरा, आदिमें उपयोगी हो रहे हैं। भाग, महुआ, ताडी, अंगूर, अफीम डोंडा आदि बूक्ष मदकारक पदार्थीके उत्पादक है। गेह, चावछ, आम, अमरूद, केटा आदि भोक्तव्य पदार्थीके बूक्ष प्रसिद्ध ही हैं। बहुमाग वस्न कापीस बुक्षीके फर्लोसे बनाये जाते हैं। दीपकके उपयोगी पदार्थ तो तिल. सरसेंकि. बक्षांसे या पार्थिव खानोंसे ही प्राप्त होते हैं। प्रदर्शकी रगडरी चमकनेवाछी विज्ञकी वन जाती है। बात यह है कि गम्भीर दक्षिसे विचारनेपर कल्पहकाँसे

नियत बस्तुओं भी प्राप्तिका सिद्धान्त पृष्ट हो जाता है। विशेषज्ञ पुरुष इसको अनेक अन्य युक्तियों द्वारा भी समझ समझा सकते हैं। अनेक स्थलोंपर मेरे लेखोंमें पुनरुक्त दोष आ गया है। किन्तु मन्द बुद्धि-बाले श्रोताओं को समझानेकी अपेक्षा वह दोष गणनीय नहीं है। प्रतिभाशाली विद्वानोंके लिये महर्षि-योंके प्रन्थों या स्वकीय ऊहापोह द्वारा विशेष सन्तोष प्राप्त हो सकेगा । कोई कोई बात तो मूळ सूत्रमें और वार्तिकमें तथा उस वार्तिकके विवरणमें यों तीन बार एवं इनकी देश भाषा कर देनेपर तीनों बार इस प्रकार स्वतः विना प्रयत्नके छह वार आ गई है । युक्तियों द्वारा मन्दबुद्धि शिष्योंको समझा-नैका उद्देश्य कर पुनरपि एकाध बार वही मन्तव्य पुनः पुनः पुनरुक्त हो जाता है तथा विशेष व्याख्यान करते करते कचित् जैनसिद्धान्त जैनन्याय और जैन व्याकरणसे भी मेरा प्रमादवश या अज्ञानवश-स्खळन हो जाना सम्भव है। तथापि देशभाषा करनेमें बुद्धिपूर्वक कषाय ईर्षा, निह्नव, मिथ्याभिनिवेश, नहीं होनेसे स्वकीय संचेतना अनुसार कोई त्रुटि नहीं रक्खी गयी है। "सद्धिक्कानवृत्तानि धर्म धर्मे-धरा विद्रः " इस वाक्यका केवल प्रथमा, द्वितीया, विमक्तिका अर्थ करते हुये कोई पण्डित यदि " धर्मके ईश्वर सम्यग्दरीन ज्ञान चारित्रोंको धर्म जानते हैं।" इस प्रकार अर्थ कर देवे तो ऐसी दशामें ब्रुटि नहीं रह सकता है, जैसे कि प्रामीण इअर स्त्री द्वारा पेट भरनेके लिय बनायी गयी केवल मोटी रोटीमें कोई त्रुटि नहीं निकाली जाती है। किन्तु नोंनके या मीटे कचौडी, सकलपारे, सेव, ळड्डू, गृह्मा, घेवर, इमर्ती, गुळाबजामुन अथवा अनेक प्रकारकी तरकारियां आदि भोज्य पदार्थीमें कई ब्रिटियोंकी समाछोचना की जाती है। सभी प्राणियोंको सन्तोषके छोटे बढे उपाय प्राप्त हो ही जाते हैं । मुझे भी नीरक्षीरकी निनेचक हो रही इंस प्रकृतिको धारनेवाले उदात्त, गम्भीर, सञ्जन विद्वानोंसे सन्तोष प्राप्तिका सौभाग्य मिळा हुआ है। समझा जायगा जब कि त्रुटियोंपर लक्ष्य नहीं देते हुये वे प्रमेयका सुधार कर अध्ययन करेंगे। " विद्यते स न हि किश्व-दुपायः सर्वछोकपरितोषकरो यः। सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः " यह किसी कविका वाक्य सर्वीगसुन्दर है। प्रकरणमें यही कहना है कि अनेक निमित्त कारण तो वर्षीमें कार्योको करते हैं, कितने ही कारण महिनों, दिनों, घण्टोंमें ही कार्यको बना देते हैं । आकाशमें अदृश्य उपादान कारणोंसे झट मेघ, बिजली, बादल, बन जाते हैं, उपादान कारणके विना जगत्का कोई भी कार्य नहीं उपजता है । शब्द, बिजली आदिके भी उपादान कारण है। भकें ही वे दीखें नहीं, यह हमारी निर्ववता है । कार्य कारण पद्धतिका कोई दोष नहीं है । अक्षीण महानस, ऋदियारी मुनियों के क्रिये जिस पात्रसे भिक्षा दी जाती है, उस भाजनसे चक्रवर्सीकी सेना भी भोजन कर हे तो उस दिन उस पात्रका अन नहीं निवट पाता है । यहां भी छाखों मन असस्य उपादान कारण विद्यमान हैं। अंकुरके विना बीज और बीज विना अंकुर नहीं उपजता है। विश्वास भोगभूमि या स्वर्ग तो क्या मोक्षमें भी यदि अंकुर पाया जायगा तो उसका बाप बीज वहां प्रथमसे हीं मानना पडेगा । हां, विख्यब या शीवताका अन्तर पड सकता है, कर्मभूमिके अपुण्यशा**डा** 

जीवोंको जो पदार्थ वर्तमान वृक्ष या खाने। द्वारा वर्षी अथवा महीनोंमें प्राप्त (नसीब ) होते हैं. किन्तु ये भोगभूमियोंके इक्ष अन्तर्मुद्धर्त्तमें ही उन अधिक सुन्दर अभीष्ट पदार्थ रूप फल जाते हैं। यहां भी आमके दक्षांसे अमरूद या अनार नहीं मिल सकते हैं। उसी प्रकार भोगभूमिमें भी बादित्रांग हुक्षोंसे मोजन या वस प्राप्त नहीं हो सकते हैं। उपादान उपादेय शाक्तिका या निमित्त नैमित्तिक आव का कहीं भी अतिक्रमण नहीं हो सकता है, भोगभूमियोंमें अमृत रसके समान स्वादवाली चार अंगुल ऊंची और मुखकी वाफसे ही टूट जाय ऐसी कोमछ घास उपजती रहती है। गाय, मैंस, आदि पञ्च उस घासको चरते हैं, वहांकी भूमियां वडी सुन्दर बनी हुई हैं । कहीं कहीं सिन्नीदार बावडी, सरोवर, नदियां, और जीडापर्वत भी विद्यमान हैं। नदीके किनारोंपर रत्नचूर्ण मिश्रित वालुके ढेर छग रहे हैं। जैसे कि आजकल भी कचित् वाद्में भुड मुड या चांदीके कण, माणिक रेती आदि पायी जाती हैं। मांस भक्षण नहीं करनेवाले और परस्परमें अविरोध रखते हुये वहां पंचेंद्रियतियेंच जीव भी 🕻 । चूहे, सर्प, नौख, उल्द्र, बगला आदि तिर्येच और विकल्प्नय जीव अथवा असंक्री जीव या नपुंसक पंचेद्रिय एवं जळचरत्रस ये भोगभूमिमें नहीं पाये जाते हैं। सभी मनुष्य तिर्यच विनीत, मन्दक-षाय, मधुरमाषी, कळाकुराळ, अमायाचारशाळ आदिसे संयुक्त हैं। इष्टवियोग अनिष्टसंयोग, स्वेद, ईर्षा, मात्सर्य, अनाचार, उन्माद, शरीरमङ, पसीना चिन्ता, रोग, जरा, कृपणता, भय, आदिसे रहित हैं। सर्वथा अण्टादश दोषोंसे रहित तो जिनेंद्र ही हैं। फिर भी आजकळके मनुष्य तिर्येचों समान तीत्र रोग, चिन्ता, भय, क्षुचा, जरा, नहीं होनेसे देव या भोगभूमियां निर्जर, निर्भय, नीरोग, कह दिये जाते हैं। कर्मभूमिमें मनुष्य तिर्यच या ब्रतियोंको दान देनेसे या अनुमोदना करनेसे जीवोंकी उत्पत्ति भोगभूमिमें होती है। भरत और ऐरावतसे अतिरिक्त अन्य देवस्थानों या क्षेत्रोंमें तथा ढाई द्रिपके बाहर असंस्थात द्वीपोंमें सदा एकसा प्रवर्तन रहता है । हां, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, द्वारा मरत और ऐराक्त क्षेत्रोंमें विशेषतया इनके आर्य खण्डोंमें कर्मभूभिसे भोगभूमि और भोगभूमि कालसे कर्मभूमि कालकी परावृत्ति होती रहती है। भरत, ऐतवत, सम्बन्धी विजयार्ध पर्वत और म्लेन्छ खंडोंमें चौथ कालके आदि, अंत, सदश काल वर्तता है। मोक्षमार्ग चाल नहीं है। आर्य खंडमें सुषम-सुषमा कालकी प्रशासि होनेपर म्लेष्छ खंडोंमें शरीर पांचती धनुष और आयु कोटिपूर्व वर्ष है । तथा आर्य खंडोंमें दुःषमदुःषमा कालकी प्रशृत्ति होनेपर विजयार्थ और म्लेच्छ खंडोंमें शरीर सात हाथ और आयुः एक सौ बीस वर्ष होजाती है। जघन्य आयुः अन्तर्मुहूर्त है। श्वासके अठारहवें भागवाला अन्तर्मुन हूर्त नहीं छेना। इससे बडा अन्तर्मुहूर्त पकडना। क्योंकि इन विजयार्घ और म्लेच्छ खंडोंमें लब्ब्यपर्यास क मतुष्य नहीं हैं। बीस कोटाकोटी अदासागरके कल्प काल्में अठारह कोटा कोटी सागर तो भोग नृभि काल है और भेवल दो कोटा कोटी सागर कर्मभूमि रचनाका काल है। कर्मभूमिका प्रारम्भ होते ही ये पार्थिव कल्पवृक्ष नष्ट होजाते हैं। मोगभूमिके प्रारम्भमें पुनः उपज जाते हैं, जैसे कि यहां इस कार्कमें भी कितने ही पर्वत उपजते विनसते रहते हैं। किन्तु बीजसे उपजने वाले वृक्षोंकी संतान नहीं

नष्ट होती है। क्योंकि कारणके विना कार्य नहीं उपन्न होसकता है। हां, मनुष्योंकी आयु अवगाहना आदिके समान कृषोंकी आयु या अवगाहना न्यून अधिक होती रहती है, जैसे कि भोगभूमियां मनुष्य तीन, दों, एक, कोस ऊंचे या हाथी छह, पांच, चार कोस ऊंचे अथवा वृक्ष तीस, बीस, दश कोस होते हैं, उसी प्रकार घटते, घटते, हुये इस समय मनुष्य साढे तीन हाथ, हाथी दस हाथ, हुश्च बीस विभास, हाथ, उंचे रह गये हैं। हां, किसी पदार्थमें घटी, बढ़ीका तारतम्य अधिक है और किसीमें न्यून है। गेंहू, चावलों, आदिके बुक्षोंमें उस नैराशिकके अनुसार हानि या बुद्धि नहीं होती है। थोडा कंतर अवस्य पड जाता है। चतुर्निकाय देवोंके या अन्यत्र स्थानोंपर पार्थित कल्पवृक्षोंके अतिरिक्त कल्पवृक्षों की पाये जाते हैं। अलम् विस्तरेण।

### विदेहेषु किंकाला पतुष्या इत्याह ।

कोई विद्यार्थी प्रश्न करता है कि विदेह क्षेत्रोंमें कितने आयुष्य काळको धारने वाळे मनुष्य निवास करते हैं ? ऐसी विनीत शिष्यकी तत्त्वबुमुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज आप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

# विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३२ ॥

पांचों महाविदेहोंमें अथवा पांच मेरु सम्बन्धी एक सौ साठहू विदेहोंमें छौकिक गणना अनुसार संख्या करने योग्य आयुष्य काळतक जीवित रहने वाळे मनुष्य निवास करते हैं।

### संख्येयः काल्रो येषां ते संख्येयकालाः संवत्सरादिगणनाविषयत्वात्तत्कालस्य ।

जिन मनुष्योंका जीवन काल संख्या करने योग्य है, वे मनुष्य " संख्येयकाल " हैं । क्योंकि वर्ष, दिन, मास, आदि करके गिनी गयी गणनाका विषय हो रहा वह काल है । मावार्थ—विदेह क्षेत्रोंमें सर्वदा अवसर्पिणीके तीसरे काल सुषमदु: प्रमाके अन्त समान काल व्यवस्थित रहता है। मनुष्योंके शरीर पांच सौ धनुष ऊंचे हैं । नित्य एक बार भोजन करते हैं । जधन्य रूपसे मनुष्योंकी आयु: अन्त-मृद्धि है और उत्कृष्ट रूपसे वे एक कोटि पूर्व वर्षतक जीवित रहते हैं । चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गोंका एक पूर्व होता है । ऐसे करोड पूर्वतक विदेह क्षेत्रवासी मनुष्य जीवते हैं । हाथी, वोडे, भैंसा, बैल आदिकी आयुओंको इसी प्रकार समझ लेना चाहिये । विदेह क्षेत्रमें द्रव्य रूपसे जैन धर्मका विनाश नहीं होता है । सदा जैन धर्मकी प्रवृत्ति बनी रहती है । भावोंमें मलें ही मिथ्याल हो जाय ।

### अध मकारांतरेण भरतविष्कंभमतिपन्यर्थमाह ।

अब श्री उमास्त्रामी महाराज दूसरे प्रकारसे भरत क्षेत्रकी चौडाईको प्रतिपादन करनेके छिये अप्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

# भरतस्य विष्कंभो जम्बद्घीपस्य नवतिशतमागः॥३३॥

भरत क्षेत्रकी दक्षिण, उत्तर, जीकई जम्बूदीपके एक सी नर्वें भाग परिमाण है। अर्थात्—प्रथम स्थानको एक नग (अदत) मानकर उससे परछी ओरके सात स्थानोतक दूना दूना विस्तार किया जाय। पुनः सातवें स्थानसे छह स्थानोतक आधा आधा विस्तार किया जाय, ऐसी दशामें वे सम्पूर्ण नग (डाग) एक सी नब्बे हो जाते हैं। अतः सम्पूर्ण जम्बूदीपमेंसे भरत क्षेत्रकी जीढाई एक सी नब्बे दें। आ

नवत्याधिकं अतं नवतिश्वतं नवतिश्वतं स्वक्षे भागो नमिष्ठतसागः । अत्र तृतीयांत-पूर्वादुत्तरपदे छोपश्चेत्यनेन द्वतिर्द्ध्योदनादिवत् । स पुनर्नवतिश्वतभागो जंबूद्दीपस्य पंचयोजन स्रतानि पद्विश्वानि पद्वैकास्रविश्वतिभागा योजनस्पेत्युक्तं वेदितन्यं । पुनर्भरतिष्कंभवचनं मकारांतरमतिपस्वर्यग्रुत्तरार्थे वा । तदेवं—

नवतिसे अधिक रात यों मध्यम पद छौपी समास कर " नवतिरात " यह पद बना लिया जाता है। एक सी नन्त्रे भाजक द्वारा प्राप्त हुये भागको नवतिरातमाग कहते हैं। यहां " तृतीयांत-पूर्वादुत्तरपदे लोपश्च " इस सूत्र करके समासवृत्ति हो जाती है। जैसे कि " दर्भा उपसिक्तमोदन दघ्योदनं ,, '' गुडेन सकाः धानाः गुडधानाः, वृतेन संयुक्तो घटः वृतघटः '' इत्यादि स्थळें।पर मध्यम पदोंका छोप करते हुये सामर्ध्य प्राप्त कर तत्पुरुष समास कर दिया जाता है। उसी प्रकार "नवत्या " इस तृतीयान्त पद हे पूर्व वृत्ति होनेपर उत्तरवर्ती रात पदके परे रहते समास होजाता है और अधिक इस पदका लोप होजाता है। फिर वह एक लाल योजन चीहै अंबुद्धीपका एकसी नब्बैमां भाग तो पांचसी छन्बीस पूरे योजन और योजनके छह उन्नीसनें भाग हैं। इस बातको पूर्व सूत्र द्वारा कहा जा चुका समझ छेना चाहिये। जब कि " भरतः वड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य '' इस सूत्र द्वारा भरतका विस्तार कहा ही जा चुका था। अब जो फिर भरतका विष्कंभ कहा जारहा है वह शिष्यबुद्धि वैशद्यार्थ अन्य प्रकार करके प्रतिपत्ति करानेके लिये हैं अथवा उत्तरवर्ती " द्विर्धातकी खण्डे, पुष्करार्धे च " सूत्रों करके जो प्रमेय सद्दा जायगा उसका अभिसंबंध करनेके छिये यह सूत्र कहा गया है। भावार्थ-जंबूद्वीपमें चौरासी रालाकार्ये पर्वतोंकी और एकसी छह शकाकारों क्षेत्रोंकी यों एकसी नन्ने माग हैं। धातकी सक्डमें दी मेहसन्वन्धी बारह कुळाचळ और चीदह क्षेत्र हैं। सभी कुछाचछ और दो हप्याकार पर्वतोंसे चिरे हुये स्थानसे अवशिष्ट स्थलमें चौदह क्षेत्रोपयोगी दो सौ बारहका माग देनेसे एक मरतक्षेत्रका स्थान निकलता है। यो ही पुष्करार्धके मर-तका क्षेत्र जान छेना । इसी संबंधको जतानके छिये इस सूत्रका निर्माण किया है । तिस कारण इस प्रकार दोनेपर:---

# तत्सेत्रवासिनां नृणामायुषः स्थितिरीरिता । सूत्रत्रयेण विष्कंभो भरतस्यैकसूत्रतः॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने " एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकरैवकुरुवकाः, तयोत्तराः, विदेहेषु संख्येयकाळाः " इन तीनों सूत्रों करके उन क्षेत्रोंमें निवास करनेवाळे मनुष्योंके जीवित काळकी स्थितिको कह दिया है और " भरतस्य विष्कम्भो जम्बूदीपस्य नवतिशतभागः " इस एक सूत्रसे भरतकी चौढाई कह दी गयी है।

### तनृणामित्युपस्रक्षणात्तिरश्रामपि स्थितिरुक्तेति गम्यते ।

जैसे "काकेम्यो दिव रक्ष्यतां " यहां काकपद सभी दिविक उपचातकोंका उपलक्षण है, यानी काकपदसे दहीको बिगाडनेवाले अन्य पशु, पक्षी, छोकरा आदि सर्व ही पकड लिय जाते हैं। उसी प्रकार उक्त वार्तिकमें कहे गये " नूणां " यानी उन क्षेत्रनिवासी मनुष्यों यह पद उपलक्षण है। इस कारण वहांके पैचेंद्रिय तियेचोंकी स्थिति भी उन ही तीन सूत्रों द्वारा कह दी गयी, यों समझ लिया जाता है।

### धातकीखंडे भरतादिविष्कंभाः कथम् प्रमीयत इत्वाइ।

धातकी खण्ड द्वीपमें भरत आदि क्षेत्रोंकी चौडाई भला किस प्रकार अच्छी नापी जाती है ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

# द्विर्घातकीखण्डे ॥ ३४ ॥

दूसरे द्वीप धातकी खण्डमें क्षेत्र, पर्वत, कमल, हद, निदयां आदिक संख्या द्वारा जम्बूद्वीपकी अपेक्षा दो दो होकर दुगुने नापे जाते हैं। अर्थात्—दो मेरु सम्बन्धी क्षेत्र पर्वतादिकी संख्या दूनी है तथा चौडाई भी दुगुनीसे कथमिप न्यून नहीं है।

नतु च जंबृद्दीपानंतरं छवणोदो वक्तव्यस्तदुष्टंघने प्रयोजनाभावादिति चेषा, जंबृद्दीप-भरतादिद्विगुणधातकीखंडभरतादिप्रतिपादनार्थत्वात्, छवणोदवचनस्य सामर्थ्यछन्धत्वाच । महीतळमूळयोर्दश्रयोजनसहस्रविस्तारो छवणोदः।

यहां श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति कोई शिष्य अनुनय करता है कि कृपासागर सूत्रकार महाराजजीको तेतीसर्वे सूत्रतक जम्बूद्धीपका वर्णन करनेके पश्चाद चौतीसमें सूत्रमें छवणसमुद्रका निरूपण करना चाहिये था। उस छवणसमुद्रके वर्णनको उछंघन करनेमें उनका कोई विशेष प्रयोजन नहीं सथता है, जिससे कि धातकी खण्डका वर्णन झट मध्यमें आ कूदे। अब प्रन्थकार कहते हैं कि यह

तो नहीं कहना। न्योंकि जम्बूदीप सम्बन्धी भरत आदि क्षेत्र या पर्वत, नदी, कुण्ड, आदिकोंसे संख्यामें दुराने धातकी खण्ड सम्बन्धी भरत, हिमवान् , गंगा, गंगाकुण्ड, आदि हैं। इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके छिये धातकी खण्डका वर्णन सप्रयोजन हैं। दूसरी बात यह है कि " तन्मध्यपतितस्तद्ग्रह्णेन गृह्यते " इस नीतिके अनुसार जम्बूद्वीप और धातकी खण्डकी वर्णना कर देनेसे छवणसमुद्रका निरूपण तो बिना कहे ही पूर्वापर अभिधानकी सामर्थ्यसे ही स्वतः छन्ध हो जाता है। सर्वेह सम्प्रदायका अति-कमण नहीं कर आम्नायसे प्राप्त हो रहे आगमों द्वारा या गुरुपरिपाटी द्वारा छवण समुद्रका स्वरूप इस प्रकार समझ छेना चाहिये कि समभूमितलपर एक लाख योजन चौडे जम्बूद्वीपका परिक्षेप करनेवाले कंकण समान लवण समुद्रकी चौडाई दो लाख योजन है। गार्योंके जल पीनेके घाट समान कमसे गृहरा होता हुआ उरलीपार, परली पार दोनों ओरसे पिचानवै हजार योजन तिरछा चलकर हजार योजन गहराई रखता हुआ बजा पृथ्वीके ऊपर और चित्रा पृथ्वीके अधस्तत्रमें छवण समुद्र नीचे दश हजार योजन चौडा हो गया है। " पुष्णिदिणे अमनासे सोलक्कारससहस्स जल उदयो, नासं मुहभूमीए दसम सहस्सा य वे छक्खा '' इस गाथा अनुसार चित्राके उपरिम भूमितछसे सदा ग्यारह हजार योजन जलकी ऊंचाईको धारने बाले लवण समुद्रका क्रमसे बढ़ता हुआ जल पूर्णिमाको सोलह हजार योजनतक ऊंचा उठ जाता है। वहां ऊपर जलतलकी चौडाई दस हजार योजन है। अतः लवण समद्राह्मपी कंकणको कहींसे भी काट कर यदि तिरस्त्रा देखा जाय तो उसका कटा हुआ आकार सर्वत्र मुदंग सारिखा मिलेगा । लवण समद्रके अतिरिक्त और किसी भी समुद्रका जल चित्राके समतलसे ऊंचा उठा हुआ नहीं है। हां. वेदिके परें उरले परले द्वीपसे पोखरियाके समान क्रमसे तिरला निम्न होरहा हजार योजन जल उनमें भरा हुआ है। लक्षण समुद्र सम्बन्धी सूर्य चंद्रमा या इतर ज्योतिष्कमण्डलका ख्वण जल्में ही संचार होता रहता है मळिलेयोंके समान देवों और देवविमानों या चैतन्य, चैत्यालय, आदि पदार्थोंको हानि नहीं पहुंचती है। जैसे कि वायु समुद्रमें इब रहे अस्मदादिकोंको वायु द्वारा कोई क्षति नहीं पहुंच पाती है। ज्योतिष्क विमानोंके कचित् स्थलेंमें प्रयोगों द्वारा जलका अवरोध भी कर दिया जाता है। समद्रमें चरने वाले मछली, मगर, आदि जीवोंके शरीरोंमें भी तो जलावरोधके निमित्त विश्वमान है। हम लोग भी फैली हुई वायुका यथायोग्य न्यूनाधिक प्रवेश या अवाञ्क्रनीय अप्रवेश कर छेते हैं।

तन्यध्ये दिश्व पातालानि योजनञ्जतसहस्रावगाहानि, विदिश्व श्वद्रपातालानि दश्चयोजन सहस्रावगाहानि, तदंतरे श्वद्रपातालानां योजनसहस्रावगाहानां सहस्रं।

उस छवण समुद्रके ठीक मध्यमें चारों दिशाओंमें चार पाताछ बने हुये हैं, जो कि जंबूद्रीपकी रत्नवेदिकासे पिचानम्बे हजार योजन तिरछा चाछकर रत्नप्रभा भूमिक कुठिया या कूआ समान विवर हैं। इन चारोंकी गहराई एक छाख योजन हैं। इन गोछ पाताछोंकी अधस्तछ और उपरितल्में चौडाई दश हजार तथा मध्यमें एक लाख योजन है। उंची खडी कर दी गयी ढोळक या पखबाजकासा

इनका आकार है। इनकी पांचसी योजन चीडी मीतें और तल वक्रमय हैं। मध्यलंक सम्बन्धी सम्पूर्ण दश्य, अलंड, अवयवी, पदार्थोमेंसे ये ही पाताल चित्रा पृष्वीके नीचे तक चले गये हैं। वक्रा, बेह्यं, यहांतक कि लोकके अन्त तक फैल रही रक्षप्रभाके सोलह हजार योजन मोटे पूरे खर पृष्वीभाग और चौरासी हजार योजन मोटे प्कबहुलमागतक ये पाताल घुस गये हैं। उन महापातालोंके तिहाई नीचले तेतीस हजार तीनसी तेतीस और एक बटे तीन योजन भागमें वायु भरा हुआ है। मिक्सले तीसरे भागमें वायु और जल ठस रहे हैं। उपराले त्रिमागमें जल है। कितिपय निमित्तों हारा वायुका संक्ष्मेम हो जानेसे समुद्र जलकी हृद्धि हो जाती है। इन चार महा पातालोंके ठीक मध्य विदिशाओंमें चार क्षुद्र पाताल दश हजार योजन गहरे अन्य भी हैं। जो कि मुख और मूलमें हजार योजन तथा मध्यमें दश हजार योजन चीडे हो रहे मुरज समान हैं। इनमें मी निचले त्रिमागमें वायु और बिचले त्रिमागमें जल, वायु मिलकर दोनों तथा उपरिम त्रिभागमें केवल जल मर रहे हैं। उन दिशा, विदिशाओंमें बन रहे पातालोंके आठों अन्तरोंमें हजार योजन गहराईको धार रहे अति क्षुद्र पातालोंकी सहस्र संल्या और मी समझ लेनी चाहिये। इन हजार पातालों (बडवानलों) की मध्यमें चौडाई हजार योजन और मुख या मूलमें पांचसी योजन चौडाई है। इनके तीन त्रिमागोंमें भी यथाकम नीचेकी ओरसे वात और जल, वायु, तथा जल भर रहे हैं। जो कि समुद्रके जलकी हृद्धि या हानिमें सहायक हैं। ये सम्पूर्ण पाताल अनादि अनिधन हैं।

### दिश्च वेलंधरनागाधिपतिनगराणि चत्वारि द्वादशयोजनसङ्ख्रायामविष्कंभो गौतमद्वीप-श्रेति श्रूयते ।

जम्बूद्रीपके अन्तिम भाग हो रही राजवेदिकासे तिरछे वियालीस हजार योजन चलकर चारों दिशाओं में समुद्रकी वेलाको धारनेवाले नागकुमाराधिपति भवनवासी देवोंके चार नगर बने हुये हैं। जिनमें निवास करनेवाले हजारों भवनवासी देव स्वकीय नियोग अनुसार लवणसमुद्रकी अभ्यन्तर वेला, बाह्यवेला, और अप्रजलको वहांका वहीं नियत स्थानोंपर रोक कर धार रहे हैं। उचित हानि, या हृद्धिके सिवाय उठे हुये जलको इधर उधर नहीं गिरने, फैलने, उल्लिने देते हैं। यहापि निश्चयनय अनुसार सभी पदार्थ अपने अपने स्वक्रपको धार रहे हैं। जलकी बूंद या कटोराका पानी यों भी कुछ ऊपर उठा हुआ रह सकता है। तथापि व्यवहार नय अनुसार कतिपय बादर पदार्थोंके अवलम्ब हो रहे यथा व्यवस्थित पदार्थोंका आचार्य महाराजने निरूपण कर दिया है। रानवेदिकासे तिरछे बारह हजार योजन चलकर वारह हजार योजन लंबा चौडा गोल '' गौतम '' नामका द्वीप लवण-समुद्रके विद्यमान है, जिसमें लवणसमुद्रके अधिपति गौतम देवका निवास है। जवण समुद्रके तटसे पिचानवे हजार योजन चलकर समुद्रकी गहराई हजार योजन होगई है। अतः पिचानवे प्रदेशोंपर एक प्रदेश गहरा, पिचानवे हाथ चलकर एक हाथ गहरा, पिचानवे कोस तिरछा चलकर एक कीस गहरा, इस क्रमसे समुद्रकी गहराई मिछती चली जायगी। नीचे जाकर मध्यमें दश हजारकी चौडाईपर

हजार योजनकी गहराई है। इससे अधिक गहराई कहीं नहीं है। छ्वण समुद्रमें जैन्द्रीपकी और चोबीस और धातकी द्वीपकी और चोबीस यों कुभोगभूमियोंके अडताछीस द्वीप अन्य भी बने हुये हैं। मागध आदि भी कई द्वीपोंकी रचना है, इत्यादिक करणानुयोग सम्बन्धी सिद्धान्त तो सर्वज्ञ आम्नात शाकों द्वारा या साम्प्रदायिक ऋषियों द्वारा सुना जा रहा है। इस आर्ष सिद्धान्तमें किन्हीं प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधा नहीं उपस्थित होती है। बाधकासम्भवसे अतीन्द्रिय पदार्थोकी भी निर्विवाद, अवि-सम्बादिनी, सिद्धि हो जाती है।

नतु च पूर्वपूर्वपरिक्षेपिद्दीपसग्रद्भमाशकस्तत्र सामध्यां जंबृद्दीपपरिक्षेपी छवणोदो हायते सामान्यत एव । तिद्दिशेषास्तु कयमजुक्ता इहावसीयंत इति न शंकनीयं, सामान्यगतौ विशेष-सद्भावगतेः सामान्यस्य स्वविशेषाविनाभावित्वात् संक्षेपतः सूत्राणां भवृत्तेः सूत्रैस्तिद्दिशेषान-भिधानं जंबृद्दीपादिविशेषानाभिधानवत् । वार्तिककारादयस्त्वर्याविरोधेन तिद्देशेषान् सूत्रसाम-ध्यां छव्यानाचक्षाणा नोतस्त्रवादितां छभंते 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिनिहि संदेहादछक्षणम् ' इति वचनात् ।

यहां किसीका शंका अनुसार आक्षेप है कि इस तृतीय अध्यायके सातवें, आठवें, सूत्र अनुसार पूर्वका परिक्षेप करनेवाले असंख्य द्वीप समुद्रोंका प्रकाश किया जा चुका है, उनमें जंबूद्वीपका परिक्षेप करनेवाला लवणसमृद तो सामान्यरूपसे विना कहे सामर्थ्यसे ही जान लिया जाता है। किन्तु उस छवणसमुद्रके पाताल, क्षुद्रपाताल, द्वीप, कुभोगभूमि ये विषेष तो यहां सूत्रोंद्वारा नहीं कहे गये हैं, फिर बिना कहे ही उन विशेषोंका निर्णय कैसे कर लिया जाता है ! बताओ । प्रंथकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि सामान्य रूपसे इति होचुकने पर उसके विशेष अंशोंके सद्भावकी भो परिन्छित्ति होजाती है। कारण कि सामान्य अर्थ अपने विशेष अर्थोंके साथ अविनाभाव रखने वाळे होते हैं। " निर्विशेषं हि सामान्यम् भवेत् खराविषाणवत् " । कोई मनुष्यसामान्य या घोडा सामान्य अपने उचित विशेषोंसे रीता होकर अकेष्ठा अधायधि नहीं देखा गया है। जैन सिद्धांतमें पदार्थको सामान्य विशेषात्मक स्वीकार किया गया है। हां, शहोंके संक्षेपसे सूत्रोंकी प्रवृत्ति होती है। अतः अनेक छोटे छोटे विशेष अधीके प्रतिपादक सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने लवण समद्रके उन विशेषोंका कंठोक्त निरूपण उसी प्रकार नहीं किया है, जैसे कि जंबूहीपके मदसाल, देवारण्य, भूतारम्य, आदि वनों, विजयार्थ यमकादि, बृत्रभाचल, गजदंत, वेदाख्य आदि पर्यतों, या उन्मग्रजला, निमग्रज्ञा, विभेगा आदि नदियों तथा अन्य अन्य शाल्मली वृक्ष, वेदी, पाण्डुक शिला, म्लेन्छ खण्ड, खण्डप्रपातगुहा आदिका सूत्रों द्वारा पृथक् पृथक् निरूपण नहीं किया गया है। अर्थात्—यों सभी विदेशोंका सूत्रों द्वारा निरूपण करने पर मूळ सूत्रप्रत्यका अत्यक्षिक विस्तार होजायगा । फिर टीका... मन्य किल रेगा की औषानि हैं काताओं तो सही। इस तत्वार्थसूत्र की समीचीन टीकाओं या त्रिलोक- सार, जंबूद्दीपप्रज्ञित, आदि प्रंथोंकी रचना करने वाले आचार्योंके वचन भी प्रमाण हैं। सिद्धांत अर्थके अविरोध करके सूत्रोंकी सामर्थ्यसे विना कहे ही प्राप्त होचुके उन उन विशेष अर्थोंका व्याख्यान कर रहे वार्ति ककार श्री अकलंक देव, श्री विद्यानन्द स्वामी अथवा अन्य श्री नेमिचन्द सिद्धांतचकवर्ती, श्री वीरनन्दी सिद्धांतचकवर्ती, आदि प्रकाण्ड विद्वान् तो उत्सूत्रवादीपन दोषको नहीं प्राप्त होजाते हैं। अर्थात्—जो परमागम सूत्र सिद्धांतोंका उल्लंघन कर मनमानी झूंटी सांची गणोंको हांकते हैं वे उत्सूत्र भाषी हैं। किन्तु श्री अकलंक देव, श्री नेमिचन्द्र महाराज आदि आचार्य तो गुरुपरिपाटी अनुसार उन्हीं सिद्धांत सूत्रोंका स्वशीय ग्रंथोंमें व्याख्यान करते हैं। लोकमें प्रसिद्ध होरहा यह वचन है कि व्याख्यान कर देनेसे परिज्ञात सामान्य अर्थके विशेषोंकी प्रतिपत्ति होजाती है, संदेह कर देनेसे वह सामान्य रूपसे सिद्धांतित कर दिया गया लक्षण कोई कुलक्षण या लक्षणामाव नहीं होजाता है। हां, यह लक्ष्य रखा जाय कि वह अतीन्द्रिय पदार्थोंका निरूपण दृष्ट, इष्ट, और पूर्वापार प्रकरणोंसे अविरुद्ध होना चाहिये। कोई भी विचारशील विद्वान् सर्वज्ञधारासे चले आरहे प्रमेयका प्रातिपादन करदे वह उत्सूत्रभाषीपन दोषका पात्र कालत्रयमें भी नहीं होसकता है।

ननु च धातकीरवंडे द्वी भरती द्वी हिमवंतावित्यादिद्रव्याभ्याद्वती द्विरित्यत्र सुजसंभव इति चेन्न, मीयंत इति कियाध्याहारात् द्विस्तावानिति यथा, तेन धातकीरवंडे भरतादिवर्षो-हिमवदादिवर्षभरश्च द्रदादिश्च द्विमीयत इति सुत्रितं भवति ।

यहां कोई पण्डित दूसरे प्रकारकी शंका उठाता है कि धातकी खण्डमें दो भरत क्षेत्र हैं। दो हिमत्रान् पर्वत हैं, दो हैमत क्षेत्र हैं, दो महाहिमत्रान् पर्वत हैं, इत्यादि रूपसे इन्यकी अभ्याद्यति करनेपर दिर् इत पदमें सुच् प्रत्यय करने का असम्भव है। क्योंकि " दिनिचतुर्भ्यः सुच् " इस सूत्र अनुसार कियाकी अभ्याद्यति गिननेमें सुच् प्रत्यय हो सकता है। भरत हिमत्रान् आदि इन्योंके बार बार गिननेमें सुच् प्रत्ययका विधायक कोई न्याकरणका सूत्र नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि " मीयंते" यानी नापे जा रहे हैं, इस कियाका अध्याद्यार अर्थात् उपस्थित उपस्कार कर लेनेसे उसी सूत्र द्वारा सुच् क्रत्यय कर लिया जाता है, जैसे कि यह प्रासाद (हवेली) उस परिनाणत्राला दो बार है। इस वाक्यमें " नापा जाता है " इस कियाका अध्याहार कर दो बार उतना नापा जाता है। यों दिस्तावान् पदमें सुच् प्रत्ययकी घटना हो जाती है। उसी प्रकार " दिर्थातकीखण्डे" यहां भी संख्याताची दि शहसे कियाकी पुनराहित गिननेमें सुच्प्रत्यय तद्धितद्दिनों कर लिया जाता है। तिस करके धातकी खण्डमें भरत, हैमवत, आदिक क्षेत्र हिमवान्, महाहिमत्रान्, आदि पर्वत तथा हद, नदी, मेरु, आदि दो, दो होकर संख्या द्वारा नापे जाते हैं, यह मूत्र द्वारा अर्थ उक्त हो जाता है।

कियान् पुनर्धातकीखण्डे भरतस्य विष्कंभ इत्युच्यते-षट्षष्टिश्चतानि चतुर्दशानि योजनानामेकात्रात्रिश्च भागशतं योजनस्याभ्यंतरविष्कंभः। सैकाश्चीतिपंचश्चताधिकद्वादश्च- सहस्राणि पद्त्रिश्च भागा योजनस्य मध्यविष्कंभः । सप्तचत्वारिशत्यंचशताधिकाष्टादश-सहस्राणि योजनानां पंचपंचाश्चच भागशतं योजनस्य वाश्चविष्कंभः ।

कोई जिज्ञास पूछता है कि श्री विद्यानन्द स्वामिन् महाराज ! यह बताओ कि धातकी खण्डमें भरत क्षेत्रकी चौढाई मला कितनी है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर प्रन्थकार करके यों उत्तर कहा जाता है कि छह हजार छह सी चौदह पूरे योजन और एक योजनके दो सी बारह भागोंमें एक सी उन्तीस भाग इतना धातकी खण्डके भरतका अभ्यन्तर विष्कंभ है। बारह हजार पांच सौ इक्यासी योजन और योजनके छत्तीस बटे दो सी बारह भाग धातकी खण्डके भरतका मध्यम चीडाई है तथा अठारह हजार पांच सी सेतालीस और एक सी पचपन बटे दो सी बारह योजन धातकी खण्डके भरतका बाह्य विष्कंभ है। मावार्य-धातकी खण्डका भीतरका व्यास पांच लाख है। वही लवण समदका अन्तिम व्यास है। मध्यम व्यास नी लाख और धातकी खण्डकी बाह्य सूची तेरह लाख योजन की है। '' विक्खंभवगगदहगुणकरणी वहस्स परिरयो होइ '' स्थूलपरिधि व्याससे तिगुनी समझी जाती है। किन्तु सूक्ष्म परिधि तो व्यासके वर्गको दश गुना करनेपर पुन: उसका वर्गमूल निकाला जाय तब ठीक बैठती है। पांच लाखके वर्गके दश गुने पद्मीस खर्व संख्याका वर्गमूळ निकाळनेपर पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उन्तालीस (१५८११३९) योजन धातकी खण्डकी अभ्यन्तर परिधि बैठती है। इन्यासी खर्व (८१०००००००००) का वर्गमूळ निकाळनेपर अद्वाईस ळाख छियालिस हजार पचास (२८४६०५०) योजन धातकी खण्डकी मध्यम परिधि आती है। धातकी खण्डके बाह्य व्यास तेरह लाखके वर्गके दश गुने एक नील उन्हत्तर खर्व (१६९०००००००००) का वर्गमूल निकाला जाय तो इकतालीस लाख दश हजार नौ सौ इकसर ( ४११०९६१ ) योजन धातकी खण्डकी बाह्य परिधि आ जाती है। जम्बूदीपमें जैसे पर्वत या क्षेत्रोंका विन्यास है वैसा धातकी खण्डमें नहीं है । परे पहियाके समान धातकी खण्डमें अरोंके स्थानपर पर्वत पड़े हुये हैं । और ( अरविवर ) रीते स्थानोंपर भरत आदि क्षेत्र रचे हुये हैं । जम्बूद्वीपमें हिम-वान् , महाहिमवान् , आदि पर्वतोंकी जितनी चौडाई है, उससे ठीक दूनी धातकी खण्डके हिमंत्रान् आदि पर्वतोंकी चौडाई है। धातकी खण्डमें भी हिमवान आदि पर्वत भीतके समान नीचे ऊपर एकते और छवण समुद्रके अन्तिन भागसे प्रारम्भ कर कालोदांवि समुद्रके आदि भागतक समान एकसी चौडा-**ईको किये हुये छम्बे पडे हुये हैं। पूर्व धातकी खण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड ये दो विभाग कर**-नेके लिये धातकी खण्डके दक्षिण और उत्तर प्रान्तमें हजार योजन चौड़े चार सौ योजन ऊंचे चार छाख योजन लम्बे ऐसे दो इण्त्राकार पर्वत पडे इये हैं। जम्बूदीपके पर्वतोंसे धातकी खण्डके हिमवान आदि पर्वतोंकी चौडाई ठीक दूनी है और पर्वतोंकी संख्या भी दूनी है। प्रस्पुत दो इन्त्राकार पर्वत और भी अधिक हैं। जम्बूदीपमें छह पर्वत हैं तो धातकी खण्डमें दो इचाकारों सहित चौदह पर्वत हैं। जम्बूद्रीपमें हिमनान् आदि पर्वतोंने दक्षिण, उतर, चत्राळीस इजार दो सौ दस और दस बटे उन्नीस योजन आकाशको घेर रक्ता है। छहाँ पर्वतीकी शलाकायें चौरासी हैं। एक सौ नब्बै शलाकाओंके लिये

जम्बूद्वीपमें एक छाख योजन क्षेत्र मिछे तो चौरासी शछाकाओंमें कितना क्षेत्र विर जायगा ! क्षें जैरान शिक करनेपर पर्वतोंसे अवरुद्ध हुआ उक्त संख्यावाला क्षेत्र निकल आता है । धातकी खण्डके संख्यामें और चौडाईमें दुगुने पर्वतोंसे रुके हुये क्षेत्रको निकालनेके लिये जम्बूदीपके उक्त पर्वतीवरुद्ध क्षेत्रको चौगुना कर देनेपर एक छाख छिहत्तर हजार आठ सी वियालीस और दो बटे उनीस योजन क्षेत्र निकलता है। इसमें दो इष्टाकार पर्वतोंकी दो हजार योजन चौडाईको मिला देनेपर धातकी खण्डमें पर्वतोंसे घिरा हुआ एक छाख अठत्तर हजार आठ सौ बियाछीस (१७८८४२) योजन क्षेत्र हुआ। अंश (बटे) संख्याकी विवक्षा नहीं है। जम्बूद्धीपमें सातों क्षेत्रोंकी एक सौ छह शलाकार्ये हैं। इनसे दूनी दो सौ बारह रालाकायें धातकी खण्डमें क्षेत्रोंकी हैं। क्योंकि क्षेत्रोंकी दूनी यानी चौदह संख्या है। उन अभ्यंतर. मध्य और बाह्य तीन प्रकारकी धातकी खण्ड द्वीपसम्बन्धी परिधियोंमेंसे पर्वत रुद्ध क्षेत्रको घटाकर शेष बचे क्षेत्रमें दो सौ बारहका भाग देनेपर और भरतके छिये नियत एक शळाकासे गुणा-कर देनेपर वातकी खण्डके भरतकी भीतरली, बिचली, और बाहरी, चौडाईमा क्षेत्र निकल आता 🕏 । भीतरही परिधि १५८११३९ में से १७८८४२ को घटाकर बचे हुये १४०२२९७ में २१२ का भाग देनेपर छह हजार छड़ से। चौदह और एक से। उन्तीस बटे दो से बारह योजन धातकी खण्डके भरतकी भीतरी चौडाई निकल आती है। इसी प्रकार भरतकी मध्यम परिधि और बाह्य परिधिको निकाल लेना चाहिये। ऐसी दशामें धात ही खण्डका मरत आदिमें छह हजार छह सो चोदह योजनसे क्रम क्रम कर बढता हुआ अन्तमें अठारह हजार पांच सो सेतालीस योजन चौडा हो गया है और चार छाख योजन छम्बा पड़ा है। जम्बूद्वीपके भरतसे यह सैकड़ों गुणा बड़ा है। 4 वाहिरसुईवग्गं अन्वंतरसुइवग्गपिरिहीणं, जम्बूवासविभत्ते तत्तियमेत्ताणि खंडाणि '' इस गाथा अनुसार जम्बद्वीपसे धातकी खण्ड एक सौ चत्राछीस गुने क्षेत्रफलको धार रहा है ।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्शुणविस्तार आविदेहात् । वर्षधराद्वर्षधर आनिषधात् । उत्तरा दक्षिणतुल्या इति च विक्षेयं । भरतैरावःविभाजिनौ च दक्षिणोत्तरायतौ लवणोदकालोदश्पर्शिनौ लवणो-दादक्षिणोत्तराविष्वाकारगिरी मतिपत्तन्यौ । धातकीखंडवलयपूर्वापरविभागमध्यगो मेरू च ।

धातकी खण्डमें पिहिले भरत क्षेत्रसे अगले, अगले वर्ष चौगुने, चौगुने विस्तारताले हैं। विदेह पर्यन्त यहां दशा है। क्योंकि पिहले क्षेत्रसे दूसरेकी, दूसरेके तीसरे की, तीसरेसे चौथेकी, शलाकार्ये चौगुनी, चौगुनी, हैं। हां, लंबाई सर्व क्षेत्र या पर्वतोंकी एकसी चार लाख है। इसी प्रकार पिहले हिम-बान् पर्वतसे अगले अगले पर्वतोंकी चौडाई निषधपर्वतपर्यन्त चौगुनी, चौगुनी, है। तथा उत्तर दिशा सम्बन्धी क्षेत्र या पर्वत तो दक्षिण दिशावर्ती कहे जा चुके इन पर्वत और क्षेत्रोंके समान है, यह भी समझ लेना चाहिये। चार लाखकी लंबाई विदेह क्षेत्रकी मध्यम या बाह्य परिधिकी अपेक्षा चौडाई समझी जायगी। धातकी खण्डमें पूर्म मेरु सम्बन्धी भरत और पश्चिम मेरु सम्बन्धी ऐरावत अधवा पूर्व मेरु सम्बन्धी ऐरावत और पश्चिममेरु सम्बन्धी भरतका विभाग करने वाले इष्वाकार पर्वत पढे हुये

समझ छेने चाहिये। सुवर्णमय इन पर्वतोंका आकार ऋजु (सीधे) छंवे वाणके समान हैं। अतः इनका नाम अन्वर्ध है। ये धातकी खण्डमें दक्षिण और उत्तर दिशाओंकी ओर छंवे पड़े हुये हैं। मीतर छवण समुद्र और बाहर कालोदिध समुद्रकों छूरहे हैं। पिढ़िछा इन्नाकार छवणसमुद्रसे दक्षिणकी ओर और दूसरा छवणसमुद्रसे उत्तरकी ओर पसर रहा है। इन इन्नाकारोंसे धातकीखण्डस्वरूप कंकणके पूर्व धातकी खण्ड और पिश्वम धातकी खण्ड दीप यों विभाग होजाते हैं और उन दोनों विभागोंके मध्यमें दो मेरु पर्वत प्राप्त होरहे हैं। जोकि जंबूद्रिपके सुदर्शन मेरुसे कुछ छोटे हैं। चौरासी हजार योजन ऊंचे हैं। जंबूद्रीपमें जहां जंबूद्रक्ष है, उसी प्रकार धातकी खण्डमें धातकी दक्ष है। धातकी खण्डका परिक्षेप करनेवाला आठ लाख योजन चौड़ा कालोदिध समुद्र है। कालोदिधमें भी बाह्य तट और अभ्यन्तर तटसे पांच सौ, साड़े पांचसौ, और छह सौ, योजन चळकर अडतालीस अंतरदीप हैं। उनमें कुभोगभूमिकी रचना है।

### अथ पुष्करार्धे कथं भरतादिमीयते तद्दिष्कंभाश्रेत्याइ ।

इसके पश्चात् किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि दयानिधे यह बताओ कि पुण्करार्ध द्वीपमें भरत आदिक भला किस प्रकार नापे जारहे हैं ! और उनकी चौडाई आदिकी क्या व्यवस्था है ! यों प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको, स्पष्ट कह रहे हैं।

# पुष्करार्धे च ॥ ३५ ॥

संपूर्ण पुष्करमें नहीं किंतु पुष्कर द्वीपके भीतरले आधे मागमें भरत आदिक दो बार संख्या-द्वारा गिने जाते हैं । अर्थात्—जंबूद्वीपके भरत आदि या हिमवान् आदिकी अपेक्षा पुष्करार्धमें दो बार यानी दो भरत, दो हिमवान्, यों क्षेत्र, पर्वत, नदी, हृद, मेरु, कुण्ड आदि हैं।

संख्याभ्यादृत्यतुवर्तनार्थश्रक्षद्धः । धातकीखण्डवत्युष्करार्धे च भरताद्यो द्विमीयंते । तत्रैकाबाशीत्युत्तरपंचभताधिकैकचत्वारिभद्योजनसद्दासाणि सिमस्तिभागभतं च भरतस्या-भ्यंतरिवष्कंभः, द्वादशपंचभतोत्तराणि त्रिपंचाशयोजनसद्द्धाणि नवनवत्यधिकं च भागभतं योजनस्य मध्यविष्कंभः, षद्चत्वारिमश्रतुःभतोत्तरपंचचद्विसद्द्धाणि त्रवोदश्च च भागा योजनस्य बाह्यविष्कंभः।

" द्विर्धातकीखण्डे " इस पूर्व सूत्रसे " द्विर् " इस संख्याकी अभ्यादृत्तिका अनुवर्तनके लिये यहां सूत्रमें च शद्ध किया गया है । धात की खण्ड के समान पुष्करार्थमें भी जम्बूद्वीपकी अपेक्षा भरत आदि दो बार गिने जाते हैं । इस पुष्करार्थ द्वीपमें मरत क्षेत्रकी भीतरकी वौडाई इकतालीस हजार पांच सौ उनासी और एक सौ तिहत्तर बटे दो सौ बारह योजन है । पुष्करद्वीपके भरतकी त्रेपन हजार पांच सौ बारह और एक सौ निम्बानवे बटे दो सी बारह योजन मझिली चौडाई है तथा

पेंसठ हजार चार सी छियालीस और तेरह बटे दो सी बारह योजन पुष्करके भरतकी बाहरली चौडाई है । भावार्थ—कालोदिध समुद्रसे बाहरली ओर चुपटी हुई पुण्करार्धकी भीतरली परिधि इक्यानेने छाख सत्तर हजार छह सी पांच (९१७०६०५) योजन है और पुष्करार्धको सेतीस ळाख न्यासवाळे मध्यदेशकी '' विक्खंभवगगादहगुणकरणी वदस्स परिरयो होदि '' इस नियम अनुसार एक करोड सन्नह लाख चार सौ सत्ताईस (११७००४२७) योजन परिधि होती है। पेंतालीस ठाखवाळे पुग्करार्ध द्वीपकी बाहरली परिधि एक करोड बियाळीस ठाख तीस हजार दी सौ उनचास (१४२३०२४९) योजन है। एक अंकके बटे हुये भागोंका यहां लक्ष्य नहीं रक्खा गया है। धातकी खण्डके बारहऊ कुळाचळोंसे पुष्करार्धके बारहऊ कुळाचळोंकी चौडाई दूनी दूनी है। किन्तु इष्त्राकार पर्वत दोनों द्वीपोंके एकसे एक एक हजार योजन चौडे हैं। अतः पुण्कराधिमें चौदह पर्वतोंसे रुका हुआ क्षेत्र तीन लाख पचपन हजार छह सौ चौरासी ( ३५५६८४ ) योजन है। उन तीनों प्रकारकी परिधियोंमेंसे पर्वत रुद्ध क्षेत्रको न्यून कर पुनः चौदद्द क्षेत्रोंकी दो सौ बारह शलाकाओंसे भाजित कर पश्चात् भरतकी एक शलाकासे गुणा कर देनेपर पुष्कराधिके भरतकी भीतरी, निचली और बाहरी चौडाई निकल आती है। अतः इकतालीस हजार पांच सौ उनासी योजनसे कमबार बढता हुआ पेंसठ हजार चार सी छियाछीस योजन चौडा हो रहा और आठ छाख योजन लम्बा यह पुष्करार्धका भरत क्षेत्र उस जम्बूद्धीपके भरतमे हजारों गुणा वडा बैठता है । हां, जम्बूद्वीपका हिमवान् पर्वत दस सौ बावन और बारह बटे उन्नीस योजन चौडा तथा चौतीस हजार नौ सौ बत्तीस और एक बटे उन्नीस योजन लम्बा है । किन्तु पुष्करार्धका एक हिमवान् पर्वत इससे चौगुना चार हजार दो सौ दश और दश बटे उन्नीस योजन चौडा तथा आठ लाख योजन लम्बा है । हां, जम्बूद्वीपके कुलाचल, वक्षार, नदी, हद आदिकी गहराई और ऊँचाईके समान ही धात की खण्ड और पुष्करार्ध द्वीपों के कुलाचालों आदिकी गहराई या ऊंचाई है। यों जम्बूदीपके हिमवान और पुष्करार्धके हिमवान पर्वतका अन्तर स्पष्ट समझ लिया जाता है। मलें ही ढाई द्वीपमें छोटेसे जम्बूद्दीपको पूरा एक और विचारे पुष्करार्धको आधा गिन छो, " नाम बडे दर्शन थोडे "।

वर्षाद्वर्षश्वतुर्गुणविस्तार आविदेशत् । वर्षधराद्वर्षधरश्चा निषधात् । मातुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसंज्ञा, पुष्करद्वीपस्यार्धे हि पुष्करार्धमिति मोक्तं । अत्र धातकीखंडव-द्वर्षधराश्वकारवदवस्थितास्तदंतराळवद्वर्षाः। कालोदमानुषोत्तरश्चलस्पर्शिनाविष्वाकारगिरी दक्षि-णोत्तरी पूर्ववद्वेदितन्त्र्यो १पुष्करार्धवलयपूर्वापरविभागमध्यवर्तिनौ मेक चेति प्रपंचः सर्वस्य विद्यानन्दमहोदये प्रतिपादितोवगंतन्यः तदेवं-

पहिले क्षेत्रसे अगला क्षेत्र चौगुना चौडा है। विदेहपर्यन्त यह व्यवस्था समझना चाहिये और निषधपर्वतपर्यन्त पहिले वर्षधर कुलाचलसे अगिला वर्षधर पर्वत चौगुना चौडा है तथा उत्तर दक्षिण-वर्ती रचना तुल्य है। अर्थात्—पुष्करार्धके भरतसे हैमवत क्षेत्रकी चौडाई चौगुनी है और हिमवानसे

महाहिमवानकी चौडाई चौगुनी हैं, यह दशा विदेह और निषध या नील्पर्वततक है। परली ओर आधी आधी चौडाई होती चली गयी है । जंबूद्वीपमें तो भरत क्षेत्रसे हिमवान् पर्वतकी दूनी चौडाई थी । किन्त पष्करार्धके हिमवान पर्वत यथानिकट केवल दशवां भाग चौडा है, यानी दशमी गुणी हानिको लिये हुये हैं। धातकी खण्ड और पुष्करार्धके इष्टाकार और मन्दर मेरु उतने ही एकसे परिमाणवाले हैं। जंबूद्वीपमें जहां जंबूबृक्ष है, उसी रचनाके अनुसार पुष्करार्ध द्वीपमें परिवारसहित पृथ्वीकाय कमल अकृत्रिम बना हुआ है। इस ही कारण इस द्वीपका नाम पुण्कराधिद्वीप रूढ हो रहा है। पुण्कर द्वीपके ठीक बीचमें कं रूणके समान गोछ सत्रह सौ इक्कीस (१७२१) योजन ऊंचा इससे चौथाई चार सौ स्वातीस योजन गहरा दश सो बाईस (१०२२) योजन मूळमें चौडा सात सो तेईस (७२३) योजन मध्यमें चौडा और चार सौ चौत्रीस (४२४) योजन ऊपर चौडा मानुषोत्तर पर्वत पडा हुआ है। पुष्करार्घ द्वीपकी ओर भीतके समान एकसा उठ रहा है और परली ओर क्रमक्रमसे घटता हुआ शिखाऊ घनक या पीलपायेके समान ∧ खडा हुआ है। इस मानुषोत्तर पर्वत करके आधा विभाग प्राप्त हो जानेसे इस द्वीपकी " पुष्करार्घ " संज्ञा यथार्थनामा है। कारण कि पुष्कर द्वीपका आधा ही पुष्करार्ध है. यों निरुक्तिद्वारा अच्छा कह दिया गया है । यहां पुष्करार्ध द्वीपमें मी धातकीखंडके समान वर्षवर पर्वत तो पहियेमें अरोंके समान अवस्थित हैं और अरोंके अन्तराळ समान क्षेत्रमें भरत आदि वर्ष व्यवस्थित हैं। इस पुष्करार्धमें भीतरकी ओर कालोदधि समद्र और परळी ओर मानुषोत्तर पर्वतको स्पर्श कर रहे आठ लाख योजन दक्षिण उत्तर लम्बे पूर्वोक्त धातकी खण्डके चार लाख योजन लम्बे इष्वाकारोंके समान दो इष्वाकार पर्वत समझ लेने चाहिये । इनसे पुष्करार्थवळयके दो विभाग हो जाते हैं । पूर्व दिशा सम्बन्धी विभागके और पश्चिम दिशा सम्बन्धी विभागके मध्यमें वर्त रहे दो मेरु पर्वत हैं। मेरुओंपर चारों वन, पाण्डकशिला, अकृत्रिम चैत्यालय आदिकोंका वर्णन अधिक मनोहारी है। प्रण्यवान् जीवोंको उन चैत्यालयोंके दर्शनका सीभाग्य प्राप्त होता है। प्रष्करार्धमें गंगा, विजयार्ध, विभंगा, विदेह क्षेत्र, उत्तम भोग भूमियां आदिकी बडी सुन्दर रचना है। मानुषोंत्तरमें पुष्करार्ध सम्बन्धी नदियोंके निकलनेके द्वार हैं। उनमेंसे निकलकर परले पुष्करार्धमें बहकर नदियां पुष्कर समद्रमें मिल जाती हैं। इन सबका विस्तारसे प्रतिपादन हमने विद्यानन्द महोदय नामक महान् प्रन्थमें कर दिया है। विस्तार रुचिवाछे विद्वानों करके सम्पूर्ण विस्तृत रचनाकी वहांसे प्रतिपत्ति कर छेनी चाहिये। न्याय विषयकी प्रधानता होनेसे इस स्रोकवार्तिकमें आगमगम्य कतिपय सिद्धान्त विषयोंका ऊहापोह पूर्वक त्रिस्तृत वर्णन नहीं किया गया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर—जो निर्णीत हुआ उसको आगेकी वार्त्तिकमें सनी ।

> जम्बूद्वीपगवर्षादिविष्कंभादिरशेषतः । सदा द्विर्धातकीसंडे पुष्करार्धे च मीयते ॥ १॥

जम्बूद्दीपमें प्राप्त हो रहे क्षेत्र, पर्वत, आदिकोंकी चौडाई आदिक तो परिपूर्ण रूपसे धातकी खण्ड और पुष्करार्घ द्वीपमें गणना द्वारा दो बार सदा नापी जाती है। वार्तिकमें पडा हुआ सदा शद्ध तो जम्बूद्दीप, धातकीखण्डकी उक्त रचनाओंको अनादिनिधन घोषित कर रहा है। शेष मध्यलेक या ऊर्घ्यलेक, अधोलोककी, रचनाय भी अनादि, अनन्त हैं।

#### एकेनैकेन सूत्रेणोक्तं यथोदितसूत्रवचनात् ।

मध्यवर्ता छोटेसे जम्बूदीपका वर्णन पवीस सूत्रों द्वारा किया गया है। किन्तु " बाहिरसूईवर्गा अम्बन्तरसूइवरगपरिहीणं, जम्बूदीपको तित्रयमेत्ताणि खंडाणि " इस नियम अनुसार जम्बूदीपसे एक सी ववालीस गुने धातकीखण्डका और जम्बूदीपसे ग्यारह सी चौरासी गुने पुष्करार्ध द्वीपका निरूपण श्री उमास्वामी महाराजने एक एक सूत्र करके ही परिभाषित कर दिया है। अर्थात्—नामके मूंखे और शरीरसे बडे महाशय सदासे ही छोटे और महाले पदार्थोंके मालको हडप लेते चले आये हैं। इस लोकदक्ष स्वार्थी पुरुषोंकी नीति अनुसार जम्बूदीपके लिये महामना श्री उमास्वामी महाराज द्वारा दिये गये अमृतमय पच्चीस सूत्रोंके बहुभाग प्रमेयको बडे पेटवाले धातकीख़ब्ब और पुष्करार्ध द्वीपने भी झपट लिया है और अपने लिये प्राप्त हुये सूत्रोंका बांट रत्तीभर भी इन्होंने किसीको नहीं दिया है। "संस्तृती व्यवहारस्तु न हि मायावित्रर्जितः"। छोटोंका न्याय बडे करें। किन्तु वडोंका न्याय फिर कीन करें। वे न्यायरहित ही बचे रहते हैं। सच बात तो यह है कि समुद्रका जलपिण्ड छोटी छोटी बूंदो द्वारा ही निष्पत्त हुआ है। छोकमें बडण्पनकी स्पर्धा रखनेवाले पुरुषोंको छोटे छोटे पुरुषोंने ही वैसा बडा दिया है प्रकरणमें यह कहना है कि यथायोग्य पूर्ववर्ती पचीस सूत्रोंके निरूपणसे इन दो द्वीपोंकी स्थाति करनेमें बडे सहायता प्राप्त हो रही है।

### कस्मात् पुनः पुष्करार्धनिरूपणमेव कृतमित्याह ।

क्योंजी, फिर यह बताओ कि किस कारणसे पुष्कर द्वीपके आधेका ही निरूपण किया गया है। पूरे पुष्कर द्वीपमें क्यों नहीं भरत आदिकोंकी संख्या दूनी कही गयी है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिमसूत्रको कहते हैं।

# प्राञ्जानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३६ ॥

पुष्कर द्वीपके ठीक बीचमें पडे हुये मानुषोत्तर पर्वतसे पहिले पहिले ही मनुष्य हैं। मानुषोत्तर के परली और मनुष्य नहीं हैं। अतः पुष्करार्घतक ही इस मनुष्य लोकसे मोक्षमार्ग न्यवस्था चालू रहती है। मानुषोत्तर पर्वतसे परली ओर विद्याधर या ऋदि प्राप्त मनुष्य भी सिवाय उपपाद और समुद्धात अवस्थाके बाहर नहीं पाये जा सकते हैं। विर्यक्लोक या अध्योजीक या कर्चलोकसे आकर मनुष्य लोकमें जन्म लेनेवाले जीवके विग्रह गातिमें षृष्ठिले समय मनुष्य आयुक्ता उदय है। वह उपपाद

अवस्था है। मनुष्य क्रोकका मनुष्य जीय बाहर जाकर मारणान्तिक समुद्धात या केवळी समुद्धात करते हुये नृक्षोक्तसे बाहर भी चळा जाता है। अन्यदा नहीं।

#### न परतो यस्मादित्यभिसंबंधः। मनुष्यलोको हि मतिपाद्यितुमुपक्रांतः स चेयानेव।

जिस मानुषोत्तर पर्वतसे परळी ओर मनुष्य नहीं हैं, द्वीपोंमें केवळ तियंच ही पाये जाते हैं, उन द्वीपोंमें जवन्य भोगभूमिकीसी रचना है। हां, सबसे परळी ओरका आधा द्वीप और पूरा स्वयम्भू-रण समुद्र तथा त्रसनाळी तक चारों कोने, यहां कर्मभूमि की रचना है। स्वयम्भूरमण द्वीपके उत्तरार्ध स्थळ भागमें पांचवे गुणस्थानको धारने वाळे भी असंख्याते तियंच यहां पाये जाते हैं। चूंकि इस प्रकरणमें मनुष्य छोककी प्रतिपत्ति करानेके छिये उपक्रम चलाया गया है। अतः वह मनुष्य छोक तो पुष्करार्ध द्वीपपर्यंत पैंतालीस छाख योजन परिमाणवाळा इतना ही है।

#### यद्येवं किंपकारा मनुष्यास्तत्रेत्याइ।

कोई प्रश्न करता है कि यदि इसी ढंगसे मनुष्य छोककी व्यवस्था है तो बताओ उस ढाई द्वीपमें रहनेवाले मनुष्य कितने प्रकारके हैं ? ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं |

### आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३७ ॥

आर्य और म्लेच्छ यों दो प्रकारके मनुष्य हैं। भावार्थ—यद्यपि संमूच्छन मनुष्य भी इन पर्याप्त मनुष्योंसे असंख्यातें गुणे अधिक इस जगत्में हैं। तथापि भूमिपर गमन करनेवाले या आकाशमें उडनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा मानुषोत्तर पर्वतका उल्लंघन जो नहीं कर सकें ऐसे जीवोंकी विवक्षा अनुसार उक्त दो भेद ही मनुष्योंके किये हैं। संमूर्छन मनुष्य भी यदि देवों द्वारा पकड कर ले जाये जाय तो मानुषोत्तर पर्वतका उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। संमूर्छन मनुष्य तो इन पर्याप्त मनुष्योंके आश्रित होकर ही ठहरते हैं। अतः आर्य खण्डमें उपजी हुई कतिषय क्षियोंके निरूपणके समान ये गतार्थ हो जाते हैं। वस्तुतः यह पर्याप्त मनुष्योंका ही स्पूत्रण है। जिस प्रकार विजलीके प्रवाह (करेन्ट) वाले तारको सर्वाङ्ग छूते हुये परली ओर मनुष्यका जाना नहीं हो सकता है, उसी प्रकार बलात्कारसे मानुषोत्तरके परली ओर जानेपर मनुष्य शरीर कट कर, टूट फटकर, वहीं गिर पडेगा। आगे नहीं जा सकेगा।

#### एतदेव मरूपयति ।

इस है। सूत्रकारके अभीष्ट सिद्धान्तको श्री विधानन्द स्वामी वार्त्तिक द्वारा कहे देते हैं।

प्राचानुषोत्तराद्यस्मान्मनुष्याः परतश्च न । आर्या म्छेन्छाभ ते द्वेयास्ताद्यकर्मबलोद्धवाः॥ १ ॥ जिस कारणसे कि मानुवोत्तर पर्वतसे पहिले पिहले ही ढाई द्वीपमें मनुष्य हैं, किन्तु मानुवोत्तरके परली और मनुष्य नहीं हैं। तिस प्रकारके कर्मकी सामध्यीसे उत्पन्न हुये ने मनुष्य आर्य और म्लेष्ड समझ लेने चाहिये।

### उचैर्गोत्रोदयादेरायी, नीचैर्गोत्रादेश्व म्लेच्छाः।

तिस तिस प्रकारके पौद्रविक कर्मी अनुसार आर्य अथवा म्लेच्छ मनुष्य उपज जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि संतान क्रमसे चले आ रहे उच्च आचरणके सम्पादक उच्चगोत्रका उदय हो जानेसे अथवा क्षेत्र, जाति, कर्म, आदिकां व्यवस्था अनुसार या गुणसेव्यता, भोगभूमि सम्बन्धी मनुष्य शरीर, आदि कारणोंसे आर्य मनुष्य हो जाते हैं । तथा नीच आचरणके सम्पादक नीच गोत्रका उदय, कुभोगभूमि या म्लेच्छ खण्डोंमें उत्पत्ति, नीच क्रियायें निर्करण भाषण आदि निर्मित्तोंसे म्लेच्छ मनुष्य हो जाते हैं। मावार्थ-एर्वत्र अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे ही प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति हो रही है। यद्यपि धोबी, नाई, छहार, कुम्हार, आदिक शिल्पकर्मी आर्यीके शृद्ध होनेके कारण नीच गोत्रका उदय माना गया है। तथा म्डेच्छ खण्डोंके मनुष्योंको भी संयमकी प्राप्ति हो सकनेके कारण उच्चगोत्रका उदय मानना पडेगा । क्योंकि " देसे तादियकसाआ णीचं एमेव मणूस सामणो " पांचवें गुणस्थानमें नीच गोत्रकी उदयन्युच्छित्ति हो जाती है तथापि बहुभाग आर्थ मनुष्योंकी अपेक्षा उद्यगोत्रका उदय और बहुभाग म्हेच्छोंकी अपेक्षा नीच गोत्रका उदय मानना पडता है। राजवार्त्तिकमें नाऊ, धोबी, कुम्हार, को आर्योमें गिना है और लिभ्सार प्रन्थमें सकलसंयम लिभको धारनेवाले स्वामियोंके मेदका निरूपण करते समय '' तत्तो पडिवन्ज गया अन्जमिलेन्छे मिलेन्छ अन्जेय । कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा '' इस गाथाकी टीकामें यों छिखा है कि '' म्लेन्क्रमुमिजमनुष्याणां सकल-संयमप्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितन्यं, दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्थखण्डमागताना म्लेच्छ-राजानां चत्रवर्त्यादिभिः सहजातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात अथवा तत्कान्यकानां चक्रवर्त्रादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पनस्य मातृपक्षापेक्षया म्छेच्छ व्यपदेशमाजः संयमसंभवात् तथाजातीय-कानां दीक्षाईत्वे प्रतिषेधाभावात् ''। म्लेच्छ भूमिमें उत्पन्न हुये मनुष्येंक सकल संयमका प्रहण कैसे सम्भवता है ! यह आशंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि दिग्विजय करते समय चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें चले आये और चक्रवर्ती, मण्डलेस्वर, आदिके साथ जिनका वैवाहिक सम्बन्ध हो गया है, अपनी या उनकी कन्यायें छे छी, दे दीं, गई हैं, ऐसे म्छेच्छ राजाओंक संयमछिश्यकी प्राप्ति हो जानेका कोई विरोध नहीं है अथवा चक्रवर्ती आदिके साथ परिणाई गई कन्याओंक गर्भोमें उत्पन हुये इन म्लेन्छ नामधारी मनुष्योंके सकलसंयम सम्भव जाता है। तिस प्रकारकी जातिवाले म्लेन्छ मन्ष्योंकी दीक्षा योग्यतामें कोई प्रतिषेध नहीं है। सागारधर्मामृतमें " शृहोत्युपस्कराचार वपु:-ग्रुप्याऽस्तु ताहराः, जात्या धीनोऽपि कालादिल्ब्यो ह्यात्मास्ति धर्मभाक् " । लिखा है श्री समन्त-भद्राचार्यने " सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्, देवा देवं विदुर्भस्मगृद्धाङ्गारान्तरौजसम् " यो

रलकरण्ड श्रायकाचारमें घोषित किया है। श्री रिवर्षणाचार्यने प्रमुराणमें "न जातिर्गर्हिता काचिद्
गुणाः कल्याणकारणम्, वतस्थमि चांडालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः " किला है। श्री अकलंकदेवने
राजवार्तिकमें दशों प्रकारके सम्यग्दर्शनको धारनेवाले जीवोंको "दर्शनार्य " कहा है। ऐसी दशामें शृद्ध
या तिर्येच अथवा म्लेच्छ भी आयोंमें गिने जा सकते हैं। किन्तु सम्पूर्ण तिर्यचोंके भले ही वे उत्तम
मोगभूमियां क्यों न हो, श्री गोम्मटसारमें नीच गोत्रका ही उदय माना गया है। शृद्धोंके भी नीच
गोत्रका उदय है। साथमें " जातिगोत्रादिकर्माणि श्रुक्लच्यानस्य हेतवः, येषां स्युस्ते त्रयो वर्णाः शेषाः
शृद्धाः प्रकीर्तिताः " यह सिद्धांत भी जागरूक है। सर्वया म्लेच्छोंकेसे व्यवहारमें लवलीन होरहे यवन,
खुरपल्टा, कसाई, चर्मकार, आदिको क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य कहा जा रहा है। शृद्ध, श्रावक या तिर्येच
श्रावकको अल्प सावष कर्मा आयोंमें गिनाया है। ऐसी पर्यालोचना करनेपर यह प्रतीत होजाता है कि
आयोंके उच्चगोत्रका उदय और म्लेच्छोंके नीचगोत्रका उदय मानना बाहुल्यकी अपेक्षा स्वरूप कथन
मात्र है। लक्षण नहीं है। विशेषज्ञ विद्वान इस पर और भी अधिक विचार कर सकेंगे।

प्राप्तद्वितरभेदेन तत्रायां द्विविधाः स्मृताः । सद्गुणेरर्यमाणात्वाद्गुणवद्भिश्च मानवेः ॥ २ ॥ तत्र प्राप्तद्वयः सप्तविधार्थमधिसंसृताः । बुद्ध्यादिसप्तधा नाना विशेषास्तद्विशेषतः ॥ ३ ॥

उन मनुष्योंमें आर्य मनुष्य तो ऋदि प्राप्त और इतर यानी " जो ऋदि प्राप्त नहीं हैं " इन दो भेदों करके दो प्रकारके आम्नाय द्वारा माने गये हैं । आर्यशद्धकी निरुक्ति इस प्रकार है कि समीचीन गुणों करके अथवा गुणवान् मनुष्यों करके जो सेवित होरहे हैं, इस कारण वे सेवनीय पुरुष आर्य मनुष्य कहे जाते हैं । उन आर्योंमें ऋदियोंको प्राप्त होचुके मनुष्य तो सात प्रकारकी ऋदियों पर अधिकार करते हुये ऋदियोंसे संगत होरहे हैं । अपने अपने उन भेद प्रभेदोंसे अनेक विकल्पोंको धार रहीं वे ऋदियां बुदि ऋदि, तप ऋदि, आदि सात प्रकार है ।

ऋदिमाप्तार्थाः सप्तविधाः सप्तविधिमासता हि ते । सप्तविधिधः पुनर्बुध्धादिस्तथाहिबुद्धितपोविकियोषधरसवलाक्षीणर्द्धयः सप्तं प्रज्ञापिताः नाना विश्वेषाश्च पाप्तर्धयो भवंत्यार्थास्तदिश्वेषात् । बुद्धिविशेषधिमाप्ता हि बीजबुध्धादयः, तपोविश्वेषधिमाप्तास्तप्तरपःमसृतयः, विकियाविशेषधिमाप्ता एकत्वविकियादिसमर्थाः, औषधिवशेषधिमाप्ताः जल्लोषधिमाप्तादयः, रसिधमाप्ताः शीरस्ताविशसृतयः, बल्लविश्वेषधिमाप्ता मनोबल्पमसृतयः, अक्षीणिवशेषधिमाप्ताः पुनरक्षीणमहाल्यादय इति । अन्ये त्वादुः ऋदिमाप्तार्था अष्टिविधाः बुद्धिकियाविकियातपोवलेषधरसस्वेषभेदादिति । ते कृतः संभान्या इत्याह ।

जब कि वे ऋदियों को प्राप्त होन्द्रके आर्य सात प्रकारकी ऋदियों के आश्रय होरहे हैं, इस ई कारण सात प्रकारबाटे माने गये हैं । सात प्रकारकी बुद्धि आदिक ऋद्वियां तो फिर यह हैं। उन हीके मंचकार दिखलाते हैं। बुदिऋदि, तपऋदि, विकियाऋदि, औषवऋदि, रसऋदि, वलऋदि, अक्षीणऋदि, ये नाना प्रमेदवाली सात ऋदियां अच्छी जतायीं गयीं हैं । उन ऋदियोंकी विशेषतासे आर्य ऋदिको प्राप्त कर चके होजाते हैं। बुद्धिऋदिके विशेष भेद हो रहीं बीजऋदि, कोष्ठऋदि, आदिको प्राप्त हो रहे आर्ट हैं। इस कारण वे बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारी, संभिन्नश्रोता, आदि माने जाते हैं तथा तपोन्हांद्धिने विकल्प हो रहीं उप्रतप, दीप्ततप, तप्तऋदि आदिको प्राप्त हुये आर्य तप्ततपाः, महाघोरतपाः, उप्रतपाः, आदिक कहे जाते हैं और विक्रियाके विशेष हो रहीं ऋदियोंको प्राप्त हुये आर्य एकत्वविक्रिया, आणिमा, महिमा, गरिमा, आदि क्रियाओं को करनेमें समर्थ हो रहे स्मरण किये गये हैं एवं औषध ऋदिके विशेष अंशोंको प्राप्त हो चुके आर्य जल्लीषधिप्राप्त, मलीषधिप्राप्त, दृष्टिविष, आदि गाये गये हैं। रस ऋदिको प्राप्त हो रहे आर्य तो क्षीरास्त्रवी, मध्यास्त्रवी, आदिक्र हैं। मनोबछी, वचनबछी, आदिक आर्य जिनागममें बलके विशेष हो रहीं ऋदियोंको प्राप्त हुये सनझे गये हैं। अक्षीण ऋदिके विकल्प होरहीं ऋदियोंको प्राप्त कर चुके आर्य मुनि फिर अक्षीण महालय आदिक बोले गये हैं। इस प्रकार ऋदि प्राप्त आयोंके सात मेद हैं | दूसरे श्री अकलंक देव प्रमृति आचार्य ऋदि प्राप्त आयोंको आठ प्रकार स्वीकार करते हैं। वे आठ प्रकार बुद्धिऋदि, कियाऋदि, विकियाऋदि, तपऋदि, बल्ऋदि, औषधऋदि, रसऋदि, क्षेत्रऋदि इन आठ भेद बाली ऋदियों के धारनेसे होजाते हैं। अर्थात -- उन सातोंका इन आठोंसे अविरोध है। कियाऋदिका विक्रिया ऋदिमें ही अंतर्भाव कर छिया जाता है। अक्षीण ऋदि और क्षेत्रऋदिका अभिप्राय एक ही है। प्रवक्ताओंकी वचनभंगी अनुसार भेद करनेमें शद्धकृत अंतर मछे ही पड जाय, अर्थमें कोई अंतर नहीं है। चाहे अनुमानके प्रतिज्ञा, हेतु ये दो अवयव मान लिये जांय अथवा पक्ष, साध्य, हेतु, ये तीन अंग मान लिये जाय एक ही ताःपर्य बैठता है। किसीका प्रश्न है कि वे ऋदियां या ऋदिधारी आर्य भला किस प्रमाणसे निर्णीत होकर संभावना करने योग्य हैं ? प्रत्यक्ष प्रमाणसे अत्र, अधना, ऋद्विधारी मनुष्योंके दर्शन होना दर्रुभ है। एक बात यह भी वंछनी है कि अष्ट महानिभित्तका ज्ञान अण शरीर बना छेना, मेरुसे भी बडा शरीर बना छेना छोटेसे स्थानमें असंख्य जीवोंका निर्बाध बैठ जाना इत्यादिक ऋदियोंकी शक्तियां कैसे समझ छी जांय ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचेनको कहते हैं।

### संभाव्यंते च ते हेतुर्विशेषवशवर्तिनः । केचित्प्रकृष्यमाणात्मविशेषत्वात्प्रमाणवत् ॥ ४ ॥

बे ऋदिको प्राप्त हुये कितने ही एक आर्य (पक्ष ) अपने अपने विशेष हेतुओंकी अधीनतासे क्त रहे संते संमावित होरहे हैं ( साध्य ) तारतम्य मुद्रा अनुसार प्रकर्षको प्राप्त होरहे अपने अपने विशेष

स्वरूपोंका भारक होनेसे ( हेतु ) लम्बाई, चौडाई, मोटाई, रूप विशेषताओंको भारनेवाले परिमाणके समान (अन्वयद्दर्धान्त) अधवा प्रमाण ज्ञानके समान । अर्थात् -- जैसे परपदार्थीकी अपेक्षा न्यून होते होते और आत्म विराद्धिके बढते बढते जैसे ज्ञानमें प्रमाणता बढती जाती है. उसी प्रकार जीवोंमें ऋदि राक्तियां भी बढ़ती जाती हैं। थीडे थीडे ज्योतिषविद्या, भूशास्त्र, स्वरशास्त्रके, जाननेवाले आजकल भी पाये जाते हैं। एक विचार्थी पहिली बार अष्टसहसीको छह महीनेमें पढता है। पनः पाठको विचारता हुआ पन्द्रह दिनमें हृदयंगत कर छेता है । पश्चात् परिशींकन करता हुआ चीर ही दिनमें पूरे अष्टसहस्री प्रन्थका अनुगम कर लेता है। यों अन्यास करते हुये वह छात्र परीक्षा कीलमें अष्टसहस्रकि प्रमेयको अन्तर्महर्त्तमें ही अनुगत कर छेता है। कबूतर, बिच्छके मछ। मूत्रमें, कितनी ही ळाभदायक राक्तियां हैं। हर्ष अवस्थामें या व्यायाम करनेपर रारीर फळ जाता है । चिन्ता, शोक, अवस्थामें शरीर कृष हो जाता है । शारीरिक वांयको वशकर प्राणायाम द्वारा कतिपय चमकार दिखा दिये जाते हैं । आकाश या जलमें मनुष्यका चलना बन सकता है । अनेक जीवींका वशमें कर लेना कोई अशक्य नहीं है । कई साधुओं की घोर तपस्या प्रसिद्ध है। मांत्रिक, तांत्रिक, पुरुषों के देखने मांत्रसे कतिपय विष उतर जाते है। हां, उत्कट तपस्यावोंकी आचरनेवाले आर्य मुनियोंके उक्त ऋदियां अल्य-धिक रूपसे वट जाती हैं। जो अतिशय क्रम क्रमसे वट रहा है। वह आकाशमें परिमाणके समान पूर्ण प्रकर्षताको भी प्राप्त कर लेता है । जब कि जड पदार्थ ही विकान प्रयोग अनुसार अनेक चम-त्कारोंको कर रहे हैं, तो अनन्तराक्तिवाले आत्माकी ऋदियोंके साधनेमें कोई संशय नहीं रह जाता है।

यथा परिमाणमापरमाणोः प्रकृष्यमाणस्वरूपमाकाञ्चे परमप्रकर्षपर्यतमाप्तं सिद्धयत्तिंत-रास्त्रे अनेकथा परिमाणमकर्षे साथयित तथा सर्वजघन्यज्ञानादिग्रणिधिविशेषादारभ्यिधिविशेषः प्रकृष्यमाणस्वरूपं परमप्रकर्षपर्यतमाप्त्रवश्चंतरास्त्रिधिविशेषप्रकर्षे साथयतीति संभान्यंते सर्वे बुध्य-तिश्चयिविशेषादयः परमागममसिद्धाश्चेति न किंचिद्तुपप्रश्चं। के पुनरसंप्राप्तर्थय इत्यावेदयित ।

जैसे कि प्रत्येक द्रव्यमें पाये जा रहे प्रदेशवत्त्व गुणका विवर्त लम्बाई, चौडाई मोटाई, रूप परिमाणसे जैसे एक प्रदेशी परमाणुसे प्रारम्भ कर अपने अपने शनैः शनैः बढ रहें स्वरूपको धार रहा सीमापर्यन्त पहुंचकर आकाशमें परमप्रकर्षको प्राप्त हो चुका सिद्ध हो जाता है और उसके अन्तरालमें पाये जानेवाले अनेक प्रकार परिमाणोंके प्रकर्षको साध देता है। अर्थात सबसे छोटा परिमाण परमाणुका है और आकाशका सबसे बडा नाप है। विचले घट, गंगानदी, जम्बूदीप, स्वयंभूरमण समुद्र, लोकाकाश ये मध्यम परिमाणवाले हैं। उस ही प्रकार सबसे छोटे लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीवके जधन्यक्षान, अत्यत्य कायबल, आदि गुणस्वरूप ऋदि विशेषोंसे प्रारम्भ कर बुद्धि, बल, आदि ऋदियोंके विशेष मला अपने बढ रहे स्वरूपके पश्म प्रकृष पर्यन्त प्राप्त हो रहे सन्ते अन्तराल-वर्ती ऋदियोंके विशेषोंके प्रकृषको साथ देते हैं। इस इंगिस समी बुद्धिका लिसिश्म रूप किरोष ऋदि या

विक्रिया विशेष ऋदि, बळ ऋदि, आदिको धारनेवाले आर्य मनुष्य सम्भावित हो रहे हैं। यों अनुमानसे ऋदिधारी मनुष्योंकी सिद्धि हो रही है। तथा सर्वज्ञ आम्नायसे प्राप्त हुये सर्वेत्लिष्ट आगम प्रमाण हारा भी ऋदिप्राप्त आर्य प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार कोई भी ऋदि या ऋदिधारियोंकी अनुपपित नहीं है। यहां कोई पुनः प्रश्न उठाता है कि ऋदिप्राप्त आर्य मनुष्योंको हम निणीत कर चुके हैं। अब महाराज फिर यह समझाइये कि वे ऋदियोंको मले प्रकार श्राप्तिसे रहित हो रहे आर्य मला कौनसे मनुष्य हैं १ इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधानका विश्वापन करते हैं।

### असंप्राप्तर्थयः क्षेत्राद्यार्था बहुविधाः स्थिताः । क्षेत्राद्यपेक्षया तेषां तथा निर्णीतियोगतः ॥ ५ ॥

ऋदियोंकी सम्प्राप्तिसे रीते हो रहे दूसरे आर्थ तो क्षेत्र आर्य, जाति आर्थ, इत्यादिक बहुत भेद, प्रभेदवाले व्यवस्थित हो रहे हैं । क्षेत्र, कर्म, आदिकी अपेक्षा करके उन मनुष्योंका तिस प्रकार क्षेत्रसे आर्थ, जातिसे आर्थ, आदि स्वरूपोंकरके निर्णय हो जानेका योग मिल रहा है ।

क्षेत्रार्या, जात्यार्याः, कर्मार्योश्वारित्रार्या, दर्शनार्याश्वेत्यनेकविधाः,क्षेत्रायपेक्षया अरुद्धि-माप्तार्याः मत्यतच्या तथाः,प्रतीतियोगातु ।

क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य, दर्शनार्य, इस ढंगसे क्षेत्र आदिककी अपेक्षा करके अनेक विकल्पवाले ऋदि प्राप्तिसे सून्य हो रहे आर्य समझ लेने चाहिये। क्योंकि तिस प्रकारकी प्रतीतियोंका योग पाया जा रहा है। अर्थात्—इस आर्यखण्डमें काशी देश, अवध्यान्त, विहार प्रदेश, आदिमें जन्म लेकर वस रहे मनुष्य तो क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य हैं। इक्ष्तानुतंश, नाथवंश आदि कुलोंमें उत्पन्न हुये पुरुष जाति अपेक्षा आर्य हैं। पाप कर्मा, अल्प पाप कर्मा और निष्पाप कर्मा, की अपेक्षा कर्मायोंके तीन भेद हैं। यों—अध्ययन, अध्यापन, असि, मषी, आदि कर्मोंके अनुसार ब्राह्मण, क्षित्रिय, वैश्य, शृद्ध वर्णवाले मनुष्य या श्रावक, मुनि, भी कर्म आर्य हैं। चारित्र पालनेकी अपेक्षा ग्यारहवें, बारहवें, गुणस्थानवर्त्तां मनुष्य अथवा अन्य भी चारित्रवान पुरुष चारित्र आर्य हैं। दश प्रकारके सम्यग्दर्शनको धारनेवाले दर्शन आर्य हैं।

### के पुनर्म्छच्छा इत्याह ।

आयोंकी प्रतिपत्ति हो चुकनेपर कोई शिष्य पूंछता है कि फिर म्लेच्छ मनुष्य कौनसे हैं ! यों जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिमवार्तिक द्वारा समाधान वचनको कहते हैं ।

> तथान्तर्द्वीपजा म्लेच्छाः परे इस्युः कर्मभूमिजाः। आद्याः षण्णवतिः स्याता वाधिद्वयतटद्वयोः ॥ ६ ॥

तथा अंतद्वीपोमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ हैं और उनसे न्यारे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये तिस प्रकारके दूसरे म्लेच्छ मनुष्य हैं। आदिमें कहे गये अंतद्वीपवासी म्लेच्छ तो छवण, कालोदिध, दोनों समुद्रोंके मीतरले, बाहरले, उमय तटोंपर बने हुये छियानवें अंतद्वीपीमें निवास कर रहे बखाने गये हैं।

म्लेच्छा द्विविधाः अंतर्द्वीपजाः कर्मभूमिजाश्च । तत्राद्यास्तावल्लवणादस्योभयोरष्ट्रचत्वा-रिञ्चत् तथा काळोदस्य इति वण्णवितः ।

म्लेच्छ दो प्रकारके हैं । एक अंतर्द्वापोंमें उत्पन्न हुये और दूसरे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ हैं। उन दोनों भेदोमें आदिमें कहे गये मनुष्य तो छवणसमुद्रके दोनों तटोंपर अडताछीस द्वीप और तिस ही प्रकार कालोदिय समुद्रके दोनों तटोंपर जलमें उभर रहे अडतालीस द्वीप यों कियानवै द्वीपोंमें निवास कर रहे हैं। एक एक डीपमें लाखों म्लेच्छ निवास करते हैं। मावार्थ-जंबूद्वीपकी वेदीसे तिरछा चलकर आठ दिशा, विदिशाओंमें लवण समुद्रमें भीतर आठ अंतरद्वीप हैं और उनके बीच बीचमें आठ न्यारे द्वीप हैं एवं हिमनान पर्वतके दोनों ओर, शिखरी पर्वतके दोनों ओर, दो विजयाधींके दोनों ओर, यों आठ द्वीप अन्य भी हैं। लगग समुद्रके बाहरले पसनाडेमें भी इसी प्रकार चौनीस द्वीप बन रहे हैं। दिशाओंमें बने द्वये द्वाप तो रहवेदिकासे तिरछे पांचसी योजन समुद्रमें घुसकर सी योजन विस्तारवाले हैं तथा विदिशा और अंतरालोंमें बने हुये द्वीप तो जंबूद्वीपकी वेदीसे तिरका साढे पांच सौ योजन जानेपर पचास योजन विस्तारवाले हैं। पर्वतोंके अंतमें जो द्वीप माने गये हैं वे छह सौ योजन समुद्रमें उरलीपार और परलीपारसे घुसकर पद्मीस योजन विस्तारवाले निर्मित हैं। इसी प्रकार कालोद्धि समुद्रमें भी अडतालीस द्वीप बने हुये हैं । अंतर इतना ही है कि धातकीखंडके हिमवान पर्वत और उसके निकटवरीं विजयार्थ दोनोंकी रेखाओंके अनुसार कालोद्धिमें एक अंतरद्वीप है। इस ही रेखा अनुसार परली ओर एक द्वीप है यही दशा शिखरीपर्वत और उसके विजयार्वके संब-धमें लगा लेना चाहिये। इन अंतर द्वीपोंमें पूंलवाले, सींगवाले, गूंगे आदि कई विकृत आकृतिओं की धार रहे म्लेच्छ मनुष्य निवास करते हैं। ये द्वीप जलतलसे एक योजन उंचे उठे हुये हैं। इन द्रीपोंको कुभोगभूमिमें भी कह दिया जाता है।

ते च केचिद्रोगभूमिसममणिषयः परे कर्मभूमिसममणिषयः श्र्यमाणाः कीदगायुक्त्सेष-

तथा वे म्छेच्छ कोई कोई तो द्वीपवर्तिनी भोगभूमियोंकी समान रेखा अनुसार निकटवर्ती होरहे हैं और कोई दूसरे अंतर्द्वीपवासी म्छेच्छ जो कि कर्मभूमियोंके निकटसमकोटीपर बने हुये अंतर्द्वीपोंमें निवास कर रहे सुने जा रहे हैं। किसीका प्रश्न है कि मछा उनकी आयु या शरीरकी ऊंचाई तथा प्रश्नित्यां किस प्रकारकी है १ ऐसी प्रतिपित्सा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचनका व्याख्यान करते हैं।

### भोगभूभ्यायुरुत्सेधवृत्तयोभींगभूमिभिः । समप्रणिधयः कर्मभूमिवत्कर्मभूमिभिः ॥ ७॥

भोगभूमियोंकी समरेखापर निकटवर्ती बन रहे अन्तर्द्वीपोंमें निवास करनेवाले म्लेच्छ तो भोगभूमिवाले जीवोंके समान आयुष्य, ऊंचाई और प्रवृत्तिको धार रहे हैं तथा कर्मभूमियोंकी निकटवर्तिनी समरेखापर लवणसमुद्र या कालोदिधमें बने हुये अन्तर्द्वीपोंमें निवास कर रहे म्लेच्छोंकी आयु या शरीरकी ऊंचाई तथा भोजनादिकी प्रवृत्तियां कर्मभूमिवाले जीवोंकी आयु, ऊंचाई, और प्रवृत्तियोंके समान है। किन्तु कर्मभूमिके समान उन म्लेच्छोंमें देशव्रत या महावंत नहीं पाये जाते हैं।

भोगभूमिभिः समानप्रणिधयोंतर्द्दीपजा म्लेच्छा भोगभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयः प्रतिपत्तव्याः, कर्मभूमिभिः समप्रणिधयः कर्मभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयस्तथा निमित्तसन्त्रावात् ।

मोगभूमियोंकी समाननिकटतावाले अन्तद्विपोंमें उपजे हुये म्लेच्छ तो उन उन मोगभूमियोंके जीवोंकी आयु, ऊंचाई, प्रवृत्तिके समान आयुष्य उच्चता, प्रवृत्तियोंको धार रहे समझ लेने चाहिये। और कर्मभूमियोंकी समप्रणिधिवाले म्लेच्छ तो उस कर्मभूमिमें नियत हो रही आयु, ऊंचाई, प्रवृत्तियोंके अनुसार आयु, रारीरेत्सेध, और प्रवृत्तियोंको धार रहे हैं। क्योंकि तिस प्रकारके निमित्त कारणों का सद्भाव है। कारणके विना किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। जैसे पुण्य, पाप, उन भोगभूमि या कर्मभूमिमें जन्म ले चुके मनुष्योंके हैं, उस ही प्रकारके कुछ न्यूनाधिक पुण्य, पाप, उन उन भूमियोंके निकटवर्त्ती अन्तरद्वीपोंके निवासी म्लेच्छ मनुष्योंमें भी पाये जाते हैं। जैसा कारण होगा वैसा कार्य बन जायगा, यह निर्णीत सिद्धान्त है।

### अथ के कर्मभूमिजा म्केच्छा इत्याह ।

अब इसके अवन्तर कोई प्रश्न पूछता है कि दोनों प्रकारके आयौंको मैं समझ चुका हूं, दें प्रकारके म्लेन्डोंमें अन्तर दीपके म्लेन्डोंकी प्रतिपत्ति भी की जा चुकी है। अब महाराज, यह बतलाओं कि दूसरे प्रकारके कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेन्ड भला कीन है ? इस प्रकारकी जिह्नासा होनेपर प्रमानकार अभिन वार्किक द्वारा उत्तर कहते हैं।

### कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः । स्युः परे च तदाचारपालनाद्वहुधा जनाः ॥ ८॥

और वे दूसरे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेष्क तो यवन, शवर, पुलिन्द, किरात, वलर, आदिक असिद्ध ही हैं, जो कि बहुत प्रकारके चाण्डाल आदि मनुष्य उन म्लेष्क्रोंके आचारको पालनेसे म्लेष्क्र ही समझे जाते हैं। अर्थात्—जिन जातियोंमें मध, मांस, आदिक कुक्रमोंसे घूणा नहीं है, धर्म,

अधर्में, या भक्ष्यं, अभक्ष्यका, विवेक नहीं हैं, वर्णाश्रमें व्यवस्था नहीं हैं, धर्मको वर्त समझ कर नहीं पाउँत हैं, उन जातियोंके मनुष्य भन्ने हीं क्षेत्र आर्य क्यों न हींयं, क्लेक्लोंमें हैं। परिगणित किये जाते हैं।

### कुतः पुनरेवपार्यम्क्षेच्छव्यवस्थत्याइ ।

महाराज, फिर यह बताओं कि जगत्में मनुष्योंके इस प्रकार आर्यपन या म्लेष्क्रंपनकी व्यवस्था मला किस कारणसे नियत हो रही हैं ? यों जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज समाधान वच-नको कहते हैं।

> संप्रदायाव्यवच्छेदादार्यम्लेच्छव्यवस्थितिः । संतानेन विनिश्चेया तद्विद्विव्यवहारिभिः ॥ ९ ॥ स्वयं संवेद्यमाना च गुगदोषनिवंधना । कथंचिदनुमेया च तत्कार्यस्य विनिश्चयात् ॥ १० ॥

सन्तानक्रम अनुसार उन आर्य या म्लेन्क पुरुषोंको जाननेवाले न्यवहारी मनुष्यों करके सम्प्र. दायका नहीं ट्रटना होनेसे आर्य और म्लेच्छ मतुष्योंकी व्यवस्थाका सैतान प्रतिसंतान रूपकरके विशेषतया निर्णय कर लेना चाहिये। यों बृद्धपरम्पराप्त चले आ रहें आप्तबाक्यों द्वारा मनुष्योंमें आर्यपन या म्लेक्क्रपन हा नियत बना रहना जान लिया जाता है तथा प्रस्यक्ष द्वारा भी गुण और दोषों को कारण मानकर हुई आर्यन्यवस्था या म्लेन्छन्यवस्थाका स्वयं सम्बेदन किया जा रहा है। जिन पुरुषोंमें धर्म प्रमित्र वार, असि, मबी, आदि प्रवृत्तियां, गुरुविनय, पापभीरुता, आदि गुण है, वे आर्य मनुष्योंके यहां अपनी अपनी आत्मामें आर्य मनुष्य अनुभवे जा रहे हैं। धर्म कर्मको स्वीकार नहीं करना, आस्तिकोंकी निन्दा, मध मांस आदिका सेवन आदि दोष जिन मनुष्योंमें हैं. वे जातियां स्वयं अपनेको म्लेन्छरूपते सम्वेदन कर रही हैं। तथा उन आर्य मनुष्य और म्लेन्छ मनुष्योंके अध्यभिचारी कार्यों का विशेषतया निश्चय हो जानेसे आर्यप्लेच्छ्रप्यवस्था किसी ढंगसे अनुमान द्वारा भी जानी जा सकती है । यों आगमप्रमाण प्रत्यक्षप्रमाण या अनुमान प्रमाणसे जगत्में आर्थ. म्लेक्क्रियवस्था नियत हो रही ज्ञात कर ली जाती है। जब कि आम्रफल, चावल, गेंहू, घोडा, बैल, कब्तर, आदिकी निकृष्ट और प्रकृष्ट जातियों का परिचय हो रहा है तो विशेषन्नों करके आर्थ, म्लेच्छ न्यवस्थाका निर्णय भी सुलभ है । यदि दूर देशके मनुष्य या मायाचारी मनुष्यके आर्यल अथवा म्छेन्छत्वका किसी व्यक्तिको निर्णय नहीं होय ती यह उस व्यक्तिकी प्रशाका दोष है। आर्यत्व. ्रिक्टेन्क्रच, परिणातिओंमें कोई ब्रिटि नहीं है 1 अनुमयगंग्य या प्रत्यक्षज्ञानीगम्य अनेक सुरूप विषयोंमें अल्पहोंको अहान या जान्ति हो जाती है।

न संप्रदायाच्यवच्छेदोऽसिद्धस्तद्विदां नास्तिकसंपदायाच्यवच्छेदवत्, नाप्यप्रमाणं श्वितासंभवद्वाधकत्वात्तद्वत् । ततः संतानेनार्यम्छेच्छव्यवस्थितिस्तद्विद्धिनिश्चेतच्या । नार्ष् संतानच्यवस्थितिवत् । सर्वः सर्वदार्यत्वम्छेच्छत्वज्ञन्यां मनुष्यसंतान इत्यत्रापि संप्रदाया च्छेद एव नास्तिकानां शरणं पत्यक्षानुपानस्य च तत्राच्यापारात् । यथा चादं नास्तिकः सर्वे पूर्वकाछवर्तिनां नास्तिका जात्यादिव्यवस्थानिराकरणपरा इत्यपि संप्रदायादेवाविच्यि दवगंतच्यं नान्यथा । अयमेत्र संप्रदायः प्रमाणं न पुनरार्यम्छेच्छव्यवस्थितिपतिपादक मनोरथमात्रं प्रतीत्यभावात् ।

आम्नायका ज्ञान रखनेत्राठे पुरुषों के यहां धाराप्रवाह रूपसे चळी आ रही सम्प्रदायका इटना अभिद्ध नहीं है, जैसे कि नास्ति प्रपने की सम्पदायका व्यवच्छेद नहीं होना असिद्ध नहीं अर्थात् — जो नास्ति राजन सभी मनुष्योंने आर्थपन और म्लेच्छवको स्वीकार नहीं कर रहे, यों नते हैं कि हम सम्पूर्ण मनुष्यों को एंकसा मानते हैं, जाति, वर्ण, कुळोनता, कोई वस्तु नही पुरुखापंकिसे हमारे यहां ऐसा ही नास्तिकपनेका प्रवाद चला आ रहा है। उन नास्तिकोंके यह अपनी इष्ट सम्प्रदायका नहीं ट्रटना अनिप्रेत किया गया है। उसीको दशन्त बनाकर श्री विद ना-वार्यने सम्प्रदाय अनुसार आर्यपन और म्छेष्छपनकी व्यवस्थाको साध दिया है। तथा वह आ और म्हेन्छपन भी सम्प्रदायका अन्यवन्छेद ( पश्च ) अन्रमाण भी नहीं है ( साध्य ), बायकोंके म्भव होनेका अच्छा निश्वय हो चुकनेसे ( हेतु ) जैसे कि नास्तिकोंने अपने नास्तिकपनके स यकी अट्टटको अनमाण नहीं माना है (अन्त्रयद्धान्त)। अथवा वास्तविक रूपसे विचार क नास्तिकपनके सम्प्रदायका नहीं टूटना अप्रमाण भी है और उसके बाधकप्रमाणेंका सद्भा निर्धात हो रहा है। ऐसी दशामें नास्तिक सम्प्रदायका अन्यवच्छेद व्यतिरेक्ट्यन्त माना जा स है। सम्प्रदायान्यवन्छेदरूप तित निर्दोष हेतुसे मातापिताओंकी सन्तान द्वारा आर्यम्छेन्छन्यवस उस उस सम्प्रदायके जाननेवाले पुरुखाओं करके निर्णय कर लेना चाहिये. जैसे कि नास्तिका पितामह, प्रपितामह, आदिकी सन्तान द्वारा नात्तिकपनकी व्यवस्था उनके यहां निर्णीत हो रही जो कोई नास्तिक यों कह रहे हैं कि मनुष्योंकी आगे पीछे यहां वहांकी सम्पूर्ण सन्तानें सदा-आर्यपन म्लेच्छपनसे शून्य हैं, प्रन्थकार कहते हैं कि यों इस सिद्धान्तके करनेमें भी तो नास्ति सम्प्रदाय के अन्यवच्छेरका ही शरण लेना पडेगा। तभी पुरुवाओंसे चली आ रही किम्बदन्ती अनुर सम्पूर्ण मनुष्योंमें आर्यम्ळेच्छरिहतपनेका ज्ञान कर सकेंगे । क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण और अनुमानप्रमा उस आर्थपन या म्लेन्ळपनकी सून्यताको जाननेमें न्यापार नहीं है। वह नास्तिक यदि अनुमान बनायगा तो सम्प्रदायकी सामर्थ्यके भरोक्षेपर ही यों वन सकता है कि जिस प्रकार कि मैं नास्तिक है प्रकार पूर्वकालों में वर्तनेवाले सम्पूर्ण मनुष्य भी जाति, क्षेत्र, कुल, आदिकी व्यवस्थाके निराकरणमें तत्पर ह नास्तिक ही थे। प्रन्थकार कहते हैं कि यह भी तो अविच्छित्र हो रही सम्प्रदायसे ही नास्तिकको समझना पड़ेगा, अन्य प्रकारोंसे वह पूर्वकाछवर्ती या क्षेत्रान्तरवर्ती अथवा चाहे किसी भी कर्ममें छग रहे मनुष्योंके नास्तिकपनका निर्णय कथमपि नहीं कर सकता है। नास्तिकवादी यदि दिंदोरा पीटकर यों ही आग्रह करता फिरे कि यह मेरा सम्प्रदाय ही प्रमाण है, किन्तु फिर सनातन या स्याद्धादियोंका आर्यम्छेच्छ व्यवस्थाको प्रतिपादन कर रहा सम्प्रदाय तो प्रमाण नहीं है, आचार्य कहते हैं कि यह नास्तिकका केवछ मनोरथ ही है। इसमें यथार्थता अणुमात्र भी नहीं है। क्योंकि नास्तिक के सम्प्रदाय में प्रमाणपन और आर्यम्छेच्छप्रतिपादक आम्नायमें अप्रमाणपनकी व्यवस्थाको करानेवाछी प्रतीति-योंका अभाव है।

जातमात्रस्य जंतोरार्येतरभावश्चत्यस्य प्रतीतेः प्रमाणं तद्भावाभावविषयः संपदाय इति चेका, तस्याप्यार्येतरभावप्रसिद्धेरन्यथा व्यवहारितरोधात् । कल्पनारोपितस्तद्भवहार इति चेत्, तिकार्वीजायाः कल्पनाया एवासंभवात् कचित्कस्य चित्तस्वतः प्रसिद्धस्याऽन्यत्रारोगे हि कल्पना दृष्टा विकल्पमात्रम्या गत्यंतराभावात् उभयथा चार्येतरभावकल्पनायां वास्तवी तद्भावसिद्धिः ।

नास्तिक पण्डित कह रहा है कि बुद्धिमान, या बृद्ध पुरुषोंकी तो बात ही क्या है, केवल थोडे दिनोंके उत्पन्न हुये मनुष्य या पद्मपक्षियों तकको आर्यपन और उससे न्यारे म्छेच्छपन हैं रहितपनकी अपनेमें और अन्य प्राणियोंमें प्रतीति हो रही है। इस कारण उस आर्थपन म्लेच्छपन परिणति के अभाव को विषय कर रहा हम नास्ति कों का सम्प्रदाय तो प्रमाण है। तम आस्ति कों का सम्प्रदाय प्रमाण नहीं है। अर्थात्—अन्यश्रद्धावाले अतिवृद्धपुरुष भले ही आर्थपन म्लब्छपनको कहें जावें, किन्तु यावत् प्राणियोंमें आर्यपा, म्लेन्छपन, खजाति, कुजीनता, उच्चवर्णपना, नीच वर्णपना आदिकी प्रतीति नहीं हो रही है। आर्यों ने शरीरमें नोई दूव नहीं भरा है और म्लेच्छ या चाण्डाळोंकी देहमें कीच नहीं भर गई है। प्रन्थ कार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस उत्पन्न हुये प्राणिमात्रको भी आर्थपन और उससे न्यारे म्हेच्छपत्रकी प्रसिद्धि हो रही है। अन्यथा आर्थन्यवहार या म्लेन्क्रन्यवहारका विरोव हो जायगा । देखो, चमार, कोरियोंने छो तरा भी अपनेमें नीचगोत्रका अनुभव कर रहा है, जब कि उच्च आचरणवाळे त्रैवर्णिक पुरुष अपनेमें संतान क्रमसे चली आ रही उचगोत्र व्यवस्थाका सम्वेदन किये जा रहे हैं। कुलीनताका प्रमाव आता है, पर आता है। यदि नास्तिकवादी यों कहे कि वह आर्थपन म्छेच्छपनका व्यवतार तो झंठी कल्पनाओंसे आरोपा गया है। वास्तविक परिणामोंकी भित्तिपर अवलिकत नहीं है, यें कहनेपर तो आवार्य समाधान करते हैं कि उस व्यवहारकी बीजरहित कल्पनाका ही असम्भव है। उत्पादक बस्तुभूत बीजकी सहारा पत्र डकर ही कल्पना की जा सकती है। कल्पनाका लक्षण यह है कि कही न कहीं स्थलपर बास्तविक रूपसे प्रसिद्ध ही रहे किसी न किसी पदार्थ का अन्य पदार्थ में आरोप कर छेना ही कल्पना करना देखा गया है.

जैसे कि सत्य द्वीरहे सिंहपशुकी मिडीके खिळीनेमें या श्रावीर पुरुषमें कल्पना कर की जाती है । अथवा विकल्पनान करनेकी भी कल्पना कह सकते हैं जैसे कि जहां जहां धूम होता है, वहां अप्रि होनी चाहिये, दिनमें नहीं खाते जो मोटे शरीरवाळे होंगे बे जीव रातको अवश्य खाते होंगे, यह चंचल बालक अप्रि है, को डोनेवाला मनुष्य बैल है, सिद्ध परमात्मा शरीररहित होंगे, प्रत्येक उद्योगी मनुष्यको कुछ न कुछ धुन चढी रहती है, इत्यादि विकल्पोंका उठाना भी कल्पना है। उक्त दो लक्षणोंके अतिरिक्त तीसरा कोई उपाय कल्पनाका नहीं है। अतः दोनों प्रकारसे आर्यपन और म्लेच्लपनकी कल्पना करनेमें नास्तिकके यहां वास्तविक उस आर्यपन या म्लेच्लपनकी सिद्धि होजाती है। कोई खटका नहीं रहा।

प्रधानाद्दैतादिकल्पनानामपि हि निर्वीजानामनुपपत्तिरेव सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्यस्य प्रधानत्वेन नराधिपादौ मसिद्धेनाध्यारोपस्य प्रधानकल्पनात्वात् । इचिचैकत्वस्याद्दैतस्य प्रमाणतः सिद्धस्य सर्ववस्तुष्वध्यारोपणस्याद्दैतकल्पनात्वादन्यथा तदसंभवात् ।

नास्तिक शदि यों आक्षेप करें कि जब सभी कल्पनायें वस्तुभूत परिणतियोंके अनुसार वास्त-विक किंद्र होजायंगी तब तो सांस्थमतियोंके यहां निर्णात किये गये प्रधानकी कल्पना भी यथार्थ बन बैठेगी । वेदांतियोंने बहाहैतको स्वीकार किया है । जैनोंने उसकी बहाहैतकी कल्पना करना ठहराया 🔁 । ऐसी दशामें वह ब्रह्माद्वेत भी वस्तुभूत बन बैठेगा । इसी प्रकार ईश्वर, अल्लाह, ईसा या नरसिंह, गजानन, बुद्ध, आकाशपुष्प आदि की कल्पनायें भी परमार्थ बन जायेंगी। संय ब्रंठका विवेक उठ जायगा । कोई भी मतानुयायी अन्य मतानलम्बीका खंडन नहीं कर सकेगा, ऐसा आक्षेप उत्पन्न होय, इसके प्रथम ही प्रथकार बहुत अच्छा सिद्धांतसमाधान करे देते हैं कि प्रकृति, ब्रह्मादेत, ज्ञानादेत, श्चिरकर्तृत्व, आदिक कल्पनाओंकी भी विना बीजके सिद्धि नहीं हो पाती है। कारण कि सांख्योंने '' सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः '' सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, इनकी समानताको छिये हुये जो अवस्था है उसको प्रकृति माना है। प्रकृति कहो चाहे प्रधान कहो एक ही अर्थ है। वह प्रधानपना राजा. समापति, जज आदिमें वास्तविक प्रसिद्ध होरहा है । सांख्योंने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणती साम्य अवस्थामें उसका अध्यारोप कर प्रधानकी कल्पना कर छी है। इसी प्रकार किसी एक आकाश या सदर्शन मेरु अथवा अन्य किसी अकेले अनुपम पदार्थमें अद्वैतस्वरूप एकत्व की प्रमाणोंसे सिद्धि की जानुकी है। ब्रह्मादैतवादियोंने उस प्रमाणसिद्ध एकत्वका संपूर्ण वस्तुओंमें अध्यारीप कर अद्वेत की कल्पना उठाळी है। क्योंकि अन्य प्रकारोंसे उस कल्पनाका असंभव है। मात्रार्थ-कतिपय पदार्थीका कत्तीपन मन्ष्य या पशुओं में देखा जाता है। नैयायिकों ने शुद्ध आत्मामें यावत् कार्योका कर्त्तापन झुंठमूठ गढिलया है। अलाह या ईसा भी कोई विशेष पुरुष हुये हैं, उनके भक्तोंने उनमें मोश्वदायकत्व, ज्यापकत्व, जगत्कर्तृत्व आदिक धर्म मनमाने गढ लिये हैं। मनुष्य के घड और हाथी के शिरका योग हो कर एक जीवका अनेक दिनोंतक जीवित रहना असम्भव है। फिर भी प्राकृत सिद्धान्तों को नहीं विचार करनेवाले गणेशभक्तोंने वास्तविक

मनुष्यका धड और दूसरे वास्तविक गजमस्तककी मितिपर एक गजाननकी कल्पना कर छी है। इसिपर आकार मनुष्य और सिंहका योग बनाकर नरितें इजनतार कल्पित किया गया है। इक्षपर आकाशमें छटक रहा या आकाशमें उछछ रहा आकाशका प्रक कियत हो जाता है। घी का घड़ा रुपयोंका वस, ये सब कल्पनायें वास्तविक परिणितयों के अनुसार कहीं से कहीं आरोप दी गयी है। मण्डूकिशिखा, कच्छपरोम, आदिक सर्वधा असम्भव माने जा रहे पदार्थोंकी कल्पनायें भी जब वस्तु भित्तिपर उठी हुयीं साथ दी गयीं है तो प्रधान, ब्रह्माहैत, सानिकर्षप्रमाणता, निर्गुणमोक्ष, क्षाणिकवाद, कृदस्थता आदिक कुछ सम्भव और कुछ असम्भव हो रहे पदार्थोंकी कल्पना तो धुष्टमतया बीजिमितिमहित साधी जा सकती है तथा परिपूर्ण रूपसे वस्तुभूत परिणितिओं अनुसार सम्भव रही आर्यत्व, म्डेच्छत्व, उच्चगेत्रता, नीचगोत्रता आदिकी कल्पना तो अतीव धुष्टभतासे समझायीं जा सकती है। मनुष्यपन, पशुपन, या सराचार, असराचार, अथगा अपराध, अनपराधका विवेक रखनेवालोंके सन्मुख आर्थपन म्छेच्छपनका निर्णय सुकर है।

कथं वा किनित्संप्रदायात् पारमार्थिकीं व्यवस्थामानक्षाणो मतुष्येष्वेवार्येतरभावव्यवस्यां काल्पनिकीमानक्षीत १ प्रमाणांतरानिषयत्वादिति नेत् न, अधिम्लेन्छव्यवस्थाया गुणदोष-निवंयनायाः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिति प्रसिद्धेरतः । तथाहि—स्वसंतानवर्तिनी हि मनुष्याणां आर्थत्वव्यवस्थितिः सम्यग्दर्शनादिगुणनिवंधना म्लेन्छव्यवस्थितिश्च मिथ्यात्वादिदोषनिवंधना स्वसंवदनसिद्धा स्वरूपवत् । संतानांतरवर्तिनी तु सा व्यापारव्यवहाराकारिवशेषस्य कार्यस्य विनिश्चयादनुमेया नेति न प्रमाणांतरागोचरा प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रसिद्धायां च गुणनिवंधना-यामार्यत्वव्यवस्थायां कास्तित्वत् मनुष्यव्यक्तिषु युगादावव्यविक्वसंतानास्तथाभूतगुणैरर्यमाणा जात्यार्थाः प्रसिद्धा भवंति क्षेत्राद्यार्थवत् तथा म्लेच्छाः ।

एक बात यह भी है कि नास्तिकपन, मनुष्यपन, पशुपन, आदिमें कहीं न कहीं सम्प्रदायसे वास्तविक व्यवस्थाको वखान रहा यह नास्तिक मछा मनुष्योंने ही आर्यपन म्छेच्छपन की व्यवस्थाको क्यों कहपनानिर्मित कहेगा ! बताओ । सम्प्रदाय अनुसार मानी गयी व्यवस्थाको या तो सर्वत्र किथित कहे अथवा कहीं भी किथित नहीं कहे । कहीं कुछ और कहीं कुछ, यों " अर्ध जरतीय " न्यायका अनुसरण उचित नहीं है । यदि नास्तिक यों कहे कि आर्थ, म्छेच्छव्यवस्था तो किन्हीं अन्य प्रमाणोंका विषय नहीं है, इस कारण काल्पत है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि गुणोंको कारण मानकर हुयी आर्यव्यवस्थाकी और दोषोंके निमित्त कारणपनसे हुई म्छेच्छव्यवस्थाकी इन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे यों वश्यमाण प्रकार अनुसार प्रसिद्धि हो रही है । उसीको मन्धकार स्पष्ट कर दिखळाते हैं कि अपने निज आत्माकी उर्ध्वतासामान्य हारा पूर्वकाळोते सक्षी आ रही संतानमें वर्त रही मनुष्योंकी आर्य-

पनेकी न्यवस्था तो सम्यग्दर्शन, क्षमा, ब्रह्मचर्य, आदि गुणोंको कारण मानकर हुई स्वकीय सम्वेदनसे प्रतात हो रही है और म्लेच्छमनुष्येंके अपनी अपनी संतानमें वर्त रही म्लेच्छपनकी न्यवस्थिति इन मिध्यात्व, हिंसा, निर्कण्जता, आदि दोषोंके निमित्तसे हो रही अपने स्वसम्वेदन प्रत्यक्षी द्वारा प्रसिद्ध हो रही है. जैसे कि अपने अपने आत्मसद्भावका सम्पूर्ण मनुष्योंको स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। हां, स्वकीय आत्मासे न्यारे अन्य आत्मा रूप संतानोंमें वर्त रही वह आर्यपन या म्लेच्छपनकी न्यवस्था तो आर्यपन, म्लेच्छपनके कार्य हो रहे विशेष न्यापार, विशेषवचन प्रवृत्तियां, या विशेषआकारोंका विशेषतया निश्चय हो जानेसे अनुमान करने योग्य है । इस कारण वह आर्थ. म्छेच्छपनकी व्यवस्था अन्य प्रमाणोंका अविषय नहीं है, जैसा कि तुमने पहिले आक्षेप किया था। किन्तु अपनी अपनी आत्मायें स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष द्वारा और परकीय आत्माओंमें अनुमान द्वारा आर्थ, म्लेन्छ, व्यवस्थाको इमने साध दिया है। जब कि किन्हीं किन्हीं सजन सदाचारी त्रती मनुष्य व्यक्तियोंमें गुणोंको कारण मानकर आर्यपन व्यवस्थाकी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों करके प्रसिद्धि हो चुकी है, ऐसा हो जानेपर कर्मभूमिकी आदिमें नहीं ट्टटी हुयी संतानवाले मनुष्य तिप्त प्रकारके यस्तुभूत गुणों करके सेवित किये जा रहे जात्यार्य प्रसिद्ध हो जाते हैं. जैसे कि क्षेत्र या कर्म आदिकी अपेक्षा आर्य मनुष्य प्रसिद्ध हो रहे हैं ; अर्थात्—मोग मूनियों के मनुष्य आर्य हैं, उन्हीं की संतान, प्रतिसंतान नहीं ट्रटती हुई कर्मभूमि कालमें भी चली आ रही है। जाति या कुलोंके नाम भले हा परिवर्तित हो जांय, इज्याकुवंश, सोमवंश, नाथवंश ये संकायें इस युगकी अपेक्षाते हैं, तो भी इनकी संतानधारा अट्ट है। अतः तिस प्रकार सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकरके जुष्ट हो रहे मनुष्य आर्य हैं। क्षेत्र आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य, इनके समान ही कुळपरम्पराते चळे आ रहे जात्यायों की भी सिद्धि कर **ळेनी चाहिये ।** तिस ही प्रकार कुळपरम्परा अनुसार अविन्छिन संतानवाले मनुष्य मिध्याला, हिसा, आदि दोषों करके सेवित हो रहे म्लेच्छ प्रसिद्ध हो रहे हैं, म्लेच्छोंको स्वयं अपनी आत्मामें म्लेच्छपन का स्वसम्मेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। हां, उनके पत्र, मित्र, या देशान्तरीय अन्य म्लेष्क्रोंके म्लेष्क्रपन का शरीर व्यापार, वचनप्रवृत्तियां आदि करके अनुमान कर लिया जाता है । आर्योको दूसरेक म्लेच्छ पनका या म्लेभ्क्रंमनुष्योंको दूसरोंके आर्यपनका भी अनुमान हो जाता है। भलें ही कोई ऐंदू या अभिमानी पुरुष अपनेको बढा मानता रहे. किन्तु समय समयपर गण और दोषोंका ठीक ठीक विवेक तो बालक, बालिकाओं, तक को हो जाता है। पण्डितपन या मूर्खपन, नीरोगता, सरोगता, बलबत्ता, निर्वलता. सदाचार कदाचारके समान आर्यपन म्लेच्छपनका भी संजी जीवींको परिज्ञान हो सकता है कोई कठीन समस्या पाळे नहीं पड गयी है।

> नित्यसर्वगतामूर्तस्वभावा सर्वथा तु या। जातिर्बाह्मण्यचांडाल्यप्रमृतिः कैश्रिदीर्यते ॥ ११ ॥

### सान सिद्धा प्रमाणेन वाध्यमाना कदाचन ।

बात यह है कि क्षेत्र आर्य या कर्म आर्य अथवा चारित्र आर्य मनुष्योंकी सिद्धि करना सरह है। हां, जात्यार्योकी इस युक्तिप्रधान जगत्में सिद्धि करा देना श्रमसाध्य है। कारण कि प्राय: संपूर्ण मनुष्य जन्मपरम्पराको तो स्वीकार कर लेते है। विष्यु या ब्रह्माके द्वारा हुई आदि सृष्टिको माननेवाले अथवा चाहे जितनी आत्माओं की सृष्टि या प्रख्यको कर देने बाले अल्लाहके अनुयायी मोहमदियोंकी संपूर्ण युक्तियां निर्वल ( पोच ) पड गयी हैं । परिशेषमें चार्वाक, साइन्सवेक्ता, यवन, पौराणिक बीद इन सबको गर्भज मनुष्य, पशु, पक्षियोंकी सृष्टि संतानरूपसे अनादिकाळीन माननी पडेगी। हां. कतिपय आधनिक पंडित संतानक्रमेंस चले आरहे जीवाचरणका आत्माओंमें संस्कार पड जाना नहीं स्वीकार करते हैं। कोई कोई तो तत्कालीन सदाचार, असदाचारसे शटिति आर्यसे म्लेच्छ और म्लेच्छमे आर्य होजाना अंगीकृत कर छेते हैं। कोई तो जाति, कुछ, व्यवस्था हो स्वीकार ही नहीं करते हैं। किन्त यह बात जगत प्रसिद्ध है कि विशेष जातिके आमसे भिन्न प्रकारका आम्रफल उपजता है। सांकर्य ( कलम लगा देनेसे ) हो जानेसे अन्तर पड जाता है। बढिया घोडेमें भी पित्रवंश, मातवंशका लक्ष्य रखा जाता है। कपायों या क्षमा की वासनायें बहुत दिनोंतक बस जाती हैं। इश्री प्रकार इक्ष्वाक वंश, प्रमावतीपुरव छ, अत्रवाछ, खण्डे छवाछ आदि जातियों की अपेक्षा संतानतक्रमसे चछे आ रहे आर्य पनका नियामक हेत् जन्मक्रम और कर्मक्रम दोनों ही मानने चाहिये। श्री विद्यानन्द आचार्य वैजीव-कों भी मानी हुई जातिका प्रत्याख्यान करते हैं कि किन्हीं वैशेषिक या नैयायि भों करके सर्वथा नित्य. सर्वन्यापक, अमृतिस्त्रभावत्रालीं जो ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व, वैश्यत्व आदि जातियां कही जा रही है. वे तो कदाचित् भी सिद्ध नहीं हो सकती हैं ! वयों कि प्रमाणोंसे वे बाधाकी प्राप्त हो रही हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, कोई भी प्रमाण उन जातियोंको विषय नहीं करता है, जिनका कि स्वरूप वैशेषिकोंने नित्यपन, न्याप प्रत्व, और अमूर्तत्व मान रक्खा है।

ब्राह्मणत्वादिजातिः सर्वगता सर्वत्र स्वमत्ययहेतुत्वादाकाशवत् सत्तावद्वा, तथा नित्या सर्वदोत्पादकविनाशककारणराहितत्वात् तद्ददेव इत्येके। तेत्र मष्ट्रच्याः,सा सर्वगता सती व्यक्त्यं-तराले कस्मात्स्वमत्ययं नोत्पादयतीति १ स्वव्यंजकिविश्वेषाभावादनभिव्यक्तत्वादिति चेब्र, तदिभिव्यक्तेः साकल्येन करणे कविदुपलंभे सर्वत्रोपलंभमसंगात्, देश्वतः करणे सावय-वत्वमसक्तेः।

वैशेषिकका मन्तन्य है कि ब्राह्मणल, वैश्यत्व, चाण्डालत्व, आदिक जातियां (पक्ष) सर्वत्र व्यापक हैं (सान्य), क्योंकि सभी न्यक्तिस्थलोंपर अपने अपने ज्ञानके उत्पादका हेतुपना उन जाति-योंमें वर्त रहा है (हेतु) आकाशके समान, अथवा सत्ताजातिके समान (अन्वयहष्टांत)। तथा ब्राह्मणस्व आदि जातियां (पक्ष) नित्य हैं (साम्य) उत्पत्ति करानेवाले और जातियोंका विनाहा

करनेवाले कारणोंका सदा रहितपना होनेसे ( हेत् ) उन ही आकाश या सत्ताके समान ( अन्वय दृष्टान्त )। तीसरा अनुमान जातिके अमूर्तपन स्वसावको साधनेके छिये यों बना सकते हैं कि जाति अमूर्त है ( प्रतिज्ञा ) परिमाण गुणका अभाव होनेसे ( हेतु ) कियाके समान ( अन्वयदृष्टान्त ), आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कोई एक पण्डित कड़ रहे हैं। वे पण्डित यहां यों पूछने योग्य हैं कि सर्वव्यापक हो रही संती वह जाति भला व्यक्तियोंके अन्तरालमें किस कारणसे स्वकीय ज्ञानको नहीं उपजा पाती है ! बताओ। यदि वैशेषिक यों कड़े कि अन्तरालमें अपने प्रकट करनेवाले आश्रय हो रहे व्यक्तिविशेषोंका अभाव हो जानेसे वह जाति वहां अभिन्यक्त नहीं है, तिस कारण मध्यवर्ती अन्तरालमें विद्यमान हो रही भी जाति स्वकीयबान भी उत्पादक ( उत्पादिका ) नहीं है । अर्पाद ---एक ब्राह्मण मनुष्य व्याकरण पढ रहा है। दूसरा ब्राह्मण व्यक्ति एक कोश दूरपर भोजन कर रहा है। उन दोनों व्यक्तियों में ब्राह्मणल जाति है और मध्यदेशवर्ती अन्तरालमें भी वह व्यापक ब्राह्मणल-जाति तिष्ठ रही है । परन्त अप्रकट होनेसे ब्राह्मगपन की ब्राप्ति नहीं करा पाती है। किन्तु जहां ब्राह्मण पुरुष व्यक्तियां विद्यमान हैं, वहां प्रकट हो रही ब्राह्मणत्व जाति स्वज्ञानको करा देती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि सकलक्ष्पने उस जातिकी व्यक्तिविशेषों द्वारा अभिव्यक्तिके कर देनेपर यदि कहैं। एक स्थलपर जातिका उपलम्भ होगा तो सम्पूर्ण रूपसे प्रकट हो चुकी जातिके सर्वत्र ( अन्तरालमें ) भी उपलम्भ हो जानेका प्रसंग आवेगा । यदि व्यंजक कारणों द्वारा एक एक देशसे जातिक्री अभिव्यक्ति करना अभीष्ट किया जायगा तत्र तो जातिको अत्रयव सहितपनेका प्रसंग आता है। जातिक अनेक अवयव होनेपर ही तो कहीं प्रकटता अन्यत्र कही अप्रकटता सम्भव सकेगी। अन्यया नहीं। किन्तु जातिको नित्य, निरवयव, व्यापक, अखण्ड, अमूर्त, माननेवाले वैशेषिक पण्डित जातिका सावयवपना तो अमीष्ट नहीं करेंगे। उनको अपसिद्धान्त दोष लग जानेका भय बना हुआ है ।

नतु च काल्स्न्येनाभिष्यक्ताविष जातेर्न सर्वत्रीपलंभः सामग्र्यभावात्, स्वय्यक्तिदेश एव हि तदुपलंभसामग्री मतीता इन्द्रियमनआकाशादिवत् न च व्यक्त्यंतराले सास्तीति केचित् । तद्प्यसंगतं, घटादेरेवं सर्वगतत्वमसक्तः । श्रव्यं हि वक्तुं घटादीनां सर्वगतत्विषि न सर्वत्री- पलंभः सामग्र्यभावात् कपाल्यदिदेश एव हि तदुपलंभसामग्री न च सा सर्वत्रास्तीति कपाल्यदिरप्यवयिनः सर्वगतत्वेषि न सर्वत्रोपलंभः स्वावयवोपलंभसामग्र्यभावादित्यवयनंतशः परमाण्नामनवयित्वादसर्वगतत्वे सर्वत्रोपलंभाभावार्त्ययनुष्योगनिष्ठति । यदि पुनर्घटादेः सर्वगतत्वकस्यनाया मत्यक्षविरोधः मितिनयतसंस्थानस्य मत्यक्षत्वात् अनुपानविरोधश्च । न सर्वगतो घटादिः सावयवत्वात् मृतिमस्वात् परमाणुवत् इत्यनुपानादसर्वगतत्वसिद्धेरिति मतं, तदा जातिसर्वगतत्वकस्यनाया पर प्रतिमस्वात् परमाणुवत् इत्यनुपानादसर्वगतत्वसिद्धेरिति मतं, तदा जातिसर्वगतत्वकस्यनायाभपि सं एव मत्यक्षादिविरीषः सार्ववक्षणाया एव जातरसर्वन

गतायाः मतिनियतच्यक्तिगतायाः मत्यक्षत्वात् । तथा न जातिः सर्वगता मतिनियतच्यक्ति-परिणामत्वाद्विशेषवदित्यनुमानाज्जातेरसर्वगतत्वसिद्धेः । क्रुतः पुनः साहत्त्यस्रक्षणं सामान्यं सिद्धमिति चेत् ।

यहां वैशेषिक अपने मतका अवधारण करते हैं कि जातिकी पूर्णरूपसे अभिन्यक्ति होनेपर भी उस जातिका सर्वत्र उपलम्भ नहीं होसकता है। क्योंकि अंतराल देशोंमें उपलम्भकी साम-प्रीका अभाव है। उन जातियोंको उपलम्भकी सामग्री अपने अपने आधार होरहे व्यक्तिसक्स देश ही प्रतीत होरहे हैं। जैसे कि बहिरंग इन्यां या अंतरंग इन्द्रिय मन अथवा आकाश आदिक उपकंप सामग्री हैं। किन्तु व्यक्तियों के अंतरालमें वह व्यक्तियां स्वरूप सामग्री नहीं है। इस कारण अंतरालमें जातिका प्रत्यक्ष नहीं होपाता है। इस प्रकार कोई वैशेषिक कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं उनका वह कहना भी संगतिशून्य है । क्योंकि इस प्रकार तो घट, पट, आदिके भी सर्वगतपनेका प्रसंग आजा-बेगा। हम बहुत अच्छे ढंगसें यों कह सकते हैं कि घट, पुस्तक आदिकोंका सर्वगतपना होते हुये भी सर्वत्र उपलंभ यों नहीं होपाता है कि वहां उपलंभ होने की सामग्री नहीं है। कपाल, तंत. पत्र आदि देश ही उन घट, पट, पुस्तम आदिकीने उपलंभ हो जानेकी सामग्री हैं। किन्तु वह सामग्री तो सर्वत्र नहीं है । जिस प्रकार कपाल आत्मक अवयवेंसि बने हुये अवयवी घटका ब्यापकपना आपादित कर दिया गया है, इस ही प्रकार कपालिकास्त्ररूप अवयर्वेसे बनाये गये कपालरूपी अवयवी या तंतु संबंधी अवयवोंसे बने छंबे तंतु आदि अययवियोंके सर्वगत होते हुये भी उनका सर्वत्र उपरंभ नहीं। होता है। क्योंकि अपने अपने अवयवस्वरूप उपकम्भ सामग्रीका वहां वहां अभाव हो रहा है। इस प्रकार और भी उत्तर उत्तर अवयर्वोके न्यापकत्वकी आपत्ति दी जा सकती है। हां, पंचाणुक, सतु-रणुक, त्र्यणुक, द्रयणुक, अवयवियोंके व्यापकृत्वका आपादन करते हुये अन्तर्ने जाकर अनन्ती. अनन्ती, परमाणुओंको निरवयव होनेसे असर्वगतपना माननेपर उन परमाणुओंका सर्वत्र उपरम्म नहीं होनेसे पर्यनुयोगकी निवृत्ति हो सकेगी । द्रयणुकतक तो सर्वगतपने या सर्वत्र उपलम्भ होनेका आपा-दन अवस्य कर दिया जायगा, जो कि वैशेषि मोंको इष्ट नहीं है। यदि फिर वैशेषिक यों कहे कि घट. वस्त, आदिके सर्वत्र व्यापकपनकी कल्पना करनेका प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही विरोध ठन जाता है। क्येंकि प्रतिनियत हो रहे अल्पदेशवृत्तिपनेकी रचना या आकृतिको धारनेवाले घट आदिका बाल, इ.स. कीट, पर्तगो, तकको प्रत्यक्ष हो रहा है। तथा घट, आदि पदार्थोंके व्यापकपनको साधनेमें अनुमान प्रमाणसे भी विरोध आता है। देखिये, घट, आदिक (पक्ष ) सर्वत्र वर्त रहे होंय ऐसे व्याप र नहीं 💈 ( साध्य ), क्योंकि वे अल्प परिमाणवाले स्वनिर्मापक अवयवाँसे सिद्दत हैं ( पहिला हेत )। अपकृष्ट परिमाणस्वरूप भृतिके आश्रय हैं ( दूसरा हेतु ) । परमाणुके समान ( अन्वयद्द्यान्त ) । इसे अनुमानसे घट आदिकके अञ्चापकपन ही सिद्धि हो रही है। यों वैशेषि होंका मन्तन्य होनेपर आचार्य कहते 🖥 कि तब तो जातिके सर्वगतपनकी कल्पना करनेमें भी वैशेषि होंको वही प्रत्यक्ष आदि प्रयाणींस

विरोध आवेगा । हां " सहशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् " जातिके इस सिद्धांतस्वरूण अनुसार प्रतिनियत व्यक्तियोंमें प्राप्त होरही असर्वगत और सादशस्वरूप ही जातिका प्रत्यक्ष होरहा है। अने अस्ति मनुष्यों में चाहे वे चांडाल या म्लेच्छ ही क्यों न होय, ब्राह्मण, क्षत्रिय, मनुष्योंका साहस्य वर्त रहा है। संपूर्ण घोडे समान हैं, चाहे पांच रुपये हा ट्युआ हो अथना मले हा पांच हजार रुपयों का बढिया घोडा होय. सबमें अञ्चलकूप करके सादश्य वर्त रहा है। मुखमें चंदकी सदशता या गवय (राह्म ) में गायकी सदशता दूसरी वस्तु है। जातिश्वरूप सादृश्य तो एक ही जातिकी अनेक व्यक्ति-बोंसे अभिन होरहा है। यद्यपि गत्रय निरूपित गोनिष्ठ साद्यय भी गोसे अभिन है और गोनिरू-पित गवयनिष्ठ सादृश्य गवयसे अभिन्न हैं। सदृश वस्तुओंसे निराठी कोई तीसरी जातिका सादृश्य बहा दीखता नहीं हैं । तथापि आरोपित सादर यसे जातिस्त्ररूप सादरय निराटा ही है, जो कि समान जाति वालीं व्यक्तियोंमें ही ठहरेगा। जब कि अव्यापक होरहीं घट, पुस्तक, गो, आदि व्यक्तियोंका आवाल, मोपालत तको प्रत्यक्ष हो हो, ऐसी दशामें व्यक्तियोंसे अभिन होरही जातिको अध्यापक मानना ही युक्तिपूर्ण हैं। तैसा होनेपर जाति (पक्ष ) सभात नहीं है (साध्य ) प्रत्येक नियत होरहीं व्यक्तियोंका परिणाम होनेसे ( हेतु ) विशेष पदार्थं में समान ( अन्वयद्यान्त ) इस अनुमानसे जातिके अव्यापक-पनकी सिद्धि होजाती है । यदि यहां कोई वैशेषिक यों प्रश्न करे कि फिर व**ह सादश्यावरूप सामान्य** भुजा किस प्रमाणसे सिद्ध कर दिया गया है ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी अप्रिमवार्त्तिकको कहते हैं।

#### सिद्धं साद्यसामान्यसमाना इति तद्बहात्। कुतश्चित्सदृशेष्वेव मनुष्येषु गवादिवत्॥ १२॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, राद्र, त्राय, पतित, म्लेन्ल, भोगभूमियां, कुभोगभूमियां, ल्रम्यपर्यासक, रन संपूर्ण मनुष्योमें सहशपरिणाम स्वरूप सादश्य माना जा रहा सामान्य प्रसिद्ध है (प्रतिश्चा) किसी न किसी अंतरंग परिणतिस्कूष कारण से "सहशोंमें ही ये समान है" "ये सहश है " इस रूपते जन पदार्थोका ज्ञान द्वारा परिप्रहण होनेसे (हेतु) गी, अश्व आदिके समान (अन्वयहष्टांत)। भावार्थ—जैसे खंड, मुंड, आदि अनेक प्रकारकी गायोंमें यह इसके समान है, यह इसकी सजाति है, या परिप्रहण होरहा होनेसे सहशपरिणामरूप गोत्वसामान्य प्रसिद्ध है, उसी प्रकार मनुष्योमें जाति हारा सभी मनुष्य समान हैं, यह प्रतिपत्ति होरही है। अतः सहशपरिणामरूप मनुष्यस्वाति सिद्ध हीजाती है। अन्यथा व्यक्तियोंको जातिसे भिन्न माननेपर अनतस्था दोष आवेगा। वैशेषिकोंके "नित्यत्व सित व्यापकृत्व च सित गोसमवेतं गोलं" और "गवेतरासमवेतत्व सित सक्लगोसमवेतत्व सित व्यापकृत्व च सित गोसमवेतं गोलं" और "गवेतरासमवेतत्व सित सक्लगोसमवेतत्व गोलंव " ये सब लक्षण अविचारितरम्य हैं। सहशपना पदार्थोकी एक परिणति है, वहाँ जाति है। पदार्थोके तदात्म ह स्वरूपने निराला कोई न्यारी जातिका बोह्य जन पदार्थोपर लदा हुआ नहीं है, जैसे

कि धोबीकी गर्धेयापुर कपडोंकी लादी लदी रहती है। वास्तविक रूपसे परपदार्थ कालत्रयमें अपना नहीं होसकता है, इति निर्णेष्यते स्वयं प्रथमारः ।

स एव बहुम्य इति मत्ययाच समाना इति तद्प्रहोस्ति यतः साहश्यसामान्यं सिश्चेदिकि चैत् न, सहस्रे महुण्यादी स प्राथमिति मत्ययस्योपचरितैकत्वविषयत्वात् । दिविशं हि एकत्वं सुख्यसुपचरितं च, सुख्यमुर्ध्वतासामान्यसुपचरितं तिर्यक् सामान्यं साहश्यमिति सुनिश्चितमन्यव ।

कोई नैयायिक कटाक्ष करता है कि अनेक मनुष्योंको देखनेपर यह वही मनुष्य है यह दूसरा भी मनुष्य ही है, यह तीसरा भी वही मनुष्य है, इस प्रकार एकलका परिचायक परिज्ञान ही रहा है। अतः " यह मनुष्य उसके समान है, अमुक मनुष्य तिस मनुष्यके समान था " इस प्रकार सारक्यको जाननेवाला प्रहण नहीं हो रहा है, जिससे कि जैनोंका अभीष्ट सारक्य परिणामकर्प सामान्य सिद्ध हो जाता। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यह तो मृद्धुद्धि भी समझ सकता है कि सदश हो रहे दूसरे, तीसरे, चीथे, मनुष्य आदिमें यह वही मनुष्य है, यह दूसरा भी वही मनुष्य है, इस प्रकार हो रहे झान तो उपचरित एकत्वको विषय करते हैं। एक ही व्यक्तिमें यह वही है, यह प्रत्यभिज्ञान मुख्य एकत्वकी विषय करता है। अनेक व्यक्तियोंमें हुआ एकत्व प्रत्यभिद्धान प्रमाणाभास होगा अथवा उपचरित एकत्वको विषय करनेवाळा होगा। तीसरा कोई उपाय नहीं । देखो, एकल दो प्रकारका माना गया है । पहिला मुख्य एकल है, दूसरा उपचरित एकत्व है। " परापः विवर्तव्यापि द्रश्यमूर्ध्वतासामान्यं " एक द्रश्यकी अनेक कालोंमें होनेवाली नाना अवस्थाओं में म्यापनेवाळा परिणाम ऊर्घ्वतासामान्य है । जैसे कि देवदत्त की बाळ, युवा बृद्ध अवस्थाओं या जन्मान्तरोंकी पूर्वोत्तरपर्यायोंमें जो सवान परिणाम है, वह ऊर्ध्वतासामान्य है। इस ऊर्ध्वता-सामान्यको विषय करनेवाले ज्ञानका गोचर मुख्य एकत्व है और अनेक व्यक्तियोंमें एक काल पार्य जानेबाछ तिर्यकु सामान्यको जाननेवाछे ज्ञानका विषय हो रहा सादश्य ती उपचरित एकत्व है, इस सिद्धान्तका इम अन्य अष्टसहस्री आदि प्रन्योंमें बहुत अच्छा निर्णय कर चुके हैं।

सा वन्त्राद्मणत्वादिगाविनेकांतवो नित्या अवया व्यवस्थापयितुमनित्यव्यक्तितादान्त्यात्, सर्वया तस्यास्तदतादात्म्ये प्रतिविक्तत्यानवस्थादिदोषानुषंगात् । नाप्यकांतेनान्यता मूर्ता मूर्ततादात्म्यविरोषात् । ततः स्यामित्या जातिनित्यसाद्दयस्वस्वात्, स्यादनित्या नश्वर्मसाद्ययस्वभावत्यात्, स्यात्पर्वगता सर्वयदार्थान्ययित्वात्, स्यादम्वर्गता प्रतिमियतपदार्थान्त्रयात्, स्यादमूर्वीमती मूर्तिमदद्रव्यपरिगानत्यात्, स्यादमूर्तो गानायमूर्तेद्रव्यपरिणामः-स्याद्तेति नित्यसर्वगतामूर्तस्वभावा सर्वया ब्राह्मगत्वादिजातिरयुक्ता प्रमाणन बाष्यमानत्यात् इति स्याः । तदेवं—

वैशेषिकोंने बासणत्व, शृद्धत्व आदि जातियोंको सर्वथा नित्य मान छिया है। किन्तु वे ब्राह्मणत्व कादि जातियोंको फिर एकान्तरूपसे नित्यपनकी व्यवस्थाको करानेके छिये समर्थ नहीं हो सकते हैं। अनिस्य स्यक्तियोंके साथ तादाल्य सम्बन्ध बन रहा होनेते, वे जातियां सर्वथा नित्य नहीं कहीं जा सकती हैं। यदि बैशेबिक उन बाह्मणन आदि जातियों हा उन बाह्मण आदि व्यक्तियोंके साथ सभी प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारसे तादाल्य सम्बन्ध अभीष्ट नहीं करेंगे तब तो वृत्ति, विकल्प, अनवस्था बादि दोषोंकी प्राप्तिका प्रसंग होगा । भावार्थ---एक जातिकी अनेक देशस्थ व्यक्तियोंमें यदि पूर्ण रूपसे क्ति मानी जायगी तब तो प्रत्येक व्यक्तियोंमें ठइरनेवालीं जातियां वैशेषिकोंको अनेक माननी पढेंगी। बदि एक जातिका अनेक व्यक्तियोंमें एक एक देशसे वर्तना माना जायगा, जैसे कि आकाश वर्तरहा **है. तब तो जातिको अवयवस**हित**पना** प्राप्त होगा । उन अवयवोंमें भी जातीकी एकदेश या सर्व देशसे कृति मानते मानते वही पर्यतुयोग चलेगा । यों अनवस्था दोष खडा हो जाता है । तथा घटकी उत्पत्ति होनेवाछे देशमें प्रथमसे सामान्य था तो वहां घटके विना वह घटत्वसामान्य भछा किस **बाधारपर बैठा हुआ था ! आश्रय है** त्रिना सामान्य ठहर नहीं सकता है। '' अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य **आश्रितत्विमहोच्यते " नित्य द्रव्यों के अतिरिक्त सभी पदार्थ आश्रित माने गये हैं । घटकी उत्पत्ति हो रहे स्थळमें सामान्य अन्य स्थानसे आ नहीं** सकता है। क्योंकि वैशेषिकोंने सामान्यको क्रियार**हि**त स्वीकार किया है। पूर्व आधारको यह छोड भी क्यों देगा ? इसी प्रकार घटके फूट जानेपर घटल सामान्य कहां चळा जाता है ! बताओ । भला सर्वथा एक सामान्य प्रत्येक व्यक्तियों में परिसमाप्त कैसे होगा ! तुम ही विचारो । भिन्न पढे हुये समवाय द्वारा भिन्न पडी हुई जाति भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें नहीं चुपक सकती है। यों वैशेषिकोंके उत्पर कातिपय दोप आते हैं। अतः जातिको सर्वथा नित्य नहीं मान बैठना चाहिये। तथा जाति एकान्त रूपसे अमूर्त माननेपर घट, पट, आदि मूर्त द्रव्योंके साथ तादास्य सम्बन्ध होनेका विरोध हो जायगा । मूर्तीके साथ तादास्य रख रहा पदार्थ मूर्त समझा जाता है। तिस कारणसे स्यादाद सिद्धान्त अनुसार यों निर्णय कर छो कि जाति कथंचिद् नित्य है। ( प्रतिका ) क्योंकि कथंकिद नित्य माने जा रहे पदार्थीका तदात्मक सादत्य रूप वह है । नित्य माने **मा रहे सम्पूर्ण द्रम्य या कर्यचिद् नि**त्य मानी जा रहीं सूर्यविमान, कुळाचळ, अकृत्रिम प्रतिमार्ये आदिक नित्य पर्यायोंने वर्त रहा साद्ध्यरूप सामान्य कर्धचित् नित्य ही है। साथमें वह जाति ( पक्ष ) कथांचित् अनित्य भी है ( साध्य ), नाश होनेवाले साद्धयरूप स्वभाव होनेसे ( हेतु ) अर्यात्—घट, पट, आदि नाशशील पदार्थीका सादश्य क्यंचित् अनित्य है। इसी प्रकार वह जाति क्यंचित् सर्वन्यापक भी है। क्योंकि सत्ता, वस्तुल आदि जातियोंके समान वह जाति सम्पूर्ण पदा-बीमें अन्तित हो रही है। और वह जाति कथंचित् असर्वगत है। क्योंकि न्यारे न्यारे देशोंमें वर्त रहे प्रति नियत पदार्थोंके आश्रित हो रही है। तथेन घट, पट, संसारी जीन, आदि मूर्त द्रन्योंका परिणाम होनेसे वह जाति कथंचित् मूर्तित्राठी है । आकाश, शुद्ध आया,

आदि अमूर्तद्रक्योंका परिणाम स्वरूप हो रही वह जाति कथंचित् अमूर्त मी है । इस प्रकार जातिके कथंचित् नित्यत्व, अनित्यत्व, या कथंचित् सर्वगतत्व, असर्वगतत्व अथवा कथं-चित् मूर्तत्व, अमूर्तत्वका विवेचन कर दिया है । वैशेषिकोंका ब्राह्मणत्व आदि जातिको सर्वथा नित्यत्वभाव, सर्वगतत्वभाव और अमूर्तस्वभाव मानना युक्तिरहित है। क्योंकि ऐसा माननेमें अनेक प्रमाणोंकरके बाधायें उपस्थित की जा रही हैं। इस कारण हमने उक्त ढाई वार्तिकोंमें बहुत अच्छा जातिका विचार कर समीचीन सिद्धान्त कह दिया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर जो हुआ सो सुनो।

# सार्भद्विद्वीपविष्कंभत्रभृति प्रतिपादितं । समनुष्यं चतुष्टय्या सूत्राणामिति गम्यते ॥ १३ ॥

तीसरे पुष्करद्वीपके आधे भागसिंदत जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप इन दो द्वीपों यानी ढाई द्वीपके विष्करम आदिका मनुष्योसिंदत श्री उमास्वामी महाराजने सूत्रोंकी चतुष्टपीकरके प्रति-पादन कर दिया है, यह समझ लिया जाता है। अर्थाद्—िद्विधीतकीखण्डे, पुष्करार्धे च, प्राच्याननुषेत्ररामनुष्याः, आर्था म्लेष्डाश्च, इन चार सूत्रोंकरके मूळप्रन्थकारने ढाई द्वीप और मनुष्योंका प्रबोध करा दिया है, यों माना जाय।

#### काः पुनः कर्मभूमयः काश्र भीगभूमय इत्याइ।

रुपानिधान गुरुवर्य, अब यह बताओ कि फिर कर्मभूमियां कौनसी हैं ? और भोगभूमियों के स्थान कीन हैं ? यों प्रश्न होनेपर श्री उमात्वामी महाराज अप्रिमसूत्रको कहते हैं।

# भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।

पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमियां हैं । हां, विदेहोंके मध्यमें वर्त रही पांच देवकुठओं और पांच उत्तरकुठओंको छोड देना चाहिये । क्योंकि वे उत्तम भोगभूमिय। मानी गयी हैं ।

कर्मभूगय इति विशेषणानुपपितः सर्वत्र कर्मणो न्यापारादिति चेश्र वा, प्रकृष्टगुणानु-भवनकर्मोपार्जितनिर्जराधिष्टानोपपचेः पर्कर्मदर्श्वनाच । अन्यत्रश्चन्दः परिवर्जनार्थः । श्रेषास्ता मौगभूमय इति सामर्थ्याद्गम्यत इत्यावेदयति ।

कोई शंका करता है कि छोकमें सम्पूर्ण स्थलोंपर जब आठ प्रकारके कमीका बन्ध और उनके फलोंका अनुभवरूप व्यापार व्याप रहा है, सिद्धको क्षमें भी एकेंद्रिय जीव कमीका उपार्जन कर रहे हैं, मीग सूमियोंने आदिके चार गुणस्थानों अनुसार कमें उपार्जन हो रहा है, देव या

नारिकयोंकी भी यही दशा है, स्थावर छोकमें कर्भफलचेतनाका व्यापार चमक रहा है, तो फिर इन पंद्रह स्थळेंको ही कर्मभूमियां कहना यह विशेषण तो युक्तिभिद्र नहीं बन पाता है। प्रंथकार कहते 🖥 कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि परिहारविद्यद्धि, उन्कृष्ट देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, मनःपर्ययु-इस्स, केबल्डान या उत्कृष्ट ऋद्वियां, उत्कृष्ट सम्यादर्शन, चारित्र आदि प्रकृष्ट गुणोंका अनुभव या उपाजित कर्मीकी निर्जराके अधिष्ठान ये पंदह क्षेत्र ही बन रहे हैं । अथवा " न वा प्रक्रुष्ट्युमाञ्चाम-कर्मीपार्जननिर्जरिष्धानोपपत्तेः '' यो पाठ माननेपर यह अर्थ हुआ कि उक्त शंका उठाना उचित नहीं है। क्योंकि जो सर्वार्थिसिद्धे विमानके प्रापक या तीर्थकरत्व अथवा महती ऋदियोंके संपादक असाधारण प्रकृष्ट शुभकर्म हैं, उनका उपार्जन इन कर्मभूमियोंमें ही किया जाता है और सातमें नरकको प्राप्त करा देनेवाले जो तीव पापकर्म हैं. उन कमीका संख्य भी इन ही कर्मभूमियोंमें होसकता है। तथा प्रत्येक कार्यमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, मार्चोक्की अपेक्षा है। अतः ये कर्मभूमियां क्रिप पंदह क्षेत्र ही सर्वेत्कृष्ट पुण्यकर्म और सबसे बडे पापकर्मके उपार्जन स्थल हैं । संसारस्रमणको न्यून करने-बाली निर्जरा या मोक्षतत्त्वकी प्राप्ति भी इन ही स्थलेंगिते होती है। दूसरी एक बात यह भी है कि क्षत्रिय उपयोगी असिकर्म और वैस्पर्वणके उपयोगी मित्रकर्म, विणक्कर्म, कृषिकर्म, तथा शह उप-योगी विधाकर्म, शिल्पकर्म इनका इन कर्मभूमियोंमें ही अनुष्ठान करना देखा जाता है। ब्राह्मण वर्णके उपयोगी यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रइण ये छह कर्म इन कर्मभूभियोंमें प्रवर्त रहे हैं । मुनिजन अपने छह सामायिक आदि आवश्यक कर्मीको, श्रावकजन देवपूजा आदि षट् आव-श्यकोंको पंद्रह कर्मभूमियोंमें पालते हैं। इस सूत्रमें अन्यत्र शहुका अर्थ परित्याम करना है। अतः परिद्रीष न्यायसे भरत, ऐरावत, और देवकुर, उत्तरकुरवर्जित विदेहसे अतिरिक्त ढाई द्वीपमें शेष रही बे भूमियें भोगभूमियें हैं, यह बात कहे बिना ही सामध्येत जान की जाती है। इस बातका निवेदन मंचकार अग्रिम वार्तिको द्वारा करे देते हैं।

> भरताद्या विदेहांताः प्रख्याताः कर्मभूमयः । देवोत्तरकुरूंस्त्यक्त्वा ताः शेषा भोगभूमयः ॥ १ ॥ सामर्थ्यादवसीयंते सूत्रेस्मिन्नागता (न श्रुता) अपि । समुद्रद्वितयं यद्वत्पूर्वसूत्रोक्तशक्तितः ॥ २ ॥

भरतको आद्य स्थानमें घर कर विदेह क्षेत्रपर्यंत कर्मभूमिये बढिया ढंगसे वखादी गर्यी हैं। विदेहक्षेत्रके मध्यभागमें वर्त रहे देवकुरु, उत्तरकुरू, स्थानोंको छोडकरके विदेहक्षेत्रका प्रहण करना चाहिये। भरताचा में आदि शहको व्यवस्थावाची मानकर आद्य शहसे ऐरावतका ही प्रहण करना चाहिये। पांच मेरुमम्बन्धी पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेहोंको छोडकर शेष ढाई द्वीपकी

वे भूमियें मोगभूमियां हैं। ये भोगभूमियां श्री उमास्त्रामी महाराजने पूर्वसूत्रोंमें या इस सूत्रमें यद्यपि कंठोक्त नहीं कहीं हैं, तो भी सामर्थ्यसे अर्थापात्तिप्रमाण करके निर्णात कर छी जाती हैं, जिस कक्कार कि पूर्वसूत्रमें कहे जानुके प्रमेय की सामर्थ्यसे दोनों छवणसमुद्र और काछोदाधि समुद्रका निर्णय कर छिया जाता है।

सार्धद्वीपद्धयमितपादनस्त्रे वचनसामध्यादश्चयमाणस्यापि समुद्वद्वितयस्य यथावसायौ अपृद्वीपलवणोदादिद्वीपसमुद्राणां पूर्वपूर्वपरिक्षेपित्वयचनात् तथास्मिन् सूत्रेनुक्तानामपि भोमभू-मीनाम् निश्चयः स्यात् । भरतैरावतविदेहा देवकुरूत्तरकुरुभिर्वितितः कर्मभूमय इति वचन-सामध्यति देवकुरूत्तरकुरवः शेषाश्च हैमवतहरिगम्यकहैरण्यवतारूया भूमयः कर्मभूमिविस्क्षण-त्वाद्रोगभूमय इत्यवसीयते ।

ढाई दीपों का प्रतिपादन क नेवाले उक्त सूत्रोंमें लक्षण समुद्र और कालोदधि समुद्रोंका वर्णन सूत्रों द्वारा नहीं सुना गया है । फिर भी सूत्रकारके गम्मीर वचनों की सामर्थ्यसे जिस प्रकार अन्नयंगांग दोनों समुद्रोंका निर्णय कर लिया जाता है, क्योंकि पहिले तो जम्बूद्रीप, खबणोद आदिं असँख्यात द्वीप समुद्रोंका वर्णन किया गया है। पश्चात् सूत्र द्वारा पूर्व पूर्वके द्वीप, समुद्रोंका पिछ्छै पिछछै द्वीप समुद्रों करके घरा डाले रहना कहा गया है, अतः विना कहे ही जम्बूद्रिय के परिक्षेपी छवण समुद्र और भातभीखण्डके परिक्षेपी कालोदींवे समुद्रका निश्चय कर छिना है, उसी प्रकार इस सूत्रमें कण्ठोक्त नहीं भी कहीं गयी भोग मूमियोंका निश्चय कर छिया जाता है। भरत, ऐरावत, विदेह, ये देवकुरुओं और उत्तरकुरु भागोंसे वर्जित हो रहे कर्मभूमि स्थान हैं। इस प्रकार इस सूत्रके कथनकी सामध्यसि पांच मेइसम्बन्धी पांच देवहुरूदेये, पांच उत्तर कुरुये और पांच मेइसम्बन्धी उक्त तीन क्षेत्रोंसे क्षेत्र रही पांच हैमनत, पांच हरि, पांच रम्यक, पांच हैरण्यनत, संज्ञानाली भूमिया भोगभूमिय यों निर्णीत कर छी जाती हैं। क्योंकि ये कर्मभूमियोंसे विलक्षण है। यद्यपि कर्मभूमिसे विलक्षणपना स्वर्ग, नरक, स्थावरलोक, सिद्धालय, आदिमें भी विद्यमान है। फिर भी पर्यदास पक्ष अनुसार भूमि-पना, मनुष्पक्षेत्रत्व आदि विशेषणोंका अन्तर्गर्भ होनेसे उक्त हेतु व्यभिचारदोषकरके प्रसित नहीं है। यो पांच मेरुसम्बन्धी पन्द्रह कर्मभूमियां और पांच पांच देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरि, रम्पक, हैंसम्यवत, इन नामोंसे तीस मोग गूमियां विन्यस्त हैं। छियानवें अन्तदीपों हो कुभोग गूमियोंमें गिनाया जा चुका है। किन्हीं जैन विद्वानोंका मन्तव्य है कि दिशाओंमें वर्तनेवाले समुद्रद्वयस्य अन्तरद्वीप या कर्मभूमियोंके निकटवर्ती अन्तरद्वीप कर्मभूमि सदश हैं। किन्तु इस मतमें अपना विशेष ऑदर नहीं है। कारण कि प्रकृष्ट पुण्य, पापों का, अनुष्ठान, मोक्षमार्ग, देशवत, महावत, आदिका परिपालन नहीं होनेसे कतिपय अन्तर्द्वीपोकी कर्मभूमि कहनेमें जी हिंचकिंचाता है। अधिकर अधिक इनके चीथा गुणस्थान हो सकता है। क्रियानवे अन्तरद्वीपोमें उपजे म्डेप्डमनुष्य विचारे अवणे. स्ट्रां. रहित हो रहे और गुहा या बृक्षमें निवास करते सन्ते एक टांगवाले, सींगवाले, पूंछवाले आदि या अश्वमुख, सिंहतुख, महिषमुख, आदि अवस्थावाले शरीरोंको घार रहे, सदा भोगोंको भोगते रहते हैं। एक पत्य अपनी आयुःप्रमाण पर्यन्त अपने समान पत्नीके साथ निराबाध भोगोंको भोग कर अन्तमें मरकर स्वर्गमें वाहनजातिके देव हो जाते हैं। अथवा ज्योतिषी, व्यंतर अथवा भवनवासी होकर पुनः दुर्गतिके दुःखोंको भोगते हुथे संतारमें अमण करते हैं। यों भोगभूमियोंके छक्षणकी घटना हो जानेसे अन्तहींपवासी म्लेच्लोंको कुभागभूमियां कह देना जच जाता है। मानुषोत्तरपर्वतसे परली ओर आधे अन्तिम द्वीपतक एकेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही हैं। ये स्थान भी कुस्सित भोगभूमियां कहे जाते हैं। जघन्य भोगभूमिवत भी माने जा सकते हैं। इन तिर्यचोंकी भी असंख्यात वर्षकी आयु है। एक कोश उंचा शरीर है। इनको आदिके चार गुणस्थानतक हो सकते हैं। सभी भोगभूमियां मरकर कषायोंका आवेग कुछ न्यून होनेसे देवगतिको प्राप्त करते हैं। हां, स्वयंगम पर्वतसे परली ओर आधे स्वयन्भूरमण द्वीप और पूरे स्वयंभूरमण समुद्र तथा चारों कोने कर्मभूमियां हैं। इनमें स्थलनिवासी तिर्यंच पांचेंच गुणस्थानवर्ती भी असंख्याते पाये जाते हैं। यहां प्रकरणमें द्वाई द्वीपतम्बन्धी कर्मभूमियोंका मुमद्वारा खीर दाई द्वीपतम्बन्धी भोगभूमियोंका अथोपति प्रमाण द्वारा परिज्ञान करा दिया गया है।

#### अथ तिभवासिनां तृणां के परावरे स्थिती भवत इत्याइ ।

भली मांति तृप्त हो चुके शिष्यका दूसरे प्रकारका प्रश्न है कि गुरु महाराज, यह बताओं कि उन ढाई द्वीपोंमें निवास करनेवाले मनुष्योंकी उत्कृष्टस्थिति और जवन्यस्थिति क्या होती है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिमसूत्रको कहते हैं।

# न्रस्थितीपरावरे त्रिपल्योपमांतर्ग्रहर्ते ॥ ३९ ॥

मनुष्योंकी उत्कृष्टिशित तीन अद्भामन्योपम है, जो कि उत्तम भोगभूमियां मनुष्योंके संभव रही है और जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त है, जो कि श्रासके अठारहवें भाग काल की लब्ज्यपर्यातक मनुष्योंमें पायी जाती है। अडतालीस मिनटके मुहूर्तमें तीन हजार सातमी तिहत्तर ३७७३ स्वास माने गये हैं। लब्ज्यपर्यातक मनुष्य स्वासके अठारह भागतक जीवित रहता है। स्वासका अर्थ मनुष्योंके पोंचेमें वात, पित्त, कफकी, चल रही नाडीकी एक बार गतिका कालपिमाण है। मुख या नाकसे निकल रही प्राणवायको स्वास माननेपर जन्म, मरणका गणित ठोक नहीं बैठता है। स्वास गतिसे नाडीकी गतिका काल कुळ न्यून, अधिक दुगुना बैठ जाता है। उत्कृष्ट स्थिति भोगभूमिके मनुष्य की है और जघन्यस्थिति सन्मूर्जन जनमवाले लब्ज्यपर्यातक मनुष्यकी है।

यथासंख्यमभिसंबधित्रपल्योपमा परा नृस्थितिरंतर्ग्रहूर्तावरा इति । मध्यमा नृस्थितिः केत्याह । सूत्रमें पर और अवरके साथ त्रिपल्योपम और अन्तर्मुहूर्तका यथासंस्थरूपसे सम्बन्ध कर छेना चाहिये। यों यथाकम अनुार दोनोंका सम्बन्ध करने पर मनुष्योंकी तीन पल्योपम उत्कृष्ट स्थिति और मनुष्योंकी जघन्यास्थिति अन्तर्मुहूर्त्ते यों समझ छी जाती है। मनुष्योंकी मध्यमस्थितियां कौन हैं। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी अग्रिमवार्त्तिकको कहते हैं।

परावरे विनिर्दिष्टे मनुष्याणामिह स्थिती। त्रिपल्योपमसंख्यांतर्मुहूर्त्तगणने बलात्॥ १॥ मध्यमा स्थितिरेतेषां विविधा विनिवेदिता। स्वोपात्तायुर्विशेषाणां भावात्सूत्रेत्र ताहशां॥ २॥

इस सूत्रमें मनुष्यों ही उत्कृष्ट स्थिति तीन पत्योपम संख्यावाठी और जवन्यस्थिति अन्तर्महर्त्त नामक गणनाबाळी विशेषरूपसे कह दी गयीं है। विना कहे ही आदि, अन्त, स्थितियोंकी सामध्येसे इन मनुष्योंकी नानाप्रकार मध्यमस्थितियां तो अर्थापतिद्वारा श्री उमास्वामी महाराजकरके इस सन्नमें विशेषतया निवेदन कर दी गयीं समझ छेनी चाहिये। क्योंकि पूर्वजन्मसम्बन्धी अपनी अपनी कषायों के अनुसार इन मनुष्यों के निज उपार्जित विशेष विशेषिदितिको लिये इसे तिस तिस दंगके आयुष्य कर्मीका सद्भाव है। अर्थात्-पूर्वजन्मोंमें विशुद्ध परिणामोंसे उपार्जी गयी मनुष्य आयुक्ते अनुसार जीवोंका एक समय अधिक कोटीपूर्ववर्षित प्रारम्भ कर तीन पल्यकी आयुवालोंका भोग-म्भियोंमें जन्म होता दै । और संक्लेश परिणामें अनुसार नाडीगतिके अठारहवें भाग जवन्य आयुः स्थितिसे प्रारम्भ कर कोटि पूर्व वर्षतककी आयुवाले जीवोंका कर्मभूमि मनुष्योंमें उपजना होता है। अतः एक समय अधिक अन्तर्भुहुर्तेसे प्रारम्भ कर एक समय कम तीन पल्यतककी असंख्यात प्रकार मध्यम स्थितियां तो सूत्र उच्चारण किये विना ही " तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस नियम भनुसार गम्यमान हो जाती हैं । एयादीया गणना वीयादीया हवंति संखेण्जा, तीयादीणं णियमा-कदित्ति सण्णा मुणेदच्या " इस गाथा अनुसार एक आदिको गणना कहते हैं । और दो आदिके। संख्या कहते हैं । असंख्यात या अनन्त भी संख्याविशेष हैं । पल्य एक असंख्यातासंख्यात नामकी संख्याका मन्यम भेद है । चूंकि ढाई सागरके समयप्रमाण असंख्याते द्वीप समुद्र हैं और दश कोट। कोटी पल्योंका एक सागर होता है । तथापि सम्पूर्ण द्वीपसमुद्रोंसे जबन्य, मध्यम, उत्तम भोगभूमियोंके मनुष्पोंके आयुष्य समय अत्यधिक हैं । क्योंकि द्वीपसमुद्रोंकी गणना तो उद्धार पत्योंकी पश्चीस कोटा-कोटी संख्यासे है। किन्तु उद्धारपल्यसे सौ वर्षके असंख्यात समयों गुना एक अद्धापन्य होता है। भोगभूमियोंकी स्थिति अद्वापल्यसे गिनायी गयी है । जचन्य युक्तासंख्यात-समयपरिमित आवळीसे संख्यात गुना मुहर्त्त काछ होता है। जो कि प्रतरावळीकाळका असंख्यातवां भाग है। मनुष्योंकी

जिनदृष्ट संख्यात—आवळीप्रमाण जघन्य स्थिति समझनी चाहिये । कोटिपूर्व वर्षकी स्थिति भी संख्यात आविष्यां हैं । प्रतरावाळिका असंख्यातवां भाग वह मध्यमस्थिति है ।

#### तिरश्चां के परावरे स्थिती स्यातामित्याइ।

पुनः जिज्ञासुका प्रश्न है कि मनुष्योंकी श्यित समझ ली, तिये<mark>चोंकी उत्कृष्ट स्थिति और</mark> जघन्य स्थिति क्या होगी? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगळे सूत्रको कहते हैं ।

# तिर्यग्योनिजानां च ॥ ४० ॥

तिर्यगाति नामकर्मके अनुसार तिर्यच योनियोंमें जन्म छेनेवाले जीमेंकी उक्ता धिर्यति तीन पल्योपम और जघन्य भवस्थिति नाडीगातिके अठारहवें भागप्रमाण अन्तर्सुहूर्त्त है ।

त्रिपल्यापमांतर्ग्रहतें इति वर्तते, पृथग्यागकरणं यथासंख्यनिष्ट्रत्यर्थे । एकयागकरणं हि नृतिर्थक्स्थिती इति निर्देशे नृस्थितिः परा त्रिपल्यापमा, तिर्थक्स्थितिरवरान्तर्ग्रहूर्तेति यथासं-ख्यमभिसंबंधः प्रसङ्यते । ततस्तिष्ठित्तः पृथग्यागकरणात् ।

" नृस्थिती पराबरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते " इस स्त्रसे " त्रिपल्योपमा " और " अन्तर्मुहूर्त " शद्धकी अनुवृत्ति कर छी जाती है स्थिति और परा, अपराका प्रकरण चछ ही रहा है। अतः तिर्यचोंकी उन्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है। जो कि उत्तम भोगभूमियोंके तिर्थचोंके पायी जाती है। तिर्यचोंकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी छञ्ध्यपर्याप्तक तिर्थचोंके सम्भव रही है। पूर्वस्त्रके साथ इस स्त्रका एक्स्योग नहीं कर पृथक् पृथक् योगिविभाग करते हुये श्री उमास्वामी महाराज करके दो स्त्रोंका कथन करना तो संख्या अनुसार यथाक्रमसे होजानेवाछे अनिष्ट्रप्रसंग्रकी निवृत्तिके छिये हैं। कारण कि यदि दोनों स्त्रोंको मिछाकर " तृतिर्यक्रियती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते " यो जोडकर दिया जायगा तो मनुष्य और तिर्थचोंकी स्थिति वो छन्नतापूर्वक कथन करने पर इस प्रकार यथा संख्यसे दोनों ओर पर और अवरके सम्बन्ध होजानेका प्रसंग होजावेगा कि मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम है और तिर्थचोंकी जघन्यस्थिति अंतर्भुहूर्त है। किन्तु केवछ इतना ही अर्थ तो स्त्रकारको अभीष्ट नहीं था। अतः त्यारे दो सूत्र बनाकर तिस योगका पृथक्भाग कर देनेस उस अनिष्टप्रसंगकी निवृत्ति होजाती है।

तिर्यक्नामकर्मीदयापादितजन्म तिर्यग्यानिस्तत्र जातास्तिर्यग्योनिजाः एकेंद्रियविकलेंद्रिय-पंचेंद्रियविकल्पाक्षिविधाः तेषां च यथागमं मध्यमा स्थितिः सामध्यक्रभ्या मतिपत्तव्या पराव-रास्थितिवत् ।

जिन संसारी जीवोंका जन्म लेना नामकर्मके भेद होरहे गतिनाम कर्मकी उत्तरश्रकृति मानी गयो तिर्थगाति संक्रक नामकर्मके उदय होने पर सम्पादित होरहा है, वह जन्म तिर्यग्योनि कहा जाता

है। उस तिर्यग्योनिमें उत्पन्न हुये जीव तिर्यग्योनिज हैं। तिर्यचेंकि स्थूलरूपेंस एक स्पर्शन इन्द्रियवाले और दो इन्द्रिय तीन इन्द्रियें या चार इन्द्रियां, यों विकल होरही इन्द्रियोंको धारने वाले तथा पांचों इन्द्रियोंको धारनेवाले यों तीन प्रकार हैं। इस सूत्रमें तिर्थेचोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिको कह दिया गया है। पर, अपर, स्थितियोंके कह देनेसे विना कहे हैं। सामर्थ्य द्वारा लब्ध होगई मध्यमा स्थितिकी प्रतिपत्तिको आगम अनुसार कर लेना चाहिये। जैसे कि कई प्रकारके तिर्थेचौंकी अवस्य या उत्कृष्टस्थितियोंको सर्वक्रोक्त आम्नाय द्वारा विणीत कर छिया जाता है। अर्थात्—मृद् पृथ्वीकायिक जीवोंकी उत्कृष्टिस्थिति मारह हजार वर्ष है। पर्वत, रत्न, कंकण, आदि कठिन प्रध्वीकायिक जीवोंकी परा स्थिति बाईस हजार वर्षकी है। जलकायिक जीवोंकी सात हजार, तेजस्कायिक जीवोंकी तीन दिन, बायुकायिक जीवोंकी तीन हजार वर्ष, और क्नस्पति-कायिक जीवोंकी दस हजार वर्ष उत्कृष्ट स्थिति है। शंख, सीप, आदि दीन्द्रियोंकी बारह वर्ष, त्रीद्रियोंकी उनंचास दिन, मक्खी वर्र आदि चतुरिद्रिय जीवोंकी छड मास उक्कष्ट स्थिति है । पंचोंन्द्रिय तिंथेचोंमें जलज्ञर मत्त्य, मकर, आदि जीवोंकी उत्क्रष्ट स्थिति कोटिपूर्व वर्ष है। सर्पट चलनेवाले गोह, नौला, विपखपरा, आंदिक जीव नौ पूर्वाङ्गतक जीवित रह सकते हैं। सर्पोकी उत्कृष्ट आयु वियालीस हजार वर्ष है। पक्षियोंकी उत्कृष्ट आयु बहत्तर हजार वर्ष है। भोग-भूमियोंमें पाये जा रहे पक्षियोंमें यह आयु सम्भवती है। चार पांक्वाले पद्मओंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी है। सम्पूर्ण तिर्येचोंकी जघन्य आयु श्वासके अठारहर्ने भागप्रमाण अन्तर्सहर्त है. जो कि कर्मभूमियों के तिर्धिचों में ही पायी जाती है। यहां विशेष इतना ही कहना है कि पत्यरका कोयला. मिट्टी, कंकड, रत्न, आदि सचित्त पृथ्वीकी सरसों प्रमाण डेळीमें असंख्याते पृथिवीकायिक जीव हैं। यही दशा जलकी बूंद या अग्निका दुकडा अथवा वायुके स्वल्प भागमें भी छमा छेना । यदि कितने ही दिनोंतक अग्नि जलती रहे तो भी उसका जीव तीन दिनसे ज्यादा ठहर नहीं सकता है। असंख्य जीव वहां क्रमसे जन्म केते और मरते रहतें हैं । तेल, लकड़ो, विद्युत्पवाह, आदिसे जो चमकर्ता हुई अप्नि ज्वालायें उपजतीं हैं, उन अप्निकायके जीवोंकी स्वल्पकाल स्थिति प्रसिद्ध ही है। क्योंकि अग्निस्वालास्त्ररूप अनेक शरीगें का अग्निकायिक जात्रोंकी मृत्युके पश्चात्का जल आदि पर्यायोंमें परि-वर्तन हो जाता है। मधु मक्खियों या वरीं के छत्ता कई वर्षीत क बने रहते हैं। उनमें मक्खियां भी पायी जाती हैं। ये उन मक्खियों भी धारात्राहि कसंतान हैं। एक मक्खी या वर्र छह महीनेसे अधिक जीवित नहीं रह सकती है। समुदित मन्खियों भी संतान, प्रतिसंतानों, करके हुये मतिज्ञानों करके ये कार्य भी हो जाते हैं कि मिक्खियां कुछ दिनके छिये पहाडोंपर या अन्य उचित स्थानोंपर चली जाती हैं । महीनों बाद उस स्थानपर छीट आती हैं । यद्यपि चों इन्द्रिय जीवोंके मनसे होनेवाला विचार आत्मक श्रुतज्ञान नहीं है। फिर भी जितना कुछ मतिज्ञान है, उसके द्वारा पूम फिर कर अपने स्थानपर छोट आना या अपने क्योंके शरीर उपयोगी सन्पूर्छन पदार्थीको दंढ कर है आना.

अपने या बचोंके उपयोगी घरका निर्माण करना, शीत, उष्ण, मेघबाधाओंसे या घातकमनुष्य, पश्च, पश्चिमोंके उपद्रवसे बचाकर उचित स्थळमें गृह बनाना, खाद्यपदार्थीका संप्रद्र कर रखना, आदि अनेक कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। दितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करना झानका कार्य है। यो प्रन्थकारने तिर्थेचोंकी एक एक प्रकार उत्कृष्ट और जचन्य स्थिति तथा असंद्र्य प्रकारोंकी मध्यम स्थितियोंको साथ दिया है।

#### किपर्यमिहोक्ते तिरश्चां परावरे स्थिती मकरणाभावेपीत्यादर्शयति ।

इस तृतीय अध्यायके अन्तमें आर्य या म्लेच्छ मनुष्यों का प्रकरण आ जानेसे पूर्व स्त्रद्वारा मनुष्योंकी जघन्य उत्कृष्ट आयुका निरूपण कर देना उचित है। किन्तु तिर्थचोंका प्रकरण नहीं होते हुये भी श्री उमास्वामी महाराजने यहां तिर्थचोंकी जघन्य—उत्कृष्टिस्थितिको किस लिये कह दिया है ! इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरवार्तिक द्वारा समाधान वचनको दर्पण- वत् दिख्छाते हैं।

## ते तिर्यग्योनिजानां च संक्षेपार्थमिहोदिते । स्थिती प्रकरणाभावेष्येषां सूत्रेण सूरिभिः ॥ १॥

प्रकरण नहीं होनेपर भी श्री उमास्तामी महाराजने इस सूत्रकरके इन तिर्धियोनिमें जन्म छेने वाछे जीवोंकी उन जवन्य उत्कृष्ट स्थितियोंका निरूपण संक्षेपके छिये कर दिया है। अर्थात्—नार-कियों और देवोंकी स्थितिके निरूपण अवसरपर चौथे अध्यायमें यदि तिर्धचोंकी आयुको कहा जाता तो " तिर्थियोनिजनां स्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्भुहूर्ते " इतना छंगूरकी छांगूळतुल्य छम्चा सूत्र बनामा पडता। अक्षरों और प्रतिपत्तिका गौरव हो जाता। किन्तु यहांपर " तिर्धियोनिजानां च " इतने स्वस्य सर्वपसमान सूत्रसे ही समीहित अर्थकी सिद्धि होगई है। कर्मभूमि या भीगभूमि स्थानोंमें मनुष्योंके समान तिर्थेच भी निवास करते हैं। अतः मनुष्योंके साथ विर्थचोंका भी प्रकरण है। मनुष्योंकी संगति नारिक्योंसे सर्वथा नहीं है। हां, देवोंके साथ क्याचित् कराचित् समोछन हो जाता है। किन्तु मनुष्योंका तिर्थचोंके साथ धनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः मनुष्योंका वर्णन करते समय तिर्थचोंका प्रकरण भी सरिति उपस्थित हो जाता है।

#### नन्वसंख्येयेष्विप द्वीपसमुद्रेषु दृष्टेषु सार्वद्वीवद्यवपंचं निख्यवतः मूत्रकारस्य किं चैत्रसि स्थितिमित्यादः।

यहां कोई वाषद्क पण्डित आशंका करता है कि पद्मीस कोटाकोटि उद्घार पत्यों के समय प्रमाण नव असंख्यातें द्वीपसमुद इस तिर्थक् छोकमें देखे जा रहे हैं, तो उन सभीमेंसे केवल ढाई द्वीपोंको ही किस्तारसिहत निरूपण कर रहे सूत्रकार श्री उसास्यामी महाराजके चित्तमें कौनसी बाह

क्यवस्थित हो गयी है ! बताओ । या तो हजारों, टाखों, समी द्वीपोंका थोडा निरूपण करना चाहिये था । अथवा सातवें, आठवें सूत्रों करके सामान्य कथन कर तृतीय अध्यायको पूरा कर देना था । नीवें सूत्रसे प्रारम्भ कर चाछीसवें सूत्रतक ढाई द्वीपकी ही स्तृति गाना तो उचित नहीं दीखता है । ढाई द्वीपसे बाहर भी असंख्य द्वीप समुद्रोंमें बडी बडी छुन्दर मनोहारी रचनायें हैं । ढाई द्वीपसे बाहर मनुष्य और तेरह दीपके बाहर सर्व साधारण अकृत्रिम जिनचैत्यालयोंके नहीं होनेसे उन असंख्य द्वीपोंकी अवहा नहीं की जा सकती है । व्यन्तरोंके अकृत्रिम नगरोंमें तो वहां भी चैत्यालय है । इस आक्षेपका उत्तर देनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिमवार्तिकको कहते हैं ।

सार्धद्वीपद्वये क्षेत्रविभागादिनिरूपणं। अध्यायेस्मिन्नसंख्येयेष्विप द्वीपेषु यत्कृतं॥२॥ मनुष्यलोकसंख्या या जिज्ञासविषया मुनेः। तेन निर्णीयते सद्धिरन्यत्र तदभावतः॥३॥

असंख्याते द्वीपोंके होनेपर भी इस तृतीय अध्यायमें श्री उमास्वामी महाराजने जो ढाई द्वीपोंमें ही क्षेत्र विभाग, पर्वत, नदी, आदिका निरूपण किया है, उससे अधीपति द्वारा सज्जन विद्वानों करके निर्णय कर लिया जाता है कि जो मनुष्यलोककी संख्या है, वही सूत्रकार मुनिकी जिज्ञासाका विषय है। क्योंकि ढाई द्वीपसे अतिरिक्त अन्य द्वीपोंमें उस मनुष्यलोककी संख्याका अमाव है। अधीत असंख्य द्वीपोंमेंसे ठीक भीतरले ढाई द्वीपोमें ही उत्कृष्टरूपसे द्विरूप वर्गधाराकी पंचम कृतिके धनस्वरूप ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५७५९३५६०३३६ यो उन्तीस अंक प्रमाण पर्याप्तमनुष्य पाये जाते हैं। अन्य द्वीपोंमें मनुष्य नहीं हैं। शिष्यके मनुष्यलोककी जिज्ञासा अनुसार सूत्रकारको नृत्वोकका क्याख्यान करना पढ़ा है। अन्य कोई पक्षपात या अवज्ञा करनेका अभिप्राय नहीं है।

#### नजु च जीवतत्त्वमरूपणे मक्तते किं निरर्थकं द्वीपसश्चद्रविशेषनिरूपणित्याशंकां निवारयति।

पुनः किसीकी सकटाक्ष आशंका है कि पहिछे ही अध्यायसे प्रारम्भ कर पूरे दूसरेमें और तीसरे अध्यायके कुछ भागमें जीवतत्त्वका प्ररूपण करना जब प्रकरणप्राप्त हो रहा है, तो फिर बीचमें ही स्पर्थ विशेषहीपों और विशेषसमुद्रोंका निरूपण सूत्रकारने क्यों कर दिया है ! निर्श्वक बातोंको सुनने के छिये किसी प्रेक्षावान के पास अवसर नहीं है । निर्धक बातोंसे बुद्धिमें परिश्रम उपजता है । पापप्रसंग भी हो जाता है । संवर और निर्जराके प्रस्ताव टल जाते हैं । इस प्रकार की गपी आशंकाके निवारणको प्रस्थकार अप्रिमवार्तिक करके करते हैं ।

#### न च द्वीपसमुद्रादिविशेषाणां प्ररूपणं । निःप्रयोजनमाशंक्यं मनुष्याधारनिश्चयात्॥ ४ ॥

द्वीप समुद्र, नदी, हद, खादि विशेषोंका प्रस्तपण करना प्रयोजनसहित है, बह भाशंका जहीं करनी चाहिये। क्योंकि इससे मनुष्योंके आधारमूल स्थलोंका निर्णय हो जाता है। सम्पूर्ण संसारियोंने मनुष्योंकी गणना उच्चकीटिके मीवोंमें है। श्री अरहन्तपरमेष्ठी या उरकृष्ट श्रोता, क्ला, अथवा वादी, प्रतिवादी, ये सब मनुष्य ही तो हैं। अतः जीवोंका वर्णन करते समय मनुष्य और उनके अधिकरण हो रहे ढाई द्वीप और दो समुदोंका निरूपण करना व्यर्थ बही है। ज्ञान या व्यानके उपयोगी प्रकरणोंको अवश्य सुनना, समझना चाहिय। यही ज्ञान विचारआकान्त होकर च्यान बन बैठता है और स्वसंत्रेष्ठ सुखका उरक्षदक हो रहा। संवर, निर्मरका संवरक हो जाता है।

#### कानि पुनर्निमित्तानि वद्दीपसमुद्रविक्षेत्रस्यमानानां मनुस्माणापित्साह ।

यहां किसीकी जिद्धासा है कि जन ढाई दीम्मिकोमें। या छवणोद, कालोद, दो समुद्रविशेषों ने उपज रहे मनुष्यों के फिर निमित्तकारण कौन हैं ! अर्थात्—िकन कारणों से मनुष्य इन ढाई दीपोंमें उपज जाते हैं ! अन्यत्र क्यों नहीं उपजते हैं ! इसके उत्तरमें श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिमवार्तिकको कहते हैं ।

## नानाक्षेत्रविपाकीनि कर्माण्युत्पत्तिहेतवः। संत्येव तद्विशेषेषु पुद्गलादिविपाकिवत्॥ ५॥

जैसे कि पुद्रल या जीव आदिमें विपाकको करने वाले पुद्रलविपाकी कर्म, जीविविपाकी कर्म, और भवविपाकी कर्म हैं, उसी प्रकार उन विशेषद्वीप या समुद्रविशेषोंमें उत्पत्ति होजानेके कारण अनेक क्षेत्रविपाकी कर्म भी संसारी आत्माके साथ बंधनवद्ध होरहे हैं।

यथा पुद्रलेषु शरीरादिलक्षणेषु विषयनशीलानि पुद्रलिविपाकीनि कर्माणि शरीरनामा-दीनि, यथा च भवविपाकीनि नरकायुरादीनि, जीविवपाकीनि च सद्देशादीनि, तथा तश्रो-त्यत्तौ मनुष्याणामस्येषां च बाणिनां हेतवः संति तद्दशानाक्षेत्रेषु विषयनशीलानि क्षेत्रविपा-कीन्यपि कर्माणि संति तत्र तत्रोत्पत्तौ तेषां हेतव इति तदाधारविशेषाः सर्वे निरूपणीया एव ।

जिस प्रकार शरीर, उपांग, हडी, रक्त, आदि स्वरूप पुद्रलेंगें विपान होनेकी टेबको रखने-बाले शरीर नामकर्म, आदिक पुद्रलिविपानी ६२ बासट कर्म हैं। '' देहादी फासंसा पण्णासा णिमिणताव जुगलं च, थिर सुह पत्तेय दुगं अगुरुतियं पोग्गलिव गई ''। और जिस प्रकार नरक आसु, तिर्यगासु, आदि चार कर्मप्रकृतियां भवविपानी हैं और सहेदनीय आदिक अठतार कर्मप्रकृतियां जीवविपानी हैं। ''आरडीण अविवाह खेत्तिकाई य आणुपुन्नीओं। अठत्तिर अवसेसा जीवविवाई मुणेयका''। ये तीन जातिकी प्रकृतिकां ममुष्पोंके या अन्यजीवोंके तिस प्रकार वहां उपजनेमें प्रेरक निमित्त कारण होजाती हैं, उसीके समान अनेकक्षेत्रोंमें विपाक होनेकी टेक्को धारनेत्राल चौथी जातिके चार आनुपूर्व्य क्षेत्र-विपाकी कर्म भी उन उन स्थलों पर उन जीवोंके जन्म लेकर उत्पत्ति होनेमें प्रेरक हेतु हो जाते हैं। अर्थाद् जीव जीवोंके जिस जातिके कर्मका सद्भात्र पाया जावेमा, तहनुसार उन उन द्वीप या समुद्रोंमें जीवका जन्म हो जायेगा। इस कारण उन जीवोंके संपूर्ण आधार विशेषोंका निरूपण करना आवश्यक ही पढ़ गया है।

तदप्ररूपणे जीवतत्त्वं निस्यात् प्ररूपितं । विशेषणेति तज्ज्ञानश्रद्धाने न प्रसिष्यतः ॥ ६ ॥ तिश्रवंधनमञ्जूषणं च।रित्रं च तथा क नु । मुक्तिमार्गोपदेशो नो शेषतत्त्वविशेषवाक् ॥ ७ ॥

यदि उन क्षेत्रोंका निरूपण नहीं किया जायगा ते। विशेषरूपकरके श्री उमाखामी महा-राज द्वारा जीवतत्त्वका निरूपण करना नहीं समझा जायगा। ऐसी दशामें उस जीवतत्त्वका झान करना और जीवतत्त्वका श्रद्धान करना ये दो रत्न कभी भी प्रसिद्ध नहीं होसकते हैं। और तिस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्द्धानकी प्रसिद्ध नहीं होनेपर उन दो को कारण मान कर होने वास्त्र तीसरा रत्न निर्दोष या पूर्णचारित्र तो भला कहां प्रसिद्ध हो सकता है ? और यों तीनों रत्नोंके नहीं प्रसिद्ध होने पर विचारा आधसूत्र द्वारा मोक्षमार्गका उपदेश देना भी कहां बना ! जीवको मूलभित्ति मानकर शेष छह तत्त्वोंका निरूपण किया जाता है । जीवतत्त्वकी प्ररूपणा हुये विना शेष अजीव आदि तत्त्वोंका विशेषरूपमी क्षयं करना नहीं बन पावेगा । अतः मोक्षमार्ग माने गये रक्षत्रयके विषय हो रहे जीवादि तत्त्वोंकी समीकीनप्रसिपित्व करानेके लिये उन जीवोंके आधारस्थानोंका निरूपण करना सूर्वकारका उचित कर्तन्य हैं।

तेषां हि द्वीपसग्रद्भविशेषाणाममस्यणे मनुष्याधाराणां नारकतिर्यन्देवाधाराणामप्य-प्रस्पणमसंगाम विशेषण जीवतस्वं निरूपिते म्सीश्वः तिक्रिक्षणाभिवः च न तिद्वेशनं श्रद्धानं च सिध्येत्, तद्दिद्धी श्रद्धानद्धानिक्षणं चारितं च क स्थानकते । ग्रुक्तिमार्गश्च केवं ? श्रेषाजीवादितस्ववचनं च नैवं स्यात् । ततो ग्रुक्तिमार्गोपदेशिमच्छता सम्यन्दर्शनज्ञान-चारित्राण्यभ्युपंतन्यानि । तदन्यत्मापार्यं युक्तिपार्गानुप्यचेः, तानि चाभ्युषगच्छता तद्दिषय-भाष्यकुमवद्दः जीवतस्वयजीवादितस्ववत् श्रितिपत्तव्यं । तस्वतिषद्धाने च तद्दिश्चेषा आधारादयः मित्रप्रकृपाः। इति युक्तिद्वीपसग्रद्वादिस्तिवेश्वादिविशेष्णक्षप्रभाष्याच्याचेश्वस्थन्। अवापरः माद्

कारण कि मनुष्योंके आधार हो रहे उन ढाई द्वीपविशेषों या दो समुद्रविशेषोंका निरूपण यदि नहीं किया जायगा. तब तो नारकी जीवोंके आधार हो रहे नरकस्थान तिर्येच प्राणियोंके आधारभूत तिर्यक् लोक और देवोंके आधारस्थानोंके भी निरूपण नहीं करनेका प्रसंग आ जावेगा। और ऐहा होनेसे विशेषरूपसे जीवतत्त्वका निरूपण कर दिया गया नहीं समझा जायगा। तथा विशेषक्षपते उस जीवतत्त्वका निरूपण नहीं करनेपर उस जीवतत्त्वमें विज्ञान या श्रद्धान होना नहीं सिद्ध हो पार्येंगे । उन विज्ञान और श्रद्धानकी नहीं सिद्धि होनेपर श्रद्धान और ज्ञानको कारण मान कर हुआ परिपूर्ण चारित्र मळा कहां सम्मावित किया जावेगा ? और इस अन्वकारसदृश असिद्धि-यों भी काली रातमें सन्यन्दरीन, सन्यन्द्वान, सन्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग कहां बना ? जीवतस्वसे अयारीष्ट अजीव, आदि छइ तत्त्वोंका परिभाषण भी इस प्रकारकी दशामें नहीं बन पाता है। तिस वारणसे मोक्षमार्गके उपदेशकी इच्छा रखनेवाले विद्वान्को सम्यग्दरीन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, अवस्य स्वीकार कर छेने पढेंगे । उन तीनोंमेंसे एकका भी विस्केष हो जानेपर मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती है। और उन सम्यग्दर्शन, सम्यग्नान, सम्यक् चारित्रोंको स्वीकार कर रहे विद्वान्करके उस रत्नत्रयके विषयपनका अनुभव कर रहे जीवतस्त्रकी अजीव, आसव, आदि तत्त्वोंके समान प्रति-पत्ति कर लेनी चाहिये और यों उस जीवतस्वभी प्रतिपाचि करते सन्ते पण्डित हो उस जीवके विशेष हो रहे आधार आदि और आधारोंकी लम्बाई, चौडाई, आदिकी प्रतिपत्ति कर लेना आवश्यक पढ जाता है । इस कारण इस तृतीय अध्यायमें द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, आदिकी रचना, चीडाई, उनमें रहनेवाळे जीवोंकी आयु, आदिका विशेषरूपते सूत्रकारने प्ररूपण किया है, यह युक्तिपूर्ण है। यहः तक तीसरे अध्यायके प्रमेयका विवरण हो चुका है। अब यहां कोई दूसरा सृष्टिकर्ताबादी विद्वान अपने मतको बहुत बढिया समझता हुआ कह रहा है, उसको भी सुनछो।

ननु द्वीपादयो भीमद्वेतुकाः संतु सूत्रिताः । सिन्नवेशिवशेषत्वसिद्धेर्घटविद्यसत् ॥ ८ ॥ हेतोरीश्वरदेहेनानेकांतादिति केचन । तत्रापरे तु मन्यंते निर्देहेश्वरवादिनः ॥ ९ ॥ निभित्तकारणं तेषां नेश्वरस्तत्र सिष्यति । निर्देहत्वाद्यथा मुक्तः पुरुषः सम्मतं स्वयं ॥ १० ॥

बैशोषिक अपने पक्षका अनुमान प्रमाण द्वारा अवधारण कराता है कि श्री उमास्वामी महाराज करके उक्त सूत्रों द्वारा तहे जा चुके द्वीप, समुद्र, शृषिवियें, पर्वत, शरीर, इन्दियें, आदिक पदार्थ (पक्ष ) किसी बुद्धिमान् कर्तालक्षप हेतु करके बनाये गये समझे जाओ (साध्य ) निशेष प्रकारकी रचना बन रही होनेसे (हेतु ) बडके समान (अन्ययद्यान्त ) । आचार्य कहते हैं कि यों वैशेषिकका मन्तन्य प्रशस्त नहीं है । क्योंकि उक्त अनुमानके हेतुका ईश्वरके शरीरकरके न्यमिचार हो जाता है । पौराणिक विद्वानोंने ईश्वरका शरीर स्वीकार किया है । किन्तु उस शरीरका निमित्त कारण ईश्वर नहीं पढता है । अतः हेतुके ठइर जानेसे ईश्वरदेहमें साध्यका अभाव हो जानेपर सिन्नेशाविशेषत्व हेतु न्यमिचारी हो जाता है । यदि ईश्वरकरके अपने शरीरका निर्माण भी अन्य अन्य शरीरोद्वारा स्वीकार किया जायगा तो अनवस्था दोष आ जावेगा । ईश्वर अपने शरीरोंको बनाते बनाते उपशीणशक्तिक हो जायगा । यों ईश्वरशरीर करके न्यभिचार दे चुकनेपर उस प्रकरणमें ईश्वरके देहको नहीं कहनेवाले कोई दूसरे वादी तो यों मान बैठे हैं कि ईश्वरके देह ही नहीं है, शरीररहित ही ईश्वर सम्पूर्णकार्योका निमित्तकारण हो जाता है । आचार्य कहते हैं कि उन वादियोंके यहां उन तनु तरु आदि कार्योमें ईश्वर निमित्तकारण सिद्ध नहीं हो पाता है (प्रतिश्वा), देहरित होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वयं आपका मले प्रकार माना जा चुका मुक्त आत्मा सृष्टिका निमित्तकारण नहीं है (अन्वयद्यान्त )। अतः द्वीप, समुद्र, आदि सब अक्षत्रिम है । अनादि अनिधन हैं ।

विवादाध्यासिता द्वीपादयो बुद्धिमत्कारणकाः सिक्षेवेशविशेषत्वात् घटनदिति कश्चित् । तदसत् । हेतोरीश्वरशरीरेण विश्वतश्चश्चुरुत विश्वतो ग्रुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्यात् । संबाद्धुरुपां धमित संपतंत्रेद्धावाभूमी जनयन् देव एकं इत्यागमप्रसिद्धनानेकांतादिति । अपरे नेश्वरस्य शरीरमस्ति यतो हेतोर्व्यभिचारश्चोद्यत इति मन्यंते तेषां " अपाणिपादो जवनो प्रदीता पश्चत्यचश्चः स श्रृणोत्यकणः, स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरस्यं पुरुषं महांतं " इत्यागमं प्रमाणयतां नेश्वरस्तत्र निमित्तकारणं सिध्द्यति निर्देहत्वात् स्वयं संमतद्यक्तात्मवत् ।

किसी पौराणिक विद्वान्का अनुमान है कि द्वीप, समुद्र, आदि ये कृत्रिम हैं या अकृत्रिम हैं यों विवादमें निर्णयार्थ प्राप्त हो रहे द्वीप, पर्वत, आदिक (पक्ष) किसी बुद्धिमान कारण करके बनाये गये कार्य हैं (साध्य)। सिन्नेवश यानी रचनाविशेष होनेसे (हेतु) बटके समान (अन्वयदृष्टान्त) यहांतक कोई कह रहा है। प्रन्थकार कहते हैं कि उसका कहना असत्यार्थ है। क्योंकि ईश्वरेक तुम्हारे इस आगम द्वारा प्रसिद्ध हो रहे शरीरकरके सिन्नेवशिवशेषव्य हेतुका व्यभिचार हो जाता है। तुम्हारा माना हुआ वह आगम इस प्रकार है। शुक्छ यजुर्वेद संहिता १८ वां अध्याय उनीसवां मंत्र है कि ईश्वरके सब ओरसे चक्षुयें हैं, सम्पूर्ण ओर उसका मुख विद्यमान है, सब ओरसे उसकी बाहुयें हैं, वितर्कणा पूर्वक कहा जाता है कि अखिछ ओरसे उसके पांव हैं। जिस प्राणी के जे जे चक्षुः, मुख आदि हैं वे सब उस उस उपाधिवाछे परमेश्वरके ही हैं! यों सर्वत्र चक्षु आदि घटित होजाते हैं। पुण्य, पापोंके, अनुसार परमाणुओं करके वह एक ही देव

आकाश और भूमि सबको अन्य साधनोंके बिना बना रहा है। पंचभूतरूप उपादान अवधवीं करके संगत करा देता है। यहां कोई दूसरे नैयायिक विद्वान यों मान बैठे हैं कि ईश्वरके कोई शरीर नहीं हैं, जिससे कि हमारे हेतुका व्यभिचार दोप बलात्कारसे प्रेरा जाता है। वे इस अपने आगमको प्रमाण कर रहे हैं। खेताश्वतरोपनिषद्के तृतीय अध्यायमें १९ वा श्लोक है कि वह ईश्वर हाथों से रहित हो रहा ही चाहे जिस छोटे या बढे पदार्थको पकड सकता है। पांचोंसे रहित हो रहा बढे वेगसे दीड सकता है। आंकोंक बिना सबको देख लेता है, कानोंक बिना संपूर्ण शद्बोंको सुन लेता है, वह सबको जानता है, उस ईश्वरका परिज्ञान करनेवाला कोई नहीं है। योगीपुरुष उसको सबका अपवर्ती प्रधानपुरुष कहते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उक्त आगमको प्रमाण माननेवाले उन नैयायिकोंके यहां माना गया शरीररहित ईश्वर भी उन दीप, समुद्र, आदिकी रचनामें निमित्तकारण सिद्ध नहीं होपाता है। क्योंकि ईश्वर देहरहित है। जो जो देहरहित है वह वह दीप, आदिका निमित्तकारण नहीं, जैसे कि नैयायिकोंका स्वयंसंमत होरहा मुक्तात्मा निर्देह होनेसे दीप आदिका निमित्तकारक नहीं है।

नतु च ग्रुक्तात्मनामज्ञत्वास्य जगदुत्पत्तौ निमित्तत्वं ईश्वरस्य तु निर्देहस्यापि नित्यका-नत्वात्तिभित्तकारणत्वमेवति चेत्-

पुनः नैयायिकका अवधारण है कि भो महाराज, मुक्त आत्मा तो ज्ञानरहित अब हैं। क्योंकि मोक्ष अवस्थामें बुद्धि, सुख आदि गुणोंका विनाश हो जाता है। अतः मुक्त आत्मा विचारा जगत् की उत्पत्तिका निमित्तकारण नहीं हो सकता है। हां, ईश्वर तो देहरिहत हाता हुआ भी नित्य ज्ञानका अधिकरण होनेसे इस जगत्का निमित्तकारण हो ही जाता है। कर्त्ताके निकट ज्ञान होनेकी आवस्यकता है। पोंगा शरीर अकिंकितकर है। इस कारण यों अवधारण प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द स्थामीकी अग्रिमवार्तिक को सुनो—

#### नित्यज्ञानत्वतो हेतुरीश्वरो जगतामिति । न युक्तमन्वयासत्त्वाद्यतिरेकाप्रसिद्धितः ॥ १ ॥

ईश्वर (पक्ष) तीनों जगत्के निर्माणका हेतु है (साध्य) क्योंकि उसका ज्ञान नित्य है (हेतु) नित्यज्ञानवाळा ईश्वर जगत्को बना ळेता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका कथन युक्तिपूर्ण नहीं। क्योंकि इस अनुमानमें अन्वयदष्टांतका सद्भाव नहीं है। अन्वयदष्टान्तके विना साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति भळा कहां निर्णात की जावेगी? आप नैयायिकोंके सिद्धान्त अनुसार एक ही व्यक्ति नित्य ज्ञानवान है, और वही जगत्का निर्माता है। उसीको तुमने पक्ष बना रखा है। ऐसी दशामें अन्वयदष्टान्तका सद्भाव नहीं सम्भवनेसे व्यतिरेक्षकी भी असिद्धि हो जाती है। कारण कि अन्वयकी मित्तिपर व्यतिरेक्षकी सामर्थ्य बहुत बढ जाती है। अर्थात्—यदि दष्टान्तके विना ही चाहे जिस हेतुसे अन्व सन्व किसी भी साध्यकी सिद्धि कर लोगे, तब तो तुम्हारा उद्भा छाख इमयोंका

सिद्ध हो जावेगा, इसके छिये यों अनुमान बनाया जा सकता है । मदीयोऽक्रको छाक्षिकः विछ-भ्राणमतिमत्त्वात्, खंजत्वाद् वा । विछक्षण छंगडी, छूछी, गति, अनुसार चछनेवाछा होनेसे मेरा छंगडा टट्टू बहुमूल्य है ।

नह्य बित्यज्ञानत्वादित्येतस्य हेतारन्वयासन्वेषि न व्यतिरेकासन्त्वं जगदकारणस्यास्मदा-देनित्यज्ञानत्वाभावादिति न मंतव्यं, ज्ञानसंतानापेश्वयास्मदादेरपि नित्यज्ञानत्वात् । न हि ज्ञानसामान्यरहितोस्मदादिः संभवति, विरोधात् । यदि पुनर्ज्ञानविशेषापेश्वया नित्यज्ञानत्वं हेतुस्तदा न सिद्ध इत्याह—

नैयायिक अपने मतका अवधारण करते हुये कहते हैं कि यद्यपि हमारे " नित्यज्ञानत्वात " इस हेत्के किसी दृष्टान्तमें अन्वयका सद्भाव नहीं है । क्योंकि ईश्वरके अतिरिक्त किसी भी व्यक्तिमें नित्य भ्रानसे सहितपना नहीं पाया जाता है। तथापि हमारे हेतुके व्यतिरेकका असद्भाव नहीं कहा जा सकता है। " प्राणादिमत्त्र आदि " अनेक केवळव्यतिरेकी हेतुओंमें अन्वय नहीं होनेपर भा व्यति-रेक बड़ी प्रसन्ततासे सुखपूर्वक मिल जाता है। देखिये, जगत्का निर्माण करनेमें कारण नहीं बन रहे इम आदि अनेक संसारीजीवोंके नित्यज्ञानवान्पनेका अभाव है। इस ढंगसे साध्यके नहीं होनेपर हेतुके नहीं ठहरनेसे अस्मदादिक ही व्यतिरेकदृष्टान्त ठहर जाते हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये । क्योंकि इम आदिक अनेक जीवोंके भी ज्ञानसंतान अपेक्षा करके नित्यज्ञान सहितपना विद्यमान है । इम आदिक जीव सोते, जागते, बैठते, उठते, मरते, जन्मते, कदाचित भी सामान्यज्ञानसे रहित नहीं सम्भवते हैं । आत्माका ज्ञान रहितपनेके साथ विरोध है । विप्रह्रगति. मत्त. मुर्चित, गर्म, अण्डज, या भरणदशामें भी आत्माके ज्ञान पाया जाता है। अन्यथा लक्षणके नष्ट हो जानेसे रूक्ष्य आत्मा जड बन बैठेगा । बहुत कहनेसे क्या फरू है । आत्मा नष्ट ही हो जावेगा । शीतकाल या हिम आदिका सनिधान होनेपर अग्निमें स्वल्प उण्गता भले ही रह जाय, किन्त उष्ण-ताका सर्वथा अमाव हो जानेपर वह अग्निपर्याय ही नहीं स्थिर रह सकती है। अत: अनादिकालमे अनन्तकाळतक धाराप्रवाह चळे आ रहे नित्य ज्ञानसे सहित अस्मदादिक संसारी जीव तुम्हारे यहां सृष्टिकत्ती नहीं माने गये हैं। अतः जो जगत्निर्माता नहीं वह नित्यज्ञानवान् नहीं, इस व्यति-रेकमें न्यभिचार आ जानेसे तुम नैयायिकोंका नित्यज्ञानल हेतु केवळव्यतिरेकी नहीं सिद्ध हो सका है। यदि फिर आप धाराप्रवाहरूप नित्यताको नहीं पकडकर ईश्वरमें विशेष व्यक्तिरूप बानकी अपेक्षासे नित्यज्ञानसहितपना हेतु करोगे तब व्यतिरेक्द्रष्टान्त तो बन गया । किन्तु ईश्वरके ज्ञानका नित्यपना सिद्ध नहीं हो पाता है। इसी बातको प्रन्यकार वार्त्तिक द्वारा कहते हैं।

> बोधो न वेधसो नित्यो बोधत्वादन्यबोधवत् । इति हेतोरसिद्धत्वान्न वेधाः कारणं भुवः ॥ १२ ॥

विधाता माने गये ईश्वरका ज्ञान (.पक्ष ) नित्य नहीं है (साध्य ) ज्ञान होनेसे (हेतु ) अन्य जीवोंके ज्ञान समान (अन्वयदृष्टान्त )। इस प्रकार पक्षमें नहीं वर्त रहे नित्यज्ञानत्व हेतुका असिद्रहेत्वामासपना हो जानेसे पृथ्वी, पर्वत, द्वीप, आदिका निमित्तकारण ईश्वर नहीं सुध पाता है।

बोधत्वं च स्यादीश्वरबोधस्य नित्यत्वं च स्याद्विरोधाभावादस्मादशविशेषत्वादिश्वरस्य विश्विष्टवोधोपपत्तेः अन्यथा सर्वश्रत्वसिद्धिविरोधात् इति कश्चित् । सोप्ययुक्तवादी, तद्दोधस्य श्रमाणत्वे ततोऽपरस्य फलज्ञानस्यानित्यस्य तत्र प्रसिद्धरफलस्य प्रमाणस्यासम्भवात् । तस्य फलत्वे नित्यत्वविरोधात् । फलं हि प्रमाणकार्ये तत्कथं नित्यं युक्तं ? प्रमाणफलात्मकमीश्वर-श्रानमकमित्यपि व्याहतं, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् तस्य स्वजननासंभवात् ।

यहां कोई नैयायिक यों प्रतिकृत तर्क उठता है कि ईम्बरके ज्ञानमें ज्ञानपना रहे और नित्य-लाभाव साध्य नहीं रहे । अर्थात् —नित्यपना भी बना रहे, कोई विरोध नहीं पडता है । कारण कि अस्मद् आदि अल्पन्न जीवोंसे विलक्षण ईश्वर है । हमारे अनित्य ज्ञानसे उस ईश्वरका ज्ञान जित्य होता हुआ निशिष्ट सिद्ध होरहा है । अन्यया यानी हम छोगोंकी अपेक्षा ईस्टरमें यदि विशेष अतिशय नहीं माने जाकर दूसरे सामान्य ढंगोंको अपनाया जायगा । तब तो सर्वज्ञपनकी सिद्धिका विरोध होजायगा कारण कि हम छोग सर्वज्ञ नहीं हैं। वैसाही अल्पज्ञ ईश्वर होना चाहिये। किन्तु जैनजन परमात्माका सर्वेद्वपना इष्ट करते हैं । उसीके समान ईश्वरके ज्ञानको नित्य भी अभीष्ट कर छिया जाय । अतः बोधल हेतुसे ईश्वरका ज्ञान अनित्य नहीं सवा, तब तो हमारे नित्यज्ञानत्व हेतुसे वह जगत्का हेत् **सघ गया, इस प्रकार कोई ई**स्वरवादी कह रहा है। प्रंथकार कहते हैं कि वह भी युक्तिशून्य बोलने की ठेव को रखनेवाला है, क्योंकि प्रमाक करण होरहे प्रमाणोंका फल अवस्य होना चाहिये। अब बताओ, वह ईश्वरका ज्ञान विचारा प्रमाणस्वरूप है ? या फळआत्मक है ? उस ईश्वरके नित्यज्ञानको यदि प्रमाण माना जायगा तो उससे न्यारे दूसरे अनित्य होरहे फळक्कानकी उस ईश्वरमें प्रसिद्धि होजा-यगी । फलते रहित होरहे प्रमाणज्ञानका असंभव है । द्वितीय पक्ष अनुसार यदि उसी एक ज्ञानको फल मान छोगे तो उस ज्ञानके नित्यपनका विरोध होगा। फळ तो कारकोंका कार्य होरहा अनित्य हुआ करता **है। मछा प्रमाणके** कार्य होस्हे उस फलको नित्य कहना किस प्रकार युक्त होसकता है ? तुम ही विचार करो । तुम्हारा यह कहना भी न्याघात दोषयुक्त है कि ईश्वर हा एक ही ज्ञान प्रमाण आत्म क है और फलस्वरूप भी है। स्याद्वादियों के यहां एक धर्मीनें प्रमाणत्व, प्रमेयत्व, प्रमातृत्व, प्रमाफलत्व आदि कतिपय धर्म अक्षुण्ण ठहर जाते हैं । किंतु तुम एकान्तवादियों के यहां करणत्व और फळत्वका विरोध है। तुम्हारे यहां **ईश्वरज्ञानमें** प्रमाणता माननेपर फलल नष्ट हो जाता है। और फक्पना माननेपर करणपना नष्ट हो जाता है। " नैकं स्वस्मात्प्रजायते " अपनी आत्मामें अपनी उत्पत्तिरूप क्रियाका विरोध है। हां, इतिकियाका विरोध नहीं है। अतः उस प्रमाणआत्मक ईश्वरज्ञानसे स्वका उपजनारूप-फलक

असम्भव है। स्वयं अपनेसे अपनेमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस सिद्धान्तको हम स्याद्वादी भी अनेक युक्तियोंसे परिपुष्ट समझते हुये मानते हैं।

यदि पुनरीश्वस्य ममाणभूतं ज्ञानं नित्यं, फलभूतं त्वनित्यमिति मतं, तदा ज्ञानद्वयप-रिकस्यनायां मयोजनं वाच्यं । तस्याश्वरीरस्य सृष्टुः सदा सर्वज्ञत्वसिद्धिः मयोजनमिति चेन्न, अज्ञानस्याया एव सिन्निक्षीदिसामग्र्याः ममाणत्वाभ्युपगमेपि सदा सर्वार्थज्ञानस्यानित्यस्य तस्फलस्य करपनात् सदा सर्वज्ञत्वसिद्धेर्व्यवस्थापनात् ।

यदि फिर वैशेषिक अपना मत यों कहे कि ईश्वरके दो ज्ञान हैं। प्रमाण हो रहा ज्ञान तो नित्य है और ईश्वरका ज्ञान फलभूत हो रहा अनित्य है, यों मन्तव्य होय तब तो आचार्य कहते हैं कि तुम वैशेषिकों को ईश्वरके दो ज्ञानों की प्रकल्पना करने में प्रयोजन कहना चाहिये। केवल एक ज्ञानवाले ईश्वरके ऊपर व्यर्थमें दो ज्ञानों का बोझ लादना अनुचित है। यदि वैशेषिक यों कहें कि शरीररिहत हो रहे उस सर्जनेवाले ईश्वरको सर्वदा सर्वज्ञपना सिद्ध होता रहे यही दो ज्ञानों की कल्पनाका फल है। एक करणज्ञान दूसरे फलज्ञान के स्वीकार कर लेनेसे ईश्वरका सर्वज्ञपना सदा रिक्त रह जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्यों कि तुम्हारे यहां मानी गयी अज्ञानस्वरूप सिक्तर्ष, इन्द्रियां, आदि सामग्रीको ही प्रमाणपना स्वीकार करनेपर भी सदा सर्व अर्थको विषय करनेवाले और उस सामग्रीके फलस्वरूप अनित्य ईश्वरज्ञान एक ही माना जायगा। सिक्तर्ष आकाश, काल, आदिसे उसकी सर्वदा उत्पत्ति होते रहनेसे सर्वज्ञपना साथ लिया जाय, कोई क्षांति नहीं पढती है। कूटस्य हो रहे पदार्थों को अपेक्षा सर्वदा अर्थिकया करते हुये उपज रहे पदार्थ परमार्थभूत समझे जाते हैं। हम जैनोंके यहां भी आकाश कालाणु, केवलज्ञानावरण कर्मों का क्षय, आदि जड कारणोंसे परमात्माके सतत केवलज्ञानकी धाराप्रवाहसे उत्पत्ति होते रहनेपर परमात्माके सर्वज्ञता परिपूर्ण बनी रहती मानी गयी है।

नन्वश्वरीरस्येद्रियसिककर्षभाववदंतः करणसिककर्षस्याप्यभावात् सिककर्षितिमामग्री-विरहे ततो अनादिसर्वार्थविषयं नित्यक्कानमेव तस्य प्रमाणमिति चेन्न, आत्मार्थसिनकर्षस्य प्रमाण-त्वोपगमात् । महेश्वरस्य हि सक्तत्सर्वार्थसिककर्षमात्रात्सर्वार्थक्कानोत्पत्तिरिष्यतं कौश्चित् ततो न नित्यक्कानत्वं सिद्धं, येन न जगिक्मित्तमीश्वरो निर्देहत्वात् ग्रुक्तात्मवदित्यन्तुमानं प्रतिहन्यत ।

नैयायिक विद्वान् आक्षेप करते हैं कि शरीररहित ईश्वरके जब बहिरंग इन्द्रियां या अन्तरंग इन्द्रिय नहीं हैं तो इन्द्रिय सिनकिर्काखरूप सामग्री न होनेसे और अन्तरंग इंद्रिय कहे गये मनके साथ भी पदार्थोंका सिनक्ष नहीं होनेसे सिनकर्ष, परामर्श, आदि सामग्रीका विरह है, ऐसा होनेपर ईश्वरमें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। तिस क्वारण अनादिकाळसे सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय कर श्री नियानन्द स्वामी समझाते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि कुम्हारे यहां आतमा और अधिक स्विक्विको प्रमाणपत्ना स्वीकार किया गया है । कही सुवर्ण आदिमें आतमा, मन, इन्हिय, अर्थ, जारोंका समिक्विक हो होकर ज्ञान उपजता माना है । किसी सुख आदिका मन अर्थ और आत्माके त्रय सिक्विक है हो ज्ञान उपज जाता है । किसी सुख आदिका मन अर्थ और आत्माके त्रय सिक्विक है हो ज्ञान उपज जाता है । किसी सुख आदिका मन अर्थ और आत्माके त्रय सिक्विक है । तुम्हारे यहा प्रमितिके करण स्वीकार किये गय सिक्विक के । प्रमाण इष्ट कर छिया है । क्यापक और नित्य हो रहे महेस्वरका एक बार ही सम्पूर्ण अर्थोंके साथ सिक्विक हो जानेसे सम्पूर्ण अर्थोंके ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाना किन्हीं नैयायिक विद्वानोंने अभीष्ट कर छी है । तिस कारण ईस्वर का ज्ञान नित्य नहीं सिद्ध हो सका, जिससे कि ईस्वर ( पक्ष ) जगत्का निमित्त कारण नहीं है ( साध्य ) शरीररहित होनेसे ( हेतु ) मुक्त आत्माके समान ( अन्वयद्द्वान्त ), यह हमारा अनुमान प्रतिधातको प्राप्त हो जाता । भावार्थ नैयायिकोंने देहरहित भी ईस्वरकी नित्यज्ञानकी सामर्थद्वारा जगन्दिनमीता माना था । किन्तु ईस्वरका ज्ञान उनके बूते नित्य नहीं सिद्ध हो सका । अतः निर्देहत्व हेत्रसे ईत्वरमें जगन्द निमित्तपनके अभावको साधनेवाला हमारा अनुमान अप्रतिहत है । नित्यज्ञानसे रिहत कोई भी जीव देहरहित होता हुआ मुक्तआत्माके समान जगत्का निर्माता नहीं है ।

काळादेरशरीरस्य कार्योत्पत्तिनिमित्तता । सिद्धेति व्यभिचारित्वं निर्देहत्वस्य चेन्मतं ॥ १३ ॥ न तस्य पुरुषत्वेन विशिष्टस्य प्रयोगतः । काळादेरशरीरत्वेश्वरत्वाव्यभिचारतः ॥ १४ ॥

नैयायिक कहते हैं कि शरीररहित भी आकाश, काल अदृष्ट आदिको यावत् कार्योकी उत्पत्ति में निमित्तकारणपना सिद्ध है । इस कारण तुम जैनोंका निर्देहत्व हेतु व्यभिचारहेत्वाभास दोबसे सिहत है, ऐसा मन्तव्य होनेपर तो आजार्य कहते हैं कि यों नहीं कहना । क्योंकि वह केवल ''निर्देहत्व'' इतना ही हेतुका शरीर नहीं है । किन्तु पुरुषपने करके विशिष्ट हो रहे उस निर्देहत्व हेतुका प्रयोग किया गया है । अतः काल आदिकसे व्यभिचार दोष नहीं है । क्योंकि कालादिकमें अशरीरत्व है । किन्तु विशिष्टपुरुष ( ईश्वर ) पना नहीं है । कालादिकमें शरीररहित ईश्वरपनका व्यवहार नहीं होता है । अतः कालादिमें हेतुका पूरा शरीरषाटित नहीं होनेसे व्यभिचारदोष नहीं फटक पाता है ।

देशिषकाता निर्देश पुरुषविश्वेषा महेश्वरस्तत्त्वनिर्देश्च इवस्व ततः पुरुषत्व सति निर्देश-त्वादिति पुरुषत्वेन विश्विष्ठस्य निर्देश्वस्य प्रयोगाम कालादिना सर्वकार्यात्पत्तिनिरित्तेनाश्चरीरेण व्यक्षित्वारित्वं यताऽमतिहतस्विष्ठमञ्जूमानं न स्यादश्वरीरेश्वरजगिमित्तत्वाभावद्याधनं । कि. च— इमारे निर्देश्य हेतुके पेटमें ही पुरुषिशिषपना बुसा है। जैसे कि अज्ञानी कह देनेंसे पर्यु-दासहित करके जीव उसके पेटमें बुसा हुआ है। अज्ञानी कोई डेल नहीं होता है। देहसे जो निष्कांत होरहा है वह विशेषपुरुष महेरकर निर्देह है " निरादयः ज्ञान्तावर्थे पंचन्याः" इससे वहां तत्पुरुष समास होजाता है। उस निर्देह पुरुषके भावको निर्देहपुरुषक कहते हैं। " भावे क्वलको " भावें के प्रत्यय कर दिया गया है। तिस कारण " पुरुषत्वे सित निर्देहत्वात्" पुरुष होते हुचे निर्देहपना इसना हेतु बना है। इस पुरुषत्व करके विशिष्ट होरहे निर्देहत्व हेतुका प्रयोग कर देनेसे सर्व कार्योकी उत्पत्तिमें निमित्त माने जारहे किन्तु शर्मारहित जड़ काल, आकाश, आदि करके हेतुका व्यमिचार दोष नहीं आता है। जिससे कि हम जैनोंका यह अशरीर ईस्वरमें जगत्के निमित्तपत्रके अभावको साधनेवाला अनुमान अप्रतिहत (अकाल्य) नहीं होजाय। अर्थात् हथारा अनुमान अप्रतिहत (अकाल्य) नहीं होजाय। अर्थात् हथारा अनुमान निर्देश्य है। दूसरी बात एक यह भी है, उसको अगली वार्तिकसे सुनो।

# जगतां नेश्वरो हेतुरज्ञत्वादन्यजंतुवत् । न ज्ञोसावशरीरत्वान्युक्तवत्सोन्यथा सवित् ॥ १५ ॥

ईस्वर ( पक्ष ) तीनों जमत्त्का निर्माणकर्त्ता हेतु नहीं है- ( साध्य ) अक्र होमेसे (हेतु) अन्य जंतुओंके समान ( अन्वयदष्टान्त ) इस अनुमानका हेतु पक्षमें ठहर जाता है। अतः असिद्ध हेत्वाभास नहीं है । देखिये, वह ईश्वर ( पक्ष ) ज्ञाता नहीं है ( साध्य ) शारीररहितः होनेसे ( हेतु ) मुक्त आत्माके समान, अन्यथा यानी शरीररहित भी ईश्वरको यदि हायक मान लिया जायगा तो। वह मुक्त आत्मा भी ज्ञानी बन बैठेगा । अर्थात् — वैशेषिकोंने मोक्ष अवस्थामे आत्माके बुद्धि आदि नी विशेष गुर्णीका अत्यन्त उच्छेद इष्ट कर छिया है। '' नवानामात्मानक्षेत्रचुणानामत्यन्तोच्छेदो मुर्क्तः ''। कोई विद्वान् यों भी वखानते हैं " एकविंशतिदःखन्त्रंसी मोक्षः "। छह इन्द्रियां, ६ छह इन्द्रियोंके विषय १२ और ६ इन्द्रियों के झाम १८ सुख १२६ दुःख २० और शरीर २१ यों इक्कींस दःखों का मुक्ति अवस्थामें विनाश होजाता है। यद्यपि घट, डेल आदि पदार्थीमें आत्मसंबंधी नी विशेष गुण या इसीस दःख नहीं हैं। अतः घट आदिको भी मुक्तपनैका अतिप्रसंग यो नहीं होसकता है कि मोक्ष अवस्थामें गुणोंका या दुःखों का खंस उपजना चाहिये। प्रति योगियोंका प्रथम संद्रावं होने पर तो पुनः उनका जंस हो सकता है। किन्तु घट आदिमें क्रान आदि गुणों या दुःखीका प्रथमस्य क्रि: अत्यन्ताभाव है। अतः अतिक्यापि दोषः नहीं जाता है। जैनोंके यहां भी इस अतिप्रसंगके निवारणार्थ कर्मोंके ध्वंसको मौक्ष मानते हुये इक्षी उपाथका अव-जम्बन किया जा रहा है। तभी डेल, बड़ा, आदिमें मुक्तपनका अतिप्रसंग टल सका है। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकोंके यहां मुक्ति अवस्थामें आत्मा शरीररहित होता संता जानरहित भी हो जाता है । इसी मुक्कारक्षाने अनुसार अस्तिरहित होनेसे बाह वन गया क्षेत्ररकराके जनस्वत निर्माण

नहीं हो सकता साध दिया जाता है। यहां इतना और समझ लेना चाहिये कि क्षेय और ज्ञानवान्में अन्तर है। " जानाति इति इः " जो आत्मा निज ज्ञानपरिणितिके साथ तदात्मक हो रहा सन्ता जानता है, वह ज्ञ है। वैशेषिक और नैयायिक विद्वान् तो गुण और गुणीका भेद मानते हैं। उनके यहां " ज्ञ " शद्ध ही अलीक है। वे दण्डवान् पुरुषः ते समान ज्ञानवान् आत्मा यों कह सकते हैं। आत्माका गांठका निजस्वकर ज्ञान नहीं है। ऐसी दशामें केवल ईश्वर या मुक्त आत्मायें ही नहीं, किन्तु सभी जीवोंकी आत्मायें अञ्च ठहरती हैं। जो मूल स्वरूपसे अञ्च है आकाशके समान वह ज्ञानके योगसे भी " ज्ञ " नहीं हो सकता है। अतः आचार्योकी ओरसे कहा गया अञ्चपना हेतु सामिप्राय है।

एतेनानित्यज्ञानत्वेपीक्थरस्य ज्ञात्वा जगिषामित्तत्वसिद्धेर्न ग्रुक्तात्मवत्तदिनिमित्तत्विमित्त्वित्ये-तिभरस्तमग्रारीरस्य, तन्मते सर्थथाप्यज्ञत्वात् । तस्य ज्ञत्वे ग्रुक्तात्मनोपि ज्ञत्वमसंगाद्वि-वेषाभावात् ।

इस उक्त वायन करने वैशेषिकों के इस कथनका भी निराकरण किया जा चुका समझ छो कि अनित्य ज्ञानसे युक्त हो रहे भी ईश्वरको कारणों का परिक्वान कर जगत्का निमित्तपना सिद्ध हो जाता है। इस कारण मुक्त आत्मा के नमान ईश्वरको उस जगत्का अनिमित्तपना नहीं है। अर्थात् मुक्त आत्मा तो सर्वथा ज्ञानसे रहित है। किश्तु ईश्वर अनित्यज्ञानसे युक्त है। अतः जगत्का निमित्तकारण हो सकता है। इस वैशेपिकों के मतका निराकरण यों हां जाता है कि उनके मतमें शरीररिहत आत्माको सभी प्रकारिसे अज्ञ माना गया है। यदि अशरीर भी उस ईश्वरको ज्ञ माना जायगा तब तो मुक्त आत्माको ज्ञ-पनेका प्रसंग होगा। क्योंकि ईश्वर और मुक्त आत्मामें विशेषाधायक अन्तरका अभाव है।

#### सदेहबुद्धिमद्धेतुर्दृष्टांतोपि घटः कथं । निर्देहबुद्धिमद्धेतौ साध्ये जगति युज्यते ॥ १६ ॥

जगत्में निमित्तकारण माने गये देहरहित बुद्धिमान्को साध्य करते संते भळा देहसिहत बुद्धिमान्, कुळाळको अपना हेतु मानकर उपजा घट दृष्टान्त भी किस प्रकारसे युक्त हो सकता है शर्थात्—साध्यकोटिमें देहरिहत बुद्धिमान् है और घटदृष्टान्तकी सामर्थिस देहसिहत बुद्धिमान् निमित्तकारण सध जायगा। ऐसी दशामें हेतुके विरुद्धहेत्वाभास हो जानेकी सम्भावना है।

> धीमदेतुत्वसामान्यं साध्यं चित्रिविशेषकं । नानाधीमत्रिमित्तत्वसिद्धेः स्यात् ।सिद्धसाधनम् ॥ १७ ॥ नानात्मपरिणामास्यभावकर्मनिमित्तकं । सिद्धं हीदं जगत्तस्य तद्भोग्यत्वप्रसिद्धितः ॥ १८ ॥

वैशेषिक यदि विशेषोंसे रहित केवल बुद्धिमान हेत्से जन्यपन सामान्यको साध्य करेंगे तब तो जगतका निमित्तपना नानाबुद्धिमानोंको सध जायगा । ऐसी दशामें वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष लगा । अर्थात् — धूम हेतु द्वारा जैसे तृणसम्बन्धी पत्तोसम्बन्धी और घास या धौकी आग इत्यादि विशेषताओंको नहीं कर कोरे अग्निसामान्यको साधा जाता है, उसी प्रकार जगत्का निर्माण कत्ती सामान्यरूपसे बुद्धिमान् साधा जाता है। सर्वज्ञता, अल्पज्ञता, बहुज्ञता, मतिज्ञानीपन, प्रत्यक्ष-ब्रानिपन आदि विशेषताओंको नहीं खोला गया है। यो मान लेनसे वैशेषिकोंके ऊपर आये हुये पूर्व कटाक्षोंका तो निवारण तो होजाता है। किन्तु बूक्ष, शरीर, इन्द्रिय आदि कार्यजगत्के निर्माणकर्ता अनेक आत्माओंकी सिद्धि बन बैठती है हम स्याद्वादियोंके यहां वृक्ष, फल, फूल, आदिको पौद्रालिक नामकर्मकी प्रेरणा अनुसार बनानेवाले उनमें निवास कर रहे जीव ही माने गये हैं। देयदत्तकी आतमा देवदत्तके शरीरको बना छेती है। चींटीकी आत्मा चींटीके शरीर, अवयव, इन्द्रियां, रक्त, धात, मल आदिको बना लेती है। पौद्रलिक अदृष्ट या अन्यपदार्थ भी भले ही उपादान कारण या निमित्त कारण हो जांय. गर्भमें ही पत्नीके शरीरको बनानेमें पतिका अदृष्ट निमित्त होजाय. किन्त कर्ता स्वरूप निमित्त कारण वे वे जीव ही पडते हैं। अतः हमारे माने हये सिद्धांतको ही तम अनुमान द्वारा साध रहे हो, तुम पर यह सिद्धसाधन दोष हुआ। यह जगत् ( पक्ष ) अनेक आत्माओं के नैमित्तिक परि-णामों नामक भावकर्मको निमित्त मानकर उपना सिद्ध होरहा है ( साध्य ) क्योंकि उस जगतको उन अनेक आत्माओं के भोग्यपनकी प्रसिद्धि होरही है ( हेतु ) वैशेषिकोंने भी संपूर्ण कार्योंके प्रति साक्षात् या परंपरया अदृष्टको निमित्तकारण अभीष्ट किया ही है। एकेन्द्रिय, दीन्द्रिय, सभी जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा स्वोपार्जित कर्मीकी सामध्ये अनुसार अंतरंग, बहिरंग, अनेक कार्योको बना छेते हैं। दीमक अच्छा घर बना लेती है, चिडिया उत्तम घोंसला बना लेती है, चौ इन्द्रिय जीव घरघुली मिट्टीका संदर घर बना लेती है। महलोंके समान इन घरोंमें भी द्वार, बचोंके स्थान, सोने, बैठनेके स्थल, खाद्य सामग्रीके एकत्रित करनेके स्थान, विपत्तियोंसे बचे रहनेके उपाय ये सब क्षद्र कीटों द्वारा बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक निजपुरुषार्थ द्वारा बना छिये जाते हैं । ज्ञान या ज्ञानी सभी कार्योको बना बाळता है। हिताहितप्राप्तिपरिहार कर छेता है। आत्मा अपनी पर्याप्ति शक्तिद्वारा शरीर, इन्द्रिय, आदिको बना हेता है। काल, आकाश, आदिको निमित्त पाकर और भावकमीको प्रेरक निमित्त पाकर यह आत्मा अनेक चमत्कारक कार्योको बातकी बातमें बना डाळता है। इसमें कृतकृत्य ईव्यरको वसीटनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। संपूर्ण जगत्को अनेक बुद्धिमान् बना डालते हैं, जैसे कि प्रत्येक पुरुष व्यक्ति अपने अपने भूत्र, मळ, रेचन, भोजन, गमन, आदि कार्योको बना छेता है, अथवा प्रत्येक गृहस्य अपनी गृहस्य उचित क्रियाओंका स्वयं विधाता है। सिपाई या राजा अपने कत्त्रेंच्योंको पाछ रहे हैं । उसी प्रकार अनेक कार्यीका पिण्ड होरहा यह जगत भी अनेक आत्माओं करके ही बना छिया जाता है। प्रायः सभी कार्य पदार्थ किसी न किमीके अदृष्ट द्वारा बनाये जाकर साक्षात् या परंपरया मोग्य बने इये हैं ।

न हि धीमद्धेतुत्वमात्रं जगतां पर्यायार्थादेशादभ्युपगच्छतः स्याद्वादिनोऽपंसिद्धांतः, सिद्धांतेपि नामात्राणिपरिणामाख्यभावकर्मनिमित्तजगद्यवस्थितेः अन्यथा जगतस्तदुपभोग्यत्वविरीधात् ।

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे तीनों या संपूर्ण जगतके सामान्यरूप करके हेतु होरहे नाना बुद्धिमानीको स्वीकार करते हुये स्याद्वादी पण्डितके यहां कोई अपसिद्धांत दोष नहीं है। अर्थात्— बुद्धिमान् जीवोंको जगतुका कारण मान छेनसे स्याद्वादीका अपने सिद्धांतसे स्वलन नहीं होजाता है। क्योंकि जैनसिद्धांतमें भी अनेक प्राणियोंके परिणामसंज्ञक भावकर्मोको निमित्त पाकर जगद निर्मा-णकी न्यवस्था की गई है। अन्यथा यानी अनेक प्राणियोंको निमित्त नहीं मानकर यदि जगत्के कारण को दूसरे ढंगका माना जायगा तो जगत्को उन प्राणियोंके उपभोग करने योग्यपनका निरोध होजा-वेगा । बात यह है कि आत्माक पुद्रलस्वरूप कर्मीको निमित्त पाकर हुये परिणाम भी चेतन आत्मक भावकर्म हैं। क्योंकि क्रोध, गति, वेद, उत्साह आदि भावकर्मीका उपादानकारण आत्मा ही तो है। अतः आत्मा चाहे स्वपुरुषार्थेस अथवा भले ही स्वकीयपरिणाम होरहे भावकमाँसे कार्योंको करे. उन सर्व कार्योका यथायोग्य भोग कर छेता है। '' कर्त्तत्वभोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यात् ''। जो ही कर्त्ता है वही भोक्ता है। एक स्त्री यदि दश मनुष्योंकी रसोई बनाती है तो भले ही वह दशवें भागका उपभोग करती है। फिर भी गृहस्थमम्बन्धी कर्त्तन्य या प्रेमप्राप्ति, यशः आदिका आनंद पुरा के लेती है। कुम्हार हजारों घडोंको बनाता है, सूचीकार ( दर्जी ) सैकडों कपडोंको सीवता है । सुनार दूसरोंके वीसों भूषणींको रचता है। ये सब शिल्पकार उनका पारिश्रमिक व्यय यानी मूल्य प्राप्त कर उन कार्योको भोग लेते हैं। कोई निःस्वार्थ देशसेवक या परोपकारी साध अथवा औषधदानी वैद्य यदि अनेक कार्योका संपादन कर रहे हैं तो उनको भी निःस्वार्यसेवा, स्वकर्त्तव्यपालन, स्वदेशीय अभि-मान, यशःप्राप्ति, पुण्यसंचय, आदि उपभोगोंकी प्राप्ति विना चाहे ही होजाती है। अकामनिर्जरा मी होजाती है। यदि किसीको स्वकृतकार्योका उपभाग न भी मिल एके तो हमारी यह न्याप्ति नहीं बनी है, जो जिसका कार्य है वह कार्य उसका उपभोग्य अवस्य है । हमने तो अनेक स्थलों पर वैसा देखकर स्वरूपकथन कर दिया है। अव्यभिचारी कार्यकारणभाव नहीं बना दिया है। दो. चार. स्वलपर घटित हो जानेसे ही हमारा प्रयोजन सध जाता है। कार्यका अपने कारणोंके साथ अन्वयन्यसिरेक है। न्यापक, अशरीर,नित्य, ईस्वरके साथ कार्यीका अन्वयन्यतिरेक नहीं है। एतन्मात्र हमें सुझाना है।

> सशरीरः कुळाळादिः कुर्वन् दृष्टो घटादिकं । स्वयमात्मा पुनर्देहमशरीरोपि विश्वतः ॥ १९ ॥ सदेहेतरसामान्यस्वभावो जगदीश्वरः । करोतीति नु साध्येत यदा दोषस्तदा क सः ॥ २० ॥

# इत्येके तदसंबंधं स्वश्नरीराणि कुर्वतां । शरीरांतरसंबंधात्मनां स्यान्नान्यथा किया ॥ २१ ॥ परापस्श्वरीराणां कल्पनान्नानवस्थितिः । तेषामनादिसंबंधात्कार्यकारणभावतः ॥ २२ ॥

यदि वैशेषिक यों कहे कि कुम्हार, कोली आदि आत्मार्थे शरीरसहित होरहीं घट आदि कार्योको करती हुयीं देखी गयी हैं और फिर जन्मकी आदिमें स्वयं अशरीर होता हुआ भी आत्मा नवीनदेहको बना रहा प्रसिद्ध होरहा है। अतः जगत्का निमित्तकारण बुद्धिमान् आत्मा है। यहां देह सिंहत और देहरिहत दोनों प्रशारके विशेष जीवोंमें वर्तरहे सामान्य स्वमावको धार रहा ईश्वर जगत्को बना रहा साधा गया है। साध्यकोटिमें देहसहित या देहरिंदत ऐसी कोई विशेषता नहीं डाल दी है। भावार्थ---कार्यीको बनानेमें कत्तीका शरीरसहितपना और शरीररहितपना उपयोगी नहीं है। शरीर-सहित आत्मा भी अनेक कार्योंको कर देते हैं, और शरीररहित भी आत्मा पहिले पहिले नये शरीरको या ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नीको बना देता है । अतः दोनों प्रकारकी आत्माओंका सामान्य स्वभाव होरहे आत्मत्वधर्मसे युक्त बुद्धिमानको हम वैरोषिक जगतुका कर्ता साध रहे हैं। भले ही दशन्तमें शरीरसहित कर्ता होय और दार्ष्टन्तमें अन्य प्रमाणों करके वह कर्त्ता अशरीर साथ दिया जाय, हमारी कोई क्षति नहीं है। ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्नके साथ कर्त्तापनकी व्याप्ति है। शरीरसहितपन और शरीर-रहितपन कोई कर्त्तापनके प्रयोजक नहीं हैं । देखिये " पर्वतो वन्हिमान् धूमात् महानसवत् ,, दधान्त होरहे रसोई घरमें लक्कडोंकी आग है और पर्वतमें सूखे तृण या पत्तोंकी आग सुलग रही है। किन्त सामान्य अग्निको साध्य करने पर कोई दोष नहीं आता है। इसी प्रकार यहां भी सामान्य स्वभावनाले बुद्धिमानको जब अनुमान द्वारा साधा जावेगा तब तुम जैनोंकी ओरसे दिया गया सिद्धसाधन दोष कहां आया ? अर्थात -- हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष कागू नहीं है । तुम्हारे यहां अक्षिद्ध होरहे पदार्थको इम साथ रहे हैं, तुम्हारे यहां सिद्ध होरहे ही को इम नहीं साथ रहे हैं, यहांतक कोई एक वैशेषिक पण्डित कह चुके हैं। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकोंका वह कहना संबंधयोज-नासे शून्य है। असम्बद्धप्रलापी होनेसे उनके पूर्वापरवचनोंकी संगति ठीक नहीं बैठती है। क्योंकि पूर्वकालीन अन्य सूक्ष्मशरीरोंके साथ संबंध रख रहे आत्माओंकी ही अपने शरीरोंको करते संते क्रिया होसकती है। अन्य प्रकारोंसे यानी शरीररहित आत्माओंकी किया अपने नवीन शरीरको बनानेके लिये नहीं होसकती है। जैसे कि स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरोंसे रहित होरहा मुक्त आत्मा पुन: अपने शरीरेंको नहीं बना सकता है। शरीररहित आकाश भी निजके पौद्रत्विक शरीरका निर्माण नहीं कर पाता है । बीजांकुरधाराकरके अनादिकाळसे चळा आया छिळकासहित धान ही उपज

सकता है। एक बार छिलका निकाल देनेपर वह धान्य पुनः नहीं उग सकता है। इसी प्रकार अनादिका कार्यकारणप्रवाहकरके कर्म नोक्रमीदारा सशरीर हो रहा आत्मा ही उत्तरोत्तर अनेक स्वर्यको बना लेता है। कर्म, नोक्रम, शरीरोंसे रहित हो गये शुद्ध सिद्धपरमेष्ठी पुनः शरी- ऐको नहीं रच पाते हैं। यदि यहां कोई अनवस्था दोष उठावे कि आत्मा इस वर्तमान शरीरको पूर्व शरीरसे सिहत होकर बनावेगा और उस पूर्व शरीरको उससे भी पहिलेके शरीरसे सम्बन्धी होकर बनावेगा। यो पर, अपर, अनेक शरीरोंकी परिकल्युना करनेसे महान् अनवस्था दोष आता है। प्रन्थ-कार कहते हैं कि ऐसी अनवस्था दोषस्वरूप नहीं है। प्रस्तुत गुण है। क्योंकि आत्माके साथ कार्य-कारणभावमुद्रासे उन शरीरोंका अनादिसे सम्बन्ध होता चला आ रहा है, जैसे कि बीज दृक्ष या अण्डा मुर्गी इनमें अन्योन्याश्रय या अनवस्था दोष नहीं आते हैं। मूलको नष्ट करनेवाली अनवस्था तो दूषण है। किन्तु मूलको पुट करने गली या जुलपर पराको बढ़ानेवाली अनवस्था मूषण है। अतः युक्तियोंसे यह बात सिद्ध हो जाती। है कि शरीरसिद्धित आत्मा ही अन्य शरीरोंको बनाता है। अतः तुम्हारे बुद्धिमान् कर्ताको साधनेवाले अनुमानमें घटहष्टान्तकी सामर्थ्येसे सशरीरकर्त्ता ही सिद्ध हो पायगा। अशरीर नशें और सामान्य बुद्धिमानोंको साध्य कोटिमें घरनेपर नाना बुद्धिमानोंको निमित्त-पना सिद्ध हो जानेसे सिद्धसाधन दोष तुम वैशोधकोंके ऊपर वैसाका वैसा ही अवस्थित बना रहता है।

#### पूर्वमतन्त्रत्वे नरस्य।

कोई भी जीव पूर्वशरीरके विना अन्य शरीरोंको नहीं बना सकता है। यदि शरीर बनानेके पूर्वमें आत्माको शरीररहित माना जायगा तब तो —

### मुक्तस्येव न युज्येत भूयोन्यतंनुसगतिः। पारतन्त्र्यनिमित्तत्वं धर्माधर्मयोर्बुद्धिवत् ॥ २३ ॥

मुक्त आत्माके समान इस संसारीजीवका पुनः बहुतसे अन्य शारीरोंके साथ सम्बन्ध होना नहीं उचित हो सकेगा। अशरीर आत्मा फिर परतंत्र नहीं हो सकता है। यदि वैशेषिक मों कहें कि अशरीर होता हुआ भी आत्मा अपने अदृष्टसंज्ञक धर्माधर्म गुणों करके परतंत्र हो रहा बन्धनबद्ध हो जाता है, इसपर आचार्य कहते हैं कि जैसे आत्माका ज्ञानगुण आत्माको पराधीन नहीं करता है, उसी प्रकार आत्माके तुम्हारे यहां माने गये धर्म, अधर्म, गुण भी आत्माको परतंत्र बनानेके निमित्त नहीं हो सकते हैं। यदि अपने ही अंग, स्वभाव या गुण अपनेको पराधीन करने छगे तो सम्पूर्ण पदार्थ अपने स्वक्त्योंका परित्याग कर बैठेंगे।

सा यद्यदृष्टसद्भावान्मता तस्य तु सिष्वतु । पूर्वं कर्मशरीरेण संबंधः परवित्रहात् ॥ २४ ॥ यदि वह संसारी जीवोंकी परतंत्रता वैशेषिकोंके यहां धर्म, अधर्मस्त्ररूप अदृष्टका सद्भाः होनेसे मानी जायगी तब तो उस आत्माके पिहले कर्मशरीरके साथ सम्बन्ध सिद्ध हो गया, (हो जाओ ) और वह कर्मका सम्बन्ध उससे मी पिहलेके दूसरे शरीरसे प्राप्त होकर सम्बन्धित हुआ समझा जायगा, यों जैनसिद्धान्तके सदृश तुमको भी मानना पडेगा।

### शरीरमात्मनोऽदृष्टं पुद्गलात्मकमीरितं । सर्वथात्मग्रणत्वेस्य पारतंत्र्यानिमित्तता ॥ २५ ॥

आत्माका कर्मरारीर जो अदृष्ट माना गया है, वह पुद्रव्यस्वरूप कहा गया है । यदि इस अदृष्टको सर्वथा आत्माका गुण माना जायगा तो अदृष्टको इस आत्माके परतंत्र होनेमें निमित्त कारण-पना नहीं सघ सकेगा । द्रव्यको वैसाका वैसा ही अनादि, अनन्त, जीवित रखनेवाळे गुण हुआ करते हैं । अपने हाथ, पांव, पेट ही यदि अपनेको फंसाने छगें तो ऐसी दशामें कोई पुरुष जीवित नहीं रह सकता है । बाद ही खेतको खा जाय तो रक्षा कौन कर सकता है ।

न हि सर्वथात्मगुणत्वे धर्माधर्मसंक्षकस्यादृष्टस्यात्मपारतंत्र्यनिमित्तत्वं युक्तं बुद्धिवत् । इच्छाद्देषयोरात्मगुणत्वेप्यात्मपारतंत्र्यनिमित्तत्वसिद्धेर्युक्तमेवेति चेक्न, तयोः सर्वथात्मगुणत्वा-भावात् कर्मोद्यनिमित्तत्वेन भावकर्मत्ववचनात् । तयोरेवात्मपारतंत्र्यस्वभावत्वाच न पार-तंत्र्यनिमित्तत्वं । मोहविश्लेषपारतंत्र्य एव हि पुरुषस्यच्छाद्वेषौ तदपरतन्त्रस्य कचिद्भिछाष-देषासंभवात् । ततो न धर्माधर्मौ पुरुषगुणौ पुरुषपारतंत्र्यनिमित्तत्वान्मोहविश्लेषाक्षिगत्वादिवत् । किं तिर्हे १ पुत्रछपरिणामात्मकौ तौ तत एव तद्वत् पुद्रछपरिणामविश्लेषात्मकत्वाचादृष्टस्यात्मश्रारत्वसुपगतिमित्त नौदारिकादिशरीरसंबंधात्पूर्वमदृष्टवश्लवस्यात्मा निर्देहो युक्तः । यस्तु निर्देहो सुक्तात्मा स न कस्यच्छिरीरस्यारंभको भवति यतस्तद्दिश्लरोपि जगतोऽहेतुः स्यात् ।

यदि धर्म, अधर्म, इस संज्ञाको धारनेवाले अदृष्टको सभी प्रकारेंसि आत्माका गुण होना माना जायगा तो उस अदृष्टको आत्माकी परतंत्रताका निमित्तकारणपना समुचित नहीं पड़ेगा, जैसे कि आत्माके गुण होरही बुद्धि उसी आत्माके ''सिन्नपातपिरभाषा '' अनुसार पराधीन नहीं कर डालती है। यदि वैदेशिक यों कहे कि इच्छा और देशको आत्माका गुणपना होते हुये भी आत्माकी परतंत्रनताका निमित्तपना सिद्ध होरहा है, जैनोंके यहां भी इच्छा और देशकरके संसारी आत्माओं के कर्म बन्ध होरहा अभीष्ट किया है। इस कारण धर्म अधर्म गुणोंको भी आत्माकी परतंत्रताका निमित्तपना युक्तिपूर्ण ही है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन इच्छा देशोंको सभी प्रकारोंसे आत्माका गुणपना नहीं है। कर्मोंके उदयको निभित्त पकर हुये उन इच्छा और देशोंको मावकर्मपनेसे

निरूपण किया गया है। औदयिक भाव आत्माके गुण नहीं हैं। गुण तो त्रिकालवर्ती, अनुजीवी, हों हैं। अपने आत्मलाभमें दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं करते हैं। पुण्य, पाप, या क्रोब,इण्छा, द्रेष आर्थ औदियिकभावोंको आत्माका गुण कहना गुणशद्भका भारी तिरस्कार करना है। दूसरी बात यह ाँ कि परिपूर्ण चारित्रस्वरूप आत्माकी राग, द्वेष, मोह, इच्छा आदि विभावों करके परिणति होजाना । तो परतंत्रता है। अतः आत्माके विभावपरिणाम इच्छा और द्रेष तो परतंत्रस्वभाव ही है। परतंत्रताः निमित्त नहीं हैं। मोहनीय कर्मकी क्रोध, लोम, रति, अरति आदि विशेषप्रकृतियोंके विशेष मोहस्वरूप परतंत्रता ही तो आत्माके इच्छा और द्वेषपरिणाम हैं। जो श्लीणमोह आत्मा उ मोहनीय कर्मविशेषके पराधीन नहीं है, उसके कहीं भी अभिलाषा और द्वेष नहीं सम्भवते हैं तिस कारणसे यों अनुमान बना कर सिद्ध कर दिया जाता है कि धर्म और अधर्म ( पक्ष ) आत्मार्व गुण नहीं हैं। ( साध्य ) आत्माकी परतंत्रताके निमित्तकारण होनेसे ( हेतु ) सांकल, लेज, वशी करण चूर्ण आदिके समान ( अन्वयदृष्टान्त )। इस युक्तिसे धर्म, अधर्म या इच्छा द्वेष ये आत्मावे परिणाम नहीं सब पाते हैं। तब तो यह अदृष्ट क्या पदार्थ है ! इसका समाधान यह है कि वे धा अधर्म ( पक्ष ) पुद्रलद्दन्यके परिणामस्वरूप हैं ( साध्य )। उससे ही यानी आत्माके परतंत्रपनक निमित्त कारण बन रहे होनेसे (हेत् ) उसीके समान यानी सांकल, जाल, फीजरा आदिके समान ( अन्वयदृष्टान्त ) । इस अनुमान द्वारा अदृष्टको पुद्रकका परिणाम साध दिया है, जैसे कि यह स्थट शरीर प्रहलका परिणाम होनेसे आत्माका गुण नहीं होता हुआ आत्माका बहिरंगशरीर माना जाता है, उसी प्रकार पुद्गलद्रव्यका विशेष परिणामस्वरूप होनेमे अदृष्ट भी आत्माका सूक्ष्मशरीर स्वीकृत कर लिया जाता है । इस कारण जन्मते समय औदारिकादि शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेसे पहिले अदृष्टके वशमें वर्त रहा यह आत्मा सर्वथा देहरहित कहा जाय यह युक्तिपूर्ण नहीं है। अर्थात् --देह रचनेके पहिले भी आत्मा अदृष्ट नामक सूक्ष्मशरीरसे युक्त हो रहा सशरीर है। निःशरीर नहीं है। हां, जो मुक्त आत्मा स्थूल, सूक्ष्म, सभी देहोंसे रहित है वह तो किसी भी शरीरका आरम्भ रच देनेवाला नहीं है। जिससे कि उस मुक्त आत्माके समान शरीररहित ईश्वर भी जगतुका निमित्त कारण हो जाता । भावार्थ-अशरीर, मुक्त, आत्माके समान शरीररहित ईस्वर भी जगत्का निमित्तकारण होकर कर्ता नहीं है।

#### संमति सदेहे अरकादिमतमाशंक्य मतिविधत्ते ।

अब इस समय प्रन्थकार ईश्वरको देह्यारी माननेवाळ पौराणिकवादियोंके मतकी आशंका उठाकर उस पौराणिकोंके मतका भी खण्डन करें देते हैं।

क्षित्यादिमूर्तयः संति महेशंस्य तदुद्भवे । स एव हेतुरित्यादि व्यभिचारो न चेद्भवेत् ॥ २६ ॥

## तथान्येपि किमात्मानः स्वमृत्युत्पत्तिहेतवः । स्वयं न स्युरितीशस्य क सिध्येत्सर्वहेतुता ॥ २७ ॥

पुराण या स्पृतियोंको माननेवाले पोराणिक या स्मार्त सम्प्रदायवालोंको यह मत है कि "या सृष्टिः स्रष्टुराचा वहति विधिद्वतं या हविर्या च होत्री, ये द्वे कोलं विधत्तः श्रुतिविजयगुणा या स्थिता न्याप्य विस्तं । यामाद्वः सर्वबीजप्रकृतिरिति मया प्राणिनः प्राणवन्तः । प्रत्यक्षाभिः प्रपनस्तनुभि-रवतु वस्ताभिरष्टाभिरिशः ॥ १ ॥ ( शकुन्तला नाटक ) । महेशकी १ जल २ अग्नि ३ होता ४ सूर्य ५ चन्द्रमा ६ आकाश ७ पृथ्वी ८ वायु ये आठ मूर्तियां ( शरीर ) हैं । विशेषक्रपंति विष्णु सम्प्रदायवाले विष्णु भगवान् देश या चौनीस अवतारोंको मानते हैं । शैव आम्नायवालोंने भी महादेवके कितिपय शरीरधारी अवतार इष्ट किये हैं । यहां प्रकरणमें यह कहना है कि " भूतानि यज्वा सूर्याचन्द्रमसौ च " महेशकी पृथिनी आदि आठ मूर्तियां ( शरीर ) हैं । उन मूर्तियोंके उत्पन्न करनेमें वही महेश निमित्तकारण है । आचार्य कहते हैं कि आठ मूर्तियों या वराह, मत्स्य, आदि या महानकाल आदि अपने शरीरोंको बनानेमें यदि व्यभिचारदोष, नहीं आवेगा, तब तो महेश या विष्णुके समान अन्य भी आत्मार्ये स्त्रयं अपने अपने शरीरोंकी उत्पत्तिके कारण क्यों नहीं हो जावेगीं ? ऐसी दशामें भला ईत्ररको सम्पूर्ण जगत्का निमित्तकारणपना कहां सिद्ध हो सका ? अर्थात् — ईत्ररको अपने शरीरको बना लेता है, और अन्य प्राणी अपने अपने शरीरोंको रच लेते हैं । बिचारा अक्तेल ईक्वर सम्पूर्ण जगत्का कर्त्ती नहीं है ।

कुर्वन् क्षित्यादिमृतींश्च स्वमृति तत्मयोगतः ।
मृत्यंतराणि कुर्वीत यदि वानादिभियंतः ॥ २८ ॥
गत्वा सुद्रमप्येवं यदि मृतींने काश्चन ।
कुर्याचाभिस्तदा हेतोरनेकांतिकता न किं ॥ २९ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि जिस प्रयोगसे वह ईस्वर पृथ्वी, जल आदि अपनी आठ मूर्तियोंको बना रहा है, उसी प्रयोगसे अनादि धारावाले पृथिवी आदि मूर्तोकरके अपने शरीरको और दूसरे प्राणियोंके शरीरोंको कर देवेगा । आचार्य कहते हैं कि यदि तुम यों कहोगे तब तो उन मूर्तियोंको बनानेके लिये पहिले श्विति आदिको बनाया होगा और उन श्विति आदि मूर्तियोंके लिये उससे भी पहिली श्विति आदि मूर्तियोंको बनाना पडा होगा। यों अनवस्था आती है। इसके निवारणार्थ बहुत दूर भी जाकर यदि विश्वा श्विति आदि मूर्तियोंको ईस्वरकृत नहीं माना जावेगा तब तो उन्हीं मूर्तियों करित सुनिहार हेतुका व्यभिन्धारीयना क्यों नहीं बन बैठेगा । अर्थीत अनवस्थाको दूर करनेके लिये

बहुतकाल पहिलेकी जिन मूर्तियोंको आपने ईश्वरक्ररके बनाई हुई नहीं माना है, उनमें सिनेवेश यह हेतु तो रह गया और बुद्धिमान् कारणसे जन्य होना यह साध्य नहीं रहा। अतः व्यमिचारी हुआ।

> अनादिम् तिभिक्तस्य संबंध इति चेन्मतं । किं इन्त्यनादिता तासां सिन्नवेशविशिष्टतां ॥ ३० ॥ न चेत्ताभिर्महेशेनाकृताभिर्व्यभिचारिता । साधनस्य कृताभिर्वा तेनेतामनवस्थितिं ॥ ३१ ॥ केवलं मुखमस्तीति यत्किंचिदभिधीयते । मिथ्योत्तराणामानंत्यात्रेक्षावत्ता नु तत्र का ॥ ३२ ॥

इस व्यभिचारका निवारण करनेके लिये अनादिकालसे बनीं चली आरहीं क्षिति, आदि मूर्ति-योंके साथ वह ईत्यरका संबन्ध यदि इष्ट किया जायगा, यों मंतन्य होनेपर तो आचार्य पूछते हैं कि उन मूर्तियोंकी अनादिता क्या रचनाकी विशिष्टता (हेतु)को मार डाळती है ? बताओ। यदि अनादि मृतियोंमें सिनेवेशविशेष है तो तुम्हारे ऊपर हेतुका व्यभिचार दोष तदवस्थ है । जब कि उन मृति-योंका अनादिपन सन्निवेशविशेषका विघात नहीं कर सकता है और अनादिकालीन पृथिवी आदि मृर्तियां महेराकरके नहीं की जानुकीं हैं तो तुम्हारे " सनिवेशविशिष्टल " साधनका उन मूर्तियों करके व्यभिचार हुआ। यदि उन अनादि मूर्तियोंको तिस ईश्वर करके किया हुआ माना जायगा तो व्यभिचार-दोष दर होजायगा किंतु उन मूर्तियों हो बनानेके लिये पुनः मूर्तियां बनाई गई होंगी और उनके लिये भी पूर्व मूर्तियां बनाई गई होंगी, यों मूर्तियोंकी धारा करके हुये इस अनवस्थादोषको तुम दूर नहीं कर सकते हो। " मुखमस्तीति वक्तव्यं " यदि फोकटका मुख है तो कुछ न कुछ बोलते रहना चाहिये, इस छोकनीतिके अनुसार जो कुछ भी अन्ट, सन्ट, तुम कहे जाते हो । जगतुमें मिथ्या उत्तर अनन्त हैं। इम ईश्चरके कर्तृत्वका निराकरण करनेके लिये जितने समुचित आक्षेप करते हैं. तम उनके अनन्त मिथ्या उत्तर दे देते हो। यह तो वही एक प्रामीणपुरुषका विजय जैसा हुआ कि कोई गमार यों कहता फिरता था कि मैं काशी गया और सब पण्डितोंको हरा आया। उन्होंने सैकडों बातें कहीं मैंने उनकी एक भी नहीं मानी। कुछ न कुछ वके ही चला गया। देखो, ऐसी दशामें वहां प्रेक्षावानपना भला कहां रहा ? युक्तिरहित वकनेवाले पुरुष हिताहितक। विचार करनेवाले नहीं माने जाते हैं। ऐसे पुरुषोंना न्यायपूर्वक बाद विवाद करनेमें अधिकार नहीं है।

ततः स्कमेतत् सदेहेश्वर्वादिनां सिवविशविशिष्टत्वादिति हेतुरीश्वरदेहेन व्यभिज्ञारीति ।

तिस कारण हमने वहीं नैंबिं वार्तिकमें यह बहुत अच्छा कह दिया था कि देहसहित ईश्वरको मानने वाळे पौराणिकवादियोंके यहां " सिनेवेशविशिष्टवात् " यह हेतु ईश्वरके शरीरकरके ही व्यभिचार दोषवाला है। यहांतक आचार्योंने सिनेवेशविशेषत्व हेतुके ऊपर नैंबिं वार्तिकके पूर्वार्ध करके उठाये गये व्यभिचारदोषकी पृष्टिको परिसमाप्त कर दिया है, यहां इति शहका भाव है।

बुद्धिमद्धेतुकं य। हर्ग्ष्ट हर्म्यगृहादिषु । संनिवेशविशिष्टत्वं ताहरजगति नेक्ष्यते ॥ ३३॥ इति हेतोरसिद्धत्वं केश्चिदुक्तं न युज्यते । तथा सर्वेष्टहेतृनामसिद्धत्वप्रसंगतः ॥ ३४॥

श्री विद्यानंद आचार्य कहते हैं कि किन्हीं किन्हीं विद्वानोंने वैशेषिकोंके सिनेशिविशिष्टलं हेतुको यों असिद्ध हेत्वाभास कहा है कि जिस प्रकारका हवेळी, गृह, झोंपडे, आदिमें बुद्धिमान् हेतु-अमेंद्रे जन्य हो रहे सन्ते सिनेशिवशिष्टपना देखा जाता है, वैसा रचनाविशेष तो जगत् स्वरूप पक्षमें नहीं देखा जाता है। इस कारण पक्षमें हेतुके नहीं ठहरनेसे हेतुका असिद्ध हेत्वाभास दोष हुआ। अर्थात्—प्रमेयकमलमार्तिडमें भी यों लिखा है कि "अस्तु वाऽविचारितरमणीयं बुद्धिमत्कारणत्व व्याप्तं कार्यत्वं तथाप्यत्र याद्यभूतं बुद्धिमत्कारणत्वेऽभिनवक् प्रपासादादों व्याप्तं कार्यत्वं प्रमाणतः प्रसिद्धं यदिक्रयादिशेनोपि जीर्णकूपप्रासादादों लोकिकेतरयोः कृतबुद्धिजनकं ताद्यभूतस्य क्षित्यादाविसिद्धे-रसिद्धों हेतुः सिद्धौं वा जीर्णकूपप्रासादादाविवाऽकियादिशिनोऽपि कृतबुद्धिप्रसंगः " इत्यादि पंक्ति करके पक्ष और दृष्धन्तमें थोडासा अन्तर दिखलाकर असिद्ध हेत्वाभास उठाया गया है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह असिद्ध हेत्वाभासका कथन युक्त नहीं है। क्योंकि यों तो तिस प्रकार इष्ट हो रहे सम्पूर्ण हेतुओंके अभिद्धपनका प्रसंग हो जायगा, जैसा घुआं महानसमें समान आकृतिबाला देखा जा चुका है, वैसा पर्वतमें नहीं दीख रहा है। " शद्धोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत् " यहां जैसा कुलाल, दंढ, पृत्तिका आदि कारणोंसे बनाया गयापन घटमें दृष्टिगोचर हो रहा है, वैसा कृतकपना शद्धमें नहीं प्रतीक्त होता है। शद्धके उपादान कारणका ही प्रत्यक्ष नहीं है। बात यह है कि थोडे थोडे अन्तरसे हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं हो जाता है। गुच्छतापूर्ण दोषोंसे किसीका तिरस्कार हमें नहीं करना है।

कृतभीजनकं ति नािकयादिशिनो यथा। क्विचिया न धूमादिरग्न्यादिज्ञानकारणं॥ ३५॥ वन्ह्यादिबुद्धिकारित्वं स्वयंसिद्धस्य सिद्धता। धूमादेः साभनस्यतित्सिद्धौ वन्ह्यादिभीरिति॥ ३६॥ यथान्योन्याश्रयस्तद्वत्प्रकृतेपि हि साधने । कृतधीजनकत्वेस्य सिद्धतायां कृतत्वधीः ॥ ३७ ॥ ततोनैकांतिको हेतुरेष वाच्यः परीक्षकैः । कार्यत्वार्थिकियाकृत्वप्रमुखोऽनेन वार्णितः ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, समुद्र आदि स्वरूप काचित् जगत्में अन्नियादर्शी पुरुष के '' किया गया '' इस बुद्धिका जनकपना नहीं है, उसी प्रकार धूम आदिक हेतु भी अग्नि आदि साध्योंकी इप्तिके कारण नहीं हो सकेंगे। अर्थात् नवीन कुरें, कोठियां, महल आदि कोंको बनता हुआ देख कर साधारण मनुष्योंके भी '' ये किये गये हैं " यह बुद्धि उपज जाती है । उसी प्रकार जीर्ण कुए, गृहोंके खंडहर, पुराने मंदिर, मूर्तियां, घडे, इन्टे, आदिमें भी '' ये किसी न किसी करके बनाये गये हैं '' यह बुद्धि उपज जाती है। भलें ही आधुनिक पुरुषोंने हजार वर्ष पहिले बने हुये पुराने खण्डहरोंके बननेकी क्रियाको आंखोंसे देखा नहीं है। किन्तु पृथिवी, सूर्य, चंद्रमा आदिमें किसी भी अकिया दर्शाको " ये बनाये गये हैं " ऐसी बुद्धि नहीं होती है । अतः हेतु असिद्ध है । आचार्य समझाते हैं कि यों थोडासा अंतर तिस प्रकार पक्ष और दृष्टांतमें पडजानेसे धूम आदि भी अग्निका अनुमान नहीं करा सर्केंगे । असिद्ध हेत्वाभासको उठाने वाले दूसरा कटाक्ष करते हैं कि जिस प्रकार धूम आदि हेतुओंको अग्नि करके स्वयं निर्मितपना सिद्ध होजाय तब तो वन्हि आदिकी बुद्धि कर देना होकर सिद्धता आवे और धूम आदिकी सिद्धता होजानेपर वन्हि आदिकी बुद्धि कराई जा सके । यों जिस प्रकार अन्योन्याश्रय प्रसिद्ध हेतुमें दिया जासकता है, उसी प्रकार प्रकरण प्राप्त सनिवेक्तविशिष्टल हेतुमें भी परस्पराश्रय दोष दिया जा सकता है कि इस हेतुके द्वारा सूर्य, पृथिबी आदिमें " किये गये हैं " इस बुद्धिका जनकपना सिद्ध होय तब तो सूर्य आदिमें कृतपनेकी बुद्धि होय और सूर्य आदिमें किया गयापन सिद्ध होय तब " किये गये हैं " इस बुद्धिका उत्पादक पना प्रसिद्ध होसके । अर्थात्—सिन्नवेशविशिष्टत्व हेतुमें जैसा अन्योन्याश्रय दोष उठाया जाता है वैसा धूम आदि प्रसिद्ध हेतुओंमें भी अन्योन्याश्रय जमाया जा सकता है। तिस कारणसे परीक्षक विद्वानों करके यह " सनिवेशविशिष्टल " हेतु अनैकांतिक हेत्वामास ही कहना चाहिये । केवळ व्यभिचार दोष करके ही इस हेतुकी निंदा करना थोडा नहीं है। इस सिन्निक्सविद्रिष्टल हेतुका कथन कर देनेसे वैशेषिकीके कार्यत्व हेतु, अर्थिकियाकारिव हेतु, स्थित्वाप्रवृत्ति हेतु, अचेतन्त्व हेतु, विनाशित्व हेतु, आदिका भी वर्णन कर दिया समझ छेना चाहिये। अर्थात्-कार्यत्वादि हेतु भी ईश्वरको जगत्का कर्त्तापन साधनेमें ईश्वर देह करके व्यमिचार दोषवान् है। इनमें भी उक्त रीत्या निर्वेख असिद्ध दोषको नहीं उठाकर पुष्ट व्यभिचार दोपको रिबयेगा ।

यथैव हि सिश्विवाविशिष्टत्वादिति हेतुर्नासिद्धः शक्यो वक्तुमिष्टहेतुनामप्यसिद्धत्वप्रसंगात्। किं तिर्हे १ परीक्षकैरनैकांतिको वाच्यस्तथा कार्यत्वाद्चेतनोपादानत्वाद्यीकियाकारित्वात् स्थित्वापवृत्तेः, इत्येवमादिरपीश्वरदेहेनानैकांतिक एव सर्वथा विश्वेषाभावात् । अपि च—

कारण कि जिस हो प्रकार " सिनेवेशविशिष्टत्वात " यह हेत् असिद्ध हेवाभास नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यों अन्ट, सन्ट, दोष लगादेनेपर तो धूम आदि इष्ट हेतुओंको भी असिद्ध हेलाभास होजानेका प्रसंग आजावेगा, जो कि जैनोंको अभीष्ट नहीं है। तो फिर इस वैशेषिकोंक हेतुमें क्या दोष लगाया जाय ? इसका उत्तर यही है कि पर्राक्षकों करके यह हेतु अनैकांतिक हेत्याभास कह कर ठहरा दिया जाय, तिस ही प्रकार कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, अर्थाक्रीया-कारित्व, स्थित्वाप्रवृत्ति, इत्यादि इस प्रकारके अन्यहेत भी ईश्वरके शरीर करके अनैकान्तिक हेत्वाभास ही हैं । क्योंकि सिन्नेवशिवशिष्टत्वसे कार्यत्वादि हेतुओंमें कोई अन्तर नहीं है । अर्थात्— वैशोषिकोंने अपने कर्तृत्ववादको पुष्ट करनेके छिये विशेष स्थलोंपर यों कहा है कि " क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत् '' जो जो कार्य होते हैं, वे बुद्धिमान्से जन्य हैं, जैसे कि घडा है । इस ही प्रकार जिन कार्योंके अचेतन उपादान कारण हैं । उनकी ठीक ठीक व्यवस्था जमानेके लिये चेतन कत्तीकी आवश्यकता है। जो पदार्थ अर्थिकयाओंको कर रहे हैं. वे चेतनसे अधिष्ठित होकर ही नियत कार्योको कर सकते हैं। जो कारण ठहर ठहर कर कभी कुछ और कभी कुछ कार्योंके करते हैं, वे चेतन द्वारा प्रेरित हो रहे हैं। जैसे कि कभी इथोडा सोनेको कूटता है, कभी केंची पत्तरको काटती है. कमा पंत्री सोनेको खींच रही है. इन ठहर ठहर कर कार्योंके प्रवर्तनेमें सुना-रका अस्तित्व आवश्यक है। इसी प्रकार कपडा बुनते समय ठहर ठहर कर अनेक कारणोंकी प्रवृत्ति करानेमें कोळी बुद्धिमान कर्ता है। तथा रूपादिमान या अचेतन पदार्थ भी चेतन कर्ता द्वार कार्योंका सम्पादन कर सकते हैं। इत्यादि उनके सभी हेत व्यभिचार दोषयुक्त हैं। और एक बात यह भी है, उसको धुनो-

# स्थावरादिभिरप्यस्य व्यभिचारोनुवर्ण्यते । कैश्चित्पक्षीकृतैस्तेषामधीमद्वेतुतास्थितैः ॥ ३९ ॥

किन्दी विद्वानों करके इस सिनेवेशविशिष्टत हेतुका खानें, कूपजल, वायु, वन्हिं, वनस्पति, इन स्थावर और सूर्य, समुद्र, आदि करके व्यभिचार प्राप्त हो जानेका पीछे वर्णन किया गया है। जो कि वे स्थावर आदिक पदार्थ नैयायिकोंके यहां पश्चकेिटमें अन्तः प्रविष्ट किये जा चुके हैं। किन्तु किसी सर्वन्न, अशारिर, बुद्धिमान्कों, उनका निमित्तकारणपना व्यवस्थित नहीं हो सका है। अर्थीत्—उपवनकी वनस्पतियोंको कोई बालकोंसी बुद्धिको धारनेवाला पंडित मर्ले हैं। माली करके

निर्माण की गयीं कह देवे, चूल्हेकी आगको रसोइयाकी बनायी हुई कह देवे, नलके जलको पुरुषके प्रयत्नसे उपजा हुआ मान ले, बाजनाकी वायुको खुढिमान् जीव करके बनाई गई अभीष्ट कर ले, खेतकी मिटीको किसानके न्यापारसे बनी हुई स्वीकार कर लेवे, किन्तु वह बुद्धिमान् वनकी वमस्पितयों या खानों, नदां जलों, दावानल, आंधी, सूर्य, आदि पदार्थोंको बुद्धिमान् करके बनाये हुये नहीं मान सकता है। यदि कोई साहसी अन्ध श्रद्धावान् उन स्थावर आदिको भी शरीर, पर्वत, पृथिवी, आदिके समान पक्षकोटिमें डालकर स्थावर, सूर्य, आदिका निमित्तकारण ईश्वरको मान बैठे तब तो यों कोई भी हेतु न्यभिचारी नहीं हो सकेगा। "धूमवान् वन्हे:" यहां अंगार या अयोगोलक इन न्यभिचार स्थालोंको पक्षकोटिमें गिना जा सकता है। जलते हुये अंगार या लोहगोला अथवा कोयलेको जाममें रखकर कुछ दूरसे देखो दूसरे प्रकारका विकक्षण धूआं निकलता हुआ दीखता है। यों कहनेवालेका कोई मुख टेडा नहीं हो जाता है। जिस पुरुष या लीके निमित्तसे किसी की या पुरुषको न्यभिचार दोष लगनेका प्रसंग आया है, निर्लग्ज पुरुष उन निकृष्ट खीपुरुषोंको भी स्वलीपक्ष या स्वपितक्कों हाल लेवें, एतावता अपयश, राजदण्ड, मर्त्सना, पापसंचय, नरकगमनसे छुटकारा नहीं मिल सकता है। अतः नैयायिकोंके हेतुमें स्थावर आदिकोंकरको भी व्यभिचार दोष लग गया, कोई खटका नहीं है।

#### कयं पुनः स्थावरादीनामबुद्धिमत्कारणकत्वस्थितिर्यतस्तैरनैकांतिकत्वं कार्यत्वादिहेतूना-मुद्धाच्यत इत्वावेदयति ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उन स्थावर आदि पदार्थोंका निमित्तकारण कोई विशेष बुद्धिमान् पुरुष व्यवस्थित नहीं है, यह आपने फिर किस प्रकार निर्णीत कर ित्या है शिक्ससे कि कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व आदि हेतुओंका उन स्थावर आदिकों करके व्यभिचार दोष उठामा जा रहा है शब्ताओ । ऐसी निर्णेतुमिन्छा होनेपर प्रन्थकार बडी प्रसन्नताके साथ उस जिज्ञासुके सन्मुख निवेदन कर देते हैं।

#### दृष्टक्षित्यादिहेतूनामन्वयव्यतिरेकतः । दृश्यते स्थावरादीनां सर्वगत्वेन बेधसः ॥ ४० ॥ न देशे व्यतिरेकोस्ति क्षितावस्य सदा स्थितेः । सर्वगस्यान्वयस्त्वेको न तज्जन्यत्वसाधनः ॥ ४१ ॥

साधारण प्राणियोंके भी दृष्टिगोचर हो रहे पृथिवी, जल, खेत, बीज, ऋतु, योग्यता, सहकारी-समवधान, आदि देतुओंके अन्वय, व्यतिरेक्षसे स्थावर आदिकोंका भाव या अभाव देखा जा रहा है। ईक्वरके साथ इनका अन्वय, व्यतिरेक, नहीं देखा जाता है। क्योंकि तुम वैशेषिकोंका गढा गया जगद्विधाता ईक्वर सर्वव्यापक माना गया है। इस कारण किसी भी देशमें उसका व्यतिरेक नहीं पाया जा सकता है। जिस देशमें ईश्वर नहीं वहां स्थावर आदिक कर्म नहीं है, इस व्यतिरेकको घटानेके छिये तुम्हारे पास कोई स्थल शेष नहीं है। तुम्हारा माना हुआ ईश्वर सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। तथा पृथिवीमें इस नित्य ईश्वरकी सर्वदा स्थिति बनी रहनेसे यह कालव्यतिरेक भी नहीं बन सकता है कि जब जब ईश्वर नहीं तब तब स्थावर आदि कार्य नहीं। हां, सर्वत्रव्यापक हो रहे ईश्वरका केवल एक अन्वय ही तो स्थावर आदिकोंको उस ईश्वर करके जन्यपनकी सिद्धि करानेवाला नहीं है।

क्षित्युदकवीजादितया कारणान्वयव्यतिरेकात् स्थावरादीनां भाव्यभावकयोरूपलंभाष बुद्धिमत्कारणान्वयव्यतिरेकातुविधानं । न हि बुद्धिमतो वेधसः कविदेशे व्यतिरेकोस्ति सर्व-गतत्वात्, नापि काले नित्यत्वात् । तथा च नान्वयो निश्चितः संभवति तद्भावाविभीवदर्शन-मात्रान्वयो वा स न तज्जन्यत्वं साधयति करभादेर्भावे धूमाविभीवदर्शनात्त्रजन्यत्वसिद्धिमसंगात् ।

भूमि, जल, बीज, बायु आदि स्वरूपकरके कारणोंके अन्वय और व्यतिरेक्से स्थावर आदि कार्योंके उत्पाद, उत्पादकभावका उपलंभ होरहा है। अतः किसी बुद्धिमान् कारणके साथ स्थावर आदि-कोंका अन्वयन्यतिरेक अनुसार, विधिविधान नहीं देखा गया है। पौराणिकोंके बुद्धिमान स्रष्टाका किसी भी देशमें व्यतिरेक नहीं पाया जाता है। क्योंकि वह सर्वगत माना गया है तथा किसी काळमें भी **ई**स्वरका व्यतिरेक नहीं मिलता है । क्योंकि ईश्वर अनादि अनंत कालतक नित्य मान लिया है और तिस प्रकार कोई भी देशव्यतिरेक या काळव्यतिरेक नहीं बननेपर अन्वयका निश्चय हो चुकना भी नहीं सम्भवता है। क्योंकि हेतका प्राण विपक्षव्यावातिस्वरूप व्यतिरेक है। व्यतिरेक नहीं होनेपर अन्वय हो रहा भी आनिश्चित है। एक बात यह भी है कि न्यापक नित्य हो रहे उस विधाताका सद्भाव होनेपर स्थावर आदिकोंका आविर्माव होना देखने मात्रसे हो रहा वह अन्वय तो स्थावर आदिकोंके उस ईश्वरसे जन्यपनको नहीं साथ डालता है। यों तो ऊंटका बचा, कण्डाओंको ढोनेवाले गधा आदि तटस्य पदार्थीका सद्भाव होनेपर धुएंका आविर्भाव देखा जाता है। इतनेसे ही धूमको उस ऊंट आदिसे जन्यपनकी सिद्धि होजानेका प्रसंग आजावेगा। प्रत्येक कार्य होनेके निकट देशमें अनेक उदासीन पदार्थ पडे रहते हैं । एतावता उनमें " कार्यकारणभाव " का प्रयोजक अन्वय बन रहा नहीं माना जाता है। अन्यथा तुम्हारे यहां न्यापक मानी जारही अन्य जीवात्माओं या आकाशके साथ भी सुलभतया अन्वय बन जानेसे ईश्वरके समान अन्य आत्मायें भी संपूर्ण कार्योका निमित्तकारण बन बैठेंगे. (बैठेंगी) जो कि हम, तम, दोनोंको इप्ट नहीं है।

#### कथमदृष्टस्य स्थावरादिनिमित्तत्वमित्याइ।

यहां कोई पूंछता है कि तब तो आप जैन यह बताओ कि स्थावरजीवोंका पुण्य, पाप, या भोक्ताजीवोंका पुण्य, पाप, मछा उन स्थावर आदिकोंका निमित्तकारण कैंसे होजाता है ? पुण्य, पापके साथ स्थावर आदिकोंका अन्वय और व्यतिरेक तुम कैसे बना सकोगे ? समझाओ ।

## नश्वरत्वाददृष्टस्यासर्वगत्वाच सिध्चति । व्यतिरेकस्तत्र तस्य (स्यात) स्थावरादिनिमित्तता ॥ ४२ ॥

नाशशील (अनित्य) होनेसे और अन्यापक होनेसे अदृष्टके साथ उन स्थावर भादिकोंमें काल्य्यतिरेक या देशन्यतिरेक सिद्ध हो जाता है। अतः उस अदृष्टको स्थावर आदि कृतक पदा-थौंका निमित्तकारणपना सथ जाता है। कोई अनुपपत्ति नहीं है।

न ग्रदृष्टं धर्माधर्मसंक्रितं क्रूटस्थं सर्वगतं वा ग्रहेश्वरविद्वते यतस्तस्य देशकाल-व्यतिरेको न सिध्येत्। क्षित्यादिदृष्टसामग्रीसद्भावेपि कचित्स्थावरादीनामन्नुपलंभाददृष्टकारणत्वं सिध्यत्येव। कथमेवं तदुत्पत्तौ कालादेईतुत्वमिति सर्वगतस्य व्यतिरेकासिद्धेरीश्वरवदिति वदंतं प्रत्याह।

धर्म और अधर्म इस संज्ञाको प्राप्त हो रहे अदृष्टको हम जैन तुम्हारे महेश्वरके समान कृटस्थ नित्य अथवा सर्वत्र प्राप्त हो रहा व्यापक नहीं अभीष्ट करते हैं. जिससे कि उस अदृष्टका देशव्यति-रेक या काळ्यातिरेक नहीं सिद्ध हो सके । साधारण जीवोंद्वारा कारणपने करके देखी जा रही पृथिवी, बीज, आदि सामग्रीका सद्भाव होनेपर भी किसी देशमें या किसी समय स्थावर आदि कार्योकी उत्पत्ति हो रही नहीं देखी जाती है। अतः अदृष्टको कार्योका कारणपना सिद्ध हो जाता है। अर्थात्—खेतीमें वाणिज्यलाभमें, बढिया नीरोगतामें पुण्यको और अतिष्टृष्टि अनाष्ट्रष्टि, आर्थिकहानिमें, सरोगतामें, दारिद्यमें, नाव डूब जाना, रेलगाडी 😎 जाना, वायुयानघात, आदि कार्योमें दष्टकारणोंका व्यभिचार दीख रहा होनेसे पापरूप अदृष्टको कारणपना स्पष्ट रीत्या प्रसिद्ध हो रहा है। जहां जहां या जब जब पुण्य, पाप हैं, तहां, तहां तब तब स्थावर आदि कार्योंकर उत्पत्ति हो जाती है। और जहां जहां या जब जब अदृष्ट नहीं वहां वहां या तब तब छीकिक कार्य नहीं उपज पाते हैं। यह अन्वय व्यतिरेक प्रसिद्ध है। यहां कोई पूछता है कि अदृष्ट तो अव्यापक. अनित्य है। किन्तु काल, आकाश, इन्य तो नित्य और न्यापक हैं। अतः इस प्रकार न्यतिरेकको साधनेपर यदि कार्य कारणभाव माना जायगा तो उन स्थावर आदिकोंकी उत्पत्तिमें सर्वगत हो रहे काळ आदिको मला निमित्तकारणपना किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? क्योंकि ईश्वरके समान नित्य. व्यापक, काल, भादिका देशव्यतिरेक या कालव्यतिरेक असिद्ध है. इस प्रकार कह रहे वादीके प्रति श्री निधानन्द आचार्य समाधानवचनको अप्रिम वार्त्तिक द्वारा कहते हैं । उसको सनो ।

> कालादिपर्ययस्यापि नित्यत्वाद्यप्रसिद्धितः । सर्वथा कार्यनिष्पत्तौ हेतुत्वं न विरुध्यते ॥ ४३ ॥

काल, आकाश, आदि द्रध्योंकी पर्यायोंको भी नित्यपन, व्यापकपन, आदिकी अप्रसिद्धि होनेसे कार्योंके करनेमें निमित्तकारणपना सभी प्रकारोंसे विरुद्ध नहीं पढता है। अर्थात्—अर्थ क्रियाओंको करनेवाली अनित्य पर्यायोंसे कथांचिद् अभिन हो रहे काल आदि द्रव्योंको सम्पूर्ण कार्योंके प्रति निमित्तपना अन्याहत है।

न हि कालाकाशादिपर्यायाणां नित्यत्वं सर्वगतत्वं वा प्रसिद्धं कालाय्वनामेव द्रव्यर्था-देशाशित्यत्वोपगमात् । निःपर्यायस्य नित्यस्य सर्वगतस्य च कालस्य परोपगतस्याप्रमाणकत्वात् , सर्वगतस्य नित्यस्य चाकाशद्रव्यस्यैव व्यवस्थापनाशिःपर्यायस्य तस्यापि प्राइकप्रमाणाभावात् । धर्मास्तिकायस्याधर्मास्तिकायस्य च लोकव्यापिनोपि द्रव्यत एव नित्यत्वोपगमात् पर्यायतोऽसर्व-गतत्वादनित्यत्वाश्च । ततो युक्तं स्वकार्योत्पत्तौ निमित्तत्वं सर्वथा विरोधाभावात् ।

. काल, आकारा, आदि द्रव्योंकी पर्यायोंका सर्वथा नित्यपना अथवा सर्वगतपना प्रसिद्ध नहीं है । जैनसिद्धान्त अनुसार काळाणु**ओं**को ही द्रघ्यार्थिकनयकी विवक्षासे नित्यपना स्वीकार किया गया है। दूसरे विद्वान् वैशेषिकोंने कालको पर्यापरहित और नित्य, तथा सर्वगत जो स्वीकार किया है, वैसा कालद्रव्यको सिद्ध करनेमें उनके यहां कोई प्रबल प्रमाण नहीं प्रवर्तता है। अतः पर्यायरहित नित्य, व्यापक काल्डब्रव्यकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकनेके कारण वह कालद्रव्य विचारे पौराणिकोंके नित्य, व्यापक, ईश्वरका द्रष्टान्त या कटाक्षस्थल नहीं बन सकता है । हां, जिनागममें सर्वगत और नित्य हो रहे आकाशद्रव्यकी ही तो व्यवस्था कराई गई है। किन्तु सम्पूर्ण द्रव्य स्वकीय द्रव्यत्वगुणके अनुसार प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्यायोंको धारण करते हैं। कोई द्रव्य कूटस्थनित्य नहीं है। पर्यायोंके रहित हो रहे सर्वथा नित्य उस आकाशका भी प्राहक कोई प्रमाण नहीं है। अतः अनित्यपर्यायोंके साथ तादात्म्य सम्बन्धका अनुभव कर रहा कथंचिद् अनित्य आकाश ही यावत् कार्योका निमित्त है। इस कारण सर्वथा नित्य और सर्वथा न्यापक हो रहे ईर्वरका उपमान क्यंचित् अनित्य आकाश भका कैसे हो सकता है ! यानी नहीं हो सकता है । अर्थात् -- जब कि अखण्डित अनेक देशीय आकाश द्रव्यके देशांशरूप प्रदेश कल्पित कर छिये जाते हैं । मुख, कूप, गृह, गुदस्थान, शुद्धभाजन, अशुद्धभाजन, ये सब रीते स्थानस्वरूप हो रहे आकाशप्रदेश एक ही नहीं है । स्वर्गप्रदेश, नरक, आकाश, जम्बूद्वीप, स्वयम्भूरण, त्रसनाळी, स्थावर लोक, ये सब आकाशके न्यारे न्यारे प्रदेशींपर व्यवस्थित हैं। जो आकाश सिद्ध परमात्माओंको अवस्थाह हे, एडा है, वह अक्काश नारकियोंको स्थान नहीं दे सकता है। आकाशके प्रदेशोंमें गति नहीं है। माल्या, पंजाब, बंगाल, यूरोप, अमेरिका, आष्ट्रिया, आदि आकाशकी पोर्ले न्यारी न्यारी है। जहां प्रभूत जल या बल्बान नकुल प्रसन्नतापूर्वक बैठे हुये हैं, वहां स्वल्प अग्नि या समिको अवकारा बहीं शिक पाता है । यद्मीप अग्नि, जल या नकुल, सर्प आदिमें निज़मी गांडके, सिरोध अक्षाक परिवास विकोष हैं, फिर भी '' याचित कार्याणि

तावन्तः प्रत्येकं स्वभावमेदाः" इस नियम अनुसार अवगाह देनेमें उदासीन अप्रेरक कारण हो रहे आकाशमें भी वैसी वैसी न्यारी न्यारी परिणतियां माननी पडती हैं। एक एक वस्तुमें अनन्ते स्वभाव हैं। अतः अन्यापक देशांशोंसे अभिन्न हो रहे न्यापक आकाशद्रव्यमें कथंचित् असर्वगतपना भी समझ लिया जाय । तथा चौदह राजू ऊंचे या तीनसी तेतालीस ३४३ घन राजू प्रमाण परे लोकमें व्याप रहे भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका द्रव्यक्रपते ही नित्यपना स्वीकार किया गया है। पर्यायोकी अपेक्षा वे धर्मान्तिकाय, अधर्मास्तिकाय दोनों असर्वगत और अनित्य हैं। अधीत --- द्रव्यत्व गुणके अनुसार प्रतिक्षण नृतन पर्यायोंको धार रहे धर्म, अधर्म, द्रव्यके मेळे ही सहश्रपरिणाम होते रहें. किन्त अनित्यपर्यायोंसे अभिन हो रहे धर्म, अवर्म द्रव्य सर्वथा नित्य नहीं कहे जाते हैं। कोई भी द्रव्य कदाचित भी पर्यायोंसे रीता नहीं है । सम्पूर्ण पदार्थ द्रव्यरूपसे नित्य और पर्यायरूपसे अनित्य हो रहे कथंचित् नित्यानित्यात्मक हैं। घोडा, मळली, पथिक, विद्यार्थी, आदिकी उन उनके नियत देशोंमें गति करानेवाली धर्मद्रव्य और स्थिति करानेवाली अधर्मद्रव्य अपनी न्यारी न्यारी प्रयोजक. अन्यापक पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहीं अन्यापक भी है । लोकाकाश स्वयं एक छोटासा अन्या-पक पदार्थ है । उसमें भर रहे धर्म, अधर्म, द्रव्य दोनों वैसे ही अव्यापक हैं । तिस कारणसे काल, आकाश, धर्म, अधर्म, इन चारों पदार्थोंको अपने, अपने कार्योकी उत्पत्ति करनेमें निमित्तकारणपना युक्तिपूर्ण संघ जाता है। सभी प्रकारोंसे कोई विरोध नहीं आता है। हां, सर्वधा नित्य या व्यापक हो रहा तुम्हारा ईश्वर विचारा स्थावर आदि कार्योंका निमित्तकारण नहीं बन सकता है।

यद्यवं महेश्वरगुणस्य सिस्टक्षालक्षणस्यानित्यत्वादसर्वगतत्वात् च तिश्वमित्तत्वं स्थाव-रादीनां युक्तं व्यतिरेकप्रसिद्धेरिति पराक्क्तमनूद्य दृषयित ।

ईश्वरवादी कह रहे हैं कि यदि इस प्रकार आप जैन अनित्य और अञ्यापक पदार्थको स्थावर आदि कार्योका निमित्तकारण माननेमें विशेष अभिरुचि रखते हैं तो महेश्वरके सृजनेकी इच्छा स्वरूप गुणको अनिव्यपन और अन्यापकपन होनेसे उस गुणको स्थावर आदि कार्योका निमित्तकारणपना उचित बैठ जाता है। ईश्वरकी अन्यापक इच्छाके साथ कार्योका देशन्यितिरक और अनित्य इच्छाके साथ कार्योका काळ्यितिरक भी प्रसिद्ध होजाता है इस प्रकार दूसरे पौराणिकोंके चेष्टितका प्रथम अनुवाद कर श्री विद्यानन्द आचार्य दूषणप्रयोग करते हैं।

महेश्वरिसमृक्षाया जगजन्मेति केचन । तस्याः शाश्वततापायादिवभुत्वाददृष्टवत् ॥ ४४ ॥ तद्युक्तं महेशस्य सिस्क्षांतरतो विना । सिस्क्षोत्पादने हेतोस्तयैव व्यभिचारतः ॥ ४५ ॥

# सिसृक्षान्तरतस्तस्याः प्रस्तावनबस्थितेः। स्थावरादिसमुदुभूतिर्न स्यात्कल्पशतैरपि ॥ ४६ ॥

उस ईश्वरकी सृजनेके लिये ह्रयी इच्छाको नित्यपनका अभाव होजानेसे और अन्यापक होजानेसे अदृष्टके समान महेश्वरकी इच्छासे जगत्वर्ती यावत् कार्योक्षी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार कोई गिक्त कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि उन पण्डितोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि महेश्वरकी ख़ुं जब अनित्य है तो दूसरी सिस्धांके विना ही उस सिस्धांकी उत्पत्ति माननेपर तिस ही प्रकार रित्का व्यभिचारदोष लग जायगा। अर्थात्—सिस्धांमें कार्यत्वहेतु ठहर गया, किन्तु दूसरी सिस्धांको उसका निमित्तकारणपना नहीं प्राप्त हुआ। हां, यदि ईश्वरकी अनित्य सिस्धांका जन्म दूसरी सिस्धांसे माना जायगा, और उस दूसरी अनित्य सिस्धांके प्रमुव करनेमें तीसरी सिस्धांको हेत माना वायगा, यो चौथीमें पांचवीं सन्दुमिच्छा, और पांचवींमें छठी, आदि सिस्धांओंको कारण मानते मानते अमक्स्था होजायगी। अनेक सिस्धांओंको उत्पन्न करनेमें ही ईश्वरकी सिस्धांओंका बल निवट जायगा। में सैकडों कल्प कालों करके भी स्थावर आदि कार्योक्षी समुचित उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

तद्भोक्तृपाण्यदृष्टस्य सामर्थ्यात्सा भवस्य चेत् । प्रसृतिः स्थावरादीनां तस्मादन्वयनात्र किम् ॥ ४७ ॥ स्वातंत्र्येण तदुद्भूतौ सर्वदोपरमञ्युतेः । सर्वत्र सर्वकार्याणां जन्म केन निवार्यते ॥ ४८ ॥

उन स्थावर आदि कार्योका भोग करनेवादे प्राणियोंके अदृष्ट (पुण्यपापेस) की सामर्थ्यसे हि ईस्वरकी इच्छा अनादि कालसे उपज रही यदि मानी जायगी तब तो अदृष्टके होनेपर स्थावर आदिकोंका उपजना यों अन्वयके बन जानेसे उस अदृष्टसे ही साक्षात् स्थावर आदि कार्योकी उत्पत्ति शिक्यों नहीं मान ली जावे। परम्परासे अदृष्टकों कारण माननेकी अपेक्षा पुण्य, पापकों, अन्यवहित कारण मानना समुचित है। अदृष्टकी अधीनताके विना ही यदि स्वतन्त्रता करके उस सिस्धाकी प्रपत्ति मानी जायगी तब तो ईस्वरकी सिस्धायें सर्वदा उपजतीं रहेंगी। कदाचित् भी उन इच्छाओंकी प्रपत्तिका विराम नहीं हो सकेगा। ऐसी दशामें सभी स्थलोंपर सम्पूर्ण कार्योका उपजना भला किस करके रोका जा सकता है शब्धात्—विना कारण अपनी स्वतन्त्रतासे उपज रहे कार्योमें नियत देश । नियत कालकी सीमा नहीं रह पाती है। सभी कार्य अटोक उपजते ही रहेंगे।

व्याख्यातात्रेश्वरेणैव नित्या साध्यातिरेकिणी । कविद्यवस्थितान्यत्र न स्यादन्वयभागपि ॥ ४९ ॥ इस प्रकरणमें ईश्वर करके ही वह नित्य इच्छा भी व्याख्यान कर दी गयी समझ छेनी चाहिये। कारण कि वह इच्छा प्रकृतसाच्यका अतिक्रमण करनेवाळी है। अतः अन्वयको धार रही भी वह इच्छा कहीं भी अन्य स्थळोंपर व्यतिरेकको धारनेवाळी नहीं होनेसे व्यवस्थित नहीं समझी जायगी। भावार्थ—व्यापक नित्य ईश्वरका जैसे स्थावर आदि कार्योके प्रति अव्यभिचारी कार्यकारणभाव नहीं घटता है। उसी प्रकार साधे जा रहे जन्य कार्योसे अतिरिक्त स्थळोंपर भी पायी जा रही निस्य सिस्क्षा कोरे अन्वयसे ही कहीं कारणपने करके व्यवस्थित नहीं हो सकती है।

नन्वेवं काळादिपर्ययस्य स्वकार्योत्पत्तौ निमित्तभावमञ्जभवतः प्रादुर्भावे यद्यपरः काळादिपर्यायो न निमित्तं तद्ददन्यकार्योत्पत्ताविष काळादिपर्यायो निमित्तं माभूत्, अथ निमित्तं तदुत्पत्तावप्यपरो निमित्तमित्यनवस्था स्यात् काळादिपर्यायस्य कारणमन्तरणोत्पत्तौ देश्वकाळादिनियमानुपपत्तेः सर्वत्र सर्वदा भावात्सर्वकार्याणामनुपरतोत्पत्तिमसंगः । तस्य नित्यत्वे काळादिद्रव्यवद्यतिरेकासिद्धिरन्वयमात्रसिद्धाविष सर्वदोत्पत्तिस्तेषामनिमित्तत्वमसंगः सिद्धक्षावत्स्थावराद्युत्पत्ताविति केचित्, तेषि न तत्त्वक्षाः। स्याद्वादिनां स्वकार्योत्पत्तिनिमित्तस्य काळादिपर्ययस्य निमित्तत्वसिद्धस्तदुत्पत्ताषि तत्त्पूर्वकाळादिपर्यायस्य निमित्तत्वमित्त्यनादित्वा-क्शिमित्तनैमित्तिकभावस्य तत्पर्यायाणां बीजांकुरादिवद्नवस्थानवतारात् । कथंचित्स्थातन्त्र्येणोन्त्यमानस्यापि सर्वत्र सर्वदा च भावानुत्यत्तेः नित्यत्वानभ्युपगमाच ।

यहां कोई कर्तुवादी पण्डित अपने पक्षका अवधारण करनेके छिये आक्षेप उठा रहे हैं कि इस प्रकार जैनसिद्धांत अनुसार अभीष्ट होरहे कार्यकारणभावमें भी गोटाला मच जायगा, जैनोंने काल, आकाश, अदृष्ट, आदि पर्यायोंको अपने अपने कार्योकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण माना है। जैनोंने जैसे हमारी ईरवरसिस्क्षा पर कुचेाब उठाया है हम भी उनके यहां माने गये कारणों पर आक्षेप चला सकते हैं कि अपने कार्योके उपजानेमें निमित्तकारणपनका अनुभव कर रहे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें यदि दूसरे काल आदि पर्याय निमित्तकारण नहीं हैं, तब तो उन्हीं काल आदि पर्यायोंके समान अन्य कार्योकी उत्पत्तिमें भी काल आदि पर्याय निमित्तकारण नहीं होवें। अब यदि काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंको निमित्तकारण माना जायगा तब तो उन दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंको निमित्तकारण माना जायगा तब तो उन दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंकी जिन्नतकारण माना जायगा तब तो उन दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंकी कारणका करती होगा। जिज्ञासाके शान्त होजाने पर ज्ञापकपक्षकी अनवस्था कदाचित् कृपा करती हुयी निवृत्त होसकती है किन्तु कारक पक्षकी निष्ठुर अनवस्था एक बार गले लगी, पुनः कभी छूटती नहीं है। यदि जैन महाशय काल आदि पर्यायोंकी कारणको विना ही उत्पत्ति मान बैठेंगे, तब

तो देश. काल. आदिका नियम नहीं बन सकेगा, नियत देश, नियत कालवाले कारणोंके विना ही कार्योकी उत्पत्ति माननेपर सभी स्थळोपर सदा ही काल आदि पर्यायोका सद्भाव पाया जायगा और ऐसा होजानेसे संपूर्ण कार्योकी अविराम उत्पत्ति होती रहेगी। अर्घात्—कार्यके होजानेपर भी पनः पुनः वह लाखीं, करोडों, बार उपजता रहेगा, उपजनेसे विराम ( क्रूटी ) नहीं मिल सकेगा. इस प्रकार अतिप्रसंग जैनोंके ऊपर आता है. जैसा कि अडताछीस्वे वार्तिकमें उन्होंने हमारे ऊपर कहा था । यदि जैनजन निश्चयकाल द्रव्य आदिके समान उन न्यवहार काल आदि पर्यायोंका नित्यपन। मानोगे तो केवल अन्वय सिद्धि होचकनेपर भी न्यतिरेककी सिद्धि तो कथमपि नहीं होसकेगी। तथा काल आदिकी नित्य पर्यायों द्वारा सदा ही उन कार्योंकी उत्पत्ति होती रहेगी। यो स्थावर आदिकोंकी उत्पत्तिमें सिसक्षाको जैसे जैनोंने निमित्तकारण नहीं बनने दिया था. उसीके समान काल आदि पर्या-योंको भी निमित्तकारणपन नहीं होसकनेका प्रसंग जैनोंके यहां प्राप्त हुआ । यहांतक कोई पण्डित कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि वे महाशय तत्त्वव्यवस्थाके हाता नहीं है क्योंकि स्यादादियोंके यह। अपने, अपने, कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त होरहे काल आदि पर्यापोंको निमित्तकारणपना सिद्ध होरहा है। उन काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी उससे पूर्ववर्ची काल आदि पर्यायोंको निमित्तपना था. उन पर्यायोंकी भी निमित्तकारण पूर्व, पूर्व कालकी कालादि पर्यायें थीं । इस प्रकार बीजांकुर, मुर्गी अंडा, द्रव्य कर्म, भाव कर्म, आदिके समान उन पर्भायोंका पूर्वकाळीन पर्यायोंके साथ होरहे निमित्तनैमित्तिक भावको अनादिपना है। इस कारण अनवस्था दोषका अवतार नहीं होपाता है। भावार्थ-कालाण्यें द्रव्य है. वे प्रतिक्षण परिणामोंको धारती हैं। जगतके संपूर्ण कार्योकी बर्तनामें काछ निमित्तकारण है। अन्य कार्योमें कालपरमाणुओंके परिणमन जैसे निमित्त हैं उसी प्रकार इस समयके काल परिणामोंका निमित्त-कारण पूर्वसमयवर्ती कालपरिणाम हैं, और पूर्व समयकी काल पर्यायोंका निमित्तकारण उससे पहिलेके समयकी कालपर्यायें हैं. यों अनादिसे अनन्तकालतक प्रक्रम चल रहा है। घडियोंकी ठीक ठीक चाल को पहिली पहिली घडिया ठीक बताती चली आ रही हैं। पहिले पहिले बांटोंसे उत्तरोत्तरके बांट ठीक ठीक तोळकर परीक्षित कर लिये जाते हैं। देखिये, अन्य इच्योंके परिणमन काळह्व्यके अधीन है। किन्तु काल्द्रव्यके उत्तरोत्तर समयक्ती परिणमन पूर्व पूर्वकाल पर्यायोंके अधीन हैं। आकाश द्रव्य अन्य अनन्तद्रव्योंको अवगाह देखा स्वयंको भी अवगाह देता है। अधर्म द्रव्य निजका भी स्थापक हैं। यों कथंचित् स्वतंत्रताके उपज रहे भी ब्रतिनियतकाल आदि पर्यायोंकी सर्वत्र और सर्वदा उत्पत्ति नहीं बन सकती है। दूसरी बात यह भी है कि सर्वथा नित्यपना हमारे यहां स्वीकार नहीं किया गया है। अर्थात् - हम चाहे जीवद्रव्यकी पर्याय होय, चाहे काल, आकारा, आदि द्रव्यकी पर्याय होय, सम्पूर्ण पर्यायोंको नियत हो रहे निमित्त नैमित्तिक मावसे गुँथा हुआ मानते हैं। पूर्व समबकी पर्यार्थे उत्तरसमयवर्ती कार्योको बनाती हैं। अतः महेश्वरकी सिसुक्षाका साहस्यकाल आदि पर्यायोंमें बारू नहीं हो पाता है कार आदि पर्यायोंके निमत्तपनका मार्ग निर्दोष है।

ननु महेश्वरसिस्क्षापि तिर्हं स्थावरायुत्यत्ती निमित्तभावमनुभवतीति पूर्वसिस्क्षातः सापि स्वपूर्वसिस्क्षातः इत्यनादित्वात् कार्यकारणभावस्य कथमनवस्थादोषणोपद्भयेत कथं वा बवैव हेतवोऽनैकांतिकाः स्युः १ न स्थावर्गादकार्यानुपरमः स्वातंत्र्येणानुत्यादात्। नान्यतिरको नित्यस्वानभ्युपगमात् सिस्क्षायाः, तिक्तत्यत्वे सर्वदा कार्योत्यत्तिमसंगात्। सर्वदा सहकारिणामभावाक तत्यसंग इति चेक्न, तेषामपि महेश्वरसिस्क्ष्मया तज्जन्मत्वे सर्वदा सद्भावापत्तेस्तदनावत्तजन्मकुत्तेरेव हेत्नां व्याभिचारात् । तत्सहकारिणोपि स्वोत्पत्तिहेत्नामभावात् न सर्वदोत्यद्यंत इति चेक्न, तेषामपि ईश्वरसिस्क्षायास्तज्जन्मत्वेतरयोक्तत्दोषानुषंगात्। तत्सहकारिणां नित्यत्वे स एव सर्वदा कार्योत्यत्तिमसंगः सिस्क्षायाः सहकारिणां च नित्यत्वादनित्येष सा युक्ता। " ब्राग्नेण मानेन वर्षक्षतांते प्राणिनां भोगभूतये भगवता महेश्वरस्य चतुर्दक्षभुवनाधिपतेः सिस्क्षोत्पयत् " इति वचनाच न नित्यासौ तथोत्पत्तिविरोधादिति केचित्।

पुनः वैशोषिक या पौराणिक अपने पक्षका अवधारण करते हैं कि तब तो काल आदि पर्यायोंके समान महेश्वरकी सिस्ट्रक्षा भी स्थावर आदि कार्योकी उपित्तमें निमित्तकारणपनका अनुभव कर हेती है या अनुभव करती सन्ती यों वर्तमान कालकी सिस्क्षा पूर्व कालकी सिस्क्षासे उपजती जाती है और वह पूर्वकालकी सिसुक्षा भी अपनेसे पूर्वकालकी सिसुक्षासे उपज गयी थी, इस प्रकार कार्यकारणभावका अनादिपना होनेसे तुम्हारे समान हम वैशेषिकोंको भी अनवस्था पूर्णरूप अभीष्ट है. कोई क्षति नहीं है । पुनः अनवस्थादोष करके हमारे उत्पर क्यों उपदव उठाया जा रहा है ? और इस सिसक्षा करके ही हमारे कार्यत्व, सिनेवेशविशिष्टत्व, हेतुओंको किस प्रकार व्यभिचार दोषसे युक्त किया जा रहा है। अर्थात्-जन्य सिस्रक्षाओंकी अनादिधारा मान छेनेसे हम वैशोषिकोंके ऊपर अनवस्था-दोषका ऊधम नहीं उठ पायेगा और इमारे हेतु व्यभिचारी भी नहीं हो सकेंगे । साथमें स्थावर, शरीर, आदि कार्योकी उत्पत्तिका विराम नहीं पडना दोष भी नहीं आता है। क्योंकि स्वतंत्रता करके स्थावर आदि कार्यीका उत्पाद नहीं होता है। उपज रही सिसृक्षाके अधीन नियत देश और नियत कालमें स्थावर आदि कार्य उपजेंगे । कारणों के नहीं मिलनेंसे वे सर्वदा उपजते ही नहीं रहेंगे तथा व्यतिरेक नहीं बनना दोष भी हमारे ऊपर नहीं आता है। क्योंकि सिसृक्षाका नित्यपना हमने स्वीकार नहीं किया है। हां, यदि उस सिस्रश्लाको नित्य माना जाता तब तो सदा कार्यीकी उत्पत्ति होनेका व्रसंग हो सकता था। अन्यथा नहीं। यदि हम बैरोषिकोंको कोई वंचक यो सदायता देना चाहे कि सिस्क्षाको नित्य ही बने रहने दो, अकेली नित्यसिस्क्षा तो कार्यको नहीं बना देती है। अनेक सहकारी कारण भी चाहिये उन सहकारी कारणों का अभाव होनेसे सदा उन कार्योंकी उत्पत्ति होते रहनेका प्रसंग नहीं आ पायेगा । उन गोमुख-व्याघ्रोंके प्रति हम वैशोषिक कहते हैं कि इस प्रकारकी सहायता इमको नहीं चाहिये। क्योंकि उन सहकारी कारणोंकी भी महेश्वरसिस्क्षा करके वह

उत्पत्ति मानी जायगी । ऐसी दशामें सर्वदा उन सहकारी कारणोंके सद्भावकी आपत्ति होती है । अतः नित्यसिसृक्षा और तदधीन सहकारी कारणोंका सद्भाव पाया जानेसे सर्वदा कार्योंकी उत्पत्ति होते रहनेका प्रसंग टळ नहीं सकता है । यदि उन सहकारी कारणोंका जन्म उस सिस्क्षाके अधीन नहीं मानीगे तब तो उन सहकारी कारणों करके हमारे कार्यत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष बन बैठेगा । यदि हमारे सहायक वे पण्डितजी कों कहें कि वे सहकारी कारण भी अपनी उत्पत्तिके हेतओंका अभाव होनेसे सदा नहीं उपजते रहते हैं वैशेषिक कहते हैं कि यह भी नहीं कहना । क्योंकि उन सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतुओंका भी ईश्वरकी सिसृक्षासे उपजना माना जावेगा ? या ईश्वरकी इच्छासे उनका उपजना नहीं माना जावेगा ! इन दोनों पक्षोंमे पूर्वोक्त दोषोंके आनेक प्रसंग होता है। अर्थात-सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतु यदि ईश्वरकी सिस्क्षासे उपजेंगे तो वे नित्य सिसक्षासे शीव उपजकर सहकारी कारणोंको झट बना देंगे और सहकारी कारण सदा स्थावर भादि कार्योको बनाते रहेंगे। हां, यदि उन सहकारी कारणोंके सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति यदि ईश्वरिससक्षा करके नहीं मानी जायगी तन तो सन्निवेशविशिष्टत्व आदि हेतुओंका उन सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतुओं करके व्याभिचार बन बैठेगा । उन सहकारी कारणोंका नित्यपना माननेपर तो वहका वही सर्वदा कार्योंके उपजते रहनेका प्रसंग दोष आ पडता है। क्योंकि सिसक्षा और सहकारी कारण नित्य होकर सदा वर्त रहे हैं। उक्त दोषोंको टालनेका समीचीन उपाय यही है कि वह ईश्वरकी सिसक्षा अनित्य ही मान छी जाय । युक्तियोंसे ईश्वरकी सिसक्षा अनित्य ही सिद्ध होती है। तथा हमारे शास्त्रोंमें भी इस प्रकार कथन किया है कि '' ब्रह्मासम्बन्धी परिमाण करके सौ सौ वर्षके अन्तमें प्राणियों को मोगोंकी अनुभूति करानेके छिये चौदह भुवनके सर्व तंत्र स्वतंत्र प्रभु हो रहे भगवान् महेश्वरकी सिस्हक्षा उपजती है। " इस आगम वाक्यसे भी वह इच्छा नित्य नहीं मानी गयी है। अन्यथा तिस प्रकार सी, सी वर्षमें इच्छाकी उत्पत्ति होनेका विरोध हो जायगा । अपने शास्त्रींसे ही विरोध पड जाय ऐसे वचनको हम कहना नहीं चाहते हैं । अर्थात्— " कृतं, त्रेता, द्वापरं, च किश्विति चतुर्यगम् । प्रोच्यते तत्सहस्रं त ब्रह्मणो दिवसो मुने " विष्णु पुराणमें लिखा है कि सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कालियुग ये चार युग एक हजार बार हो जांय तब बसाका एक दिन और इसी प्रकार एक रात होती है। यों एक दिन रातकी गणना अनुसार सौ वर्षोंको बना कर ब्रह्मा की आयु सौ वर्षकी मानी गर्या है " ब्रह्मणो वर्षशतमायुः " ब्रह्मा संबंधी सौ वर्षोंके पश्चात् खंडप्रलय होजाता है। पश्चात् महेश्वरक्ती स्नष्टमिच्छा उपज कर सृष्टिको रचती है मनुस्मृतिमें ब्रह्माके एक दिनरातकी समाप्ति होनेपर सृष्टिप्रक्रिया मानी है। " दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया । बाह्ममेकमहर्नेयं तावती रात्रिमेव च '' ॥ १ ॥ तद्वै युगसहस्रातं बाह्मं पुण्य-महर्विदुः , रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः। तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते। प्रति-बुद्ध सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ३ ॥ मनः सृष्टि विकुरुते चेष्पमानं सिस्क्षया । आकाशं

जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ४ ॥ इत्यादि १ भूर्लोक २ मुवर्लोक ३ त्वर्लोक ४ महर् लोक ५ जनलोक ६ तपोलोक ७ सत्यलोक ८ अतल ९ वितल १० मुतल ११ नितल १२ तला-तल १३ रसातल १४ पाताल इन चौदह भुवनोंका सर्वाधिकारी सम्राट् महेश्वर है । यहांतक बढी देरसे कोई पौराणिक या स्मार्त पण्डित कह रहे हैं ।

तंत्रकेषां दृषणं सिस्रक्षाया नित्यत्वाभावेषि दृष्टक्षित्यादिकारणसाकल्येषि स्थावरदीनां कदाचिद्रजुत्पत्तिमसंगः । कदाचित्तदभावसंभवातः तदंत्यसहकारिकारणसिवधानानन्तरमेव सिसृक्षोत्पत्तेस्तद्भावासंभवे तस्याः सहकारिकारणप्रभवत्वप्रसंगः तदनन्तरभावनियमस्यान्यथा-नुपपत्तेः तेषां सहकारिणां सिस्रक्षामुत्पादयतां सिस्रक्षान्तरादुत्वत्ती स्थावरादिवत् कदाचिद्नुत्प-ित्तपसंगस्तस्य कदाचिदसा**त्रि**धानादन्त्यकारणसंनिधानानन्तरमेव सिस्रक्षातरस्योत्वत्तिनियमात् तदमसंगे तत्कारणप्रभवत्वप्रसंगस्तदनंतरभाव्यनियमस्यान्यथानुपपत्तेः इत्यादि पुनरावर्तत इति चक्रकमेतत् । सिस्रक्षांतरेणामेरितानामेव सहकारिणाम्रत्यत्ती तैरेव हेतूनामनेकांतिकत्वं सहका-रिणां सिस्क्षया सह नियमनोत्पत्तेः स्थावरादीनां सकत्कारणानां कदाचिद्नुत्पत्तेः। प्रसंगा-भावे सिर्ह्यक्षाया सहकारिणां च क्षित्यादीनामेकं कारणप्रपपद्येत अन्यया सहभावनियमा-योगात् । तचैकं कारणं यदि सिस्टक्षांतरेणामेरितं तज्जनकं तेनैव हेतुच्याभेचारस्तेन वेरितस्य तज्जनकत्वे कदाचिचज्जननमसंगः पूर्ववचस्यापि मेर्येण सह नियमेनोत्पचौ तयोरप्येकं कारणं स्यात्, तचैकं कारणं यदि सिम्हक्षांतरेणात्रेरितं तज्जनकं तेनैव हेतुच्यभिचार इत्यादि पुन-रावर्तत इति चक्रकमपरम् क्षित्यादिभिः मागनन्तरं नियमोत्पत्तौ सिम्रक्षायाः सहकारिहेतुभि-रेकसामप्रयधीनता स्यादन्यथा प्रागनंतरं नियमोत्पत्त्ययोगात् सा वैका सामग्री यदि सिस्रक्षां-तरेणात्रोरिता तज्जनिका तदा तयैव हेत्रव्यभिचारः । यदि पुनः वेरिता सा तज्जनिका तदा प्रेर्यात्त्रागनंतर नियमेनोत्यच्या तस्या भवितम्यमन्यथोक्तदोषानुषंगात् तथा च सिस्टक्षांतरं प्रेर्यात्सामग्रयविश्वेषात्रागनंतरं नियमेनोत्पद्यमानं तद्धेतुभिरेकसामग्रयधीनं स्यात् । सा वैका सामग्री यदि सिस्ट्रभांतरेणामेरिता तज्जनिका तदा तयैव हेतुन्यभिचार इत्यादि पुनरावर्तत इत्यन्यचक्रकम् । तदेतददृषणं परिहर्तुकामेन क्षित्यादिभ्योनंतरं पाक् सह वा तैः सिस्रक्षोत्पत्ति-नियमतो नाभ्युपगंतव्या तथा च तद्वचितरेकानुविधानप्रपळभ्येत न चोपळभ्यते, क्षित्युदकवी-जादिकारणसामग्रीसिक्षधाने अपितुर्वधे चाइसति स्थावरादिकार्यस्यावश्यंभावदर्श्वनादिति तदेत-दयुक्तं, स्थावरादीनामदृष्टादिहेतुत्वेप्येतद्दोषमसंगात् स्वसिद्धांतिवरोधात् । यदि पुनरदृष्टक्षित्या-दिकारणसाकल्योपे स्थावरादीनां परिणामवैचित्र्याददृष्टादिसिद्धिः चश्चरादिकारणसाकल्येपि रूपादिश्वानपरिणामवैचित्र्यादिन्द्रियञ्चक्तिवदिति मतं, तदेश्वरसिस्रक्षासिद्धिरपि तत एवास्तु तस्यास्तत्सिष्या विरोधामावादित्यपरे ।

उस पौराणिकोंके मंतव्य पर अन्य एक विद्वानोंकी ओरसे यों दूषण उठाया जाता है '' सिस्-क्षाणां नित्यत्वभावेषि '' यहांसे प्रारम्भ कर '' स्थावरादिककार्यस्यावस्यम्भावदर्शनात् '' यहांतक कोई एक विद्वान दूषण दे रहे हैं यह दूषण प्रंथकारको अभीष्ट नहीं है। अतः प्रंथकार '' तदेतद्युक्तं '' से प्रारंभ कर "विरोधाभावात " यहांतक किन्हीं दूसरे विद्वानों करके इस दूषणका प्रत्याख्यान करा देंगे पश्चात " तेत्र प्रष्टव्याः" इस प्रयसे प्रारम्भ कर स्वयं प्रथकार इस केचित्के पक्षपर सिद्धांत इषण उठावेंगे । केचित्के ऊपर एक विद्वानोंका दुषण इस प्रकार है कि उन किन्हीं पौराणिकोंने ईक्राकी सिसक्षाको अनित्य सिद्ध किया है। सिसक्षाको नित्यपना नहीं होते हुये भी बाल गोपालेंतक देखे जारहे स्थावर आदिकोंके कारण प्रथिवी, जल, बीज आदिकी परिपूर्णता होनेपर भी कभी कभी स्थावर आदिकोंके नहीं उपजनेका प्रसंग आवेगा। क्योंकि सिसक्षा अनित्य है। कभी कभी उस सिसक्षाका अभावसम्भव हो जायगा । अर्थात्-अनित्य सिसुक्षाके नहीं होनेपर अन्य संपूर्ण कारणोंके होनेपर भी कभी कभी स्थावर आदिक कार्य नहीं उपज सकते हैं। स्थावर आदि कार्योक्षे कारणोंका शनै: शनै: एकत्रीकरण होते होते तबतक यदि ईस्वरकी अनित्य सिसक्षा उपन कर नष्ट भी होगयी होय तो हम क्या कर लेंगे । इच्छाके विना सब कारण यों ही व्यर्थ धरे रहेंगे । अतः कदाचित स्थावर आदिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी । यदि केचित् यों कहें कि उन स्थावर आदि कार्योंके उत्पादक अंतिम सहकारी कारणींके संनिधान पश्चात् है। सिसृक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी, अतः कारणोंकी पूर्ण-ताके अवसरपर उस क्षिसक्षाका अभाव नहीं संभवेगा. यों कहनेपर तो हम एक पण्डित यों कहते हैं कि यें। तो उस सिस्क्षाकी सहकारी कारणोंसे उत्पत्ति होनेका प्रसंग आवेगा. क्योंकि उन परिदृष्ट श्विति आदि कारणोंके अनंर सिस्क्षाके उपजनेका नियम अन्यथा बन नहीं सकता है। यानी जो पदार्थ जिन सहकारी कारणोंका कार्य होगा. वही उनके अन्यवहित उत्तर काल्में उपज सकता है ऐसी दशामें जिस सिसुक्षाको तुमने बळवती शक्ति समझ रक्खा है, वह महेस्वरकी सिसक्षा स्वयं सह कारी कारणोंसे उपज रही बन बैठी, अब बताओं कि सिसक्षाके पिता होरहे उन सहकारी कारणोंकी कौन बनावे ? यदि सिसुक्षाको उपजा रहे उन सहकारी कारणोंकी दूसरी सिसुक्षासे उत्पत्ति मानी जायगी तब तो स्थावर आदिके समान कभी कभी उन सहकारी कारणोंके नहीं उपजनेका प्रसंग आवेगा। क्योंकि कारणीके अधीन होनेवाली दूसरी उस अनित्य सिमुक्षाका कभी सिनधान नहीं होपाता है। जो कार्य अपने कारणकृटके अधीन है खल्प भी कारणकी त्रुटि होजानेसे आवश्यकता होनेपर भी कदाचित् वह कार्य नहीं उपजता है अथवा कथंचित् उपज छेनेपर भी दूसरे कारणोंके जुटनेतक वह दूसरी सिल्क्ष्म नष्ट हो जायगी । ऐसी दशामें पहिछी सिल्क्षाको उपजानेवाछे कारणोंकी अनुत्पत्ति हुई। दादीके विना पिताकी उत्पत्ति नहीं है और पिताके विना पुत्रीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

यदि केचित् पौराणिक पूर्वके समान यहां भी यों कहें कि कार्यकी उत्पत्तिके अन्यवहित पूर्वकालमें एकत्रित हुये अन्तिम समर्थ कारणोंके सन्निधान पश्चात् ही दूसरी सिसृक्षाकी उत्पत्तिका नियम है। अतः वह अनुत्पत्तिका प्रसंग हमारे ऊपर नहीं आता है, यों पौराणिकोंके कहनेपर तो हमें कहना पडता है कि उस दूसरी सिस्क्षाको उन परिदृष्ट कारणोंसे उपजनेका प्रसंग आता है। क्योंकि उन कारणोंके अन्यवहित उत्तरकालमें नियमसे उपजना अन्य प्रकारसे यानी उनका कार्य माने विना बन नहीं सकता है। इसी प्रकार आगे भी घुमा कर ये ही चोध उठाये जा सकते हैं। तीसरी, चौथी, आदि सिस्क्षायें और सहकारी कारण तथा चरमकारणोंकी जिज्ञासायें उत्तरोत्तर बढती ही जावेंगी। यों बार, बार, अनित्यसिसूक्षा, कार्योकी कदाचित् अनुत्पत्ति, अन्तिम सहकारी कारणोंके पश्चात् सिसुक्षाका जन्म, पुनः सहकारी कारणोंके छिये अन्य सिसुक्षाओंकी उत्पत्ति, इत्यादि ढंगसे आवृत्ति होती जाती है यह चक्रक दोष है। '' स्वापेक्षणीयापेक्षितसापेक्षत्व— चक्रकत्वं " अपने अपेक्षणीयसे अपोक्षेत निबन्धनप्रसङ्गत्वं हो रहेकीसापेक्षताको कारण मानकर प्रसंग प्राप्ति कर। देना चक्रक दोष है। यदि दूसरी सिस्क्षा करके नहीं प्रेरे जा चुके ही सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो उन्हीं सहकारांकारणों करके तुम्हारे सिन्निवेशविशिष्टत आदि हेतुओंका न्यभिचार दोष हो जायगा । क्योंकि इस सिस्क्षाके साथ ही सहकारी कारणोंकी पूर्वसिस्रक्षाके विना यों ही नियम करके उत्पत्ति हो रही है। स्थावर आदि कार्योंके सम्पूर्ण कारणोंकी कभी कभी नहीं उत्पत्ति हो जानेके कारण यदि प्रसंगका अभाव माना जायगा तब तो सिसुक्षा और पृथित्री आदिक सहकारी कारणोंका जनक एक कारण बन बैठेगा अन्यथा यानी एक कारण माने विना दोनोंके सहभावका नियम नहीं बन सकता है और वह कारण यदि अन्य सिसक्षा करके प्रेरित नहीं हुआ ही उन सहकारी कारण और सिसक्षाका जनक माना जायगा तब तो उस एक कारण करके ही तुम्हारे कार्यत्व आदि हेतुओंमें न्यभिचार दोष लगा । यदि अन्य सिसक्षा करके प्रेरित हो रहे एक कारणोंको अपने उन कार्योका जनकपना अभीष्ट किया जायमा तब तो पूर्वके समान कभी होने और कभी कभी उन कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होनेका प्रसंग होगा। यदि उस एक कारणकी भी सिसुक्षा करके प्रेरे जा रहे कारणके साथ नियम करके उत्पत्ति मानी जायगी तब तो साथ उपज रहे उन दोनोंका भी एक कारण बन बैठेगा और वह एक कारण यदि अन्य चौथी, पांचवीं, सिमुक्षा करके नहीं प्रेरित हो रहा ही उन कार्योंका जनक है, ऐसी दशामें उस एक कारण करके हैं। " सिनवेशियिशियत " आदि हेतुओंका व्यभिचार होगा. इत्यादिक रूपसे पुनः पुनः चोषोंकी आदृत्ति कर छी जाती है। इस कारण यह दूसरा चक्रक दोष तुम्हारे ऊपर आता है । तीसरा चऋक इस प्रकार है कि क्षिति आदिकों करके पहिन्ने अन्ववहित पूर्व यदि नियमसे उस सिमुक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो सहकारी कारणों करके सिमुक्षाकी एक सामग्रीकी अधीनता हो जायगी । यानी सिसृक्षा और सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति एक सामग्रीके

वश बन बैठेगी । अन्यथा अन्यवहितपूर्व नियमसे उत्पत्ति होनेका अयोग होगा तथा सिस्क्षा और सहकारी कारण दोनोंकी वह एक सामग्री यदि पूर्ववर्ती अन्य सिस्वक्षाओं करके प्रेरित नहीं होती सन्ती उन सिसृक्षा और सहकारी कारणोंकी उत्पादक मानी जायगी, तब तो एकसामग्री करके ही हेतुओंका व्यभिचार हुआ । यदि फिर अन्य सिसृक्षासे प्रेरित हो रही वह सामग्री उन सिसृक्षा और सहकारी कारणोंकी जननी मानी जावेगी तब तो प्रेरणा करने योग्य कार्यीसे अन्यबहितपूर्व उस साममीकी नियम करके उत्पत्ति होनी चाहिये । अन्यथा उक्त दोषोंका प्रसंग आवेगा और तिस प्रकार होनेपर छठीं, सातवीं, न्यारी सिसृक्षा भी प्रेरणा योग्य सामग्रात्रिरोषसे अन्यवहितपूर्वमें नियम करके उपज रही सन्ती उन हेतुओंके साथ एकसामग्रीके अधीन हो जायगी। और वह दोनोंकी वशर्मे करने वाळी एक सामग्री यदि अन्य सिसृक्षाकरके प्रेरित नहीं हो रही सन्ती उनकी जनक (जनिका) मानी जायगी तब तो उस सामग्रीकरके हैं। सन्निवेशाविशिष्टत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष छगा इत्यादिक रूपसे पुनः पुनः चक्कर देकर चोद्योंकी आवृत्ति कर छी जाती है। इस प्रकार तीसरा अन्य चक्रकदोष तुम्हारे ऊपर आ पडता है। " स्वप्रहसापेक्षप्रह सापेक्षप्रहसापेक्षप्रहक्तवं चक्रकत्वं '' इस कारण इन सब चक्रक या व्यभिचार दूषणोंको परिहार करनेकी अभिळाषा रखनेवाले पौराणिक पण्डित करके क्षिति आदिकोंसे अन्यवहित पूर्व अथवा साथ उन कारणों करके सिस्क्षाकी नियमसे उत्पत्ति नहीं स्त्रीकार कर छेनी चाहिये। और तैसा होनेपर नहीं उपज रही सिस्क्षाके साथ उन स्थावर आदि कार्योंके व्यतिरेकका अनुविधान कैसे जाना जा सकेगा ? यों अनित्य मान छी गयी भी ईश्वर इच्छाके साथ व्यतिरेक तो नहीं दीख रहा है । क्षिति, उदक, बीज, ऋतुकाल आदि सामग्रीके निकट होनेपर और प्रतिबन्धकोंके नहीं होनेपर स्थावर आदि कार्योका अवस्य उत्पाद हो रहा देखा जाता है। ईश्तरकी सिस्टक्षाको सामग्रीमें डाछनेकी कोई आव-स्यकता नहीं है । यहांतक केचित् पौराणिकोंके ऊपर एकदेशीय जैन विद्वान्के विचार प्रगट हो चुके हैं। यहां किन्हीं अपर विद्वानोंका निरूपण है कि तिस प्रकार यह जैनपक्षीय-विद्वानोंका कथन अयुक्त है। केवल परको निर्मुख करनेवाला खण्डन हमको अभीष्ट नहीं है। यों तो स्थावर आदि कार्योंके यदि अदृष्ट आदिको कारण माना जायगा वहां भी इन दोषोंके प्राप्त हो जानेका प्रसंग आ जायगा । अतः तमको अपने जैन सिद्धान्तसे विरोध ठन जायगा । यदि फिर आप ना यह मत होय कि सबको परिदृष्ट हो रहे पृथिवी, काल, आदि कारणोंकी परिपूर्णता होनेपर भी स्थावर आदि कार्योंके परिणाममें विचित्रता देखी जाती है । इस कारण पुण्य, पाप, स्वरूप अदृष्ट अथवा अन्य भी परोक्ष कारणींकी सिद्धि कर छी जाती है। जैसे कि चक्क, आछोक आदि कारणींकी सक्तछता होनेपर भी अनेक जीवोंके भिन्न भिन्न प्रकार हो रहे रूप आदिके ज्ञानपरिणामोंकी विचित्रतासे अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका या शक्तियोंका अनुमान कर किया जाता है। यों तुम्हारा मन्तव्य होय तब तो कर्तृगादि-र्योके यहां ईस्वरकी सिस्धाकी सिद्धि भी तिस ही कारणसे यानी चमरकारक स्थावर आदिके परिणाőő

मोंकी विनिन्नतासे हो जाओ । उस स्थावर आदिकी विचित्रताका उस सिस्क्षासिद्धिके साथ कोई विरोध नहीं है । प्रत्युत अनुकूछता है । अर्थात्—बालक, बृद्ध, रोगी, पशु, आदिकी बहिरंग इन्द्रियां स्थूळदृष्टिसे समान दीखती हैं । किन्तु भिन्न भिन्न जातिके रूपादि ब्रानोंके अनुसार अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका परिज्ञान कर लिया जाता है । उसी प्रकार ईश्वरकी अतीन्द्रिय सिस्क्षाका भी परिज्ञान कर लिया जा सकता है । फिर सिस्क्षाका खण्डन कहां हुआ ? । यहांतक अपर विद्वान् कह रहे हैं ।

तेऽत्र प्रष्टच्याः । स्थावराद्युत्पत्तौ निमित्तभावमत्नुभवन्ती महेश्वरस्य सिस्टक्षा यदि पूर्व-सिस्टक्षातो भवति, सापि तत्पूर्वसिस्टक्षातस्तदा सोत्तरां सिस्टक्षां प्रादुर्भावयति वा न वा १ न तावदुत्तरः पक्षस्तदनंतरस्थावरादिभ्य उत्तरीत्तरस्थावराद्यनुत्पत्तिपसंगात् । तत एव तदुत्पत्तौ च्यर्थानादिसिस्टक्षापरंपरापरिकल्पना, कथिचेदक्यैवाभेषपरापरस्थावरादिकार्याणामुत्पादियतुं भक्यत्वात् पूर्वसिस्टक्षया अप्युत्तरोत्तरसिस्टक्षां प्रत्यच्यापारात् । यदि पुनराद्यः पक्षः कक्षीक्रियते तदा चोत्तरसिस्टक्षायामेव प्रकृतसिस्टक्षाया व्यापारात् ततः स्थावरादिकार्योत्पात्तिनं भवेत् । एतेन पूर्वपूर्वसिस्टक्षाया अप्युत्तरोत्तरसिस्टक्षायामेव व्यापृतेः पूर्वमपि स्थावराद्युत्पत्त्यभावः प्रतिपादितः ।

अब प्रथकार सिद्धांत रीतिसे केचित्का सिद्धांत खंडन करते हैं कि वे केचित् विद्वान यहां प्रकरणमें यो पूंछने योग्य हैं कि स्थावर, सूर्य, तन आदि शी उत्पत्तिमें निमित्तभावका अनुभव कर रही महेश्वरकी सिसुक्षा यदि पूर्वकालवर्तिनी दूसरी सिसुक्षांस उपजती है तब तो वह दूसरा सिसुक्षा भी उससे पाइले की तीसरी सिस्रक्षासे उपजेगी, उस समय हमारा प्रश्न यह है कि स्थावर आदिकोंको उपजा रही वह पूर्वकालीन सिसक्षा क्या उत्तरकालवर्तिनी सिस्क्षाको उपजावेगी ? अथवा नहीं प्रकट करेगी ? बताओ । पिछले पक्षका प्रहण करना तो ठीक नहीं पडेगा, क्योंकि पूर्वसिस्क्षा यदि उत्तर मिसक्षाको पैदा नहीं करेगी तो उसके अनंतर होनेवाले स्थावर आदिकांसे पुनः उत्तरोत्तर स्थावर आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, तुम्हारे यहां सिस्क्षाके निना कोई कार्य उपजता नहीं माना गया है. किन्तु स्थावरींसे अगले अगले स्थावरींकी उत्पत्ति हो रहो देखी जाती है। यदि एक उस पहिली सिसक्षांसे ही उस उत्तर सिसक्षाकी उत्पत्ति मान की जायगी, तब तो परम्परासे अनादिकालीन सिसक्षाओंकी लंबी चौडी कल्पना करना व्यर्थ पडेगा। उस एक ही सिसुक्षा करके उत्तरोत्तर होनेवाले संपूर्ण स्थावर आदि कार्योंको कथंचिद् उपजाया जा सकता है। पूर्वकालकी सिस्क्षा करके भी उत्तरोत्तर होनेवाडी सिसुक्षाओं ने प्रति कोई व्यापार नहीं किया जासकता है, जो तुम मान बैठे हो । यदि आप करके आदिके पक्षका अंगीकार किया जायगा तब तो पूर्व भिसृक्षासे उत्तर सिसृक्षाकी उत्पत्ति करनेपर प्रकरण प्राप्त सिस्क्षाका केवल उत्तरकालवर्तिनी सिस्क्षाको उपजानेमें ही व्यापार होता रहेगा । उस प्रकृत सिसक्षांसे स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी । इस कथन करके यह भी प्रतिपादन कर दिया गया समझ लो कि अनादिकालीन पहिली पहिली सिस्क्षाओंका भी उत्तरोत्तर कालकी सिस्का-

ती उत्पत्ति करनेमें ही न्यापार होता रहेगा, अतः पहिले भी स्थावर आदि कार्योकी, उत्पत्ति नहीं किगी, सिस्क्षाको अवकाश नहीं मिल जायगा, ऐसी दशामें सिस्क्षाकी शरण लेना न्यर्थ ही है जो । अपने ही शारीरिक कार्योसे अवकाश नहीं पाता है, वह प्रचंड प्रभुकी सेवा क्या कर गा १ कुछ नहीं ।

यदि पुनिरयं सिर्छक्षांतरात्पचौ स्थावरादिकार्योत्पचौ च व्यत्रियेत पूर्वा पूर्वा च सिर्छक्षा परां च सिर्छक्षां तत्सहभाविस्थावरादींश्च प्रति व्याप्रियमाणाभ्युपेयेत, तदैकैव सिर्छक्षा लोत्पत्तिमताग्चत्पचौ व्यापारवती प्रतिपत्तव्या। तथा च सक्कत्सर्वकार्योत्पचेः कृतः पुनः विकमभावप्रतीतिः ?

यदि फिर ईश्वरवादी यों कहे कि यह पूर्वकालीन सिस्क्षा दूसरी दूसरी सिस्क्षाओं को उत्पन्न तेमें और स्थावर, त्रसशरीर, आदि कार्योकी उत्पत्तिमें व्यापार करेंगी तथा पूर्वसिस्क्षासे भी ली पहिली सिस्क्षायें स्वस्वजन्य उत्तरोत्तर सिस्क्षाओंको और उन सिस्क्षाओंके साथमें होनेवाले तर आदि कार्योके प्रति व्यापार कर रहीं स्वीकार कर ली जायगी। आचार्य कहते हैं कि तब एक ही ईश्वरके स्जनेकी इच्छा इन उपजनेवाले सम्पूर्ण कार्योकी उत्पत्तिमें व्यापार कर रही समझ। चाहिय, और तिस प्रकार एक ही सिस्क्षाको यावत् कार्योकी उत्पत्तिमें व्यापार करनेवाली नेपर एक ही वारमें सम्पूर्ण कार्योकी उत्पत्ति होना बन बैठेगा। अतः फिर कार्योके क्रम क्रमसे की प्रतीति होना मला कैसे सब सकेगा ! सो बताओ । अर्थात्—एका सिस्क्षाद्वारा युगपत् र्ण कार्य उपज बैठेंगे जो कि पहिले प्रसंग उठाया गया था।

स्यान्मतं, क्रमशः स्थावरादिकार्याणां देशादिनियतस्वभावानाग्रभयवादिमसिद्धत्वात् मित्रभावमात्मसात्कुर्वाणा मद्देश्वरसिद्धशाः क्रमभाविन्य एवानुमीयंते कार्यविशेषानुमे-।।त् कारणविशेषव्यवस्थितेरिति । तर्दि सिद्धश्लांतरोत्यत्तावन्याः सिद्धश्लाः स्थावरादिगेत्यत्ती चापरास्तावंत्यो अभ्युपगंतव्याः कार्यविशेषात्कारणविशेषव्यवस्थितरन्यथानुपपत्तेः।

ईस्तरवादियोंका यह भी मन्तन्य होने कि नियत देशमें होना, नियत कालमें उपजना, प्रति त आकारको धारना, आदि स्वभाववाले स्थावर आदि कार्योंकी यों नियतरूपसे उत्पत्ति होना तुम दोनों वादी प्रतिवादियोंके यहां प्रसिद्ध हो रहा है इस कारण इन नियत कार्योंके निमित्त-णपनको अपने अधीन कर रहीं महेखरकी सिस्प्रक्षायें क्रम क्रमसे हो रहीं सन्ती ही अनुमानप्रमाण जानी जा रही है। क्योंकि विशेष विशेष कारणोंकी व्यवस्थाका तज्जन्य विशेष विशेष कार्यों-। अनुमान कर लिया जाता है, जिस प्रकार आप जैन क्रमक्रमसे उपजनेवाले कार्योंके क्रम वर्ती कारणोंका निर्धारण कर लेते हैं। उसी प्रकार क्रमवर्तिनी सिस्प्रक्षायें भी क्रमवर्ती कार्योंको

क्रमक्रमसे करेंगी। अतः युगपत् सकल कार्योकी उत्पत्तिका प्रसंग नहीं आ पाता है। प्रन्थकार कहते हैं कि तब तो दूसरी दूसरी सिसक्षाओं की उत्पत्तिमें अन्य अन्य सिसक्षायें और स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें उतनी ही न्यारी सिस्क्षायें कारण हो रहीं स्वीकार करनी पढेंगी, क्योंकि कार्योंका विशेष रूपसे देखना होनेसे उनके विशेष कारणोंकी न्यवस्था हो जाना अन्यथा बन नहीं सकता है। अर्थात् --- न्यारे न्यारे कारणोंसे ही न्यारे न्यारे कार्योंकी उत्पत्ति होनेका अविनाभाव है। दूसरे क्षण, तीसरे क्षण, चौथे क्षण, आदिमें ईश्वरकी न्यारी न्यारी सिस्क्षायें तभी उपज सकती हैं, जब कि उनको उपजानेवाली पाहिले क्षणमें अनेक सिस्कार्ये मानी जावें और ऋमभावी स्थावर आदि कार्योंको उपजानेमें भी उतनी पहिले सिस्क्षायें चाहिये कारणोंमें भेद माने विना कार्योंमें विशेषतायें नहीं आ सकती हैं। जैनसिद्धान्तमें भी '' यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः '' जितने छोटे मोटे कार्य हो रहे हैं, उतने कारणोंके स्वभावमेद माने जाते हैं। एक कारणसे भी यदि अनेक कार्य हो रहे हैं, तो उस एक कारणमें अनेक स्वभाव घुस रहे हैं। नानी या बडनानीमें भी धेबतेको उपजानेका स्वभाव अन्तर्ग्रह है। जैसे कि बावा पडवावामें नाती. पंतीको उपजानेकी कारणता निहित है। इकतरा, तिजारी, चौथेया, ज्वरोंकी या एक एक, दो दो पीडी बीचमें देकर उपजनेवाले कौळिक रागोंके उपजानेकी शक्ति भी कारणोंमें सदा छिपी हुई विद्यमान है। आप कर्त्तावादी पण्डित तो पदार्थीमें अनेक धर्मीको स्वीकार नहीं करते हैं। अतः आपको अनन्तिसक्षायें स्वीकार करनी पढेंगी यह महागीरव या आनंत्यदोष तुम्हारे ऊपर हुआ।

नानाशक्तिरेकैव सिस्रक्षा तिभिमित्ति चेत्, तिई सकलक्रमभावीतरकार्यकरणपदुर नेकशक्तिरेकैव महेश्वरिसस्क्षास्तु । सा च यदि सिस्रक्षांतरिनरपेक्षोत्पद्यते तदा स्थावरिदिकार्याण्यपि तिभिरपेक्षाणि भवंतु किमीश्वरिसस्क्षया ? सिस्रक्षांतरात्तदुत्यत्तौ तत एव सकलक्ष्मभाशितरस्थावरिकार्याणि प्रादुर्भवंतु । नानाशक्तियोगात्तदभ्युपगमे च स एव पर्यतु-योग इत्यनवस्था दुर्निवारा ।

यदि कर्तृवादी यों कहें कि उत्तरोत्तर अनेक सिमृक्षाओं और असंख्य स्थावर आदि कार्योंको उपजानेमें उपयोगिना हो रही अनेक शक्तियोंको धारनेवाळी एक ही सिमृक्षा उपज रही उन सिमृक्षाओं और स्थावर आदि कार्योक्षी निमित्त कारण मान ळी जायगी यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो क्रम कमसे होनेवाळे या उनसे न्यारे युगपत् होनेवाळे सम्पूर्ण कार्योंको करनेमें चतुर हो रहीं अनेक शक्तिवाळी महेश्वरकी सिमृक्षा एक ही मान ळी जाओ। जैनसिद्धान्त अनुसार तुमने यह मार्ग अच्छा पकड लिया है। अनेक स्वभाववाळी एक सिम्हक्षा ही जगत्के सम्पूर्ण कार्योंको कर डालेगी। मध्यमें अनेक सिम्हक्षाओंको माननेकी आवश्यकता नहीं है। इससे ईश्वरकी भी प्रशंसा हुई और आनन्त्य दोषका परिहार भी हो गया। किन्तु हां, यह तो बताओं कि वह एक सिम्हक्षा वर्तमान

कालमें उपज रही यदि पूर्व कालकी अन्य सिस्धाओं की कारण रूपसे नहीं अपेक्षा रखती हुई उपज जाती है ! तब तो स्थावर आदिक असंख्य कार्य भी उस एक सिस्धाकी कारण रूपसे अपेक्षा नहीं करते हुये हैं। उपज जायंगे । ईरवरकी सिस्धा करके क्या लाभ हुआ ! अर्थात् — ईरवरकी सिस्धासे कुछ प्रयोजन नहीं निकला । हां यदि अन्य सिस्धासे उस अनेक स्वभाववाली सिस्धाकी उत्पत्ति मानी जायगी । तब तो उस दूसरी सिस्धासे ही सम्पूर्ण क्रमभावी और अक्रमभावी स्थावर आदि कार्य भी प्रकट हो जाओ । अनेक शक्तिवाली सिस्धाको मध्यमें कारण मानेनका बोझ व्यर्थमें क्यों लादा जाता है ! कर्तृत्ववादी यदि दूसरी सिस्धामें भी नानाशक्तियोंका योग होजानेसे उस स्वानुकूल कार्यकारणभावको स्वीकार करेंगे तब तो वही पर्यनुयोग उठाया जायगा कि वह सिस्धा स्वतः उपजेगी ! अथवा दूसरी सिस्धासे उत्पन्न होगी ! इसी प्रकार तीसरी, चौथा, पांचवी, कोटियोंपर भी चोद्य चलाना बढता ही चला जायगा । इस ढंगसे हुई अनवस्थाका निवारण करना तुमको अतिकठिन कर्त्तव्य होजायगा ।

यदि पुनर्नित्यानेकशक्तिरेकैन महेश्वरसिसृक्षा तदा अस्याः स एव व्यतिरंकाभावो महे-श्वरन्यायवत् । तदव्यापित्वे एतच्छून्येथि देशे स्थावरादीनाम्रुत्पत्तेः कुतोऽन्वयस्यापि मसिद्धिः १

उक्त संपूर्ण दूषणोंके प्रसंगसे भयभीत होकर यदि फिर तुम ईश्वरकी अनेक शाक्तिवाली एक ही सिस्क्षाको नित्य स्वीकार कर लोगे तव तो महेश्वरके हुये न्यायके समान इस नित्य सिस्क्षाका भी वहीं व्यतिरेकका अभाव दोष लग बैठेगा। अर्थात्—िनत्य महेश्वरका जैसे देशव्यतिरेक या कालव्यतिरेक नहीं बन पाता है उसी प्रकार महेश्वरकी सिस्क्षाका भी व्यतिरेक नहीं बन सकेगा। जब जब या जहां जहां सिस्क्षा नहीं है, तब तब, वहां वहां स्थावर आदि कार्य नहीं उपज पाते हैं। नित्य व्यापक सिस्क्षाके इस व्यतिरेकका अभाव होजानेसे अन्वय भी ठीक नहीं घट पाता है। अन्वयमें तो असाधारण कारणोंका और आकाश आदि साधारण कारणोंका पदस्थ समान है, अतः अन्वय व्यतिरेकोंके नहीं घटनेसे अनेक शक्तिवाली नित्य एक सिस्क्षाको स्थावर आदि कार्योका निमित्तपना नहीं सधता है। यदि देश व्यतिरेक बन जानेकी रक्षा करनेके लिये उस सिस्क्षाको अल्पदेशवृत्ति अव्यापक माना जायगा तब तो इस किस्क्षासे रीते होरहे देशोंमें भी स्थावर, ऋतुपरिवर्तन आदि कार्योकी उत्पत्ति अविराम होरही देखी जाती है। इस कारण विचारे अन्वयकी भी प्रसिद्धि मला किस ढंगसे होसकी श अर्थात्—ि सिस्क्षाके होनेपर ही कार्य उपजने चाहिये थे। किन्तु अव्यापक सिस्क्षा जहां नहीं है वहां भी कार्य उपज रहे हैं। अतः अन्वय बिगड गया।

यदि पुनरनित्यापि सिस्रक्षा आद्योण मानेन वर्षञ्चतांते जगन्त्राक्णुप्राण्यदृष्टसामध्यदिकै-बोत्यद्यते न सिस्रक्षांतरादिति मतं। तदा तत एव जगदुत्पचिरस्तु किमीश्वरसिस्रक्षया ? ततो न स्थावराष्ट्रस्पत्ती महेश्वरो निमित्तं तदन्वयव्यतिरेकान्नुविधानविकलत्वात् । यद्यकिमित्तं तम तदन्वयन्यतिरेकानुविधानविकलं दृष्टं यथा कुविंदादिनिमित्तं वस्नादि । महेश्वरसिम्धक्षान्य-पञ्चतिरेकानुविधानविकलं च स्थावरादि तस्माम तिमित्तिमित्ति व्यापकस्य तदन्वयन्यति-रेकानुविधानस्यानुपलंभाद्व्याप्यतिमित्तित्वस्य स्थावरादिषु मतिषिद्धे सिद्धे सित सिमवेश्ववि-श्रिष्टत्वादेहेंतोरनैकांतिकत्वं स्थावरादिभिः केचिन्यन्यंते ।

यदि फिर तुम पौराणिकोंका यह मन्तव्य होय कि हम ईश्वरकी सिस्क्षाको नित्य नहीं मानते हैं। जिससे कि व्यतिरेक नहीं बन पाने किन्तु वह अनित्य भी सिसक्षा ब्रह्मासम्बन्धी परिमाण (नाप) करके सी सी वर्षके अन्तमं जाकर जगद्वर्सी भोक्ता प्राणियोंके अदृष्टकी सामर्ध्यसे एक ही उपजती है। दूसरी सिस्क्षासे उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। अर्थात्—सत्रह लाख अडाईस हजार वर्षका सत्ययुग है। बारह छाख छियानवै हजार मानुष वर्षोका त्रेतायुग है। आठ छाख चौसठ हजार वर्षोका द्वापर है। और चार छाख बत्तीस हजार मानुष वर्षोका कछियुग है। यों सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुगकी सहस्र संख्याके बीत जानेपर ब्रह्माका एक दिन समझा जाता है। इसी प्रकार हजार चार युगोंके समान चार प्रहरोंकी एक रात मानी गयी है । यो इन रात, दिनोंसे महीना और वर्ष बनाकर सी वर्षके पीछे एक ही सिस्क्षा उपजती है। उसको उपजानेमें अन्य सिस्क्षा कारण नहीं है। हां, जगत्के प्राणियोंके पुण्य, पाप, उस सिसुक्षाको उपजानेमें निमित्त पड जाते हैं। जैसे कि न्यायाधीशकी नियुक्तिमें अपराधी या निरपराधी पुरुषोंका पाप, पुण्य निमित्त हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि तब तो उस ही कारणसे यानी सुख, दु:खको भोगनेवाले संसारवर्ती प्राणियोंके अदृष्टकी सामर्थ्यसे है। कार्य जगत्व ी उत्पत्ति हो जाओ जैसा कि हम जैन मानते हैं। ईश्वरकी सिसक्षा करके क्या प्रयोजन सधा ? नियत कारणों द्वारा नियत कार्योंका उपजना बडा उत्तरदायी कर्तच्य है। अतः कारणकोटिमें अप्रमित ठलुआ पदार्थीका बोझ बढाना हितकर नहीं है। तिस कारण सिद्ध हुआ कि स्थावर आदि कार्यीकी उत्पत्तिमें महेश्वर या उसकी सिस्रक्षा निमित्तकारण नहीं है। (प्रतिज्ञा) उन कार्यों साथ अन्वय और व्यतिरेकके अनुविधानका रहितपना होनेसे (हेतु ) जो कारण जिस कार्यका निमित्त है । वह कारण उस कार्यके साथ हो रहे अन्वयव्यति-रेकोंके अनुविधान करनेसे रीता नहीं देखा गया है। जैसे कि कोरिया, तुरी या कुळाळ, दण्ड, आदिको निमित्त पाकर हुये वस्त, घट आदि कार्य हैं। ( व्यतिरेकदृष्टान्त ) महेश्वर या उसकी सिस्क्षाके साथ अन्वय व्यतिरेकका अनुविधान करनेसे विकल हो रहे स्थावर आदि कार्य हैं। ( उपनय ) तिस कारणसे वे स्थावर आदि कार्य उस महेश्वर या सिस्टक्षाको नहीं निमित्त पाकर उपजे हैं। ( निगमन ) इस पांच अनयवनाले अनुमान द्वारा न्यापक हो रहे तदन्वय न्यतिरेकानुविधा-नके अनुपलम्भसे स्थावर आदि कार्योंमें तिन्निमित्तपन का प्रतिषेध हो जाना सिद्ध होते सन्ते सिन्नेवेश-विशिष्टल, कार्यल, आदि हेतुओंका स्थावर, खनिज, आदि कार्योक्ररके व्यभिचार दोष होनेको कोई कोई विद्वान् मान रहे हैं। अर्थात्—कार्य कारण भावका व्यापक अन्वयव्यतिरेकानुविधान है।

व्यापक नहीं होनेसे व्याप्यका अभाव साथ छिया जाता है। ईरवर या ईरवर इच्छाके साथ कार्य उस अन्वय—व्यतिरेकपद्धितका अनुसरण नहीं करते हैं। इस कारण कार्यों निमित्त ईरवर या ईर्वर इच्छा नहीं है। यों स्थावर आदि कार्योंके प्रति ईरवर या ईर्वर इच्छाका निमित्तपना जब युक्तियोंद्वारा निमिद्ध हो चुका तो ईर्वरवादियोंद्वारा पहिले कहे गये सिनवेशविशिष्टल, अचेतनोपादानल आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष तदवस्थ रहा, यों कोई पण्डित जैनोंकी चाटुकारता करते हुये मान रहे हैं। प्रथकारका इनके प्रति कोई अत्यधिक आदर अथवा घृणाका भाव नहीं है। यह उनका परिणाम अडतीसवीं वार्तिकसे ही घ्वनित हो जाता है।

# एवमीशस्य हेतुत्वाभावसिर्द्धि प्रचक्षते । व्यापकानुपलंभेन स्थावरादिसमुद्भवे ॥ ५०॥

श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि यहां कोई विचारशास्त्री विद्वान इस प्रकार उक्त रूपसे बहुत अच्छा एपष्ट कथन कर रहे हैं कि स्थावर, मेचबृष्टि, आंधी आदिकी मले प्रकार उत्पत्ति होनेमें ईश्वरको निमित्तकारणपनके अभावकी न्यापकके अनुपल्लम्भ करके सिद्धि हो रही है। अर्थात्—कार्य कारण भावका न्यापक अन्वय न्यतिरेकभाव है। जहां न्यापक नहीं है वहां न्याप्य नहीं ठहर सकता हैं। अडतीसवीं वार्तिकमें वैशेषिकोंके हेतुओंका जो न्यभिचार दोष किन्हीं विद्वानी करके उठाया गया है वह अनुचित नहीं है।

### एवं जगतां बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कार्यत्वादिहेतोः स्थावरादिभिर्क्यभिचारमुद्धाच्य पुनः स्थावरादीनामीश्वनिमित्तत्वाभावसिद्धिं व्यापकानुपर्रुभेन केचित्मचक्षते ।

इस प्रकार किसी बुद्धिमान् ईश्चरमें तीनों जगत्का कारणपना साध्य करनेपर दिये गये कार्यत्य सिन्नेदाविशिष्ठत्व आदि हेतुओंका स्थावर, पर्वत, आदिकोंकरके व्याभिचार हेत्वाभासको उठाकर फिर ईश्चरमें स्थावर, पृथिवी, आदि कार्योंके निभिक्तकारणपनके अभावकी सिद्धिको व्यापकानुपलम्मकरके जो कोई बखानते हैं वे विद्वान् अच्छा निरूपण कर रहे हैं, हमें उनके कर्तव्यपर संतोष हैं।

# पक्षस्यैवानुमानेन बाभोद्धान्येति चापरे । पक्षीकृतैरयुक्तत्वादुन्यभिचारस्य साधने ॥ ५१ ॥

दूसरे कोई विद्वान् यहां यों कह रहे हैं कि वैशेषिकों के पक्षकी अनुमानकरके हैं। बाधा उठानी चाहिये वैशेषिकों करके पक्षमें पिहले नहीं किये किन्तु पुनः पक्षकोटिमें धर लिये गये स्थावर आदिकों करके कार्यत्व आदि हेतुओं में व्यमिचार हेत्वाभासका उठाना युक्तिरहित है। भावार्य—जैनमतका पक्ष के रहे केचित् विद्वान्के उपर जैनसिद्धान्तपर भक्ति रखनैवाले अपर विद्वानोंका यह आक्षेप

है कि त्रिजगत्का निमित्तकारण ईश्वरको साध्य करनेमें कार्यल आदि हेतुओंका पहिले व्यभिचार दोष उठाना और फिर बाधित हेल्वाभास दोष उठाना यह मार्ग प्रशस्त नहीं है। हां, यह मार्ग सुंदर है कि वैशेषिकोंके अनुमानको झटिति नष्ट करनेवाले इस अनुमानकरके बाधित दोष उठाना चाहिये कि महेश्वर (पक्ष) स्थावर, बीज, आदि कार्योकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण नहीं है। (साध्य) उनके साध अन्वय व्यतिरेकोंके अनुविधानकी विकलता होनेसे (हेतु) यह निर्दोष अनुमान जैनोंकी ओरसे समुचित प्रयुक्त किया जासकता है, केचित् विहानोंको स्थावर, हीरा, पना, आदि करके व्यभिचार दोष उठाना अनुचित है। क्योंकि वैशेषिकोंके यहां स्थावर, समुद्रज, खनिज आदि पदार्थोंको भी पक्षकोटिमें डालकर उनको ईश्वरका कार्य मान लिया गया है वे एक एक अनके दाने या फूलकी पांखरी तक कोई ईश्वरकी इच्छा पर निर्भर मानते हैं। "नहि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारः" पक्ष या पक्षसममें दिया गया व्यभिचार दोषाधायक नहीं है, जब बाधक अनुमान द्वारा प्रतिपक्षीके बाध्य अनुमानका साक्षात् खंडन किया जा सकता है तो अनुमितिके कारण होरहे व्यापिक्षान या परामर्थको बिगाडनेवाले व्यभिचार दोषका उठाना लोटापन है।

अनेनैवातुमानेन न्यापकानुपलंभेन पक्षबाधोद्धावनीया कालात्ययापदिष्ठत्वं च हेतांस्त-थोद्धावितं स्यात्र पुनः पक्षिकृतैः स्थावरादिभिः साधनस्य न्यभिचारस्तत्रोद्धावनीयस्तस्यायु-क्तत्वात् । एवं हि न कश्चिद्धतुरन्यभिचारी स्यात् कृतकत्वादेरिप शन्दानित्यत्वादौ पक्षीकृतैः शन्दैरेव कैश्चिद्वयभिचारस्योद्धावितं श्वन्यत्वात् ।

" महेक्करो स्थावराषुत्पत्तों न निमित्तं " इस ही अनुमान करके अन्वय, व्यतिरेक अनुविधान स्वरूप व्यापकके अनुपटंभ द्वारा वैशेषिकों भे पक्षकी बाधा उठानी चाहिये, और तैसा होनेपर वैशेषिकों के कार्यत्व आदि हेतुओं का काटात्ययापिदछत्व यानी बाधितहेत्वाभासपना भी उठाया जा चुका समझा जायगा, किंतु फिर वैशेषिकों द्वारा पक्षमें करित्ये गये, स्थावर, जंगम, प्राणियोंके करीर आदिकों करके कार्यत्व आदि हेतुओं का व्यभिचार तो वहां वैशेषिकों के अनुमानमें नहीं उठाना चाहिये, क्योंकि पक्ष कर लिये गये स्थालों करके ही उस व्यभिचार दोषका उठाया जाना अयुक्त है। इस प्रकार के चित्र विद्वान् यदि पक्षमें कर लिये गये स्थालों करके ही व्यभिचार दोष उठायंगे तब तो कोई भी हेतु विचारा व्यभिचारदोषसे रहित नहीं हो सकेगा। पक्ष किये गये पर्वतमें अग्निकी उपलब्धि नहीं होने पर भूम हेतुको भी व्यभिचारी कहा जा सकता है। पक्षमें सांध्य विवादापन हो ही रहा है। सर्वथा निर्दोष होकर प्रसिद्ध हो रहे कृतकत्व, सत्त्व, आदि हेतुओं का भी शब्दके अनित्यपन, परिणामीपन आदिकी सिद्धि करनेमें पक्ष कर लिये गये शब्द करके ही कोई अञ्च पुरुष व्यभिचार दोषको उठ सकता है। ईबिंहु कियां इठलाती हुयीं सुंदर कियोंपर यों ही झूंठ, मूठ, व्यभिचार दोषका आरोप कर बैठती है। एतावता वह दोष यथार्थ नहीं समझ लिया जाता है।

न कश्चिज्ञगद्बुद्धिमिश्विमित्तं साधियतुं स्थावरादीन् पक्षीकुरुते । तैः साधनस्य व्यभि-चारोद्भावने वा कृते साति पश्चाल पक्षीकुर्वीत येन व्यभिचाराविषयस्य पक्षीकरणाद्वेतीर-व्यभिचारे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात् ।

कोई कोई कर्नृशादी तो जगत्के बुद्धिमान् निमित्त कारण द्वारा बनाये जानेको साधनेके छिये पिहेलेसे ही स्थावर, सूर्य, चन्द्रमा, आदिकोंको पक्षकीटिमें कर छता है। हां, कोई वैशेषिक पृथिवी, पर्वत, शरीर आदिकोंको पक्ष करता है। ऐसी दशामें किसी प्रतिवादी द्वारा उन स्थावर आदिकों करके कार्यव्य हेतुका व्यामेचार दोष उठाना कर चुकनेपर पीछिसे स्थावर आदिको पक्षकीटिमें कर छता है। किन्तु ऐसा कोई कर्त्तवादी नहीं जो वन्य वनस्पति, खनिज, स्थावर, आदिको पक्ष कोटिमें नहीं करें क्योंकि ईश्वरवादी तो आत्मा, आकाश, परमाणु, आदि नित्य पदार्थोंको छोडकर शेष सभी स्थावर, खानिज, बीज, अंकुर, अदृष्ट, सूर्य, पर्यत, आदि अनित्य चराचर जगत्का निर्माण करनेवाछा ईश्वरको मानते हैं। अतः वे सब पक्षकोटिमें आ जाते हैं। व्यमिचारके विषय हो रहे स्थलको पक्ष कर देनेसे हेतुका अव्यमिचार माना गया है। यदि व्यमिचारस्थलको पक्षकोटिमें प्रविष्ट करते हुये भी बलात्कारसे व्यमिचार उठाया जायगा। तब तो कोई भी हेतु व्यमिचार दोषरित नहीं हो सकेगा। अतः यहां व्यमिचार दोष उठाना उचित नहीं है। जिससे कि वस्तुतः व्यमिचार दोषके विषय नहीं किन्तु असदाप्रह करके व्यमिचार दोषके विषय हो रहे स्थलको पक्ष कर देनेसे हेतुका अव्यमिचार माननेपर कोई भी हेतु व्यमिचार वोषको नहीं बन बैठे यानी सभी हेतु व्यमिचारी नहीं बन जाय। एतदर्थ वैशेषिकोंके अनुमानमें पक्षीकृत स्थायर आदिकों करके व्यमिचार दोषको नहीं उठाओ।

पकान्येतान्याम्रफलान्यंकशारवामभवत्वादुपयुक्तफलवदित्यादिषु तदेकशारवामभवानाम-पकानामाम्रफलानां व्यभिचारविषयाणां पक्षीकरणादित्युपालंभः स्यात् । यथा चात्र न पर्शा-कृतैः कश्चिम्यभिचारमुद्भावयति किंतु प्रत्यक्षबाधा पक्षस्य हेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वं तथा पक्तातुमानेषि । यथा च पक्षस्य प्रत्यक्षबाधोद्भावयितुं युक्ता तथानुमानबाधाषि । यथा च पत्यक्षबाधितपक्षानिर्देशानंतरम् प्रयुज्यमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टस्तथानुमानबाधितपक्षनिर्देशा-नन्तरमपि सर्वथा विश्लेषाभावात् पक्षवाधोद्भावने च हेतुभिः परिदानमपि न भवेदिति सोद्भाव-तीया, तदुपेक्षायां प्रयोजनाभावादिति चापरे प्रचक्षते । अन्ये त्वाहुः ।

आश्रवसकी एक शाखा पर कितने ही कचे, पक्के, फल लग रहे हैं किसी लोभी आतुर वेकेताने बानगीके ढंगसे दो एक मीठे फल भोले केताको चखा दिये शाखाके सम्पूर्ण फलों का खाना बवाना प्रयोजनीभूत नहीं है। अतः विकेता अनुमान बनाता है कि ये सन्मुख देखे जारहे सभी माम्रफल (पक्षा) पके हुए हैं (साध्य) बक्षकी एक शाखामें उपजना होने हें (हेतु) उपयोगों में भाचुके चूसे हुये आमके समान (अन्वय द्रष्टाम्त)। अथवा मित्रा नामक काली खीका गर्भस्थ पुत्र

गोरा है, अबकी बार काले पनके पत्र, शाक, आदिका मक्षण बहिरंग कारण और अन्तरंग कारण कृष्ण वर्ण नामक प्रकृतिका उदय नहीं मिलनेसे गर्भका पत्र गोरा है, कोई स्थल बुद्धि पुरुष अनुमान बनाता है कि गर्भीस्थित पुत्र होनेसे (हेतु ) इतर तीन, चार, देखे जारहे पुत्रोंके समान ( अन्वय-इष्टान्त ) । इसी प्रकार यह तीसरा अनुमान किसीने उठाया कि यह छात्र (पक्ष ) न्युत्पन्न है ( साच्य ) इस प्रसिद्ध विद्यालयमें प्रकाण्ड विद्वान द्वारा प्रन्थाध्ययन करने वाला होनेसे ( देत् ) परिदृष्ट न्युरपन विद्यार्थियोंके समान ( अन्वयदद्यान्त ) वस्तुतः वह छात्र अन्युरपन था इत्यादिक स्थर्लोमें न्याभिचारके विषय हो रहे उस एक शाखापर उपने हुये कच्चे आम्न फलोंको या गर्भस्थ पुत्रको अथवा उपद्रवी, अविनीत, छात्रको पक्ष कोटिमें कर देनेसे यों उपालम्भ हो जाता। अर्थात्—न्यभिचार स्थलोंको पक्षकोटिमें डाल देनेसे पुनः न्याभेचार दोष नहीं उठाया जाना चाहिये जिस प्रकार कि यहां एकशाखाप्रभवत्व आदि हेतुओंमें पक्षकोटिमें कर छिये गये कन्ने फल आदिकों करके कोई भी विचारशील पण्डित पुनः उन करके व्यभिचार नहीं उठाता है। किन्त प्रत्यक्षप्रमाणसे पक्षकी बाधा देना दोष ही उपस्थित करता है और ऐसी दशामें हेतका बडा हट दोष कालात्ययापदिष्टपना यानी बाधितपना उठाकर वादीकी सम्पर्ण मनोरथ-भित्तियोंको वह प्रतिवादी ढाइ देता है। उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त वैशेषिकोंके अनुमानमें भी जैनोंको व्यभिचार दोष नहीं उठाकर बाधितहै त्याभास उठाना चाहिये । जिस प्रकार कि पक्षकी प्रत्यक्षप्रमाणसे वाधाको उठानेके लिये समुचितपना है उसी प्रकार अनुमानप्रमाण करके भी पूर्वपक्षीके अनुमानमें प्रसन्तता र्विक बाधा उठाई जा सकती है। " विह्नरनुष्णः द्रव्यत्वात् जळवत् अग्नि (पक्ष ) शीतळ है (साध्य ) द्रव्य होनेसे (हेत् ) जळके समान ( अन्वयदृष्टान्त ) । इस अनुमानमें जैसे स्पार्शन प्रत्यक्षसे बाधितपना आपादित कर दिया जाता है । उसी प्रकार '' अपरिणामी रान्दः कृतकत्वात् '' इस अनुमानको रान्द परिणामी 🕻 सत् होनेसे इस अनुमान द्वारा बाधित किया जाता है। प्रकरणमें दीप आदिक (पक्ष ) किसी बुद्धिमान् करके बनाये गये हैं (साध्य) विशेष रचनावाले होनेसे या कार्य होनेसे (हेतु) इस वैशोधिकोंके पक्षकी स्थावर आदिकी उत्पत्तिमें महेश्वर (पक्ष ) निमित्त कारण नहीं है (साध्य ) अन्वय-व्यतिरेककी घटना नहीं होनेसे (हेतु) इस अनुमान द्वारा बाधा उठाई जा सकती है। तथा प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित हो रहे पक्षनिर्देशके अनन्तर प्रयुक्त किया जा रहा हेत जिस प्रकार बाधित हेत्वाभास है उसी प्रकार अनुमानप्रमाणसे बाधित हो रही प्रतिज्ञाके निर्णीत निर्देशके पश्चात् प्रयुक्त किया जा रहा हेतु भी काळात्ययापदिष्ट है प्रत्यक्षवाधित और अनुमानवाधित पक्षसे अनुमिति तत्कारणान्यतरविरोधित्व सम्बन्धकरके सहित हो रहे हेतुओंमें सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। एक बात यह भी है कि हेतुओं करके वादी के पक्षकी बाधाको उठानेपर पुनः परिवर्तन भी नहीं हो सकेगा । अर्थात् --- एक हेतुसे पक्षसिद्धि न सही दूसरे हेतुओंसे कर छेंग यों भी पक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जब प्रत्यक्षसे अग्निका उष्णपना या अनुमानसे शब्दका परिणाभीपना प्रसिद्ध है। तो

हजारों हेतुओंसे भी अग्निका अनुष्णपना या राज्यका कृटस्थ नित्यपना कथमिप नहीं साथा जा सकता है। अथवा पहिलेसे बाधित हेत्वाभासके उठा देनेपर पुनः अन्य हेतुओं करके भी वादीका पक्ष रिक्षत नहीं किया जा सकेगा। बलवती बाधाके उपस्थित कर देनेपर सम्पूर्ण हेतुओंकी राक्तियां मर जाती हैं। इस कारण कर्त्वावादियोंके पक्षमें वह बाधा उठा देनी चाहिये उस बाधाको उपस्थित करनेकी उपेक्षा (लापरवाही) करनेमें कोई प्रयोजन नहीं है। पाप या कृष्ण सर्पको अविलम्ब पृथक् कर दिया जाय यही सबका इष्ट प्रयोजन होना चाहिये उनको रखनेमें कोई प्रयोजन नहीं सधता है। प्रत्युत महती हानि होनेका खटका है। यों यहांतक कोई दूसरे विद्वान् अच्छा वखान कर रहे है। श्री विद्यानन्द आचार्यने बडी विद्वचाके साथ कर्तृवादका निराकरण किया है जैसे गुरुजी महाराज अपने अनेक शिष्योंकी परीक्षा लेते हुये भिन्न भिन्न वचनभंगियों द्वारा एक ही प्रमेयकी न्यारी न्यारी व्याख्या करा कर प्रसन्न होते हैं प्रन्थकार भी जिनमार्गभक्त अनेक विद्वानों द्वारा कर्तृवादके निराकरणके पाठकी प्रकि-याको मानो सुन रहे हैं। केचित् और अपरे विद्वानों के पश्चात् अन्य विद्वान् तो यहां यों कह रहे हैं कि—

सर्वथा यदि कार्यत्वं हेतुः स्याद्वादिनां तथा । न सिद्धो द्रव्यरूपेण सर्वस्याकार्यतास्थितेः ॥ ५२ ॥ कथंचित्त विरुद्धः स्याद्वीमद्भेतु जगत्स्वयं । कथंचित्साधयित्रष्टविपरीतं विशेषतः ॥ ५३ ॥

वैशेषिकोंने जो यह अनुमान कहा था। कि " द्वीपिक्षियंकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटवत् " इस अनुमानमें कहे गये कार्यत्व हेतुका अर्थ यदि सभी प्रकारोंसे कार्यपना है तब तो स्याद्वादियोंके यहां द्वीप, पृथिवी, आदिमें तिस प्रकार सर्वधा कार्यपना हेतु सिद्ध नहीं है क्योंकि द्रव्यस्वरूप करके सम्पूर्ण पदार्थीको कार्यरहितपना व्यवस्थित हो रहा है घट, पट आदिक भी द्रव्यार्थिक नय करके कार्य नहीं हैं। अर्थात्—जिन अनादि अनन्त द्रव्योंके पर्याय घट, पट, आदि हैं वे द्रव्य कार्य नहीं होकर नित्य हैं। अतः पक्षमें नहीं ठहरनेसे कार्यत्व हेतु असिद्ध हेत्वामास हुआ। हां, इस असिद्ध दोषके निवारणार्थ सर्वथा पक्षको छोडते हुये तुम वैशेषिक यदि कथंचित कार्यपनको हेतु मानोगे तब तो तुम्हारा हेतु विरुद्ध हेत्वामास होजायगा क्योंकि तुम जगत्का बुद्धिमान हेतु करके सर्वथा उपजना साथ रहे हो यानी जगत्में सर्वथा ईस्वर नामक कारणकी कार्यता है किन्तु कथंचित् कार्यत्व हेतु तो विशेष रूप करके इष्ट साघ्य विपरीत हो रहे कथंचित् बुद्धिमान्के निमित्तकारणपनको साथ रहा है। अतः तुम्हारा हेतु विशेष रूपसे विरुद्ध होरहा विरुद्ध नामका हेत्वामास हुआ।

नाकोशंतः पलायंते विरुद्धा हेतवः स्वतः । सर्वगे बुद्धिमद्धेतौ साध्येन्येर्जगतामिह् ॥ ५४ ॥ अन्य विद्वान वैशेषिकों करके इस प्रकरणमें तीनों जगतोंके हेतु होरहे सर्व न्यापक किसी बुद्धिमान्को साध्य करनेपर दिये गये वे कार्यत्व आदि हेतु तो विशेष विरुद्ध हेत्वामास हैं, इस प्रकार ताध्यसे विपरांत कथंचित् बुद्धिमान्को निमित्तकारणपनकी सिद्धि होजानेकी बढ़े बळसे पुकार करमेवाळे ये हेतु अपने आपहीसे नहीं दूर भग जाते हैं। अर्थात्—न्यापक, सर्वज्ञ, बुद्धिमान्को निमित्तपना साधनेमें प्रयुक्त किये गये कार्यत्व आदि हेतु जब कथंचित् बुद्धिमान्को जगत्का कारणपन साध रहे हैं। तो ऐसी दशामें उस बैशेषिकके सिद्धान्तको गालिप्रदान कर रहे ये हेतु यों ही स्वतः नहीं मग जायंगे किन्तु वैशेषिकोंके विरुद्ध होकर जगत्में कथंचित् बुद्धिमान् द्वारा किये गये पनका ढिंढोरा पिटते रहेगे। जैसे कोई सन्मार्ग प्रचारक, उद्देगी, मळा, मनुष्य यदि किसी असत् पक्षवाले पुरुषके साथ पंस जाय पुनः वह भळा मानुप अपने साथिकि दुर्गुणोंको देखता है तो उससे विरुद्ध होकर कटु शब्दों द्वारा उसकी मर्सना करता है यों ही चुपके नहीं भग जाता है उसी प्रकार कथंचित् कार्यत्व हेतु उन वैशेषिक या पौराणिककी अच्छी प्रतरणा करता हुआ उनके अभीष्ट साध्यसे विपरीत पक्षको साधनेके लिये कमर कस लेता है।

यदि सर्वथा कार्यत्वमचेतनीपादानत्वं, सिन्निवेशिविशिव्हत्वं, स्थित्वा प्रश्चर्यादि वा हेतुस्तदा न सिद्धस्तन्वादेगि द्रव्यार्थादेशादकार्यत्वात् । कार्यत्वं तावद्सिद्धं तथा तस्य नित्यत्वव्यव-स्थितः सर्वथा कस्यचिद्नित्यत्वेऽर्थिकयाविरोधात् । तत एव सर्वस्यानुपादानत्वादचेतनोपादानत्वं न सिद्धं ज्ञानादेः पक्षीकृतस्यापि चेतनोपादानत्वात् तदभ्युपगमो नापि भागासिद्धं वनस्य-तिचैतन्यं स्वापवत् । सिन्निवेशिविशिव्हत्वमपि न द्रव्यस्य पर्यायविषयत्वात्तस्येत्यसिद्धं ज्ञानादीं स्वयमनभ्युपगमात्र भागासिद्धं तद्देव स्थित्वा प्रवृत्तिरित न द्रव्यार्थिदेशात् कस्यचित्तया सर्वस्य नित्यप्रवृत्तत्वादिति तदसिद्धः । अर्थिकयाकारित्वं पुनर्दव्यादर्थान्तरभूतस्य पर्यायस्यकातेन तद्दुरुपपादमित्यसिद्धमेव ।

स्याद्वादियों के पक्षका आदर कर रहे कोई अन्य विद्वान् उन कर्तृवादियों से पूंछते हैं कि शरीर, पृथिवी, द्वीप, पर्वत आदिमें ईश्वरकृतपना साधने के लिये प्रयुक्त किये गये कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, सिन्निवशिष्टत्व, स्थित्वाप्रवृत्ति, अर्थिकियाकारिव आदिक हेतु यदि सर्वथा हैं। अर्थात्—पृथिवी, शरीर, आदिमें सभी प्रकारों से कार्यपना या सभी प्रकारों से अचेतन उपादान कारणों से जन्यपना आदि हैं तब तो तुम्हारे हेतु सिद्ध नहीं हैं असिद्ध हेत्वामास हैं क्यों कि द्रव्यार्थिक—नय—हारा निरूपण करने से तनु, द्वीप, पर्वत, आदिक भी कार्य नहीं हैं सम्पूर्ण द्रव्य अगादि अनन्त हैं शरीर आदि पर्यायें मछे ही अनित्य होय किन्तु शरीर आदिका पुद्रछ द्रव्य नित्य है। अतः सभी प्रकारों से यानी द्रव्यारूपि की कार्यपना मानना तो तनु आदिकों को सिद्धा है तिस प्रकारसे तो उन तनु आदिकों को नित्यपना व्यवस्थित हो रहा है। यदि सभी प्रकारोंसे किसीको भी अनित्य माना कार्यगा तो अर्थिकया

होनेका विरोध होगा । एक क्षणमें ही उपज कर नष्ट होनेवाला पदार्थ जब आत्मलाभ ही नहीं कर सका तो फिर अपने योग्य अधीक्रयाको भळा क्या करेगा ! अनेक क्षणोतक ठहरते हुये ही बाण आदि पदार्थ अभीष्ट स्थानपर पहुंच सकते हैं। काळान्तर स्थायी घट ही जळधारण कियाको कर पाता है । बहुत देरतक ठहर रहे अन, जल, आदिक पदार्थ ही क्षुघा, पिपासा, आदिकी निवृत्ति कर सकते हैं। दीपकालिका, बिजली, बुदबुदा (बबूला) आदि पदार्थ भी सर्वथा नित्य नहीं हैं। असंख्य समयोंतक इनकी स्थिति है द्रव्यरूपसे तो ये भी नित्य हैं। अतः तुम्हारा सर्वथा कार्यत्व हेतु प्रकृत पक्षमें नहीं घटित होनेसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। तित ही कारणसे यानी द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा कथन करनेसे जगतुके सम्पूर्ण पदार्थीको उपादान कारणसे रहितपना है जब कि सम्पूर्ण चरा-चर पदार्थ द्रव्यरूपसे नित्य हैं ऐसी दशामें वे उपादान कारणोंसे जन्य नहीं हो सकते हैं अतः शरीर, पृथिवी, आदिकोंमें अचेतन उपादान कारणोंसे उपजना हेतु भी सिद्ध नहीं है तब तो अचे-तनोपादानत्व हेतु भी स्वरूपासिद्ध हुआ । दूसरी बात यह है कि अचेतनोपादानत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास भी है। पक्षके एक देशमें हेतु रहे और पक्षके दूसरे देशमें हेतु नहीं रहे वह भागासिद हेत्वाभास होता है। शरीर, पृथिवी, वृक्ष, आदिके उपादान कारण अचेतन माने गये हैं। किन्तु ज्ञान, सुख, इच्छा आदिक कार्य भी पक्षकोटिमें किये गये हैं । परन्तु ज्ञान आदिके उपादान कारण तो चेतन आत्मार्थे माने गये हैं । अतः उस स्वीकृति करके भी पक्षके परिपूर्ण देशोंमें नहीं ठहरनेसे अचेतनोपादानत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है । जैसे कि वनस्पतियोंमें चेतनपना सिद्ध करनेके छिये प्रयुक्त किया गया स्वापहेतु भागासिद्ध है वनस्पतियां (पक्ष ) चैतन्यवाली हैं। (साध्य कोटि) रायन करनेवाली होनेसे ( हेत् ) दो दिनके जन्मे हुये बालकके समान ( अन्वयदृष्टान्त ) इस अनुमान द्वारा निदाकर्मका उदय होनेपर से रहीं बनस्पतियोंनें तो चैतन्य वटित हो जाता है । किन्तु हलन. कम्पन, कर रही जागती द्वयीं वनस्पतियोंमें स्वाप हेतुते चेतनपना क्षिद्र नहीं हो पाता है। सम्पूर्ण जागते हुये मनुष्य, पृद्ध, पृक्षी जीवोंमें भी स्वाप हेतुते चैतन्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। तथा तीसरा सिनेवराविदिष्टिपना हेत् भी द्रव्यके घटित नहीं होता है। क्योंकि वह रचनाविरोष या तिकाने, चीकाने, गोल, अदि परिमाणोंकी रचनायें पर्यायोंमें पार्यी जाती हैं। इस कारण सर्वधा सन्विक्शविशिष्टल हेतु स्वरूपालिख है। चारी ओर देखी जा रहीं रचनायें जब कि पर्यायोंकी नियत हैं तो द्रव्यार्थिकरूपमे विशेष सनिवेश उन पक्षोंमें नहीं वर्तता है एक बात यह भी है कि वैरोविकोंने ज्ञान, सुख, आदि गुणोंमें या भ्रमण, चलन आदि कियाओंमें सिनिवेशविरोवको स्वयं स्वीकार नहीं किया है " गुणादिर्निर्गुणिकयः " गुण, किया, जाति, आदिमें परिमाण आदि गुण या कियायें नहीं ठहरते हैं गुण तो द्रव्योंमें ही पाये जाते हैं। अतः पक्षके एक देश हो रहे ज्ञान आदिमें सिनिवेशविशेषकी वर्तना नहीं होनेसे सर्वया सिनिवेशिवेशव्य हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है उन सर्वथा सार्यत्व, सर्वथा अचेतनोपादानत्व, सर्वथा सन्तिवेशविशिष्टत्व हेतुओंके समान ही चौथ

ठहर ठहरकर प्रवर्तना हेतु भी सिद्ध नहीं है स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे किसी भी पदार्थकी तिस प्रकार ठहर ठहरकर विराम छेते हुये प्रवृत्ति नहीं होती है द्रव्यार्थिकनयस तो सम्पूर्ण पदार्थ सूर्य, चन्द्रमाने अविराम प्रकाश करनेके समान अविश्राम नित्य प्रवृत्ति कर रहे हैं। पुद्रल दन्यके रूप, रस, आदिक गुण नित्य ही काली, पीली, खड़ी, मीठी आदि पर्यायोंके धारनेमें प्रवर्त रहे हैं एक क्षणका भी अवकाश नहीं मिलता है। जीव द्रव्य सर्वदा जानना, अस्तिपन, बस्तुपन आदिमें अनवरत प्रवृत्ति कर रहा है। जीवकी पर्याय बढई सुनार, कुळाळ, या पुद्रलकी पर्याय कुठार, हथौडा, चांक चूमना आदिके समान मध्यमें विराम छेते हुये प्रवृत्ति करना द्रव्योंमें नहीं है। चला दिये गये यंत्र (मशीन ) के समान जिस ओर धुन बंध गयी उसमें द्रव्य सदा प्रवर्तते रहते हैं इस कारण उस स्थित्वा प्रवृत्ति हेतुकी भी असिद्धि हुई । पांचवां अर्थिकियाकारित्व हेतु फिर द्रव्यसे भिन्न हो रही पर्यायके पाया जाता है। घट, पट, आदि पर्यायें जल धारण आदि अर्थिकियाओं को कर रही हैं। पुद्रलकी जल पर्याय करके स्नान, पान, अवगाहन, अर्थिकियायें करी जाती हैं। एकान्त करके यानी सर्वधा शरीर, पृथ्वी, आदिकोंको वह अर्थक्रियाकारीपन कठिनतासे भी नहीं बन पाता है। अर्थात्—द्रव्यरूपसे शरीर, पर्वत, आदिक किसी भी लौकिक प्रयोजन साधक अधीकियाका सम्पादन नहीं कर रहे हैं जैसे कि खेतकी मिट्टी भलें ही चना गेंहू, ईख, म्ंग, उर्द, बननेकी सामर्थ्यको रखती है किन्तु वर्तमान मिट्टी अवस्थामें रोटी, दाल, पेडा, या क्षुधा निवारण आदि कार्योको नहीं कर पाती हैं अथवा इस पंक्तिका अर्थ यों कर छिया जाय कि वैदेषिकोंके यहां द्रव्यसे सर्वथा भिन्न मानी गयी पर्यायको अर्थकियाकारीपना कथमपि युक्तियोंसे नहीं सध पाता है। द्रव्यसे कर्यांचेत् अभिन्न हो रहीं पर्यायें ही अर्थक्रियाओंको करती हैं पर्यायात्मक द्रव्य अर्थिकियाओंको साध रहे हैं। अतः अर्थिकियाकारित्व हेतु उन पृथ्वी, शरीर, आदि केवल पर्याय या स्वतंत्र द्रव्योंमें नहीं घटित हो पाता है इस कारण स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास ही है ! यहांतक पांचों हेतुओंको सर्वथा स्वीकार करनेपर वैशेषिकोंके ऊपर स्वरूपासिद्ध हे वाभासका प्रसंग दे दिया गया है दो हेतुओंमें मागासिद्ध दोष भी जड दिया है।

यदि पुनः कथंचित्कार्यत्वमन्यद्वा देतुस्तदा विरुद्धः स्यात् स्वयमिष्टविपरीतस्य कथं-चिद्धीमद्धेतुकत्वस्यं,साधनातः। सर्वया बुद्धिमत्कारणत्वे हि साध्ये जगतः कथंचिद्धीमद्धेतुकत्व-साधनो हेतुर्विश्चेषविरुद्धः सर्वो अपिति। नाक्रोशंतः पपछायंते विश्चेषविरुद्धा हेतवः। कार्यत्वादिना मीलेन हेतुना स्वेष्टस्य साध्यस्यामसाधनात्तेषां निरवकाश्चन्वाभावात् तैरस्य व्याघातसिद्धेः।

यदि फिर वैशेषिक कथंचित् कार्यपनेको हेतु स्वीकार करेंगे अथवा अचेतनोपादानत्व, सिनवे-शिवशिष्टत्व, आदि अन्य हेतुओंमें कथंचित्पना लगाकर उनको हेतु अमीष्ट करेंगे तब तो उनके वे हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होजायंगे क्योंकि कथंचित् कार्यपना आदि हेतु तो जगत्में कथंचित् बुद्धिमान् हेतसे जन्यपनको सार्धेगे । अतः स्वयं दुष्ट होरहे सर्वथा बुद्धिमान् कारण करके जन्यपनसे विपरीत होरहे कथंचित् बुद्धिमान हेतु करके जन्यपनके साथ व्याप्ति रखने वाले कथंचित् कार्यत्व आदि हेतु तो बिरुद्ध हैं " साध्यविपरीतन्यासो हेत्विरुद्धः " जगत्का सभी प्रकार न्यापक, सर्वज्ञ, एक अशरीर, बुद्धिमान् कारणसे जन्यपना साध्य करनेपर पुनः कथंचित् अन्यापक, अल्पन्न, अनेक सशरीर, बुद्धि-मान् कारणोंसे जगत्की उत्पत्तिको साथ देनेत्राले वे सभी हेतु विशेषविरुद्ध हेत्वाभास होजाते हैं, अपना विशेष विरुद्धपना पुकार रहे वे हेत् यों ही सहजमें झट पळायन ( भाग जाना ) नहीं कर जाते हैं । बहुत दिनसे बिछुर गये अपने मूल्यवान पदार्थकी प्राप्ति होजानेपर पुनः वह पदार्थ यों ही **भ**ट रात्रुओंको नहीं सोंप दिया जाता है। कथंचित लगा देनेसे उक्त सभी हेत् वैरोषिकोंके विरुद्ध डोकर स्याद्वादियोंके पक्षिसिद्धिकी पुकार मचाते रहते हैं। विशेष विरुद्ध हेतु अपने कर्तव्य कथंचित् बुद्धिमान्से जन्यपनको चराचर जगत्में साध रहे हैं । निकृष्ट कार्यको साध छेनेका प्रकरण आनेपर मळे ही कोई भाग जाय अच्छाही है किन्तु प्रकृष्ट कार्योंको साधनेके लिये साधन अपना धन्य माग समझते हैं वे अधिक देरतक ठहरना बांछते हुये बढ़ी प्रसन्ततासे उन कार्योंको साधते हैं। प्रथम मूलमें कहे गये निर्विशेषण कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, आदि हेतुओं करके वैशेषिकोंके यहां अपने इष्ट होरहे साध्यकी प्रसिद्धि नहीं होसकी है। हां कथंचित् कार्यत्वको सर्वत्र आदरके साथ स्थान मिळ रहा है। किन्तु सर्वथा कार्यत्वको कहीं भी ठहरनेके लिये अवकाश प्राप्त नहीं होता है। अतः उन कथंचित् कार्यत्व, कथंचित् अचेतनोपादानत्व, आदि हेतुओंके अवकाशरहितपनका अभाव होजानेसे उन कथंचित् कार्यत्व आदि करके इस मूळमें उपात्त किये निर्विशेषण कार्यत्व या सर्वधा कार्यत्व आदि हेतुओंका न्याघात होजाना सिद्ध है । अर्थात्—सादर निमंत्रणपूर्वक सर्व स्थलेंपर अवकारा पारहे क्यंचित् कार्यत्व हेतु करके सर्वत्रसे निरादर कर भगाये जारहे सर्वया कार्यत्वहेतुका व्याघात कर दिया जाता है। यों वैशेषिकोंके सिद्धान्तका प्रत्याख्यान कर जैन सिद्धान्त अनुसार कथंचित बुद्धिमान् निमित्तत्वकी सिद्धि होजाती है।

न चैवं धूमादेरम्न्याद्यतुमानं प्रत्याख्येयं कथंचिदम्निमक्त्वादेरेव कचिल्लौकिकैः साध्य-त्वात् कथंचिध्दूमवक्त्वादेरेव हेतुत्वेनोपगमाज्ञासिद्धत्विकिद्धत्वयोरयोगात् । तर्हि जगतां कथं-चिद्रबुद्धिमत्कारणत्वस्य साध्यत्वात् कथंचित्कार्यत्वादेश्य हेतुत्वोपगमात्परस्यापि न दोषः इति चेक, स्याद्वादिनां सिद्धसाधनस्य तथा व्यवस्थापनात् ।

यदि वैशेषिक यों कहें कि इस प्रकार विशेष विरुद्धताका कुचक यदि मले हेतुओंपर चला जाबगा तब तो धूम, कृतकल, आदि हेतुओंसे अग्नि, अनित्यत्व, आदिको समझा रहे प्रसिद्ध अनु-मानोंका भी प्रत्याख्यान हो जाना चाहिये | धूममें सर्वथा धूमपना नहीं है पौद्रिक्षकपना या कंठ, आंखमें विक्षेप करा देना भी धर्म वहां क्षियमान हैं । धूम सर्वथा अग्निको ही नहीं साधवा है उच्चा-

ताको भी साधता है । गीले ईंधनके संयोगको भी समझा देता है । धूममें अनेक कुतर्क ( तनाखियां ) उठायी जा सकती हैं। कृतकत्व हेतुमें भी देश. कालके विशेषोंकी अपेक्षा लगाकर विशेष विरुद्धता धर दी जायगी । आचार्य कहते हैं कि यह नहीं समझना क्योंकि लोकदक्ष व्यवहारी जनों करके कथंचित अग्निमच, कथंचित अनित्यत्व आदिको ही साध्य किया है और कथंचित धुमवत्त्व, कथं-चित् कृतकत्व, आदि हो हेतपने करके स्वीकार किया गया है। अतः धुमादि हेतुओंमें असिद हेत्वाभास, विरुद्ध हेत्वाभास, सहितपन हा योग नहीं हो पाता है, यदि सर्वथा धूम या सर्वथा अप्रिको हेतुपने करके स्वीकार किया गया है। अतः धूमादि हेतुओंमें असिद्ध हेत्वाभास, विरुद्ध हेत्वाभास, सहितपनका योग नहीं होपाता है । यदि सर्वथा धूम या सर्वधा अप्रिको हेतु और साध्य बना जायगा तव तो इनको भी उन्हीं तोपके गोले सहश हो रहे असिद्धपन, विरुद्धपनसे उठा दिया जायगा। वैशोषिक कहते हैं कि तब तो सम्पूर्ण जगतोंका कथंचित् बुद्धिमान कारणसे जन्यपनको साध्य हो जानेसे और कथांचित् कार्यत्व, कथांचित् सिनेवेशिविशिष्टव आदि को हेतुपना स्वीकार कर छेनेसे परवादी इम वैरोपिकोंके यहां भी कोई दोष नहीं आता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों कहनेपर स्याद्वादियोंकी ओरसे सन्नहवीं वार्तिकमें वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोषको तिस प्रकार व्यवस्था करा दी गयी है। हम स्याद्वादी जब कि नाना आत्माओंको शारीर. खनिज, पर्वत, आदि जगद्वर्ती कार्योका निमित्तकारणपन प्रथम ही स्वीकार कर रहे हैं तो सिद्धको ही साधनेसे क्या लाभ ? वादींको प्रतिवादिके सन्मुख असिद्ध पदार्थकी सिद्धि करनी चाहिये, बुद्धिवृद्ध परुषोंको गतमार्गका पुनःगमन करना परिश्रमवर्धक ही है।

द्रव्यं गुणः किया नान्त्यविशेषोऽशाश्वतो ननु । विवादाध्यासितो धीमान्हेतुः साध्यस्थितो यदा ॥ ५५ ॥ कार्यत्वं न तथा स्वेष्टविपरीतं प्रसाधयेत । नाप्यसिद्धं भवेत्तत्र सर्वथापि विवक्षितं ॥ ५६ ॥ इत्येके तदसंप्रासं भेदैकांताप्रसिद्धितः । कार्यकारणयोरेक्यप्रतिपत्तेः कथंचन ॥ ५७ ॥

दूसरे कोई एक वैशेषिक विद्वान् स्वपक्षका अवधारण करनेके लिये यों कह रहे हैं कि हम सम्पूर्ण द्रव्योंको पक्ष नहीं बनाते हैं। किन्तु घट, पट, आदिक कार्यद्रव्योंको पक्षकोटिमें धरते हैं। इसी प्रकार अनित्य गुणोंको पक्ष स्थिर करते हैं। देशसे देशान्तर करा देना स्वरूप क्रियायें तो हमारे यहां सब अनित्य ही मानी गयी हैं। नित्य द्रव्योंमें वर्त रहे व्यावर्तक, अनन्त और अन्तमें वर्त रहे ऐसे अंत्यिक्शेषोंको भी हम धर्मी नहीं बना रहे हैं। सामान्य, ममनाय, नित्यगुण और नित्य द्रव्य भी धर्मी

नहीं हैं। किन्तु अनित्य द्रव्य, अनित्य गुण और सम्पूर्ण क्रियायें हो विवादमें प्राप्त हो रही पक्ष मानी गयी है और जिस समय इन अशास्त्रत द्रव्य गुण, कियाओंका निमित्तकारण एक बुद्धिमान् साध्यरूपसे व्यवस्थित किया गया है उस समय प्रयुक्त किया गया कार्यत्वहेतु तिस प्रकार हमको निज अमीष्ट होरहे साध्यस विपरीतको कथमपि नहीं साथ पायेगा जोकि आप जैनोंने त्रेपनवीं वार्तिकमें विरुद्धपनेका कटाक्ष किया था यों कार्यत्व हेतु हमारे इष्ट साध्यको ही बढिया साधेगा । तथा वह कार्यत्वहेत यदि सर्वथा भी विवक्षाप्राप्त कर लिया जायगा तो भी उन सर्वथा जन्य द्रव्य, गुण, कियाओं में असिद्ध हेत्वा-भास नहीं होसकेगा, अशाश्वत माने गये द्रव्य, गुण, कियाओंमें, सर्वथा कार्यत्वहेतु निर्देन्द्र ठहर जाता है। अतः " सर्वथा यदि कार्यत्वं " इस वार्तिकद्वारा असिद्ध दोष उठाना जैनोंका उचित कार्य नहीं है। यहांतक कोई एक कर्तृवादी कर रहे हैं प्रन्थकार कहते हैं कि उनका वह कथन संगतिस रहित हैं। क्योंकि वैशेषिकोंके यहां माने गये कार्य और कारणके एकान्तरूपसे भेदकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकती है जब कि कार्य और कारणके कथंचित् एकपनकी निर्वाध प्रमाणों द्वारा प्रतिपत्ति होरही है। ऐसी दशामें परमाण, आत्मा, आकाश, आदि कारण नित्य हैं तो कथंचित् अभिन होरहे उनके कार्य घट, पट, ज्ञान, इच्छा, शब्द, आदि भी कथंचित् नित्य होजायंगे । अतः पक्षमें सर्वथा कार्यत्वके नहीं ठहरनेसे कार्यत्व हेत स्वरूपासिद हो ही गया, कर्यचित नित्य पदार्थीमें हेतुओं ने सर्वथा जन्यपना अनुमानान्तरसे बाबित भी है। अतः तुम्हारा कार्यत्व हेतु काळात्ययापदिष्ट हुआ, ( अपीछ करनेपर उनकी सजा बढ गयी ) ।

यदप्याहुः परे पृथिन्यादिकार्यद्रन्यमशाञ्चतं धर्मि तस्य विवादाध्यासितत्वाक पुनरा-काशं अभिलापात्तमेवं शाश्वतं द्रच्यं, नाष्यात्मा सुखाद्यनुमेयो नित्यो, न कालः परत्वापरत्वा-द्यनुमेयो दिग्वा, नापि मनः सक्तद्विज्ञानानुत्यस्यानुमेयं, नापि पृथिन्यादिपरमाणवः कार्यद्रन्या-नुमेयास्तेषामविवादापक्यत्वात् । तत एव न सामान्यमनुष्टत्तिमत्ययानुमेयं, नापि समवाय इहेदमिति मत्ययानुमेयो, नांत्यविश्वेषा नित्यद्रन्यवृत्तयोऽत्यंतन्याष्ट्रत्तिबुद्धिहेतवः ।

उक्त वार्तिकोंकी व्याख्या इस प्रकार है कि दूसरे कर्तृवादी पण्डित जो भी यह कह रहे हैं कि पृथिवी, जल, तेज, वायु इस प्रकार चार जातिके अनिस्य कार्यद्रव्योंको हम धर्मी बनाते हैं। क्योंकि उन अनिस्य द्रव्योंका किसी बुद्धिमान् निमित्तद्वारा बनाया जाना ही विवादमें पड़ा हुआ है। किन्तु फिर शाखत निस्य पांच द्रव्य तो कार्यक्रपसे विवादमस्त नहीं है। शब्दका समवायीकारण होकर गृहीत हो रहा निस्य द्रव्य आकाश इस प्रकार पक्ष नहीं किया गया है। अपना आत्मा स्व संवेध और दूसरोंका सुख, दु:ख, आदिकरके अनुमान प्रमाणद्वारा जानने योग्य निस्य आत्माद्य्य भी बुद्धिमद्वेतुकपनाकरके विवादापच नहीं है। जेठापन, छोटापन, इन कालिक परत्व, अपराच आदिकरके अनुमान करने योग्य परीक्षकालद्वय भी निस्य है। अतः कर्तृसाधक

अनुमानके पक्षमें नहीं धरा गया है। अथवा दैशिक परत्व, अपरत्व, " इदमतः " यह इससे पूर्व है, अमुक यहांसे उत्तरमें हैं इत्यादि छिंगकरके अनुमानसे जानी गयी नित्य दिशा द्रव्यका भी पक्षमें नहीं प्रहण किया गया है। तथा " युगपञ्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगं " चक्षु आदि कारणोंकरके होनेपर मी युगपत् कई ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं होनेके करके अनुमान किया गया नित्य हो रहा मन भी धर्मी नहीं किया गया है। मन अनन्ते हैं। घट, पट, बिन्दु, हिम, ज्वाळा, अंगार, श्वास, व्यजनवात, आदिक कार्य द्रव्योक्तरके अनुमान प्रमाण द्वारा जान छिये गये प्रथिवीपरमाणु, जलीय परमाणु, तैजस-परमाणुर्ये, ये नित्य हो रही प्रथिवी आदि चार जातिकी परमाणुर्ये भी धर्मी नहीं की गयी हैं। क्योंकि उन नित्य परमाणुओंको कर्तृजन्यपनके विवादमें प्रसितपना नहीं है । नित्य पदार्थोंको कोई भी पिड़त ईश्वरकृत नहीं मानता है तिस ही कारणसे यानी विवादापन नहीं होनेसे ही यह गी, यह गी यह भी वैसी ही गी. इस प्रकारके अनुवृत्ति ज्ञानोंकरके अनुमान प्रमाण द्वारा जानने योग्य चौथा गोल द्रव्यत्व आदि सामान्य ( जाति ) पदार्थ भी हमने पक्षकोटिमें नहीं रखा है । तथा इन तन्तुओंमें पट है. इस घटमें रूप है इस प्रकार ससम्यन्त और प्रथमान्त पदोंका समिभव्याहार होनेपर " इह इदं " इस प्रतीतिके द्वारा अनुमान करने योग्य समवाय पदार्थ भी धर्मी नहीं बनाया है जो कि "एक एव समवायस्तत्त्वंभावेन, अयुत्तिस्त्रानामाधार्याधारभूतानामिहेदं प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवायः, नित्यसम्बन्धः समनाय: '' इस ढंगसे समनाय नित्य माना गया है तथा "अन्त्यो नित्यद्वव्यवृत्तिर्विशेष: परिकीर्तित:" अन्तमें होनेवाछे और नित्यद्रव्योंमें वर्त रहे तथा अत्यन्त व्यावृत्तिबुद्धिके कारण ऐसे विशेष पदार्थ तो नित्य हैं उनको हम ईश्वरजन्य थोडा ही मानते हैं। अर्थात्—घटका न्यावर्तक कपाल, कपालका न्यावर्तक उसके अवयव कपालिकायें, यों दूर चलकर पंचाणक, पनः इसका न्यावर्तक चतुरणुक और चतुरणुकका भेदकारक त्र्यणुक एवं त्र्यणुकका व्यावर्तन करनेवाला बणुक है। द्यणकोंकी न्यावृत्ति परमाणुओंसे हो जाती है। किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओंकी परस्परमें विशेषताओंको करनेवाळा एक एक परमाणुके साथ एक एक विशेष पदार्थ लगा दिया गया है। जो कि विशेष पदार्थ स्वतः व्यावृत्त है स्वपरप्रकाशक दीपकके समान स्वपरव्यावर्तक उसको अन्य विशेषोंकी अपेक्षा नहीं है । इस कारण विशेषको सबके अन्तमें ठहरा कर अन्त्य माना गया है वे अनन्तानन्त विशेष पदार्थ तो चतुर्विघ अनन्त परमाणुओं और आकाश, काल, दिक, आत्मा, मन इन नित्य द्रव्योंमें वर्तते हैं । परस्परमें या अन्य पदार्थींसे हो रही अत्यन्त व्यावृत्ति बुद्धिके हेर्तमें विशेष पदार्थ हैं । नित्य पदार्थ हो रहे इन विशेषों को पक्षमें नहीं किया गया है ।

तथा गुणोऽप्यश्चाञ्चत एव रूपादिर्धर्मी न पुनः श्चाञ्चतोऽन्त्यविश्वेषैकार्यसम्बेतः।परिमा-णैकत्वैकपृथवत्त्वगुरुत्वस्नेइसाछिलादिपरमाणुरूपरसस्पर्शादिलक्षणी नापि द्रवत्वममूर्तद्रन्यसंयोगी वा तदाधारेतरेतराभावो वा तस्याजुत्पत्तिरूपस्याविवादाष्यासितत्वात् ।

वैशेषिक ही कहते जा रहे हैं कि तिसी प्रकार यानी उक्त नित्य द्रम्पोंके समान नित्य गुण पदार्थ भी पक्ष नहीं किये गये हैं। गुण भी अनित्य ही घटरूप, इक्षरस, पुष्पगन्ध, अग्निस्पर्श, आदि धर्मी पकडे गये हैं। किन्तु फिर अन्त्य विशेषोंके साथ एकार्थ समवायसम्बन्ध करके वर्त रहे नित्य गुण पदार्थको धर्मी नहीं किया गया है। अर्थात्—जिन दो गुणोंकी एक अर्थमें समवाय सम्बन्धसे वृत्ति होती है सहोदर भाइयोंके एकोदरत्व सम्बन्ध समान उन दो गुणोंका परस्परमें सम्बन्ध एकार्थ समवाय माना गया है। नित्य द्रव्योंमें विशेष पदार्थ समवाय सम्बन्धसे रहता है। और वहां ही नित्य द्रव्यके गुण रहते हैं । अतः उन गुणोंमें और विशेष पदार्थमें परस्पर एकार्य समवाय सम्बन्ध हुआ नित्य द्रव्यमें रहनेवाछे नित्य गुणोंको बुद्धिमान् हेतुसे जन्य साध्य करनेपर पक्षमें नहीं धरा गया है। यहां इतना विशेष समझ लेना कि नित्य द्रव्योंके कई गुण अनित्य भी हैं। जैसे कि संसारी आत्माके ज्ञान, इच्छा, सुख, दु:ख, आदि गुण अनित्य हैं। आकाशका शब्दगुण अनित्य है। मनका संयोग गुण अनित्य है। नित्य द्रव्यके इन अनित्य गुणोंको तो पक्षकोटिमें डाछ दिया गया है। जो गुण नित्य होकर नित्य द्रन्योंमें समनायसम्बन्धसे ठहर रहे हैं ऐसे परममहापरिमाण. आकारा, काल, आदिकी न्यारी न्यारी एकत्व संख्यायें, एक एक नित्य द्रव्यमें न्यारे न्यारे वर्त रहे पृथक्त गुण, जलकी परमाणुओंमें ठहर रहे गुरुत्व और स्नेहगुण तथा जल, तेज, वायुओंकी परमाण-ओंमें पाये जा रहे रूप, रस, स्पर्श, आदि स्वरूप गुण तो धर्मी नहीं हैं। हां, धटमें रहनेवाले परिमाण, एकत्व संख्या, पृथक्त्व, गुरुत्व, रूप, रस, आदि अनित्य गुण तो पक्षमें धर छिये गये हैं। अवयवी जलका स्नेह गुण भी अनित्य है। पीलुपाकवादी विद्वान् पृथिवीके परमाणुओंमें अग्निसंयोग द्वारा पाक होनेको स्वीकार करते हैं । अतः पृथिवीके परमाणुओं में पाये जानेवाले रूप. रस. आदि गुण अनित्य हैं । अतः ये पक्षकोटिमें हैं । तथा आद्य स्यन्दनका असम-वायी कारण हो रहा द्रबत्वगुण भी परमाणुओंमें वर्त रहा नित्य है। घत. मीम, आदि कार्योको बनानेवाठी पृथिवी परमाणु या तैजस सुवर्णको बनानेवाठी तैजस परमाणुओंमें अथवा सम्पूर्ण जळ परमाणुओंमें पाया जानेवाळा द्रव्यत्व गुण नित्य है। हां कार्यद्रव्य होरहे लाख रंग, आदिके द्रवत्व गुण अनित्य हैं ।नित्य द्रवगुण तो पक्षकोटिमें नहीं है। तथा अमूर्त द्रव्योंका संयोग भी पक्ष नहीं है । क्योंकि आकाश, काल, दिक, आत्मा और मन इन द्रव्योंका संयोग नित्य है। नित्य परमाणुगुणोंका संयोग तो अनित्य माना गया है। क्योंकि कारणवश विघट जाता है। अतः अमूर्त द्रव्योंके संयोगको छोडकर अन्य सम्पूर्ण संयोगोंको पक्ष बनाछो. प्रकार उन आधारभूत अनित्य द्रव्योंमें वर्त रहा इतरेतराभाव भी नित्य है। कारीपय वैशेषिक पण्डित एक कमोंद्रव, द्रयक्रमंजन्य, विभागजन्य, इन तीनों प्रकारके विभागोंको अनित्य है। मानते हैं। किन्तु संसारी आत्मामें चौदह गुण माने गये हैं। तथा " संख्यादिपञ्चकं बुद्धिरिच्छा यत्नीऽपि चेश्वरे। परापरत्वे संख्यादि पञ्च वेगश्च मानसे ॥ '' इन कारिकाओं द्वारा नित्य द्रव्योंमें भी विभाग माना

गया है ! परमाणुओंका विभाग मछे ही अनित्य होय किन्तु अमूर्त नित्य दृष्योंका विभाग तो नित्य माना जायगा । एक बात यह विचारकी है कि, जब कि ध्यापक नित्य दृष्योंमें सर्वदा अछिद्र नित्य संयोग होरहा है तो फिर " संयोगनाशको गुणो विभागः" ऐसे विभागगुणको वहां माननेमें जी हिचिकचाता है । जैन जन विभाग या पृथक्त्व गुणके प्रयोजनको अन्योन्याभावसे साध छेते हैं । किन्तु हम वैशेषिकोंके यहां अभाव पदार्थसे न्यारे पृथक्त्व और विभाग दो भावात्मक गुण माने गये हैं अतः नित्य दृष्योंमें पाया जा रहा अन्योन्याभाव तो पक्षमें परिगणित नहीं है । क्योंकि इस अन्योन्याभावकी कारणोंसे उत्पत्ति नहीं होरही है । नित्य स्वरूप वह अन्योन्याभाव तो कर्तृजन्य या कर्त्र-जन्यरूप करके विवादमसित नहीं है । सब कोई पण्डित नित्य, अन्योन्याभावको कर्त्रजन्य अमीष्ट कर रहे हैं ।

तथा किया धर्मिणी विनश्वरी परिस्पन्द छक्षणोत्क्षेपणादिन पुनर्धात्वर्थ छक्षणा भावनादिः काचिकित्या तस्या अपि विवादापक्रत्वाभावात् । तस्य च बुद्धिमान् हेतुरस्तीति यदा साध्य-स्थितो भवत् तदा न कार्यत्वं स्वेष्टविपरीतं साधयेत् स्वेष्टस्यैव सर्वथा बुद्धिमत्कारणकत्वस्य साधनात् । सर्वथा विविक्षितस्यापि तस्यासिद्धत्वं च नोपपत्तिमदिति तदेतत्सर्वमसंबद्धम् । कार्य-कारणयोर्भेदैकान्तामसिद्धेः कथिन्चदैवयमतिपत्तः। सर्वस्य तद्भेदैकान्तसाधनस्यानेकान्तम्राहिणा प्रमाणेन वाधितविषयत्वात् काळात्ययापदिष्टत्वच्यवस्थितेः ।

बैरोषिक ही कहे जारहे हैं कि तिस ही प्रकार हलन, जनन, अमण, उर्ष्वामन, आदि परिस्तरूप उन्क्षेपण आदि विनाशशील कियायें भी पक्ष हैं यानी पक्षकोटिमें धरी गयी हैं। वन्यको एक देशसे देशान्तरमें करादेनेवालीं कियायें तो अनित्य ही हैं किन्तु फिर याजे, पिचे, आदि धातुओंके अर्थस्वरूप भावना, नियोग, आदि कोई कोई नित्य कियायें तो पद्म नहीं की गयी हैं। क्योंकि मीमांसक मतानुसार इन भावना आदि धाल्वर्थ कियाओंको भी यहां प्रकरणमें विवादापन्नपना नहीं है। सामान्य, विशेष, समवाय तो नित्य पदार्थ हैं। अभावों में प्रागमाय अनादि है। अतः वह भी कर्तृजन्यत्वेन विवादपित नहीं है। हां, ध्वंस नामका अभाव अनित्य है। उसको पक्षमें डाल लो। तादाल्य-सम्बन्धाविच्छिनप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः और त्रैकालिकसंसर्गाविच्छिनप्रतियोगिताको अत्यन्तामावः ये दो अभाव एक प्रकार नित्य ही हैं। इस प्रकार पक्षकोटिमें डाले गये अनित्य द्वन्य, गुण, कियायें, और ध्वंसका हेतु कोई बुद्धिमान् निमित्तकारण है। इस प्रकार जब साध्य कोटिमें व्यवस्थित किया जायेगा तब हमारा कार्यत्व हेतु हमारे अभीष्ट साध्य हो रहे ईश्वरजन्यत्वसे विपरीत साध्यको नहीं साध सकेगा। क्योंकि सबको इष्ट हो रहे सर्वथा बुद्धिमान् कारणसे जन्यत्वका ही साधन किया जा रहा है। अतः हमारा कार्यत्व हेतु विरुद्ध नहीं है। आप जैन त्रेपनवीं कारिकामें उठाये हुये दोषको छोड़ लो। तथा यदि कार्यत्वका अर्थ सर्वथा कार्यत्व भी विश्वा प्राप्त कर लिया जाय तो भी बाब

नवीं कारिका अनुसार उस कार्यत्वको असिद्ध हेत्वाभासपना नहीं बननेवाला है। क्योंकि इम पक्ष हं रहे अनित्य पदाधीमें सर्वथा कार्यपना वर्त रहा मानते हैं। " यदप्यादः " से यहांतक वैशेषिक अपने पक्षको दृढ करते हुये कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकोंका सम्पूर्ण कथन पूर्वापर संगतिसे रहित होता हुआ असम्बद्ध है क्योंकि कार्य और कारणमें वैशेषिकोंके यहां अमीष्ट किये गये एकान्त रूपसे भेदकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकी है क्योंकि कार्य और कारणके कथं चित एकपनकी सबको प्रमाणों द्वारा प्रतिपत्ति हो रही है। उन कार्य और कारणके एकान्तरूपरे भेदको साधनेवाछे सम्पूर्ण ज्ञानोंके विषयमें अनेकान्तके प्राह्यक प्रमाणों करके बाधा उपस्थित कर दं जाती है । अतः भेदको साधनेवाले हेतको बाधित हेत्वाभासपना न्यवस्थित कर दिया जाता है । जब कि घट, ज्ञान, शब्द, आदिके कारण होरहे परमाणु , आत्मा, आकाश, आदि कारण किसी मी बद्धिमान्से जन्य नहीं हैं तो उनसे अभिन्न होरहें कार्य भी सर्वथा बुद्धिमान्से जन्य ही होय यह एकान्त नहीं किया जासकता है। अतः कार्यत्व हेतु बाधितहेत्वाभास है। तुम वैशेषिकोंने अनित्य द्रव्य, गुण, कर्मीको पक्षकोटिमें धरा और नित्य द्रव्य, गुण, सामान्य, विशेष, समवाय, और कित पय अभावोंको पक्ष नहीं बनाया भेदकी फुस फुसी भित्तिपर खडे होकर यह तुम्हारा परिश्रम करना पतनका हेतु समझा जायगा " तस्माद् धौरजायत " " आदावपो सृजत " इत्यादि वेदानुसार वाक्यौ द्वारा कातिपय स्पृतिकार और पुराणकार विद्वानोंने आकाश, जल, आदिकी समूल सृष्टि स्वीकार की है। कोई पण्डित ईरवरके शरीर मानते हैं। अन्तार छेना स्वीकार करते हैं। अन्य पण्डित ईस्वरको अशरीर अङ्गीकार करते हैं । ऐसी दशामें उक्त कथन पूर्वापरसंगतिसे शून्य होजाता है । शब्दको ( विशेषतया वैदिक शन्दोंको ) नित्य माननेवाळ मीमांसकोंकी शन्दभावना, आत्मभावनाको स्वीकार कर छेते हो और कदाचित वैशेषिक होकर शब्दको सर्वथा अनित्य मान बैठते हो संयोग या विभाग को अनित्य मानकर भी क्वचित् नित्य मान लिया गया है, परमाणुमें नहीं पाये जानेवाले गुरुत्वक। बोह्न बळात्कारसे परमाणुपर लादा गया है। नित्य द्रव्योंमें परस्पर भेद करानेके लिये अनन्त विशेष पदार्थीका मानना निरर्थक है । वैशोषिकोंकी अभीष्ट पदार्थ प्रतिपादक प्रणालीमें अनेक दोष आते हैं उपादान कारण और उपादेयका सर्वथा भेद माने रहना कोरा मिध्याभिनिवेश है।

नतु च कार्यकारणयोरेकस्य कथंचिकिश्रयात् कार्यद्रव्यस्य कारणद्रव्याद्रेदैकान्तो मासूत् गुणस्य चानित्यस्य कर्मणोपि च तत्कार्यत्वाविभेषात् सहश्वपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य विसद्यपरिणामलक्षणस्य विभेषस्य चात्पापरविकल्पस्य समवायस्य चाऽविष्वग्मावलक्षणस्य द्रव्यकार्यत्वात् कथंचिचतोऽनन्यत्वमस्तु नित्याचु गुणाद्वणी भिक् एव तयोः कार्यकारणभावाभाषादिति मन्यमानं मत्याद ।

े बैशोषक अपनी नीतिका प्रचार करनेके छिये पुनरिप अवधारण करते हैं कि कार्य और कारणके क्यांचित् एकपनका निश्चय हो जानेसे घट, पट, आदि कार्यहर्णोका मृत्तिका, तन्तु आदि

कारणद्रव्योंसे एकान्तमेद नहीं होओ तथा अनित्यगुण और कियाओं का भी अपने समवायीकारण द्रव्य से एकान्त भेद नहीं होने क्योंकि उन द्रव्योंका उपादेयरूपसे कार्यपना गुण कर्मीमें विषमान है। दृष्यकी उपादेयता और गुण कियाओंकी उपादेयतामें कोई अन्तर नहीं है एवं तुम जैनोंके यहां माने गये सहरापरिणामस्वरूप सामान्य पदार्घका और विसहरापरिणामस्वरूप विशेषका जो कि इम वैशोषिकोंके यहां अन्त्य विशेष और अपर विशेष दो प्रकारका माना गया है। अपने कारण द्रव्यके साथ भटे ही सर्वथा भेद नहीं होओ एवं प्रथमाव नहीं होकर तादात्म्य सम्बन्धस्वरूप हो रहे सम-वायका भी अपने कारणके साथ सर्वथा भेद नहीं सही क्योंकि उक्त अनित्य पदार्थीको द्रव्यका कार्य होनेसे उस कारणसे कथंचित् अभिन्नपना बना रही कोई क्षति नहीं है। किन्तु नित्य गुणसे तो गुणी द्रव्य भिन्न ही होगा । क्योंकि उन नित्य गुण और नित्य गुणीमें कार्यकारणभाव नहीं है । अर्थात्—आप जैन कार्य द्रव्यों ( पर्यायों ) अनित्यगुण अनित्य क्रियाओं को जैसा मानते हैं तदनुसार कार्य और कारणका कथंचित अभेद अच्छा है '' सहशापीरणामस्तिर्यकुसामान्यं " '' अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेक्तविशोष: " ऐसे सामान्य विशेषोंका भी अपने कारणोंके साथ कथंचित् अभेद हमें अच्छा दीखता है। वैशेषिक्रोंने विशेषके दो भेद माने हैं एक अन्तमें ठहरनेवाला नित्यद्रव्यवृत्ति विशेष है दूसरा सत्ता या द्रव्यत्वके व्याप्य होरही प्रथितीत्व, घटत्व, आदि जातियों या विशेष द्रव्य, गुण, आदिको दूसरा अपर विशेष इष्ट किया है अस्तु—" नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां अविभाड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा " यो अपृथग्भाव ( तादाल्य ) स्वरूप समवाय सम्बन्ध भी क्यांचित अभिन्न बन जाओ हमारी कोई क्षति नहीं है। किन्त नित्य गुग परममहापरिमाण आदिसे आकाश आदि गुणवान् द्रव्योंको भिन्नही मानना आवश्यक है। उपादान कारण स्वयं उपादेयरूप परिणत होय तब तो अमेद मान लेना अच्छा जचता है किन्तु जहां परिणाम परिणामीभाव नहीं है गुण गुणीका तत्त्वान्तर रूपसे भेद अक्षुण्ण बना रहो । अतः आप हमारे सर्वथा भेदका सहारा पाकर बाधाओंको नहीं उठा सकते हैं इस प्रकार कोई वैशेषिक पण्डित मान रहे हैं उनके प्रति श्री आचार्य महाराज उत्तर वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

### नैकांतभेदमृत्सिद्धो नित्यादिष गुणाद्गुणी । द्रवस्थानादिपर्यन्तपरिणामात तथा स्थितेः ॥ ५८ ॥

नित्य होरहे भी गुणसे सर्वथा मेदको धार रहा गुणी द्रव्य सिद्ध नहीं है क्योंकि अनादि कालसे अनन्त कालपर्यन्त सहभावी परिणामोंसे द्रव्यकी तिस प्रकार व्यवस्था होरही है। अर्थाद अखण्ड द्रव्यके नियत कार्यो द्वारा अनुमित किये गये अनन्त गुण अविष्यामावरूपसे द्रव्यमें वर्त रहे हैं जबसे द्रव्य है तभीसे वे गुण हैं द्रव्यके सहभावी परिणाम गुण माने गये हैं। अतः नित्य गुणोंके साथ नित्य द्रव्यका अभिन्नपना सुलम है प्रत्युत अनित्य गुण, क्रियाओं, सहमापरिणाम,

आदिका अपने द्रव्यके साथ अमेद साधना कठिन कसाला है क्योंकि नील बटका ही अग्निसंयोगसे लाख घट होजाता है आत्मा बना रहता है उसका गुण या पर्याय होरहा ज्ञान निघट जाता है। नर्तकी अनेक शरीरिक्रियाओंको निनाशती, उपजानती, बण्टों तक बहकी नहीं नाचती रहता है, सामान्य या निशेषोंमें भी सर्वथा अमेद दुर्लभ है। अतः नित्य गुण और गुणी द्रव्यका सर्वथा भेद माने जाना नैशेषिकोंका असत् आग्रह है।

न केवलमित्याद्गुणात्कर्मादेश्व गुणी जीवादिद्रव्यपदार्थः सर्वया भिन्नो न सिद्धः । किं ति १ नित्यादिष गुणाद्दर्भनादिसामान्यात्र सर्वथा भिन्नस्तस्य तथानादिपर्यन्तपरिणामात्तथा व्यवस्थितत्वाज्जीवत्वादिवत् । कथंचित्तादात्म्याभावे तस्य तदगुणत्वविरोधाद्वव्यांतरगुणवत् ।

अनित्य होरहे गुणसे अथवा कर्मसामान्य आदिसे सर्वथा भिन्न होरहे गुणवान जीव, पुद्रल आदिक द्रव्य पदार्थ ही सिद्ध नहीं होसकते हैं केवल इतना ही नहीं है तो और क्या क्या है! इसका उत्तर यह है कि नित्य द्रव्यके अनुजीवी होते हुये नित्य हो रहे दर्शन, चारित्र, वीर्य, रूप, रस, आदि सामान्य गुणोंसे भी जीवादिक पदार्थ सर्वथा मिन्न नहीं हैं। जैसा कि सर्वथा भेदको वैशेषिक मान बैठे हैं। क्योंकि तिस प्रकार द्रव्य और गुणका तदालकपने करके अनादिसे अनन्तकाल तक परिणाम हो रहा है। अतः तिस प्रकार सर्वथा भिन्नता नहीं होते हुये कथेंचित् अभेद व्यवस्थित हो रहा है। जैसे कि जीवद्रव्यमें चैतन्य या द्रव्य प्राण अथवा भावप्राणोंका धारण करा देनेवाल स्वरूप जीवत्व गुण या पुद्रलमें रूप, रस, आदिके साहचर्य परिणामका प्रयोजक पुद्रलख इसी प्रकार आकाश आदि द्रव्योंमें अवगाहप्रयोजक आकाशत्व आदि गुण उपजीव्य उपजीवक रूपसे तदात्मक होते हुये कथेंचित् अभिन्न हैं। यदि गुण और गुणीमें कथेंचित् तदात्मकपना नहीं माना जायगा। तो उस प्रकृत गुणको नियत गुणीके गुण हो जानेपनका विरोध हो जायगा जैसे कि अन्य द्रव्योंके गुण इस प्रकरण प्राप्त द्रव्यके गुण नहीं माने गये हैं। आत्मासे भिन्न पड़ा हुआ इपया या पैसा जैसे किसी नियत व्यक्तिका नहीं है। बजाज, सराफ, पंसारी, हळवाई, मृत्य, बालक, सभीका हो सकता है उसी प्रकार आत्मासे भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान गुण आकाशका या घटका भी हो जाय तो वैशेषिकोंके यहा कीन रोकनेवाला है हो, अभेद पक्षमें यह आक्षेप नहीं चळ सकता है।

तत्र समवायात्तस्य तद्गुणत्विमिति चेषा, समवायस्य समवायितादात्म्यस्य प्रसाधि-तत्वात् । ततः सर्वस्य विवादाध्यासितस्य तज्जुकरणभुवनादेः सर्वया बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कयंचित्कार्यत्वं साधनं स्वष्टविपरीतं कथंचिद्बुद्धिमिषिषत्वं प्रसाधयदेवेति विरुद्धं भवत् । सर्वधात्र कार्यत्वमसिद्धिमिति तुष्यरिहरमेवैतददृषणद्वयं ।

यदि त्रेशेषिक यों कहें कि उस नियंत गुणी व्रव्यमें उस गुणका समवाय सम्बन्ध हो रहा है ।

गुण आत्माका है और शब्दका आकाशमें समवाय है इस कारण आकाश गुण शब्द है तथा घट पट, आदिमें रूप, रस, आदिका समनाय होनेसे वे उनके गुण नियत हो रहे हैं। जब कि जगत अपने अपने शरीर पुत्र, कलत्र, धन, वल, पशु, आदि कुछ संयुक्त हो रहे किन्तु बहुमाग ना संयक्त हो रहे भिन्न पदार्थोंकी भी नियत व्यवस्था हो रही है। कोई भी दूसरोंकी सम्पत्तिपर अधिक नहीं जमा सकता है तो फिर अयुत्तसिद्ध पदार्थोंके समवाय सम्बन्धसे नियत हो रहे प्रकृत गुणींव उन नियत द्रल्योंके गुण हो जानेका कौन त्रिरोध कर सकता है ? । यदि समवेत गुण ही दूसरे द्रव्य करके छीनछिये जांय तो ऐसी पोलकी दशामें संयुक्त या असंयुक्त वस्न, भूषण, गृह, उपवन, गोधन आदिको चाहे कोई भी दिन दहाडे छट सकता है। राजा या पंचायतका प्रवन्ध करना धूळमें मिछ जायगा ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि समनायी पदार्थीमें तदात्मकपनको प्राप्त हो रहे तादात्म सम्बन्धको ही समनाय सम्बन्ध बहुत अच्छा साधा जा चुका है। जब समनायका अर्थ कर्यंचिर तादात्म्य है तो कार्य और कारणका एकान्त भेद प्रसिद्ध नहीं हो सका । किन्तु कार्य और कारणो क्यंचित अभेद प्रसिद्ध हुआ । जब कि आत्मा, परमाणुर्ये, आदिक कारण ईश्वरकृत नहीं है तो इनरं करांचित अभिन हो रहे ज्ञान, घट, शरीर, सुवन, आदि कार्य भी सर्वथा ईव्यकृत नहीं है । हां कथंचित बुद्धिमान्से किये गये भछे ही ये मान छिये जाय तिस कारणसे विवादमें प्राप्त हो रहे शरीर, इन्द्रियां, भुवन, द्वीप, पर्वत, आदि सम्भूणे कार्य पदार्थीका बुद्धिमान् कारणद्वारा सर्वथा जन्य पना साध्य करनेपर प्रयुक्त किया गया कथंचित कार्यपना हेत अपने इष्ट साध्यक्षे विपरीत बुद्धिमान निमित्तद्वारा कथंचित् जन्यपनकी ही बढिया सिद्धि करा देगा इस प्रकार तुम वैशेषिकोंका कार्यल हेत विरुद्ध हेत्वाभास हो जायगा और इन शरीर, इन्द्रियों, भुवन आदिमें सर्वथा कार्यपना हेतु तो असिद्ध हेत्वामास है इस प्रकार कथांचित कार्यत्व और सर्वथा कार्यत्वके विकल्प अनुसार तम्हार उत्पर उठाये गये ये विरुद्ध और असिद्ध दोनों दूषण कठिनतासे भी परिहार करने योग्य नहीं हैं उन्हीं के इमने बावनवीं और त्रेपनवीं वार्त्तिकमें दिखा दिया है।

#### संमति साधनांतरमन्य द्षयभाइ।

अब इस समय प्रन्थकार उन कर्तृवादी वैशोषिकोंके अन्य साधनोंका अनुवाद कर उनके सिद्धान्तोंमें दूषण दिखळाते हुये अप्रिम वार्तिकोंको कह रहे हैं।

विवादाध्यासितात्मानि करणादीनि केनचित् । कर्जाधिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वतो यथा ॥ ५९ ॥ वास्यादीनि च तत्कर्तृसामान्ये सिद्धसाधनं । साध्ये कर्तृविशेषे तु साध्यश्चन्यं निदर्शनम् ॥ ६० ॥ शरीर, भुवन, आदिके विवादमें प्राप्त हो रहे खरूप करण इन्द्रियां, अदृष्ट, परमाणु, आदिक पदार्थ ( पक्ष ) किसी एक कर्ता करके अधिष्ठित हो रहे सन्ते प्रवर्तते हैं ( साध्य दछ ) करण आदिपना होनेसे ( हेतु ) जैसे कि वस्त्रा, हथोडा, मोंगरा, छेखनी, स्वी, छेनी, आदिक करण किसी न किसी बढई, सुनार, घोबी, छेखक, स्वीकार, मिस्री, आदि कर्ताओंसे अधिष्ठित होकर खयोग्य कियाओंमें वर्त रहे हैं । आचार्य कहते हैं कि इस अनुमान द्वारा यदि सामान्यरूपसे उनके अधिष्ठाता चाहे किसी भी कर्त्तांको साधा जायगा तब तो तुम वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष आता है क्योंकि जिस सिद्धान्तको हम स्वीकार कर रहे हैं उसकी पुनः सिद्धि कराना व्यर्थ है । सत्रहवीं वार्त्तिकमें हम पाईछे भी इस बातको कह चुके हैं । हां, यदि विशेषरूपसे नित्य, व्यापक, अशरीर, ईत्वर कर्ता करके अधिष्ठितपना यदि साध्य किया जायगा तब तो उदाहरण साध्यसे शून्य हो जायगा वस्त्रा आदि कारणोंके अधिष्ठाता बन रहे बढई छहार, आदिक कर्ता तो अशरीर या सर्वक नहीं हैं । अर्थात्—तुम्हारा उदाहरण साध्यविकल दोषसे प्रस्त हुआ ।

विवादापस्यभावानि करणाधिकरणादीनि केनचित् कर्जाधिष्ठितानि वर्तते करणाधि-करणत्वाद्दास्यादिवत् । योऽसौ कर्ता स मद्देश्वर इति कश्चित्, तस्य कर्त्वसामान्ये साध्ये सिद्ध-साधनं । कर्तृविश्चेषे तु नित्यसर्वगतामूर्तसर्वश्चादिगुणोपेते साध्ये साध्यविकस्रश्चदाहरणं, वास्या-देरसर्वगतादिक्ष्पतक्षादिकर्त्रधिष्ठतस्य मद्दुचिदर्शनात् ।

वैशेषिकोंका अनुमान यों है कि विवादमें प्राप्त हो रहे स्वभाववाले करण, अधिकरण, सम्प्रदान आदि कारक (पक्ष) किसी न किसी चेतन कर्चांसे अधिष्ठित हो रहे सन्ते किया करनेमें प्रवर्त रहे हैं (साध्य) क्योंकि वे करण या अधिकरण आदि हैं (हेतु) वसूळा, आरा, आदिके समान (अन्वयद्यान्त)। वह जो इनका अधिष्ठायक कर्ता है वह हमारे यहां महेश्वर माना गया है। यहांतक कोई कर्तृवादी कह रहा है। प्रन्थकार कहते हैं कि उस कर्तृवादीके यहां सामान्य रूपके कर्चांको साध्य करनेपर सिद्धसाधन दोष आता है। हां, नित्य, न्यापक, अमूर्त, सर्वज्ञ, निक्कमी, सदामुक्त आदि गुणोंसे सिहत हो रहे विशेष कर्त्तांको साध्य करनेपर तो तुम्हारा दिया गया उदाहरण साध्यसे रीता हो जायगा क्योंकि वस्त्रा आदिकी असर्वगत, अल्पज्ञ, सकर्मा आदि स्वरूप बर्द्ध आदि कर्त्ताओंसे अधिष्ठित हो रहों की प्रहत्तियां देखीं जा रहीं हैं। अतः तुम्हारा अनुमान दृषित है।

तत्सामान्यविशेषस्य साध्यत्वाचेदद्षणं । सोऽपि सिद्धाखिळव्यक्तिव्यापी कश्चित्प्रसिद्धपति ॥ ६१ ॥ देशकाळविशेषाविज्ञ्ञाग्निव्यक्तिनिष्ठितं । साष्यते स्रामसामान्यं धूमानासिद्धभेदगं ॥ ६२ ॥ यदि वैशेषिक यों कहें कि हम केवल सामान्य या विशेष कर्जाको साज्यकुक्षि नहीं बनाते हैं। किन्तु उस कर्जापन सामान्य और विशेष दोनोंसे अधिष्ठित होनेको साज्य करते हैं। अतः हमारे उपर कोई दूषम नहीं आता है। जैन पण्डित जैसे आपत्ति पडनेपर सामान्य विशेषात्मक दुर्ग (किल या गढ) का आश्रय ने लेते हैं उसी प्रकार हमने भी सामान्य, विशेष, कर्जाको साधनेका ढंग निकाला है। आचार्य कहते हैं कि वह सामान्य विशेष रूप कर्जा भी सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें न्यापक हो रहा ही कोई न कोई प्रसिद्ध हो सकता है। धूम हेतुसे जो अग्निसामान्य साधा जाता है वह अग्निसामान्य सम्पूर्ण देशविशेष और कालविशेषोंमें परिनिष्ठ हो रहीं अग्निन्यक्तियोंमें प्रविष्ठ हो रहा है। जो सामान्य अपने विशेषोंमें प्राप्त हो रहा सिद्ध नहीं है वह अग्निसामान्य तो धूमकेतुसे नहीं साधा जाता है उसी प्रकार यहा भी कर्तृसामान्यकी यावत् कर्तृविशेषोंमें प्रतिष्ठित हो रहे की ही सिद्धि हो सकती है किन्तु जब अशरीर, न्यापक, नित्य, ईस्वर कोई कर्त्ताविशेष अभी तक सिद्ध ही नहीं हुआ है तो सशरीर, अन्यक्त, संसारी, अनेक कर्ताविशेषोंमें ही वह कर्तृसामान्य ठहर रहा साधा जा सकता है। अतः तुम्हारे अभीष्ठ हो रहे कर्ता, ईस्वरकी सिद्धि नहीं हुई। सिद्ध हो रहे सामान्य विशेष आत्मक संसारी जीवस्वरूप कर्ताओंसे अधिष्ठितपनकी सिद्धि हो जानेसे तुम्हारे उत्पर सिद्ध-साधन दोष तदवस्थ रहा।

न करणादिधर्मिणः करणादित्वेन हेतुना कर्तृसामान्याधिष्ठितवृत्तित्वं साध्यते, नापि कर्तृिविश्वेषाधिष्ठितवृत्तित्वं येनोक्तद्षणं स्यात् । किं तिर्हं १ कर्तृसामान्यविशेषाधिष्ठितत्वं साध्यते, रूपोपल्रब्ध्यादिक्रियाणां क्रियात्वेन करणसामान्यविशेषाधिष्ठितत्ववत् । न हि तासां करणसामान्याधिष्ठितत्वं साध्यं, सिद्धसाधनापत्तेः । नाप्यमूर्तत्वादिधर्माधारकरणविशेषाधिलित्वं, विच्छिदिक्रियाद्यदाहरणस्य साध्यविकल्लत्वप्रसंगात् । तस्य मूर्तत्वादिधर्माधारदात्रा-दिकरणाधिष्ठितस्य दर्शनात् ।

वैशेषिक मान रहे हैं कि करण, अधिकरण, कारक आदि धर्मियोंकी सामान्य रूपसे कर्ताद्वारा अधिष्ठित होकर वृत्ति होनेको हम करण आदिकपन हेतु करके नहीं साध रहे हैं और उनसठवाँ वार्तिक द्वारा करण आदि पक्षमें विशेषरूप करके कर्ताद्वारा अधिष्ठित होरही वृत्तताको भी हम नहीं साधते हैं जिससे कि आप जैनों द्वारा साठवीं वार्तिकमें कहे जाचुके दूषण हमारे ऊपर होजाय तो हम वैशेषिक क्या साधते हैं ! इसका उत्तर यह है कि सामान्य और विशेषोंसे आकान्त होरहे कर्तासे अधिष्ठितपना कारण आदिमें साधा जा रहा है जैसे कि छिदिकियाका दृष्टान्त देकर रूपकी उपलब्धि या रसकी इसि आदि कियाओंका कियापन हेतु करके सामान्य विशेषाकान्त करणसे अधिष्ठित पना साधा जाता है, देखिये उन कियाओंका सामान्य करणसे अधिष्ठितपना भी हम वैशेषिक नहीं साध रहे हैं। यो रूपोपछिष्य आदि कियाओंका सामान्य करणसे अधिष्ठितपना साधनेपर हमारे उपर

सिद्धसाधन दोक्की आपत्ति होजाती है। कोई भी किया किसी न किसी सामान्यकरणसे होती ही है किन्त हम अतीन्द्रिय, इन्द्रियोंकी सिद्धि करनेके लिये तत्पर हैं। सामान्य करणकी साध्य करनेपर ती प्रतिवादी कह सकता है कि प्रदीप, आखोक, उपनेत्र, ( चत्र्मा ) अंजन, आदि करणों करके रूपकी उपलब्ध होना हमारे यहां पहिलेसे ही सिद्ध है यों सिद्धसाधन दोष उठाया जा सकता है तथा अमृतित्व, अतीन्द्रियत्व, आदि धर्मीका आधार हो रहे विशेषाक्रान्त करणकरके अधिष्ठितपना भी हम नहीं साथ रहे हैं जिससे कि विच्छेद या छेदन, भेदन, किया आदि उदाहरणोंको साध्यरहितपनका प्रसंग हो जाय क्योंकि उदाहरण हो रहे उन छिदि, भिदि, आदि क्रियाओंका मूर्तत्व, इन्द्रियप्राह्यत्व आदि धर्मीके आधार हो रहे दांतुआ, हेंसिया, दरेंता आदि करणोंसे अधिष्ठित हो रहापन देखा जाता है । अर्थात्—हम वैरोषिक चक्षः, रसना, घ्राण, आदिक परोक्ष इन्द्रियोंकी सिद्धि करनेके छिये जो अनुमानप्रमाण कहते हैं उसमें दिये गये कियात्वहेतुका सामान्यविशेषाक्रान्त करणों करके अधिष्ठितपन साधा जाता है। रूपब्रिति, रसज्ञति, आदि क्रियार्ये तो अतीन्द्रिय मूर्त या अल्पपरिमाणवाछे तथा शब्दसे इतर उद्भूत विशेष गुणोंका अनाश्रय हो रहीं चक्ष, रसना, आदि इन्द्रियनामक करणोंसे अधिष्ठित सध जायगीं और सुखोत्पत्ति, अनुमिति आदि क्रियार्थे अमूर्तत्व, न्यापकद्रन्य समनेतत्व आदि धर्मीको घारनेवाले अदृष्ट, व्याप्तिज्ञान आदि करणोंपे अधिष्ठित हो रही सघ जायगी तथा विशेष छिदि, भिदि, आदि क्रियायें तो मूर्तत्व, गुरुत्व, प्रत्यक्षयोग्यत्व आदि धर्मीके आश्रय हो रहे वसुला. चाकू, चक्की, आदि करणों द्वारा निष्पन हो रहीं सध जायगी । अतः साध्यकोटिमें सामान्य विशेष करणते अधिष्ठितपना जैसे कियाओंमें कियात्व हेत्रसे साधा जाता है उसी प्रकार करण आदि पक्षमें कर्तसामान्य विशेषसे अधिष्ठितपनको करण आदि पन हेत् करके हम वैशेषिक साध रहे हैं।

यथा वा लौकिकपरीक्षकपित्तं धूमादम्त्यनुमाने सामान्यविशेषः साध्यते तथात्रापी-त्यद्षणमेव, अन्यथा सर्वानुमानोच्छेदप्रसंगादिति मन्यमानस्यापि सोपि कर्तृसामान्यविशेषः प्रसिद्धात्विछकर्तृच्यक्तिच्यापी कश्चित् सिध्यति न पुनिरष्टिविशेषच्यापी । न सप्तसिद्धाग्नि सामान्यं केनचित्साध्यते देशकालविशेषाविष्ठशाग्निच्यक्तिनिष्ठितस्यैव तस्य साधियतुं शक्यत्वादन्यथा नित्यसर्वगतामृत्तीग्निसाधनस्यापि प्रसंगात् ।

वैशेषिक ही कहें जा रहे हैं कि अकेल सामान्य या अकेल विशेषको साध्यकोटिमें न घर कर सामान्य विशेष दोनोंको सामान्यरूपसे निविष्ट करनेका एक दृष्टान्त यह भी है कि जिस प्रकार धूमद्वारा हुये अक्रिके लीकिक या परीक्षक पुरुषोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे अनुमानमें सामान्यिवशेषको ही साथा जाता है। तिश्री प्रकार हमारे '' करणादीनि कर्त्रचिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वात् '' इस अनुमानमें भी यों सामान्य विशेषको साध्य करनेपर कोई भी दूषण नहीं आता है। अन्यथा सभी अनुमानों ते उच्छेदका प्रसंग हो जायगा। अर्थात् मन्दिमान् धूमात् इस प्रसिद्ध अनुमानमें यदि सामान्य

अमिको साध्य किया जाय तब तो सिद्धसाधन दोष है। क्योंकि अमिसामान्य तो पहिलेसे ही सिद्ध 🕏 व्यक्तिकानकारा अग्निसामान्य जाना जा चुका है। यहां यदि अग्निविशेषको साधा जायगा तो 🗝 महा-नसमें पर्वतीय पत्ते सम्बन्धी या वांस सम्बन्धी अग्निके नहीं होनेसे दृष्टान्त साध्यविकछ हो जायगा विशेष अभिको साध्य करनेपर हेतु व्यभिचारी भी हो जाता है। जैनोंके दोष उठानेका यही ढंग रहा तो सभी अनुमानोंका जगत्से उच्छेर हो जायगा चार्वाकमत फैल जायगा । अतः सामान्यविशेषको साम्यकोटिमें धरकर इमारा अनुमान है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मान रहे वैशेषिकके यहां भी वह कत्तीका सामान्य विशेष भी प्रसिद्ध हो रहीं सम्पूर्ण कर्त्ता व्यक्तियोंमें व्यापक हो रहा ही कोई सिद्ध हो जायगा । किन्त फिर तम्हारे घरमें ही अभीष्ट हो रहे अप्रसिद्ध विशेष कर्तांन्यक्तिमें म्यापक मान छिया गया तो नहीं सिद्ध हो सकता है । जैसे कि नीव, बबूछ, अमरूद, वट, आदि प्रासिद्ध विशेष व्यक्तियोंमें वर्त रहा वृक्षत्व नामका सामान्य विशेष तो मानने योग्य है। किन्तु घोडा, पढरा. जुता, टोपी, खाट, दीपक, आदि प्रसिद्ध व्यक्तियोंमें या खरविषाण आदि अप्रसिद्ध व्यक्तियोंमें कक्षत्व नामका सामान्यविदेश नहीं साधा जा सकता है। अप्रसिद्ध हो रही। अग्नियोंमें ठहर रहा मान किया गया अग्निसामान्य तो किसी भी विचारशील विद्वान् करके नहीं साधा जाता है अन्यया शीतल, नीरूप. अदाहकं अग्निकी भी धूमहेतुसे सिद्धि बन बैठेगी । किन्तु देशविशेष या कालविशेष अथवा आकारविशेषोंसे परिमित हो रहीं प्रसिद्ध अग्निन्यक्तियोंमें निष्टित हो रहे ही उस अग्निसमान्यविशेष का साधन किया जा सकता है। अन्यथा यानी अप्रसिद्ध अछीक, अग्निके सामान्यविशेषको यदि साधा जायगा तो नित्य, व्यापक, अमूर्त, गुरु, अग्निके क्षिद्ध हो जानेका भी प्रक्षंग होगा। द्रव्यत्व या सत्ताकी अपेक्षा अफ़्रिय धर्म उनका न्याप्य हो रहा विशेष है और सम्पूर्ण अफ्रिन्यक्तियोंकी अपेक्षा अफ़्रिय जाति व्यापक हो रही सामान्य है इसी प्रकार द्रव्यत्वकी अपेक्षा तो विशेष हो रहा और आम्र. अम-रूद आदि प्रसिद्ध व्यक्तियोंकी अपेक्षा सामान्य हो रहा वृक्षत्व धर्म भी सामान्यविशेष है ऐसे वृक्षत्व या अफ्रिलको तो साध्य बना लिया जाता है। किन्तु अशरीर, न्यापक, नित्य, सर्वज्ञ, हो रहा कोई कत्तीविशेष अद्यापि प्रसिद्ध नहीं है। अतः कर्त्ता सामान्यविशेषको साध्य करनेपर भी करणादिपन हेतसे सहारीर, अन्यापक, अल्पइ कर्त्ताओंसे अधिष्ठितपना सिद्ध हो सकता है अन्य तुम्हारा इष्ट विशेष हो रहा कोई ईस्वर नहीं सध पाता है।

तथा रूपोपलक्ष्यादीनामपि कियात्वेन शसिद्धकरणव्यक्तिन्यापिकरणसामान्यविश्वेषपूर्वकत्वमेव साभ्यते नामसिद्धकरणव्यापि । व्यक्तिर्हि कचिन्मृतिमती दृष्टा यथा दात्रादिछिदिकियायां, कचिदमृती यथा विश्वेषणझानादिर्विश्वेष्यझानादी। तत्र रूपोपलक्ष्यादी करणसामान्यं
कुतिश्वित्सिष्यति तदुपादानसामर्थ्ये सिष्येत् तद्द्रव्यकरणं मूर्तिमत्युद्रलपरिणामात्मकत्याद्भावकरणं पुनरमूर्तमपि तस्यात्मपरिणामत्वादिति तस्य क्रियाविश्वेषात् मसिद्धस्य संझाविश्वेषमात्रं
कियते चश्चः स्पर्शनं रसनमित्यादि । ततो भवतीष्टिसिद्धिस्तावन्यात्रस्येष्ट्त्वात् ।

तिंसी प्रकार रूपोपवन्धि, रसञ्चति, आदि कियाओं के भी कियापन हेतुकरके प्रसिद्ध हो रहीं करण व्यक्तियोंमें व्याप रहे करण-सामान्यविशेष नामक करण द्वारा जन्यपना साधा जा सकता है। अप्रसिद्ध हो रहीं करणव्यक्तियोंने व्याप रहे करणत्व नामक सामान्यविशेषसे जन्यपना नहीं साधा जा सकता है। अन्यथा रूपोपछन्धिमें आकाश, परमाणु, पिशाच, आदिको भी करणपना बन बैठेगा अपने अपने गृहमन्तन्य अनुसार चाहे जिसको करण बनानेकी ढपछी बजायी जा सकती है। हां. यह बात दूसरी है कि करणव्यक्तियोंमें कोई कोई व्यक्ति तो किसी क्रियामें व्यापार कर रही भूर्तिमती देखी गयी है। जैसे कि छेदन, भेदन, आदि क्रियाओं में दांतुआ, आरा, छोढा आदि करण मूर्त हैं। और कोई कोई करण किसी किसी कियाके करनेमें अमूर्त हैं। जैसे कि विशेषणज्ञान, व्यातिज्ञान. साद्भयद्वान, आदिक उन विशेष्यद्वान, अनुमितिद्वान, उपमिति आदि क्रियाओंके साधनेमें अमूर्त करण 🍍 । किन्तु ये सब करणब्यक्तियां प्रमाणरूपसे सिद्ध हैं । तुम्हारे ईश्वरके समान कोई भी मूर्त या अमूर्त करण मळा प्रमाणोंसे असिद्ध नहीं है। हमारे जैनसिद्धान्त अनुसार उस रूपोपळिंश आदिमें किसी भी अविनाभावी हेत्रसे जो करणसामान्य सिद्ध हो सकता है। वह उपादानकारणकी सामर्थ्य ही सिद्ध होगी। ज्ञान, घट, आदि पर्यार्थे सभी अपने उपादान कारणोंकी शक्तियोंको करण पाकर उप-जती हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार पांचों इन्द्रियां और मन बाह्यनिर्वृत्तिरूप ही इन्द्रियपने करके निर्णित किये गये हैं। इन्द्रियपर्यापि नामक पुरुषार्थ बाह्य निर्वृत्तिको बनाता है। अतः ये छहों बाह्य निर्कृतियां अतीन्द्रिय हो रहीं पुद्गलकी पर्याय हैं । आप वैशोषिक भी निकटवर्ती (लगभग) इसी मार्गका अनुसरण कर रहे हैं। स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन चारों गुणोंमेंसे एक, दोनों, तीनों, चारों गुणोंको धार रहीं क्रमसे स्पर्शन, चक्षु, रसना, ब्राण इन्द्रियां मानी गयीं हैं। हां, कान इन्द्रि-यको आकाश और मनको नित्य, अमूर्त, द्रव्य तुमने मान रक्खा है। अस्तु इस मान्यतामें आयी हुयी आपत्तिर्योको तुम्ही मोगोगे । प्रकरणमें यह कहना है कि रूपकी उपलन्ति आदिमें करण हो रहीं वे द्रव्य इन्द्रियां मूर्तिमान् पुद्रल द्रव्यकी पर्यायस्वरूप होनेसे द्रव्य करण हैं। अतः रूप आदिकी उप-ळिन्धिमें ये मूर्त करण हैं । हां, विशिष्ट क्षयोपशमकी ळिन्धि और रूपक्कान ये मावकरण तो फिर अमूर्त भी हैं । क्योंकि वे अमूर्त आत्माके परिणाम हैं। यहां बन्धकी अपेक्षा संसारी आत्माके अमूर्तपनकी विवक्षा नहीं की गयी है। इस प्रकार किया विशेषोंसे अनुमान प्रमाण द्वारा प्रसिद्ध हो रहे करणोंकी चक्कः, स्पर्शन, रसना, इत्यादिक केवळ विशेष संज्ञायें कर ली जाती हैं। द्रव्यकरणस्वरूप चक्षुः मूर्त है। और भावकरणस्वरूप चक्ष अमूर्त है। अतः " रूपोपलन्धः करणकार्या क्रियात्वात् छिदिकिया-वत् '' इस अनुमान द्वारा जो करणसामान्य की सिद्धि की गयी है वह करणत्व सामान्यविशेष तो लीकिक या परीक्षकोंके यहां प्रासिद्ध होरहे मूर्त या अमूर्त करणोंमें प्रतिष्ठित हैं उस ढंग करके हेत या सान्यसे आकित होरहे अनुमान द्वारा हमारे इष्टसाध्य की सिद्धि होजाती है। क्योंकि केवल उतनाही सामान्य करणोंसे जन्यपनकी लिक्टि करना अभीष्ट होरहा है किन्तु तुम्हारा ईन्वर विशेष तो कोई कर्ता

व्यक्ति प्रासिद्ध नहीं है। अतः व्याप्ति या दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे उस तुम्हारे मनमानी कर्त्तासे अधिष्ठित-पना करण आदि पक्षमें नहीं सध पाता है।

नतु च ययात्मिन रूपोपछन्ध्यादिकियापुपछभ्य तस्यैव तत्र व्याप्रियमाणस्य स्वतंत्रस्य कर्तुः करणं चश्चरादि सिद्धचित, तथा जगित करणादिसाधनप्रपछभ्य तस्यैव करणादीनां कर्त्र-िषिष्ठितत्वं सिद्धचतीति सकक्षजगत्करणाद्यिष्ठायीश्वर इति संज्ञायमानः कथिमेष्ठो न सिध्येत् ताबन्मात्रस्य मयापीष्टत्वादिति पराकृतमनूद्य निराकरोति ।

वैशेषिक अपने पक्षको पृष्ट करनेके लिये पुनः अनुमान करते हैं कि जिस प्रकार आत्मामें होरही रूपकी उपलब्धि, रसकी प्रतीति, आदि कियाओंको देखकर उन कियाओंमें ब्यापार कर रहे स्वतंत्र कर्ता उस आत्माके ही सहकारी करण चक्षुः आदिक साध लिये जाते हैं। उसी प्रकार जगन्तमें करण, अधिकरण, आदि साधनोंको देखकर उस जगन्तके ही करण आदिकोंका कर्त्तासे अधिष्ठितपना सध जाता है। अर्थात्—आत्मा कर्त्ताके अनुरूप जैसे चक्षु आदिक इन्द्रियां सिद्ध होती हैं। उसी प्रकार जगन्तके निर्मापक करणोंके अनुरूप ही कोई कर्ता उनका अधिष्ठायक हो सकता है। इस प्रकार जगन्तके सम्पूर्ण करण, अधिकरण, आदिका अधिष्ठाता जो कि ईश्वर इस नाम करके कहा जा रहा है वह इष्ट भट्टा क्यों नहीं सिद्ध होगा ? क्योंकि हमको भी केवळ उतना है। ईश्वरका अधिष्ठातापन इष्ट है। जैसे कि तुमको रूपकी उपलब्धिमें आत्माका प्रेरक सहकारी करण इष्ट था। जिस प्रकार आप जैन चक्षुः आदि परोक्षकरणोंकी अपने अनुमानसे सिद्धि करते हुये उन करणोंकी चक्षुः, रसना, आदि संज्ञार्ये धर छेते हैं उसी प्रकार हम वैशेषिक भी जगन्तके अधिष्ठाता कर्त्ताको केवळ साध रहे उसका नाम निर्देश ईश्वर कर छेते हैं। यहांतक वैशेषिक कह रहे हैं अब यों दूसरे वैशेषिकोंके चेष्टितका अनुवाद कर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिकोंकरके उस आकृतका निराकरण करते हैं।

सिद्धे कर्तिर निःशेषकारकाणां प्रयोक्तरि । हेतुः सामर्थ्यतः सिद्धः स चेदिष्टो महेश्वरः ॥ ६३॥ नैवं प्रयोक्तुरेकस्य कारकाणामसिद्धितः । नानाप्रयोक्तुकत्वस्य कचिद्दष्टेरसंशयं ॥ ६४॥

सम्पूर्ण कारकोंके यथा विनियोग प्रयोग करनेवाले कर्त्तांके सिद्ध होनेपर सामर्थ्यसे ही कोई न कोई हेतु यानी निमित्त कारण कर्त्ता व्यापक सर्वज्ञ सिद्ध हो ही जाता है। सम्पूर्ण जगत्के कार-कोंका ठीक ठीक यथा स्थान यथा समय प्रवन्ध करनेवाला विशिष्ट आत्मा ही होना चाहिये और वह हमारे यहां ईस्वर इष्ट किया गया है। यो वैशेषिकोंका मत होनेपर आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिय क्योंकि सम्पूर्ण कारकोंका प्रयोक्ता एक ही होय इस निर्णयकी सिद्धि नहीं हो सकती है। कहीं कहीं अनेक कारणोंका नाना प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त किया जाना निःसंशय देखा जा रहा है। एक विवाहरूप कार्यमें अनेक नियोगी (नेगी) खतंत्र न्यारे न्यारे कार्योंके प्रयोजक हैं। जगत्में सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, ये सब अपने अपने उचित कार्योंके विधाता हैं इनको किसी प्रयोक्ताकी आवश्यकता नहीं है। बारह थम्भोंपर छदी हुई शिखरको सभी धम्मे खतंत्रतासे धार रहे हैं इस क्रियाका कोई चेतन अधिष्ठाता प्रयोजक नहीं है। वनमें पडे हुये अनेक बीज अपने अपने न्यारे न्यारे अंकुरोंको उपजा रहे हैं। क्षुधाको अन दूर कर देता है। प्यासको जछ मेट देता है अग्नि काष्टको जला देती है वायु पत्तोंको हिछा रही है। आकाशमें शब्द गूंज रहा है इत्यादि अनेक कार्योंका कोई एक मुखिया प्रयोक्ता नहीं देखा जाता है।

न हि करणादित्वस्य हेतोरेककर्तृत्वं सायर्थ्य येन तती निःश्चेषकारकाणामेक एव भयोक्ता खेष्टो महेश्वरः सिध्येत्। कवित्वासादादी करणादीनां नानाप्रयोक्तृकत्वस्याप्यसंदेह-ग्रुपछन्धेः। नतु प्राधान्येन चात्रापि तेषामेक एव प्रयोक्ता सूत्रकारो महत्तरो राजा वा, ग्रुणभावेन तु नानाप्रयोक्तृकत्वं जगत्करणादीनामपि न निवार्यत एव, ततः प्रधानभूतो अमीषामेक एव प्रयोक्तेश्वर इति चेत् न, प्रधानभूतानामपि समानकुछवित्तपीकषत्यागाभि-मानानां कविकागरादी करणादिषु नाना प्रयोक्तृणामुपछंभात्।

तुम वैशेषिकों के कहे गये करणादित्व हेतु की एक ही कर्तासे अधिष्ठतपनको साधनेमें सामर्थ्य नहीं है जिससे कि उस हेतुसे सम्पूर्ण कारकों का एक प्रयोक्ता तुम्हारे यहां निज अभीष्ठ हो रहा महेश्वर सिद्ध हो जाता। अर्थात्—तुम्हारा असमर्थ हेतु तुम्हारे अभीष्ठ साध्यका साधक नहीं है। क्यों कि प्राप्ताद, कोठी, पंचायत, मार्गगमन, पंक्तिभोजन, आदि कार्योमें करण, अधिकरण आदि हो रहे पदार्थोका अनेक प्रयोक्ताओं हारा प्रयुक्त होना भी संदेहरहित देखा जाता है। हवेलीके न्यारे न्यारे मार्गोकों कितपय स्थपित स्वाधीन होकर कर रहे हैं। कई महलोंको तो अनेक पीडियोंमें कितपय धनपतियोंने बनवाया है। महलके कार्मोंसे होनेवाले कार्योको खहार बनाना है। पत्थरका काम करने वाले छहार या बढईपर प्रमुख नहीं जमा पाते हैं, अजमेरमें एक महल सेठोंकी चार पीडीसे बन रहा है, ऐसी दशामें उसका अधिष्ठायक एक आत्मा कैसे कहा जासकता है! यदि वैशेषिक पुनः अनुज्ञा करें कि यहां कोठी आदिमें भी प्रधानपनेसे उन कार्योक्ता प्रयोक्ता बडा महान् प्रतिष्ठित पुरुष अथवा राजा एक ही प्रयोक्ता है हां गीण रूपसे तो वे कार्य अनेक प्रयोक्ता के प्रयक्त किये गये हैं। इसी प्रकार जगत्वेक करण, अधिकरण, आदिकोंके भी गीण-रूपसे मले ही अनेक प्रयोक्ता होजांय हम उनको नहीं रोकते हैं। हां प्रधान प्रयोक्ता एक ही सबका

होना चाहिये। तिस कारण उन जगत्के निक्शेष कारणोंका प्रधानभूत प्रयोक्ता एक ही ईस्वर है यों कहनेपर तो प्रमथकार कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि प्रधान होचुके भी समान कुळवाळे, समान धनवाळे, समान पुरुषार्धवाळे, समान त्यागवाळे, समान अभिमानवाळे, अनेक प्रयोक्ताओंका कहीं नगर आदिमें अथवा करण आदिमें प्रयोजकपनसे दीखना होरहा है। अर्थात्—एक नगर कई स्वतंत्र जमीदार या उद्भट पण्डित अन्यानधीन होकर निवास करते हैं। समान कुळवाळे कई कुळीन पुरुष स्वतंत्रतया बस रहे हैं कई सेठ, अनेक मळ, बहुतसे दानवीर, नाना अभिमानी स्वतंत्र होकर सुखपूर्वक निवास करते हैं। करण, अधिकरण आदिकोंमें अनेक स्थळोंपर स्वतंत्रता देखी जाती है "मुनयो ध्यानं विद्यति, मज्यते बृक्षः शाखाभारेण, अभे विद्योतते विद्युत्, परोपकाराय सता विभूतिः, बृक्षात् पर्ण पतित, सूर्यस्याळोकः "इन कार्योमें किसी अधिष्ठाताकी आवश्यकता नहीं है। वनमें अनेक पक्षी या पपूज स्वापत निवास करते हैं। समुद्रमें अनेक जळचर जीव या प्रवाळ, मुक्ता आदि स्वतंत्र उपज रहे हैं। साध्यायशाळामें अनेक सज्जन मनमाने प्रन्योका स्वाध्याय कर रहे हैं। हाटमें अनेक केता विकेता अपने प्रयोजनको साध रहे हैं। अपनी उदराग्रिसे सभी प्राणी अपने अपने मोक्यको पचा रहे हैं। धार्मिक गृहस्य अपने कर्तव्योमें प्रवर्त रहे हैं। मुनिजन दिनरात स्वतंत्रतया आत्महितमें छग रहे हैं उपाध्यायमहाराज पढ़ानेमें छवळान हैं। अपने अपने कर्तव्य अनुसार सभी जीव पुण्य या पापोंका उपार्जन कर रहे हैं। अतः सबके अधिष्ठायक एक प्रयोक्ताकी सिद्धि नहीं हो पाती है।

तेषामपि राजाचार्यादिर्वा प्रयोक्तिक एवति चेत्, तस्यापि राक्नोन्यो पद्दाराजः प्रधानः प्रयोक्ता तस्याप्यपरः ततो मद्दानिति कव नाम प्रधानप्रयोक्ततः व्यवतिष्ठेत । मद्देश्वर एवति चेक्न, तस्यापि प्रधानापराधिष्ठापकपरिकल्पनायामनवस्थानस्य दुर्निवारत्वात् । सुद्रपपि गत्वा व्यवस्थितिनिमित्ताभावाक ।

यदि वैशेषिक यें। कहें कि उन समान कुछवाछे, समान धनवाछे आदि या कुम्हार, छुहार, आदि नाना प्रयोक्ताओंका भी अन्तमें जाकर प्रयोक्ता हो रहा राजा अथवा गृहस्थाचार्य, जमीदार, प्रधान प्रवन्धकर्त्ता, स्यपित, आदि एक ही प्रयोक्ता है। यों कहनेपर तो प्रन्थकार कहते हैं कि उस राजाका भी प्रधान प्रयोक्ता अन्य महाराजा होगा और उसका भी उपरिवर्ती प्रयोक्ता कोई तीसरा उससे बढ़ा मण्डलेश्वर होगा और उससे भी बढ़ा अधिकारी महामण्डलेश्वर उसका प्रयोक्ता होगा इस प्रकार चक्रवर्ती आदिके प्रधान प्रयोक्तापनकी मला कहां आगे चलते चलते विश्वाम लेनेकी व्यवस्था की जावेगी ? अनवस्था दोष होगा। यदि तुम वैशेषिक यों कहो कि परिशेष जाकर सबका अंतिम प्रयोक्ता हमारा अभीष्ट महेश्वर ही है। आचार्य कहते हैं कि उस महेश्वरके भी प्रधान हो रहे उपरिवर्ती उत्तरोत्तर अधिष्ठायक महामहेश्वर आदिकी लम्बी चौडी कल्पना करते सन्ते अनवस्था दोषका निवारण कठिनतासे भी नहीं हो सकता है और बहुत दूर भी जाकर तुम वैशेषिकोंके पास व्यवस्था कर देनेका कोई परिनिष्टत निमित्त नहीं है।

स्यान्यतं, नेन्यरस्यान्योऽधिष्ठाता श्रष्टः सर्वज्ञत्वादनादिश्चिद्धियेभवभाक्ताच । यस्य त्यन्योऽधिष्ठाता श्रष्टः स न सर्वज्ञोऽनादिश्चिद्धियेभवभाषा यथा विष्टिकर्मकरादिः न च तथेन्यर-स्तस्याच तस्यान्योऽधिष्ठाता श्रष्टिरित । नात्र धर्मिणोऽसिद्धिरित्वक्रजगत्करणादीनां प्रयोक्त्यस्तस्य सर्वज्ञत्वमंतरेण समस्तकारकप्रयोक्तत्त्वस्यानुमान्तिद्धत्वात्, नापि हेत्रसिद्धस्तस्य सर्वज्ञत्वमंतरेण समस्तकारकप्रयोक्तत्त्वस्यानुमान्तिद्धत्वात् , नापि हेत्रसिद्धस्तस्य सर्वज्ञत्वमंतरेण समस्तकारकप्रयोक्तत्त्वस्यानुमान्तिद्धस्यान्तिदेशद्धिविभवाभाव चाऽश्वरीरस्य सर्वज्ञत्वस्य हेतो स्वेद्ध्यभिचारात् । तेषां हि सर्वज्ञत्वस्यक्षेत्रस्यामाद्यम् वाधिष्ठितत्वं महेन्यरस्यानादेरिष्ठिष्ठापकस्य तेषामादिमतं स्वय-मन्युपगमात् , तद्वनभ्युपगमे अपसिद्धांतप्रसंगात् । तथानादिश्चद्धिवेभवयप्याकाक्षेनानेकातिकं, तस्य जगतुस्त्रको वाधिकरणस्य महेन्यराधिष्ठितत्वोषगमात् ।

यदि तम वैद्यापिकोंका यह भी मन्तन्य होय कि ईखरका पुनः कोई अन्य अधिष्ठाता प्रमु नहीं है ( प्रतिक्षा ) सर्वेञ्च होनेसे ( प्रथम हेतु ) अनादि कालीन ग्राहियोंके वैभवका धारण करनेवाला होनेसे (दितीय हेतु) देखो जिस अधिष्ठित व्यक्तिका अधिष्ठाता अन्य प्रभु हुआ करता है वह पदार्थ सर्वज्ञ नहीं है और अनादि कालीन शुद्धिके वैभवको धारनेवाला भी नहीं है जैसे कि पीनस या बोली, पालकिक ढोनेकी क्रियाको करने वाले धीमर या कारागृह (जेल्खामा हवालात) आदिमें बलात्कारसे ठेल देनेकी कियाको करनेवाले चपरासी आदि पुरुष है। अर्थात-पीनसको दोने वाले धीवर भीतर बैठे हुये वैद्य, प्रमु, ( मालिक ) महारानी आदि अन्य अधिष्ठाताओंके अधीन होकर च्छ रहे हैं। न्यायकर्ता अधिकारी ( अफसर ) की आहा अनुसार सिपाई उन अपराधियोंको कारा-गृहमें खींच छेजाता है। ये सेवक जन विचारे सर्वज्ञ अथवा अनादि शुद्ध तो नहीं हैं । " साध्याभावे साधनाभावः '' ( व्यतिरेक द्रष्टान्त ) और उस प्रकारका अर्धवज्ञ या सादि शुद्ध अथवा अनावशुद्ध हमारा ईस्वर नहीं है ( उपनय ) तिस कारणसे उस ईस्वरका कोई अन्य प्रभु अधिष्ठाता नहीं है । ( निगमन ) । इस अनुमानमें कहे गये ईस्वर नामक धर्मीकी असिद्धि नहीं है जिससे कि मेरा हेतु आश्रयासित हो जाता क्योंकि जगत्के सम्पूर्ण करण, अधिकरण, सहकारीकारण, क्रिया आदिकोंका प्रयोग करनेवाछे उस ईसरकी अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्धि हो चुकी है ऐसे प्रसिद्ध ईस्वरमें अन्य अधिष्ठाताकी अधीनताका अभाव साधा जा रहा है तथा इस अनुमानमें कहा गया सर्वज्ञ होते हुये अनादि सिंह होना एक हेत् अथवा सर्वहल और अनादिशुद्धल ये दोनों हेतु स्वरूपासिद्ध हेलाभास भी नहीं हैं क्योंकि अनुमानसे सिद्ध हो रहे उस ईवरको सर्वक्रत्यके विना समस्त कारकोंका प्रकेकापम नहीं बन बाता है और अनादिकाछसे द्वाहिका वैभव नहीं माननेपर उस अशरीर, देशरके सर्वक्रपना नहीं आ सकता है। जैसे कि सादि ग्रद मुक्त आत्माके अशरीर होनेपर भी सर्वेह्रपनका योग नहीं है। कतियय पौराजिकोंके विचार अनुसार मान लिया गया वह ईश्वर हारीर- सहित तो नहीं है क्योंकि उस व्यापक ईश्वरके शरीरोंका प्रतिपादक कोई प्रमाण नहीं है " न तस्य मूर्तिः " ऐसा भी कचित् छिखा है अवतारोंपर अखण्ड श्रद्धा करानेवाले पुराणवाक्योंने अवाधित प्रामाण्य नहीं है । यहांतक कोई बृद्ध वैशेषिक कह रहे हैं प्रन्थकार कहते हैं कि उनक वह मन्तव्य भी सत्यार्थ नहीं है क्योंकि पहिले सर्वज्ञपन हेतुका रुद्रों करके व्यभिचार हो जायगा " मीमाविल जिदसच् रुद विसालणयण सुष्पदिष्ठ चला, तो पुंडरीय अजिदंघर जिदणाभीय पीर सम्बद्भजो '' ये ग्यारह रुद्र जैनोंके यहां माने गये हैं तुम पौराणिकोंके यहां भी " अस्त्रैकपाट हिर्बुच्नो विरूपाक्षः, सुरैश्वरः, जयन्तो बहुरूपश्च त्र्यम्बकोऽथापराजितः वैवस्वतश्च सावित्रो हरो रुद्धाः " यों ग्यारह रुद्र माने गये हैं कतिपय रुद्र माने गये होंय उनका नियमसे सर्वेद्धपना भी इष्ट किया गय है। किन्त योगी अथवा शक्ति नामक अन्य देवता करके अधिष्ठितपना स्वीकार किया है उन रुहोंक अधिष्ठापक एक अनादि कालीन महेक्त्रको तुमने आदिमें ही माना है। यों स्वयं स्वीकार कर छेनेसे हेत सर्वज्ञत्वके रहनेपर और साध्य अन्यानधिष्ठितत्वके नहीं ठहरनेसे व्यभिचार दोष आया। यदि रुद्रोंबे भी अन्य अधिष्ठापकोंकी स्वीकृतिके उस सिद्धान्तको नहीं अंगीकार करोगे तो तुम्हारे उत्पर अपिस द्धान्त यानी अपने सिद्धान्तसे स्विलित हो जाना दोषके लग जानेका प्रसंग हो जायगा तथा तुम्हार दसरा हेतु अनादि कालीन राद्धिका बैभव भी आकाश करके अनैकान्तिक हेत्वाभास है। अनादि काल्से शह हो रहा वह आकाश जगतकी उत्पत्तिमें अधिकरण कारक हो रहा है। साथमें उसक महेश्वरसे अधिष्ठितपना भी स्त्रीकार किया गया है। अतः हेतुके रह जानेपर और घ्रद्ध आकारारे अन्यानधिष्ठितत्व साध्यके नहीं ठहरनेपर व्यभिचार दोष जम बैठा ।

किं च, यदि प्राधान्येन समस्तकारकप्रयोकतृत्वादीश्वरस्य सर्वक्रत्वं साध्यते सर्वक्रत्वाच्य्याक्त्रन्तरित्रपेक्षं समस्तकारकप्रयोकतृत्वं प्रधानभावेन तदा परस्पराश्रयो दोषः कृतो निवार्षेत ? साधनांतरात्तस्य सर्वक्रत्वसिद्धिरिति चेन्न, तस्यानुमानेन बाधितविषयत्वेनागमकत्वात् तथाहि—नेश्वरोऽशंषार्थवेदी दृष्टेष्टविरुद्धाभिधायित्वात् बुद्धादिवदित्यनुमानेन तत्सर्वक्रत्वावषोः धकमित्वल्पनुमानमभिधीयमानमेकांतवादिभिरभिद्दन्यते, स्याद्वादिन एव सर्वक्रत्वोपपत्तेः युक्तिः शास्त्राविरोधिवाक्त्वा।दित्यन्यत्र निवेदितं । ततो नाशेषकार्याणामुत्पत्तौ कारकाणामेकः प्रयोक्ता प्राधान्येनापि सिध्यतीति परेषां नेष्टसिद्धिः ।

दूसरी बात यह भी है कि तुम वैशोषिक यदि प्रधानतासे सम्पूर्ण कारकोंका प्रयोक्ता होनेसे ईस्वरको सर्वज्ञपना सावते हो और सर्वज्ञ होनेसे ईस्वरको अन्य उपरिम प्रयोक्ताओंकी नहीं अपेक्षा रख कर प्रधानता करके समस्त कारकोंके प्रयोक्तापनको सावते हो तब तो यह परस्पराश्रय दोष किससे हटाया जा सकता है ! अर्थात्—तुम्हारे ऊपर अन्योन्याश्रय दोष अटल होकर लग बैठा । यदि तुम वैशोषिक यों कहो कि हम अन्य हेतुओंसे उस ईस्वरके सर्वज्ञपनकी सिद्धि करलेंगे । " ईस्वर: सर्वज्ञः

अनुपायसिद्धत्वात् '' ' ईत्वरः सर्वज्ञः सदा कर्ममळैरस्पृष्टत्वात् '' मुक्त आत्माको न्यतिरेक द्रधान्त बनाया जा सकता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि वैशेषिकोंके उन हेतुओंके साध्य विषयकी इस वस्थमाण अनुमान करके बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः वे हेतु ईश्वरमें सर्वज्ञत्वकी अनुमिति करानेवाले नहीं हैं । उसको यों स्पष्ट रूपसे समझियेगा कि ईश्वर (पक्ष) सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञाता नहीं है । ( साध्य ) दृष्ट प्रमाण यानी प्रत्यक्षप्रमाण और इष्ट यानी अनुमान आदि प्रमाणोंसे विरुद्ध हो रहे पदार्थीका कथन करनेवाला होनेसे (हेतु ) जैसे कि बुद्ध, कपिल, अल्लाह आदिक आत्मार्ये सर्वज्ञ नहीं हैं । ( अन्वय दृष्टान्त ) । इस अनुमान करके ईश्वरके सर्वज्ञत्वका प्रतिपादक हेतु बाधित हेलाभास हो जाता है। भावार्थ-बौद्ध विद्वान् अहिंसाका प्रतिपादन करते हुये भी कचित् मांस मक्षणको परिहार्य नहीं समझते हैं । कुरानमें कई स्थळोंपर दयाका विधान पाया जाता है फिर भी मियां छोग इष्ट देवताके नामपर जीवित पशुको संकल्प कर मारते हुए स्वच्छंदतया मांसमक्षण करते हैं। शक्तिदेवताकी उपासना करनेवाले शाक्तजन स्वच्छंदरूपसे देवताके नैत्रेय मय. मांसका सेवन करते हैं। वदेमें " मा हिंस्याः सर्वाभूतानि " ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। यजुर्वेदके छत्तीसर्वे अच्यायका अठारहवां मंत्र है कि दतेद 🔭 हमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे '' इस मंत्रद्वारा सम्पूर्ण जीवोंको परस्परमें अहिंसाभाव, मित्रभाव, अदोहपरिणाम और प्रेमन्यवहार रखना पृष्ट किया गया है। सम्पूर्ण जीव मुझे मित्रके समान देखें और मैं सबको मित्रके समान देखें । मित्र अपने दूसरे परमभित्रको कथमपि नहीं मारता है यह भछे प्रकार समझा दिया है। किन्तु पम्द्रहवें अध्यायका पन्द्रहवां मंत्र है कि " अयं पुरो इरिकेश: सूर्यरिमस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीप्रामण्यौ । पुन्जिकस्थला च ऋतुस्यल। चाप्तरसी दङ्क्णवः पशत्रो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽनन्तु ते नो मृडयन्तु तेयं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तेमेषां जम्मे दघ्मः " इस मंत्रद्वारा हिंसाभाव तथा अप्रीतिभाव प्रकट किया है। इसी प्रकार सोल्ड्वें, सत्रह्वें, अठारह्वें, आदि मंत्रोंमें भी हिंसाभाव तथा अप्रीतिभावकी पृष्टि की है इक्कीसर्वे अध्यायके साठवें मंत्रमें हिंसाको ध्वनित किया है वह मंत्र इस प्रकार है कि '' सुमस्था अच देवो वनस्पतिरभैवदश्विभ्यां द्वयेन सरस्वरयै, मेषेणेन्द्राय, ऋषभेणाश्वास्तान्मेदस्तः प्रति पत्रतामृभीषतावी वृधन्त पुरोडाशैरपुरश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान् '' पश्चीसर्वे अध्यायके द्वितीय मंत्रका ऐसा ही हिंसापोषक अभिप्राय है " वातं प्राणेनापानेन नासिके उपयाममधरेणीष्ठेन सदुत्तरेण प्रकाशेनान्त-रमन्काशेन बाह्यं निवेष्यं मूर्जास्तनयित्तुं निर्वोधेन शनिं मस्तिष्केण विद्युतं कनीनकाम्यां कर्णाम्या 🦺 🖰 श्रोत्र श्रोत्राम्यां कर्णो तेदनीमधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तं मन्याभिः रदिति ী 🌓 शीष्णी निर्मतिं निर्जल्पेन शीर्ष्णा सक्रोशैः प्राणान् रेष्माण ी स्तुयेन '' इसके आगे भा कई मंत्रोंमें यक्क्सन्बन्धी हिंसाभावको वैध बताया गया है। अधर्ववेदमें मी हिंसाकी मरमार है।

<sup>44</sup> न मांसम्बंगि दोषों न सबे न च मैथुने " ऐसे मतुस्मृतिके वाक्य मिळते हैं । गृहासूत्र नासका प्राचकी बही दशा है । क्वेचित् गोमेघा नरमेघतकका विधान किया गया है 👍 वेदमें असम्बद्ध या लम्बाजनक विषयोंकी भी कमी नहीं है । पत्नीसवां अध्याय सातवां मंत्र इस प्रकार है कि <sup>49</sup> पूर्वणं विनिश्चनात्वाहीनस्थूळगुदया समीन्गुदाभिविन्द्रत आन्त्रैरयो वस्तिना वृष्णमादास्यां वाजिन ী হাঁপুন प्रजा ी रेतसा चाषान्यित्तेन प्रदरान्यायुना कूश्माच्छकपिण्डैः '' आठमां तीना मंत्र भी ऐसाही घृणित है। वेदमें असम्बद्ध प्रकाप भी पर्यास है। युजुर्वेद अध्यक्ष्यें अध्याप " एका च मे तिस्रक्ष ये पञ्च च ये पञ्च च ये सप्तच ये स्पाच ये इत्यादि या चतक्क च ये उही च मे द्वादश च ये द्वादश इत्यादि इन चौबीस्त्रें पद्मीस्त्रें मंत्रोंमें एकसे आगे दो दो संख्या बढाकर अथवा चारसे आगे चार चार संख्या बढाकर न जाने कौनसे गम्भीर अर्थका प्रतिपादन किया गया है : इसके आगे **छन्त्रीस्वें. सत्ताईस्वें मंत्रमें भी गईणीय असंगत विषयका नंगा प्रदर्शन है । यजुर्वेदसे** सीस्वां अध्याय नीवा मंत्र " अञ्चल्य त्वा कृष्णः शका धूपयामि देवयजने पृथिव्याः । मरवाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्ष्णे । अञ्चस्य त्वा बृष्णः शक्ता धूपयमि देवयजते प्रथिव्याः । मखाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्ष्णे । मखाय त्वा मरबस्य त्वा शौर्णे मरवाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्षो । " द्वारा तीन महाबीरोंको तीन मंत्रों द्वारा असकी विद्या करके भूप देनेसे न जाने कौनसी शुद्धिका रहस्य निकाला गया है। इत्यादि । प्रकरणमें यह कड़ना है कि नैयायिक या वैदेशिक पण्डित वेटको ईवरका बनाया हुआ स्वीकार करते हैं। पीराणिक पण्डित स्पृति या पराणोंकी रचना वेद अनुसार हुई बतलाते हैं। वेदके मंत्रभागसे उपनिषदें ( ज्ञान-काण्ड ) और बाह्मणभागसे कर्मकाण्ड प्रकट हुये माने जाते हैं किन्त '' अणोरणीयान महतो मही-यान " के समान उक्त शाखों में हिंसा, अहिंसा, मांसमक्षण मांसनिषेत्र, यह करना, व्यासी उपासना करना. आदि दृष्ट इष्ट प्रमाणों द्वारा विरुद्ध होरहे विषयोंका निरूपण पाया जाता है तिस कारण उन एकान्तवादी पण्डित करके उस ईरवरके सर्वज्ञपनका प्रयोग कराने वाले जो सम्पर्ण अनुमान कहे जारहे हैं वे सम्पूर्ण अनुमान झान हम अनेकान्तवादी विद्वानोंके निर्दोष प्रमाणों करके वाधित करः दिये जाते हैं। ऐसी दशामें ईश्वरको जान बुशकर समस्त कारकोंका प्रधानरूपमें प्रयोक्तापन नहीं सिद्ध होसकता हैं। कारकोंका मरिकायक जीव ही कर्चा होय या ज्ञापक जीव ही कर्चा होवे यह दोनी एकान्त मत भूकोंसे भरे हुये हैं। वास्तविक बात तो यह है कि स्याद्यादियोंके यहां है। अईत परमेष्टीको सर्वज्ञपना बन सकता है क्योंकि उनके वचन युक्ति और शास्त्र प्रमाणोंसे अविरुद्ध हैं इस सिद्धान्तका हम अन्य प्रन्थोंमें निवेदन कर चुके हैं । विधानन्द महोदय प्रन्थमें निवेदन किया गया होगा जो कि मझ भाषा ठीका कारके दृष्टिगोचर नहीं दुआ है " स त्वमेवासि निर्दोषी युक्तिशास्त्राविरोधिवाकू । अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते " इस देवागम ( आतमीमांसा ) की कारिकाका व्याख्यान करते समय अष्टसहसीमें भी श्री विधानन्द स्वामीने उक्त सिद्धान्तको पुष्ट किया है तिस कारणसे सम्पूर्ण कार्योकी उत्पत्तिमें तत्पर होकर छग रहे कारकोंका कोई एक अरम प्रयोक्ता प्रधानपने करके भी सिह नहीं

होपाता है। इस कारण अन्य विद्वान् वैदेषिकोंके यहां अपने अभीष्ट ईस्वरकी सिद्धि कथमपि नहीं होपाती है उनके सभी हेतु दुषित होजाते हैं।

स्यान्यतं, नैकः त्रयोक्ता साध्यते तेषां नाप्यनेकः त्रयोक्तृसामान्यस्य साध्यितुमिष्टत्वा-दिति । तद्प्यसंगतमेव, तथा सिद्धसाधनामिधानात् । न दि प्रयोक्तृमात्रे समस्तकारकाणां विमतिषद्यामद्दे यस्य यदुपभाग्यं तत्कारकाणां तत्मयोक्तृत्वनियमनिश्चयात् ।

फिर वैशेषिकोंका प्रबुद्ध होकर यह मन्तन्य होय कि उन सम्पूर्ण कार्योका प्रयोक्ता एक बुद्धिमान नहीं साधा जाता है और अनेक भी बुद्धिमान निमित्तकारण नहीं साध जाते हैं किन्तु हम वैशेषिकोंको प्रयोक्ता सामान्यकी सिद्धि कर छेना अभीष्ट होरहा है। अर्थात् हम इस तात्पर्य पर पहुंचे हैं कि कारकोंका या कार्योक्ता स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा कोई प्रयोक्ता होना चाहिये इस पर प्रन्थकार कहते हैं कि वह वैशेषिकोंका मन्तन्य भी पूर्वापरसंगतिस शून्य है क्योंकि तिस प्रकार सामान्य प्रयोक्ताओंके साध्य करने पर हम जैन सत्रहवीं वार्तिक अथवा साठवीं वार्तिकोंके अनुसार सिद्धसाधन कह चुके हैं। जगत्के अनेक कार्योमें अदृष्ट द्वारा या साक्षात् सम्पूर्ण प्राणी प्रयोक्ता हो रहे हैं सम्पूर्ण कारकोंके सामान्य प्रयोक्ताको साधनेमें हम पहिछेसे ही कोई विवाद नहीं उठा रहे हैं। जिस प्राणीके जो जो पदार्थ साक्षात् या परम्परासे उपभोग करने योग्य हैं उस उस पदार्थिक कारकोंका प्रयोक्तापन नियमसे उस उस प्राणीमें निश्चित हो रहा है। भावार्थ—जगत्के प्रायः सम्पूर्ण पदार्थ किसी न किसी प्राणीके साक्षात् या परम्परया उपभोगयोग्य हो ही रहे हैं। अदृष्टानपेक्ष या प्राणानपेक्ष होकर हो रहे कतिपय कार्योको यहां न्यायशाक्कमें गणना नहीं की गयी है सर्वज्ञोक्त सूक्ष्म चर्चाका परिशीछन करनेवाले सिद्धान्तप्रन्थोंमें उनका गवेषण कीजिये।

# इति कियानुमानानां माला नैवामला भुवः । कर्तर्येकत्र संसाध्येऽनुमित्या पक्षवाधनात् ॥ ६५॥

यहांतक प्रकरणमें यह सिद्ध कर दिया गया है कि पृथिवीके यानी जगत्के एक कर्ताको भक्ते प्रकार सिद्ध करनेमें दी गई कार्यत्व, करणत्व आदि हेतुवाले अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं है क्योंकि हम जैनोंके अनुमान प्रमाण करके वैशेषिकोंके पक्षकी बाधा उपस्थित हो जाती है अथवा एकसी अस्सी कियाबादी मिध्यादृष्टियोंमें वैशेषिक भी पदार्थीमें कियाको माननेवाले परिगाणित हैं। अतः कियाबादी वैशेषिकोंके पूर्वोक्त कई अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं है यों संगति लगाकर '' कियानुमानानां '' पदका अर्थ कर लो। '' कर्ता माने गये ईस्वरकी कियाके प्रयोजक अनुमान '' वी मी क्षी किया जा सकता है।

यथैव सिष्ठवेशविशिष्टत्वादिसाधनं न निरवदं व्यापकातुपर्छभेन पक्षस्य वाधनात् तथा करणत्वाद्यज्ञमानमपि जगतामेककर्तृत्वे साध्ये विश्वेषाभावात् । तच समर्थितमेवेति नातुमान-मास्त्रा निरवद्या विधातुं शक्या तस्याः प्रतिपादितानेकदोषाश्रयत्वात् । तत एवागमादपि नेश्वरसिद्धिरित्याइ ।

जिस ही प्रकार ईश्वरकी सिद्धिमें वैशेषिकों द्वारा कहे गये सिन्नेशिविशिष्टल, कार्यल, आदि हेतु निर्दोष नहीं हैं क्योंकि व्यापक के अनुपल्लम करके पक्षकी बाधा दिखलायी जा जुकी है। अर्थात्—व्यापक हो रहे अन्वय व्यतिरेक के नहीं घटित होनेसे व्याप्य हो रहा कार्यकारणमाव भी नहीं घटित हो पाता है। अतः वैशेषिकोंकी प्रतिज्ञा बाधित हो जाती है। उस ही प्रकार करणत्व, कियाल, आदि हेतुओंसे उपजाये गये अनुमान भी जगतोंका एक कत्तींस जन्यपना साध्य करनेपर निर्दोष नहीं है कारण कि सिन्नेशिवशेष आदि हेतु और करणत्व आदि हेतुओंमें कोई अन्तर नहीं है। हेतुओंक उस हेत्वामासपनका हम पूर्व प्रकरणोंमें समर्थन कर जुके ही हैं जिस कारण कि वैशेषिकोंके कई अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं करी जा सकती है क्योंकि '' १ द्वीपादयो बुद्धि-मद्धेत्रकाः सिन्नेशिवशिष्टत्वात् घटवत्, २ क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् पटवत् ३ करणादीनि कर्त्रिधिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वात् वास्यादिवत् '' इत्यादि अनुमानोंकी की गयी उस मालाको पूर्वमें कहे जा जुके व्यभिचार, भागासिद्ध, बाध, व्यापकानुपल्लम, सिद्धसाधन, विरोध, साध्यविकलन्ति ज्ञानेक दोषोंक उपस्थित हो जानेपर बाधित पक्ष हो जानेसे आगमप्रमाण द्वारा भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है इस बातको प्रन्थकार अप्रिम वार्त्तिक द्वारा कहते हैं।

## विश्वतश्रश्चरित्यादेरागमादपि नेश्वरः । सिध्येत्तस्यानुमानेनानुप्रहाभावतस्ततः ॥ ६६ ॥

यु जर्नेद के सन्नह वें अध्यायके उनीस वें मंत्र " विस्वतश्चक्षुरुत विस्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात् । संबाहुम्यां धमित संपत्निर्धावाभूमी जनयन्देव एकः " और सत्ताईस वें मंत्र " यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद मुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एवत " ए संप्रस्नं मुवनायन्त्यन्या ॥ तथा " अपाणिपादो जवनो गृहीता, संसारमहीरुहस्य बीजाय " इत्यादिक आगम प्रमाणोंसे मी ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकेगी क्योंकि तिस बाधितपक्षके हो जानेसे उन आगम वाक्योंका अनुमान प्रमाण करके अनुमह होनेका अभाव है । जिन आगमोंको अनुमान प्रमाणोंसे संवादकपना प्राप्त नहीं होता है वे आगम प्रमाणभूत नहीं माने गये हैं ।

न हि नैयायिकानां युक्त्यननुगृहीतः कश्चिदागमः प्रमाणमतिप्रसंगात्। न च युक्तिस्तत्र काचियवतिष्ठत इति नेश्वरसिद्धिः प्रमाणाभावात् प्रधानाद्दैतादिवत् । ततः कि सिद्धमित्याह् । नैयायिकों के यहां युक्तियों यानी सबेतुओं से नहीं अनुप्रह प्राप्त हो चुका कोई भी आगम भला प्रमाण नहीं माना गया है अन्यथा अति प्रसंग हो जायगा। अर्थात् — युक्तियों के विना प्रमाणपना मान टेने पर चार्वाक, बौद्ध, ईसाई, मोहम्मदमतानुयायी, अदैतवादी, आदिकों के आगम भी प्रमाण बन बैठेंगे। किन्तु उन ईस्वर साधक वाक्यों में कोई अच्छी युक्ति व्यवस्थित नहीं होपाती है। प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणों करके स्पष्ट बाधा उपस्थित हो रही है। विज्ञान (साइन्स) जब ईस्वरबादकी जडको सर्वथा काट चुका है ऐसी दशामें नैयायिकों के आगमकी सहायक कोई युक्ति नहीं ठहर सकती है। इस कारण साधक प्रमाणों के नहीं होने से सांख्यों की त्रिगुणात्मक प्रकृतियां अदैतवादियों के संवेदनादैत पुरुषादेत अथवा बौद्धों के क्षणिकत्व आदिके समान ईस्वरकी भी सिद्धि नहीं होसकती है। कोई पूंछता है कि तिस कारण आठवीं वार्तिक से प्रारम्भ कर अबतक क्या सिद्ध हुआ समझा जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द स्वामी निर्णीत सिद्धान्तको अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते है।

## लोकोऽकृत्रिम इत्येतद्वचनं सत्यतां गतं । बाधकस्य प्रमाणस्य सर्वथा विनिवारणात् ॥ ६७ ॥

यह सम्पूर्ण लोक अकृतिम है इस प्रकार यह सिद्धान्त वचन सत्यताको प्राप्त होचुका है क्योंकि इसके बाधक प्रमाणोंका सभी प्रकारोंसे विशेषतया निवारण कर दिया गया है। अर्थात् — त्रिलोकसारमें यह सत्य ळिखा है कि "लोगो अकिष्टिमो खल्ल अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो। जीवा-जीवेहिं फुढो सव्वागासवयवो णिच्चो " स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहा है कि "सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्ज्ञि संठिओ लोओ। सो केण वि णेय कओ ण य धरिओ हरिहरादीहिं " "अण्णोण्णपवेसेण य दव्वाणं अत्थणं भवे लोओ। दव्वाणं णिच्चतो लोयस्स वि मुणह णिच्चतं " परिणाम सहावादो पाडिसमयं परिणमंति दव्वाणि। तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणामं " मूलाचारके आठवें अध्यायमें लिखा है कि "लोओ अकिष्टिमो खल्ल अणाइणिहणो सहावणिप्पणो। जीवाजीवेहिं भरो णिच्चो तालरुक्ख संठाणो " इत्यादिक सर्वज्ञोक्त आगम तो निर्वाध होनेसे सर्वागरूपसे सत्यार्थ हैं।

खोकः खल्बक्रित्रेमोऽनादिनिधनः परिणामतः सादिपर्यवसानश्चीत प्रवचनं यथात्रेदानीं-तनपुरुषापेक्षया वाधविवर्जितं तथा देशांतरकाळांतरवर्तिपुरुषापेक्षयापि विश्लेषाभावात् ततः सत्यतां प्राप्तिविति सिद्धं सुनिर्णीतासंभवद्वाधकप्रमाणत्वादात्मादिपातिपादकप्रवचनवत् ।

नियमसे यह छोक किसी द्वारा नहीं किया गया अकृत्रिम है। अनादिसे अनन्तकाळ्तक स्थिर रहनेवाळा है। हां, पर्यायोंकी अपेक्षा सादि, सान्त, भी है। इस प्रकारके शाखवाक्य जैसे इस देशमें होनेवाळे या इस काळमें होनेवाळे पुरुषोंकी अपेक्षा करके बाधविवर्जित हैं उसी प्रकार देशान्तर काळान्तरवर्ती पुरुषोंकी अपेक्षासे भी निर्बाध हैं। इस देश और इस काळके पुरुषोंकी अपेक्षा अन्य देश और अन्यकाळके पुरुषोंसे उक्त आगमको निर्बाध प्रामाण्य सम्पादन करनेके लिये कोई अन्तर नहीं पढ़ता है। मावार्थ—यावत देश यावत काळोंके मनुष्योंमें दो हाथ, दो पांव, एक शिर, मुखसे खाना, नाकसे सूंघना आदिमें जैसे कोई अन्तर नहीं है उसी प्रकार वर्तमान काळ या इस देशके मनुष्य इस लोकविन्यासको अकृत्रिम अनादि निधन जैसे साध रहे हैं वैसे ही देशान्तर, काळान्तरके मनुष्य भी जगत्को अकृत्रिम ही बाधारिहत साधते होंगे तिस कारणसे वे आगम वाक्य सत्यताको प्राप्त हुये समझो। इस कारण वश्यमाण अनुमान द्वारा सिद्ध हो जाता है कि लोकको अकृत्रिम या अनादि निधन कह रहा शाखवाक्य (पक्ष) सत्यार्थ है। (साध्य) क्योंकि बाधक प्रमाणोंके असम्मव होनेका भले प्रकार निर्णय किया जा चुका है। (हेतु) आत्मा, आकाश, मोक्ष, आदिके प्रतिपादक शाख वाक्योंको जैसे सत्यता प्राप्त है। (अन्वय दृष्टान्त)। यो आठवी वार्तिकसे कर्तृबादका पूर्वपक्ष आरम्भ कर यहांतक प्रकरणोंकी संगति मिळा दी गयी है।

### अथानुमानादप्यक्वत्रिमं जगात्सिद्धमित्याह ।

जिस प्रकार आगम प्रमाणसे छोकको नित्य सिद्ध किया गया है। अब अग्रिम वार्त्तिक द्वारा अनुमान प्रमाणसे भी श्रीविद्यानन्द स्वामी इस जगत्को कत्तींसे अजन्य सिद्ध करते हुये यों कह रहे हैं कि—

> विशिष्टसिनवेशं च धीमता न कृतं जगत् । दृष्टकृत्रिमक्टादिविलक्षणतयेक्षणात् ॥ ६८ ॥ समुद्राकरसंभूतमणिमुक्ताफलादिवत् । इति हेतुवचः शक्तेरपि लोकोऽकृतः स्थितः ॥ ६९ ॥

विलक्षण रचनावाला यह जगत् (पक्ष) किसी बुद्धिमान् करके किया गया नहीं है (साध्य) जिन कृत्रिम पदार्थोंको बनानेवाले कर्ता देखे जाते हैं। उन कृट, गृह, गाडी, आदि कृत्रिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके देखा जा रहा होनेसे (हेतु) समुद्र या खानमें मले प्रकार स्वकीय कारणोंसे उपजे मोती, मृंगा, हीरा, पन्ना आदि पदार्थोंके समान (अन्वयद्दृष्टान्त) इस प्रकार निर्दोष हेतुके बचनकी सामर्थ्यस भी यह लोक अनुमान प्रमाण हारा अकृत्रिम व्यवस्थित हो चुका है। अर्थात्—चौकी, सन्द्रक, किवाड आदिको बर्द्ध बना सकता है। किन्तु इसके उपादानकारण काठको नहीं बना सकता है। सूचीकार वस्त्रोंको सींव सकता है किन्तु रुई, उन, रेशमको स्वतंत्रतया नहीं गढ सकता है। इई बनके पेडपर स्वाती है, पशु पक्षी, मनुष्योंके वाल अम है रेशमको कीड कराते हैं

यों ही युनार सुन्दर भूषणोंको बना छता है किन्तु सोना, चांदी, तांबेको मूळरूपसे नहीं उपजा सकता है, हळवाई मनोहर पक्षानोंको बना छता है किन्तु इनके उपादान कारण रस या खांडको खांत्र नहीं बना सकता है। सुवर्णकार, अयस्कार, आदि नाम तो कोरे नामनिक्षेपसे हैं। रोटी, दाछ, पेडा, वक्कके उपादान या सोना, चांदी, काठ, हीरा, मोती, मांस, रक्त, आदिको वे एकेन्द्रिय, या दीन्द्रिय आदि जीवही कर्मपरवश होरहे अपने अपने व्यक्त, अव्यक्त, पुरुषार्थ द्वारा बनाया करते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, समुद्र, पर्वत, धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्रछ, आदिका समुदाय रूप यह छोक किसी एक ही बुद्धिमान करके बनाया गया नहीं है।

## दृष्ठुश्चिमविष्ठक्षणतयेक्ष्यमाणश्च स्यात् कुत्रिमश्च स्यात् संश्विवश्वविश्विष्टो कोको विरोधा-भावात् । ततः सिद्धस्य हेतोः साध्येनाविनाभावित्वमिति मन्यमानं मत्याह ।

यहां उक्त अनुमानमें कोई नैयायिक पण्डित प्रतिकृत्त तर्क उठाता है कि हेतु रह जाय साध्य नहीं रहे । सुनिये, यह लोक कक्तीसहित रूपसे देखे जा रहे कृत्रिम पदार्थों विलक्षणपने करके देखा जा रहा होय, और सिनेनेशिनेशिको धार रहा यह लोक कृत्रिम भी होय, कोई निरोध नहीं आता है । देखो धूम होय और अग्नि नहीं होय यों प्रतिकृत्त तर्क उठा देनेसे कार्यकारणभावका भंग होजाना यह निरोध खडा हुआ है । अतः "अग्निमान् धूमात्" इस प्रसिद्ध अनुमानमें प्रतिकृत्त तर्क नहीं उठा सकते हैं किन्तु यहां लोकमें हेतुके रहने पर भी साध्यका नहीं रहना आपादन किया जासकता है । आप जैनोंने स्वयं कहा है कि अन, मांस, पाषाण, आदि पदार्थ उन चीजोंसे विलक्षण हैं बिनके कि बनाने वाले उच्च कोटिके कारीगर देखे जाते हैं फिर भी अन आदि पदार्थ एक इन्दिय, दीन्द्रिय, आदि जीवोंके द्वारा बना लिये गये हैं तिस कारणसे इस तुम्हारे दृष्ट कृत्रिम विलक्षणत्याईक्ष्यमाणत्व हेतुका अपने साध्य होरहे कृत्रिमस्वाभावके साध्य अनिनाभाव असिद्ध है इस प्रकार सामियान माने चले जारहे नैयायिकोंके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिम वार्तिक द्वारा समा-धान क्यनको कहते हैं ।

## नान्यथानुपपन्नत्वमस्यासिद्धं कथंचन । कृत्रिमार्थविभिन्नस्याकृत्रिमत्वपसिद्धितः ॥ ७० ॥

हमारे इस हेतुका अन्यथानुपपित्तसे सहितपना किसी भी ढंगसे असिद्ध नहीं है। क्योंकि कृत्रिम अर्थोंसे विमिन्न हो रहे पदार्थों के अकृत्रिमपनकी प्रमाणोंसे सिद्धि हो रही है। मावार्थ—अन, काठ, सीना, हीरा, मांस, हड़ीको, भठे ही वे एकन्द्रिय आदि नाना जीव बना ठेवें। किन्तु सूर्य, चन्त्रमा, सुदर्शन मेर, अक्षेकाकाश, काळद्रक्य, कोक आदि अकृत्रिम पदार्थों को नाना जीव या एक जीव कथापि नहीं बना सकते हैं। जैनसिद्धान्त अनुसार हुसका जीव अपनी योगशक्ति हारा नोकर्म

वर्गणाना आनर्षण कर स्वकीय पुरुषार्थस्वरूप हो रही पर्याप्तिशक्तिकरके उन वर्गणाओंको काठ रूप बना केता है वह शरीर उस जीवका कायबळप्राण कहा जाता है। सोनेकी खानका एक इन्द्रिय जीव अनेक कमीके पराधीन हो रहा इसी प्रकार नोकर्म वर्गणाका स्वकीय शरीर सोना बना छेता **है । हीरा, पना, पाषाण**की सृष्टि भी इसी ढंगसे हो जाती **है । ही**न्द्रिय सीपका जीव जरू विशेषको अपने दैव या पुरुषार्थ द्वारा मुक्ताफल रूप परिणमा लेता है जैसे कि रेशमका कीडा रेशमको, या गाय भैंस जीव अपने खाये गये भूस, घास, खल, बनोरे, आदिका दूध बना लेती हैं । कीडी, मकोडे, मक्खी, बर्र, घोडा, हाथी, तोता, कबृतर, मनुष्य, स्री, ये जीव कतिपय कमीका उदय होनेपर स्वकीय पर्याप्तियों द्वारा या अन्य अनेक व्यक्त अव्यक्त पुरुषार्थी करके मांस, रक्त, मेद, चर्ची. आदि धात अथवा उपधात या मल मूत्र तथा ज्वर. सनिपात आदि कार्योके कत्ती माने जा स्कते हैं । किन्त अनादिनिधन छोक, सूर्य, अनेक द्वीप, समृद आदिका स्वतंत्र कत्ती कोई बुद्धिमान् नियत नहीं है । बढिया शिल्प हार, या वैज्ञानि क द्वारा बनाये गये नहीं होनेसे मुक्ताफल आदिको अकृत्रिम कह दिया है। वस्तुतः अत्र, मांस, मोती, आदिक किसी अपेक्षा कृत्रिम माने जा सकते हैं किन्तु छह द्रव्योंका समुदाय रूप यह छोक या सूर्य, चन्द्रमा, सुमेरु, दीप, समुद्र, स्वर्गस्यान, नरकस्थान, ऊर्घलोक, अघोलोक, अङ्गत्रिम चैत्यालय, आठ भूमियां, वातवलय आदिक पिण्डोंका समदाय रूप यह छोक तो अकृत्रिम ही है। अतः हमारे हेत्का नियत साध्यके साथ अविनाभाव बना रहना पुष्ट प्रमाणोंसे सिद्ध है । अनुकूछ तर्भवाछा यह हेतु अपने साध्यको अवस्य साधेगा ।

## न हि कृतिमार्थविकक्षणो गगनादिः कृत्रिमः सिद्धो येन साध्यव्याद्वतौ साधनव्याद्वाति । विश्वतान्यथानुपपत्तिरस्य हेतोर्न सिध्येत् ।

कर्ता द्वारा बनाये गये कृत्रिम, घट, पट आदिक अर्थीस विलक्षण हो रहे आकाश, सूर्य, आदिक पदार्थ तो कृत्रिम सिद्ध नहीं हैं जिससे कि व्यतिरेक द्वारा साध्यकी व्याहारी हो जानेपर साधनकी व्याहारी हो रही स्वरूप निश्चित अन्यथानुपपत्ति इस हेतुकी सिद्ध नहीं होवे। अर्थात्—हमारा हेतु अविनामावी है।

#### 'असिद्धताप्यस्य इतोर्नेत्यावेदयति ।

हेतुके व्यभिचार दीषकी आशंकाका प्रत्याख्यान कर इस " कृत्रिमार्थविलक्षणत्व " हेतुका असिंद हेत्वाभासपना भी नहीं है इस बातका श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिकद्वारा विद्वादन करे देते हैं।

# नासिद्धिर्भणियुक्तादौ कृत्रिमेतरतोऽकृते । कृत्रिमत्वं न संभाव्यं जगत्स्कन्थस्य तादृशः ॥ ७१॥

उपादान राक्तियोंके प्रत्यक्ष रूपसे परिज्ञापक, अशारीर, न्यापक, एक ऐसे विशिष्ट कर्ता द्वारा नहीं किये जा चुके मणि, हीरा, पन्ना, सोना, चांदी, काठ, कंकण, पत्थर, मही, मोती, गोळोचन, कत्त्वी आदि पदार्थोंमें कृत्रिमविभिन्नत्व (विलक्षणत्व ) हेतुसे नहीं कृत्रिमपना साध्य सम्भवने योग्य है । तिस ही प्रकारके अनेक पदार्थोंके स्कन्ध रूप हो रहे स्वरूप जगत्का कृत्रिमपना भी सम्भाव-नीय नहीं है । अतः पक्षमें ठहर जानेसे हेतुके स्वरूपासिद्र हेत्वाभास दोष नहीं लगा।

मणिश्वक्ताफलादीनां केषांचित्कृतिमत्वं त्रीहिसंमर्दनादिना रेखादिमस्वमतीत्या स्वयसुप-यन् परेषां समुद्राकरोत्थानां तथा रेखादिमस्वासंमत्ययेनाकृतिमत्वं च तद्देलक्षण्यमालक्षयत्येव। तद्दद् दृष्टकर्तकमासादादिभ्यः काष्टेष्टकादिघटनाविशेषाश्रयेभ्यस्तदिपरीताकारमितपस्या भूभूघ-रादीनां वैलक्षण्यं मतिपचुमईति च न चेदिभिनिविष्टमना। इति नासिद्धो हेतुर्मणिश्वक्तादावकु-त्रिमत्वव्यवद्दारक्षातिमसंगात् तद्दैलक्षण्यस्यापि तद्दसिद्धेः।

प्रायः सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्रतिकृति ( नकल ) करनेवाले इस युगमें नकली मोती, हीरा, पन्ना, माणिक्य ( इमीटेशन ) आदि बनने छगे हैं । ऐसे मणि, मुक्ता, आदिकोंको हम भी स्वतंत्र बुद्धिपूर्वक चाहे जैसे छोटा , बडा, बना देनेबाले कारीगर पुरुष करके कृत्रिमपना स्वीकार करते हैं। धानमें मिलाकर रगडनेसे यदि रेखा या कोई रगडका चिन्ह पढ जाय तो उससे उन माणि, मोती, माणिक आदिक नकडीपनका परिज्ञान हो जाता है। और भी रत्नपरीक्षाके उपायों द्वारा माणिक, मोती. आदिके नकछीपन या असछीपनकी परीक्षा कर छ। जाती है। जिससे कि कैई नकछ। पदार्थीके कृत्रिमपन और अनेक असळी पदार्थोंके अकृत्रिमपनका परिज्ञान कर छिया जाता है। आजकछ तो घृत, दूध, चून, खांड, वस भी नकडी पदार्थोंसे बने हुये आने छगे हैं। सुना है कि मनुष्य भी नकछी बना दिये गये हैं। जो कि मनुष्योचित कतिपय क्रियाओं को भी करते हैं। कलको कोई स्वर्ग, नरक यहांतक कि मोक्षको भी नक्ष्णी बनाले तो कोई आश्वर्य नहीं है। रामचन्द्रके यगमें (जमानेमें ) एक इन्द्र नामका राजा इस भरत क्षेत्रमें ही स्वर्गकी पूरी नकळ बनाकर स्वयं इन्द्र बन बैठा था। कैदलाने या दुःखियोंके घर तो अधोळोकस्य नरकोंसे उपमेय हैं। पुण्यशाली धनिकोंके स्थान स्वर्ग कल्पित किये जा सकते हैं। निराकुछ साधुओंकी तपोभूमिको कोई कवि एक देशसे मोश्वस्थानकी करपना कर सकता है। किन्तु इन सब उपचरित या अनुपचरित पदार्थोंके गीण, मुख्यपनकी परीक्षाके उपाय विश्वमान है। प्रकरणमें यह कहना है कि स्वयं नैयायिक पाण्डित भी किन्दी मिण, मोती, घृत आदि पदार्थीका धान्योंके साथ रगडना, उष्ण जलमें तपाना आदि कियाओं करके रेखा पड जाना, खुरसट छग जाना, पानीमें विखर जाना आदिसे सहित-पनकी प्रतीति हो जाने करके कृत्रिमपनको स्त्रीकार कर रहा है वह नैयायिक ऐसी दशामें समुद्र का कानसे उत्पन्न हुने दूसरे मोती, नृंगा, हीरा, पना, मणि, आदिकोंके तिस प्रकार रेखा आदिसे

सहितपनकी समीचीन प्रतीति नहीं होनेकरके अकृत्रिमपन और उन कृत्रिमसे विकक्षणपनका चारों ओरसे स्वरूपपरिद्वान कर छेता ही है जैसे सुक्ष्मिवचार बुद्धिद्वारा नकड़ी मणि, मोती, घृत आदिसे असकी मणि, मोती, आदिका विरुक्षणपना या अकृत्रिमपना जान छिया जाता है उसी प्रकार सकर्त्वक देखे जा रहे और काठ चतुःकाष्ठी ( चौखट ) ईंट, चूना, छन्पर, किवाड, मनखण्डा, पुळ, पहिया आदिक विशेष अवयव घटनाओं के आश्रय हो रहे प्रासाद, कुये, नहर, बम्बा, गाडी, आदिकसे पृथिवी, पर्वत, सूर्य, दरें, घाटियां, समुद्र, नदियां, आदिकोंका उन कृत्रिम गृह आदिके विपरीत ब्रतिपत्ति हो जानेसे विलक्षणपनको यह नैयायिक समझनेके लिये भी समर्थ हो जाता है इतनी स्टब्स सामग्री या दृष्टान्तके मिछ जानेपर भी यदि नैयायिक उन दृष्टकर्तक कोठी आदिकोंसे पर्वत आदिकोंके इस ब्रसिद्ध विलक्षणपनको नहीं समझ सकेगा तब तो इसकी चित्तवृत्ति एक खोटे अभिनिवेशसे युक्त ही मानी जा सकती है। समुचित वस्तुको यदि कोई कदाप्रहवश नहीं समझ पावे तो इसमें समझ। देनेबाले बक्ता मा वस्तुका रूपा दोष है ? पूरा मूल्य देकर मन्ने ही नकळी अल्पमूल्य चीजोंकी मोल छेकर अविचारी या पेंगा बने रहा । असळी पदार्थीको भागनेवाला परीक्षक विद्वान कभी भी ऐसी अविचारित पोलम पोल कियाको अभिरुचित ( पसन्द ) नहीं करता है इस कारण हमारा हेत असिद्रहेत्वामास नहीं है अन्यथा हीरा, पन्ना, मोती, मंगा आदिमें अक्रत्रिमपनके व्यवहारकी क्षति हो जानेका प्रसंग होगा और उन पुराने गृहोंके समानही उन अकृत्रिम मोती, मणि आदिमें उन कृत्रिम मणि, मोती आदिकसे विद्यक्षणपनकी भी अभिद्धि हो जायगी। अर्थात् वैशोषिक भूषर आदिकोंको कृत्रिम मानते हुये यदि महल, कोठी आदि कसे विलक्षणपना पृथिवी, पर्वत आदिकमें नहीं मानेंगे तो समुद्र या खानसे उत्पन्न हुये असली मोती, मणियोंको भी अकृत्रिमपना या कृत्रिमोंसे विलक्षणपना ये नहीं साध पार्येंगे भ्रान्त, अभ्रान्तका विवेक उठ जायगा । यह सोनेका मूल्य देकर मुख्यमा मोल ळिया जा रहा है पामर ( गंवार ) पुरुष भी मही, पत्थर, पीतल, खड आदि के बने हुये सांप, सिंह, घोडा, हायी, छौरा आदिकसे असली सांप, सिंह, हाथी आदिको विरुक्षण और अकृत्रिम माननेके क्रिये उचक रहता है।

न हि वयं दृष्टकिनिमक्र्यदिविकक्षणतयेश्यमाणत्वमक्वित्रमतयेश्यमाणत्वं वच्मो येन साध्यसमो हेतुः स्यादिनत्यः श्रन्दो नित्यधर्मान्नुपल्लन्वेरित्यादिवत् । नापि भिन्नदेशकाला-कारमात्रतयेश्यमाणत्वं तदिभिद्धमहे येन पुराणमासादादिनानैकांतिकः । किं तिर्हे १ घटना-विश्वेषानाश्रयत्येश्यमाणत्वं जगतः प्रतीतक्वित्रमक्टादिविकमणतयेश्यमाणत्वमिश्वीयते । ततो निरवधमिदं साधनं ।

हम जैन ऐसे प्रतिभारहित या अदार्शनिक नहीं हैं जो कि कर्तांसे जन्य होकर दीख रहे कृत्रिम कूट (ऊंचा अम्मा, मीनार, ठोस गुम्मज) गृह, किलोने आदिसे विकासणपूर्ण

करके देखे जा रहेपनको ही अकुत्रिनपनकरके देखा गयापन झट कह देवें जिससे कि '' शम्द अनित्य है नित्य पदार्थीके धर्मकी अनुपलन्ध होनेसे '' या पर्वत अग्निमान् है अग्निवाका होनेसे इत्यादिक हेतुओं के समान हमारा दृष्टकृत्रिमविकक्षणतया ईक्यमाणत्व हेत '' साध्यसम '' नामक दोषसे प्रसित होजाय ! तथा केवल भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न आकार सहितपने करके देखे गयेपनको भी वह दृष्ट कृत्रिम विलक्षणतया ईक्ष्यमाणत्व हम नहीं कह रहे हैं जिससे कि पुराने कोठी, किले, गढ, खंडहर, खेरा, आदि करके व्यभिचार होजाय। तो फिर हम जैन क्या कह रहे हैं ! इसका उत्तर यह है कि काठ, ईट, छोहा, गाटर आदिकी घटना ( रचना ) विशेषके नहीं काश्रय होरहे पन करके देखा गयापन ही जगत् पक्षका कृत्रिम होकर प्रतीत होरहे कूट आदिसे विलक्षणपने करके देखा गयापन हेत हम जैनों करके कहा जारहा है । अर्थात — हमारा हेत साध्य सारिखा नहीं है जिससे कि अबतक साध्यकी अधिद्धि होनेसे प्रतिक्रार्थेकदेशासिद्ध दोषवान् होजाय क्योंकि बुद्धिमान कर्राह्मारा होसकनेवाली विशेष विशेष ढंगकी रचनाओंका आश्रय रूपसे जगत् नहीं देसा जारहा है। नदियां, टेढी, मेढी बह रही हैं। पर्वत ऊंचे, नीचे, कोई शीतळ कोई उष्ण है। पृथिवी कहीं लाल, पीली, काली, होरही है, समुद्रमें भी पानी बरसता है, मोंछ, दाढी मुडवा देने बालोंके बाल पुनः उपज आते हैं कांखमें बाल व्यर्थ उपजा दिये हैं, कहीं अतिवृष्टि कहीं अनावृष्टि होरही है। अनेक स्थलेंपर पापी जीव आनन्द भोग रहे हैं जब कि पुण्यात्मा सञ्जन पुरुष अनेक द्रःखोंको क्षेत्र रहे हैं। ईश्चरका निषेध करने वालेंका मुंह नहीं बन्द किया जाता है; सर्वज्ञ, व्यापक, दयाल भी ईश्वर भला चीर, व्यभिचारी, हिंसकोंके हृदयमें बूरे भावोंको क्यों उत्पन्न करता है ! जब कि वह सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान स्विकार किया गया है। कोई भी हितैषी पिता या राजा अपने पुत्र या प्रजाको जान बृष्टाकर अनर्थीमें ढकेलकर पुनः उसको दण्ड देनेके लिये अभिलापुक नहीं रहता है **अन्यया यह सब उत्तरदायित्व पिता या राजाके ऊपर ही पडेगा ।** कृतकृत्य ईश्वर कहां बैठकर किन कारणोंसे किस लिये जगत्को बनाता रहता है ! इन आक्षेपोंका मन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। सृष्टि, प्रख्य, उत्पत्ति विनाश, कहीं बृद्धत्व, किसीमें युवत्व, आदि अनेक विरुद्ध कार्योको एक ईस्वर यगपत कथमपि नहीं कर सकता है। जगतमें कहीं साधु पुरुष या पतिवता खियोंपर विपत्तियोंके पहार दाये जारहे हैं। किसी किसी धर्मात्माके आवश्यकीय एक पुत्र भी नहीं है। कतिपय कसइयोंके घर जब कि कुटुम्ब, घन, सम्पति, प्रमुतासे, भरपूर हैं गरीबोंको सताया जारहा है । धार्मिकवादका तिरस्कार कर पूंजीबादके गीत गाये जारहे हैं। गेंड्रऑके साथ निर्दोष भिनुवाभी पिस रहे हैं। स्थान स्थानपर शोक, अरति, के कारण बढ़ रहे हैं । अतः कृत्रिम कृट आदिसे विकक्षण-पना ही जगतका अक्रत्रिमपना नहीं है जिससे कि हेत और साध्य दोनों एकसे होजाय किन्त बुद्धिमान सर्वन्न द्वारा होने वाळी रचना विशेषके आधार नहीं होरहेपन करके जग-दका दीवाना ही हमारे पूर्वोपास हेतका अर्थ है दहकर्तक पदार्थीकी अपेक्षा भिन्न देश.

मिन आकाश, मिन काल, सिहतपने करके जगत्का दी जाना अपने हेतुका अर्थ कहते तब तो पुराने कुयें, खण्डहरोंसे न्यामिचार आसकता था क्योंकि पुराने खण्डहर भिन्न देशीय मिन कालीन और विभिन्न आकार वाले हैं किन्तु वे अकृत्रिम नहीं हैं। माई हम तो हेतुका शरीर बुद्धिमान् कर्तास होनेवाली विचारपूर्वक रचनाओंका अनाधार होकर दीख रहापन कहते हैं। तिस कारणसे हमारा यह दृष्टकृत्रिम पदार्थीसे विलक्षणपने करके देखा जा रहापन हेतु सम्पूर्ण दोषोंसे रिहत है। अतः अपने अकृत्रिमत्व नियत साध्यको साध डालता है। यहां अब किसी कुतर्कको अवकाश नहीं रहता है।

ननु चेदस्मदादिकर्तृकक्र्दादिविलक्षणतयेक्षणं जगतोस्मदादिकर्त्रयेक्षयैवाकृत्रिमत्वं साध्येत् मणिस्रक्ताफलादीनामिव ससुद्रादिमभवानां न पुनरस्मद्विलक्षणमहेश्वरकर्त्विश्चेषापेक्षया तदुपभोक्तृपाण्यदृष्ट्विश्चेषापेक्षयाप्यकृत्रिमत्वपसंगात् । न च तद्येक्षयाकृत्रिमत्वेऽपि तेषां सर्वत्र कृत्रिमाकृत्रिमत्वव्यवहारिकरोधः प्रतीतकर्तृव्यापारापेक्षया केषांचित्कृत्रिमत्वेन व्यवहरणात् । परेषामतीद्वियकर्तृव्यापारापेक्षणेनाकृत्रिमतया व्यवहृतरनीश्वरवादिनाप्यभ्युपगमनीयत्वात्, अन्यधास्य सर्वत्रोत्पत्तिमति तदुपभोक्तृपाण्यदृष्ट्विश्चेषदेतुके कथमकृत्रिमव्यवहारः कृचिद्व युष्येत । ततोऽस्मदादिकर्त्रपेक्षया जगतोऽकृत्रिमत्वसाधने सिद्धसाधनमस्मदिलक्षणेश्वरकर्त्विश्चेष्या त तस्य साधने विरुद्धो हेतुः साध्यविपरीतस्यास्मदादिकर्त्रपेक्षयीवाकृत्रिमत्वस्य ततः सिद्धेरिति केचित् ।

नैयायिक या पौराणिक अपने ईस्तर कर्तृवादको करनेके छिये पुनः अनुनय करते हैं कि आप जैनोंने जो इस हेतु द्वारा साध्यको साधा है वह अस्मदादिक राज, वर्ड्ड, मिली, आदिक अर्ताओं द्वारा बनाये गये स्त्य, मीनार, आदिकसे विलक्षणपने करके दीखना तो जगत्को अस्मद् आदिक कर्त्तां-ओंकी अपेक्षा करके ही अकृत्रिमपनको साध सकेगा। जैसे कि समुद्र, खान, आदिसे उपजे हुये मणिमुक्ता आदिकोंको कर्त्ता अस्मद् आदिक नहीं होसकते हैं। अर्धात्—हम सारिखे अल्पवल, अल्पन्नान, वाले जीव जगत्के कर्त्ता नहीं होसकते हैं यह हम नैयायिकोंको भी अभीष्ट है, किन्तु फिर हम लोगोंसे विलक्षण होरहे महेक्चर नामक विशेष कर्त्ताकी अपेक्षासे जगत्का अकृत्रिमपना नहीं साधा जा सकता है। अर्धात्—हम लोग मले ही जगत्के कर्त्ता नहीं होय फिर भी हमसे विलक्षण होरहा महान् ईस्तर तो जगत्का कर्त्ता सुल्भतया सध जावेगा। यदि जैन विद्वान देखे जारहे वर्ड्ड, कोरिया, कुम्हार, अध्यापक, वैज्ञानिक, इन्जिनियर, आदिक एकदेशीय कर्त्ताओंसे विलक्षण होरहे महेक्चरको जगत्का कर्ता नहीं मानेंगे तब तो उन शरीर, इन्दिय, हक्ष, भूषण, वक्ष, आदिक कार्य पदायोंका जगत्का कर्ता नहीं मानेंगे तब तो उन शरीर, इन्दिय, हक्ष, भूषण, वक्ष, आदिक कार्य पदायोंका उपमोग करने वाले प्राणियोंके अदृष्ट विशेष (पुण्य पाप) की अपेक्षा करके भी जगत्को अकृत्तिम पनेका प्रसंग होजायगा। अर्थात्—जैसे जैन जन यों छट कह बैठते हैं कि जगत्को कर्ता क्षिपाक्क स्ति पनेका प्रसंग होजायगा। अर्थात्—जैसे जैन जन यों छट कह बैठते हैं कि जगत्को कर्ता हम आदिक कोई भी संसरी नहीं हैं, हमसे विलक्षण होरहा ईश्वर भी जगत्का विधावक

नहीं है। उसी प्रकार हम नैयायिक भी कह सकते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, राग, द्वेष आदिके करण कारक जैसे वसूळा, दण्ड, तुरी, आदिक नहीं हैं उसी प्रकार इन करणोंसे विलक्षण होरहा अद्देष्ट भी शरीर आदिका करण नहीं होसकेगा किन्तु यह अदृष्टका करण नहीं बन सकना हम, तुम, दोनोंको इष्ट नहीं है। साधारण व्यक्तियोंको जगत्का कर्तृत्व नहीं होनेपर भी असाधारण परमात्माको जगतुका कर्तृत्व सघ सकता है। ईरवरको नहीं माननेवाले जैन या बौद्ध यों भय करें कि उस ईवर या अदृष्टकी अपेक्षा करके यदि अर्थीमें कृत्रिमपना माना जायगा तो सभी स्थानोंपर उन पदार्थींके क्रिनिमपन और अक्रात्रिमपनके पृथक् पृथक् हो रहे व्यवहारका विरोध हो जायगा । सभी पदार्थ कृत्रिम बन बैठेंगे । इसपर हम नैयायिक यों समझाते हैं कि इस मीतिकी आशंका नहीं करना ईक्टरकी अपेक्षासे क्रात्रिमपना होते हुये भी उम पदार्थोंके क्रात्रिमपनके या अक्रुत्रिमपनके व्यवहारका विरोध नहीं हो पाता है क्योंकि जिन पदार्थीमें कत्ताओंके व्यापार देखे जा रहे हैं। उसकी अपेक्षा करके किन्हीं किन्हीं घट, पट, भूषण, गाडी, गृह आदि पदार्थीका कृत्रिमपने करके संसारमें व्यवहार हो रहा है । और इन पदार्थींसे न्यारे सूर्य, चन्द्रमा, प्रार्थियो, शरीर, पर्वत, आदिक पदार्थींको इन्द्रि-योंके अगे।चर हो रहे विशेष कर्ताके व्यापारकी अपेक्षा करके अक्रत्रिमपन रूपसे व्यवहार हो रहा है। अर्थात्--ईश्वरको उनका कर्तापन होते हुये भी वे अकृत्रिम हैं। ईश्वरको जगत्का कर्ता नहीं माननेवाले जैन, चार्वाक, बीह्र, वादियों करके भी इसी ढंगसे क्रात्रिमपन और अक्रुत्रिमपनका स्वीकार करना अनिवार्य पहेगा अन्यथा यानी दृष्टकर्तक पदार्थोंको ही कृत्रिम मानते हुये यदि अतीन्द्रिय कर्त्ता द्वारा उपज रहे पदार्थीको अकृत्रिम नहीं माना जायगा तब तो इस अनिश्वर वादीके यहां उन उन शरीर, इन्द्रिय, आदि कार्योके उपभोक्ता प्राणियाँके पुण्य, पाप, विशेषको कारण मानकर जन्म छे रहे सम्पूर्ण उत्पत्तिमान कार्योमेंसे किन्हीं विशेष कार्योमें ही भछा अक्रुत्रिमपनेका व्यवहार कैसे सम्वित हो सकेमा ? तुम ही बताओ तुम जैन भी तो सीपके जीवके पुण्य, पाप, या पुरुषार्थसे उपजे हुये असळी मोतीको अक्रत्रिम मान रहे हो तिस कारणसे इम नैयायिक कहते हैं कि जैन विद्वान यदि हम आदि कर्त्ताओं की अपेक्षासे जगत्को अकृत्रिमपना उक्त अनुमानसे साथ रहे हैं। तब तो जैनोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष है। इम ईश्वरवादी नैयायिक भी तो अस्मद आदिककी अपेक्षा जगतको सकर्दिक नहीं मानते हुये अक्रियम मान रहे हैं हम लोगोंसे विलक्षण हो रहे कत्ती विशेष ईश्वरकी अपेक्षा करके तो उस जगत्को यदि अकृत्रिम साधा जायगा तब तो जैनोंका दृष्टकृत्रिमविरुक्षणतया ईक्यमाणत्व '' हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है क्योंकि प्रकरण प्राप्त अकृत्रिमत्व साध्यसे विपरीत हो रहे अस्मद् आदि कर्त्वाओंकी अपेक्षा करके ही अक्रिज्ञमपनेकी उस हेत्से सिद्धि हो। पाता है हम छोगोंसे निकक्षण ईश्वर कर्त्वाकी अपेक्षा भी अकृत्रिमपनकी उस हेत्रसे सिद्धि नहीं हो सकती है अतः जैनोंका हेत्र साध्यमे विपरीत हो रहे साध्याभावके साथ व्याप्तिको रखनेवाळा होनेसे बिरुद्ध हुआ । यहांतक कोई नैयाधिक पण्डित कह रहे हैं।

तेपि न न्यायिदः, अनित्यः श्रन्दो नित्यविस्नक्षणतया प्रतीयमानत्वात् कस्त्रशादिवदि-त्यादेरप्येवमगमकत्वमसंगाद् । श्रन्यं हि वकुं यदि निरितश्चयनित्यविस्नक्षणत्येक्षणात्सातिश्च पिनत्यत्वमनित्यत्वं साध्यते तदा सिद्धसाध्यता " तेनैवं व्यवहारात् स्यादकौठरूप्येपि नित्य-तेति " स्वयं मीमांसकैरभिधानात् । अनेकक्षणत्रयस्थायित्वं साध्यं तदा विरुद्धो हेतुस्तद्विपरी- तस्य सातिश्चयनित्यस्त्रभणस्यैवानित्यस्वस्य ततः सिद्धिरिति ।

अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि वे नैयायिक पण्डित भी न्यायमार्गको नहीं समझ रहे जैसा नाम वैसा काम करनेवाछे नहीं है। देखिये तुमने शब्दको अनित्य सिद्ध करनेके क्रिये यह अनुमान बनाया है कि शन्द ( पक्ष ) अनित्य है ( साध्यदन्न ) क्योंकि नित्य पदार्थीस विरुक्षणपने करके प्रतीत किया जा रहा है (हेतु ) कलसा, रोटी, दाल आदिके समान (अन्वय-दृष्टान्त ) अथवा '' पर्वतो वन्हिमान् धूमात् महानसवत् '' इत्यादिक असिद्ध हेतुओंको भी इस प्रकार क्रचोघोंद्वारा तुम्हारे यहां अगमकपनेका प्रसंग होगा यहां भी शब्दको नित्य माननेवाले मीमांसकोकरके यों कहा जा सकता है कि नैयाथिक उक्त अनुमानद्वारा यदि निरितशय नित्यं पदार्थींसे विकक्षणपने करके दीख जाना हेत्रसे सातिशय नित्यत्व स्वरूप अनित्यत्वको साध रहे हैं तब तो सिद्धसाध्यता दोष है। हम मीमांसक भी शब्दको कृटस्थ नित्य नहीं मानते हैं अग्निका संयोग हो जानेपर अनित्यजल अपने शीत अतिशयको छोड देता है और उच्मताका आधान कर छेता है। किन्तु कूटस्य नित्य पदार्थ ऐसा नहीं कर सकता है । कृटस्थका अर्थ " अनाधेयाप्रहेयातिशय " है । जो पदार्थ चाहे कितने भी प्रेरक कारणोंका सम्प्रयोग है। जानेपर उनके धर्मी अनुसार धर्मान्तरोंको प्रहण नहीं करता है और अपने उपात कर छिये गये अतिशयोंको छोडता भी नहीं वह वह कृटस्थ है जैसे कि आकाश किन्तु नित्य हो रहा भी शब्द कृटस्य नहीं है वैदिक, छौकिक, महान् अभिव्यंजक, अल्प अभिव्यंजक म्बनि, कण्ठ, तालु, आदि परिस्थितियों के वशशवतीं हो रहा परिणामी नित्य है। अतः ऐसे सातिशय नित्यस्वरूप अनित्यत्व भी सिद्धि करनेपर इम मीमांसक तुम नैयायिकोंके ऊपर " सिद्धसाधन " दोष उठाते हैं। स्त्रयं मीमांसकोंने अपने प्रन्थोंमें यों कहा है कि संकेत काळ न्यवहारकालमें वहका वही न्यापक हो रहा शन्र नित्य है । क्योंकि उस संकेतगृहीत शन्द करके ही मैं शान्द बोध करनेवाला पुरुष यह न्यवहार करता हूं कि यह गी है, अमुक घट है इत्यादि, अतः कुटस्थपना नहीं होते हुये भी शब्दको नित्यपना युक्तिप्राप्त है । व्यंज-कोंकी तीवता, मन्दता, अल्पीयत्स्य, तत्तादेशीयत्व आदिकी अपेक्षा शब्दमें कुछ अतिशयोंकी संक्रान्ति होना अभीष्ट है ऐसे अनित्यत्वका हमने खण्डन कहां किया है ! हां अनेक तीन तीन क्षणोंमें स्थायी-पन यदि अनेक शन्दोंका अनित्यपना साधा जाता है तब तो तम नैयायि होका हेत विरुद्ध हेत्वामास है. क्योंकि उस तुम्हार सर्वथा अनित्यत्व साध्यसे विपरीत होरहे साविशय नित्यस्वरूपही अनित्यपनकी

शम्दमें उस हेतुसे सिद्धि होसकती है। अर्थाव् अधिकत्रादी बीद्ध तो पदार्थोका प्रथम क्षणेंम आत्मलाम मान कर दूसरे क्षणमें हैं। ध्वंस मानते हुये ज्ञान, घट, आदिको क्षणिक हैं। जैनोंके यहां एक क्षण या दो, चार, छाखेंा, असंख्य, क्षणोंतक ठहरने वाळी सूक्ष्म पर्याय या स्थूछ पर्यायोंको क्षणिक कहा जा सकतां है कारण कि अनेक ( संख्यात, असंख्यात ) क्षणोंतक ठहरनेवाले बिजली, बबुला, दीपकालिका, आदि भी जगत्में क्षणिक पदार्थ माने गये हैं। अतः " दितीयक्षणकृतिष्वंसप्रतियोगित्व " या " अनेकक्षणवर्तिष्वंसप्रतियोगित्व " ये दोनों उक्षण स्हम समयवर्ती पर्याय अथवा कतिपय समयवर्ती स्थूछ पर्यायोंकी अपेक्षांसे समुचित हैं किन्तु वैरेषिकोंने तृतीयक्षणवृत्तिष्वंस-प्रतियोगित्व यानी प्रथम समयमें उत्पत्ति द्वितीय समयमें शब्दकी स्थिति ( श्रुति ) और तीसरे क्षणमें नारा हो जाना ऐसा क्षणिकपना शब्द या ह्यानोंमें स्वीकार किया है। हां, अपेक्षाबुद्धिका चौथे क्षणमें वे घ्वंस होना मानते हैं । वैशेषिक पण्डित पांचवें क्षणमें नष्ट हो जानेवाली क्षणिक क्रियाओंका चार क्षणतक ठहरे रहना स्वीकार करते हैं। ईस्वर इच्छा या संयोग आदिसे प्रथम क्षणमें कियाकी उत्पत्ति, द्वितीय क्षणमें उससे विभाग, तृतीय क्षणमें पूर्व संयोगनारा, चतुर्थ क्षणमें उत्तरदेशसंयोग पुनः पांचवे क्षणमें कियाका नाश होजाता है। यों क्षणिकत्वके कतिपय अर्थ हैं। इसी प्रकार नित्यके भी कूठस्य नित्य, सातिशय नित्य, परिणामी नित्य, धारा प्रवाह नित्य, बीजाङ्कुर न्याय अनुसार नित्यत्व, अनादि सान्त नित्यत्व, सादि अनन्त नित्यत्व, ऐसे कतिपय अर्थ हो सकते हैं । अतः शब्दका अनित्यपना साधनेपर नैयायिकोंके ऊपर हम मीमांसकोंने सिद्धसाधन और विरुद्ध दोष उठाये हैं । इसी प्रकार साध्यमें विकल्प क्रगा कर विश्वमान् धूमात् आदि अनुमानोंमें भी उक्त दोष बगाये जा सकते हैं। जैसे कि नैयायिकोंने जैनोंके उपर सिद्धसाधन या विरुद्ध हेत्वाभास उठा दिये हैं।

यदि पुनर्नित्यमात्रविकक्षणतयेक्षणादिति इतुरिष्टमेव क्षणिकत्वाख्यमानित्यत्वं साधयति, ततो न सिद्धसाधनं परस्य, नापि विकदो हेतुरिति मतं तदा दृष्टकुत्रिमसामान्यविकक्षणतये-क्षणादिति हेतुरस्मदादिकत्रपेक्षयास्मद्विकक्षणेश्वरादिकत्रपेक्षयापि वाऽकृत्रिमत्वं साधयतीति कथं नैयायिकस्यापि सिद्धसाधनं विरुद्धो वा हेतुः स्यात् ।

फिर नैयायिक पण्डित यदि मीमांसकोंके प्रति यों कहें कि सामान्य नित्यसे विकक्षणपने करके दीखना इस प्रकारका हेतु तो शन्दमें हमारे इष्ट हो रहे ही दो क्षण या तीन क्षणतक ठहरना नामके अनित्यपनको सांध देता है। तिस कारणसे मीमांसकोंकी ओरसे दिया गया सिद्ध सांधन दोष दूसरे हम नैयायिकोंके ऊपर नहीं आ सकता है। तथा हमारा हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि हम नैयायिक तुम मीमांसकोंके यहां सिद्ध हो रहे सातिशय नित्यपनको शन्दमें नहीं सांध रहे हैं। तथा हमारा हेतु अनुकृष्ट सांध्यके सांध हो रही ज्यातिकों धारता है। इस प्रकार नैयायिकोंका मन्तव्य होय तब

तो हम जैन भी कहते हैं कि देखे जा रहे सामामान्यरूपसे सम्पूर्ण कृत्रिम पदार्थोंसे विकक्षणपने करके दीखना इस प्रकारका हमारा हेतु अस्मदादिकत्तीओंकी अपेक्षासे अथवा हम छोगोंसे विकक्षण हो रहे महेश्वर, ब्रह्म, प्रकृति, ब्रह्मा, आदि कर्ताओंकी अपेक्षासे भी नहीं कृत्रिमपनको जगत्में बहुत अच्छा साध देवेगा मछे ही उन उन कतिपय पदार्थोंके कर्ता अनेक जीवात्मायें हैं । किन्तु एक किसी ईश्वर या प्रकृतिकी अपेक्षा जगत् कृत्रिम नहीं है । ऐसी दशामें नैयायिककी ओरसे भी हमारे उपर सिद्धसाधन दोष कैसे हो सकता है ! और हम जैनोंका निर्दोष हेतु '' दशकृत्रिमविकक्षणतय। ईक्षण " मळा विरुद्ध हेताभास कैसे हो सकता है ! । यानी नहीं हो सकता है ।

यथैव हि निरितशयनित्यात् सातिशयनित्याच वैरुक्षण्यश्चत्पादकविनाश्वकारणकत्वं प्रतीयमानं शब्दे स्वेष्टं क्षणिकत्वं साधयेत्, तथैवास्मदादिकृतात्कृटमासादादेरीश्वरादिकृताच त्रिपुरदाहांधकासुरविध्वंसनादेः सामान्यतो वैरुक्षण्यं घटनादिविशेषानाश्रयत्वं जगित समीक्ष्य-माणं सकलबुद्धिमत्कत्रेपेक्षयैवाकृत्रिमत्वं साधयतीति सर्वे निरवदं ।

जिस ही प्रकार मीमांसकोंके उत्पर घडक कर नैयायिक यों कह सकते हैं कि सांख्योंके यह माने गये पुरुषके समान निरितराय नित्य पदार्थ और मीमांसकोंक यहां माने गये जीवात्माओंक समान सातिशय नित्य पदार्थ अथवा और भी किसी प्रकारके नित्य पदार्थीसे विलक्षणपना यानी सृष्टिप्रिक्रया और प्रख्यप्रिक्रिया अनुसार सबकी उपादेय उत्तर पर्यायका उत्पादक होते हुये पुनः उसके विनाशका कारण होजाना यहां '' नित्यविञक्षणतया ईक्षण '' हेतु शब्दमें भन्ने प्रकार प्रतीत किया जारहा उस हमारे अभीष्ट होरहे दो तीन क्षणतक ठहरना स्वरूप क्षणिकलको साध देवेगा । हम जैन भी नैया-यिकोंके सन्मुख आत्मगौरव सहित कह सकते हैं कि उस ही प्रकार हम तुम मिस्री, बढई, कारीगर आदि द्वारा बनाये गये स्तूप, चबूतरा, चौपारें, कोठियां गृह, झोंपडे, चौकी, मन्दिर आदि पदार्थींसे और तुम पौराणिकोंके मतानुसार मान छिये गये कार्यविशेषोंके कत्ती ईश्वरस्वरूप महादेव, विष्णु, ब्रह्मा, आदि करके किये गये त्रिपुरका दाह, अन्वकासुरका विष्वंसन करना, गंगाका धारण, कामदेवका भस्म करना, आदि या चक्र धारण, कंसमर्दन, कैटभका जीतना, शिशुपाळवघ. अथवा तपस्या द्वारा चतुर्भुख बनाना, इंसपर चढ छेना, आदि कार्योंसे सामान्यतया बिडक्षणपना यानी काठ. ईट, छोहे, चुनाका ठीकठीक जोडना, छप्पर बना छेना, शक्ष धारण कर छेना, तपस्या कर छेना आदिक विशेष घटनाओंका आश्रयरिहतपना भन्ने प्रकार जगत्में देखा जारहा है यह हम जैनोंका हेतु इमारे अभीष्ट साध्य होरहे सम्पूर्ण ही बुद्धिमान् कर्त्ताओंकी अपेक्षा करके अकृत्रिमपनको जगत्में साध देता है। भावार्थ-पौराणिकोंके विचार अनुसार यदि शिवजीने त्रिपुरका दाह कर दिया या अन्धक राक्षसका त्रिष्वंस कर दिया. गजासरको मार डाउँ। इत्यादिक कियापे कथंचित थोडी देरके छिये मानी जासकती हैं । विष्णु मगवातूने तृसिंह, कृष्ण, आदि अवतार द्वारा हिरण्यकशिपु, पुतना,

केशी. का वध किया ये कियायें भी असम्भव नहीं हैं. किन्तु ईश्वर करके जगत्का निर्माण करना असम्भव है क्योंकि जगत्में कर्ताओं द्वारा होनेवाली विशेष घटनायें या योजनायें नहीं पायी जाती हैं जगतमें उक्त त्रिपरदाह आदि कर्तसाध्य कार्योसे विलक्षणपना भी सुलभतया बढिया देखा जारहा है अतः यह अविनाभावी हेतु जगत्में अकृत्रिमपनको साधिहा देता है। शैवसम्प्रदाय बाले पुराणोंमें त्रिपुरकी उत्पत्ति और विनाशकी कथा इस प्रकार लिखी है कि '' ततस्ते सहिता राजन , संप्रधार्यासकृद्धह । सर्वलोकेश्वरं बार्क्य प्रणम्येदमथाह्रवत् । अस्माकं त्वं वरं देव, प्रयच्छेमं पितामह १ वयं पुराणि त्रीण्येव समास्थाय महीमिमाम् । विचरिष्याम छोकेऽस्मिस्वत्प्रसादपुरस्कृताः । ततो वर्षसहस्रे तु समेष्यामः परस्परम् । एकीमावं गमिष्यन्ति पुराण्येतानि चानघ । समागतानि चैकत्वं यो हन्याद्भगवंस्तदा । एकेषुणा देववरः स नो मृत्युर्भनिष्यति । एवमस्त्रिति तान्देवः प्रत्युक्त्वा प्राविशाहियम् । ते तु छन्धवराः प्रीताः संप्रधार्य परस्परम् । पुरत्रयविसण्ट्यर्थमयं वृद्धर्महासुरम् । विस्वकर्माणमगरं दैत्यदानवपुजितम् । ततो मयः स्वतपसा चक्रे धीमान् पुराणि च । त्रीणि कांचनमेकं वैरीप्य कार्ष्णायसं तथा। काञ्चनं दिवि तत्रासी-दन्तरीक्षे च राजतम् । आयसञ्चाभवद्भौमं चक्रस्थं प्रथिवीपते । एकैकं योजनशतं विस्तारायामस-म्मितम् । गृहाद्वालकसंयुक्तं बृहत्प्राकारतोरणं । गृहप्रवर्ंबावमसम्बाधमहापथम् । प्रासादैर्विविधैरचैव द्वारैश्चाप्युपशोभितम् । पुरेपु चाभवन् राजन् । राजानो वै पृथक् पृथक् । काञ्चनं तारकाक्षस्य चित्रमा-सीन्महात्मनः । राजतं कमलाक्षस्य विद्युन्मालिन आयसम् । त्रयस्ते दैत्यराजानश्रील्लोकानाञ्च तेजसा । आक्रम्य तस्थुरूचुश्च कश्चनायं प्रजापतिः । तेषां दानवमुख्यानां प्रयुतान्यर्बुदानि च । कोट्यश्च प्रति वीराणां समाजग्मस्ततस्ततः । मांसादाश्च सुदृशाश्च सुरैविनिकृताः पुरा । महदैक्वर्यमिष्कन्तिक्षपुरं दर्गमा-श्रिताः । सर्वेषाञ्च पुनस्तेषां सर्वयोगवहो मयः । तमाश्रित्य हि ते सर्वे वर्त्तयन्त्यकृतोभयाः। ये हि यं मनसा कामं दघ्यात त्रिपुरसंश्रयः । तस्मै कानं मयस्तं तं विदधे मायया तदा । तारकाक्षस्रतो वीरो हरिर्नाम महाबलः । तपस्तेपे परमकं येनातुष्यत् पितामहः । सन्तुष्टमवृणोद्देवं वापी भवतु नः पुरे । शक्कैर्वि-निहता यत्र क्षिप्ताः स्युर्बेळवत्तराः । स तु लब्बा वरं वीरस्तारकाक्षः सुतो हरिः । सस्जे तत्र वापी तां मृतसञ्जीवनी प्रभो । येन रूपेण दैत्यास्त येन योगेन चैत्र ह । मृतास्तस्यां परिक्षितास्तादृशेनव जिहरे । तां प्राप्य ते पुनस्तांस्तु सर्वांन् छोकान् बबाधिरे । महता तपसा सिद्धाः सुराणां भयवर्द्धनाः । नैतेषामभवदाजन् क्षयो युद्धे कथञ्चन ॥ इस प्रकार त्रिपुरकी उत्पत्ति है । त्रिपुरमें रहनेवाले मय आदि मधापराक्रमी दैत्योंने सम्पूर्ण छोकको बाधा पहुंचाया तब सम्पूर्ण देवोंने एकत्रित होकरके महादेवसे उसके मारनेकी प्रार्थना की । एक महान् इद्ध रथ बनाया गया। मारा प्रार्थना करनेपर पितामहने रथका सारथी होना स्थीकृत किया । उस रथपर चढकर महादेवने बाण करके तीनों नगरोंको दग्ध कर दिया और मय आदि असुरगणोंको जलाकर पश्चिम समुद्रमें फेंक दिया। इस बृतान्तको पुराणोंमें यों क्रिका गया है कि " सर्वछोकस्य तेजांसि इष्ट्रैकस्थानि मारिषाः । युक्तं निवेदयामासुर्देवास्तस्मै-महातमने '' '' मूर्ति सर्वी समाधाय त्रैकोक्यस्य ततस्ततः रथं ते कल्पयिष्यामो देनेश्वर महीजसम्

तथैव बुद्धमा विद्यितं विस्वकर्मकृतं महत् । ततो विबुधशार्द्धशस्तं रथं समकल्पयन् । विद्यु सोमं हुताशञ्च तस्येषुं समकल्पयन् । शृङ्मप्रिर्वम्बास्य भल्छः सोमो विशाग्पते । अतिष्ठत् स्थाणुभूतः स सहस्रं परिवद्सरान् । यदा त्रीणि समेतानि अन्तरीक्षे पुराणि च । त्रिपर्वणा त्रिशल्येन तदा तानि बिभेद सः । पुराणि न च तं शेकुदनिषाः प्रतिबीक्षितुम् । शरं काळामिसंयुक्तं विष्णुसोमसमायुतम् । पुराणि दग्धवन्तं तं देवा याताः प्रवीक्षितुम् " " तान् सोऽसुरग-णान् दग्न्वा प्राक्षिपत् पश्चिमाणर्वे । एवन्तु त्रिपुरं दग्धं दानवाश्चाप्यशेषतः । महेश्वरेण कुद्धेन त्रैलो-क्यस्य हितैषिणा '' तथा व्यासकृत वैष्णव सम्प्रदायवाछे हरिवंश पुराणके एकसी पेताछीसवें अध्यायमें अन्धक असुरकी उत्पत्ति यों लिखी है कि दिति कहती भयी " हतपुत्रास्मि भगवन् देवैर्धममृताम्बर । अवध्यं पुत्रमिन्छामि देवैरमितविक्रमम् । इसके उत्तरमें कस्यप उचाच । अवध्यस्ते सुतो देवि दाक्षा-यणि भवेदिति । देवानां संशयो नात्र कश्चित् कमललोचने । देवदेवमृते रुद्रं तस्य न प्रभवाम्यह्म् । आत्मा ततस्ते पुत्रेण रक्षितन्यो हि सर्वेषा । अन्वालभत तां देवीं कश्यपः सत्यवागथ । अकृगुल्योदर-देशे त सा पुत्रं सुपुवे ततः ॥ यह अन्धक असुर अविचारक पाप पंकर्में पत्ते हुये अन्धे मदान्ध पुरु-पोंके समान स्वच्छन्द अमण करता हुआ देव या मनुष्योंको अनेक कष्ट देता भया। पश्चात् महेशसे उसको मारनेके छिये दुःखित जनोंने प्रार्थना की । इरिवंश पुराण एक सी छियाछीसमें अन्यायमें छिखा है कि '' सुमोच मगवाञ्च्चं प्रदीसाप्रिसमप्रभम् । ततः पश्चात् हरोत्सृष्टमन्धकोरसि दुईरम् । मस्म-साचाकरोद्रीदमन्धकं साधुकण्टकमिति '' इसी प्रकार गजासुर कामदेव आदिके विनाश किये जानेकी रोचक कथायें पुराणोंमें छिखी हैं। विष्णु करके प्रल्हादकी रक्षाके छिये हिरण्यकशिपुका वध अच्छे ढंगसे लिखा गया है। इसी प्रकार कंस, मुर आदिका नाश करना भी बढी श्रदाबुद्धिसे उपदिष्ट किया गया है। सच पूछो तो यह स्पष्ट रूपसे संकल्पी हिंसा है। एक छोटी श्रेणीका जैन गृहस्थ भी जिस संकल्पी हिंसाको नहीं कर सकता है। परमात्मा या परमात्माके आंशिक गुणोंको धारनेवाछ। देव या पुरुष तो कथमपि ऐसी हिंसाको नहीं करना चाहेगा। सञ्जन पुरुषोंक प्रभावशाली उपदेशों हारा है। कर पुरुष शान्त हो जाते हैं। अस्तु कुछ भी हो वैशेषिक या नैयायिक दार्शनिकोंने उक्त पौराणिक कयाओंपर अखण्ड निश्नास नहीं रक्खा है। ये ईश्वरको अदेह स्वीकार करते हैं। हां, ईस्तर द्वारा विशिष्ट शक्तियोंको प्राप्त कर कोई कोई जीवात्मायें जगत्में बढे बढे चमत्कारक कार्योंको कर पाइती हैं ऐसा वैशेषिक मान छेते हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार देव या राक्षसोंकी आयुका मध्यमें ही छिन हो जाना नहीं माना गया है हां, तीर्थेकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि पुण्य-शार्की पुरुषोंके या विद्याओंको साधनेवाने पुरुषोंके अधीन अनेक देवता हो जाते हैं। अनेक देवोंके ऊपर कई पुण्यात्मा पुरुषोंका प्रभाव स्थापित हो सकता है। जैन पुराणोंमें भी महादेव, राम-चन्द्र, कृष्ण, पाण्डव, आदिके चरित्रोंका वर्णन हैं। रुद्रोंकी उत्पत्ति तो चारित्रसे श्रष्ट हो चुते मुनि और अधिकाके सम्बन्न द्वारा हुई मानी गयी है। इस कल्पकालकी अब-

सर्पिणीमें द्वये ग्यारह रुद्रोमेंसे सबसे प्रथम भीमानिल नामक रुद्रने श्री अजितनाथ स्वामीको बाल्याक्स्थामें अनेक उपसर्ग किये पश्चात् बालक अजितनाथकी महती शक्तिको आश्चर्या-न्वित देखकर महादेवने अजितनाथकी स्तुति की और श्रमा मांगी । अन्तिम महादेव सारपिकने चौदह सो विद्यार्थे सिद्ध करली थीं, अनेक राजाओंका पराजय किया था। ये रुद्र महाशय भोगोंमें दिनरात व्याक्षित रहते थे । विद्याओं करके अनेक कष्टसाध्य अनहोने कार्योंको करके डाछते थे। इसी प्रकार बद्धा भी एक तापसी हुये हैं, जिन्होंने सैकडों वर्षोतक तपस्या की और तिखे-त्तमा पर आसक्त होकर तपस्यस्की शक्तिसे चार, पांच, मुख बनाये इत्यादिक कृतियां उक्त पुरुषोंकी प्रसिद्ध हैं, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, पाण्डव पुराणोंमें रामचन्द्र, कृष्ण, का विस्तृत कथनाक मिळता है। होछिकादाहकी प्रथा भी इसी मित्ति पर अवलम्बित होकर प्रसिद्ध है। जैन पुराण और वैष्णव या शिव पुराणोंके कतिपय प्रकरण मिछ जाते हैं। किन्तु जहां कार्य कारणभावका भंग होय या असम्भव व्यवस्था होय वह अजैन पुराणोंका विषय बाधित होजाता है जैसे कि मनुष्योंके संसर्गसे देवियोंके संतानकी उत्पत्ति बनाना, कानसे कर्णकी उत्पत्ति मानना, मनुष्यका घड और हाथीका सिर जुडकर गणेराजीका उत्पाद मानना, ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मणेंकी उत्पत्ति मानना, गायके सींगपर प्रथिवीका धर रहना, जटाओंमें गंगाका झेळना । फिर कितनेही दिनोतक गंगा नदीका जटाओंमें ही अन्तर्भृत रहना इत्यादिक विषय निर्बाध नहीं हैं। अलंकार पूर्ण साहित्यमें घटा, बढा कर कह दिया जाता है किन्तु असम्भवके परिद्वारका वहां भी उक्ष्य रखा जाता है। अतः किन्हीं किन्हीं शक्तिशाली पुरुषों करके कभी कचित् प्रसिद्ध हुये त्रिपुरका दाह या अधंक असुरका विश्वंस, कोटिशिलाका उठाना आदि सन्म-वनीय विषयोंको मान छिया भी जाय । किन्तु एक बुद्धिमान ईस्वर करके जगत्का बनाया जान। कथमपि विश्वसनीय नहीं है। यों तो जिनसेनाचार्य कृत सहस्रनाममें महादेव, विष्णु, ब्रह्मा, सुगत, आदि देवोंके अनेक नामोंका उल्लेख है । अमरकोशमें " शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः " **ईसर,** शंकर, मृत्युञ्जय, वामदेव, हर, ईशान, त्र्यम्बक, त्रिखोचन, त्रिपुरान्तक, अन्धकरिप आदि अनेक नाम महादेवके कहे हैं। इसी प्रकार ब्रह्माके परमेष्ठी, आत्मभू, पितामह, स्वयंभू, नेवा, नामेय आदि नाम हैं। स्यक्रनाममें " श्रीमान् स्वयम्भूर्वृषभः शंभवः शभुरात्मभूः । नित्यो मृत्युंजयो मृत्युरमृतात्मामृतोद्भवः । युगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचावसमयः शिवः '' दुरितारिहरो हरः '' त्रिनेत्रस्त्र्यम्बक्स्त्र्यक्षः केवळज्ञानवीक्षण '' त्रिपुरारिक्किकोत्तनः'' सर्वक्केशापद्दः साधः सर्वदीषद्दशे हरः, शंकरः शंक्दो दान्तो'' ''तीर्थकृत् केवलशानः'' " नाभेयो नाभिजो जातः" स्वय<sup>उद्य</sup>गेतिरजोऽजन्मा, सर्वन्नः सर्वदर्शनः " " सुगतिः सुश्रुतः सुश्रुक्, सुगतो इतदुर्नयः '' सिद्धो बुद्धः प्रबुद्धालाः '' ' समन्तभदः शांतारिर्धर्भाचार्यो दयानिधिः'' सूक्ष्म-इशी जितानंगः " " कुपालुर्धमंदेशकः " इत्यादिक कतिपय अन्वर्धनामोका निर्देश किया गया है । इनमेंसे अनेकोंका अर्थ सहस्रनामकी स्तुतिमें यों हिखा है कि " अनंतभवसंक्रानजयादासीरनंतजित् " हे भगवन् तुम अनन्तको अर्थात् भव-संताको जीतनेकी अपेक्षा ''अनन्तजित् '' है। छोटे छोटे शारी-

रिक बल्धारी मनुष्य या देवता अथवा नौला, गरुड, मोरपक्षी भी सांपको जीत सकते हैं जीतना तो क्या मार भी देते हैं । किन्त आप तो अनग्त हो रही संसारकी सन्तनका जय करनेसे अनन्तजित 🗗 😘 त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुधर्ष्यमतिदुर्ज्जयं, मृत्युराजं विजित्यासीण्जिन मृत्युंजयो भवान् '' तीनों कोकंके जीतनेसे जिस यमराजको खोटा अमिमान प्राप्त हो चुका है जो कि अतीव कठिनतासे जीतने ्योग्य है उस आयुष्यकर्मरूपी मृत्युराजको जीतकर हे जिन आप ही मृत्युंजय माने गये हैं। अर्थात-यमराज नामका कोई एक देवता सबको मारनेवाळा नहीं है। क्यों जी उसका मारनेवाळा कौन है ! ब्रह्मा, विष्यु, महेराके वह अधीन है ! या उसके अधीन ब्रह्मा, विष्यु, महेरा है ! स्रिका पुत्र और यमनाका भाई माने गये यमकी उत्पत्तिके प्रथम मृत्युयें कैसे होती थी ? धर्मराज, यमराजका क्या सम्बन्ध है ? क्या यमराजके पुत्र पुत्रियां अविनश्वर है ? या उनको मारनेवाला कोई दूसरा यमराज है ? इन संपूर्ण प्रश्नोंका पौराणिकोंकी ओरसे सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त नहीं होता है । अतः अयुष्य कर्मके जीतनेकी अपेक्षा श्री जिनेन्द्र देव ही मृत्युंज्य हैं " त्रिपुरारिस्वमीशेशो जन्ममृत्यु जरान्तकृत " जन्म, जरा, और मृत्यु इन तीन नगरोंका अन्त कर देनेसे तुम जिनेन्द्र देत्र ही " त्रिपुरारि " हो तुम ही ईश हो । त्रिकाल त्रिलोकवर्ती मिन मिन तत्त्वोंको युगपत् जाननेवाले केवळज्ञान नामक चञ्जको धार रहे तुम त्रिनेत्र हो । माथेमें तीसरे नेत्रका होना अळीक है । निर्माण कर्म शरीरमें दोड़ी नेत्रोंको बनने देता है। विक्रियाशक्तिया विद्याबल्ध मले ही दिखाऊ उत्तर आकार चाहे कैसे भी बनालो । ऐसे त्रिनेत्रपन या सहस्रनेत्रपनकी कोई विरोष प्रशंसा नहीं है " त्वामंधकांतकं प्राहुमीं हां भासुरमर्दनात् , अर्द्धन्ते नारयो यस्मादर्द्धनारीक्षरोऽस्यतः " वस्तुतः स्वयं अन्भा होरहा और दूसरे सम्बंधियोंको मदोन्मत्त होकर अन्धा कर रहा मोह नामके अन्धासुरका मर्दन कर देनेसे हे जिन भन्य जीव तुमकी ही '' अन्धकान्तक '' कहते हैं। सर्वज्ञ होते हुये भी भविष्यमें देवोंके लिये द:ख प्राप्तिका नहीं ज्ञान रखने वाले वे ही पहिले किसीको अवस्य होनेका वरदान करें पन: उसीको रथ बनाकर सारथी होकर बाण चळाकर वे ही उन त्रिपुरोंको मारें यह तथ्य वृत्तान्त नहीं प्रतीत होता है। तथा दिति माता किसीसे नहीं मारा जासके ऐसे पुत्रकी अभिछाषा करे और कस्यपके द्वारा पेट पर अंगुलियोंको फेरते रहने पर ऐसे पुत्रको उपजा देवे पुनः महादेव द्वारा उस अवध्य पुत्रका संहार किया जाय ऐसे कथानक प्रतीति की उच्च शिखरपर आरूढ होने योग्य नंहीं है। अतः त्रिपुरारि और अन्धकासुर मर्दनका कथानक श्रीजिनेन्द्र देवमें जन्म, जरा, मृत्यु और मोह राक्षसका क्षय कर देनेसे सुप्रतीत होजाता है। आठ कर्मीसे आधे चार घातिया कर्मस्वरूप प्रबंख राख्नु जिन अर्हन्त देवके नहीं हैं । अतः अर्ध+न+अरि अर्धनारीक्षर अर्हन्त परमेष्ठी हैं । आधा पुरुषका और आधा स्नीका यों एक शरीर बन कर चिर जीवित रहे या बढी भारी माहमाको पावे यह समझमें नहीं आता है। इसी प्रकार मोक्षपदमें आन्यासीन होनेसे शिव और पाप शत्रुओंका हरण करनेसे हर, छोकमें सुख करनेसे शंकर आदिक नाम भी जिनदेवके सुबटित हो जाते हैं। " शिव:

शिषपदाच्यासादुरितारिहरो हरः, शंकरः कृतशंकोके संभवस्तं भवन्मखे वृषभोसि जगज्येष्ठः पुरुः पुरुगुणोद्यैः नाभेयो नाभिसंभूतेरिक्वाकुकुळनन्दनः '' '' जन्माभिषेकवामाय वामदेव नमोऽस्तु तें '' '' केवळ्ज्ञानसंसिद्धावीशानाय नमोस्तु ते '' '' नमः परमिवज्ञान'' नमःपरमदृण्दष्ट परमार्थाय तायिने'' ' नमः सुगतये तुम्यं शोभनां गतिमीयुषे '' इत्यादिक शिव, सुगत, ब्रह्माके पर्यायवाची नामोंसे यथार्थ महत्त्वोद्योतिक सम्भवनीय घटित हो रहे अर्थ श्री जिनेन्द्रदेवमें स्थापन किये गये हैं इस कारण सम्पूर्ण बुद्धिमान् कर्ताओंकी अपेक्षा करके भी जगत्में अकृत्रिमपना साध दिया जाता है इस प्रकार हम जैनोंका सम्पूर्ण कथन युक्तिपूर्ण निर्दोष है । हमारे '' दृष्टकृत्रिमविळक्षणतया ईक्षण हेतुमें किसी दोष की सम्भावना नहीं है ।

न ही सरनारायणादयः स्याद्वादिनाममिसद्धा एव, नापि तत्कृतित्रपुरदाहान्धकासुर-विध्वंसनादयो येन तद्विलक्षणं साधनस्रुपादीयमानं विरुद्धचेत। महेश्वरादेरिक्लजगत्कारणस्यैव तेषामनिभमतत्वात् ताहशो महतो जगत्स्कन्धस्य सक्तलघटनाविशेषानाश्रयस्येश्वरापेश्चयापि कर्तृमस्वमसंभाव्यं सिश्चिश्वविशिष्टत्वादेः साधनस्य तत्मयोजकत्वायोगस्य समर्थनात्।

हम स्याद्वादियोंके यहां ईश्वर, नारायण, बल्डरेय, राक्षस, देव आदिक जीव अप्रसिद्ध नहीं है। और उन महादेव आदि करके किये जा चुके त्रिपुरका दाह, अन्यक अमुरका विश्वंस, पार्वतीपरिणय, विद्यासाधन आदि या कोटिशिला उठाना, प्रतिनारायणका पराजय करना, अनेक व्यंतर देवोंका अधि-पतित्व, अनेक लीलायें, लीकिक मुख मीगना आदिक भी इम जैनोंके यहां अप्रसिद्ध नहीं हैं जिससे कि उन त्रिपरदाह आदि कृत्रिम कार्यीस विरुक्षणपने करके दीख जाना हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो सके। अर्थात्-जगत्को अकृत्रिन सिद्ध करने रे छिये पूर्व अनुमानमें प्रहण किया जा रहा हमारा दृष्टकृत्रिम विलक्षणतया ईक्षण हेत्विरुद्ध नहीं है। त्रिपुर ते। क्या ऐसे भी इतिहासमें अवसर आ चुके हैं कि प्रचंड राजाओंने बीसों पुरोंका और उनमें रहनेवालोंका विष्वंस कर दिया गया है। कोधी मुनि अपने तैजस शरीर द्वारा सैकडों पुरोंका विनाश कर देता है। वीर निर्वाण सम्बद २४५६ चौबसरी छप्पन या विक्रम सम्बत् १९८६ में राज्याधिकारियोंने करे।डों टीडियोंका विध्वंस कर दिया था, ईसनीय सन् १९१४ से १९१९ तक हुये यूरपदेशके महायुद्धमें छाखों मनुष्योंका संक्षय हो चुका है। सन् १९१८ और १९१९ में भयंकर युद्ध अर (इनफुल्यूइञ्जा) के कारण भारतीय ६० लाख मनुष्यकाल कवलित हो गये थे। प्लेग, हैजा, में असंख्य मनुष्योंका विनाश हो जाता है। विकृत पुद्रल और कृर जीवोंके निमित्तसे चण्टों या मिनटोंमें करोडो, अरबों, खरबों, कीट, पतंग, मार दिये जाते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर महाराज असंख्य जीवोंका उपकार करते हैं। शुभतैजस पुतला द्वारा मुनि कोसों तक सुभिक्ष फैला देते हैं। कोटिशिला या कैलाशको नारायण अथवा रावणने उठा किया यों जैन प्रराणोंमें प्रसिद्ध है इत्यादिक अनेक कार्य किये जा सकते हैं। किन्त ये सन्पर्ण उक्त कार्य उन घट, पट, आदि कार्योंसे विख्क्षण नहीं हैं जिनको कि बनानेवाले कर्ता देखे जा रहे हैं। अतः इस जैन संभावना प्रयुक्त तुम पौराणिकोंके त्रिपुरम्बंस, आदि कार्योको कथंचित् मान मी छेंब, निर्वाध विषयों के स्वीकार कर छेनेमें कोई हानि नहीं है। बात यह है कि उन स्वाहादियों के यहां अखिल जगतके कारण माने जा रहे महेश्वर, विधाता, ब्रह्माद्वेत आदिको ही अमीछ नहीं किया गया है दृष्टकर्तृक पदार्थीमेंसे तिस प्रकार विलक्षण हो रहे असंख्य योजन लम्बे, चौडे, अति-महान , और काठ, ईट, आदिकी जुडाई करना, खम्मे बनाते हुये बारहद्वारी बनाकर शिखरकी रचना करना इत्यादिक ढंगसे सम्पूर्ण विशेष, विशेष, घटनाओंके आश्रय नहीं हो रहे जगत् स्वरूप स्कन्धका कर्त्तासहितपना तुम्हारे ईश्वरकी अपेक्षा करके भी असम्भव ही है। क्योंकि जगत् को ईश्वरकृत्यपना साधते हुये तुन वैशीषिकों द्वारा प्रयुक्त किये गये सिन्नेवश विशिष्टल. अचेतनोपादानत्व आदिक हेतुओंको उस ईशरकृतत्व साध्यकी सिद्धिमें प्रयोजकपनका अयोग्य है इसका समर्थन हम जैन पूर्व प्रकरणीमें कर चुके हैं । अर्थात्—तुम्हारे ईस्वर, नारायण, आदिको हम जैन स्वीकार करते हैं ये मन्य मनुष्य पूर्व कालोंमें अपने अपने माता पिताओंसे उत्पन्न होकर अधिक शक्तिशाली होचुके हैं। भीमावली आदि ग्यारह रुद्र हैं। " भीमावलि जिदसन् रुद्द विसालणयण सुष्प-दिइ चला। तो पुंढरीय अजिधर जिदणाभीय पीड सचइजो " ये ग्यारह रुद्रों के नाम हैं॥ उसहदु-काले पढमदु सत्तण्ये सत्त सुविहिपहुदीसु, पीडो संति जिणिदे वीरे सच्चइ सुदो जादो " भीमावलि और जित रात्र ये दो रुद्र भी वृषभनाथ और श्री अजितनाथेक काळमें हुये हैं और पुष्पदन्त, शीतळनाथ, श्रेयोनाथ, वासुपुज्य, विमल्रनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, और शान्तिनाथके कालमें क्रमशः रुद्र, विशाः लनयन, सुप्रतिष्ठ, पुण्डरीक, अजितंधर, जितनाभि, पीठ, ये रुद्र हैं और सत्यिकसूत श्री महावीरके काल्में हुये हैं तथा श्री त्रिलोकसारकी गाथानुसार " तिविहदुविहसयंभू पुरिस्रुत्तम पुरिससिंह पुरि-सादी, पुण्डरीय दत्त णारायण किण्हो अद्भवन्कहरा '' इस अवसर्पिणीमें ये नी नारायण हुये हैं और असग्मीओ तास्य मेरमय णिक्तुंभकड्उइंत महु । बि पहरण रावणया खचरा भूचर जरासंधी " ये नी प्रतिनारायण हुये हैं तथा '' बलदेवा विजयाचल प्रधम्मसुणह सुदंसणा णंदी, तो णंदिमित्त रामा पडमा उपिर तु पडिसत्त '' इस गाथा अनुसार नौ बळदेव हुये माने गये हैं और इस अवसर्पिणीके बियाळीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटी सागर परिमित चतुर्थ कालमें '' चक्की भरहे। सगरो मधवसणक्कमार संतिकुंथ्जिणा, अरजिण सुमोम महापण्डमा हरितेण जय ब्रह्मदत्तक्ला '' ये बारह चक्रवर्ती हये माने गये हैं इन महापुरुषोंके द्वारा किये जाचुके महान अतिशयित कार्य भी प्रसिद्ध है। व्यंतर, भवनवासी, आदि देव निकाय भी प्रमाणों द्वारा निर्णीत हैं किन्तु अनादि निधन जगत्की रचना ऐसी विख्छाण है जो कि किसी एक बुद्धिमान द्वारा कथर्मीय कर्तव्य कोटिमें नहीं आसकती हैं। अतः हमारे साध्यके साथ न्यासिको अक्षुण्ण धारे रहना रूप समर्थनसे युक्त होरहा हेतु अपने नियत साध्यका प्रयोजक है। अतः जयद अक्रविम ही सिद्ध हुआ ।

एतेन समुद्राकरसंभूतमणिमुक्ताफलादिरद्यान्तस्य साध्यधर्मविकलत्त्रं साधनधर्मविकलत्त्रं च निराकृतं, तत्रापि सकलकृत्रिमविस्रक्षणतयेक्षणस्य महेश्वरकृतत्वासंभवस्य च कृतिनिश्च-यत्वात् । तदेवं निविद्धवाधकरितात् पवचनादनुमानाचाकृत्रिमस्रोकन्यवस्थानाभैकवुद्धिम-त्कारणो स्रोकः संकनीयः कालादिवत् ।

इम जैनोंके समर्थनपूर्वक इस उक्त कथनकरके समुद्र या खानोंसे उत्पन्न हुये अकृत्रिम (असली) मोती, प्रवाल, जम्छाल, मणि, सोना, चांदी, हिंगुल, हरिताल, अभ्रक, ताम्र, वैहुर्य, गेरू, पीली-मिट्टी, कंकण, पत्थर, आदिक दृष्टान्तकी साध्यधर्मसे विकलता और साधनधर्मसे रहितताका निराकरण किया जा चुका समझ लेना चाहिये। क्योंकि उन मणि मुक्ताफल आदिमें भी जीवोंके बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ द्वारा किये गये सम्पूर्ण कृत्रिम पदार्थीसे विकक्षणपने करके दीख जाना स्त्ररूप हेत और महेश्वर करके किये गयेपनके असम्भव स्वरूप सान्यका मळे प्रकार निश्चय कर लिया गया है । अर्थात् — विशिष्ट रचनावाळा जगत् (पक्ष) किसी भी ईस्तर, ब्रह्म, ब्रह्मा, महादेव या महेरा, अङ्काह, आदि बुद्धिमान् आत्मा करके स्वकीय पूर्ण ज्ञान या संभव, असंभव, चाहे जिस किसी भी कार्य करनेकी इच्छा अथवा कर्त्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तु शक्तिरूप पुरुषार्थ द्वारा किया गया नहीं है (साध्य), कृत्रिमरूपसे देखे जा चुके कूट आदिसे विलक्षणपने करके दीखना दोनेसे (हेतु) समुद्र या खान अथवा वन्य वृक्षोंसे समीचीन, अनिवेचनीय अदृष्ट, जीव, पुद्रळ, आदि कारणोंकरके उपजे मणि, मोती, आदिके समान (अन्वयद्धान्त) इस प्रकार इम जैनोंद्वारा कहे गये अनुमानके दृष्टान्तमें साध्य और हेतु भन्ने प्रकार घटित हो रहे हैं । तिस कारण इस प्रकार सम्पूर्ण बाधकोंसे रहित हो रहे आगमप्रमाण और अनुमान प्रमाणसे इस लोकके अकृत्रिमपनकी व्यवस्था हो रही है। अतः किसी एक बुद्धिमान् आत्माको कारण मानकर यह ठोक उत्पन्न हुआ है इस प्रकारकी शंका कथमींप नहीं करनी चाहिये, जैसे कि काल, आकाश, स्वयं ईखर, आदिक पदार्थीमें जैसे कृत्रिम-पनका संदेह अणुमात्र भी नहीं किया जाता है।

ततो मध्यछोकस्य निवेशः कथितः । द्वीपसम्भद्रपर्वतक्षेत्रसरित्रभृतिविशेषः सम्यक् सक-छनेणमादिनयमयेन ज्योतिषा मवचनमृत्रस्त्रेर्जन्यमानेन कथमपि भावयद्भिः सद्भिः स्वयं पूर्वा-परमासार्थपर्यायछोचनेन मवचनपदार्थविदुपासनेन चाभियोगाविश्रेषविश्रेषेण वा प्रपंचेन परि-वेद्यो अधोछोकसिवश्रविश्रेषविदित्युपसंदरभादः ।

तिस कारणसे उक्त प्रकार श्री उमास्त्रामी महाराजने यहांतक मध्यलोकके अनादिनिधन सिन-वेशका निरूपण कर दिया है। जम्बूदीप, धातकीदीप, पुष्करदीप आदि दीप और लवणसमुद्र, कालोदिक, पुष्करवर आदि समुद्र तथा हिमवान, महाहिमवान, आदि पर्वत एवं भरत, हैमवत आदि क्रिन किंच गंगा, सिन्धु, आदि नदियां एवं च पद्म आदि सरोवर तथैच भोगभूमि, कर्मभूमि, आदिकोंकी

अन्य भी विशेष विशेष रचनाओंको भले प्रकार चारों ओरसे समझ लेना चाहिये। नैगम, संप्रह, व्यवहार द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, आदि नयोंसे तन्मय होरहे तथा सर्वज्ञप्रतिपादित और गणधर प्रन्थित द्वादशांग प्रवचनको मूळ मानकर उत्पन्न हुये श्रीउमास्वामिकृत सूत्रों करके उपज रहे शानप्रकाश करके द्वीप आदिर्क विशेषताओंको समझ छेना चाहिये. एक विषयको सनकर उसके सम्बंधी अनेक विषयोंकी भावना करने बाले सक्ष्मबुद्धि सज्जनों करके स्वयं शास्त्रके अर्थोकी पूर्वापर पर्यालोचना द्वारा द्वीप आदिकी विशेष रचनाओंका परिज्ञान कर छेना चाहिये एवम् सर्वज्ञोक्त शाखों या प्रकृष्ट वक्ताओंके वचनके द्वारा निर्णीर किये गये पटार्थीका परिज्ञान करनेवाले प्रकाण्ड विद्रानोंकी उपापना करके भी विस्तारसे ई द्वीप आदिकोंकी विशेषतार्ये जानी जासकती हैं । अभियोगोंको अन्तररहितपनकी विशेषताओं करके मध्य छोककी रचना विशेषोंको जैसे हो तैसे किसी भी प्रकार (उपाय ) से समझ छेन योग्य है। जैसे कि अधोरोककी विशेष रचनाओंका विस्तारके साथ समझ लेना आवश्यक है भावार्थ — श्री उमास्वामी महाराजने तृतीयाध्यायमें पहिले छह सूत्रों द्वारा अधीलोकका संक्षिप्त वर्णन लिखा है। किन्तु इन मूलसूत्रोंके अनुसार अथवा सर्वज्ञोक्त सम्प्रदाय अनुसार प्रसिद्ध हो रहे अन्य प्रन्योंके परिज्ञान करके अघोळोककी रचनाओंका विस्तृत वर्णन समझ छिया जाता है। उसी प्रकाः सिद्धान्तप्रन्थोंकी भावनाको धारनेवाले व्यत्पत्तिशाली सञ्जनों करके प्रमाणनयात्मक प्रकाश करवे मध्यलोक सम्बन्धी विशेष विशेष रचनाओंका विज्ञान कर लेना चाहिये यद्यपि संक्षेपरूपसे उत्त सूत्रोंमें ही अधोलोक और मध्यलोकका सम्पूर्ण निरूपण हो चुका है। फिर भी विशेष इति करनेवे लिये अन्य आतोपन्न शालोंके प्रमेयोंकी भावना करनेवाले सजनों करके अपनी प्रमाणनयात्मक न्नान ज्योति करके गजदंत, यमकादि, जम्बूबृक्ष, स्वयम्भूरमण द्वीप, मध्यलोकके चारों कोन आदिक विचार कर छेना आवस्यक है। प्रवचन और प्रवचनके ज्ञाता पुरुषोंकी परिचर्यासे अनेक अतीन्द्रिय अर्थोंका निश्चय कर लिया जाता है। इतना लक्ष्य रक्खा जाय कि कोई अन्यवादी कुचोध या कुसु क्तियों द्वारा इम जैनोंके ऊपर अभियोग नहीं छगा सके। तिद्वान्तशास्त्रोंक पूर्वापर विचार और प्रकृष्ट विद्वानोंकी सत्संगातिसे उक्त कार्य मुलभसाध्य हो जाता है। किसी लम्बे चौडे महलको बना नेके छिये पाईछे छोटा चित्र बना छिया जाता है । त्रिचक्षण गृहपति उतने ही इंगितसे प्रासादके पूरे प्रमेयको हृदयंगत कर लेता है। आहोपन्न शास्त्रों द्वारा उत्थित हुई न्नानज्योति तो। विशेष रूप करवे ततोऽपि अधिक परिवृत्ति करा सकती है। त्रिलोकसार, त्रिलोकप्रवृत्ति आदि प्रन्थोंका परिशीलन करनेरे मध्यञ्जेकके अतीव सुन्दर मनोहारी दश्य मानी सज्जनोंके सन्मुख ही उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार इस संक्षिप्त वक्तन्यका उपसंहार कर रहे श्री विद्यानन्दस्वामी मालिनी छन्दः द्वारा अग्रिम वार्तिकको कहते हैं

> इति कथितविशेषो मध्यलोकस्य सम्यक् । सकलनयमयेन ज्योतिषा सभिवेशः।

## प्रवचनभवस्त्रेर्जन्यमानेन सद्भिः। कथमपि परिवेद्यो भावयद्भिः प्रपंचात्॥ ७२॥

इस प्रकार श्री उमास्त्रामां महाराजने मध्यलोकके कतिपय विशेषस्थलोंका सामान्य रूपसे तृतीयाध्यायके चौति सूत्रोंमें समीचीन वर्णन कर दिया है। सर्वन्न प्रतिपादित द्वादशांग मूलक शास्त्रों या प्रकृष्ट वक्ताओंसे उत्पन्न द्वये सूत्रों करके उपज रहे सम्पूर्ण नयतन्मय झानज्योतिर्द्वारा माबना-शाक्तिको धारनेवाले सञ्जन पुरुषों करके किसी भी समुचित उपायोंके अनुसार मध्यलोकके सिन्नेवेशका विस्तारसे परिज्ञान कर लेना चाहिये। सूत्रोंमें इतना ही कथन करना पर्याप्त है।

#### इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमान्दिकम् ।

इस प्रकार श्री उमास्त्रामी महाराजकृत तत्त्वार्थस्त्र प्रन्थके तीसरे अध्यायका श्री विद्यानन्दस्वामीकृत प्रकरणोंका समुदायस्वरूप दूसरा आन्दिक यहांतक समाप्त हुआ ।

अभोलोकश्रित्रो नरकगणना नारकजनस्तथा लोको मध्यो बहुविधविशेषो नरगणः । तदायुर्भेदश्च प्रतिनियतकालो निगदितस्तिरश्चामध्याये स्थितिरपि तृतीयेत्र ग्रुनिना ॥ १ ॥

इस तीसरे अध्यायमें श्री उमास्वामी महाराजने प्रथमसूत्रकरके चित्र, विचित्र प्रकारका अधोलोक कहा है, रत्नप्रमा आदि सात भूमियां बातवल्योंपर और वातवल्य तो आकाशके आश्रयपर अवलंबित हैं। यों सुमेर पर्वतके नीचे सात राज्तक अङ्गित्रम अधोलोकका सुन्दर आश्चर्यकारक विचित्र सिन्नवेश है। दूसरे सूत्रमें चौरासी लाल नरकोंकी गणना की गई है तथा अग्निम तीसरे, चौथे, पांचर्वे, छंड, सूत्रोंमें नारकी जीवोंकी दुर्व्यवस्था और उनकी आयुओंका निक्रपण किया गया है। इसके आगे सातवें आदि सूत्रोंमें मध्यलोकका वर्णन है, वहां द्वीप, क्षेत्र, पर्वत, हृद, कमल, नदियां, आदिका वर्णन करते हुये सूत्रकारने ढाई द्वीपमें रहनेवाले भोगभूमियां, कर्मभूमियां, आर्थ, म्लेच्छ, आदि बहुत प्रकारोंकरके मनुष्योंके समुदायका विशेष कहा है तथा उन मनुष्योंकी आयुके विशेष भेद भी कह दिये हैं, जो कि जवन्य, उत्कृष्ट, आयुके भेद श्वासके अठारहवें भाग, जवन्यदशासे लेकर कोटि पूर्व वर्षतक कर्मभूमिमें और एक समय अधिक कोटि पूर्व वर्षसे प्रारम्भकर तीन पल्यतक मोगभूमियोंमें प्रत्येक नियतकालको धारनेवाले हैं। अन्तमें तिर्यञ्च जीवोंकी जवन्य, उत्कृष्ट, स्थितिका मी सूत्रकार मुनि महाराजने लगे हाथ प्रतिपादन कर दिया है।

इति श्रीविद्यानन्दि आचार्यविरिचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकारुंकारे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्य करके विशेषरूपेण रचना किये गये तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकारुंकार नामक महान् प्रन्थमें यहांतक तिसरा अध्याव परिपूर्ण हुआ ।

# तृतीयाघ्यायकी विषयस्ची।

इस तीसरे अध्यायमें श्री विधानन्द स्वामी करके व्याख्या किये गये प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही जीवोंके निवास स्थानोंकी जिड़ासा होनेपर कहे गये " रज़रार्करा" गर्चा है । आगमप्रमाणसे समझायी सूत्रकी उपपत्ति की गयीं भूमियें और वातवलय तथा आकाशके आश्रयपनको युक्तियोंसे सिद्ध किया है। पौराणिकोंके यहां माने गये कछवा, शेषनाग आदिको भूमिका आधारपना नहीं सम्भवता है। पश्चात् भूमिका गोछ आकार माननेवाले कतिपय प्राचीन पण्डित और आधानिक अनेक युक्तपीय पण्डितोंके मतानुसार भूमिके ऊपर नीचे भ्रमणका अनुवाद कर पुनः भूभ्रमणवादका ऊहापोहपूर्वक खण्डन किया है। कचित्र. कदाचित , भूमिका अव्यल्प कम्प हो जानेसे चित्तमें बडा भारी उद्देग ( घवडाहट ) व्याकुळतायें उपज जाती हैं, रहेंटक झूळा या गोळ झूळापर झूळनेवाळोंके हृदयमें भारी आघात पहुंचता है, तो फिर भूमिका वेगयुक्त भ्रमण माननेपर इन दारीरधारी जीवोंकी कितनी दुर्दशा होगी ? इसका अनुमान सहजमें लगाया जा सकता है । सांपको उल्टा लटका देनेसे उसका निकृष्ट संहनन थोडी देरमें स्खलित होकर सर्प मृतप्राय हो जाता है। इसी प्रकार भूमिके ऊपर नीचे छटक रहे ये टूटे चरखा सरीखे शरीरको धारनेवाले प्राणियोंकी घुमा देनेपर भुरभुरी गजक, के समान दुर्व्यवस्था हो जायगी । भूमिकी आकर्षण शक्ति इस विपत्तिकी रक्षा नहीं कर सकती है। पचास मनकी महीके ढेलको यदि आकाशमें लटका दिया जाय और उस **डेल्पर नीचे**की ओर एक बालक या एक कटोरा जलको धारण कर दिया जाय तो वह झट नीचे गिर पडेगा क्या! पचास मन महीका डेळ उस सेरभर पानीको या पांच सेरके बालकको अपनी आकर्षण शक्ति द्वारा नीचेकी ओरसे खेंच नहीं सकता था ! यदि तम यों कहो कि महती भूमिकी आकर्षणशक्ति अत्यधिक है। अतः दिनमें सूर्यप्रकाशसे अभिभूत हुये ताराओं के समान उस छोटेसे मृत्तिका पिण्डकी शक्ति दब जाती है। बढ़ी भूमि अपनी ओर बालक या जलको खींच लेती है इस पर हम जैनोंका यह कहना है कि प्रधिवीमें आकर्षण शक्ति मध्य केन्द्रमें है ? या सर्वत्र खण्ड खण्डोंमें यथायोग्य बांटके अनुसार थोडी थोडी फैल रही है ? इन दोनों पक्षोंके अनुसार तुम्हारा उक्त सिद्धान्त रक्षित नहीं रह सकता है। क्योंकि महीको खोदकर एक ओर ऊंची और दूसरी ओर नीची ढ़लाऊ स्थानमें जमा देने पर ऊपर उभरी भूमि पर रक्खी हुई गेंद नीचे नहीं लंडकर्नी चाहिये तथा खण्ड, खण्ड, शक्ति मानने पर पचास मनका होस गोका नीचकी पोछी हलकी भूमिकी बांटमें आयी हुई थोडी शाकिसे कही बढ़ कर है। गोल भूमि पर छम्बा, चौडा, समुद्र जल या नदीजल नियत विधीसे नहीं ठहर सकता है । प्रेरक वायुओंका परस्परमें प्रतिचात होजायगा । देखो, गुरु पदार्थ अधःपतनशील होते हैं । भूमिमें आकर्षण शक्ति है । जलभाग बीचमें कुछ उमरा रहता है। इन सिद्रान्तोंका हम खण्डन नहीं करते हैं। किन्तु नियत अमण कराने के कार-

णोंका अभाव होनेसे और प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाणों करके विरोध होजानेसे इस अचला भूमिका क्रमण कथमपि नहीं होपाता है। यूरोपीय विद्वानोंने कोई चेतन कर्त्ती भूमिका अमण करानेवाला भी अभीष्ट नहीं किया है। जैसे कि जैनोंने सूर्य, चन्द्रमा, आदिके विमानोंको भ्रमानेवाले अभियोग्य जातिके देव माने हैं । अतः इस भूमिका ऊपर नीचे भ्रमण या पूर्व पश्चिम भ्रमण कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता है। इसके आगे भूमिका अधःपतन माननेवाछे मता-न्तरोंको दिखला कर श्री विद्यानन्द आचार्यने युक्तियों द्वारा उनका निराकरण कर दिया है। इसी प्रकार भूमिका ऊर्ध्वगमन या सूर्यकी ओर निकट, निकट गमन अथवा तारतम्य मुद्रासे सूर्यके दूर दूर हो रहे भ्रमणका निराकरण भी हो जाता है। अनादि काळसे सूर्य, भूमि आदि सुन्यवस्थित हैं। अन्यथा न जाने कितने समय पूर्व ही इनकी दुर्दशा हो गयी होती । अतः उक्त कल्पनायें सब निरा-धार हैं। अस्मदादि मनुष्य या जम्बूद्वीप, क्रवणसमुद्र आदि असंख्य द्वीप समुद्रोंकी आधारभूत ये रत्नप्रभा या शर्कराप्रभा आदि भूमियां अनन्त योजनीतक फैली ह्रयी नहीं हैं। और अन्य अन्य अनेक भूमियोंके आधारपर डटी हुई भी नहीं हैं। किन्तु प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा ठीक ठीक नापे जा रहे किसी मध्यम असंख्यातासंख्यात नामकी संख्यावाले योजनों करके लम्बी चौडी नाप ली गयी हैं। सात पृथिवियों के मध्यवर्ती छड़ अन्तरालों में असंख्यात योजनोंका अन्तर है। अतः ये स्थूल भूमियां निश्चयनयसे स्वाश्रित और व्यवहार दृष्टिसे वातवलयके आश्रित समझा दी गयी हैं । उस उस जातिके पापकी विचित्रतासे उन उन भूमियोंमें कर्मवश जीवोंका गमन होते रहना बताया है ! उन सात भूमियोंके कतिपय भागोंमें निवास करनेवाछे नारकी जीवोंकी उपार्जित कर्म अनुसार अपनी अपनी आयुःपर्यन्त स्थितिको कह कर नारिकयोंकी अञ्चभ लेक्या आदिक परिणितयोंको युक्तियों द्वारा साधा है । रोद्रध्यानसे नरकोंमें उत्पत्ति होनेके कारण मैढा, तीतर, कुत्ता आदिके समान परस्पर छड मिड कर दुःख भुगतना साधा गया है असुर कुमारों द्वारा दुःख देनेके हेतुको समझा कर उन नरकोंमें जीवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको अनुमान द्वारा प्रसिद्ध किया है। उसके पश्चात मध्यळोकका वर्णन करते हुये और सूत्रोक्त पदोंकी सफलताको पृष्ट करते हुये श्री विचानन्द स्वामीने जम्बूद्वीप आदिपदसे बहु-नीहि वृत्ति द्वारा निकाल दिये जा रहे जम्बूद्वीपको वडे अच्छे ढंगसे बाल बाल बचा लिया है। मेरु और इसके इधर, उधर, भरत आदि क्षेत्रोंके प्रतिपादक सूत्रोंका व्याख्यान कर वृत्तवेदाद्योंकी रचना बता दी है। भरत आदि सात ही क्षेत्रोंका अवधारण करते हुये आचार्य महाराजने अन्य मतियोंकी कल्पित क्षेत्र संख्याओंका प्रत्याख्यान कर दिया है। दुग्धमें धृतके समान जग-वर्में सर्वत्र स्यादाद सिद्धान्त ओतपोत होकर प्रविष्ट हो रहा है । उन क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले पर्वतोंकी उपपत्ति, परिणाम, पार्श्वरचना, विस्तार आदिका व्याख्यान कर अगले इद और पुष्करोंके प्रतिपादक सूत्रोंका विवरण तथा कमकनिवासिनी स्त्रका अर्थ समझा दिया है। नदियोंके प्रतिपादक स्त्रका पदकरप कर गंगा आदिक

नादियोंका कुळ निवरण दिखाया है। महागंगा, महासिन्धु आदि नदियोंके चार कोशवाळे छोटे योजनोंसे इजारों योजनोंके विस्तार, ब्यजाई, गहराईयों, को द्रष्टान्त पुरस्सर साध दिया है। मस्त आदि क्षेत्रीकी व्यवस्थाके प्रतिपादक सूत्रीकी अनतिविस्तारसे टीका कर दी है। भूमियोंकी अवस्थिति बतानेवाछे सूत्रमें भूमिशब्दके प्रहणसे स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि भरत. पेरानत, क्षेत्रोंकी भूमियां उतने ही आकाशमें ऊंची नीची लम्बी चौडी होकर घटती बढती रहती है। उनमें रहनेवाले मनुष्य आदिके अनुभव, आयुः, आदिका घटना बढना तो प्रसिद्ध ही है। हां, भोग सूमियों में या नरक, स्वर्गों, में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काळोंका परिश्रमण नहीं है। पश्चात् ढाईद्वीप सम्बन्धी मोगभूमियां, जीवोंकी आयुका क्खान कर विदेहस्थ जीवोंकी आयुको दिन, मास, वर्ष, आदि द्वारा गणनाका विषय बताते हुये श्री आचार्य महाराजने जम्बुद्वीपके भरतकी आकाश सम्बन्धी नापको समझाया है। धातकी खण्डका व्याख्यान करनेके प्रथम छ्वण समुद्र और उसमें विराज रहे पाताल, गौतमद्वीप, का विशेष निरूपण कर दिया है। व्याख्यान कर्ताओं के उत्सूत्रवादीपन दोषका निराकरण कर धातकी खण्डके भरतक्षेत्रके अभ्यन्तर मध्यम और बाह्यविष्कस्म योजनी द्वारा गिना ( नपा ) दिये गये हैं। इष्वाकार पर्वतीं के विवरणको भी छोडा नहीं है। इसके अनन्तर पुष्करार्ध द्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके अभ्यन्तर, मध्य, बाह्य, विष्करमीको गणितशास्त्र अनुसार निकालकर वर्षधर और भानुषोत्तर शैक्की मनोहर रचनाको दिखा दिया गया है। यहां भी दोनों इध्याकार पर्वतोंको संक्षेपसे कहते हुये गुरुवर्यने विस्तृत प्रतिपत्ति करनेवाळोंको विद्यानन्द महोदय प्रन्थके अध्य-यनकी ओर धुकाया है। आर्य, म्लेन्ल, मनुष्योंके भेद प्रभेदोंकी व्यवस्थाको अनुमान मुद्रासे साध कर क्षेत्र आर्य आदिकोंके सकारणपनको सुझाते हुये आचार्य महाराजने अन्तर्द्वीपज म्लेच्छोंकी आयु, शरीर उत्सेघ, प्रवृत्तियोंका निरूपण कर दिया है । कर्मभूमि सम्बन्धी आठ सी पचास म्लेष्छ खण्डोंके सम्पूर्ण मनुष्य और ढाई द्वीपसम्बन्धी एक सौ सत्तर आर्य खण्डोंके कतिपय चाण्डाल, कसाई, आदि **बीवोंको म्हे**ण्हाचारोंकी पालना करनेसे बहुत प्रकारके म्हेण्डोंकी व्यवस्था करा दी है। संतान परम्प-रासे चळी आयी सम्प्रदाय अनुसार यह आर्यव्यवस्था या म्लेच्छव्यवस्था विचारशील व्यवहारियोंके यहां प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम प्रमाणोंसे निश्चित है। कुछ, गोत्र, वर्ण, जाति, व्यवस्थाओंमें रहस्य अवस्य है। घोडे, कुत्ते, बन्दर, गेंहू, चना, नारंगी, आम, खुकाट, गुडाबका फूड आदिक पद्यु, अन्न, फ़रू, पुष्प इनकी सन्तान अनुसार मिन्न मिन्न जाति या कुलकोटी अनुसार संतरि ( नस्छ ) में महान् अन्तर पड जाता है । इसी प्रकार नास्तिकोंकी संतान या आर्य, म्हेन्छ, पुरुषोंकी संतान मी पारिणामिक रहस्यसे रीती नहीं है। कुलीनता, अकुली-नता, छिपी नहीं रहती है। बात इतनी ही है कि जो जिस विषयका मांपनेवाला है, बह उस विषयके सुक्षमरहस्योंका प्रक्रमतया परिवान कर ठेता है। मन्द्रकानी अन्य पुरुष उपेक्षा धारण करते हुये उस गूढ विषयतक नहीं पहुंच पाते हैं। चिर अन्यस्त शृक्मारी पुरुष अतिशीव ही

क्षियोंके सीन्दर्यको निरख छेता है । ब्रह्मचारी उदासीन पुरुष अधवा योगी या पशु उस युवती सुन्दर स्रीके लीला, स्मित, विलास, सुन्दरता, आदिको नहीं जान पाता है। मोटे, पतले, बढे, नाटे वोंमेंसे सुदृढ़ शरीरसंगठनावाळे पुरुषकी परीक्षा जितना शीव एक कुशक मछ कर केता है, उतना प्रविष्ट होकर कोई दूसरा मुनि या शास्त्रीय परीक्षामें उत्तीर्ण विद्वान् अथवा बालक, पशु, जाँहरी, क्यंचित नहीं कर सकता है। खरीदनेवाले या नहीं खरीदने वाले पुरुषों और भोली बुद्धि, चंचल बद्धिवाले प्राहकोंकी परीक्षाको पुराना दुकानदार जितना प्रविष्ट होकर कर लेता है जतना विशद रूपसे कोई नवीन दुकानदार नहीं कर पाता है। बढिया चोर या गठकटा जितना शीव्र दूसरोंके छिपे हुये धनको भांप छेते हैं, खयं घरवाछोंको घंटोंतक ढूंढने पर भी जब कि वह धन नहीं मिछता है. उस प्रकार कोई क्षेत्रक या राजा, महाराजा नहीं तांड सकते हैं । समीचीन न्यायकर्ता अनुभवी जज वडी सलभतासे मायाचारी, अस्त्यवक्ता, अभियुक्तों ( मुलाजिमों ) के वास्तविक अपराजेंको सम्मकर निप्रह या अनुप्रह कर देता है इस न्यायशासनको कोई प्रतिष्ठाचार्य या प्रशेष्टितजी महाराज कथम-मपि नहीं साथ सकते हैं। ख़फिया पुलिसके प्रवर्तनको घसखोदा गवार नहीं समझ सकता है। वीणाकी हृदयतलस्पर्शी झंकारके तत्त्वको मैंस विचारी क्या जाने ! देशभक्त महामना स्वार्थत्यागी पुरु-षोंकी समीचीन भावनाओंकी ओर स्वदेशके साथ प्रीति न**टी** रखनेवाले विनोदी पुरुषोंका करूप नहीं जाता है। स्वर्ण रत्नमय भूषणोंकी भी अवज्ञा कर देनेवाली राजमहिषीके परिवृत हार्दिक भावोंके अन्तस्तलपर विचारी गोंगची, कीडियों या पीतल, कार्सेके बने हुये गहनोंको बडे चावसे पहन रही प्रामीण स्त्री नहीं पहुंच सकती है। कुदुम्ब, परिवार, धन, महळ, राजविश्रूति आदिका परित्यागकर तपस्या कर रहे मुनिमहाराजकी परिणतिओंका परिज्ञान दीन, डीन, भिखारीको नहीं हो पाता है। प्रकरणमें यह कहना है कि छहार, सुनार, दुकानदार, पण्डित, साधु, व्यमिचारी, चोर, डाकू, कुटिला स्त्री, राजा, किसान, वैज्ञानिक, महन, बाजीगर, माली, आदि सभी जीवोंके कार्योमें बढे बढे रहस्य छिपे हुये हैं । जड पदार्थी या चेतनपदार्थीकी परिणातियां अनेक सूक्ष्म, अति सूक्ष्म, अति-शयको धार रही हैं। जो जीव जिसका जितना आमेळाषी या अभ्यासी अथवा व्यसनी है. उसमें उतना प्रविष्ठ होकर परिकान कर सकता है, सम्पूर्ण पदार्थीमें अनन्तभर्म है। जढ या चेतनोंकी सम्पूर्ण स्थ्रलसूक्ष्मपरिणतियोंको मन्द क्षयोपशमधारी जीव नहीं समझ पाता है। सम्प्रदायसे चळे आये सदाचार, असदाचारों, का प्रभाव संतान, प्रतिसंतानों, की आत्माओं पर अवस्थ पडता है । पूर्वजन्ममें जिन आत्माओंने उस उस जातिके कर्मोका उपार्जन किया है वे जीव उन उन आर्य या म्लेक्क पुरुषोंने जन्म धार रहे हैं। मध्यमें भी किसी सन्तानी व्यक्तिके आचारोंसे परिणतियें विरुक्षण हो जाती हैं। कुछ, देश, जाति, क्षेत्र, काछ, भाव, की परिस्थितियोंके अनुसार आत्माओंकी बडी बडी विशेष परिणतियां हो जाती हैं। झरोखेके छेदमेंसे सूर्य 🏁 किरमोंके पडनेपर जो: रज उडती फिरती दीखती हैं असका एक कण भी सरीरके अपर **बोध**ी

डालता है, भले ही उस बोझके दबावको स्थूल बुद्धिवाला पुरुष नहीं समझ पावे, इसमें विचारी सूक्ष्म परिणति क्या चिकित्सा करे ? यह बात किसी विचारशाली विद्वान्से छिपी नहीं है । मुखमें खाद्य पदार्थके घर हेनेपर और चलानेपर चारों ओरसे लारके फुलारोंकी बीछार होती है। रीते कियारहित मुखमें उतनी छार नहीं टपक पाती है। इंसते, खेळते, हुये बाळकको गोदमें छेकर वत्सळ माता पिताके जो परिणाम हैं उनका अनुभव मुनि महाराज या वन्ध्य पुरुष अथवा वन्ध्या स्त्रीको नहीं हो पाता है। अतः आर्यपन या म्लेच्छपनका किसीको अनुभव नहीं होय यह उसके क्षयोपरामका दोष है। मनुष्योंमें तो वस्तुभूत आर्यत्व या म्लेन्छत्व व्यवस्थित हो ही रहा है। प्राचीन मार्गसे चर्छा आ रहीं सम्प्रदायोंके प्रामाण्यका निर्णय भी कष्टसाध्य भले ही होय किन्तु असम्भव नहीं है । अनेक संप्र-दायोंका निर्णय करना तो बुद्धिपर थोडा बल देनेपर सहजसाध्य हो जाता है। सांख्योंके प्रकृति तस्त्र या वेदान्तियोंके अद्वैतवाद आदिकी कल्पनार्ये भी नयविवक्षा अनुसार किसी वस्तुभित्तिपर अवलंबित हैं, निष्कारण नहीं हैं। क्वचित् प्रसिद्ध हो रहे धर्मका ही अन्यत्र आरोप किया जा सकता है। अतः गुर्णोको कारण मान कर हुये आर्यपन और दोषोंको कारण मान कर हुये म्ळेच्छ्रपनकी व्यव-स्थाको श्री विद्यानन्द आचार्यने मछे प्रकार दर्शा दिया है। वैशेषिकोंकी मानी हुई नित्य, व्यापक, अमूर्त होरही ब्राह्मणत्व, चाण्डाळत्व आदि जातियोंका युक्तियोंसे खण्डन किया है। वस्तुतः ऊर्घता-सामान्य या तिर्यक्सामान्यको जाति पदार्थ माननेमें महती शोभा है। अनेकान्तवाद तो सर्वत्र फैल रही है। इसके आगे भरत आदि क्षेत्रोंमें कर्मभूमि, भोगभूमिका विवेक करते इये मनुष्य और तिर्य-चोंकी जघन्य, उत्कृष्ट आयुके प्रतिपादक सूत्रोंका अनातिविस्तारसे विवरण किया है। असंख्याते द्वीप समुद्रोंमेंसे मध्यके ढाई द्वीपेंका ही और जीवतस्त्रका वर्णन करते करते बीचमें द्वीपसमुद्रोंका निरूपण क्यों किया ! इन आशंकाओंका प्रत्याख्यान कर उन द्वीपसमुदोंमें मनुष्योंके उत्पादक अभ्यन्तर, बहि-रंग कारणोंका विचार किया गया है । जीवोंके आधारस्थानोंको समझानेके छिये अधोछोक, मध्यछोक, का निरूपण करना अत्यावस्थक है। इसके अनन्तर प्रकरण अनुसार श्री विद्यानन्द आचार्यने बडी विद्र-त्ताके साथ सृष्टिकर्तृवादका निराकरण किया है। अन्य प्रन्थोंमें नहीं देखनेमें आयीं ऐसी बहुतसी युक्तियों करके पौराणिक, वैशेषिक, नैयायिकोंको शक्तक्षोर डाला है। श्री विद्यानन्द आचार्य जिस विषयको पकड लेते हैं, उसको परिपूर्ण करके हैं। छोडते हैं। तृतीय अध्यायके चालीस सूत्रोंके पूरे विवरणसे प्रन्थ अपेक्षा कुछ है। धोडा और गम्भीर अर्थ अपेक्षा बहुत बडा कर्तुखण्डनका प्रकरण इस छोटेसे '' तिर्यग्योनिजानां च '' सूत्रके नीचे उसी प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यने जोड दिया है, जैसे राजवार्तिकमें " छौकान्तिकानामष्टी सागरोपमाणि सर्वेषाम् " सूत्रके विवरणमें अनेका-न्तवादको हिल्मा दिया है। गजघण्टको ब्लीबर्दपर लगा देनेसे भी एक विनोदपूर्ण शोभा हो जाती है । स्वतन्त्र उद्भट टीकाकारोंके विषयमें हम सारिखे मन्दबुद्धि पुरुषोंको समालोचना करमेका कोई अधिकार नहीं है। केवल गुरुमक्तिकश बाचार्योकी स्तुति करते हुये मुखसे ये शब्द निकाल पडते हैं।

कि जहां कहीं जब किसी विषयके प्रतिपादन करनेकी विवक्षा मगवान् श्री विधानन्द आचार्यक उपज बैठती है. निराकरणीय उस सदोष विषयका तभी वहां खण्डन कर मटियामेट कर देते हैं, और मण्डनीय निर्दोष प्रभेयको उन्नतिके शिखरपर विराजमान कर देते हैं। ऐसी प्रतिभातत्परता प्रशं-सनीय, प्रभावनीय या आदरणीय ही नहीं किन्तु पूजनीय भी है। इसके विना स्वमताप्रही, एकान्तवादी पण्डितोंके अभिमानका निराकरण और अनेकात्मक बस्तुके गृढ गर्मस्थित अतिशयोंका प्रकाश नहीं हो पाता है। ईस्वरके कर्तृवादका प्रत्याख्यान करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्यने वैशेषिकों के हेत्ओंका मंड फेर दिया है। ईक्वरको सशरीर या अशरीर नित्यज्ञानवान या अनित्यज्ञानवान कैसा भी माना जाय वैशेषिकोंके अभीष्ट कर्तवादकी सिद्धि कथमपि नहीं हो पाती है। अनवस्था, साध्यविकछ-द्यान्त. न्यतिरेकाप्रसिद्धि. कदाचितकार्यान्त्याति ये दोष झटिति. उपस्थित हो जाते हैं। सर्वथा भिन्न हो रहे छहे पदार्थ समवाय करके सर्वया भिन्न माने गये ज्ञानका ईन्तरमें वर्तना स्वीकार करनेवाले वैशोषिकोंके यहां ईश्वर कथमपि '' ज '' या जाता नहीं बन सकता है । छोष्ठके समान अज्ञ ईश्वर या मुक्तारमाके समान अशरीर ईस्वर भला जगतको कैस बना देगा ? यहां और भी अनेक सक्म विचार किये गये हैं। ईश्वरको सदारीर माननेवालेंकी विशेष रूपसे अवज्ञा की गयी है। जैसा कोठी आदिमें सिनवेशविशेष है वैसा जगत्में नहीं है। इस प्रकार किसी एकदेशीय विद्वान्के द्वारा वैशेषिकोंके ऊपर उठाये गये असिद्धत्व दोषको उचित नहीं बताकर सिननेशिवशेषादि हेतुओंने न्यमि-चार आदि दोष देना आवश्यक बताया गया है। इसके पश्चात् न्यतिरेककी असिदि बताकर ईस्वर और जगत्के कार्यकारणभावका भंग कर दिया है। काल, आकाश, आदि भी यदि कूटस्थ नित्य या सर्वधा सर्वगत माने जांय तो ये भी किसी भी अर्थिकपाको नहीं कर सर्केंगे । यह पक्की बात समझो । महेश्वरकी भिस्नका द्वारा जगत्की उत्पत्ति माननेपर बहुत अच्छा विवेचन किया है। चक्रक दोषों के प्रहारका ढंग निराला ही है। क्रम कमते होने बाली अनित्य महेश्वरिस्ट-क्षाओं अथवा नित्य एक सिसक्षा द्वारा जगतकी उत्पत्ति होनेमें अनेक दोष आते हैं। नित्य, व्यापक, होरहे ईन्बरहान और ईन्बर ईच्छा स्वरूप कारणोंका व्यतिरेक नहीं बननेसे व्यापकके अनुपठम्भ करके न्याप्य होरहे कार्यकारणमावकी असिद्धि दोषमें अरुचि दिखाते हुये अपर विद्वानोंके मुखसे वाधित हेत्यामास उठाना समुचित बताया गया है । यहांका विचार भी सादर अध्ययनीय है । अन्य एकदेशीय विद्वानोंकी सम्मति अनुसार वैशेषिकोंके ऊपर उठाये गये असिद्ध, विरुद्ध, दोषोंका अनुमोदन किया गया है। इस अवसरपर श्री विद्यानन्द आचार्य महाराजकी मित्रनीति अनुकरणीय है। वैशेषिकोंने कई बार अपने पक्षको पुष्ट करनेके छिये उच्चोग किया, किन्तु असंख्यशून्य भी परस्पर गुणित होकर यदि एकके अंकको परास्त करना चाहें तो उनका दुःसाहस निरर्थक ही समझा जायगा। अस्तु। निर्य गुणी और उसके नित्य गुणको सर्वधा भिन्न ही कह रहे वैद्रोधिकोंके पूर्वपक्ष पर स्वाद्वादियोंने गुण, द्याणीका कर्यन्ति तादाल्य सम्बन्ध साध दिया है। कार्यल, सिनेवेशनिशिष्टल, आदि हेतुओंमें धर 63

दिये । अनेक दोषोंका निराकरण करना वैशेषिकों की शक्तिका कार्य नहीं रहा । इसके आगे वैशेषिकोंके करणाव आदि अन्य हेत्ओं की भी आचार्य महाराजने निःसारता दिखायी है। यहां नैयायिकोंने चिड कर जो कुचोब उठाये हैं उनको अपने प्रन्थमें पूर्णरित्या अनुवाद कर पश्चात उन कुचोबोंका निरा-करण कर दिया है। जगंतमें अनेक प्रकारके कार्य हो रहे हैं। सबका प्रयोक्ता कोई प्रधान व्यक्ति होवे ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। एक के उत्पर एक, पूनः उसके भी अन्य अधिकारियोंकी कल्पना करते हुये अनवस्था दोष वैशेषिकोंके यहां दर्निवार बता दिया है । ईश्वरके अनादिकाळीन द्यदि नहीं सम्भवती है। दृष्ट, इष्ट, प्रमाणोंसे विरुद्ध कथन करनेवाले ईश्वरको सर्वज्ञ कहना भी उपनामास्पद है। वैशेषिकोंके सभी अनुमानोंको आचार्य महाराजने दूषित कर दिया है । वैशेषिकोंका आगम माना गया बेद, प्रमाणभूत नहीं है । हां, समीचीन अनुमानोंसे जिनोक्त आगमसे छोक अकृत्रिम सिद्ध हो जाता हैं। छोकः (पक्ष) बुद्धिमता नैव कृतः (साध्य) दृष्ट, कृत्रिम, कूटादिविलक्षणतया ईक्षण होनेस ( हेत् ) समुद्र या खानमें उपजे हुये माण, मोती, आदि हे समान ( अन्वयद्द्यान्त ) इस अनुमानके प्रत्येक अवयवको आचार्योंने बढी पृष्ट्यिक्तयोंसे सिद्ध कर दिया है। न्यर्थमें उठा दिये गये विरुद्ध आदि हेत्वाभार्सीका अचूक विध्वंसन कर दिया है। अन्य भी कितने ही मध्य, मध्यमें सविनोद स्वप-क्षमण्डन और परपञ्चलण्डन करनेमें युक्तियां दी गयीं हैं, जो कि क्षोक्रवार्तिक प्रन्थका प्रविष्ट होकर परिशोलन करनेवालोंके हृदयंगत होकर संतोषाधायक हैं। अनादि कालसे अनन्त कालतक इस जगत्की व्यवस्था जड या चेतन कारणोंके अथवा अनन्त परिणमनोंके अधीन होकर प्रवर्त रही है। एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्य कालद्रव्य, अक्षय अनन्तानन्त जीवद्रव्य और इनसे अनन्तानन्त गुणे अक्षय अनन्त पुद्रखद्रव्य ये सम्पूर्ण द्रव्य सार्विदिक, नित्य हैं। इनकी स्त्राभाविक और जीव पुद्रलों की वैभाविक भी पर्यायें न जाने किन किन कारणोंसे हो रही उत्पाद, व्यय, घ्रौव्य, स्वरूप व्यवस्थित हैं । अतः छह प्रकारके द्रव्योंका पिण्ड यह लोक अनादिनिधन चला आ रहा. अक्निन. है। किसी एक प्रेरक बुद्धिमान करके बनाया गया नहीं है। अनेक छौकिक छोटी छोटी युक्तियों द्वारा ही जब कर्तृवादका जीर्ण वस्त्रके समान खण्डन हो जाता है। पुनः निर्दोष अनुमान और त्रिछोक त्रिकाल अवाधित आगमसे तो विद्वानोंके हृदयमें छोकके अकृत्रिमपनका चमत्कारभाव स्थायी हो जाता है। जगत्की विशिष्ट परिणतियोंका अध्ययन करनेवाले सहदय सजन विद्वानों करके इस लोकका पूर्ण स्वरूप समझ लेना चाहिये। श्री उमास्वामी महाराजने तीसरे अध्यायमें जीवोंके अधिष्ठान विशेष अवोद्धोक और मध्यद्धोकका बढी गर्भीरतासे सूत्रों द्वारा निरूपण कर दिया है। प्रमाण और नय नामके अन्पर्य उपाय तत्त्रोंसे न्छोककी अन्य रचनाओंका भी परिज्ञान कर लिया जाता है। इस अकृत्रिम लोककी रचना इतनी अद्भत है कि छाखों, करोडों, प्रन्थों करके भी भरपूर नहीं कही जा सकती है। फिर भी जीवतत्त्वका सांगोपांग परिच्छेद करनेके लिये अथवा वर्माच्यानको भावनेके उपयोगी मध्यकोक्षकी विशेषस्यकीय रचनाओंकों जाननेके छिये आचार्य महाराजने मन्योंको आदेश दिया है। प्रबळ परचक्रसे विजय प्राप्त कर स्वतःसिद्ध गायनकी उपजी हुई इच्छाके अनुसार विजताको माळिनी छन्दःका प्रयोग विशेष हृदयप्राही शोभता है। तीसरे अन्यायके निरूपणको संक्षेपसे दिखाते हुये श्री विद्यानन्द स्वामीने शान्तिरस और प्रासादको बढानेवाळे शिखरिणी छन्दःकरके सूत्रकारके उदिष्ट कर्त्तव्यकी निर्विष्ठ परिपूर्णताको दर्शा दिया है। चाहे चारों अनुयोगोंमेंसे किसी भी अनुयोगका विषय होय, श्री विद्यानन्द आचार्य उसको युक्तियों द्वारा साधे विना छोडते नहीं हैं। छोकानुयोग अनुसार तत्त्वाधसूत्रके करणानुयोग सम्बन्धी वृतीय अन्यायके प्रमेयको द्वयानुयोगसम्बन्धी चर्चा करके मढ देनेवाळे श्री विद्यानंद आचार्यका प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। सद्गुरुओंके हितवाक्य सर्वाङ्गीण पथ्य हैं। समन्तात् भदका आश्रय छेकर अकळंक पथपर मुमुक्चओंको चळानेके छिये श्री विद्यानन्द आचार्यके गम्भीरप्रन्थ विद्या और आनन्दके विधायक होने ही चाहिये। यों तीसरे अन्यायके ऊपर किये गये विवरणको श्री विद्यानन्द स्वामीने दो आन्हिकोंमें परिसमाप्त कर दिया है।

चेतः सम्भ्रमकारणत्वविधुरा नोर्वी खबद्भ्राम्यति।
श्वभ्रम्छेच्छकुभोगभोगजगतीत्यादौ जनि प्राणिनां ॥
स्वस्वाद्यप्रविश्वादकुत्रिममिमं छोकश्च वै श्रद्द्ध्य ।
भव्यो ज्ञानचरित्रजुद्छिवकृते पुष्णातु सद्दर्शनम् ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री तत्त्वार्थस्त्रोकवार्तिकालंकार नामक महान्प्रन्यकी आगरामण्डलान्तर्गत चावलीप्रामनिवासी सहारनपुरप्रवासी न्यायाचार्योपाद्धित माणिकचन्द्रकृत हिन्दी देशभाषामय '' तत्त्वार्थिचन्तामणि '' टीकार्मे हृतीयाध्याय परिपूर्ण हुआ।

निर्वाषसम्बिदितस्किसुधाः स्रवन्ती । संशीतिविश्रमविमोहतमांसि इन्त्री ॥ जीवादितस्बकुसुदानि विषोधयन्ती । वाक्चन्द्रिका त्रिसुवनं धिनुताङिजनस्य ॥

#### ॥ औं नमोईत्परमेष्ठिने ॥

# अय चतुर्थोघ्यायः।

अब श्री उमालामी महाराज अधोलोक और मध्यलोकका निरूपण कर चुकनेपर उर्घलोकका निरूपण करनेके लिये " तत्त्वार्याधिगममोक्षशालप्रन्थके चौथे अध्यायका प्रारम्भ करते हैं। यद्यपि उर्घलोकिनिवासी कल्पोपपन और कल्पातीत देवोंसे असंख्याते गुणे उयोतिषी देव इस मध्यलोकमें निवास करते हैं। रजप्रभाके खरभाग और पंकमागमें असंख्यातासंख्यात भवनवासी और व्यन्तर निवास कर रहे हैं। फिर भी पूरे लोकके ठीक उपर नीचेके दो टुकड़ा कर देनेपर मध्यलोककी जड़ परसे डोरी निकल जाती है। अधोलोकके उपरक्षा खरभाग और पंकबहुलभाग निकटवर्ती संयुक्त मित्र होनेसे उपचारतः उर्घलोकमें गिन लिया जासकता है। दूसरी बात यह है कि उर्घलोकमें विराज रहे अनन्तानन्त श्री सिद्धपरमेष्ठियोंके अनन्तवें भागसे भी थोडे ये भवनत्रिक देव हैं। अतः चतुर्निकायके देवोंका निरूपण करनेवाले इस अध्यायको उर्घलोकानुयोग कह देनेमें कोई अनुपपित नहीं है अथवा "देवस्थान" इतना ही इस चौथे अध्यायके प्रतिपाद आधारका नाम रख लेना उपपत्तिपूर्ण है।

कई बार देव शब्द आया है। उन देवोंका परिद्वान कराना आवश्यक है। और अधोलोक, मध्यलोकका वर्णन करनेके पश्चात् क्रमप्राप्त ऊर्ध्वलोकका वर्णन करना भी अनिवार्य है। अतः सम्य-ग्दर्शनके विषयभूत जीवतत्त्वके कतिपय भेदोंके स्थान निर्णयार्थ श्री उमास्त्रामी महाराज चतुर्थ अध्याः यके आदिमें घनगर्जनोषम शब्द स्वरूप प्रथमसूत्रका उच्चारण करते हैं।

## देवाश्चतुर्णिकायाः॥ १॥

देवगति नामकर्मके परवश हो रहे असंख्याते संसारी जीव देव इन मवनवासी, व्यंतर, व्योतिष्क और वैमानिक चार निकायों (मण्डिक्यां) को धार रहे विराज रहे हैं।

देवगतिनामकर्मोद्ये सित दीव्यंतीति देवाः युत्याययीविरोधात् । बहुत्वनिर्देश्नोतर्गत-भेदमतिपस्यर्थः । स्वधमीवश्चेषोपपादितसामध्यीभिचीयंत इति निकायाः चत्वारो निकायाः येषां ते चतुर्निकायाः । कुतः युनश्रत्वार एव निकाया देवानामिति चेत्, निकायिनां तेषां चतुः-मकारतया वक्ष्यमाणत्वात् । ते हि भवनवासिनो, व्यंतरा, ज्योतिष्का, वैमानिकाश्चेति चतु-विधाशिकायिभेदाच निकायभेदा इति । नैक एव देवानां निकायो नापि द्वावेव त्रम्य एव वा, पंचादयोप्यसंभाव्या एव तेषामत्रांतर्भावात् ।

नाम कर्मकी गति नामक प्रकृतिके उत्तरभेदस्वरूप देवगति संक्रक नामकर्मका उदय होते संते जो दीवते रहते हैं, इस कारण वे जीव " देव " कहे जाते हैं। " दिक्कविजिगीकाम्यव-

हारपुतिस्तुतिमोदमदस्वप्रकान्तिगतिषु '' इस धातुसे अन् प्रत्यय करनेपर देव शद्व बनाया गया है प्रायः सभी देव शुति कान्ति, मगवत् स्तुति, मोद, क्रीडा आदिको धारते हैं। अतः देव शद्धा न्युत्पाचिसे प्राप्त हुये बोतन आदि अर्थोंकी अविरोधरूपसे घटना हो जानेसे मबनवासी आदि च निकायोंके उद्देश्यदलको व्यक्तियोंमें देवपना शोभ जाता है। अर्थात-अन्तरंग कारण हो रहे दे गति नामकर्मका उदय होनेपर बहिरंगमृत पति आदि कियाओंके सम्बन्धको धारनेवाछे जीव है कहलाते हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि सूत्रकारको लाधन गुणका लक्ष्य रखते हुये '' देवश्र र्णिकायः " यों सूत्र कहना चाहिये था। जाति वाचक होनेसे देव शद्ध द्वारा स्वतः ही बहुत अर्थीः प्रतिपत्ति हो जावेगी । इस प्रकार कटाक्षके प्रवर्तनेके पूर्व ही श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान व देते हैं कि देव राहका बहुवचन रूपसे कथन करना तो देवोंके इन्द्र, सामानिक, आदि या स्पि प्रभाव, गति, शरीर, आदि करके हो रहे बहुतसे अन्तर्गत भेदोंकी प्रतिपत्ति करानेके छिये 🕯 अनेक राक्ति आत्मक देवगति नामकर्मके उदयस्वरूप स्वधर्मविरोष करके प्राप्त करायी गयी सा र्थ्यसे निचयको प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात्—देव अपने अपने उपार्जित कर्मकी सामर्थ्यसे कतिर समुदायमें पुष्टिको प्राप्त हो रहे हैं, इन कारण वे समुदित देवमण्डलियां निकाय मानी जाती हैं जिन देवोंकी निकार्ये चार हैं, वे देव चार निकायवाले हैं । यदि यहां कोई बादी यों प्रश्न करे फिर देवोंके चार ही निकाय किस प्रकारसे हैं ? यों प्रश्न होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान : देते हैं कि संघ या मण्डलियोंमें रहनेवाले उन दी सी ल्यान प्रमाणांगलोंकी प्रदेशसंख्याके वर्ग जगत्प्रतर प्रदेशोंमें भाग देनेपर छन्ध हुई संख्याप्रमाण ज्योतिषी देवोंसे कुछ अधिक हो। रहे देवों चार प्रकारवाळे स्वरूपसे भविष्यमें कहना है। अतः वे देव मवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, और वैर निक, यों चार प्रकारोंसे महामण्डलस्य व्यक्तियोंका भेद हो जानेसे नियम करके निकायोंके चार के बाले हो जाते हैं। देवोंका निकाय (संघ) एक ही नहीं है। अथवा दो ही या तीन ही देवों निकाय भी नहीं हैं। तथा देवोंकी पांच, छः, सात, आठ आदि निकार्ये (टोलियां) मी असम्भ ही हैं। क्योंकि उन पांच आदिकोंका इन चारमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात्—पुराणें काचित् एक देवता शन्दसे ही सम्पूर्ण देवोंका प्रहण कर लिया है। अन्यत्र सुर, असुर या दैर आदित्य इन दो भेदोंमें सम्पूर्ण देवोंका संप्रह कर किया है। सुर असुरोंके साथ परिपुज्य देवोंके मि देनेस अन्य भी कतिपय देवोंके भेद हो जाते हैं। गणदेवताओंकी अपेक्षा, आदित्य, विका, वस, तुवि आभास्त्रर, अनिल, महाराजिक, साध्य, इद ये नी भेद माने गये हैं । योनिकी अपेक्षा देवोंके विद्याध अध्यस्त, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किनर, पिशाच, गुहाक, सिद्ध, भूत, ये दश भेद स्वीकृत किये हैं। जै सिद्धान्तमें भी इन्द्र, प्रतीन्द्र, अहमिन्द्र आदि अनेक भेद गिनाये हैं । किन्तु इन सबका उक्त चार निकाये ही अन्तर्भव हो जाता है। पीपछ, संप, अस, नदी, म्राह्मण, वायु, योनिज आदि कपोछकलि देक्ताओंके अतिरिक्ष वस्तुमूत सम्पूर्ण संसारी देवींका इन चार ही निकारोंमें अन्तर्भाव हो जाता है

#### नतु च बाह्मसीम्यमाजापत्यपेंद्रवसराक्षसभूतपिशाचानामष्टप्रकाराणामष्टी निकायाः इतो न परोक्ता इति चेत्, परायमस्य तत्मतिपादकस्य प्रमाणत्वासंभवादित्यसकुद्रिभानात्।

यहां पीराणिक पण्डितोंकी एक और राक्षा है कि ब्राह्म (ब्रह्माहम्बन्धी) र सीम्य (चन्द्रमासम्बन्धी) र प्राजापत्य दक्ष, कश्यप, आदि प्रजापतियोंके अपत्य ४ इन्द्रसम्बन्धी ५ यक्ष ६ राक्षस ७ भूत ८ पिशाच इन आठ प्रकारबाने देवोंकी आठ निकायें दूसरे विद्वानोंके यहां कहीं गयीं हैं। अतः सूत्रकारने देवोंकी ये आठ निकायें क्यों नहीं कहीं है यों शंका होनेपर तो श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करते हैं कि उन दूसरे विद्वानोंके आठ निकायोंका प्रतिपादन करनेवाने आगमकी प्रमाणताका असम्भव है, इस बातको हम कई वार अनेक प्रकरणोंमें कह चुके हैं। अपनी, अपनी, पोधियोंमें कोई भी चाहे जैक्षी अन्द्र सन्द्र बातोंको लिख देता है। किन्तु प्रमाण मूत आगमोंके विषयका आदर होता है। ब्रह्मा इन्द्र, दिति, अदिति, कश्यप, आदिसे देवोंकी सृष्टि होना कहना अलीक वचन है। अतः देवोंकी चार निकायें ही सत्यार्थ हैं।

#### नतु च नारकमनुष्याणामिवाधारवचनपूर्वकं देवानां वचनं किमर्थे न कृतमित्यार्चक-मानं मत्यावेदयति ।

पुनः किसी शिष्यका जिद्वासापूर्वक अनुनय है कि तृतीयाध्यायमें जैसे नारकी जीवोंके आधा-रका पहिले निरूपण कर पश्चाद नारकजीवोंका कथन किया है और मनुष्योंक आधार होरहे जम्बूद्वीप, भरत, आदिका पूर्वमें वर्णन कर पीछे मनुष्योंका प्रतिपादन कर दिया है, उसी प्रकार सूत्रकारको प्रथम देवोंके आधारस्थानोंका वर्णन कर पुनः आध्यभूत देवोंका वचन करना चाहिये था। ऐसा वचन श्री उमास्वामी महाराजने किस लिये नहीं किया ? पद्धतिभगदोषको क्यों स्थान देते हो ? इस प्रकार आशंका कर रहे विनीत शिष्यके प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी बढिया ढंगसे वार्तिकों हारा समाधान वचन कहते हैं।

## देवाश्रतुर्णिकाया इत्येतत्सुत्रं यदम्बीत् । नारकाणामिवाधारमनुत्क्वा देवसंविदे ॥ १ ॥ सूत्रकारस्तदेतेषां लोकत्रयनिवासिनां । सामर्थ्यादूर्वलोकस्य संस्थानं वक्तुमहत्त ॥ २ ॥

नारिक्योंके आधार समान देवोंके आधारको प्रथम नहीं कहकर सूत्रकार श्री उमास्वामी महा-राज जो " देवाश्वतुर्णिकायाः" यो इस सूत्रको कह चुके हैं । वह तीनों लोकोंमें निवास करनेवाले चतुर्निकायसम्बन्धी इन देवोंको सामध्यस अर्थलोककी रचना विशेषको कहनेके लिये सूत्र बना हिसा है। अर्थात्—देवोंका कोई विशेष स्थान नियत होता तब तो सातों नरक या मनुष्य छोकके स देवस्थानोंका भी नियत रूपमे वर्णन कर दिया जाता। किन्तु देव तीनों छोकमें रहते हैं और सूत्रका अधोछोक और मध्यछोककी वर्णनाके पश्चात् उर्ध्वछोकका वर्णन करना है। अतः आधारपूर्वक ध योका कथन नहीं कर छघु उपाय द्वारा आधेयपूर्वक आधारोंका कथन करना न्यायप्राप्त है। वस प्रकरणकी सामर्थ्य इसी ओर झुका रही है।

न हि यथा नारकाणामाधारः प्रतिनियतोऽधोलोक एव प्रतुष्याणां च पानुषोत्तरान्म लोक एव, तथा देवानामूर्ध्वलोक एव भूयते । भवनवासिनामधोलोकाधारतयैव श्रवण न्यंतराणां तिर्यग्लोकाधारतयापि श्रूयमाणत्वात् । ततो लोकत्रयनिवासिनां सामर्थ्याद्ध्वलोव संस्थानं च मृदंगवद्ववतुमैहत मूत्रकारः आधारमनुक्त्वा निकायसंवित्तये सूत्रमणयनात् ।

जिस प्रकार नारिकयोंका आधार अधोछोक ही ठीक नियत हो रहा है और मनुष्योंका अ मानुषोत्तर पर्वतसे भीतरका मध्यंबोक ही प्रतिनियत है, तिस प्रकार देशेंका आधार स्थानप्रामा शाखों हारा केवल ऊर्ध्वलोक ही नहीं ज्ञात किया जा रहा है। क्योंकि भवनवासियोंका अवीलोक ही । आधारपने करके आम्नायप्राप्त शाखोंद्वारा सुना जा रहा है। अर्थात्-त्रिक्षोकसारमें भी यों छिए कि " वेतर अप्पमहिश्रय मिन्समभवणामराणभवणाणि, भूमीदोधो इगिद्रगबादाळसहस्सहगिळक्ष रयणपहर्षको भागे असराण होंति आवासा. भौम्मेस रक्खसाणं अवसेसाणं खरे भागे " तथा ब देवोंका आधारपने करके तिर्थग्छोक भी सर्वज्ञ आम्नात शाखदारा ज्ञात किया जा रहा है। " नि इरादु जावय मेरुद्यं तिरियलोयवित्थारं, भोम्मा इवंति भवणे भवणपुरावासगे जोग्गे "। ततीयाच्यायके प्रथम सत्रकी राजवार्तिकमें '' तत्र खरप्रथिवीभागस्योपर्यथक्षेक्षेत्रं योजनर परित्यज्य मध्यमभागेश चतुर्दशस योजनसहस्रोत किंतरिकपुरुषमहारगगंधर्वयक्षभूत सप्तानां व्यंतराणा. नागिश्रयुःसुपर्णाम्निशातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणां चावासाः । पं मबहुळभागेऽद्वरराक्षसानामावासाः '' तिस कारणसे तीनों छोकोंमें निवास क शीक ( देव, आदतको ) धारनेवाले देवोंकी चार निकायोंके कण्ठीक निरूपणकी साम ही विना कहे अर्धलोक्तका मृदंग (पलावज ) के समान संस्थानको कहनेके लिये सूत्र अमिकाषा रखते थे। अतः देवोंके आधारस्थानको नहीं कह कर उनकी निकायोंका दन करानेके किये श्री उमास्त्रामी महाराजने प्रथम ही " देवाश्वत्रिकितयाः " यह सन्न बना 🕯 मार्वार्थ-अधीलोक और मध्यलोक हा निरूपण कर चुकनेपर उर्ध्वलोकका निरूपण तो आगे पछिके प्रस्पण द्वारा विना कहे ही ज्ञात कर किया जाता है। देवोंका स्थान एक उच्ची ही नियत भी नहीं है। तिर्धेश्व भी तीनों लेकोमें रहते हैं। अतः देवोंके स्थानविशेषको बत किये अर्थकीक स्थानका निक्रपण करना सूर्वकारको अनिवार्य नहीं पढ़ा । जो विवय विना को केवछ सामर्थ्यसे ज्ञात कर छिया जाता है, उसके छिये सूत्र रचना करना पुनरुक्तसारिखा है। अतः आधारिवरोषको नहीं कह कर तीनो छोकके यथायोग्य आधेय हो रहे निकायोंका प्रतिपादक सूत्र चतुर्थ अध्यायों प्रथम स्थान पा गया है।

अब उन देवोंकी टेश्याओंका निर्णय करनेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

## आदितिम्रिषु पीतांतलेश्याः ॥ २ ॥

भवनवासी, न्यंतर, ज्योतिष्क, और वैमानिक इन चार निकायोंमें आदिसे प्रारम्भ कर भवनवासी, न्यंतर, ज्योतिष्क, इन तीन निकायोंमें पीतपर्यन्त लेक्यावाले देव हैं। अर्थात्—भवनिक देवोंके कृष्ण, नील, कापोत, और पीत ये चार लेक्यायें पायी जाती हैं। कोधादि कषाय परिणामींक साथ जो मन, वचन, कायका अवलम्बन रखनेवाले योगोंकी प्रवृत्ति हो जाती है, आत्माकी इस संकीर्ण परिणातिको लेक्या कहते हैं। कौलुष्य या तृतीयगुणस्थान अथवा तृतीय गुणस्थानके दिधगुढ-मिश्रत स्वादके समान मिश्रमाव अथवा तीसरे गुणस्थानमें पाये जा रहे सम्यग्निय्यापनसे मिले हुये जान एवं '' शब्दार्थोमयपूर्ण '' और '' आलोचनप्रतिक्रमणतंदुभय '' यहां पढे हुये जमय इनको समझनेवाले विद्वान् लेक्या स्वरूप संकर परिणातिके रहस्यको झिटित समझ लेते हैं। चारित्रमोहनीय-कर्मकी चारो जातिके चार कोध या चार मान आदि और हास्य, रित, भय, जुगुप्सा, एक कोई सा वेद, यों एक साथ नी प्रकृतियोंका किसी मिष्यादृष्ठिके उदय होनेपर जैसे एक चारित्र गुणकी नी पर्यायात्मक एक संकर विभाव परिणाति होती है, इसी प्रकार कषाय और योगकी मिश्रणात्मक लेक्या नामकी चित्रपरिणाति हो जाती है।

संक्षेपार्थिमिहेदं सूत्रं छेक्यामकरणेऽस्य वचने विस्तरमसंगात् । तेन भवनवासिव्यंतर-ज्योतिष्कानिकायेषु देवाः पीतांतछेक्या इति । इह दु देवा इत्यवचनमनुषुचेभैवनवास्याध-वचनं च तत एव ।

स्त्रकारने प्रन्थका संक्षेप करनेके लिय केश्याका प्रकरण नहीं होनेपर भी यहां यह लेश्याका प्रातिपादक स्त्र कह दिया है। यदि लेश्याके प्रकरणमें इस स्त्रको कहा जाता तो शब्द सन्दर्भके अधिक विस्तार होनेका प्रसंग हो जाना, यह तुष्छ दोष लग बैठता। अर्थात्—'' पीतपचशुक्छ-केश्या दित्रिशेषेषु '' इस स्त्रके पहिले या पीले यदि भवनत्रिक देवोंकी लेश्याको कहा जाता तो वहां प्रन्थ बढ जाता अथवा इसीको नबीन ढंगसे केश्याका प्रकरण मानकर यहां पीतपचशुक्छिल्या दित्रिशेषेषु '' सूत्र कहा जाता तो यहां सीधर्म आदि स्वर्गोका निरूपण करना आक्ष्यक होता। अतः संक्षेपके लिये सूत्रकारको यों यथादछ प्रन्थका गृंधना ही समुचित प्रतीत हुआ है, जो कि सर्वांग सुचारु है। तिस कारण इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार है कि भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, इन

तीन निकायोंमें विराज रहे देव यथाचित पीतपर्यंत यानी कृष्ण, नील, कापोत, पीत, लेक्यावाले हैं यहां प्रकरणोंने संक्षेपित कथन करनेपर तो देवाः इस शब्दका कथन करना नहीं पढ़ा। क्योंकि पूर्वसूत्रां " देवाः " पदकी अनुवृत्ति होजाती है और सूत्रकारको भवनवासी, व्यंतर, आदि निकायोंका म कण्ठोक्त निरूपण नहीं करना पड़ा। क्योंकि तिस ही कारणसे यानी भवनवासी आदि निकायोंकी पू सूत्रसे ही अनुवृत्ति होस्ही है।

क्यिमिह निकायेष्वित्यनुवर्तियतुं शक्यं, तेषामन्यपदार्थे दृतौ सामध्याभावात् वत्वारश्च ते निकायाश्वतुर्णिकाया इति स्वपदार्थायामिष दृतौ देवा इति सामानाधिकरण्याद्व पपत्तिरिति चेका, उभयथानि दोषाभावात् । अन्यपदार्थायां दृतौ ताविककायेष्विति श्वक्य मनुवर्तियतुं । त्रिष्विति वचनसामध्यीत् त्रित्वसंख्यायाश्च संख्येयैविना संभवाभावादन्येषा मिहाश्चतत्त्वात् मकरणाभावाच त्रिनिकायैरेव तैमीवितव्यमित्यर्थसामाध्यीकिकायानुष्विः स्वपदार्थायामिष दृतौ तत एव तदनुष्वतिः प्रधानत्वाच निकायानां चतुःसंख्याविशेषणर्शि तानामनुवृत्तिघटनात् त्रित्वसंख्यया चतुःसंख्याया चाधितत्वात् । देवा इति इति सामानाधि करण्यं तु निकायनिकायिनां कथंचिदभेदाक्ष विरुध्यते ।

यहां किसी पण्डितका आक्षेप है कि इस दूसरे सूत्रमें त्रिष्ठ राद्धका सामानाधिकरण्य करने छिये " निकायेषु " ऐसे सप्तमी बहुवचनान्त पदकी अनुवृत्ति करना आवश्यक है। किन्तु पूर्व सूत्र " निकायाः " ऐसा प्रथमा विभक्तिका बहुवचनान्त पद पडा हुआ है। और वह भी " चतुनि कायाः " यहां समासवृत्ति द्वारा चतुर शद्भके साथ चुपट रहा है। " पदार्थः पदार्थनान्वेति नत्वेकदेशेन एकयोगनिर्दिष्टानां सइ वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः '' इन नियमोंके अनुसार यहां निकायेषु इस प्रकार सतः बहुवचनान्त पदकी भला किस प्रकार अनुवृत्ति की जा सकती है ! क्योंकि उन निकायोंका अन्य पद र्थको प्रधान माननेवाळी बहुत्रीहि नामकी बृत्ति होनेपर स्वतंत्र बने रहनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है चत्वारो निकायाः येषां '' यों बहुवीहि समास करनेपर '' समर्थः पदिविधिः '' के अनुसार दोनों पदींव सामर्थ्य परस्परमें भिड रही मानी गयी है। भाण्डागार ( खजाना ) में दो अधिपतियोंके ताळे छ चुकनेपर पुनः एक ही अधिपतिको भाण्डागार खोळनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है। उसी प्रकार या " चतुर्निकायाः " में से निकायाः अथवा " अर्थवशात् विभक्तेर्विपरिणामः " इस न्यायसे त्रिष्र पदं समिभिव्याहार अनुसार निकायेषु पदकी अनुवृत्ति नहीं की जा सकती है। हां, चार जो वे निकाय : विष्णह कर बनाये गये चतुर्निकायाः इस शहूकी स्वपदार्धप्रधाना कर्मधारय समास नामकी वृति मानने पर यद्यपि स्वतंत्र रूपसे समर्थ हो रहे निकाय शद्भकी अनुवृत्ति की जा सकती है, तो भी '' देवा इस पदके साथ सामानाविकरण्य नहीं बन सकता है। क्योंकि अनुदृत्त किये गये "निकायाः" शद्ध · साय " देवाः " यह पद चळ रहा है। और " पीतान्तकेश्याः " पद भी देवपरक है। कि

त्रिषु राह्नकी पराधीनतासे विपरिणत हो गया निकायेषु यह पद अपने संसर्गी देवाः इस प्रथमान्त बहुवचनके समानाधिकरणपनको कथमपि रक्षित नहीं रख सकता है। इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तनेपर प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि अन्यपदार्थप्रधान या स्वपदार्थप्रधान दोनों प्रकार वृत्ति करनेपर भी कोई दोष नहीं आता है। देखिये, सबसे पहिले अन्य पदार्थको प्रधान रखनेवाली " चार हैं निकाय जिन्होंके " ऐसी बहुब्रीह समासवृत्ति करनेपर तो निकायेषु यों सप्तमी बहुवचनान्त पदकी अनुकृत्ति की जा सकती है। क्योंकि त्रिषु इस प्रकार सप्तमी बहुवचनान्त पदके कथनकी वैसी सामर्थ्य है। कारण कि त्रित्व नामकी संख्याका गिनने योग्य संख्येयोंके विना ठहर जाना असम्भव है। निकायोंके अतिरिक्त किन्हीं अन्य घट, पट, उदासीन पदार्थीका यहां श्रुतज्ञान नहीं किया जा रहा है और उनका प्रकरण भी नहीं है। यहां त्रिषु पदके विशेष्य दु होने योग्य उन भवनवासी आदि तीन निकायोंको ही होना चाहिये। इस प्रकार अर्थकी सामर्थ्यसे सप्तमी बहुवचनान्त बनाकर निकाय शब्दकी अनुवृत्ति कर छी जा सकती है। तथा दूसरी स्वपदार्थप्रधान कर्मधारय। वृत्तिके करनेपर भी तिस है। कारणसे यानी त्रिष्का श्रनण होनेसे उस निकायेषु की अनुवृत्ति की जा सकती है और कर्मधारय समासमें चतुर शब्दके समान निकायोंकी भी प्रधानता हो जानेसे चतुर संख्या नामके विशेषणसे रहित हो रहे केवल निकायोंकी अनुवृत्ति हो जाना घटित हो जाता है। इस मुत्रमें कण्ठोक्त की गयी त्रित्व संख्या करके निकायाः के पुंच्छळा हो रही चतुःसंख्याको बाधा युक्त कर दिया जाता है। अतः चार संख्या निकायेषुका पीछा छोड देती है। रही यह बात कि देवाः इसके साथ निकायेषुका सामाना-विकरण्य बिगड गया, इसपर हमारा यह कहना है कि निकाय ( समुदाय ) और निकायी (समुदायी ) इनका कथंचित अभेद हो जानेसे '' देवाः पीतान्तलेश्याः '' यों सामानाधिकरण्य वन जाना तो विरुद्ध नहीं पडता है। यानी निकाय और निकायियोंकी भेदिनवक्षा करनेपर निकायेषु देवाः यों भेदसूचक सप्तमी विभक्तिको बीचमें टाकर पीतान्तछेश्याःके साथ अभेद करते हुये वाक्यसन्दर्भ सुघ-टित हो जाता है। कोई आपत्ति होनेका प्रसंग नहीं है।

त्रिनिकायाः पीतान्तलेक्या इति युक्तमिति चेन, इष्टविपर्ययमसंगात् । आदित इति वचने त्वत्र सूत्रगौरवमनिवार्य । ततो यथान्यासमेवास्त्र ।

छपुता ही को अन्तिमछक्ष्य स्थीकार करता हुआ कोई पण्डित आक्षेप करता है कि "आदितिकषु पीतान्तछेश्याः " इतना छम्बा सूत्र नहीं बना कर केक्छ " त्रिनिकायाः पीतान्तछेश्याः " इतना छोटा सूत्र बनाना ही समुचित है । भवनवासी, ज्यंतर, ज्योतिष्क इन तीन निकायवाछ देव पीतपर्यंत छेश्याओंको धार रहे हैं । यह अभिप्रेत अर्थ प्राप्त हो ही जायगा । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि इष्ट अर्थसे विपरीत अर्थकी प्राप्त हो जानेका प्रसंग बन बैठेगा । तीन निकायोंमें भवनवासी, ज्यंतर, वेमानिक, या ज्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक, वैमानिक अथवा भवनवासी, ज्योतिष्क, वैमानिक, यो इन तीन

निकायोंके मी पीत पर्यन्त देश्याका विधान समझा जायगा। जो कि जैन सिद्धान्त अनुसार इक्षं विपरीत है। यदि वह पण्डित यों कहे कि आदितः सन्द जोडकर "आदितिकिनिकायाः पीतान्तदेश्यां आदिसे देकर तीननिकाय वाद्ये देव पीतपर्यन्त चार देश्याओंको धार रहे हैं, यो स्त्रद्वारा कृष्ण किये जानेपर इष्टसे विपरीत अर्थके प्राप्त होजानेका प्रसंग नहीं आवेगा। आचार्य कहते हैं कि ये कहने पर भी तो यहां सूत्रका दुम्बा, चौडा गौरव दोष अनिवार्य ही रहा। तुम्हारे "आदितिकिनिकाया पीतान्तदेश्याः " इसकी अपेक्षा तो सूत्रकारके " आदितिकिषु पीतान्तदेश्याः " यो सूत्र बनानेमें है छाधव गुण है, दष्ट अर्थ भी सुघटित होजाता है। तिस कारण जैसा सूत्रकारने सूत्रका विन्यास किय है वही बहुत अच्छा बना रहो।

किमर्थिमिहादित इति वचनं १ विपर्यासनिद्वत्यर्थे, अंतेन्यथा वा त्रिष्विति विपर्यासस्या न्यथा निवारियतुमञ्जकः । झेकनिवृत्त्पर्थस्तु त्रिष्विति वचनं । चतुर्निवृत्त्यर्थे कस्माक भवति । आदित इति वचनात् चतुर्थस्यादित्वासंभवात् , अंत्यत्वात्यंत्रमादि निकायानुपदेशात् ।

कोई तटस्य पुरुष प्रयत्न करता है कि यहां सूत्रमें आदितः यानी आदिसे प्रारम्भ कर र आदी इति आदितः आदिमें यह तीन अक्षरत्राला पद सूत्रकारने किसल्यि कहा है ? श्री विद्यानन स्वामी इसका समाधान करते हैं कि विपर्यासकी निवृत्तिके लिये आदितः कहा गया है। अन्तर्मे तीन निकाय अथवा अन्य प्रकारोंसे मनुष्य, तिंथीच, देव इन तीनमें या भवनवासी, कल्पासी, कल्पा तीत इन तीनमें इत्यादि प्रकारसे प्राप्त हो रहे निपर्यासकी अन्यथा यानी आदितः इस पदका कथ किये विना निवृत्ति नहीं की जा सकती है। अतः आदितः पद सार्थक है। आदिसे प्रारम्भ कर तीः निकायोंमें या आदिभूत तीन निकायोंमें पीतपर्यन्त छेश्या है। यह अर्थ सुळव्ध हुआ। तथा झ मुत्रमें त्रिषु इस प्रकार बचन तो दो निकाय और एक निकायकी निवृत्तिके छिये हैं। अर्थात्— आदिकी दो या एक निकायोंमें पीतपर्यन्त छेस्या नहीं, किन्तु आदिकी तीनों निकायोंमें पीतपर्यन छेऱ्या है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करै कि संख्येयपरक त्रिशब्द करके नियत तीन निकायोंक कथन करते हुये जैसे दो, एक, इन न्यून संख्याओंकी न्याष्ट्रित कर छी जाती है, उसी प्रका प्रकरण प्राप्त अधिक हो रही चार संख्याकी निवात्तिके छिये किस कारणसे त्रिष्ठ शहकी सकळत नहीं कहीं जाती है ! देखों " पंचेन्द्रियाणि " कह देनेसे एक, दो, तीन, चार, और छ सात, आठ, आदि इन्द्रिगोंका पांच पदसे व्यवच्छेद हो जाता है। इसके उत्तरमें आचा कहते हैं कि आदितः इस प्रकार सूत्रकारने कथन किया है। यदि चारों निकाय ही अभी। होते तो आदितः कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। आदितः कहनेपर चार निकायोंमेंसे कमसे का एक निकायको तो छोडना चाहिये। तभी आदितः कथन सफल होसकता है। चौथे निकायको आदि पनेका असम्भव है। क्योंकि चौधा वैमानिक निकाय सम्पूर्ण चारों निकायके अन्तमें पड़ा हुआ है। हो, यह पांचवें, छठवें, कोई अन्य निकाय होते तो चौथा भी पांचवे, छठवेंका आदिभूत होसकता था, किन्तु सिद्धान्तमें पांचवें, छट्टे, आदि देव निकायोंका उपदेश नहीं किया गया है। अतः सूत्रकारने जितना कहा है विपर्यासोंकी निवृत्तिको करता हुआ उतना ही सूत्र सर्वाग सुन्दर है।

आधेषु पीतान्तलंक्या इत्यस्तु लघुत्वादिति चेन्न, विपर्ययमसंगात् । आदौ निकाये भवा आचा देवास्तेषु पीतान्तलेक्या इति विपर्ययो यथान्यासं सुञ्चकः परिहर्त्ते, निःसंदेहार्थे वैवं वचनं ।

पुनः छघुताको ही जीवनप्राण स्वीकार कर रहा पण्डित कह रहा है कि लाघव गुण होनेसे "आधेषु पीतान्तलेक्याः" आदिमें होने वाली निकायोंमें पीतपर्यन्त लेक्या हैं, इतना ही छोटा सूत्र बनाया जायन चौथी निकायका आधपदसे प्रहण नहीं होसकनेको आप जैन स्वयं स्वीकार कर चुके हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सिद्धान्तसे विपरीत होरहे अर्थके प्राप्त हो जानेका प्रसंग हो जायेगा। आदिकी निकायमें होनेवाले देव आधा कहे जायंगे, उन आदि निकायवाले दश प्रकार भवनवासी देवोंमें ही पीतान्तलेक्याका विधान होसकेगा। इस प्रकार विपरीत अर्थकी आपित होगी। हां, जैसा सूत्रकारने सूत्र रचा है उस ढंगसे विन्यासका अतिक्रमग नहीं किया जाय तो सम्पूर्ण विपर्यासोंके प्रसंगका सुलभतया परिहार किया जास करा है और सबसे अच्छा समाधान यह है कि किसी प्रकारका सूत्रप्रमेयमें सन्देह नहीं रह जाय। स्परक्षिते अभिनेत अर्थका निर्णय हो जाय। अतः संरेहोके निरासके लिये "आदितिलेख पीतान्तलेक्याः " इस प्रकार सूत्र पढ़ा गया है।

अथ पीतान्तवचनं किमर्थे ? लंक्यावधारणार्थे, कृष्णा नीला कपोता पीता पद्मा शुक्ला क्रिक्येति पाठे हि पीतांतवचनात् कृष्णादीनां संप्रत्ययो भवतीति, पद्मा शुक्ला च निवर्तिता स्यात्।तेन त्रिष्वादितो निकायेषु देवानां कृष्णा नीला कपोता पीतेति चतस्रो लेक्या भवंतीति।

यहां अब कोई नवीन प्रकरणकी शंका उठाता है कि सूत्रकारने पीतपर्यन्त यह कथन किस छिये किया है! आचार्य समाधान करते हैं कि सम्भन रहीं छेश्याओं का नियम करने के छिये पीतान्त पद कहा गया है। "किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुनक लेखाय, लेखाय, लेखाणं णिहेसा छण्चेत्र हवंति णियमेण "(गोम्मटसार जीवकाण्ड) कृष्णा, नीला, कपोता, पीता, पत्रा, शुन्ला थे हह लेश्यायें हैं, इस प्रकार पाठ होनेपर पीतपर्यन्त कथन करनेसे कृष्ण, नील, कापोत, पीत, इन जातिकी चार लेश्याओंका मले प्रकार सम्बेदन हो जाता है। पद्मा और शुन्ला छेश्याकी निवृत्ति कर दी जावेगी। अर्थात्—" सम्भवन्यभिचारान्यां स्यादिशेषणमर्थत्रत्, स्वपरात्मोपादानापोहनन्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुनं, स्वचतुष्टयापेक्षयास्तित्वं और परचतुष्टयापेक्षया नात्तित्वं ये दो स्वभाव ही वस्तुको मृत्युसे या सांकरीसे बचाकर स्वांशोंमें सर्वदा जीवित बनाये रखते हैं। स्वपक्षमण्डन, परपक्षखण्डन जैसे वादी, प्रतिवादी, करते हैं, उसी प्रकार इस युद्धको सम्पूर्ण वस्तुयें या वस्तुके अखिल अंश भी ठाने रहते

हैं। अन्यया एक समय भी परचक्रसे स्व को रिक्षत रखना असम्भव ही समझो। तिस कारण आदिम तीन निकायोंमें देवोंके कृष्ण, नीछ, कापोत और पीत इस प्रकार चार छेश्यायें होती हैं, यों सूत्रका अर्थ सुसंगठित हो जाता है।

#### अन्यया कस्माञ्च भवंति तेषु देवा इत्युच्यते ।

सूत्रोक्त अर्थमें युक्तियोंकी अभिलाषा करता हुआ कोई संशयाल पण्डित प्रश्न करता है कि उन निकायोंमें देव अन्य प्रकारों करके किस कारणसे नहीं होते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द आचार्य अग्रिमवार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

### त्रिष्वाद्येषु निकायेषु देवाः सूत्रेण सूचिताः । संति पीतांतलेश्यास्ते नान्यथा बाधितत्वतः ॥ १ ॥

आदिमें होनेवाली भवनवासी, न्यन्तर, ज्योतिष्क, इन तीन निकायोंमें समुदित हो रहे देव तो पीतपर्यन्त लेश्याओं को धार रहे विद्यमान हैं। इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके इस सूत्र द्वारा तत्त्वसूचन किया गया है। वे भवनित्र देव भवनवासी, न्यन्तर, ज्योतिष्क के अतिरिक्त अन्य प्रकारोंसे न्यविश्वत नहीं है। तथा पीतान्त लेश्याधारीपन के सिशाय अन्य प्रकार पद्मशुक्ल लेश्यावाले भी नहीं है। क्योंकि यो अन्य प्रकारोंसे भवनित्र देवोंकी न्यवस्था माननेपर बाधा प्राप्त हो जावेगी निर्वाध सिद्धान्त सूत्र अनुसार ही है।

न तावहेवाः सूत्रोक्ताः संतोन्यथा भवंति, सुनिश्चितासंभवद्वाधकत्वात्सुखादिवत् । नापि त्रिषु निकायेषु पीतांतलेक्याः सूत्रेणोक्तास्तदन्यथा पश्चलेक्याः शुक्ललेक्याः वा भवंति, तत एव तद्वत् ।

सूत्रमें कहे जा चुके ढंग अनुसार प्रवर्त रहे संते तीन निकायके देव तो अन्य प्रकारोंसे नहीं सम्भव रहे हैं (प्रतिज्ञा) बाधक प्रमाणोंके नहीं संभवनेका बहुत अच्छा निश्चय किया जा चुका होनेसे (हेतु) अपने अपने अनुभूत किये जा रहे सुख, वेदना, शल्य, आदिके समान (अन्वयदद्यान्त) इस अनुमान करके देवोंकी आगम द्वारा श्रूयमाण हो रही सूत्रोक्त व्यवस्थाको साध दिया गया है तथा तीन निकायोंमें पीतपर्यंत छेक्यावाछे देव जो इस सूत्रकरके कहे गये हैं। वे अन्य प्रकारोंसे पद्मछेक्यावाछे अथवा शुक्छछेक्यावाछे भी नहीं सम्भवते हें (प्रतिज्ञा)। तिस ही कारणसे थानी बाधक प्रमाणोंके असम्भवका अच्छा निश्चय किया जा चुका होनेसे (हेतु)। उसीके समान यानी अपनेसे अतिरिक्त प्राणियोंको अतीदिय हो रहे किन्तु निजको स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष द्वारा परिगृहीत हो रहे अपने सुख, दुःख, शोक, संतोप, भय, आदिके समान (अन्वयदद्यान्त)। इस प्रकार दो अनुमानोंकरके सूत्रोक्त उदेक्यदछ और विधेयदछ दोनोंके प्रमेयको श्री विद्यानन्द आचार्यने अवधारणका ताला स्थाते हुथे सिद्ध कर

दिया है। छक्षणके श्राद्धियाति, अन्याति और असम्भव दोषों तथा हेतुके न्यमिकार, विरुद्ध, श्राद्धि दोषोंसे रहित हो रहा इस सूत्रका प्रमेय निष्कर्णक है।

अब उन चारों निकायों के अन्तरंगमें प्राप्त हो रहे विकल्पोंकी प्रतिपत्ति कराने के छिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

## दशाष्ट्रपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ॥ ३ ॥

दश, आठ, पांच, बारह ये बिकल्प इन मयनवासी, व्यन्तर, अयोतिष्क, और वैमानिक देवोंके हैं। किन्तु वैमानिकोंमें कल्पातीत देवोंको नहीं पकड कर षोडश स्वर्गवासी कल्पोपपन देवोंतक ही उक्त व्यवस्था समझ छेनी चाहिये।

देवाश्रद्धणिकाया इत्यज्ञवर्तमानेनाभिसंबंधोस्य चतुर्णो निकायानामंतर्विकल्पमतिपादनार्थ-त्वात् न पुनरादितिश्वाष्ट्रित्यादीनां पीतांतल्लेक्यानां कल्पोपपमपर्यतत्वाभावात् । तेन चतुर्णो देवनिकायानां दश्रादिभिः संख्याश्रन्दैर्ययासंख्यमभिसंबंधो विज्ञायते, तेन भवनवासिन्यंतर्-क्योतिष्कवैमानिका दश्राष्ट्रपंचद्वादश्रविकल्पा इति । वैमानिकानां द्वादश्रविकल्पांतःपातित्वे मसक्ते तद्यपादनार्थे कल्पोपपमपर्यतवचनं, ग्रैवेयकादीनां द्वादश्रविकल्पवैमानिकबिद्दर्भावमतीतेः। एतदेवाभिधीयते ।

देव चार निकायवाछे हैं, इस प्रकार अनुकृत्त किये जा रहे प्रथम सूत्रके साथ इस तृतीयसूत्रका खारों ओरसे सम्बन्ध हो रहा है। क्योंकि प्रन्थकारको चारों निकायोंके अन्तरंग हो रहे भेदोंकी शिष्योंको प्रतिपत्ति करा देना प्रयोजन अभीष्ट हो रहा है। किन्तु फिर इस तृतीयसूत्रका द्वितीय सूत्रके खाथ सम्बन्ध नहीं हैं। क्योंकि आदिसे छेकर तीन निकायोंमें इत्यादि द्वितीय सूत्रवाक्यकरके कहे गये पीलपर्यन्त छेक्यावाछे भवनत्रिक देवोंके कल्पोपपन्न पर्यन्तपनका अभाव है। चारों निकायके देव तो कल्पोपपन्नपर्यन्त कहे जा सकते हैं। तीन निकायके नहीं। तिस्र करके चारों देवनिकायोंका संस्थावाची दश, आठ, आदि संस्थावाचक शद्धोंके साथ यथासंख्य ठीक सम्बन्ध हो जाना जान किया जाता है। तिस कारण इस सूत्रका अर्थ यों सुघटित हो जाता है कि भवनवासी देव दश प्रकारके हैं। व्यन्तरनिकायके देव आठ प्रकारके हैं। अ्योतिष्क देव पांच विकल्पोंको धार रहे हैं। और वैमानिक देवोंके अन्तरंग मेद बारह है। यहां सूत्रका उत्तरार्ध नहीं करनेपर सम्पूर्ण कल्पोपपन और कल्पातीत वैमानिकोंका बारह मेदोंके मीतर ही। अन्तः प्रविष्ट हो जानेका प्रसंग प्राप्त हो जाता। इस अनिष्ठप्रसंगका निराक्षण करनेके छिये सूत्रकार कल्पोपपन पर्यन्त ऐसा वचन सूत्रके साथ छगाये देते हैं। क्योंकि मैनेयक आदि विमानवासी कल्पातीत देवोंका बारह मेदनाछे कल्पोपपन वैमानिक

देवोंसे पृथग्भाव प्रतीत हो रहा है। इस ही सिद्धान्तको श्रीविद्यानन्द स्वामी अप्रिम वार्त्तिक द्वारा युक्तिमूर्वक कहे देते हैं।

## चतुर्घ्विप निकायेषु ते दशादिविकल्पकाः। कल्पोपपन्नपर्येता इति सुत्रे नियामतः॥ १॥

चारों भी निकायोंमें वर्त रहे वे देव (पक्ष ) दश, आठ, आदि विकल्पोंको धार रहे हैं। (साध्य ) क्योंकि सूत्रमें ही कल्पोपपन्नपर्यन्त इस प्रकार नियम कर दिया गया है (हेतु )। सर्वत्र असंभवद्वाधकत्वात् इस युक्ति करके आगमोक्त सिद्धान्तींका निर्णय हो जाता है।

चतुर्निकाया देवा द्ञादिविकस्पा इत्यभिसंबंधे हि वैमानिकानां द्वाद्यविकस्पांतः-पातित्वमसक्तो कल्पोपपक्षपर्यता इति वचनाश्चियमा युज्यते, नान्यथा । इन्द्रादयो दश्चमकारा एतेषु कल्प्यंत इति कल्पाः सौधमीदयो स्विवशास भवनचासिनः । कल्पेष्पपनाः कस्पो-पपनाः साधनं कृता बहुलमिति ब्रन्तिः मयूरव्यंसकादित्वाद्वा, कल्पोपपनाः पर्यते येचां ते कल्पोपपक्षपर्यन्ताः माग्रवेवयकादिभ्य इति यावत् ।

पहिले सूत्र और तीसरे सूत्रका दोनों ओरसे सम्बन्ध कर जब कि चार निकायवाळे देव दश आदि भेदोंको धार रहे हैं, यह अर्थ बन बैठता है तो कल्पवासी और अहमिन्द्र इन सम्पूर्ण वैमा-निक देवोंको बारह भेदोंके भीतर ही प्रविष्ट होनेका प्रसंग आया । ऐसी दशामें सूत्रकारको एक ही अवलम्बनीय उपाय हो रहे " कल्पोपनपर्यन्त " इत कथनसे मर्यादाकी नियति कर देना यक्त पहला है। अन्य किन्हीं भी पातालकोड उपायोंसे उस अनिष्टमसंगका निवारण नहीं हो सकता है । इन्द्र, सामानिक, आदिक दश प्रकार इन देवोंमें वस्तुमूत कल्पित किये जा रहे हैं । इस कारण ये देव या सौधर्म आदिक सोछइ स्वर्ग कल्प कहे जाते हैं । यद्यपि भवनवासी, ब्यंतर, और ज्योतिष्क देवोंके स्थानोंमें भी इन्द्र, सामानिक, आदि यथासम्भव दश या आठ प्रकार वस्तुभूत कल्पे जारहे हैं । तथापि रूढिके वशसे सौधर्म आदि सोळड स्वर्ग ही करूप है । भवनवासी आदिकोंके स्थान कल्प नहीं है । रूदि शब्दोंमें भार्वय स्वरूप कियाका घटित करना केवल व्यत्पत्तिके लिये ही शोभता है, अधीशमें नहीं । उससे अव्याप्ति, अर्ति-न्याप्ति, असम्भव दोषोंका परिहार नहीं होपाता है और करना भी नहीं चाहिये । ''कल्पीपपचा'' इस शब्दमें ससमी तत्पुरुष समास तो कल्पोंमें उपपाद जन्म द्वारा उपज चुके यों कर केना चाहिये। " साधनं कृता बद्धकं " इस स्त्रसे यहां तत्परुषद्वाति होजाती है। यद्यपि " नखैर्मिनः नखिमनः स्वेन कृतं स्वकृतं '' क्र्यादि स्थलें पर साधनवाची शब्दका कृत् प्रत्ययान्त पदके साथ उक्त सूत्र करके े समास द्रोपाता है। फिर भी बहुछ राष्ट्रकी सामध्येसे अधिकरणवाजक स्तम्यन्त पदका भी कुद्रन्त शब्दके साथ सम्भव जाता है। यद्यपि पाणिनीय व्याकरण अनुसार "कर्तृकरणे कृता बहुलं " इस सूत्रोक्त बहुल शब्दको सर्वोपाधिन्यभिचारार्थ नियत किया है। फिर भी "कचित् प्रवृत्तिः कचिदप्रवृत्तिः कचिद्वि-भाषा कचिदन्यदेव । विधेविधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुल कं बदन्ति " बहुल शब्दके इस व्यापक अर्थका लक्ष्य कर "साधनं कृता बहुलं " इस सूत्र अनुकूल यहां वृत्ति कर लेनी चाहिये । अथवा इसमें कुल अस्वरस होय तो " मयू व्यंसकादयः " इस सूत्र अनुसार मयुरव्यंसक, आदि गणमें प्रविष्ट होनेसे "कल्पोपनाः यहां तत्पुरुष वृत्ति कर लेना । जिन देवों के पर्यन्तमें कल्पोपपन देव हैं, वे देव कल्पोपपन पर्यन्त हैं यह बहुबाहि वृत्ति कर दी जाती है । प्रैवेयक आदिसे पहिले पहिले देव दश, आठ, पांच, बारह भेदवाले हैं, यह सूत्रका फलितार्थ हुआ ।

अब स्वामीजी सूत्रकार पुनरिप उन निकार्यों के त्रिशेषों की प्रतिपत्ति करानेके छिये अगळे सूत्रका रचते हैं।

# इंद्रसामानिकत्रायस्त्रिशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्याकिल्बिषकाश्चेकशः ॥ ४ ॥

१ परम ऐक्चर्यशाली और स्वकीय मण्डलका सर्वाधिकारी प्रभु इन्द्र है २ इन्द्रके समान परिवार, आयु आदिको धारनेवाले सामानिक देव हैं ३ मंत्री, पुरोहित आदि तेतीस देवोंका मण्डल त्रायक्षिश है ४ सभामें बैठने वाले पारिषद हैं ५ इन्द्रकी मानूं रक्षा करनेके लिये नियुक्त होरहे, कद्व चेष्टावाले और परचक्रको मारनेके लिये ही मानूं उद्यत होरहे तथा इंद्रके पीछे खडे रहनेवाले ऐसे देव आत्मरक्ष हैं ६ स्वकीय अधिकृत लोकप्रान्तको पाल रहे गवर्नर, कमिश्नर, कलक्टर, कौतवाल, आदि सारिखे देव लोकपाल हैं ७ सेनामें नियुक्त हो रहे देव अनीक हैं ८ पुरनिवासी या देशनिवासी जनोंके समान प्रकीर्णक देवोंका मण्डल है ९ वाहन, यान, सेवकत्व आदि किया करनेमें आज्ञा अनुसार झटिति अभिमुख होनेवाले दाससमान देव आभियोग्य हैं १० मंगी, चाण्डाल, कसाई, आदिके समान पापबहुलदेवोंको किल्विषिक कहते हैं। यो एक एक निकायके ये इन्द्र आदिक दश विकल्प हैं।

#### अन्यदेवासाधारणाणिमादिग्रुणपरमैश्वर्ययोगादिंदंतीतींद्राः ।

इन दशोंका विशेष अर्थ इस प्रकार है कि अन्य देवोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली असाधारण हो रहे अणिमा, गरिमा, प्रभुता आदि गुणस्वरूप परम ईश्वरताके योगसे जो प्रभावशाली होकर स्व निकायमें सर्वोपिर विराज रहे हैं, इस कारण वे इन्द्र देव कहे जाते हैं। देवोंमें भवनवासीके चालीस ४० व्यन्तरोंके क्सीस ३२ कल्पवासियोंके चीकीस २४, ज्योतिषियोंमें सूर्य चन्द्र यें दो इस प्रकार ९८ इन्द्र या प्रतीन्द्र गिनाये गये हैं। किन्तु तीन निकायोंमें व्यक्तिमेदसे गिनती करनेपर ज्योतिष्क निकायमें असंख्याते इन्द्र और असंख्याते प्रतीन्द्र समझ छेने चाहिये। क्योंकि इस मध्यलोकमें असंख्याते चन्द्रमा और असंख्याते सूर्य हैं। चन्द्र विमानोंमें निवास कर रहे प्रधान देव इन्द्र हैं और सूर्यविमानोंके प्रधान अधिकारी देव प्रतीन्द्र हैं। सामानिक देवोंमेंसे प्रधान देव प्रतीन्द्र होता है। समापति, उपसभापति या मंत्री, उपमंत्री, अथवा कलक्टर, डिप्टी कलक्टर, एवं तहसीलदार, नायव तहसीलदारके समान इन्द्र और प्रतीन्द्रका जोडा सुशोभित है।

#### आङ्गैश्वर्यवर्जितमायुर्वीर्यपरिवारभोगोपभोगादिस्थानमिद्गैः समानं तत्र भवाः सामानिका इन्द्रस्थानाईत्वात् , समानस्य तदादेश्वेति उक् । महत्तरपितृगुरूपाध्यायतुरूपाः ।

सम्पूर्ण अधिकृतोंके ऊपर आज्ञाप्रचार और उन सबके ऊपर ईश्वरता इन दो शक्तियोंको छोडकर शेष आयु, वीर्य, परिवार, भोगोपभोग, स्थान आदि व्यवस्थायें जिन देवोंकी इन्द्रोंके समान हैं उन देवोंके मण्डलको समान कहते हैं । उस समान नामक पिण्डमें होनेवाले देव सामानिक हैं । क्योंकि समय पड़नेपर ये देव इन्द्रका स्थान प्राप्त करनेके लिये योग्य हैं, जैसे कि सभापतिकी अनुपस्थितिमें उपसभापति उस सभापति स्थानके योग्य समझा जाता है । समान शब्दसे '' समानस्य तदादेश '' इस तिद्रत सम्बन्धी सूत्र करके ठक् प्रत्यय हो जाता है । ये सामानिक देवकुलमें सबसे बढ़े महत्तर या इन्द्रके माता, पिता गुरु, उपाध्याय, चाचा, ताऊ, आदिके सहश हो रहे प्रतिष्ठित स्थानोंपर नियत होकर आदरणीय हैं । अर्थात्—जैसे आधुनिक, अत्रत्य, राजाओंके पिता, गुरु, पाठक, आदि पृज्यपुरुषोंका सद्भांव विशेष हर्षोत्पादक है तथेव इन्द्रका भी परिकर विद्यमान है । आवश्यक परिकरके विना सांसारिक सुख फीका रहता है । पुण्यके ठाठ तारतम्यको लिये हुये सर्वत्र एकसे हैं ।

त्रयस्तिशति जाताः त्रायस्तिशाः " हष्टे नाम्नि च जाते च अण्डिद्वा विधीयत " इत्य-भिधानमस्तीति अण्डिद्विधीयते, कयं वृत्तिर्भेदाभावात् । मंत्रिपुरोहितस्थानीया हि ये त्रय-स्तिशहेवास्त एव त्रायस्तिशा न तत्र जाताः केचिदन्ये संतीति दुरुपपादावृत्तिः । नैतत्सारं, संख्यासंख्येयभेदविवक्षायामाधाराधेयभेदोपपत्तेः, त्रयस्तिशत्संख्या तदाधारः संख्येयास्तु यथोक्तास्तदाधेया इति स्पपादा वृत्तिः । अथवा त्रयस्तिश्वदेवा एव त्रायस्तिशाः स्वार्थिकोपि इत " इति बहुत्वनिर्देशात् अंतिमादिवत् ।

तेतीस नामक मण्डलीमें सद्भूत हुये देव त्रायिक्षश कहे जाते हैं "तत्र जातः " इस सूत्रद्वारा प्रयत्रिशत् शन्दसे अण् प्रत्यय कर लिया जाता है। दृष्ट अर्थमें और नाम अर्थमें तथा जात अर्थमें किया गया अण् प्रत्यय विकल्प करके डित् कर दिया जाता है, इस प्रकार शन्दशास्त्रका अभिधान है। इस कारण यह अण् प्रत्यय डित् किया गया " डित्याहि लोपः " डित् होनेसे अत् इननी दि का

छोप होकर वृद्धि करते हुये त्रायिक्षंश शब्द बना लिया जाता है। यहां कोई आक्षेप करता है सुन्ने जातः स्त्रीष्टः यहां सप्तम्यन्त आधारभूत सूत्र ( आगरा नगर ) से उसमें उत्पन्न हुये देव आधेयका भेद है। अतः तद्वितवृत्ति सुरुभतया होजाती है। किन्तु तेतीसमें उत्पन्न हुये त्रायिक्षंश यहां आधार और आधेयोंने कोई भेद नहीं दीख रहा है। मंत्री, पुरोहित, वाइसराय, वजीर, प्रध न्यायाधीश, आदि प्रतिष्ठित स्थानों ( पदों ) पर विराज रहे जो ही देव त्रयत्रिंशत, हैं, वे ही ह खिश हैं। कोई उन त्रयक्षिशतमें उपजे हुये न्यारे देव नहीं हैं। इस कारण भेद नहीं होनेसे यहां प्रत्यय विधायक तद्वितवृत्ति कठिनतासे भी नहीं बन सकती है। प्रन्थकार कहत हैं कि इस आदे कोई सार नहीं है। क्योंकि संख्या नामक भाव और संख्या करने योग्य भाववान, पदार्थीके भे विवक्षा करने पर यहां आधारआधेयभाव बन जाता है । तेतीस नामकी संख्या उन देवोंका आधार और यथायोग्य कहे गये अनुसार गणना किये गये देव तो उस संख्याके आधेय है। इस प्र तदित वृत्तिका वनना बद्दत अच्छा घटित होजाता है । अर्थात् — नैयायिकोंके यहां निष्ठत्व. वृ या समवेतत्व सम्बन्धसे जैसे गुणमें गुणी ठहर जाता है, उसी प्रकार गुण, गुणीमें कथांचित् अमेर माननेवाले जैनोंके यहां तो अतीव खन्दरतासे संख्यामें संख्येय ठहर जाता है । नैसायिक तो समवे आदि वृत्त्यानियामक सम्बन्धों करके आधेयोंमें आधारोंको धरते हैं । किन्तु स्याद्वादियोंके यहा डो वस्त्र या वस्त्रमें डोरे और शरीरमें हाथ पांव या हाथ पांवोंमें शरीर इस ढंगसे संख्यामें संख्येयका नि करना वृत्तिनियामक कथंचित् तादाल्य सम्बन्धसे नियत होरहा है । अथवा कुछ अरुचि रही होय संतोषकारी उंपाय यह है कि तेतीस देव ही त्रायिक्षंश हैं । इस प्रकार केवल निजप्रकृतिके अर्थको कहनेवाळा स्त्रााथक अणु प्रत्यय भी यहां किया जासकता है । जात अर्थमें होनेत्राळा अणु प्र स्वार्थमें भी होजाता है। क्योंकि " इत " ऐसा एकवचन नहीं कर इतः ( तद्धिताः ) यो बहुव नान्त अधिकार सूत्रका कथन किया है। वह बहुवचन व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि स्वार्थमें तद्धित प्रत्यय होरहे हैं । जैसे कि अन्ते भवः अन्यः । अन्य एव अन्तिम, यहां स्वार्थमें डिमच् प्र होकर अन्तिम शब्द वना है। भेषजभेव भेषजं, शीलभेव शैली इत्यादिक पदोंमें स्वार्थिक प्रत्यय हैं। इन्होंके समान यहां त्रायित्रंश शब्दमें अण प्रत्यय स्त्रार्थको ही कह रहा है, जात अर्थको नर्ह

परिषद्दश्यमाणा तत्र जाता भवा वा पारिषदाः परिषत्तद्वतां कथंचिद्धेदात्ते च वयः पीठमर्देत्वल्याः । आत्मानं रक्षंतीतीत्यात्मरक्षास्ते श्विरोरक्षोषमाः ।

सुधर्मी सभा या बाह्य परिपद, मध्यपरिषद, अभ्यन्तर परिषद, इस ढंगसे सभा या सर वखानी जावेंगी, उस ( उन ) सभामें सभ्य होकर उपज रहे अथवा सभाओंमें सद्भावको धार रहे पारिषद हैं। अर्थात्—यद्यपि वस्तुतः विचारा जाय तो सभा कोई जड पदार्थ नहीं है। अनेक जीव समुदायको सभा कहते हैं। तथापि सभा और उस सभावाठे देवोंका समुदाय समुदायीकी अर्थ कथंचित् भेद होजानेसे जात अर्थ या भव अर्थमें परिषद् शब्दसे अण् प्रस्थय कर दिया गया अनितम उपाय स्वार्थिक अण् प्रत्ययका समझ छिया जाय। ये सभामें बैठनेवाछे देव उस इन्द्रके सम-वयस्क मित्र (हम उमर) या पीठमर्द यानी सन्धिको करनेवाछे संधानकारीपुरुष आदि सारिखे देव हैं, तथा आत्माकी (इन्द्रकी) रक्षा करते हैं, इस कारण वे देव आत्मरक्ष हैं। जैसे कि वर्तुमानमें राजा महाराजाओं के शरीररक्षक या मस्तक (बीडी गार्ड) होते हैं उन्हों के समान ये हैं। यद्यपि इन्द्रोंका कोई शत्रु नहीं है, उनकी आयु मध्यमें छित्र भी नहीं होसकती है। तीव पुण्य होनेसे उनपर कोई अकस्मात् आक्रमण भी नहीं करता है। फिर भी विभूतियों या ऋदियोंकी विशेषतया जो स्थापना होरही है, उस वस्तुस्थितिका निरूपण कर देना ही आचार्य महाराजका छक्ष्य है। इन सब परि-करोंके होनेसे प्रमुके प्रकर्ष रूपसे सदा प्रीति उपजती रहती है। आत्मगीरव झछक्काता रहता है। एक धनपति (सेठ) या महीपति (रईस) के बीस, पचास आदि सवारियां रहती हैं। यद्यपि उन सबका उपयोग नहीं होता है। किसी किसीका तो जन्मपर्यन्त भी उपभोग नहीं हो सका है। फिर भी सांसारिक सुखोंकी उत्पादक विशिष्ट पुण्यानुसारिणी सामग्री जो प्राप्त दुई है, वह टाछी भी तो नहीं जा सकती है। अतः शिरोरक्षकोंके समान वे आत्मरक्ष देव इन्द्रके पिछे खडे रहनेवाछे, रुद्र प्रवृत्तिक, शक्षाक्षपरिवृत, शोभ रहे हैं।

लोकं पालयंतीति लोकपालास्ते चारक्षकार्थचरसमाः । अनीकानीवानीकानि तानि दंडस्थानीयानि गंधर्वानीकादीनि सप्त । प्रकीर्णा एव प्रकीर्णकाः ते पौरजानपदकल्पाः ।

प्रजा समुदाय स्वरूप लोकको पालते रहते हैं, इस कारण वे देव लोकपाल कहे जाते हैं, अर्थचर या आरक्षक कर्मचारी जैसे आधुनिक राजाओं होते हैं, उसी प्रकार इन्होंके यहां भी ये ठाठ लग रहे हैं। अर्थात्—गांव आदिमें नियुक्त हो रहे आरक्षिक सिपाहियोंको तलवर कहते हैं। राजाओं के करभाग (तहसील) को गृहीत (वसूल) करनेवाले कार्यमें नियोगी हो रहे अध्यक्षोंको अर्थचर कहते हैं, जो कि तहसीलदार, खजानची, कलकर, कमिश्नर आदि हैं। नगरके प्रबंध या रक्षामें नियुक्त हो रहा कोतवाल है। दुर्ग, किला आदिकी रक्षा करनेवाले महातलवर इत्यादिक अधिकारी लोकपाल माने गये दें। प्रान्तोंके रक्षक चीफ कमिश्नर, लेक्टीनेण्ट गवर्नर भी इन हीं लोकपालोंमें गणनीय हैं। यचिप स्वर्गोंमें तहसील प्राप्त करनेकी या गढकी रक्षा करने आदिकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी प्रकृष्ट हर्षकी उत्पादक सामग्री विद्यमान है। तथा सेनाक समान अनीक जातिक वे देव अनीक कहे जाते हैं। प्रजारक्षणमें विद्य डालनेवाले परचक्तको दण्डनीति अनुसार दण्डन्यवस्था कर देनेवाला विभाग दण्ड है। ऐसे सेनाके स्थानपर नियुक्त हो रहे गंधवीनीक १ हस्त्यनीक २ अश्वानीक ३ रथानीक ४ पदात्यनीक ५ हप्तमानीक ६ नर्तकी अनीक ७ इन सात प्रकारकी सेनाओंसे उपलक्षित सात जातिके अनीक देव हैं। जैसे यहां राजप्रासादोंके इधर उधर निकटवर्त्ती प्रदेशोंमें नगर निवासी नागरिक अथवा देशनिवासी या प्रान्तिनासी महोदय सज्जन विराजते हैं, उन पौर या

जानपद, महाशयोंके सहश इतस्ततः फैळ रहे ही वे प्रकीर्णक जातिके देव हैं। जो कि महाराजाके समान इन्द्रके नागरिक या राष्ट्रीय जनोंके तुल्य ये देव भी विशिष्ट हर्षके उत्पादक हैं।

बाह्रनादिमानेनाभिम्राख्येन योगोभियोगस्तत्र भवा सभियोग्यास्त एव शाभियोग्याः इति स्वार्थिकः यण् चातुर्वर्ण्यादिनत्, अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः अभियोगमई-तीति वा आभियोग्यास्ते च दाससमानाः । किल्विषं पापं तदेषापस्तीति किल्विषकाः तत्य-वासिस्थानीयाः । एकैकस्य निकायस्यैकश इति वीप्सार्थे शस् ।

सवारी छे जाना, छे आना, ऐसे वाहन, या दास्य कर्म आदि परिणतिरूपसे अभिमुखपने करके जो योग यानी कटिबद्धपना है, वह अभियोग कहा जाता है। उस अभियोगमें विद्यमान हो रहे देव अभियोग्य हैं और वे ही देव आभियोग्य कहें जाते हैं। मब अर्थमें अभियोग्य शब्द बनाकर पुनः स्वार्थिक यण् प्रत्यय किया गया है, जैसे कि चतुर्वर्णा एव चातुर्वर्ण्य, चतुराश्रमा एव चातुराश्रम्यं, त्रिछोका एव त्रैछोक्यं, त्रिकाला एव त्रैकाल्यं, आदिक पदोंमें स्वार्थिक यण् प्रत्यय किया गया है। अथवा अभियोग साधवः आभियोग्याः यों " तत्र साधुः " इस सूत्र द्वारा यण् प्रत्यय किया जा सकता है और अभियोगको करनेके लिये जो समर्थ हो रहे हैं, वे अभियोग्य हैं, इस अर्थमें भी आमियोग्य शब्दको बना लिया जाता है, चाकर, दासों (खिदमदगार) के समान ये देव हैं। किल्विष यानी पाप जिन देवोंके विशेषतया विद्यमान है, इस कारण वे देव किल्विषक हैं। प्राम या नगरके अन्तिमभागों वस रहे चाण्डाल, श्वपच, भंगी, चर्मकार आदि निकृष्ट मनुष्योंके स्थानापन हो रहे ये देव हैं। यद्यपि यहांके चाण्डालोंके नीचगोत्रका उदय है और देवोंमें सबके उचगोत्रका ही उदय है। फिर भी कोई लौकिक विभूतिका परिकर रिक्त नहीं हो जाय, इसल्यि यथायोग्य जितना सम्भव हो सके उतना उपमान उपमेयभाव घटित कर लेना चािर्य। एकशः यहां एक एक निकायके यों अर्थ कर वीधा अर्थमें शस् प्रत्य किया गया है। यानी एक एक देव निकायके ये इन्द्र आदिक दश दश मेद पाये जाते हैं।

#### कुतः पुनरेकैकस्य निकायस्येद्रादयो दशविकल्पाः प्रतीयंत इत्यावेदयति ।

तर्काभिलाषी कोई जिज्ञासु पूंछता है कि फिर यह बताओ कि एक एक निकायके ये इन्द्र, सामानिक, आदिक दश भेद भला किस प्रमाणसे निर्णात किये जा सकते हैं ! इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम वार्तिक द्वारा समाधानकोटिका निवेदन करे देते हैं।

इन्द्रादयो दशैतेषामेकशः प्रतिसुत्रिताः । पुण्यकर्मविशेषाणां तद्धेतूनां तथा स्थितेः ॥ १ ॥ एक एक निकायके प्रति इनके इन्द्र आदिक दश भेद श्री उमास्वामी महाराजने सूत्र द्वार ठीक निरूपण किये हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन इन्द्र, सामानिक आदिके हेतु हो रहे विशेष विशेष पुण्यकर्मोंकी तिस प्रकार व्यवस्था हो रही है (हेतु)।

#### यथैव हि देवगतिनामपुण्यकर्मसामान्यादेवास्तद्विशेषभवनवासिनामादिपुण्योदयाष भवनवास्यादयस्तथैर्वेद्रादिन।मपुण्यकर्मविशेषण इंद्रादयोपि संभाव्यंते, तेषां तद्धेतुनां: युक्त्याम माभ्यां व्यवस्थितेर्वाधकाभावात् ।

जिस ही प्रकार गित नामकर्मकी उत्तर प्रकृति हो रही सामान्य देवगित नामक पुण्यकर्मवे उदयसे उक्त चारों निकायके जीव देव हो रहे हैं और उस देवगितके भी उत्तरोत्तर भेद हो रहें मवनवासी, व्यंतर या असुरकुमार, किन्नर आदि विशेष पुण्यप्रकृतियोंका रसोदय हो जानेसे भवनवास व्यंतर, असुर, किन्नर, आदि देव हो जाते हैं उसी प्रकार देवगितके भेद, प्रभेद, हो रहे इन्द्र सामानिक, आदिक नामकर्म और अन्य शुभनाम, सातावेदनीय, शुभगोत्र इन पुण्यकर्म विशेषों उदयसे इन्द्र आदिक भेद भी हो रहे सम्भव जाते हैं, मिन्न मिन्न कारणोंसे मिन्न मिन्न कार्योंकी उत्पित्त हो जानेका नियम है। उन इन्द्र आदिकोंके सृष्टा हेतु हो रहे उन पौद्रलिक कर्म विशेषोंकी युक्ति प्रमाण और आगमप्रमाण करके सुज्यवस्था हो रही है। कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः मनुष्यों य पशुओंकी मिन्न मिन्न सूरतें, मूरतें, सुख, दुःख, बुद्धि, वैभव, आदिके समान देवोंके इन्द्र अहमिन आदि भेद भी पौद्रलिक कर्मविशेषोंकी अनुसार सुघटित हो जाते हैं। "असंमवद्वाधकत्वाद्वस्तुसिद्धिः"।

यों तो इन्द्र आदिक दशों भेद चारों भी निकायोंमें उत्सर्गविधिद्वारा प्रसंग प्राप्त हुये। तिः कारण अपवाद करनेके छिये विशेषसूत्रको श्री उमांस्त्रामी महाराज कहते हैं।

## त्रायस्त्रिश्लोकपालवर्ज्यां व्यंतरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

न्यन्तर और ज्योतिष्क्र निकायसम्बन्धी देव त्रायक्षिश और छोकपाछ जातिके देवोंसे रहित हैं।

#### इन्द्रादिदश्विकल्पानाग्रुत्सर्गतो अभिहितानां चतुर्षु निकायेष्वविशेषेण मसक्तौ तदर्थमिदग्रुच्यते

सामान्यरूपकरके उत्सर्गविधिसे कहे जा चुके इन्द्र, सामानिक, आदि दश भेदोंका जब चां निकार्योमें विशेषरित होकरके प्रसंग प्राप्त हुआ तो उस कुछ अनिष्ठप्रसंगके निवारणार्थ श्री उमास्वाम् महाराज इस अपवाद सूत्रको कावानते हैं। अपवाद नियमोंको ढालकर, अतिरिक्त स्थानोंपर अनपोदिः उत्सर्गविधियां प्रवर्तती हैं " अपवादा उत्सर्गविधि बाधन्ते "

कृतः पुनर्न्यतरा ज्योतिष्काः त्रायित्वत्रीर्लोकपाछैश्च वर्ण्या येन तेष्टविकरण एव स्युति त्यारेकाणमिदमारः। कोई यहां शंका करता है कि क्या कारण है ? जिससे किर व्यन्तर और ज्योतिष्क निकाय-वाले देव विचारे त्रायिवंश और लोकपाल करके वर्जित हो रहे हैं, जिससे कि वे व्यन्तर या ज्योतिष्क देव इन इन्द्र, सामानिक, पारिषद, आत्मरक्ष, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्विषिक, आठ विकल्पवाले ही समझे जांय, इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा इस वश्यमाण समाधानको कहते हैं।

## तत्रापि व्यंतरा वर्ज्या ज्योतिष्काश्चोपवर्णिताः । त्रायस्त्रिशैस्तथा लोकपालैस्तद्वेत्वसंभवात् ॥ १ ॥

उन चारों निकायोंमें भी न्यंतर और ज्योतिष्क ये दो निकाय तिस प्रकार तेतीस देव और छोकपाछ देवों करके रीते हो रहे आगम हारा कहे गये हैं। क्योंकि उन त्रायक्षिश और छोकपाछोंके उत्पादक हेतु विछक्षण जातीय पुण्यविशेषका दो निकायोंमें सम्भव नहीं है। अर्थात्—राजाओंको विशिष्ट जातिका पुण्य होनेपर ही निहोरे करते हुये, हितशासक, मंत्री, पुरेहित, आदिक पुरुष प्राप्त हो सकते हैं। वैसा पुण्य इन दो निकायोंमें नहीं है। तथा राजा बने विना ही पूर्ण राज्यपर अधिकार करना, यथायोग्य मनमानी चछाना, अधिकृत प्रजा वर्गसे अपनी प्रार्थना करवाना, आदि जातिका पुण्य भी किन्हीं किन्हीं जीवोंके होता है। वे ही मंत्री, पुरोहित आदिके स्थानापन हो सकते हैं। राजाकी हानि हो या लाभ हो इनको दोनों अवस्थाओंमें निश्चिन्तता है। सुकाछ पडे, परचक्रके साथ युद्ध नहीं होय अच्छा ही है। किन्तु यदि दुष्काछ पड जाय अथवा परचक्रसे छडाई छिड जाय इनको वैसी चिन्ता या आकुछता नहीं है, जैसी कि न्याकुछता राजाको सताती है। अतः दो निकायोंमें उक्त दो मेद नहीं माने गये है।

न दि व्यंतरज्योतिष्किनिकाययोस्त्रयस्त्रिशङ्घोकपास्त्रनामपुष्यकर्मविशेषस्त्रायस्त्रिशङ्घोकपा-स्रुदेवविशेषकल्पनाहेतुरस्ति यतस्तयोस्त्रायस्त्रिशस्त्रोकपास्त्राथ स्युरिति तद्वर्ष्यास्ते देवाः तद्तिश्चय-विशेषस्य प्रतीतिहेतोर्निकायांतरवत्त्रशासंभवात् ।

उक्त वार्तिकका न्यास्येय अर्थ यह है कि न्यंतर और उयोतिष्क दो निकायके देव आत्माओं के श्रयिक्षशत् और लोकपाल नामक विशेष पुण्य कर्मीका सद्भाव नहीं है, जो कि त्रायिक्षश और लोकपाल जातिके विशेष देवोंकी वस्तुभूत कल्पनाका कारण माना गया है, जिससे कि उन मध्यवर्ती दो निकायों त्रायिक्षश और लोकपाल देव हो जावें। इस कारण वे न्यन्तर और उथोतिष्कदेव उन श्रायिक्षश और लोकपालोंसे वर्जे गये हैं। क्योंकि त्रायिक्षश और लोकपालकी प्रतीतियोंके कारण हो रहे उन अतिशय उक्त पुण्यविशेषोंका अन्य निकायोंके समान उन दो निकायोंमें असम्भव है । अर्थात्—अन्य दो निकाय भवनवासी और कल्पवासी देवोंके तो ताहश पुण्यविशेष हैं, जिससे कि उनमें श्रयिक्षश और

लोकपाल देव उपज जाते हैं । विशिष्ट कार्यके उत्पादक अतिशयत्राले कारणोंके नहीं होनेसे व्यन्तर और ज्योतिष्क देव उन दो कल्पनाओंसे बंचित है । जहां कारण होगा वहीं कार्य उपजेगा । मध्यवर्षी निकायोंमें कारणोंके त्रश इन्द्र आदि आठ भेद हैं । किन्तु मत्रनवासी और कल्पवासियोंमें दशोंके हेतु सातिशय पुण्यविशेषोंका सद्भाव होनेसे दशों प्रकार जातिके देव पाये जाते हैं ।

अब कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उन चारों निकायोंमें क्या एक ही एक इन्द्र है ? अथवा क्या कोई अन्य नियम ( अपवाद ) है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

# पूर्वयोद्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

पूर्वकी भवनवासी, व्यन्तर, इन दो निकायोंमें समुदित होरहे देव अपने प्रभु दो दो इन्द्रोंको धारनेवाले हैं। अर्थात्—दो दो इन्द्रोंके आधिपत्यमें इन देवोंकी टोलीको रहना पडता है। प्रत्येक देव तो एक ही इन्द्रके अधीन है। किन्तु समुदाय अपेक्षा यह कथन है।

भवनवःसिन्यंतरनिकाययोः पूर्वयोर्देवा द्वींद्रा न पुनरेकेंद्रा निकायांतरवदिति प्रति-पत्त्यर्थमिदं मूत्रं । पूर्वयोरिति वचनं प्रथमदितीयनिकायमतिपत्त्यर्थे, तृतीयापेक्षया दितीयस्य पूर्वत्वोपपत्तेः द्विवचनसामध्यीचतुर्थापेक्षया तृतीयस्य पूर्वत्वेष्यप्रहणादमत्त्यासत्तेः ।

पूर्ववयत्ती भवनवासी और व्यंतर इन दो निकायोंमें देव दो दो इन्द्रवाले हैं। किन्तु फिर ज्योतिष्क या कलपवासी इन अन्य निकायोंके समान एक एक इन्द्रवाले देव ये नहीं है। इस सिद्धान्तका प्रातिपादन करनेके लिये श्री उमास्त्रामी महाराजने यह सूत्र रचा है। चाहे हजारों, छाखों, असंख्यों, भी पदार्थ होवें उन सबका पूर्ववर्ती (पिहला) पदार्थ एक ही होगा। अतः प्रथम वाचक पूर्वशद्धकी एक वचनमें ही सामर्थ्य है। आब अर्थको कह रहे पूर्व शद्धका दिवचन या बहुवचन अलीक ही समझा जाता है। किन्तु यहां सूत्रमें पूर्वयोः इस प्रकार दिवचन ओस् विभक्तिवाले पदका वचन है, जो कि पिहली निकाय भवनवासी और दूसरी निकाय व्यन्तरदेवोंकी प्रतिपत्ति करनेके लिये है। प्रथमका प्रत्यासन होनेसे दितीयको दिवचनकी सामर्थ्यसे पकड लिया जाता है। तृतीयकी अपेक्षा करके दितीयको पूर्वपना व्यायसे भी बन जाता है। दिवचनकी सामर्थ्यसे पिहले और दूसरे निकायोंका पूर्वपना सुविटत है। यद्यपि चतुर्थ वैमानिक निकायकी अपेक्षासे तिसरी ज्योतिष्क निकायको पूर्वपना है, तो भी निकटवर्तीता नहीं होनेसे प्रथमके साथ तृतीयका प्रहण नहीं किया जा सकता है। हां, निकटवर्ती होनेस प्रथमका संगी दितीय बन जाता है। अर्थात् — " उपिस्थतं पिर्त्यच्यानुपस्थितकल्पने मानाभावः "। प्रधानाध्यापकर्म दित्वकी अनुपपत्ति होनेपर दितीयाध्यापक (सेक्षिड मास्टर) को उसका संगी बना कर दोपनकी रक्षा कर ली जाती है। चौये, पांचवे, अध्यापकको मिला कर नहीं।

द्वी द्वौ इन्द्री येषां ते द्वांद्रा इत्यंतनीतवीप्सार्थो निर्देशः । द्विपदिका त्रिपदिकेति यथा वीप्सायां बुनो विधानादिह वीप्सागतिर्युक्ता न प्रकृते किंचिद्विधानमस्ति । ति सप्तपर्णादि- बद्भविष्यति वीप्साविधानाभावेपि वीप्सासंप्रत्ययः । पूर्वयोर्निकाययोद्वी द्वाविद्री देवानामिति निकायनिकायभेदविवक्षावशादाधाराधेयभावो विभाव्यते ।

निकायवाले जिन देवोंके दो दो इन्द्र हैं वे देव दो इन्द्रोंवाले हैं, इस प्रकार साकल्येन व्यापनेकी इच्छा रखते हुये पुनः पुनः कथन करना स्वरूप तीप्ताको अन्तरंग गर्भमें प्राप्त कर इस सूत्रका अर्थ निर्देश किया जाता है। कोई आक्षेप करता है कि जिस प्रकार द्विपदिका, त्रिपदिका, द्विशतिका **आदि पदोंमें ''** पादशतस्य संख्यादेवींप्सायां बुन् लोपश्च '' इस सूत्र करके बुन् प्रत्ययका विधान होजानेसे यहां वीप्साका परिज्ञान होना समुचित है । किन्तु प्रकरणप्राप्त " द्वीन्द्राः " इस पदमें कोई प्रत्ययका विभाग नहीं श्रयमाण है । ऐसी दशामें यहां वीप्साका अन्तर्गर्भ कैसे समझा जायगा ? अर्थात-हीं ही पादी ददाति इति द्विपदिकां ददाति, दुगुना दुगुना दो भागोंको देरहा है, द्विपदिका शब्दसे दो पादका गीत समझा जाता है। जिस गीत या पदमें दो दो पादोंकी टेक गानी पडती है या तीन तीन पदोंकी टेक जहां गायी जाती है वह त्रिपादिका गीति है। पंक्तिबद्ध तीन तीन पायों-बाळी लम्बी, चौडी, तिपाईको भी त्रिपादिका कह सकते हैं। यहां द्विपदिका, त्रिपदिका, शब्दोंमें वुन् प्रत्ययसे वीप्ता अर्थ उक्त होजाता है । व को अक आदेश कर देते हैं । किन्त वैसा कोई प्रत्यय द्वीन्द्राः शब्दमें नहीं है। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो सप्तपर्ण, अष्टापद आदिके समान वीप्ता वाचक प्रत्ययका विधान नहीं होते हुये भी वीप्ता अर्थकी भन्ने प्रकार प्रतीति होजावेगी । जिस वृक्षके एक एक पर्वमें सात सात पत्ते लग रहे हैं वह वृक्ष सप्तपर्ण है, पंक्ति पंक्तिमें आठ आठ पांववाला बत खेलनेका नकशा अष्टापद है, इसी प्रकार दो दो इन्द्रवाले निकाय द्वीन्द्र हैं। पूर्ववर्ती दो निकायोंमें निवास कर रहे देवोंके दो दो इन्द्र हैं। इस प्रकार निकायोंको कह रहे पूर्वयोः यह द्विवचनान्त सप्तमी और देवोंको कह रहे द्वीन्द्राः इस प्रथमान्त विभक्तिसे यक्त होरहे पदोंके वाच्य अर्थीका निकाय और निकायी यानी समूह और समूहीके भेदकी विवक्षाके वशसे आवार आधेयभाव होजाना विचार **ळिया जाता है। पूर्वयोः शब्दको पष्टी विभक्तिवाळा पद माना जाय तो भी कोई क्षांति नहीं है। अतः** भान्योंकी राशि, रुपयोंका ढेर, रुपयेमें चांदी, मेलेमें मनुष्य इस ढंगसे अभिन पदार्थीमें कयंचित भेद. अमेदकी विवक्षा होजाती है " सिद्धिरनेकान्तात "।

## द्वींद्रा निकाययोर्देवाः पूर्वयोरिति निश्रयात् । तत्रैकस्य प्रभोर्भावो नेति ते स्तोकपुण्यकाः ॥ १ ॥

उक्त सूत्रका युक्तिपूर्वक अर्थ वार्त्तिकमें यों किया जाता है कि पूर्ववर्ती दो निकायोंमें बस रहे देव दो दो इन्द्रवाले हैं, यह सिद्धान्तशासदारा निर्णीत है। उन दो निकायोंमें केक्क एक ही प्रभूका

सम्राव नहीं है। कारण कि वे देव स्वल्प पुण्यवाले हैं अथवा वे दो दो इन्द्र स्वयं हीनपुण्य हैं। (प्रतिज्ञा हेतु)। अर्थात्—जब अधिकृतोंका पुण्यमन्दराक्तिक हो जाता है तभी अधिकृत प्रजावगिके एकते अधिक दो तीन आदिक नेता प्रभु बन बैठते हैं। अच्छे पुण्यशाली जीव या तो स्वयं प्रभु होते हैं अथवा एक ही प्रभुके तंत्र होकर रहते हैं। "अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायकाः, एकः कृती शकुन्तेषु योग्यं शकान् न याचते " इन पद्योंसे उक्त अर्थ ध्वनित होता है। दूसरी बात यह है कि जिस पदार्थके दो अधिकारी हैं वे स्वयं दोनों स्वल्प पुण्यवान् हैं। छोटा या बडा यथायोग्य कोई कार्य होय उसका अधिकार एक व्यक्तिको ही प्राप्त होय तभी आधिपत्यका कर्तव्य पूर्णरीत्या निभता है। संशयाल स्वामीको एक देश, एक काल, एक ही कार्यपर समान शक्तिवाले दो अधिकारियोंका नियक्त करना दो नार्वोपर चढनेके समान भयावह है। "एको गोत्रे स भवति पुमान् यः कुटुम्बं बिमर्ति एकपातिव्रत " आदि वाक्य एकस्वामित्वको प्रतिपादन करनेमें तत्पर हैं। अतः हीनपुण्यवाले पूर्ववर्ती दो निकारोंमें दो दो इन्द्र हैं।

भवनवासिनिकाये असुराणां द्वाविद्वी चमरवैरोचनी, नागकुमाराणां धरणभूतानंदी, विद्युत्कुमाराणां द्विरिसंद्वदिकांती, सुपर्णकुमाराणां वेणुदेववेणुधारिणो, अग्निकुमाराणां अग्निनिस्तिमाणवी, वातकुमाराणां वैद्धंवनप्रभंजनी, स्तिनितकुमाराणां सुघोषमद्दाघोषी, उद्धिकुमाराणां जलकांतजलप्रभी, द्वीपकुमाराणां पूर्णविशिष्टी, दिक्कुमाराणां अमितगत्यमितवादनी। तथा व्यंतरिनकाये किक्सराणां किक्सरिकंपुरुषी, किंपुरुषाणां सत्युरुषमद्दापुरुषी, मद्दोरगाणाम्-तिकायमद्दाकायी, गंधर्वाणां गीतरितगीतयश्वसी, यक्षाणां पूर्णभद्रमाणिभद्री, राक्षसानां भीम-मद्दाभीमी, पिशाचानां कालमद्दाकाली, भूतानां प्रतिरूपापतिरूपी। प्रयमेतेषामेकैककस्य प्रभी-रभावाचे स्तोकपुण्याः प्रभवो निश्चीयंते।

भवनवासी नामक पहिली निकायमें निवस रहे असुरकुमार जातिके देवोंके चमर और वैरोचन नामके दो इन्द्र हैं। नागकुमार जातिके देवोंके प्रभु धरण और भूतानन्द दो इन्द्र हैं, विद्युकुमार देवोंके अधिकारी हिंसिंह और हिरकान्त दो इन्द्र हैं, सुपर्णकुमार जातिके असंख्य देवोंके नेता वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र हैं, अभिकुमार जातिके असंख्याते भवनवासी देवोंके अधिपति अग्निशिख और अग्निमाणव हैं, वातकुमार भवनवासियोंके स्वामी वैद्युक्त और प्रभंजन ये दो इन्द्र हैं, स्तनितकुमार देवोंके परिदृढ तो सुधीय और महाधीय ये दो इन्द्र हैं, उद्धिकुमार देवोंके अधिप जलकान्त और जलप्रभ ये दो इन्द्र हैं, द्यिकुमारोंके नायक पूर्ण और विशेष्ठ ये दो इन्द्र हैं तथा असंख्याते दिक्कुमार जातीय भवनवासियोंके ईश अमितगित और अमितवाहन इन्द्र हैं। तिसी प्रकार व्यन्तर नामकी दूसरी निकाय में किकर जातीय देवोंके अधिनायक किसर और भिन्नुहण इन्द्र हैं, किग्पुहण बातीय असंख्य व्यन्तर देवींके ईशर सरपुक्त और महापुक्त दो इन्द्र हैं, सहीरण जातीय व्यन्तरोंके पति अतिकाय और महापुक्त दो इन्द्र हैं, सहीरण जातीय व्यन्तरोंके पति अतिकाय और महापुक्त दो इन्द्र हैं, सहीरण जातीय व्यन्तरोंके पति अतिकाय और महापुक्त दो इन्द्र हैं, सहीरण जातीय व्यन्तरोंके पति अतिकाय और महापुक्त दो इन्द्र हैं, सहीरण जातीय व्यन्तरोंके पति अतिकाय और महापुक्त दो इन्द्र हैं, सहीरण जातीय व्यन्तरोंके पति अतिकाय और महापुक्त दो इन्द्र हैं, सहीरण जातीय व्यन्तरोंके पति अतिकाय और महापुक्त दो इन्द्र हैं, सहीरण जातीय व्यन्तरोंके पति अतिकाय और महापुक्त दो इन्द्र हैं, सहीरण जातीय व्यन्तरोंके पति अतिकाय और महापुक्त हैं।

काय ये दो इन्द्र हैं, गन्धर्व जातीय व्यन्तरोंके नाथ गीतरित और गीतयशा ये दो इन्द्र हैं, यक्ष जातीय व्यन्तरोंके अधीश पूर्णभद्र और माणिभद्र ये दो इन्द्र हैं । राक्षस जातीय असंख्याते व्यन्तर देवोंके ईस्वर मीम और महामीम दो इन्द्र हैं । पिशाच नामक व्यन्तरोंके अधीश्वर काल और महाकाल दो इन्द्र हैं । भूतोंके आज्ञापक प्रतिरूप और अप्रतिरूप दो दो इन्द्र हैं । इस प्रकार इन अमुरकुमार, किन्तर आदि देवोंके एक एक ही प्रभुक्ते नहीं होनेसे वे देव स्तोकपुण्यवाले और वे प्रभु भी स्तोक पुण्यवाले निश्चित किये जाते हैं । "अधिकस्याधिकं फलम्" यह किचित्की नीति यहां लाभप्रद नहीं है । स्त्रीके एक पित समान प्रजाजनोंका एक पित ही बना रहे यही सर्वतोभद्र है । अनेक सदस्योंकी बहुसम्मित या सर्वसम्मितके अनुसार हो रहे कार्योंका अनुमोदन करनेवाले महाशय भी एक प्रमुताकी नीतिका उल्लंघन नहीं कर सके हैं । इस्तरं प्रपंचन ।

् इन देवोंके सुख किस प्रकारका है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको उतारते हैं ।

## कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

ऐशान नामक स्वर्गतक काय द्वारा मैथुन सेवन करनेवाले देव हैं। अर्थात्—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क इन भरपूर तीनों निकायोंमें और सीधर्म, ईशान, स्वर्गसम्बन्धी देवोंमें मनुष्योंके समान काय द्वारा देवदेवियोंके मैथुन व्यवद्वार है।

ं प्रतिपूर्वाचरः संज्ञायां घत्र् प्रविचरणं प्रवीचारो मैथुनोपसेवनं । काये प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः । असंहितानिर्देशोऽसंदेहार्थः । ऐश्वानादित्युच्यमाने हि संदेहः स्यात् किमा- कंतर्भूत उत दिक्छक्रोध्याद्दार्थं इति विपर्ययो वा स्यात् । ऐश्वानात् पूर्वयोरित्यनुवर्तमानेनाभि- संबंधात् । असंहितानिर्देशे तु नायं दोषः ।

प्रति उपसर्ग पूर्वक चर धातुसे संज्ञा अर्थमें घत्र प्रत्यय किया गया है। प्रविचरणमाव . ही प्रवीचार है, इसका अर्थ मैथुनका उपसेवन करना है। जिन देवोंका प्रवीचार कायमें होता है वे देव कायप्रवीचार हैं, यो बहुत्रीहि समात कर छिया है। इस सूत्रमें आङ्निपात और ऐशान इन हो पदोंमें संधि करके नहीं कथन करना तो असंदेहके छिये हैं। यदि दोनोंके स्थानमें ऐच् एकादेश कर ऐशानात् यों सूत्र कहा गया होता तो श्रोताओंको संदेह हो सकता था कि यहां आकृ अन्तर्भूत छिपा हुआ है ! अथवा क्या आकृ छिपा हुआ नहीं है ! ऐसी दशामें पूर्व प्रत्यक् आदि दिशावाचक शब्दका अध्याहार करने योग्य है। ऐशानसे पूर्व दिशातक यों अर्थ होगा तभी '' अन्यारादितरतेंदिक्शद्वाञ्च्तरपंदाजाहि युक्ते '' इस सूत्रद्वारा ऐशानात् यह पंचमी विभक्ति होसकती है। अथवा पूर्वयोः इस पदकी पूर्वस्त्रसे अनुहति करके ऐशानसे पूर्ववर्ती देवोंमें कायप्रवीचार यों

अभिसम्बन्ध होजानेसे विपरीत अर्थ होजानेका प्रसंग होजाता है। ऐशानके पूर्वमें तो कोई निकाय नहीं है। ऐशान स्वयं एक चौथी वैमानिक निकायके व्याप्य माने गये कल्पोपपनका व्याप्य होरहा है, तथा ऐशानमें भी तो कायप्रवीचार व्यवस्थित रखना है। हां, सिचको नहीं कर सूत्र कथन करनेपर तो यह कोई दोष नहीं आता है। आङ्को उडा देनेपर अनिष्ट होजानेका संशय है। क्योंकि पूर्वयोः का अधिकार चला आरहा है। अतः कथमि सन्देह नहीं होय इसिक्ये सूत्रकारने " आ ऐशनात् " ऐसा संधिरहित सूत्रनिर्देश कर दिया है। कुछ संक्लेश उत्पादक कर्मोका विपाक होनेसे ये विचारे देव मनुष्योंके समान श्रीसम्बन्धी विषयसुखोंका अनुभव करते हैं। यही वहांकी देवियोंकी व्यवस्था है।

# देवाः कायप्रवीचारा आ ऐशानादितीरणात् । चतुर्ष्विप निकायेषु सुस्रभेदस्य सूचनं ॥ १॥

भवनवासी देवोंसे प्रारम्भ कर ईशान स्वर्गवासी देवोंतक काय द्वारा मैथुनप्रवृत्ति करनेवाछे देव हैं, इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके इस सूत्र द्वारा कथन करनेसे चारों भी निकायोंमें सुख विशेषकी सूचना कर दी गयी है। अर्थात् —देवोंके पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगोंकी पुष्कछ सामग्री विंध-मान है। स्पर्शन इन्द्रियजन्य पुष्पशय्यान्वित कोमळवस्त्रोंपर विलोडन, सुन्दर वस आमूषणोंका परि-र्चंग, कल्पवृक्ष या कल्पलताओं के सुक्रोमल पुष्प, पत्र, प्रवाल आदिका स्परीन, चेतीहर सदा युवति देवांगनाओंका माह्रेन्ट स्वर्गतक आल्डिंगनार्थ सोत्साह उपसर्पण, इत्यादिक स्परीन इन्द्रिय सम्बन्धी मोग उपमोग नहां परिपूर्ण हैं । देवोंके मानसिक आहार है । मनुष्य या पशु, पक्षियोंके समान कवळा-हारको वे नहीं करते हैं । अतीव मन्द क्षुधावेदनीय कर्मके उदय या उदीरणा होनेपर उसी समय देवींक कण्ठसे परमदिन्य शक्तिवारी अनेकरसपूर्ण अमृतमय रसीटा छारसारिखा पदार्थ झरता है, जो कि महती तृप्तिका सम्पादक है। सूक्ष्मपर्यालोचना करने पर प्रतीत होजाता है या पशु भी कवळाहार द्वारा जो षट्रस युक्त पदार्थीका स्वाद केते हैं, उस आनन्द प्राप्तिकें भी स्वकीय मुखसे निकली हुई लारको विशेष सहायक मानना चाहिये। यद्यपि पौद्रलिक भोज्य पदा-चींमें रसपरिणति विधमान है। किन्तु भिन्न भिन्न प्रकृतिके जीवोंकी न्यारे न्यारे भोज्य पदार्थींस उत्पन हुई लास्की बोछारें ही स्वादजन्य सुखिवरोषोंको उपजानेमें प्रेरक निमित्त हैं। क्षधापीडित दो महीनेके बचेके मुखमें अंगुळी या रबडकी स्तनी मुखमें दे देनेपर उसी समय उसके मुखसे छारके फ़्रम्बारे छूटते हैं। और कुछ देरतक बबेको तृति हो जाती है। तीर्थेकरके जन्मकालेंम देवों दासं भगवान् के अंगूठेमें अपूतका स्थापन करना इसी रहस्य को ध्वनित करता है। भैंस गायके मुखमें छार मिछ जानेपर घास या मुस विशेष सुखाद हो जाते हैं। ऊंटके मुखर्ने निषके पत्ते, उन राजाओं के बहुरस्पूर्ण व्यंजनोंने कही अधिक आनंदने उत्पादक हैं। गेंडु आके मुखर्मे मिडीके साथ उसकी छारके किंक जानेपर वह कीर बहुत झुलादु हो जाता है। उपवास या एकासन बतकी अवस्थामें वादाविहं

काती (ककेजा) पर शुष्कता आनेपर या मुंहमें सूखट आनेपर छार करके उस शुष्कताको मिटा क्या जाता है। मुनिजन भी दिन या रातमें स्वकीय पुरुषार्थसे लारको उपजा कर उक्त किया करते हुये दीवभाजन नहीं हो जाते हैं। हां, मुखमें अंगुली डालकर चचारते हुये अधिक लारको उपजानेके किये उन्हें आतुर नहीं होना चाहिये । कवलाहारियों के भोजनमें लार मिल जानेपर वह सस्वाध भी सुपाच्य हो जाता है। कोई मनुष्य तो छार मिलानेके लिये दूध या पानीको रोंधकर पीते हैं, अस्तु। मनुष्य या पञ्चपक्षियोंके स्पर्शन-इन्द्रियजन्य या रसना-इन्द्रियजन्य सुखोंकी प्राप्ति करनेमें उनके शारीरिक धातुओं या लारोंका हर्षक्षय जैसे होता है, उसी प्रकार प्राण, चक्क और श्रोत्र इन्द्रियों द्वारा निशिष्ट भोग उपभोग करते हुये भी शारीरसम्बन्धी उपधातुओंका न्यय ( खर्च होना ) प्रव-र्तता रहता है, तमी तो युवा अवस्थामें धातु उपधातुओंकी अधिक उत्पत्ति होते रहनेसे इन्द्रियोंके भोग, उपभोग, विशेष आनन्दोत्पादक होते हैं । और बृद्ध अवस्थार्में शरीरकी मूळपूंजीका घाटा हो जानेपर वे के वे ही अथवा उनसे भी अतिशय सुन्दर इन्द्रिय विषय विचारे सुखोत्पादक नहीं है। पाते हैं। " बृद्धस्य तरुणी विषम् "। बात यह है कि जैसे धनका उपार्जन कर विनियोक्ता पुरुष उसके बहुभागको भोग, उपभोग, या दानमें न्यय कर देता है, और अल्प भागको उपार्जक धनकी सन्तानमें मिळा देता है, उसी प्रकार शरीरके धातु, अपधातु या वैक्रियिक शरीरके अन्य जातीय शरीरावयव बहुभाग शरीर सुख के छिये ही उपज कर न्यय होते रहते हैं। यदि कंजस प्रक-तिका प्राणी वीर्य, छार या अन्य वैक्रियिक शरीर या बृक्ष आदि शरीरमें उप न रहे उन अमूल्य पश्चींका ब्यय नहीं करता है तो त्रैराशिक अनुसार उस के पास माछ टाछ नहीं भिछता है। तभी तो विशेषतया इन्द्रियोंके उपभोगी रिसक पुरुष और शरीर शक्तियोंका अल्पन्यय करनेवाळे संयमी जीवोंके अपेक्षा **कत छार आदिके संचयका तारतम्य नहीं देखा** जाता है। अतः न्यायप्राप्त सामग्रीका भोग उपभोग करनेसे ही कुपके स्रोत समान बह रहे छार आदि के अनुसार उपभोग करनेका प्रवाह प्रचलित हो रहा है। हां, पापों की प्रतिपक्षभावना या वैराग्यरसमें निमग्न होरहे अथवा भोगोमें उदासीन होरहे जीवोंके शरीरका कार्यालय (कारखाना) ही दूसरे ढंगका होजाता है। परितृप्त या रोगी अधका बीतराग साधु एवं शोधी, उदासीन, इनकी प्रवृतियोंपर सूक्ष्म छस्य देनेसे सब जीवोंको उक्त सिद्धान्त स्पष्ट प्रतिभासित हो जाता है । कुछधारासे जिनके शरीरसंस्थान सुन्दर सुदृढ बने हुये हैं अत्यल्य रुख मोजन करनेपर भी उनके शरीरोंमेंसे छावण्य फटा पडता है, जबकि दुर्ववहारी धनपतियोंके मुख या शरीर इतकान्ति हो रहे हैं। पुण्य या सदाचार तो अभ्यन्तर कारण है ही। किन्तु मुखरें **टार और शरीरमें धातु, उपधातुओं की पुण्क**ल उत्पाति ही टानण्य, सीन्दर्य, तृति, स्वाद, सुख आहि प्रधान कारण हो जाती हैं । देवोंके शरीरमें वही शारिरिक अमृत रसोपम छारसारिखे पदार्थीकी सङ्घ प्राप्ति विद्यमान है। अतः वे रोटी, दाङ, फल, मेशा, दूध, घृत, पेडा, घेवर, मोदक, आदि बहिर्भृत पदाधीका कत्रल आहार कदाचित् भी नहीं करते हैं। बस्तुतः आनन्दोत्पादक सम्पूर्ण सामग्रियां करीरमें ही

विद्यमान हैं। और सच पूछो तो अक्षयसुखका मण्डार आत्मा ही है। शरीरकी माता या पितामझी होरहीं आहारवर्गणाओं में वह आत्माको सुख देनेवाळी शक्ति न है और न थी । प्रत्युत आत्माने ही शरीरको सुखोत्पादक शक्तिकी थोडी भीख दे दी है। बस, उसी उपचरित असद्भूतनय अनुसार भात्माके सुखसे होरहे शारीरिक सुखको अपना रहा यह जीव सेंठिकी गांठ मिळनेपर बन गये पैसारी चूहे के समान बहिरात्मा बन रहा है । तभी तो मुमुक्ष, व्रती, इन्द्रियजन्य सुखोंपर छात मारकर अती-न्द्रिय स्वात्मोपलन्धिजन्य सुखका रसास्वादन करनेके छिये उद्यत रहते हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि देवोंका रसना इन्द्रियजन्य सुख बहिर्भूत पदार्थीसे नहीं प्राप्त होकर अपनी शारीरिक प्रकृति अनु-सार अपने अभ्यंतर कारणों अनुसार उपज जाता है। तथा हृदयहारी पुष्प, शरीर, आदिकी दिव्य गन्धको सूंघ कर देवोंके घाण इन्द्रियजन्य सुख होरहा है। स्वकीय स्थानोंमें होरही सुन्दर रचनायें, देव देवांगनाओं के अनुपम सीन्दर्य, मध्यळोक सम्बन्धी अनेक द्वीप समुद्रोंकी स्वर्गीय छटायें, आदिको निरख कर देवोंके चक्षुः इन्द्रिय द्वारा उपमोग प्रवर्त रहे हैं। स्वयं गाना बजाना अथवा अन्योंके गीत, वादित्र, आदिका श्रवण कर श्रोत्र इन्द्रियजन्य सुख उनके उपजते रहते हैं। परिशेषमें जाका सब जीवोंको '' जगत् कायस्वभावी वा संवेगवैराग्यार्थ '' के अनुसार वैराग्य भावनाफ ही हुक जाना आवश्यक पडेगा, तभी तो स्वर्गीमें ऊपर ऊपर या अहमिन्द्रोंमें गति. रारीर, परिष्रह, अभिमानकी, द्दीनता है । अहमिन्द्र देवोंकी तो ऐसी विरुक्षण परिणित है कि जाने आने या त्रिकिया करनेकी परिपूर्ण सामर्थ्य होते हुये मी वे तीर्धकरोंने पंचकल्याणक उत्स्वोंमें भी मध्यछोकमें नहीं उत्तरते हैं। वहीं स्वस्थानसे सात पेंड चळकी मगवान्को नमस्कार कर छेते हैं। यहां वहां बहुत भ्रमण करना कुछ अच्छा थोडा ही है। मन्दकषार या शुक्छछेश्याकी जातियां नाना प्रकारकी हैं । सर्वार्थसिद्धिके एक भवतारी देवोंमें तो परम शुक्छ **ळे**च्या सांसारितसुखोंकी चरमसीमापर पहुंचाती हुई उत्तरभत्रसम्बन्धी परम वैराग्य म<sub>ा</sub>वनाओंकी प्रयोजक हो रही है । उत्तरभवमें सम्पूर्ण पुण्यपापोंका क्षय करानेवाली और इस भवमें उत्कृष्ट पुण्यकी सामग्री वन रही यह सर्वार्थिसिद्धिके देवोंकी भेद विज्ञानसे पगी हुई सुखानुभूति तो चमस्कारपूर्ण है। " किमाश्चर्यमतः परम् '' भोगोंका चरमक्छ उपेक्षा है। अस्तु, इस वार्तिकर्मे चार निकायोंके इन्द्रियजन्य सुखका सूचन कर दिया है।

चतुर्णिकाया देवाः कायप्रवीचाराः इति संबंधाचतुर्व्विष निकायेषु सुराणां सुरतसुखः विश्वेषस्य कथनं गम्यते आ ऐशानादिति वचनात् । तिई वैमानिकनिकाये सर्वसुराणां कायः प्रवीचार्मसक्ती तिबद्धत्यर्थे ऐशानादिति वचनमभ्युपगंतुं युक्तं ।

देवोंकी चार निकारों हैं यो अनुकृत किये गये पहिले सूत्रके साथ काय प्रवीचारवाले देवोंक वाचक '' कायप्रवीचाराः '' इस शहुका सम्बन्ध कर देनेसे चारों भी निकायोंके देवोंके सुरत सुनुकर्ण स्वाविशेषका कथन करना जान किया जाता है "आ ऐशानात् " ईशान स्वर्गतक ऐसा वचन करनेसे मर्यादा बांध दी गयी है, तब तो चौथी वैमानिक निकायमें सम्पूर्ण देवोंके मनुष्य, पशु, पिक्वयोंके समान शरीर द्वारा मेथुनप्रवृत्तिका प्रसंग प्राप्त हो जानेपर उस प्रसंग की निवृत्तिके लिये ऐशालात् इस प्रकार सूत्रकारका वचन स्वीकार करनेके लिये युक्तिपूर्ण है। त्रैमानिक, मवनवासी और व्यन्तर ये तीनों जातिके देव उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे अधिक हैं। हां, व्यन्तरोंसे अयोतिषी देव तो संख्यात गुणे अधिक हैं। परिशिष्ट सम्पूर्ण वैमानिक देवोंसे असंख्यात गुणे देव केवल सौधर्म और ऐशान दो स्वर्गीमें बस रहे हैं। इस सूत्रद्वारा आदिकी तीनों निकायें और चौथी वैमानिक निकाय मेसे ईशान स्वर्गवासी देवोंतक एक सांसारिक विशिष्ट सुख माने जा रहे कायप्रवीचारका प्रतिपादन हो चुका है। अब सनत्कुमार आदि अच्युत पर्यन्त वैमानिक देवोंके मिथुनजन्य सुखविमागका प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिमसूत्रको कहते हैं।

# रोषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥

उक्त देवोंसे शेष बच रहे अच्युत पर्यन्त देव तो परस्पर स्वकीय नियत देव, देवियोंके स्पर्शमं, रूप अवलोकनमं, शद्वअवणमं और मनोजन्य मानसिक विचारोंमं, मैथुनोपसेवन कियाको धार रहे हैं। अर्थात्—उक्तम देवोंमं मैथुनप्रवृत्ति उक्तरोक्तर न्यून होती गयी है। देव सदा प्रवीचारमं ही लवलीन नहीं रहे आते हैं। मनुष्य, बी, पशु, पिक्षयोमं भी सर्वदा ही काम बेदना जागरूक नहीं रहती है। किन्तु अन्तरंग या बहिरंग कारणोंके मिलनेपर कामवासनायें जग जाती हैं या जगा ली जाती हैं। सभी जीवोंको चाहे वे धर्मात्मा न भी होय कामसेवनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक आवश्यक कर्त्तव्य बने रहते हैं। मनुष्योंको शरीरप्रकृतिके अनुसार शौच, स्नान, मोजन, शयन आदि कार्योमं आवश्यक काल्यापन करना पढता है। अनेक पशु, पश्ली, तो स्वकीय नियत ऋतुओंके अतिरिक्त कितने ही महीनोतक अरितवान् उदासीन रहे आते हैं। हां, श्रृंगारी पुरुषोंको आत्मवलकी न्यूनता हो जानेसे विषयवासनायें अधिक सताती हैं। देवदोवियोंके भी जब कभी कामशासनायें उपजर्ती हैं तो वे परस्पर स्पर्श, रूपावलोकन, आदि हारा लीकिकतृत्तिको प्राप्त होते हुये प्रीतिलाभ कर केते हैं। " बण्णामिन्द्रियाणां स्वेषु स्वेषु विषयेषु आनुकृत्यतः प्रवृत्तिः कामः" स्पर्शन इन्द्रियके समान या उससे भी अधिक कामसेवन इन अन्य इन्द्रियों हारा भी होता है, यह बात इस स्क्रसे न्यनित हो जाती है।

श्रेषा इति वचनं उक्तावशिष्टसंत्रहार्यः, ते चोक्तावशिष्टाः सानत्कुमारादयः कल्योपपचा रवाच्युतान्ताः परे अवीचारा इति वश्यमाणत्वात् कल्योपपचपर्यन्तानामेव द्वादश्वविकल्पत्वेन निर्विद्वानां मकरणाच्यः। इस सूत्रमें " रोषाः " यह वचन तो कहे जा चुके भवनित्रक और सौधर्म, ईशानवासी देवोंसे अवशिष्ट वच रहे कल्पवासी देवोंका संप्रह करनेके छिए हैं और वे उक्तोंसे अवशिष्ट रहे देव तो तृतीय स्वर्गवासी सानत्कुमार आदिक अच्युत स्वर्गपर्यन्तके कल्पोपपन्न देव ही प्रहण किये जाते हैं। क्योंकि अप्रिम सूत्र द्वारा परछे कल्पातीत देव प्रवीचाररिहत हैं। यों परिभाषण भविष्यमें किया जानेवाछा है। तथा " दशाष्ट्रपंचदादशाविकल्पाः " इस सूत्र द्वारा बारह विकल्पधारीपने करके कहे जा चुके कल्पोपपन्नपर्यन्त स्वर्गवासी देवोंका ही यहां प्रकरण प्राप्त हो रहा है। अतः कल्पातीत देवोंमें कोई अतिप्रसंग नहीं हो पाता है।

#### नन्वेतं के स्पर्शमवीचाराः के च रूपादिमवीचारा इति विषयविवेकापरिश्वानादगमकोऽयं निर्देश इत्याशंकायामिदमभिभीयते ।

यहां किसीकी शंका है कि इस सूत्र करके आधारभूत विषयोंका पृथक्, पृथक् रूपसे विचार नहीं किया गया है कि इस प्रकार कौनसे देव तो स्पर्श द्वारा मैथुनप्रकृत्तिको धार रहे हैं, और कौनसे देव भला रूप, शद्ध, आदि करके कायपुरुषार्थमें क्वळीन हैं यों विशेषतया परिक्षान नहीं होनेसे यह सूत्रका निर्देश करना अभिप्रेत अर्थका गमक नहीं है। यों आशंका होनेपर श्री विधानन्द आचार्य द्वारा यह समाधान वचन कहा जाता है।

# ते स्पर्शादिप्रवीचाराः शेषास्तेभ्यो पथागमं । क्षेयाः कामोदयापायतारतम्यविशेषतः ॥ १ ॥

उन उक्त देवोंसे रेशव रहे वे कल्पवासी देव तो स्पर्श आदिमें मैथुनोपसेवन करनेबाले है। इस सिद्धान्तको आम्नायानुसार प्राप्त हुये आगमप्रमाणका अतिक्रमण नहीं कर समझ लेना चाहिये। चारित्रमोहनीय सम्बन्धी वेदकर्मके उदय या उदीरणास्वरूप कामोदयेक अपाय (विनाश) की तरतमरूपसे विरोधता देखी जाती है। अतः स्पर्श, रूप, रान्द, इन उत्तरोत्तर विप्रकृष्ट होरहे सह कारियों द्वारा देवोंमें ऊपर ऊपर प्रवीचार अल्प अल्प है। अथवा यों अनुमान कर लेना कि वे उपित्र चीदह स्वर्गवासी देव (पक्ष) कामवेदनाकी न्यूनताक तारतम्य अनुसार स्पर्श, रूप, आदिके प्रवीचार करनेवाले हैं (साध्य) क्योंकि काम वेदनाके सम्पादक वेदक्रमीके उदयका नाश होजानेकी तरतमताका विशेष होनेसे (हेतु)। अर्थात् — लुखिया, सिरकटा, लिहिरया, चीता, सिह, इनको जैसे उत्तरोत्तर भय हीन हीन है या कृपण, सकुटुम्बधनी, अधमण, व्यापारी, पण्डित, भोगभूमियां, देव, सम्पन्दिष्ठ, मुनिमहाराज, उपशमक्रेणीवाले, इन जीवोंमें जैसे मय उत्तरोत्तर न्यून है अथव कृष्टगारी, रसिया, उपभोक्ता सद्गृहस्थ, मक्क, अणुक्ती श्रावक, उदासीन, इनमें उत्तरोत्तर कामवेदन स्वल्प है, इसी प्रकार सानकुमार आदि देवोंमें ऊपर ऊपर कामपुरुषार्थकी न्यूनता है। कामकी हीनताबे तारतन्यसे प्रकारी प्रकारी प्रकार तारतस्य अविनामानी है।

ते देवाः शेषाः सानत्कुमारादयो वयागमं स्पर्शादिप्रवीचाराः प्रतिपत्तच्याः । सानत्कुमारमाहेंद्रयोः स्पर्शभवीचारा देवास्तेषामुत्पन्नमेथुनसुखिष्टिष्सानां समुपस्थितस्वदेवीशरीरस्पर्शमात्रात्प्रीत्युत्पत्तो निवृत्तेच्छत्वोपपत्तेः । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठेषु रूपप्रवाचाराः, स्वदेवीमनोज्ञरूपावलेकनमात्रादेव निराकांक्षतया मीत्यितिशयोपपत्तेः । शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेषु
शब्दप्रवीचाराः, स्वकांतामनोज्ञश्चद्श्रवणमात्रादेव संताषोपपत्तेः । आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु
मनःप्रवीचाराः, स्वांगनामनःसंकल्पमात्रादेव परमस्रुखानुभवसिद्धेरिति हि परमागमः श्रूयते ।

उक्त देवोंने परिशिष्ट हो रहे वे सानत्कुमार माहेन्द्र आदिक देव तो आम्नाय प्राप्त आगम अनु-सार स्पर्श, रूप, आदिमें प्रवीचार करनेवाले समझ लेने चाहिये। वह आगमविधि इस प्रकार है कि सानकुमार और माहेंद्र स्वर्गीमें निवास करनेवाछे देव स्पर्श करनेमें मैथुनोपसेवन करनेवाछे हैं। क्योंकि मैथुनजन्य सुखके प्राप्त करनेकी अभिळाषा उत्पन्न होते ही उन देवोंके उसी समय उपस्थित हो गयीं निजदेवियोंके शरीरका केवल स्पर्श यानी आलिंगन या स्तन, मुखचुम्बन आदि क्रिया कर केनेसे प्रीति उत्पन्न हो चुक्रनेपर उन देवोंकी मैथुन इच्छा की निवृत्ति होनारूप कार्य सध जाता है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, छांतव, कापिष्ट स्वर्गीमें निवास कर रहे देव तो रूपमें प्रवीचार करनेवाले हैं । क्योंकि मैथुनकुत्यकी अभिलाषा होते ही उसी समय निकटप्राप्त ह्यौ अपनी सुन्दर देवियोंके मनोज्ञ रूप यानी सुन्दर वेष, विलास, विश्रम, चातुर्व, श्रृङ्गार, आकार, सीन्दर्यका, केवल अवलोकन कर लेनेसे ही स्वकीय भोगा नांक्षाकी निवृत्ति होते हये अतिशय युक्त प्रीति उपजनारूप कार्य बन जाता है। तथा नीवें, दशवें ग्यारहवें, बारहवें, शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्नार, स्वर्गनिवासी देवोंके राद्वमें ही प्रवीचार होता है। अपनी अपनी रमणीय कान्ताओंके मनोज्ञ राह्नोंके सुनने मात्रसे संतोषकी सिद्धि हो जाती है। देवियोंके मधुर संगीत. कोमल हास्य. भूषण राह्न, नृत्यकी संकार आदिका श्रवण कर पूर्व देवोंकी अपेक्षा इनको अत्यधिक प्रेम रस उपजता है। आनत, प्राणत, भारण, अध्युत, इन स्वर्गीमें देव मनमें ही प्रवीचार करनेवाले हैं। अपनी अंगनाओंके मानसिक संकल्प मात्रसे ही उक्त देवोंकी अपेक्षा अत्यधिक वैषायिक सुखका अनुभव साध केते हैं। इस प्रकार प्राचीन परम आगम वाक्य सुने जा रहे हैं। मावार्थ-वर्तमानमें भी इस ढंगसे मनुष्य या क्रियोंमें अंशरूप करके यें। कामपुरुषार्थ सेवन देखा जाता जाता है । परस्पर बीपुरुषोंक सुन्दर अवयवेंकी टकटकी छगा कर निरखने वाले रिक्षकों या बक्रमक धार्मिकोंमें चाक्षप मैथून बहुत पाया जाता है। तीव वेदना या चळाकर उपजायीं गयी वासनाओंके अनुसार कायप्रवीचारमें प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त समयोंमें कामवेदनाका अल्प आधात होनेकी दशामें स्पर्श प्रवीचारसे ही बीपुरुषोंकी इच्छाये परिपूर्ण हो जाती है । कदाचित् अध्यल्प वेदनाकी दशाओंमें रूपावलोकन, परस्पर संभाषण, मनोज जन्य मानसिक विचारोंसे ही तुसि हों जाती है। उत्तरोत्तर दखती हुई अवस्थायें

शारीरिक शक्तिकी हानिशीलता अनुसार अर्बबृद्ध या बृद्धजनोंमें इक्षान्तरूपेण उक्त समार्थ घटित हो जाता है। इसी प्रकार देवोंमें भी उक्त सूत्रार्थको युक्तिपूर्वक घटित कर केना चाहिये। जो अहा पुरुष शरीरस्पर्श या शकरजोमोचनसे ही प्रीति उपजना स्त्रीकार करते हैं, उनका विद्वान्त असमूख्य है। छौकिक प्रीतियोंकी उत्पत्तिके अनेक साधन हैं। वस्तुतः विचारा जाय तो विषयोंसे उत्पन हुआ सुख कोरा सुखाभास है। जितनी जितनी विषयतृष्णा न्यून है उत्तना ही उतना यह जीव अतीन्द्रिय सुख को परखने लग जाता है। तभी तो देवोंके बहिरंग आर्लिंगन आदि सामग्री जितनी बितनी हीन होती जायगी उतना ही उतना वे लोकिक सखकी भार बढते जायेंगे । अत्यधिक संसदींसे लोकिक सखींमें भी एक प्रकारका बिन्न ही पड जाता है । श्रृंगारी किन भी कहता है कि '' न पथ्यं नेपथ्यं बहुत-रमनंगोत्सवविधी '' कामोत्सवमें बहुत शंझटे लगा लेना अडचनें। को निमंत्रण देना है । लतीस श्रकारके व्यंजनोंकी अपेक्षा एक बारमें चार पांच सुन्दर व्यंजन ही अधिक तृप्तिकारक समझे गये हैं। हां, भिन्न समय न्यारी न्यारी छा कोंमें छत्तीस क्या छत्तीस सी व्यंजन भी विचित्ररुचियोके अनुसार ततिकारक होसकते हैं । भूखसे कुछ कम भोजन करनेमें जो आनन्द है वह नाकतक भोजनको इंस हेनेमें नहीं है। जाडेकी ऋतुमें अत्यल्प शीतबाधा सहते हुये उपयोगी परिभित वलों द्वारा उपभोग करना जितना स्वास्थ्यप्रद होते हुये मनोहारी है उतना आवश्यकतासे अविक गृदरा लादे रहना सुखसम्पादक नहीं है। परिशेषमें जाकर प्रीष्म ऋतुमें जैसे वस्त्रोंका परित्याग ही बांछनीय होजाता है, उसी प्रकार ठोस सुखको चाहनेवाले जीवोंके लिये झंशटोंकों हटाकर केवल आत्मस्वरूप इकला रहजाना ही आदरणीय होजाता है। अलम्—पूर्वपूर्ववर्त्ती देवोंके अवलम्ब उत्तरोत्तर देवोंमें नहीं है। किन्तु उत्तरोत्तर देवोंके स्पर्शः रूप, शद्ध, आदिमें होनेवाले प्रवीचार तो पूर्व पूर्व देवोंके आवश्यक रूपसे पाये जाते हैं। यानी जो देव रूप प्रवीचारवाले हैं वो स्पर्शप्रवीचारवाले नहीं हैं। किन्तु स्परीप्रवीचारवाले देव रूपप्रवीचार. शद्कप्रवीचार और मनःप्रवीचारोंको भी धारते हैं । परमागम द्वारा की गयी व्यवस्था सर्वधा निर्दोष है।

ततस्तद्नतिक्रमेणैव विषयविवेकविक्षानाश्वागमकोऽयं निर्देशः । पुनः ववीचारग्रहणा-दिष्टाभिसंबंधप्रत्ययादन्यथाभिसम्बन्धे चार्षविरोधात् । संभाव्यंते यथागमं स्पर्शादिपवीचारा देवाः कामोदयापायस्य चारित्रमोहस्रयोपश्चमविशेषस्य तारतम्यभेदान्मजुष्य विशेषवत् ।

तिस कारणसे उस आतोक परमागमका अतिक्रमण नहीं करके ही देवोंमें स्पर्श, आदि विषयोंका विभाग जान लिया जाता है। अतः यह सूत्रकारका कथन अवोधक नहीं है। "काय प्रवीचाराः आ ऐशानात्" इस पूर्वसूत्रसे यहां प्रधीचार शब्दकी अनुहार्च हो सकती है। फिर जो सूत्रकारने उस सूत्रमें प्रवीचार प्रहण किया है उस व्यर्थ पढ रहे प्रवीचार शब्दके महणसे आगम विधि अनुसार इष्ट अर्थका अभिसम्बन्ध कर लेना प्रतीत हो जाता है। यदि दो दोमें या चार चार स्वर्णमें यो अन्य प्रकारोंके स्पर्क करम आदि विषयक प्रवीचारोंका अभिसम्बन्ध किया जानेगा तो ऋषि

प्रोक्त सिद्धान्तप्रन्थोंसे इस सत्रका विरोध ठन जायगा । खल्प भाषण करनेवाले उदात्त उद्भट विद्वानोंके राब्द म्यर्थ नहीं जाते हैं। अतः प्रवीचार शब्दकरके इष्ट अर्थकी हारि कर छी जाती है। इस सूत्रार्थका यों अनुमानवाक्य बना छेना कि सानत्कुमार प्रमृति देव (पक्ष ) स्पर्श, रूप आदि विषयक मैथन प्रवृत्तियोंको धार रहे आगमविधि अनुसार जाने गये सम्मावित हो रहे हैं (साध्यदल) कामसम्पादक वेदकर्मके उदय या उदीरणाके विनाश स्वरूप चारित्रमोहनीयकर्प प्रतियोगिक विशेष क्षयोपशमकी तरतमताका भेद होनेसे (हेत् ) मनुष्य विशेषोंके समान ( अन्वयद्द्यान्त ) । अर्थात---उत्तरोत्तर अधिक धर्मात्मा बन रहे सम्यग्दिष्ट, पाक्षिकश्रावक, दरीन प्रतिमा, वतप्रतिमा, दिवाऽभुक्त प्रतिमावाले श्रावकोंमें जैसे क्षायोपरामिकभाव अणुवत ब्रह्मचर्य है। '' देसविरदे पमत्ते इदरे य खओव-समियभावोद्, सो खलु चरित्तमोहं पडिच भणियं तहा उवरिं " यों गोम्मटसार अनुसार पांचवे देश विरत गुणस्थानमें चारित्रमेहिनीयकी अपेक्षा क्षायोपशिकभाव माना गया है। यद्यपि नोक्षायकी वेद नामक प्रकृति देशघाति है । तथापि देशघातियोंमें अपेक्षाकृत सर्वघातिस्पर्धकोंका सदाव पाया जानेसे पाक्षिक आदिमें सर्वचातिस्पर्धकोंका उदयाभाव क्षय और मिवण्यमें उदय आनेवाले सर्वचाति स्पर्ध-कोंकी उदीरणा नहीं हो सकने योग्य वहांका वहीं उपराम बना रहना तथा देशघाति वेद प्रकातिके निषेकोंका उदय यों क्षमोपराम बन जाता है। यद्यपि देवोंमें कोई बत नहीं है। देशविरतके नहीं होनेसे उनके क्षायोपशमिकचारित्र कहनेके छिये जी हिचकिचाता है। फिर भी अन्तरंग कारणवश कामोदय उत्तरोत्तर देवोंमें अत्यल्प है । अतः कषायोंकी मन्दता होनेने उन देवोंके निस्सन्देह चारित्र मोहका क्षयोपराम कहनेके किये सर्ह्य उत्साह हो जाता है। जब कि गोम्मटसारमें ही कहीं दर्शन मोह कचित् चारित्रमोहका अवलम्ब लेकर दूसरे गुणस्थानमें पारणामिक भाव और क्षपकश्रेणीमें क्षायिक भाव जो कि सिद्धोंमें कहने चाहिये भगित किये हैं, तो अन्तरंग कर्मोंकी शक्ति अनुसार मैथुनसंज्ञाकी उत्तरोत्तर हानिकी ओर झुक्तनेत्राळे जीवेंके चारित्रमे।हका क्षयोपराम कहना अनुचित नहीं है। अतः यह हेत पक्षमें वर्त जाता है। सर्वथा प्रवीचाररहित सर्वर्थसिद्धिके देवोंको मले ही चतुर्थ गुणस्थानवर्षी कहते रहो और कामतीवाभिनिवेश नामक अतीचारको धार रहे दर्शन प्रतिमा-बाले स्वकी-आसक्त मनुष्यको भले ही पंचमगुणस्थानवर्ती कहे जाओ, हम टोकते नहीं है। किन्तु वेदकर्गीके उदय, उदीरणा, पर सूक्ष्म लक्ष्य देनेसे सर्वार्थिसिद्धिके देवें। या लीकान्तिक देवेंमें अखण्ड ब्रम्हचर्य पाया जा रहा हैं। स्त्रोकवार्तिकालंकार उक्त सिद्धान्तका पोषक प्रतीत हो रहा है। भगवान्का अभिषेक करनेवाले पुरुषोंका या व्रतथारी श्रावकोंका रस, रुधिर, मल, मूत्र,मयशारीर मछे ही पवित्र आत्मारूप उपाधिकी अपेक्षा न्यवहारदृष्टिसे उपचरित पवित्र मान छिया जाय, किन्तु सौधर्म इन्द्र, छौकान्तिक, सर्वार्धसिद्धिस्य इन देवोंके धातु, उपधातु, मळपूत्रविद्दीन शरारों अथवा एकें-दिय जीवके वृक्ष, वास, जल, अग्नि शरीगेंको उपचारकी शरण लिये विना ही पवित्र कहनेके लिये उत्साहके मारे जीव बांसे उछलता है। कर्म, प्रद्रुल, आत्मा, निज परिणाम, उपादान कारण आदिकी शक्तियोंपर विचार करनेसे उक्त सिद्धान्तका नग्नरहस्य स्पष्ट दीख जाता है । अवती उच्चर्ण अं विती नीचवर्णके तत्त्वको अथवा अहिंसक धीवर या चाण्डाळ और हिंसक माण्डणके तत्त्वको समझं गळ सहदय उदात्त विद्धानोंको उक्त सिद्धान्तके सन्मुख सिर श्रुकाना पढेगा । अनुक्त मी चारित्र सिद्धे रखना पडता है । देवोंके क्षायोपशिमक चारित्रका निरूपण कर देनेवाळ निमीक श्री विद्यानन्द आच महाराजसे अपनी आत्माके उदात्तमाव बनानेकी शिक्षा छो—इत्यळम् पळ्ळवितेन । समझनेवाळोंके वि संकेतमात्र पर्याप्त है । ळजाळुओंको समुद्र, नद, कृपकी आवश्यकता नही है । खल्प जळ पापका संकल्पपूर्वक त्याग करनेके ळिये इष्टराधक हो जाता है ।

किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि गुरुजी महाराज, यदि सोळह स्वर्गतक इस प्रकार व्यवस्था है बताओ कि ऊपर प्रैवेयक विमानवासी अहमिन्द्रोंके किस प्रकारका सुखं प्रवर्तता है ! यों प्रश्न होने श्री उमास्वामी महाराज अहमिन्द्रोंके सुखका निर्णय करनेके छिय अप्रिम सूत्रको यों कह रहे हैं।

#### प्ररेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

सीलह स्वर्गीके उत्पर नवप्रैवेयक, नव अनुदिश, और पांच अनुत्तर विमानोंमें उपन रहे पर अहमिंद्र देव तो मैथुनप्रवृत्तिसे सर्वथा रहित हैं। मनसे भी मैथुन सुखके अनुभवसे रीते होरहे करुपातीत अहमिन्द्र परमहर्षमा अनवरत अनुभव करते रहते हैं। अर्थात्-किसीको भूंख या प्य लगे उसकी षट्रस पूर्ण उत्तम, उष्ण, भोजनों या मधुर शीतल जल द्वारा निवृत्ति करके जो सुख अनुभव किया जाता है, वह सुख अविद्यन, अनवरत, ठोस, निर्वाध, नहीं है। केवल रोगका प्रतीव मात्र है। हां, यदि किसी केवलज्ञानीको भूंख, प्यास, या नींद, रोग ही नहीं है, उसके अविद्यित पर सुख उच्च श्रेणीका माना जाता है। इसी प्रकार करपातीत देवोंके कामबेदनाके प्रतीकारकी शंकरं नहीं पढ़नेके कारण सतत परम हर्ष होता रहता है।

परे ग्रहणं कल्पातीतसर्वदेवसंग्रहार्थे । ततो अनिष्टकल्पनानिश्वतिः । अपनीचारग्रहणं मक्क द्युत्तपतिपत्त्यर्थे, ते न मनःप्रवाचाराः । तेभ्यः परे कल्पातीताः सर्वदेवाः प्रवीचाररहि इत्युक्तं भवति ।

इस स्त्रमें पर शन्दका प्रहण करना तो सम्पूर्ण करपातीत असंख्याते देवोंका संप्रह करने हैं। तिस कारणसे अनिष्टकरपनाओंकी निवृत्ति होजाती है। अन्यथा यानी परे शन्दका प्रहण व नहीं किया जायगा तो कतिपय स्वर्गवाधी देवोंमें वा कुछ ही करपातीत देवोंमें प्रवीकाररिहतवन अनिष्टकरपना की जासकती है। इस स्त्रमें अप्रवीकार शब्दका प्रहण करना तो अहानिकोंके हो प्रकृष सुखकी प्रतिपत्ति करानेके किये है। वे देव मनते भी प्रवीकार करनेवाले नहीं हैं। यद्यपि प्रथ दितीय, कृतीय, या कहार्य गुणस्थानके भावोंको धार सहे प्रवेषकवारी अहानिक वार्ष केमक का



गुणस्थानावर्धी नव अनुदिश, पांच अनुत्तर विभानवासी अहमिन्द्रोंके वेदक्रमंका उदय है। अनुतार देनोंके पुरुषोचित उपांग भी हैं। किन्तु आसीय पुरुषार्धजन्य विलक्षण परिणातियों के नव ने के इक्कीय और भाववेद व्यर्थ पढ़ जाते हैं। छठं, सात्वें, आठवें, गुणस्थानों में भी तो और भाववेदका सद्भाव है। किर भी देवोंसे अनन्तरगुणा निष्काम खुल साधुओं के माना गया है। महानतको कडी महिमा है। कामको अनन्तकालतको लिये जीतनेवाले शीणकषाय या केवलका परम अतीन्त्रिय सुल अनन्ताबन्त विश्वमान है। यद्यपि जी, पुरुषों के मिथुन सम्बन्धी पुरुषार्थजन्य तो वृक्ष, घास, कीट, नपुंसक, नारकी आदिमें भी नहीं है, किर भी इनके कामजन्य तीन दुः हैं। जिस किनाय सम्बन्धी और स्वर्गतासी देवोंसे परे होरहे सम्पूर्ण कल्पातीत देव तो मेथुनसेवाके पंक (दलदल) में निमन्नता (कंसे रहता) स्वरूप प्रवीचारसे रीते हैं। अर्थात्—अनेक धर्मात्मा नहीं होते हुये भी जन्मते ही स्वभावतः कामवासनाओंसे दूर रहते हैं। उस दशामें बढ़ा गम्भीर सुल मिलता है। प्रथम गुणस्थानवर्ती आधुनिक और पुरुषोंमें भी कदाचित् प्ररिद्धित भाव पाये जाते हैं। कोई आधर्य नहीं है।

#### कृतः पुनक्तेभ्यः परे अवीचारा इत्याह ।

अब श्री विधानन्द खामीके प्रति किसीका प्रश्न है कि महाराज, बताओ, कहे जाचुके परछे देव फिर प्रवीचारसे रहित भछा किस युक्तिसे सिद्ध हो जाते हैं ! आगमउक्त विषयोंके युक्तियोंके प्रवर्त जानेसे ही आगमके ऊपर अनुप्रह होसकता है, अन्यथा नहीं । इस प्रकार जिज्ञासा श्री विधानन्द आचार्य अप्रिमवार्तिकोंको समाधानवचनस्वरूप कह रहे हैं । उनको सुनो, समझो ।

तेभ्यस्तु परे कामवेदनायाः परिश्वयात् ।
सुखप्रकर्षसंप्राप्तेः प्रवीचारेण वर्जिताः ॥ १ ॥
संभाव्यंते च ते सर्वे तारतम्यस्य दर्शनात् ।
नराणामिद्द केषांचित् कामापायस्य तादृशः ॥ २ ॥

लन उत्त देवींसे परकी ओरके वे विवादापन सम्पूर्ण कस्यातील देव तो ( यक्ष ) मैथुनीप वर्जित होरहे सम्भव रहें हैं ( साध्य ) कामगेदनापीडाका परिक्षय होजानेसे ( हेतु ) काम । अत्यन्त तुष्क या मैथुनकर्मकी जतीव हानिकारक समझ रहे और व्यायाम, दुग्धपान, मिडि धृतमेवा मीजन, आदिके भीगी मलके समान ( अन्वयरहान्त )। इस अनुमानसे अहमिन्होंने प्रवर्शितपना साथ दिया जाता है। तथा सुखके प्रकर्षकी भन्ने प्रकार प्राति होजानेसे ( हेतु ) अहा

कामनेदनाका परिक्षय साथ दिया जाता है। यहां वर्तमानकालमें मी किन्ही किन्ही मनुष्योंके तिस प्रकारके कामके विनाशका तारतम्य देखा जाता है। अर्थात्—वर्तमानमें सम्पूर्ण युवा पुरुष कामुक ही होय ऐसा कोई अवधारण नहीं है। कई पुरुष तो जन्मपर्येत कामसे नहीं सत्वि देखे मये हैं। हां, ब्रियोंके मासिकधर्म होनके कारण मानसिक कामविकारोंसे रहितणना दुर्लम है। " इनि पुरिसे बत्तीसं"। सभी ती देखेंकी गणनासे बत्तीस गुनी भी गिनतीमें असंख्याती देवियां प्रवीचाररहित नहीं कही गयी है। आर्थिका भी उत्कृष्टसंयमको प्राप्त नहीं कर सकती है। किन्तु वीररस्प्रेमी, उदासीन, शान्तरसी, पुरुषोंमें कामवेदनाके विनाशकी तरतमता देखी जाती है। इस हेतुद्वारा विवादापक्रजीवोंमें प्रवीचारसे रहितपना साध दिया जाता है। जैसे अनेक पुरुष सदासे ही श्रृंगार रसके प्रेमी होते हैं, तद्वत् अनेक जन कामरससे सर्वांश उदासीन रहनेवाले भी देखे जा रहे हैं। जब कि किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके यहां वैसी कामवेदनाका अपाय है। अत: वे सभी अहमिन्द्र देव विचारे प्रवीचारसे रहित हो रहे सम्भव जाते हैं।

विवादापनाः सुराः कामवेदनाक्रांताः सञ्चरीरत्वात् मसिद्धकामुकवत् इत्ययुक्तं कामवे-दनापायस्य शरीरित्वेन विरोधाभावात् । केषांचिदिहैव मनुष्याणां मंदमंदतमकामानां विनिध-यात् कामवेदनाहानितारतम्ये शरीरहानितारतम्यदर्शनाभावात् मसीणशेषकल्मषाणामपि शरी-रिणां ममाणतः साधनात् ।

जगत्वर्ती सम्पूर्ण देव देवियों यहांतक कि ब्रह्मा, विष्णु, महेरा देवोंको मी मैथुनोपऐशी स्वीकार कर रहा कोई पौराणिक पण्डित आक्षेप करता है कि विवादमें प्रसित हो रहे कल्पातीत देव (पक्ष) कामजन्य पीडासे आकान्त हैं (साष्य दछ)। शरीरसिहत होनेसे (हेतु) वेश्यासक्त या परकीगामी कामुकपुरुषक समान (अन्वयदृष्टान्त)। प्रन्थकार कहते हैं कि युक्ति व्याप्तियोंकी झपटोंको नहीं झेल सकनेशला यह आक्षेप तो अनुचित है। क्योंकि कामवेदनाके अपायका शरीराधारीपनक साथ कोई विरोध नहीं है। वर्तमानमें यहां ही किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके अतीव मन्द और उससे भी अत्यविक मन्द हो रही कामप्रवृत्तिका विशेषक्रपण निश्चय हो रहा है। धर्म या वर्तोका लक्ष्य नहीं रखते हुये भी अनेक मनुष्य मन्दकामी हैं। एक पंजाबक मलुने यावत् जन्ममें एक ही बार मैथुनसेशन किया था, जिसका फलस्वरूप उसके एक प्रुष्ठ उत्पन्न हुआ, जो कि युवा अवस्थामें पिरणत होनेपर सम्पूर्ण यूरुपनिवासी मल्लोंका विजेता हुआ, जो इस समय विध्यान है। सुना जाता है कि एक विशिष्ट जातिका सिंह अन्यसम्में एक हो कार मैशुनसेश करता है। किन्ही शृंगारी पुरुषोंक पारिणाम जैसे विदल्बकी विपुत्त तृत्यामें हुते रहते हैं, उसी प्रकार अनेक उदाधीन जीवोंके परिणाम स्थान हा से कामरिहत प्रतीत हो रही हो सामवेदनाकी हानिका तारतम्य होनेपर शरीरकी हानिक तारतम्यका दर्शन नहीं हो रहा है। यानी कामवेदनाकी हानिका तारतम्य होनेपर शरीरकी हानिक तारतम्यका दर्शन नहीं हो रहा है। यानी कामवेदनाकी हानिका तारतम्य होनेपर शरीरकी हानिक तारतम्यका दर्शन नहीं हो रहा है। यानी कामवेदनाकी हानिक विराद वित्ति होते अविरोक शरीर स्थान होने होती आवर ऐसा नियम मही है। बहुमाग स्थलोंने ती इसके विपत्ति होने विवार होने होते विवार होने

क्या, स्रीण, शरीरधारी शृंगार रसिक पुरुषकी अपेक्षा बार, योद्धा, मछ, प्रतिमछ पुरुषोंके शरीर दृढ, पुष्ट, बल्छि, उन्ने चौडे, पुढील होते हैं। निकृष्ट वेश्याओं के काममय घृणित शरीरोंसे महाचारिणी या स्वदेशरक्षणतत्वरा लजाल क्षियोंके शरीर उन्नत देखे जाते हैं। कहांतक कहें, सम्पूर्ण कामवासना सम्बन्धी पापोंका प्रकर्षरूपसे नाश कर देनेवाले या ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन सम्पूर्ण वातिया कमीका प्रक्षय कर चुके श्री जिनन्द देवोंका मी शरीर सहितपना प्रमाणोंसे साधा जा चुका है। जब कि वेदकर्मका या घातियाकमीका प्रक्षय कर चुके शरीरधारी जिनेन्द्र मगवान्के अनन्त बलशाली, सर्वाग सुन्दर, लम्बा चौडा सुढील, पिन, परम औदारिक शरीर है, तो शरीरधारीपन हेतुकी कामवेदनासहितपन साध्यके साथ व्याप्ति नहीं बन पाती है। हां, कामवेदनाकी श्रुटि होते होते साथमें यदि शरीरकी भी श्रुटि होती जाती तो शरीरधारी देवोंका या तीर्थकरोंका भी कामपीडितपना साधनेमें सहायता मिल सकती थी। किन्तु यहां तो इसके विपरीत प्रस्ताव उपस्थित होगया, अतः पौराणिकोंका हेतु व्यभिचार दोषप्रसित है।

प्तेन कामित्वे साध्ये सन्त्वत्रययत्वादयोपि इतवः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिका इति प्रति-पादितं ततः संभाव्या एव केचिद्पवीचाराः।

इस इक्त कथन करके इस बातका भी प्रन्थकारनें प्रतिपादन कर दिया है कि कल्पातीत देवों में कामीपना साध्य करनेपर कहे जाने योग्य सत्व, प्रमेयत्व, जीवत्व, चेतनत्व आदिक हेतुओंकी भी विपक्षसे व्यावृत्ति होना संदिग्ध है। क्योंकि कामसेशी जीवोंके समान मन्दकामी या सर्वथा प्रविचार रहित जीवोंमें भी सत्त्व आदिक हेतु पाये जाते हैं। जब कि व्यमिचार्रपुरुष भी कभी कभी तीव रोग, गाढ सुष्रित, आदि अवस्थाओंमें कामपीडासे वर्जित हैं तो मछ, जितिन्द्रिय साधु, महामना त्यागी, क्षीणकषाय आदि जीवोंके विषयमें तो कहना ही क्या है! विपक्षमें हेतुके ठहर जानेका निश्चय नहीं भी होय, किन्तु विपक्षमें वर्तनेका पौराणिकोंको भी सन्देह होजायगा। अतः शरीरधारीपन या सत्त्व आदिक हेतु उस कामपीडितपनको साधनेमें संदिग्ध व्यभिचार हेत्वाभास दोषप्रस्त हैं। तिस कारणसे कोई देव यानी कल्पातीत देव या छीकांतिक देव बिचारे प्रवीचारसे रहित होरहे सम्मवने योग्य ही हैं, जैशा कि उक्त वार्तिकोंमें कहा गया है।

## इत्येवं नवभिः सुत्रैः निकायाद्यंतरस्य या । कल्पना संशयश्रात्र केषांचित्तिवराकृतिः ॥ ३ ॥

किन्हीं किन्हीं अजैन विद्वानोंके यहां चार निकायोंके अतिरिक्त दूसरे दूसरे ढंगसे देवोंकी दो ही तीन ही अथवा पांच आदिक ही निकाय मानी गयी हैं। केरमा या देवोंके अन्तर्गत भेद, इन्ह्रण्यक्सा, प्रवीचार आदिकी दूसरे प्रकारोंसे कल्पनायें गढी जारही हैं और किन्हीं किन्हीं पण्डितोंके यहां देवोंकी निकाय, छेल्या, भेद, प्रभेद, आदिका जो संशय होरहा है, यहां चतुर्थ अध्यायकी आदिमें इस प्रकार ही सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने उन सब कल्पनाओं या संशयोंकां निराकरण कर दिया है। अर्थात्—उक्त नौ सूत्रोंके प्रमेयमें अन्याप्ति, अतिन्याप्ति दोष नहीं हैं।

मयमेन सूत्रेण तावत्केषांचिषिकायांतरस्य कल्पना तत्संदेइः चात्र निराकृतिः । दिती-पेन छेक्पांतरस्य, तृतीयेन संख्यांतरस्य, चतुर्थेन कल्पांतरस्य, पंचमेन तदपबादांतरस्य, षष्टेनें-इसंख्यांतरस्य, सप्तमेनाष्टमेन चानिष्टमचीचारस्य, नवमेन सर्वभवीचारस्येति नवभिः सुत्रैनिका-पाद्यंतरकल्पनसंश्चयनिराकृतिः मत्येतच्या ।

उक्त वार्तिकका विवरण यों है कि यहां चौथे अध्यायमें सबसे आदिके पाईछे सूत्र करके तो केन्हीं किन्हीं पुराणकारोंके यहां मानी गयीं देवोंकी दूसरी निकायोंकी कल्पना और दूसरे ढंगकी उन निकायोंका जो सन्देह 🚵 रहा है उसका निराकरण कर दिया गया है। " आदितक्षिष्ठ पीतान्त-डेस्याः " इस दूसरे सूत्रकरके भवनत्रिक देवोंमें अन्य पद्म, शुक्छ, डेस्याओंकी निराकृति कर दी गयी है । तथा " दशाष्ट्रपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपनपर्यन्ताः " इस सूत्र करके तो नियत हो रहीं दश, आठ, पांच, बारह, संख्याओंसे अतिरिक्त संख्याओंकी न्यावृत्ति कर दी गयी **है**। चौथे '' इन्द्र अमानिक '' आदि सत्रकरके दश विध कल्पनाके सिवाय अन्यविकल्पोंका निराकरण कर दिया है। गचर्वे " त्रायक्षिरा '' आदि सूत्र करके उन दश विकल्पोंके दो निकायोंमें हो रहे अपवादके सिवाय अन्य अपवादोंका निरास कर दिया गया है। छड़े '' पूर्वयोद्धीन्द्राः '' सूत्र करके इन्होंकी उक्त मंख्याके अतिरिक्त संख्याओंका वारण कर दिया है। सातवें, आठवें, '' कायप्रवीचारा आ ऐशानात '' और '' शेषाः स्पर्शरूपशद्वमनःप्रवीचाराः '' सूत्रों करके अनिष्ट प्रवीचारोंका प्रत्याख्यान किया गया है। नौवें " परेऽप्रवीचाराः " सूत्र करके सब कल्पातीत देवोंके प्रवीचारसहितपनका व्यवच्छेद किया गया है। इस प्रकार नौ सूत्रों करके अन्य निकाय आदिकी असम्दत या सदसम्दत उभय-कोटिस्पर्शी संशयकी निराकृति हो रही समझ छेनी चाहिये। उक्त सूत्रोंके नौ वाक्य सावधारण हैं। कण्ठोक कही चाहे न कड़ी, वाक्यमें विना बुलाये ही एवकार द्वारा अवधारण लग बैठता है। " वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये "।

आदिनिकायसम्बन्धी जो दश विकल्पवाछे देव कहे जाजुके हैं, उन देवोंकी सामान्य संज्ञा और विशेष संज्ञाका विज्ञापन करनेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

भवनवासिनोऽसुरनागविद्यत्सुपर्णाग्निवातस्तानितो-दिधद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥ भवनोंमें निवास करनेके शीलको धारनेवाले देव भवनवासी हैं। वे १ असुरकुमार २ नागकुमार ३ विद्युतकुमार ४ सुपर्णकुमार ५ अप्रिकुमार ६ वातकुमार ७ स्तनितकुमार ८ उद्धिकुमार ९ द्वीप-कुमार १० दिक्कुमार इन दश विशेषसंज्ञाओंको धार रहे हैं।

भवनवासिनामकर्मोदये सित भवनेषु वसनशीला भवनवासिन इति सामान्यसंझा प्रथम-निकाये देवानां । अग्रुरादिनामकर्मविश्वेषोदयादसुरकुमारादय इति विशेषसंझा । कुमारशब्दस्य प्रस्थेकभिसंबंधात् तेषां कीमारवयोविश्वेषविक्रियादियोगः ।

गति संज्ञक नामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रहे भवनवासी नामक नामकर्मका उद्दय होते सन्ते, भवनोमें निवास करनेकी टेववाले, देव भवनवासी हैं। इस प्रकार पहिले निकायमें यह देवोंकी अखिल विशेषोंमें घटित हो रही सामान्य संज्ञा है। हां, उस भवनवासी नामकर्मके भी उत्तर भेद स्वरूप अखुर, नाग, आदि विशेष नामकर्मोंका उदय हो जानेसे अखुरकुमार, नागकुमार, आदिक विशेष संज्ञायें प्रवर्त जाती हैं। '' इन्ह्रादी इन्ह्राते च श्रूपमाणं परं प्रत्येक्तमभिसम्बन्धते '' इस नियम अनुसार अन्तके कुमार शहका प्रत्येक अखुर आदिमें पीछे सम्बन्ध जुड जाता है। उन भवनवासी देवोंके कुमार अवस्थामें हो रहे सारिखे आयुष्यविशेष, विक्रिया करना, वेष, भूषा, आयुध, क्रीडन, यान, वाहन, आभरण, आदिसे अत्यधिक प्रीति होनेका योग है, इस कारण उनको कुमार कह दिया जाता है। मावार्थ—लोकमें भी कई वालकोंका अजितकुमार, भानुकुमार आदि नामनिर्देश कर लिया जाता है। केन्तु वृद्ध अवस्थामें ये नाम शाद्विकोंके यहां उसी प्रकार खटकते हैं, जैसे कि वृद्ध विवाह आक्षेप करने योग्य है। नाम परिवर्तनके लिये देवोंमें उतनी आवश्यकता नहीं उपजती है। जितनी कि बुद्धे अजितकुमार आदि मनुष्योंमें है। किन्तु क्या किया जाय ! नामपरिवर्तन करना अभीष्ट नहीं है। यद्यपि सम्पूर्ण देवोंके जनमसे अन्तर्मुहूर्तके पीछे और मरनेके छह मास पूर्वतक भरपूर युवा अवस्था नियत रहती है, फिर भी कुमारोंक समुचित विक्रिया, वेष, क्रीडापरता आदिमें अत्यधिक प्रेमभाव होनेके कारण इनको कुमार शब्दसे कह दिया जाता है।

केचिदाहुः देवैः सहास्यंतीति असुरा इति, तदयुक्तं, तेषामेवमवर्णवादात् । सीघर्मादि-देतानां महाप्रभावत्वादसुरैः सह युद्धायोगात् तेषां तत्प्रातिकृल्पेनावृत्तेवैरेकारणस्य च परदारापहारादेरभावात् ।

कोई कोई पौराणिक पण्डित ऐसा कह रहे हैं कि "देवैः सह अस्यन्तीति असुराः" अदितिके पुत्र आदित्य देवोंके साथ दितिके पुत्र दैत्य यानी असुर सदा ठडते रहते हैं। देवोंके साथ युद्धमें प्रहरण आदिकोंको क्षेपते हैं अथवा ठडाईमें मारकर देवोंको नदी आदिमें फेंक देते हैं, इस कारण वे असुर हैं। प्रथ्यकार कहते हैं कि यह उन स्मृतिकारोंका कथन युक्तिश्च्य है। क्योंकि उन देवोंके उत्पर इस प्रकार कहते हैं कि यह उन स्मृतिकारोंका कथन युक्तिश्च्य है। क्योंकि उन देवोंके उत्पर इस प्रकार कहनेपर अवर्णवाद यानी इंद्रा दोष अप वेठता है। देवो, चौषी निकायके सौधर्म आदिक

विं या अहमिन्द्र आदि देवोंका महान् प्रभाव है। विचारे अल्पवली अमुरकुमारोंके साथ सीधर्म आदि विंका कथमिप युद्ध होनेका योग नहीं लग पाता है। दूसरी बात यह है कि जैनसिद्धान्त अनुसार उन मसुरकुमारोंकी उन देवोंके या देवोंकी असुरोंके प्रतिकृत्वपन करके प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि जन्मकल्पाणक गा समवसरण आदिमें प्रवर्तेंगे भी तो अनुकृत्व होकर ही प्रवृत्ति करेंगे। वचन और कायसे तो क्या मनसे भी गितकृत्वताको नहीं ठान सकते हैं। तीसरी बात यह है कि परबीहरण या परधनप्रमोष अथवा दूसरेके अधिकृत शापर स्वाधिकार जमाना आदि चेष्टायें ही वैरके कारण हैं। इन देवके हेतुओंका लभाव हो गोनेसे देव और असुरोंमें युद्ध कथमिप नहीं ठनता है। मिध्याज्ञानी आप्रहीजन चाहे कैसी भी ह्यंठी, ग्रंची, कल्पनायें करें, प्रामाणिक विद्वानोंके यहां उन गपोडोंका कोई मूल्य या आदर नहीं है। भन्ने गियोपर झुंठा कलंक लगाना कोई अच्छा थोडा ही है।

#### अथैतेषां भवनवासिनां दश्चानामपि निरुक्तिसामर्थ्यादाधारविश्वेषमितपत्तिरिति मदर्श्वपति।

अब महाराज यह बतलाओं कि इन दशों भी प्रकारक भवनवासी देवोंके भवन कहां हैं ! सके उत्तरमें श्री विद्यानन्द स्वामी " भवनवासी " इस सामान्य संज्ञावाचक शद्भकी निरुक्तिके साम-यसि ही हो रही विशेष आधारकी प्रतिपत्ति बन बैठती है, इस सूत्रकारके रहस्पको भले प्रकार देख लाये देते ह ।

## दशासुरादयस्तत्र मोक्ता भवनवासिनः । अभोलोकगतेष्वेषां भवनेषु निवासतः॥ १॥

उन देवोंमें असुरकुमार, आदिक दश भवनवासी देव भछे प्रकार कहे गये हैं (प्रतिक्का)। प्रोंकि नीचे अधोछोक्रमें प्राप्त हो रहे भवनोंमें इन देवोंका निवास हो रहा है (हेतु)। यों अनुमान प्राप्त भवनवासी शहकी निरुक्तिके अर्थको साध दिया है।

क पुनरघोळोके तथां भवनानि श्रूयंते ? रत्नप्रभायाः पंक्षबहुळभागे भवनान्यसुरकुमा-तणां, खरपृथिवीभागे चतुर्दश्रयोजनसहस्रेषु नागादिकुमाराणां । तत्रोपर्यधश्रैकैकस्मिन् योजन-अहस्रे तज्ञवनाभावश्रवणात् । तत्र दक्षिणोत्तराधिपतीनां चमरवैरोचनादीनां भवनसंख्याविश्रेषः रिवारविभवविश्रेषश्च यथागगं प्रतिपत्तव्यः ।

फिर महाराज यह बताओ कि अधोछोकमें कहां उन देवोंके मवन सर्वह्रप्रतिपादित शासा हारा झात किये जाते हैं ! आचार्योकी ओरसे इसका उत्तर इस प्रकार है कि इस राजप्रमाके दूसरे कि बहुत मागमें अधुरकुमारोंके मवन अनादिकाळीन रखे हुये हैं । और राजप्रभाके पहिछे सरप्रियी कार्य जीवह हजार सेवन मोटे और कांस्पात योजन कन्ने जीवे स्थानोंमें जनशिष्ट कागकुमार,

पुर्वाक्रमार, आदि नौ प्रकार भवनवासियोंके भवन हैं। एक छाल अस्सी हजार योजन मोटी रत्नप्रमा पृथ्वीके उत्पर्छ उस सौछ्ह हजार योजन मोटे खरपृथिशी मागमें उपर नीचे एक एक हजार योजन मोटे स्थानमें उनके भवनोंका अभाव आम्नाय हारा सुना जाता है। उन देवोंमें दक्षिणदिशाके अधि-पति और उत्तरदिशाके अधिपति हो रहे चमर, वैरोचन आदि इन्होंके अधिकृत भक्नोंकी संख्या और परिवार, विभूतिविशेषको आसोपत्र शास्त्र आम्नाय अनुसार समझ छेना चाहिये। त्रिछोक-सार, राजवार्तिक आदि प्रन्थोंमें भवनवासी देवोंके सात करोड बहत्तरछाल भवनोंका निरूपण किया है। देवोंका ऐश्वर्य संख्यात, असंख्यात, योजन छन्ने चौडे विमान, चैयाछ्य आदिका वर्णन किया गया है। युक्तिवादके प्रदर्शनका स्थछ नहीं होनेसे या अन्य प्रन्थोंमें मिछ जानेके कारण यहां कह देनेपर कोई विशेष अत्यधिक श्रद्धाभाव नहीं उपजनेकी सम्भावना अथवा चमत्कृति-जनक कोई विशेष उपयोगिता नहीं प्रतीत होनेसे यहां प्रन्थिस्तार नहीं किया गया है।

अब श्री उमास्वामी महाराज द्वितीय—िनकायसम्बन्धी देवोंकी सामान्यसंज्ञा और विशेषसंज्ञाका अवधारण करनेके किये अप्रिम स्त्रको कहते हैं।

# व्यंतराः किनरिकंपुरुषमहोरगगंधर्वयक्षराक्षसभूतिपशाचाः

दूसरे व्यन्तरदेव तो किंनर १ किम्पुरुष २ महोरग ३ गंधर्व ४ यक्ष ५ राक्षस ६ मूत ७ और पिशाच ८ इन विशेषसंज्ञाओंको धार रहे हैं।

च्यंतरनामकर्गेद्ये सित विविधांतरिवासित्वाद्यंतरा इत्यष्टविकल्पानामिप द्वितियनिकाये देवानां सामान्यसंज्ञा । किन्नरादिनामकर्मविश्वेषोद्यात् किन्नराद्य इति विश्वेषसंज्ञा । किन्नरात् कामयंत इति किन्नराः, किंपुरुषान् कामयंत इति किंपुरुषाः, पिश्वेताज्ञनात् पिशाचा इत्याद्य-न्वर्थसंज्ञायामवर्णवादमसंगात्, देवानां तथाभावासंभवात् । पिशाचानां मत्स्यादिमष्टत्तिदर्शनात् पिश्विताश्वित्वसंभव इति चेत् न, तस्याः क्रीडाद्युखिनिमत्त्वात् तेषां मानसाहारत्वात् ।

गति नामकर्मके भेद, प्रभेद, स्वरूप हो रहे किंनर, किंग्युरुष, आदि विशेष नामकर्मीका अन्तरंगमें उदय होते संते और बहिरंगमें नाना प्रकारके देशान्तरोंमें निवास करनेवाछे होनेसे ये देव ब्यन्तर कहे जाते हैं। दूसरी निकायमें पाये जा रहे आठों विकल्पवाछे भी देवोंकी यह सामान्यसंज्ञा अन्वर्थ है। भवनवासी और ब्यन्तरराब्दोंकी निरुक्तिसे ही उक्त देवोंके निवासस्थानोंका निर्णय हो जाता है। असंख्यात विकल्पवाछे नामकर्मके उत्तरोत्तर भेदरूप किंनर आदि विशेष प्रकृतियोंके उदय से हो रही किंनर, किंग्युरुष, आदिक यों विशेषसंज्ञायें हैं। जो पौराणिक पण्डित अपनी ब्याकरण-इताको यों क्खान रहे हैं कि कुस्सित नरोंकी अभिकाषा रखते हैं, तिस कारण ये देव किंकर है, जोडेके

मुख समान मुख हानेसे कुस्सित नर हो रहे रमणकुराल देवोंकी अनेक देवदेवियोंको अभिकाषा रही जाती है । "विम्बोधं बहमनते तुरंगवक्त्रः" हत्यादि क्रोक करके स्वरचित शिद्यपाळवध काच्यमें इसी भावको दिखलाया है । और किंग्यरुपोंकी कर रहे हैं. इस कारण कियुरुष देव कहे जाते हैं। " पिसितमाचामति या पिशितमस्नाति " निरुक्ति द्वारा मांसका मक्षण करनेसे पिशाच हैं। महान सर्पका आकार घारनेसे महोरग हैं, इत्यादिक शद्भिकिक्ति अनुसार उक्त देवोंकी अन्वर्थसंज्ञा माननेपर आचार्य कहते हैं कि बढे भारी अवर्णवाद होनेका प्रसंग आता है। क्योंकि देवोंके तिस प्रकार किन्तरोंके साथ रमण, मांसमक्षण, सर्पचेष्टा, आदिका असम्भव है। देव स्वतः बढे भोगी और सर्वागसंदर हैं। देवोंके वैकियक शरीर अत्यधिक पवित्र हैं। अञ्चल, दुर्गन्ति, घृणायोग्य, मनुष्योंके निकृष्ट औदारिक शरीरोंकी वे कभी अभिलाषा नहीं करते हैं। मांस, पद्य, सेवन नहीं करते हैं। यदि कोई यों आक्षेप करें कि पिशाचोंकी मछ्छी, मांस, मदिस, नैवेद आदिमें प्रकृति हो। ही दीखनेसे मांसभक्षण करना उनके सम्भव जाता है। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि कीडाजन्य सुखका निमित्तकारण मात्र वह प्रवृत्ति है। आहारके छिये मत्त्य, मांस, आदिमें प्रवृत्ति नहीं है। क्योंकि उन देवोंके मानस आहार है। मनमें आहारकी अमिलापा उपजते ही झठ कण्ठसे अमृतोपम, सुस्तादु, रस झरकर पूर्ण तृतिको कर देता है। अर्थात्—देवोंमें तीव कषायवान् या जीवोंको दुःख देकर भी ऋीडा करनेवाछे अनेक देव हैं । म्छेच्छ या कसाइयोंके छोकरे मेंडक, चुहा, बर्र, ततैया, चिरैया, पिञ्जा, मछली, मांसखण्ड, इण्डी आदिके साथ निर्दय होकर खेलते हैं। उसीमें विशेष हर्षका अनुभव करते हैं। विद्रोह कालमें प्रतिपक्षियोंके बालकोंको गैंद बनाकर दृष्ट खिलाडियोंका कीडा करना सना जाता है। इस कियाम अनेक बालकोंकी मृत्युयें भी होचुकी हैं। किन्तु कवायवानोंको कोई चिन्ता (परवा) नहीं है। इसी प्रकार कीडा सुखके छिये अनेक मिथ्यादृष्टि देव मत्स्य आदिमें प्रकृत्ति करते हैं। तांत्रिक विद्वान मत्स्य, मास, आदिको दिखाकर देवोंका परितृप्त होना मानते हुये मत्स्य, मांस, मध, रक्त, मछ, शव आदि द्वारा जीवोंकी मृतबाधाओंको मिटा देते हैं। ये सब कियायें कीडाप्रकृतिक देवोंके सुखनिमित्त भलें ही होजांय. **फिन्तु आहारसामग्री यह नहीं है। देत्रोंके मांसमक्षण या मानुष शरीरके साथ रमण अथवा भातुः** उपभाव, सन्तानीत्पत्ति आदि स्वीकार कर छेना यह देवोंका सबसे बडा तिरस्कार है। देवोंके छिये इससे बड़ी गांछी नहीं होसकती है। अतः व्यन्तरोंकी एक संज्ञारें या विधाता नामकर्मकी किनर आदि संहापें रूदि शहमात्र है। घारवर्ध उतना ही घटाया जाय जितना कि यक्ति. शास. और अनुसबसे अवाधित होय । रोपको विचारशाली विद्यान कात मारकर फेंक देते हैं ।

पुनर्वेतराणां विविधान्यंतराण्यवकाग्रस्थानाख्यानि यतो निकक्तिसामर्थ्यादेतेवामाः
 कार्यात्विविद्यादः।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि महाराजजी, फिर बताओ कि इन न्यन्तर देशोंके नाना प्रकारक देशान्तरवर्त्ता अवकाशस्यान नामके आवास और नगर कहां कहां हैं ? जिससे कि व्यन्तर शब्दकी निरुक्तिके सामध्येसे इन किनरादि देवोंके आधारकी प्रतिपात्ति हो सके ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द आचार्य समाधान करते हुथे अग्रिमवार्तिकको कहते हैं।

## अष्टभेदा विनिर्दिष्टा व्यन्तराः किन्नरादयः । विविधान्यंतराण्येषामधोमध्यमलोकयोः ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराज करके किकर, आदिक आठ मेदवाले न्यन्तरदेव तो विशेषहरपसे नाम मात्रतया उदिष्ट कर दिये हैं | इन न्यन्तरोंके अधोलोक और मध्यलोकमें अनेक प्रकार अन्तर यानी मक्तपुर, आवास, और भवन, नामके असंख्यात निलय है । द्वीप या समुद्रमें होनेवाले मध्यभाग प्राप्त स्थानोंको भवनपुर कहते हैं । हद, पर्वत, वृक्षोंमें बने हुये ऊर्ध्वगत स्थानोंको आवास कहते हैं, चित्रा, पृथिवीमें बने हुये अधःप्राप्त स्थानोंको भवन कहते हैं ।

अधोकोके तावदीपरिष्टे खरपृथिवीभागे किंनरादीनामष्टभेदानां व्यंतराणां दक्षिणाधि-पतीनां किंपुरुषादीनां चोत्तराधिंपतीनामसंख्येयनगरश्चतसहस्राणि श्रूयंते, मध्यक्षोके च द्वीपाद्रिसमुद्रदेश्वश्रामनगरत्रिकचतुष्कचतुरस्रयृहांगणरथ्याजलाश्चयोद्यानदेवकुलादीन्याबासश्चत-सङ्ख्राणामसंख्येयानि तेषामाख्यायंते । तदिशेषसंख्यापरिवारविभूतिविशेषो यथागमं प्रति-पत्तम्यः पूर्वदत् ।

अघोलोकमें रत्नप्रभाके सोळह हजार योजन मोटे उपरिम प्रदेश सम्बन्धी खरपृथिवी भागमें किनर, सत्पुरुष आदिक आठ मेदबाले दक्षिण दिशाके आधिपति हो रहे न्यन्तरोंके निवासस्थान बने हुये हैं तथा खरपृथिवीभागमें ही उत्तरदिशाके अधिपति किम्पुरुष, महापुरुष, आदि न्यन्तर इन्होंके असंख्याते छाख नगर विधमान है, ये आप्तोक्त शाखोंद्वारा जाने जा रहे हैं। अर्थात् इस जम्बूदीपसे तिरक्ते असंख्याते हीप समुदोंका उद्धंवन कर परली ओरके द्वीपसमुदोंमें ऊपरके खरपृथिवी भागमें उत्तरदिशाकी ओर किनर, सत्पुरुष आदि सात दक्षिण इन्होंके असंख्याते छाख नगर आदि अनादिकालसे विधमान हैं और इसी प्रकार उत्तरदिशामें किम्पुरुष आदि सात व्यन्तरेन्होंके उतने ही असंख्याते नगर रचे हुये हैं। हां, राक्षसजातीय व्यन्तरोंके आवास तो रत्नप्रभाके चौरासी हजार योजन मोटे पंकबहुल भागमें असंख्याते छाख नगर बने हुये हैं और उत्तरदिशामें रत्नप्रभाके पंकबहुल भागमें उत्तरदिशाधिपतिके असंख्याते छाख नगर शाखदारा वर्णित हो रहे हैं। सरपृथिवी भागमें उपर नीचे एक एक हजार योजन छोडकर मध्यम चौदह हजार योजन मोटे और असंख्याते योजन क्रिक्त वीच एक एक हजार योजन छोडकर मध्यम चौदह हजार योजन मोटे और असंख्याते योजन क्रिक्त योजन क्रिक्त योजन मोटे और असंख्याते योजन क्रिक्त वीच प्रकार वीचे एक एक हजार योजन छोडकर मध्यम चौदह हजार योजन मोटे और असंख्याते योजन क्रिक्त वीच प्रकार वीचे स्थानोंमें सात प्रकारके व्यन्तर और नी प्रकार

भवनवासियोंक बाबास बने हुये हैं। रोष बचे हुये असुरक्तमार और राक्षसींक आवास तो पंकबहुछ-भागमें हैं। तीसरे अञ्बद्धलभागमें तीस लाख नरक हैं। तथा असंख्यात योजन कम्बे. चीडे. और ऊंचाईमें मेहसम एक छाख चाळीस योजन मध्यळोकमें भी द्वीप, पर्वत, समुद्र, देश, प्राम, नगर, तीन ओर पथवाळा त्रिक, चार ओर मार्ग जानेवाळे चौक, चौकौर प्रान्त, घर, आंगन, गळी, कुंचा, सरोवर, उद्यान ( बगीचा ) देवस्थान, गुरुकुछ, वसतिका, शून्यगृह, प्राचीन खण्डहर आदिक असंख्याते लाख उन व्यन्तरोंके आवासोंको शास्त्रोंमें वर्णन किया है। अर्थात्—द्वीप, समुद्र, ुआदिमें असंख्याते अकृत्रिम स्थान, अनादिसे, अनन्त, कालतक रचे हुये हैं । हां, गली, कूंचे, सरोवर, उप-वन, खण्डहर, शून्यगृह आदिमें भी कीडातत्पर व्यन्तरोंके अनेक कृत्रिमस्थान नियंत होरहे हैं। आजकळ भी अनेक स्थलांपर व्यन्तरदेवांका आवास या उपदव होरहा, कचित् अनुप्रह हुआ सुना जाता है। वह बहुमाग सत्य है। हां, वंचक धूर्तपुरुषोंने जो मायाजाङ रच रक्खा है अथवा अनेक बाङक, बी, पशुओंमें भूतवाधा, ( खोर ) की आकुछताओंकी जो भरमार छारही है, उसमें तथ्यांश अत्यल्प है। जगत्में भोली भाली जनताको ठगनेके छिय स्याने तांत्रिक, मांत्रिक, पुरुषोंने व्यर्थका प्रपंच अधिकतर फैला रखा है। अखण्ड सम्यग्दर्शन सूर्यके विना मिण्यात्व मोहअंधकारका मका विनाश कैसे होसकता है ! । उन नगरोंकी विशेष विशेष संख्यायें तथा व्यन्तरेन्द्रोंक परिवार या विभृतिविशेषकी आगम अनुसार प्रतिपत्ति कर छेनी चाहिये, जैसे कि पूर्वमें भवनवासियोंके भवनसंख्या परिवार, विभात, आदिको आगम अनुसार समझ छेना स्वीकार कर चुके हो । त्रिछोकसार आदि प्रन्थोंमें इनका विशेष वर्णन मिलता है। भवनवासियोंके सात करोड बहत्तर लाख भवनोंमें एक एकमें असंख्याते देव निवास करते हैं। किन्तु व्यन्तरोंके असंख्याते नगरोंमें संख्याते देव या किसी किसीमें असंद्र्याते देव भी बस रहे हैं। " तिण्णिसय जोयणाणं कदिष्ठिदपदरस्स संखभागमिदे। भौमाणं जिणगेहे गणणातीदे णमंसामि '' इस त्रिकोकसारकी गाथा अनुसार उक्तप्त्रनि निकळती है। आवास स्थानोंको समझनेके छिये " विंतरणिखयतियाणि य भवणपुरावासभवणणामाणि, दीवसमुद्दे दहागिरितरुम्हि चित्तविणिक्तिमे । उद्गगया आवासा अधोगया वितराण भवणाणि, भवणपुराणि य मञ्ज्ञिमभागगया इदि तियं णिक्यं ॥ चित्तवहरादु जावय मेरुदयं तिरियलोयवित्यारं, भोम्मा ह्रवंति मवणे मवणपुरावासगे नोगो ॥ ये तीन गायार्थे उपयोगी हैं । अतीन्द्रिय ज्ञानीकी प्रत्यक्ष होरहे सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, पदार्योंमें भी यचपि कतिपय युक्तियोंका प्रवेश है. फिर भी प्रतिवादियोंका विशेष आक्षेप नहीं प्रवर्त-नके कारण और अन्य प्रन्योंमें विस्तृत कथन होनेसे यहां सविस्तर निरूपण नहीं किया गया है। अत्यधिक मनोहर दश्योंका कितना है। अधिक वर्णन किया जाय, जिनेन्द्रगणकीर्तनके समान वह अत्यस्य ही गिना बायगा । अतः प्रथम हीसे संकोचपर संतोष कर देना अच्छा जचता है ।

अब तीसरे निकायकी सामान्यसंज्ञाका निर्देश करनेके क्रिये श्री उमास्वामी महाराज वाप्रिय सूत्रको शक्ते हैं।

# ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥

किन देवोंके निवासत्यान हो रहे विमानोंका स्वभाव चमकते रहना है या शरीर. आभरण. **बादिमें चमक, दमक, जिनको अभीष्ट हो रही है, वे देव उयोतिष्क इस सामान्यसंज्ञाको धारते हुये** सूर्य, चन्द्रमा, और प्रह, नक्षत्र, प्रक्रिणिकतारक इन पांच विशेषसंज्ञाओं की प्राप्त हो रहे हैं। यद्यपि निमानोंके नाम सूर्य, चन्द्रमा, आदिक हैं । तथापि उनमें निवास करनेवाले देवोंको भी " तात्स्थ्यात-क्रम्बासिद्धः " उसमें ठहरना होनेके कारण इस आधेयको भी उस आधारवाचक शब्द करके उक्त कर दिया जाता है। अर्थात् -- ज्योतिष्कदेवों के गण सूर्य १ चन्द्रमा २ प्रह ३ नक्षत्र ४ प्रकीर्णक-तारक ५ इन पांच विशेषजातियों में विभक्त हो रहे हैं। इन्द्रस्वरूप एक चन्द्रमा सम्बन्धी विमानोंके परिवारका परिमाण यों है कि एक चन्द्रमाके साथ एक १ सूर्य प्रतीन्द्र है, अहामी ८८ प्रह विमान 🝍 । अडाईस २८ नक्षत्र विमानों के पिण्ड हैं । यांनी कृत्ति का नक्षत्रमें ६ छह तारे हैं. रोहिणीकी पांच तारे हैं। मृगशीर्षमें तीन हैं, इत्यादि तथा छियासठ हजार नौसी पिचत्तर कोटाकोटी ६६९७५००००००००००० तारक विमान है। इस प्रकार मध्यलोक्तमें असंख्याते सूर्य और चन्द्रमा हैं। उन्हींके अनुसार प्रह आदिकोंकी संख्या लगा लेना। ढाई द्वीपमें एक एक चन्द्र-माका उक्त परिवार नियत है। अन्यत्र आगम अनुसार समझ छेना। एक एक ज्योतिष्क विमानमें सैकडों, हजारों, यों संख्याते देव निवास करते हैं। सम्पूर्ण देवोंमें ज्योतिषियोंकी संख्या बहुत बडी हुई है। दिन या रातके समय नभोमण्डलमें जो चमकते हुये पदार्थ दीख रहे हैं, वे देत्रोंके नित्रास स्थान हो रहे निमान है। स्वयं देव नहीं हैं। बीचमेंसे काटे गये आधे छड़ इके समान ये निमान निचले परिदृष्ट भागमें ढाल् प्रदेशवाले हैं। और ऊपर सपाट, चौरस, भागमें ज्योतिष्क देवोंके प्रासाद उनमें बने हुये हैं। केवल प्रसिद्ध हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, ही उपीतिष्क नहीं हैं। किन्तु प्रह, नक्षत्र, और उछाछे हुये पुर्णोके समान अनियत स्थानोंपर विखर रहे अनादिनिधन तारक भी उथीतिष्क हैं। अथवा केवल प्रह आदिक ही ज्योतिष्क नहीं हैं। किन्तु सूर्य, चन्द्रमा, भी ज्योतिष्कों में ही परिग-णित हैं। यों सूत्रोक्त चकार द्वारा परस्परमें हमुचय कर छिया जाता है।

ज्योतीं ष एव ज्योतिष्काः को वा यावादेरिति स्वार्थिकः कः ज्योतिः श्रद्धस्य यावा-दिशु पाडात् । तथाभिषानदर्श्वनात् मकृतिर्लिगातिश्वत्तिः कुटीरः समीर इति यथा ।

धोतन या कान्तिस्वरूप ज्योतिः है। ज्योतिष्क हैं। ज्योतीषि एव ज्योतिष्काः चमक रहीं अनेक ज्योतियां ही ज्योतिष्क हैं। यो नपुंसक्रिंग ज्योतिः शहके बहुवचनान्त रूपवाले विप्रह करके स्वार्थमें क प्रत्यय कर ज्योतिष्क शहू बना लिया है। '' को वा यात्रादेः '' इस सूत्र हारा याव, मिन, आदि अनेक शहूबाले यावादि गणमें ज्योतिष शहूका पाठ होनेसे स्वार्थको ही कहनेवाले क प्रस्थयको लकर ज्योतिष्क सह साधु बना ज्या जाता है। कोई आक्षेप करता है कि स्वार्थिक

प्रत्ययवाले प्रदक्ता लिंग भी प्रकृतिके अनुसार होना चाहिये । जैसे सिंह एव सिंहकः, मृत् एव मृत्तिका, कर्मेंव कार्मणं, यहां प्रकृतिके लिंग अनुसार ही स्वार्थिक प्रत्ययान्त पदोंका भी लिंग वही है। उसी प्रकार अ्योतिषु शह नपुंसक्रिंग है। स्वार्थमें क प्रत्यय करनेपर मी अ्योतिष्क शह नपुंसक्रिंग ही बना रहेगा, किन्तु यहां ज्योतिष्काः ऐसा पुर्लिंग शद्धस्वरूप सुना जा रहा है। सो क्यों ! इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि तिस प्रकार लिंगका अतिक्रमण करते हुये भी शहरूयवहार हो रहा देखा जाता है। स्वार्थि प्रत्ययवाले पदका कहीं कहीं प्रकृतिके लिंगसे अतिक्रमण हो जाना कहा गया है। अतः उयोतिष्क शद्धमें भी उयोतिष् प्रकृतिक लिंग नपुंसकका उल्लंबन होकर पुल्लिंग देव या निकाय शहकी विशेषणताको धार रहा ज्योतिष्कशह पश्चिम हो गया है। जिस प्रकार कि " कुटी-शमीञ्जण्डाम्यो रः " इस सूत्र करके कुटीर शमीर आदि शन्द बना किये जाते हैं । हस्वा कुटी कुटीरः, हस्वा शमी शभीरः, छोटी कुटिया ( सोंपडी ) कुटीर है । छोटी शीशोंका पेड शमीर है । यहां बीलिंग कुटी और शमी शहू से स्वार्थमें र प्रत्यय कर पुद्धिग कुटीर, शमीर, शहू बना लिये गये हैं। कटी या शमीका हत्यपना उसका निजशरीर ही है । अतः इस्व अर्थको कह रहा र प्रत्यय अवयवोंका छोटापन होते हुये भी स्वार्थको है। कह रहा है। किसी पुरुषके एक अंगुळी कमती होय या बढती होय, एतावता वह विशिष्ट मंत्रसम्बन्धी विधियोंमें भले ही उपयोगी नहीं समझा जाय. किन्तु उपांगदीन या उपांगआधिक पुरुषका निज डील कोई विभिन्न नहीं हो जाता है। इसी प्रकार कृत एव कृतकः तालु एव तालुकः यहां शुद्ध प्रकृतिका जो अर्थ है, वही स्वार्धिक प्रत्ययान्त पदका है। न्यून, अधिक, नहीं है। किन्तु इस्त्रा कुटी कुटीरः, प्रशस्ता मृत् मृत्स्ना, कुत्सितोऽस्त्रः अश्वकः, छघुनमो छघिष्ठः, अंगुजीव आंगुलिकः, यहां अवयवोंके न्यून, अधिक, प्रकृष्ट, निकृष्ट या साद्भय होते हुयें भी स्वार्थि प्रपने हा औई विरोध नहीं है । अतः कुटीर या देव एव देवता, ओषिय-रेव औषवम् , शर्तरैव शार्तरम् , यहां भी कारणवश हो रही छिगत्ती अतिवृत्ति हे समान ज्योतिष्त राद्धमें छिंग का परिवर्तन हो जाता है । यों राद्धशासको साथ अर्थशास्त्रका सम्बन्ध समझते हुये न्याय प्राप्त अर्थका प्रहण कर छिया करो ।

सूर्याचन्द्रमसा इत्यत्रानङ् देवताद्वंद्वश्चेः । प्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारका इत्यत्र नानङ् । पुनर्द्वन्द्रग्रहणात्तस्येष्टविषये व्यवस्थानादश्चरादिवत् किनरादिवत् ।

स्वेश्व चन्द्रमाश्व इति सूर्याचन्द्रमसी इस प्रकार इन्द्र होनेपर यहां देवता वाचक शद्धोंकी इन्द्रसमास नामक इति हो जानेसे "देवता इन्द्रे " इस सूत्रकरके आनक् हो जाता है। देवता होनेपर भी प्रहाश्च, नक्षत्राणि च, प्रकीर्णकतारकाश्च, यों इन्द्र करनेपर बन गये प्रइनश्चत्रप्रकीर्णकतारकाः यहां आनक् प्रत्यय नहीं हो पाता है। क्योंकि " आनक् इन्द्रे " इस सूत्रसे इन्द्र इस शब्दकी अनुवृत्ति हो सकती थी। किन्तु व्याकरण सूत्रकारने " देवता इन्द्रे " इस सूत्रमें पुनः इन्द्रप्रहणः किया है। वह इन्द्र पद व्यर्थ होकर हापन करता है कि अभीष्ठ विषयोंने यह व्यवस्था है, जैसे कि

अञ्चर, नाग, विश्वत् इत्यादि स्त्रमें और किन्नर किन्पुरुष आदि स्त्रमें दवता वानक पदोंका दन्द्र समास होनेपर भी आनङ् नहीं किया गया है। इस कारण पुनः दन्द्रपदके प्रहण करनेसे उस आनङ्की इष्ट हो रहे विषयमें व्यवस्था है। मद्दोजि दीक्षितने मी " पुनर्दन्द्रप्रहणं प्रसिद्धसाहचर्यस्य परिप्रहार्य " कहकर इसी अर्थको व्यक्त किया है।

#### कथं ज्योतिष्काः पंचिकल्याः सिद्धा इत्याइ ।

यहां कोई तर्भ उठाता है कि सूत्रमें कहे जा चुके पांच विकल्पवाछे ज्योतिष्कदेव भछा किस प्रकार सिद्ध हैं ! सूर्य, चन्द्रमा, आदि विमान तो प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतीत हो रहे हैं । किन्तु उनमें रहनेवाछे ज्योतिष्क निकायके देवोंका अस्मादश पुरुषोंको प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। ऐसी दशामें देवोंकी सिद्धि किस प्रमाणसे निर्णीत कर छी जाय ! बताओ । यों वैंडी तर्कके उपस्थित होनेपर श्री विचानन्द सामी वार्त्तिक द्वारा इस प्रकार वद्यमाण समाधान वचनको कहते हैं।

### ज्योतिष्काः पंचधा दृष्टाः सूर्याद्या ज्योतिराश्रिताः । नामकर्मवशात्तादृक् संज्ञासामान्यभेदतः ॥ १ ॥

दिन या रातको आकाशमें चमक रहे सूर्य आदिक पांच प्रकारके विमान देखे गये हैं। विमान और विमानोंमें रहनेवाळे देव दोनों ही ज्योतिके आश्रय हो रहे ज्योतिष्क निर्णांत किये जाते हैं। तिस तिस जातिके उदयापत्र नामकर्मकी अधीनतासे उन देवोंकी सामान्य और विशेषरूप करके ज्योतिष्क और सूर्य आदि तैसीं संज्ञायें हो जाती हैं।

ज्योतिष्कनामकर्मोदये सित तदाश्रयत्वाज्ज्योतिष्का इति सामान्यतस्तेषां संग्रा सूर्या-दिनामकर्मविशेषोदयात्सूर्याद्या इति विशेषसंज्ञाः। त एते पंचथापि रष्टाः मत्यक्षग्रानिभिः साभ्रात्कृतास्तदुपदेशाविसंवादान्ययानुपपत्तः।

गातकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रही ज्योतिष्क संद्रक नामकर्मका उदय होते संते उस ष्योतिः (कान्ति) का आश्रय होनेसे देव ज्योतिष्क हैं। इस प्रकार उन देवोंकी ज्योतिष्क यह सामान्यरूपसे संद्रा हो रही है। हां, जीवविपाकी उस देवगति प्रकृतिके उत्तरोत्तर भेद, प्रभेद, हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, आदि विशेष नामकर्मोंके उदयसे विशेषदेवोंकी सूर्य, चन्द्रमा, आदिक ये विशेषसंद्रायें अनादिकालसे प्रवृत्त रही हैं। जैसे कि मनुष्यगतिका उसके विशेष कहे गये आर्य, म्लेन्ड, भोगमूमि, आदि पौद्रलिक प्रकृतियोंका विपाक होनेपर हम, तुम, आदि जीव मनुष्य या आर्य आदि कहे जा रहे हैं, उसी प्रकार अन्तरंग कारणोंकी भित्तिपर ज्योतिष्कदेव या सूर्य आदिक देवोंकी व्यवस्थायें स्युक्तिक प्रतिभासित हो जाती हैं। अनन्तानन्त सूक्ष्मविषयोंका केवल्डानियोंने प्रत्यक्ष किया है। हां, उपदिष्ठ आवेंकारा साथाएणहानी श्रदाल जीव भी जिविप्रकृष्ठ प्रसर्थोंका सुतहान कर केवे हैं।

वे प्रसिद्ध हो रहे पांचों भी प्रकारके ये प्रकरण प्राप्त ज्योतिषी देव तो अवधि, मनःपर्यय, और केवक इन प्रत्यक्षज्ञानोंको धारनेवाछे अतीन्द्रियदर्शी प्रत्यक्षज्ञानियोक्तरके देखे जा चुके हैं। यानी मुख्यप्रत्यक्ष क्कानोंकरके वे देन विशदरूपेण साक्षात्कार किये जा चुके हैं। क्योंकि उन प्रत्यक्षज्ञानियोंके उपदेशका अविसम्बादीपना ( निर्वाधपना ) अन्यथा यानी किसी प्रत्यक्षज्ञानी द्वारा विषयोंका प्रत्यक्ष किये जा चुके विना नहीं बन सकता है। अर्थात्—वर्तमानमें सूर्य, चन्द्र, प्रहणव्यवस्था, विमानोंकी गति, प्रहोंका बारह राशियोंपर संक्रमण आदिको ज्योतिष भिषयके पण्डित ठीक ठीक बता देते हैं। इस दिशासे इतना टेडा, नीकीला, अर्धप्रास, या खप्रास, इतनी देरतका, आदि बलाना गया सूर्यप्रहण पढेगा. या चन्द्रप्रहण पडेगा, अमुक दिन क्षुक्र अस्त हो जायगा, फलाने दिन बृहस्पतिका उदय होगा. इत्यादि व्यवस्थाओंको यद्यपि ज्योतिषशास्त्र निर्णीत कर देता है, फिर भी उन प्रत्यक्षज्ञानीको धन्य **है. जिसने अनादि, अनन्त, काळतक होनेव** ळी ज्योतिष्क विमानोंकी परिणतियोंका प्रत्यक्ष अव<mark>ळोकन</mark> कर तदनुसार अन्यभिचरित नियमोंको ज्योतिषशासोंमें गूंथ दिया है। प्रत्यक्षज्ञानीको सिद्ध करनेके छिए यह भी बड़ी अच्छी एक युक्ति है। अतः ज्योतिष्क विमान और उनके निवासी देवोंका प्रत्यक्षपूर्वक और तदपदिष्ट आगम प्रमाणोंद्वारा निर्णय कर लिया जाता है । रूपी और रूपवान पदलके साथ सम्बद्ध हो रहे जीवका यथायोग्य प्रत्यक्ष करनेवाले अवधिज्ञानियों और मनःपर्यय ज्ञानियोंको भी देवोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि मनुष्य या तिर्येच जीवोंके जीवित रारीरोंका प्रत्यक्ष होकर उन उन **भारमाओं**का भी उपचारसे प्रत्यक्ष हो जाना अभिष्ट है तब तो देवदेवियोंको भी **परस्परमें अधवा** स्वयंको भी स्वकीय वैक्रियिकशरीरोंका इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष होना अभीष्ट कर छिया जाय. कोई क्षति नहीं पढेगी। देव चाहे तो अपने वैक्रियिक शरीरका मनुष्य, तिर्यच या नारिक्रयोंको भी प्रत्यक्ष करा सकते हैं । विप्रकृष्ट पदार्थीकी सिद्धि करनेका उपाय इतना क्या थोडा है ? अलम् ।

## सामान्यतोऽनुमेयाश्च छद्मस्थानां विशेषतः । परमागमसंगम्या इति नादृष्टकल्पना ॥ २ ॥

वर्गान्दर्शी छमस्य जीवोंके अनुमान प्रमाण द्वारा वे ज्योतिष्क देव सामान्य रूपसे जानने योग्य हैं। बीर आयुः, शरीर, केश्या, प्रभाव, आधारस्थान, आदि विशेष रूपोंसे तो ज्योतिषी देवोंको सर्वबोक्त परम व्यागमप्रमाण द्वारा मछ प्रकार समझ छेना चाहिये। इस कारण सूत्रकार द्वारा कहे गये
व्योतिष्क देवोंकी व्यवस्था यह अदृष्ट या अप्रमाणिक पदार्थको कल्पना नहीं है। छ्यास्य जीवोंके
प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण विचारे अल्प पदार्थोंमें ही प्रवर्तते हैं। इनसे अनन्तानन्त गुना प्रमेय अतकृत्यक्ष या केश्वक्षान द्वारा निर्णय करनेके छिये अवाशिष्ठ पढ़ा रहता है। क्रूपमण्डूकबुद्धिसे पदार्थोंका
निर्णय कर्म हो पता है। समुद्धंसक्ति उदार बुद्धियोंसे क्रिकेक, त्रिकाव्यक्ती कर्तुभूत परार्थ

परिकाल कर किये जाते हैं। हां, काप्रामाणिक, विसम्बादी उपदेशोंसे सदा वक्ते रहता चाहिये। नहीं तो अञ्चलकृपमें पतन होना अनिवार्य समझो।

अब श्री उमास्त्रामी महाराजं विशेषतया ज्योतिष्क विमानोंकी और विमानोंके साथ हो रही ज्योतिषक देवोंकी गतिके विशेषका प्रतिपादन करनेके लिये प्रवचनैकदेश अप्रिम सूचका उचारण करते हैं।

# मेस्प्रदक्षिणा नित्यगतयो चलोके ॥ १३॥

ढाई द्वीप और दो समुद्रों के समुद्रित स्थानस्वरूप पैताळीस ळाख योजन ळम्बे, चौढे, गोळ मनुष्य छोकमें ( के ऊपर ) ज्योतिष्क देव सुदर्शन मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये, विश्वान्ति छिये विना सतत भ्रमणरूप गतिको करते रहते हैं। आधार और आध्यमें एकताका उपचार कर छेनेसे ज्योतिष्क देवों करके आरूढ हो रहे विमान भ्रमण करते रहते हैं, यों सूत्रका अर्थ कर छेना चाहिये।

#### ज्योतिष्का इत्यनुवर्तते । वृष्टोक इति किमर्थमित्यावेदयति ।

पूर्वस्त्रसे " ज्योतिष्काः " इस पदकी अनुद्वाति कर की जाती है । अतः इस स्त्रका यह अर्थ हो जाता है कि मनुष्यकोक्षमें मेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे नित्य गतिबाले ज्योतिष्क देव हैं । कोई विनीत श्रोता प्रश्न करता है कि श्री उमाध्यामी महाराजने स्त्रमें " नुलोके " इस प्रकार अधिकरण वाचकपद किस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये प्रयुक्त किया है ! ऐसी जिद्धासा प्रवर्तनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी शिष्य प्रबोधनार्थ अप्रिमवार्तिकका आवेदन कर रहे हैं।

#### निरुक्त्याव।सभेदस्य पूर्ववद्गत्यभावतः । ते चलोक इति प्रोक्तमावासप्रतिपत्तये ॥ १ ॥

पूर्वकी दो निकार्य हो रहे भवनवासी और व्यन्तरोंके समान शब्दनिरुक्ति द्वारा ज्योतिषियोंके विशेष आवास स्थानोंकी बाति नहीं हो सकती है। अतः उथोतिषियोंके आवासकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकारने " तुलोके" ऐसा अविकरण ठीक कहा है। अर्थात्—भेरकी प्रदक्षिणा देते दुये नित्यगतिको कर रहे वे ज्योतिष्क देव मनुष्यलोकों ही हैं। यद्यापे तुलोकसे बाहर भी असंख्याते ज्योतिष्क हैं। किन्तु वे नित्यगतिमान् नहीं होते दुये स्थिर हैं। इस कारण नित्यगतिवाले ज्योतिष्क और तृलोके इन दोनों पदोमें एवकार लगाकर अनिष्ट अर्थकी व्यावृत्ति कर छेनी चाहिये। एवकार तो विना कहे ही बीचमें कूद पडता है।

न हि ज्योतिष्काणां निरुक्त्यावासमितिपचिभेवनवास्यादीनामिवास्ति यतो उन्होकः इत्यावस्त्रप्रतिपस्यर्थे नोष्यते क धुनर्छकोके नेपामानासाः भूगंते ? मवनवासी आदि देवोंके शद्धनिरुक्ति करके जैसे निवासस्थानोंकी प्रतिपत्ति हो जाती है, अर्थात् मवनोंमें निवास करनेकी टेव रखते हुये भवनवासी हैं और विविध देशान्तरोंमें अवकाश पा रहे व्यन्तर हैं, विमानोंमें निवास कर रहे वैमानिक हैं, इस प्रकार व्योतिष्क देवोंके निवास स्थानोंकी परिष्कित्ति केवळ " क्योतिष्क " शब्दकी निरुक्ति कर देनेसे नहीं हो पाती है जिससे कि व्योतिषियोंके निवासस्थानोंकी प्रतिपत्ति कराने के ळिथे सूत्रकार द्वारा " मुळोके " यह नहीं कहा जाय ! व्योतिष्क शद्ध तो केवळ धुति, प्रकाश, या चमकना मात्र स्वमावोंका प्रतिपादन कर रहा है। किन्तु यहां ज्योतिषियोंके आवासका परिज्ञान कराना अत्यावश्यक है। कोई नम्न श्रोता पूछता है कि मनुष्यळोकमें उन ज्योतिष्कोंके नियत हो रहे आवासस्थान फिर कहां शाख द्वारा ज्ञात किये जा रहे हैं बताओ, ऐसी बुमुत्सा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिम वार्तिकोंको कहते हैं।

## अस्मात्समाद्धराभागादूर्धं तेषां प्रकाशिताः । आवासाः क्रमशः सर्वज्योतिषां विश्ववेदिभिः ॥ २ ॥

जगदुवर्ती सम्पूर्ण पदार्थीका साक्षात् वेदन करनेवाले केवलज्ञानी महाराजने बादी, प्रतिवादी या वक्ता श्रोताको परिष्ट हो रही इस रत्नप्रमा भूमिके समतल भागसे ऊपर स्थानोंमें उन सम्पूर्ण ज्योतिषी देवोंके आवासस्थानोंको यों वश्यमाण प्रकार करके क्रम कमसे प्रकाशित किया है। अर्थात् - छट्ठे दु:पमा काल्के अन्तमें चल्नेवाले संवर्तक नामा बायु करके इस आर्यखण्डके गिरि, बुक्ष, भूप्रदेश ये सब कार्य नष्ट श्रष्ट हो जाते हैं। एक हजार पोजन नीचे तक भूमि चकनाचर हो जाती है। ऐसी दशामें नाप बिगड जाता है। अतः समतल भूभागसे यानी मुद्दीन मेरुकी जबसे ठीक एक हजार योजन ऊपर जम रही मध्यलोक न्यापिनी इस विद्यमान इत्य-मान चित्राभूमिक ऊपर तल्से योजनोंको नापकर उपोतिष्क विमानोंका विन्यास हो रहा समझ लेना चाहिये तथा क्रवणसमूद्रका जल इस चित्रा भूमिक समतलसे जलहानि दशामें ग्यारह हजार और जल्हाद्वी दशामें सोलह हजार योजनतक ऊंचा उठ रहा है, लबणसमुद सम्बन्धी सूर्य, चन्द्रमा, शादि तो जलमें ही घुमते रहते हैं। कोई आतुर पण्डित जलके उपरिमतलमें स्योतिषियोंको ऊंच्या नहीं नाप बैठे इसकिए प्रथिमीके "समभागते जपर" यह प्रन्यकारका बाक्य सामिप्राय है। गणित शास्त्रज्ञोंको एक एक अंगुल यहांतक कि एक एक प्रदेश, एवं शून्य बिन्द्र आदि तकका लक्ष्य रखना पडता है। इस प्रत्यको सुनने समझनेबाले यदि गृहें की छतपर बैठे हुये हों या कई सीढियां चढकर ऊपरके स्थानों में बैठे हुए हैं अथवा कालदोषसे हुए चित्राम् मिक सीचे उंदे प्रदेशोंपर विराख रहे होंय ती देसी दशामें नाप करनेवाने ठीक ठीक नाप नहीं कर पायेंगे। बतः गणितहोंका सक्य करा कराने के क्रिये घराके समतक मागको प्रत अपादान निवत कर दिया है। बजासूमिके उपरिव्यानके जीक एक क्यार योजन जेवा विज्ञाना अवस्था समसंख है। यस, वर्ध की जवसर बैंड जाकी है

योजनानां शतान्यष्टौ हीनानि दशयोजनैः।
उत्पत्य तारकास्तावचरंत्यभ इति श्वतिः॥ ३॥
ततः सूर्या दशोत्पत्य योजनानि महाप्रभाः।
ततश्रंद्रमसोशीतिं भानि त्रीणि ततस्रयः॥ ४॥
त्रीणि त्रीणि बुधाः शुका गुरवश्रोपरि कमात्।
चत्वारोंगारकास्तद्वचत्वारि च शनैश्रराः॥ ५॥

इस चित्रा पृथिगीसे दश योजनों करके हीन होरहे आठसी यानी सातसी नन्ने ७९० योजन मोंके ऊपर उछछ कर आकाश मण्डलमें सबसे पहिन्ने तो तारे गमन कर रहे देखे जाते हैं। जो कि सम्पूर्ण ज्योतिषियोंके निचले मागमें विचरण करते हैं, ऐसा शासवाक्य है। उन तारोंसे दश योजन उपर उन्नट कर देखा जाय तो महती प्रभाको धार रहे सूर्यविमान चर रहे हैं। उन सूर्यविमानोंसे अस्सी योजन ऊपर उक्रक कर वर्तरहे कि की पदार्थ की देखा जाय तो उन आकाश प्रदेशों में चन्द्रमा गमन कर रहे प्रतीत होते हैं। उन चंद्रविमानोंसे तीन योजन ऊपर अश्विनी आदि नक्षत्र विमान अमण कर रहे हैं। उन नक्षत्रोंसे तीन, तीन, योजन ऊपर उछछ कर क्रमसे बुध, शुक्र और बहस्पति प्रहोंके विमान रचित हैं। उसी प्रकार यानी उस गुरुसे चार योजन उत्पर उक्क कर मंगल विमान है। उससे चार योजन ऊपर चल कर शनिश्वर प्रह चर रहे हैं। त्रिलोकसारमें " णउद्गत्तर सत्तसये दस सीदी चदुदुगे तियच उक्के, तारिणतिनिरिक्खगुहा सुक्कगुरुंगारमंदगदी " देसा पाठ है। और राजवार्त्तिकमें " णवदुत्तर मत्तत्त्रया दससीदीबदुतिगं च दुगचदुकः, ताराधिवसि-रिक्खा बहुभगगवगुरुअंगितरमणी '' इस मध्याको उक्तं च कहकर उच्दृत किया गया है। सर्वार्धसिद्धिः त्रिकोकसार और श्रुतसागरीका मत एकसा बैठ जाता है। किन्तु श्री विद्यानन्द स्वामीका मन्तन्य राज-बार्चिकके कथित अनुसार है। यानी राजवार्तिकों चन्द्रमाके तीन योजन ऊपर नक्षत्रोंका अमण माना है, जब कि त्रिकोकसारमें चन्द्रमाओं के चार योजन ऊपर नक्षत्रोंका अमण माना गया है। इसी प्रकार अन्य बुध आदिमें अन्तर समझ लेना चाहिये। यो आम्नायके भेदका जैसे अन्यन्न निवारण कर किया जाता है उसी प्रकार यहां भी प्रत्यकत्तीओंके गुरुपरिपाटी हारा स्मरण रहे यथायोग्य प्रमेय बनुसार आगमवाक्योंका श्रद्धान कर छेना चाहिये तिसही कारण प्रन्यकार यहां आगमप्रमाणकी प्रधानता अनुसार '' श्रुति '' ऐसा शह छिल रहे हैं। एकसी दश योजनोंकी मुटाई अविरुद्ध है। जिल स्थानापर ज्योतिष्क मण्डल स्थिर है वहां भी उक्त क्रमसे ही रचनायुक्त होरहा है और महुष्य क्रेक्ने भमण कर रहा भी इसी उक्त विन्यासको धार रहा है।

#### वरंति तादशादृष्टविशेषवशवर्तिनः । स्वमावाद्वा तथानादिनिधनादुद्रव्यरूपतः ॥ ६ ॥

सूर्य आदि विमानोंसे निवास कर रहे ज्योतिष्क देव तिस जातिक अद्दृष्टिवशेषके पराधीन वर्त को सन्ते भ्रमण कर रहे हैं। अथवा अनादि, अनन्त द्रव्य रूपसे तिस प्रकारका स्वभाव होनेसे मनुष्य छोकमें वे विचरते रहते हैं तथा बाहर स्थित बने रहते हैं। परिशेषमें सबसे अच्छा सिद्धान्त यही है कि जीवन, मरण, चलना, ठहरना, पृथित्रीकी स्थिरता, बायुकी चंचलता, गुरुपदार्थका अधःपतन-स्वभाव, छोककी स्थिरता, आकाशकी व्यापकता, कालद्रव्यका अगुपरिमाण, जीवोंका चेतनल, पुद्रुठ द्रव्यका जडल, नरकोंमें दु:खारेपादक कारणोंका सद्भाव, स्वर्गीमें सुखारेपादक सामग्री, मुक्ति अवस्थामें भनन्त सुख, ये व्यवस्थायें अनादिनिधन द्रव्यके निजगांठके स्वभावों अनुसार व्यवस्थित हैं । वृद्धोक्रमें अयोतिषियोंका भ्रमण और नृष्टोकसे बाहर असंख्याते उयोतिषियोंका वहांके वहां बने रहना निजगाठकी परिणतियोंपर अक्छाम्बत है। भ्रमण और गमन दोनोंके छिये कारणोंका ढूंढन। एकसा आवश्यक है। जीवन और मरण दोनों ही सक्तारण हैं। कार्यकारणभाव के वेत्ता विद्वानों के यहां उत्पाद. व्यय और स्थिति तीनोंको कारणजन्य माना गया है। ज्योतिष्कोंको भ्रमण करानेके छिये जितने शक्तिशाछीकी भावस्थकता है उतना शक्तिशाली कारण उनको स्थिर एख सकता है। कचित वह कारण बहिरंग मी होता है। किन्तु बहुभाग स्थलोंमें अन्तरंग ही कारण प्रधान माना गया है। धर्म, अधर्म, दोनों द्रव्योंकी राक्ति समान है उत्कट रीद्रप्यान और प्रकृष्ट शुक्लप्यानकी शक्ति तील्में बरावर है। एक सातवें नरकमें पहुंचा देता है, दूसरा मोक्षमें धर देता है। ज्योतिष चक्र हो ठहराये रखनेमें अल्पबल कारणसे कार्य होजाय और ज्योतिष चक्रका अमण करानेमें महान् शक्तिशाली कारण उपयोगी होंय ऐसा चित्तमें नहीं भार लेना चाहिये। सत्रार, सामायिकी, वातवलय आदि करके घोडा, मन, लोक, शक्त, अस्पि, संकीय पाठ आदि तो एकाप्र धारे रखनेमें बड़ी शक्ति लगानी पड़ती है। अतः प्रकरणमें ज्योतिष्क विमानोंका परिश्रमण अनादि निधन इन्यरूप स्त्रमात्रसे निर्णीत कर दिया है। यह समाधान बहुत बढिया रुचिकर है। सभी दार्शनिकों को इसी समाधानपर मस्तक हाकाना पड़ेगा।

## एष एवं नभो भागो ज्योतिः संघातगोचरः। बहुलः सदशकं सर्वो योजनानां शतं स्पृतः॥ ७॥

ज्योतिक विमानिक या तत्सक्ति देवीके समुदायका विषय हो रहा यह आकाश भाग ही स्व बस्तिहित सी योजनीका मोटा सिदान्तह ऋषियोंकी परिपाटी अनुसार स्मरण किया जा रहा है। अर्थात् न्यहां सम भागसे सात सी नव्ये बड़े योजन ऊपर चळकर ज्योतिक चक्रका प्रारम्भ हो जाता है। १०+८०+६+३+३+३+४+४=११० यो मध्यकोक सम्बन्धी एक सी दश योजन

मोटे सबरे आकाशमें वे इस दी सी छन्पन प्रमाणांगुळाँके वर्गका जगछातर प्रदेशोंमें भाग देनेपर प्राप्त हुई संख्या प्रमाण क्योतिका दिन या उन देवों के संख्यातवें माग प्रमाण क्योतिका विमान निवस रहे हैं। एक एक विमानमें हजारों, छाखों यों संख्याते देव रह जाते हैं। जैसा कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्चीन सम्पूर्ण विमानों में अक्रतिन वन रहे अनादि अनन्त अक्रतिम चैत्याळ्योंको इस गाया करके नमस्कार किया है। " वेसदछन्पण्णंगुळ कादिहिदपदरस्स संखमागिमदे, जोइसजिणंदगेहे गणणातीदे णमेसामि"।

# स घनोदिधपर्यतो नृलोकेऽन्यत्र वा स्थितः । सिद्धस्तिर्यगसंख्यातद्वीपांभोधिप्रमाणकः ॥ ८॥

और वह ज्योतिष्क विमानोंका ज्यूह मनुष्य छोकमें अथवा मनुष्य छोकसे बाहर मी तिरका असंख्यात द्वीप और असंख्याते सम्पूर्ण समुद्रप्रमाण छम्बा, चौडा, होकर धनोदि पिपंन्त ज्यवस्थित हो रहा सिद्ध है। अर्थात् — मध्यछोकस्थ त्रसनाछी सम्बन्धी एक सौ दश योजन मोटे आकाश मागमें पूर्व, पश्चिम, बारह योजन मोटे बातवळयको छोडकर छोकपर्यन्ततक फैळा हुआ है। और दक्षिण, उत्तरमें, त्रसनाळीतक ज्योतिषचक स्थित है। यानी सात राज् लम्बा, एक राज् चौडा, और मेरुसम एक छाख चाळीस योजन ऊंचा मध्यछोक है। दक्षिण और उत्तरसे तीन तीन राज् स्थावर छोकके मागको घटा कर इसके ठीक बीचमें एक राज् लम्बा, एक राज् चौडा, त्रसनाळीका भाग है। उस त्रसनाळीमें पूर्व और पश्चिम बारह योजन मोटे वातवळय प्रमाण कमती एक राज् चौडे और उत्तर दक्षिणमें पूरे एक राज् लम्बे तथा एक सौ दश योजन उत्पर नीचे मोटे चौकोर आकाश प्राक्गणमें ज्योतिश्वक प्रतिनियत है। मध्यळोक सम्बन्धी पूर्व, पश्चिम, लोकप्रान्तमें पांचयोजन मोटे पहिले धनोदिधेवातपर्यंत ज्योतिश्व विमान फैळ रहे हैं। हां, दक्षिण, उत्तरकी ओर त्रसनाळीसे धनोदिध बात निकट नहीं है। तीन तीन राज् दूर है।

सर्वाभ्यंतरचारीष्टः तत्राभिजिदथो बहिः । सर्वेभ्यो गदितं मूळं भरण्योधस्तथोदिताः ॥ ९ ॥ सर्वेषामुपरि स्वातिरिति संक्षेपतः कृता । व्यवस्था ज्योतिषां चिंत्या प्रमाणनयवेदिभिः ॥ १० ॥

नृष्ठोक सम्बन्धी उस ज्योतिष्क मण्डलमें सम्पूर्ण स्वकीय ज्योतिष्क विमानोंके अम्यन्तर (भीतर) चरनेवाला अभिजित् नामको मक्षत्र इष्ट किया गया है और अपने अपने द्वीप या समुद्रसम्बन्धी सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलके बहुर चर दक्ष मूलनामका नक्षत्र वहा नदा है। विसी प्रवार समग्र भीके भरणी नक्षत्र सम्बन्धी पांच तारे चर रहे कहे गये हैं तथा सबके ऊपर स्वातिनक्षत्रका एक तारा चर रहा है। विशेष यह है कि यहां सर्व शब्दसे यदि सम्पूर्ण ज्योतिका मण्डल अभिप्रेत है तब ती सबसे भीचे तारे और उत्तमे तिरानवे योजन ऊंचे नक्षत्र तथा सबके ऊपर शनिश्वरको कहनेवाले सिद्धान्तवचनका इस भरणी नक्षत्रको सबसे नीचे और स्वाती नक्षत्रको सबके ऊपर कहनेवाले सिद्धा-न्तको अपवाद कथन समझा जाय । हां, यदि '' उत्तरदक्तिकण उद्गा-धोमञ्ज्ञे आभिजिमूळसादीय. भरणी कित्तिय रिक्खा चरिति अवराणमेर्वे तु '' इस त्रिलोकसारसम्बन्धी गाथाकी '' अथाकारो चरतां कियमक्षत्राणां दिखियागमाह " " अब श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचकवर्ती कितने ही एक नक्षत्रोंकी हिशाके विभागको कहते हैं '' इस श्री माधवचन्द्र त्रैविचक्कत उत्यानिका अनुसार केवल नक्षत्रोंका है। दिग्विभाग मानना अमीष्ट होय. तब सर्व नक्षत्रोंके अधः ( भीतर ) भरणी और सर्व नक्षत्रोंके ऊपर स्वाती नक्षत्रके विचरनेकी व्यवस्था ठीक बैठ जाती है। यों सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलके नीचे तारायें. मध्यमें नक्षत्र, ऊपर शनिश्वर प्रह, इस सिद्धान्तकी रक्षा भी होजाती है। अभिजितको भीतरकी ओर और मूळको बाहरकी ओर मले ही सम्पूर्ण नक्षत्रोंकी अपेक्षा या सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलकी अपेक्षा भी कह देनेसे कोई विरोध नहीं आता है। इस प्रकार संक्षेपसे ज्योतिष्क विमानोंकी यह स्मरण अनुसार आगमोक्त व्यवस्था कर दी गयी है। प्रमाण और नयके वेत्ता विद्वानों करके ज्योतिषियोंकी अन्य विस्तृत व्यवस्थाका भी उपरिष्ठात चिन्तन कर छेना चाहिये । प्रन्थकर्त्ताके एक एक अक्षरपर तर्क-बादका वक्खर चढवानेके लिये उत्प्रक बैठे इये प्रतिवादियोंके एम्मुख विप्रकृष्ट विषयोंका इतना ही निरूपण करना पर्यात है । श्रद्धाल श्रोता अन्य विद्यानन्द महोदय, त्रिलोकसार, आदि प्रन्योंसे अपनी विस्तृत अभिकाषाको परितृप्त करें।

#### मेरुपद्क्षिणा नित्यगतय इति वचनात् किमिन्यत इत्याइ।

कोई जिहासु प्रश्न करता है कि ज्योतिष्क देवोंके छिये सुदर्शन मेरुकी प्रदक्षिणा देते रहना और निस्य गतिमान् बने रहना इस सूत्र प्रतिपादित वचनसे श्री उमाखामी महाराजको कौनसा प्रमेय अमीष्ट हो रहा है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी समाधान बचनको कहते हैं ।

> मेरुपदक्षिणा नित्यगतयस्त्वित निवेदनात्। नैवापदक्षिणा तेषां कादाचित्कीष्यते न च ॥ ११ ॥ गत्यभावोपि चानिष्टं यथा मूश्रमवादिनः। मुबो श्रमणनिणीतिविरहस्योपपत्तितः॥ १२ ॥

्य इस सूत्रमें आहे गये सम्पूर्ण पद इतारका व्यवच्छेद करते हुये समाठ हैं, निरर्थक गर्ही । देखों, नेककी प्रवृक्षिणा करते हुये ज्योतिका निर्ध गतिकाठे हैं, इस प्रकार सूत्रकर्ण करके निकटन करनेदें तो उन ज्योतिष्क देवोंकी गित प्रदक्षिणारिंदत नहीं हो पाती है और कभी कभी होनेवाली गिक भी इह नहीं की गयी है तथा ज्योतिष्क त्रिमानोंकी गितिका अभाव भी अनिष्ठ है, जैसा कि ज्योतिष्कीका गत्यमाव भू का अमण कहनेवाले विद्वान् मान रहे हैं। क्योंकि पृथिवीका अमणरिंदतपना प्रक्तियोंके निर्णीत हो चुका है। अर्थात् मेह गदिशणा राज्यसे ज्योतिष्कों के प्रदक्षिणारिंदतपनकी व्यावृत्ति कर ही गयी है। गित होनेमें निर्यपना लगा देनेसे बहुत दिनोंतक स्थिर ठहरते हुये ज्योतिष्कों के कभी कभी गिति कर लेनेका व्यवच्छेद कर दिया है। पृथिवीका अमण माननेवाले आर्यभट या यूरप, अमेरिका, इटलीनिवासी कितियय आधुनिक विद्वानोंने ज्योतिष चक्रको स्थिर मानकर सूर्य आदिमें गतिका अभाव इष्ट कर लिया है। ज्योतिषकों की गतिका प्रतिपादन करते हुये सूत्रकारने व्योतिष्चकको गत्यमाव और पृथिवीके अमणकी व्यावृत्ति कर दी है। क्योंकि उन विद्वानोंके बूते भू का अमण निर्णित नहीं हो सका है। और प्रत्यकारने तृतीय अध्यायमें पृथिवीके अमणरिंदतपनका सुत्तियोंसे निर्णय कर दिया है।

न हि प्रत्यक्षतो भूमेर्भ्रमणनिर्णीतिरस्ति, स्थिरतयैवानुभवात् । न चायं भ्रांतः सकत-देवकालपुरुषाणां तद्भ्रमणापतीतेः । कस्यचित्रावादिस्थिरत्वानुभवस्तु भ्रांतः परेषां तद्गमनानुभवेन वाधनात् ।

प्रत्यक्ष प्रमाणों ते इस अचला भूमिक अमणका निर्णय नहीं हो सकता है। क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष. चाक्षच प्रत्यक्ष तथा स्थिर भूमि के होते सन्ते हो रही असम्ज्ञान्ति (अन्याकुछता) को धारनेवाछे मनसे हुये प्रत्यक्षप्रमाणों करके भूमिका स्थिरस्वरूप करके ही अनुभव हो रहा है। यह अनुभव होना अमहान नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण देश और कालमें वर्त रहे पुरुषोंको उस मूमिका धमण प्रतीत नहीं होता है। देखो सीपमें इआ चांदीका ज्ञान या मृगतृष्णामें हुआ जलका ज्ञान तथा शुक्लशंखमें पीतत्वका ज्ञान अवादित नहीं है। अनेक देश कातिपयकाल और कई सम्वादी पुरुषोंकी अपेक्षा बाधा उत्पत्ति होजानेपर पूर्वज्ञान आन्त माने जाते हैं । किन्तु सम्पूर्ण देश, सम्पूर्ण काल और सम्पूर्ण पुरुषोंकी अपेक्षा अवाधित होरहा प्रध-बीकी स्थिरताका ज्ञान कथमपि भ्रान्त नहीं है। यदि भूभ्रमणवादी पण्डित यों कहें कि अनम्बद्धत किसी नगरके नीचे वहनेवाली नदियां या समदमें नावके ऊपर किसीको अमण करनेका अवसर मिळ जाता है, उस मुख्यबुद्धि पुरुषको चलती हुपी नाव तो स्थिर प्रतीत होती है और नमर या समुद्रतह अमण करते हुये दृष्टिगोचर होते रहते हैं। विशाकी आन्ति भी होजाती है। असे प्रकार पृथिवीके भ्रमण होनेपर भी सूर्य आदिकी स्थिर दशामें हम स्थूल बुद्धि पुरुषोंको पृथिवीके स्थित्वका अनुभव हो जाता है, जो कि भ्रान्त ज्ञान है। प्रन्यकार कहते हैं कि यों किसी किसी असंबी सारिखे पेंगा पुरुषको चल रहे नात्र, वायुमान, रेलगाडी आदिके स्थिरपनका हो रहा अनुभव तो आन्त है। क्योंकि दूसरे विचारवील पुरुषोंको उन नाव आदिक ममनके हो रहे अनुभव करके उस अनुभवकी बाधा कर दी जाती है। किन्तु प्रथिवीकी स्थिरता हो। समूर्ण देश, सम्बर्ध क्रांक

और अखिल पुरुषोंके यहां बाधारहित हैं। यों प्रत्यक्षप्रमाणसे भूभ्रमणका निर्णय नहीं हो सका। अतः आर्यमद्द पण्डितने जो यह कहा है। "अनुलोम गतिनीस्थः पश्यत्यच्छं तिलोमगं यदत्, अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम् " नात्रमें बैठा हुआ अनुकूल सीधा जा रहा मनुष्य किनारेके स्थिर हो रहे बुक्ष, पर्वत, आदि पदार्थोको जैसे उल्ली ओरको चलता हुआ देखता है, उसी प्रकार लंकामें अचल ज्योतिष्क मण्डलको पश्चिमकी ओर चलते हुये देखता है। यह आर्यमहका कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। दृष्टान्त विषम है।

नाप्यतुमानता भूभ्रमणिवनिश्वयः कर्तु सुज्ञकः तद्विनाभाविश्विगाभावात् । स्थिरे भचके सूर्योदयास्तमयमध्यान्हादिभूगां छभ्रमणे अविनाभाविश्विगमिति चेन्न, तस्य प्रमाणबा-धितविषयत्वात् पावकानौष्ण्यादिषु द्रव्यत्वादिवत् । भचक्रभ्रमणे सति भूभ्रमणमंतरेणापि सूर्योदयादिमतीत्युपपत्तेश्च । न तस्मात् साध्याविनाभाविनयमनिश्चयः । मतिविहितं च मपंचतः पुरस्तात् भूगो छभ्रमणमिति न तद्वछंबनेन ज्योतिषां नित्यगत्यभावो विभावियतुं शक्यः । नापि कादाचित्कीष्यते गतिर्नित्यग्रहणात् ।

तथा अनुमानप्रमाणोंसे भी भूश्रमणका विशेषतया भेठ प्रकार निश्चय नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उस भूश्रमणरूप साध्यके साथ अविनाभावको धारनेवाले ज्ञापकर्लिंगका अभाव है। भू के भ्रमण और ज्योतिश्वन्नकी स्थिरता मान छेनेपर होनेवाले दिन. रात. प्रद्रण, राशिसंन्रमण, आदि कार्य तो पृथिवीकी स्थिरता और ज्योतिष्कोंका भ्रमण माननेपर भी सुल्मतया उपपन हो जाते हैं। यदि ज्योतिष्क मण्डलको स्थिर माननेवाला यों कहे कि नक्षत्र मण्डलके स्थिर होनेपर और भूगो-लका अमण होते सन्ते स्थिका उदय होना, सूर्यका अस्त होना, मध्याह ( दपहर ) होना, प्रहण पड जाना आदि ही अविनामात्री लिंग हैं। प्रन्थकार कहते हैं, यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस लिंगके साध्यरूप विषयकी प्रमाणोंसे बाधा प्राप्त हो जाती है। जैसे कि अग्निमें अनुष्णता, अदाहकता आदिकी सिद्धि करनेमें प्रयुक्त हुये द्रव्यव, प्रमेयत्व, आदि हेतु वाधित हेत्वाभास हैं । इसी प्रकार तुम्हारे भूभमणके छिंगके विषय हो रहे साध्यकी प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा बाधा उपस्थित हो रही है। दूसरी बात यह है कि ज्योतिषकचक्रका अमण होते सन्ते भूअमणके विना भी सूर्योदय, सूर्यास्तता आदिकी प्रतीति होना युक्तियोंसे सब जाता है। इससे भी भूका अमण सिद्ध नहीं हो पाता है। तिस कारण हेत्का साध्यके साथ अविनाभाव बन जानास्वरूप नियमका निश्चय नहीं हो सका है। निद्वान् आर्यभद्दने लिखा है। '' भपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रतिदैविभिकौ उदयास्तमयौ सम्पादयति प्रहनक्षत्राणाम् '' सूर्य आदिक सब नक्षत्र मण्डल स्थिर है । पृथिवी ही बार बार वृम चूम कर प्रत्येक दिनमें होनेवाले प्रह और नक्षत्रोंके उदय और अस्तका सम्पादन करती है। ऐसी युक्ति 🎮 अदित आर्यभद्वभी प्रतिकार्ये आदरणीय नहीं हैं । तथा अधिक विस्तारके भूगोछके भ्रमणका खण्डन हम पूर्व प्रकरणमें कर चुके हैं । इस कारण उस मूक्ष्रमणका अवस्य लेकरके ज्योतिषियोंको नित्य गतिका स्थाप नहीं विचारा (निर्णय) जा सकता है । यों प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणसे ज्योतिश्वककी चुलोकमें गति निर्णात की जा सकती है । वह ज्योतिष्कोंकी गति कभी कभी होनेवाली भी नहीं हुए की गयी है । क्योंकि गतिका विशेषण देनेके लिये सूत्रकारने "नित्य " शहूका प्रहण किया है । अतः चुलोकमें ज्योतिष्कोंकी गति नित्य हो रही मानी गयी है । कतिपय ज्योतिष्कोंकी हो रही नित्य गतिका बालक बालिकाओंतकको प्रत्यक्ष हो जाता है ।

तद्गतेनित्यत्वविशेषणातुपगत्तिरधौव्यादिति न शंकनीयं, नित्यश्वद्भरयाभीक्ष्ण्यवाचि-त्वाभित्यमहसिवादिवत् ।

कोई यहां शंका करता है कि ज्योतिकों की उस गतिका निल्यपना यह विशेषण नहीं बन सकता है। क्योंकि कोई गति धुन नहीं है। बौद्ध, वैशेषिक, मीमांसक, यहांतक कि जैन भी किया-ओंको अनित्य स्वीकार करते हैं। तृत्यकारिणीकी झडझट पूर्विक्रियायें नष्ट होरही संती उत्तरिक्रियायें उपजती हुई दिखती हैं। ''कर्मत्वऽनित्यमेन '' कोई भी किया नित्य कालतक स्थिर नहीं रह सकती है। क्षणक्षणमें अन्य ही किया होजाती है, ऐसी दशामें ज्योतिकोंकी नित्यकाती आपने कैसे कही किताओ। मन्धकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि नित्य शद्ध अभीक्षणताका शचक व्यवस्थित होरहा है, जैसे कि नित्य ही हंसनेवाला देवदत्त है या नित्य बकवाद करनेवाला यहदत्त है, नित्यमोजी बालक है इत्यादि स्थलोंमें नित्यका अर्थ अभीक्षणता यानी पुनः पुनः या असकृत है, देवदत्त नित्य हंसता रहता है, इसका अर्थ शौच जाते, सोते आदि अवस्थाओंमें भी सदा हंसते रहना नहीं है। किन्तु अनेकशर पुनः था पुनः बहुतकी क्रियाओंमें दिनरात बहुमाग अवसरोंपर हंसते रहना है। प्रातःसे लेकर सायंकालतक हंसना ही जब अत्यन्त कष्टसाध्य है, ऐसी दशामें नित्य हंसते रहना तो असम्भव ही समिक्षियेगा। कुल देरतक हंसते रहनेपर भी शरीर या आत्मामें प्रतिक्षण अनेक हंसियां विनशतीं, उपजतीं, रहती है। इसी प्रकार उयोतिकों की गतिमें नित्यका अर्थ पुनः पुनः एकके पीले सट दूसरी गति, अनेकशर गति यों अभीक्षणता करना चाहिये। जैसा कि नित्य हंसना, नित्य बक बक करना, नित्य रोना, नित्य टोटा होना, नित्य पुजन करना आदिमें शोभता है।

ऊर्घाधोम्रमणं सर्वज्योतिषां भ्रवतारकाः । मुक्त्वा भूगोलकादेवं प्राहुर्भूभ्रमवादिनः ॥ १३ ॥ तद्यपास्तमाचार्यैर्नुलोक इति सृचनात् । तत्रैव भ्रमणं यस्मानोर्ध्वाधोभ्रमणे सत्ति ॥ १४ ॥ भून तारोंको छोडकर सम्पूर्ण न्योतिषियोंका भूगोलसे ऊपर, नीचे, श्रमण होरहा है, इस प्रकार मूक्सणवादी विहान् बिद्धिया कह रहे हैं। सूर्यसिद्धान्त प्रन्थमें लिखा है " ध्रुवोन्नतिर्भचक्तस्य निर्मिंशं प्रयास्यतः। निरक्षािसमुखं यातुर्विपरीते नतोन्नते" उत्तरीय मेरुकी और जानेवाले मनुष्यको ध्रुवतारा ऊंचा उठता हुआ दीखता है और दक्षिणका नक्षत्र मण्डल नीचेको जानेवाला दीखता है तथा दक्षिणीय ध्रुवकी और जानेवाले पिषकको इसके विपरीत नीचे, ऊंचे, दीखते हैं। यानी ध्रुवतारा नीचा जारहा है और दक्षिणीय नक्षत्र मण्डल ऊपरको जारहा भासता है। सिद्धान्तरिरोमणि प्रन्थके गोलाध्यायमें " उद्दान्धुवं पाति यथा यथा नरस्तथा तथा खान्नतमृक्षमण्डलम् उद्दान्धुवं पश्यित चोनतं क्षितेः" मनुष्य जितना जत्तना उत्तर दिशाको ओर जाता है, वैसा वैसा दक्षिणभागके नक्षत्र मण्डलको आकाश्यसे नीचा नम्र होरहे देखता है और उत्तरध्रुवको पृथिवीसे उत्तत उन्नत होते जारहेको देखता है। योरपके अनेक विद्यान् इन बातोंका समर्थन करते हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि भूश्रमणवादियोंका यह चन्द्रमा, मंगल आदि ज्योतिषियोंका ऊपर नीचे चूमना स्वीकार करना भी निराकृत कर दिया गया है। वयोंकि सूत्रकार श्री उमास्यमी आचार्य महाराजने इस सूत्रमें "नृलोके" ऐसा सूत्रण किया है। यदि तुन्हारे मन्तल्य अनुसार ज्योतिश्वकिका ऊपर, नीचे, की ओर अमण माना जावेगा तैसा होते सन्ते तो उस मनुष्य लोकों ही ज्योतिष्कोंका अमण होना नहीं बन सकेगा।

घनोदधः पर्यते हि ज्योतिर्गणगोचरे सिद्धे नृलोक एव, श्रमणं ज्योतिषामूर्ध्वाधः कथप्रुपपद्यते १ भूविदारणमसंगात् । तत एव विंग्नत्युत्तरेकादश्चयोजनशतविष्कम्भत्वं भूगोल-श्राम्युपगम्यत इति चेक्क, उत्तरतो भूमंदलस्ययत्तातिकमात् तद्धिकपरिमाणस्य मतीतेः तच्छ-तमाणस्य च सातिरेक्केकादश्चयोजनमाश्रस्येव समभूभागस्यामतीतेः कुरुक्षेत्रादिषु भूद्वादश्चयो-जनादिममाणस्यापि समभूतलस्य धुत्रसिद्धत्वात् । तच्छतगुणविष्कंभभूगोलपरिकल्पनाया-मनवस्थात्रसंगात् ।

पूर्व, पश्चिमकी ओर घनोदिंघ पर्यन्त तथा दक्षिण, उत्तरकी ओर त्रसनाठीकी मर्यादातक जब कि ज्योतिश्वक्रका विषयभूत यह छोक सिद्ध हो चुका है तो ऐसा होते सन्ते फिर मनुष्य छोकमें ही। ज्योतिषियोंका ऊपर नीचे अमण होना भछा किस तरह युक्तसिद्ध हो सकता है। यों तो ऊपर नीचे अमण मानने पर पृथिवीके फटजानेका प्रसंग आ जानेगा, जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात—सूगोछका अमण माननेवाछे अन्य नक्षत्रमण्डछका भी अपनी कक्षा अनुसार अमण होना स्वीकार करते हैं। सिद्धान्ताशिरोमणिके गणिताष्यायमें कहा है कि " सृष्ट्या भचर्न कमछोद्धवेन पहें: सहतद् मगणादि-संस्थे:। शक्यद्भमें विश्वस्था नियुक्तं तदन्ततारे च तथा धुवत्वे "। यदि नक्षत्रमण्डछ ऊपर नीचे पूमेगा तो पृथिवी अवस्य फट जायगी। यदि भूअमणवादी यों कहें कि तिस ही कारण अर्थात—पूर्विका विश्वरण नहीं हो जाय। अतः हमारे यहां ग्याब्ह सी नीस योजन चौका भूगोछ स्वीकार

किया जाता है। इतनी चीडी पृथिवी अपनी धुरी पर या सूर्यका चक्कर देती हुई घूमती रहती है। अन्य नक्षत्र या प्रद्व भी स्वकक्षामें घुमते रहते हैं। " ततोऽपराशामिमुखं भपञ्जरे संखेचरे शीव्रतरे अमत्यपि । तदल्पगत्येन्द्रदिशं नभश्चराश्चरन्ति नीचोचतरात्मत्रर्मसु ''। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उत्तरकी ओरसे भूमण्डलके इतने ग्यारहसी वीस योजन चौडे परिमाण होनेका अतिक्रमण हो रहा है। उस ग्यारहसौ बीस योजन चौडाईसे अधिक परिमाणवालेकी प्रतीति हो रही है। उस ग्यारहसी बीसके सौमे भाग केवल कुछ अधिक ग्यारह योजन ११ योजनके ही समतल हो रहे भूभागकी प्रतीति नहीं होती है। कुरुक्षेत्र आदि स्थानोंमें बारह योजन भादि प्रमाणवाली या इससे भी अधिक समतल ( सपाट ) हो रही पृथिशीकी भी अच्छी प्रसिद्धि हो रही है। यदि उस बारह आदि योजन प्रमाण स्मतलसे पुनः सौगुना चौडा भूगोल कल्पित किया जायगा तब तो अनयस्थाका प्रसंग हो जायगा। भावार्थ-भूगोल्यादियोंने प्रियमिकी चौडाई ग्यारहसौ वीस योजन स्वीकार की। किन्तु यह ठीक नहीं बैठता है। उत्तरकी ओर पृथिवी अधिक विस्तारवाली माननी पडेगी। दूसरी वात यह है कि गोलपदार्थका सौमा भाग समतल दीखा करता है। सिद्धान्तिश भिणिमें कहा है कि " समी यतः स्यागरियेः शतांशः पृथ्वी च प्रथ्वी नितरा तनीयान् । नरश्च तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेत्र तस्य प्रतिभात्यतः सा '' इसका अर्थ यह है कि जिस कारण गोलपरिजिका सोमा भाग सम दीखा करता है, यह पृथ्वी बडी लम्बी, चौडी, मोटी है और मनुष्य अत्यन्त छोटा है। उस पृथिवीकी पीठपर प्राप्त हो रहे उस मनुष्यको थोडी दूर दृष्टि जानेसे इस कारण वह पृथ्वा समल्ल ही दीखती है। इस नियम अनुसार केवल एक योजनका पांचवां भाग अधिक ग्यारह योजन ही समतल भूमि दीखनी चाहिये। किन्तु कुरुक्षेत्र (पानीपत) बादिमें बारह, चौदह, वीस योजनवारे भी समतछ (मैदान) पाने जाते हैं। सिद्धान्तशिरोमणि गणिताच्यायमें " प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्तांगनन्दाब्ययः । तद्यासः कुमुजंगसायकम्बोऽय प्रोच्यते योजनम् । याम्बोरक्पुरयोःपळान्त/हतं भूबेष्टनं भाराहृत् । तङ्कतस्य पुरान्तराध्वन **इह होयं** समं योजनम् ॥ १ ॥ इस स्होक द्वारा पृथिनीकी परिधि चार हजार नी सौ सडसठ ४९६७ योजन और व्यास पन्द्रह सो इक्यासी १५८१ योजन बताया है। कोई यूरोपनिवासी पण्डित सात हजार नी सी बारह मीळ ७९१२ मीळ पृथिवीका व्यास मानते हैं। अन्य इससे भी न्यून या अधिक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कोई ठीक पृथियोंके नापकी व्यवस्था नहीं हो सकी है। अनेक बिद्वानोंके फरस्पर विरुद्ध मन माने नापोंसे पृथिवीके परिमाणकी यथार्थ व्यवस्था नहीं समझी जायगी। वस्तुतः यह रत्नप्रभा पृथिवी सात राज् उम्बी, एक राज् चौडी, और एक छाख अस्सी हजार योजन मोटी समतल है। काचित् इसके प्रदेश ऊंचे, नीचे, भी हो गये हैं। गैंद या नारंगीके समान गोल माननेपर अनेक दोष आते हैं। सूर्यसिद्धान्तमें जो यह लिखा है कि " अल्पकायतया मर्त्याः स्वस्थानास्विते। मुखम्, पश्यन्ति वृत्तामध्येतां चक्राकारां वसुन्धराम् '' पृथिवीकी अपेक्षा मनुष्योंका अत्यल्प शरीर

होनेसे छोटे छोटे मनुष्य गोल भी इस प्रथिनीको अपने स्थानसे चक्रके समान चपटी आकारवाळी देखते हैं । बात यह है कि मनुष्यकी चक्ष्यें बहुत दूर तक लम्बे, चौडे, फैले हुये पदार्थको पूरा नहीं देख पाती हैं। अतः गोल दीखना या चक्रके समान दीखना दोनों ही आन्तिज्ञान हैं। गोल प्रथिवी यदि भ्रमण करती हुयी मानी जावेगी तो ध्रवतारा एक ही स्थानपर नहीं दीखना चाहिये। सूर्यके समान ध्रुवतारा मी घूमनेवाळे मनुष्योंको न्यारे न्यारे स्थानपर दीखना चाहिये था । किन्तु ऐसा नहीं है । ध्रुत्रतारा रातभर एक ही स्थानपर दीखता है । पृथिबीका नाम गी है । गच्छित इति गीः जो चलती है, अतः वह पृथिवी गी है, ऐसी पोली, छचर, युक्तियोंसे पृथिवी चलायमान सिद्ध करना शद्भव्यवहारको नहीं समझना है। यों तो अचला, स्थिरा, अनन्ता ये नाम भी पृथिवीके हैं। जो कि असंख्य योजन छम्बी पृथिवीको स्थिर सिद्ध करते हैं । भूगोलवादियोंका कहना है कि किनारेसे देखनेपर दूरवर्ती जहाजका पहिले ऊर्ध्वमाग ( मस्तूल ) दीखता है, इसी प्रकार दूरसे ताड बृक्षको देखकर ऊपरला झप्पा पहिले दीख़ता है। क्योंकि अधोभाग पृथिवीकी गोलाईकी ओटमें आ जाता है । लक्क सिद्धान्तमें यह कहा है । '' समता यदि विद्यते सुवस्तरवस्तालनिभा बहुन्छयाः कथ-मेव न दृष्टिगोचरं तु रहो यान्ति सुदूरसंस्थिताः '' ऐसी ढीळी पोळी युक्तियोंको सुन कर हमें हंसी भाती है। जब कि सौ हाथ ऊंचे पदार्थको दो कोससे देखनेपर दस हाथका अन्तर पड जाता है। जहाज या तालवृक्षका निचले दस हाथ भाग नहीं दिखता है । इतनेसे ही यदि पृथिवीको गोल मान लिया जावेगा, तब तो भूमि पचास या सौ कोसकी ही सिद्धि हो सकेगी। ऐसी दशामें आग-रेको यदि गोळभूमिके ऊपर मान लिया जाय तो कानपुर पृथिवीके नीचे मानना पडेगा। किन्तु कुछ पोरपवासिओंने अमेरिका ( न्यूयार्क ) को आगरेके नीचे स्वीकार किया है । इसी प्रकार सिद्धान्त शिरोमणिके भूळोकाच्यायमें पृथिविके चपटी होनेमें यह आक्षेप किया गया है कि " यदि समा मुक्तरो-दरसिनमा भगवती धरणी तरिणः क्षितेः । उपरि दूरगतोऽपि परिश्रमन् किम् नरैरमैरेरिय नेक्ष्यते ॥ यदि निशाजनकः कनकाचलः किम् तदन्तरगः स न दस्यते । उदगमनन् मेरुरथांश्यमान् कथमुदेति च दाक्षणभागके ॥ २ ॥ " इसका अर्थ यह है कि यदि दर्पणके पेटलारिखी भूमि समतक मानी जायगी, तो पृथिविक ऊपर बहुत दूर प्राप्त हुआ भी घूमता हुआ सूर्य देवोंके समान मनुष्योंको क्यों नहीं दीखता है ! दूसरी बात यह कही गयी है कि सूर्यकी ओठ करनेवाला सुमेरु पर्वत यदि रातको कर देता है तो दृष्टा और सूर्यके अन्तरालमें प्राप्त हो रहा यह सोनेका बना हुआ धुमेठ पर्वत क्यों नहीं दीखता है। तथा मेरुकी आडसे निकलकर सूर्यका उदय माना जायगा तो उत्तर दिशामें सर्यका उदय होना चाहिये। क्योंकि मेरु उत्तरकी ओर है। शीतकालमें जो पूर्वेंसे भी हट कर दक्षिणकी और सूर्य उदय हो रहा है, वह कैसे भी नहीं हो सकेगा। इस आक्षेपपर इमको यह कहना है कि यहांसे दो हजार कोसक़े एक योजन अनुसार आठ सौ योजन उत्पर सूर्य है आजकल इतना अचा मनुष्यका जाना दुर्लभ है। हां, देवता अवश्य ही सूर्यको चूनता हुआ देख

छेते हैं । जब यहाँसे सूर्य चलता हुआ दीख रहा है तो ऊपर जानेकी क्या आवश्यकता है ? पृथिवी दर्पणके समान समतल है। है। आंखों के देखनेका स्वभाव ऐसा ही है, जिससे कि दूरवत्ती पदार्थका ऊपरला माग दृष्टिगीचर होता है। दूसरी बातपर यह कहना है कि कनकाचढकी ओटमें सूर्यक आ जानेसे कनकाच्छ कैसे दीख सकता है। रातके समय दीपक यदि भीतकी आडमें **भाजा**य तो क्या भीत दीख जाती **है** ? " यथा प्रकाशस्थितमन्धकारस्थायीक्षतेऽसी न तथा तमस्यम् " अन्धकारमें बैठा हुआ पुरुष प्रकाशमें धरे हुये पदार्थको देख सकता है, किन्तु प्रकाश या अन्धेरेमें बैठा हुआ पुरुष अन्धकारमें स्थित पदार्थको नहीं देख सकता है। कणाद, गौतम, आदि ऋषियोंने मी " सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः " माना है । सूर्य जब स्रमेरुकी आडमें आ जाता है तो यहांसे एक लाख योजन दूर पहुंच जाता है । किन्तु आंखें सेंतालीस हजार दो सौ त्रेसिंट योजन दूरवर्ती पदार्थसे अधिक दूरके पदार्थको नहीं देख सकती हैं। अतः जम्बूदीपकी वेदीके ऊपर अमण कर रहा सूर्य जब निषध पर्वतपर आता है तब यहां भरतक्षेत्रसे दीखता है। अतः पूर्व दिशासे उदय होना माना जाता है और पश्चिम निषधके ऊपर पहुंचनेपर हम छोगोंको सूर्य नहीं दीख पाता है। सूर्यकी किरणोंके नहीं पहुंचनेसे यहां रात हो जाती है। यही उदय, अस्त या दिन, रात, होनेका बीज है। किरणें पहुंचने या फैलनेका सिद्धान्तदृष्टिसे यह विचार है कि सूर्य, अग्नि या प्रदींप अपने परिमित लम्बे, चौडे, स्वकीयशरीरमें ही नियत है। उनके निभित्तसे यहां फैळ रहे भिन् पुद्रलोंकी चमकी छी पर्योपें हो जाती है। सूर्य देशसे यहां कोई किरणें नहीं आती है। यूरोपके कतिपय विद्वानोंने मी सूर्यका घूमना और पृथिवीकी स्थिरता सिद्ध करनेके छिए अब अनेक युक्तियां उपस्थित की हैं। बिशेषज्ञ बिद्धान इस विषयका गम्भीर अन्वेषण कर सकते हैं।

क्यं चास्यिरेपि भूगोले गंगासिध्वादयो नद्यः पूर्वापरसमुद्रगामिन्यो घटेरन् १ भूगोलमध्यतः ममबादिति चेत्, किं पुनर्भूगोलमध्यं १ । उडजियनीति चेत्, न ततो गंगा-सिध्वादीनां ममबः समुपलभ्यते । यस्माचत्ममबः मतीयते तदेव मध्यमिति चेत्, तदिदमित-ध्याहतं । गंगाममबदेशस्य मध्यत्वे सिन्धुमभबभूभागस्य ततोतिव्यवहितस्य मध्यत्वं विशेषात् । स्वशाबदेशापेसयात्वस्य मध्यत्वे न किंचिदमध्यं स्यात् स्वसिद्धान्तपरित्यागश्चाज्जयिनी-मध्यवादिनां ।

दूसरी बात हम भूगोळभ्रमण वादियोंसे यह पूंछते हैं कि भूगोळको अस्थिर माननेपर गंगा, ब्रह्मपुत्र, या सिन्धु, नर्मदा, बादि नदियां मळा पूर्वसमुद्रकी और पश्चिमसमुद्रकी और जारहीं कैसे घटित हो सकेंगी! गोळ प्रथिविके संचळन होनेपर यहां वहां अस्तव्यस्त होकर फैळ जावेंगी, जैसे कि घूमते हुये ळट्टूपर या घूम रही चाकीपर वहा दिया गया पानी यहां वहां कहीं भी विदेशाओं में वह निकल्ता है। यदि तुम भूगोळवारी वों बहां कि भूगोळके नज्यसे इन नदियोंकी जल्पि

हुयी है । इस कारण ये पूर्वपश्चिम समुद्रकी ओर वह जाती हैं । यों कहनेपर हमारा प्रश्न उठता है कि भूगोलका मध्य फिर कौनसा स्थान माना गया है ? बताओ । यदि तुम उज्जैनको भूगोळका मध्य कहांगे जैसा कि '' सिद्धान्तशिरोमणि '' में भूमध्य रेखाको कहते हुये किला है '' पहुंकी ज्जियनी पुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत् , सूत्रं मेरुगतं बुधैनिंगदिता सा मध्यरेला मुबः " प्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं पड़ेगा। क्योंकि उस उज्जैनसे तो गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंकी उत्पत्ति कथमपि नहीं देखी जाती है। मालवदेशमें विराज .रही उण्जैनसे कोई छोटी नदी भी नहीं उत्पन हुयी है । हां, ऊपरले प्रान्तसे आरही एक पतली शिप्रा नदी उज्जैन होकर अवस्य बह रही है। गंगा, और सिन्धुकी उत्पत्ति स्थान तो वहांसे सैकडों कोस दूर है। यदि तुम यों कहो कि जिस स्थानसे उन नदियोंकी उत्पत्ति होरही प्रतीत होती है वही स्थान भगोलका मध्य है। प्रन्थकार कहते है कि सो यह कहना तो अत्यधिक रूपसे व्याघातदीय युक्त हैं। गंगाके प्रभवस्थानको यदि मध्य माना जैयिगा तो सिन्धुनदीके आधप्रवाही स्थानके भूभागको जोकि उस गंगोत्तरीसे बहुत व्यवधान युक्त होरहा है, मध्यपनका विरोध होजायगा। भावार्थ-तिन्त्रतमें पढ़े हुये कैलाश पर्वत इस नामसे पुकार जानेवाले स्थानसे श्रद्धिस्य नदी निकलती है। और हिमालयमें गंगोत्तरी पर्वतसे श्रद्भंगा नदी निकलती है। दोनों स्थानोंमें बीसों कोसका अन्तर है । इतने बढे अन्तरको छे रहे दो स्थानोंको पृथिवीका मध्यस्थान कहनेत्रालोंके ऊपर व्याघातदोष आपडता है। हां, अपने अपने छहों ओर फैले हुये बाह्यदेशकी अपेक्षा यदि इन दोनों प्रभव स्थानोंको मध्य माना जायगा तब तो कोई भी स्थान मध्यरहित नहीं हो सकता है। अपने अपने इधर उधर स्थानकी अपेक्षा सभी स्थल मध्य हो जायंगे । प्रथिवीको चपटी या प्रान्तभागवाली मानने-वार्जोंके यहां कुछ अन्तरथान या आदि स्थान, उपरिम स्थान, नीचे स्थल मले ही अमध्य स्वरूप मिल जांय, किन्तु पृथिवीको गोल माननेवालोंके यहां तो इस ढंगसे सभी मध्यस्थल बन बैठेंगे। दूसरी बात यह है कि यों माननेपर उज्जैनको प्रथिवीका मध्य कहनेवार्लोके यहां अपने स्वीकृत सिद्धान्तका परियाग हुआ जाता है।

तदपरित्यागे चोज्जयिन्या उत्तरतो नद्यः सर्वा उदस्युख्यस्तस्या दक्षिणतोऽवाङ्ग्रुख्य-स्ततः पश्चिमतः प्रत्यङ्ग्रुख्यस्ततः पूर्वतः प्राङ्ग्रुख्यः प्रतीयेरन्, भूम्यवगाहभेदास्रदीगतिभेद इति चेत्र, भुगोस्रमध्ये महावगाहमतीतिमसंगात् । न हि यावानेव नीचैर्देशेवगाहस्तावानेवो-ध्र्यभूगोस्र युज्यते । ततो नदीभिभूगोत्जानुरूपतामतिकम्य वहंतीति भूगोस्रविदारणमिति सममेष परातस्मवसंवितं युक्तं समुद्राविस्थितिविरोधश्च तथा परिदृतः स्यात् ।

पदि उस सिदान्तका परियाग नहीं करोगे यानी भूगोळवादी उस उज्जैनको मध्यदेश मानते । रहनेका आमह करेंगे, तब तो उज्जैनसे उत्तर ओरवाको नदियां सब उत्तरकी ओर गुख करके आगे.

बहती रहेंगी और उस उज्जैनसे दक्षिण ओरसे बह रही नदियां सब दक्षिण मुखवाली ही रहेगी, उस उज्जैनके पश्चिम बाजुले वह रहीं नदियां सब पश्चिमको मुख करती हुई और उस उज्जैनसे पूर्वकी ओरसे चालु हो रही नदियां सब पूर्वमुखवाली ही बहती हुई प्रतीत होनी चाहिये। अर्धात्-गोल वस्तुके मध्यस्थलसे जिस ओरको पानी बह जायगा ठीक उसी और सीधी रेखामें चलता रहेगा। पूर्व मख्त्राली नदियां दक्षिण या उत्तरकी ओर कथमपि नहीं जा सकेंगी। किन्तु इसके त्रिपरीत एक नदीकी भी गति न्यारी न्यारी दिशाओं में हो रही टेढी, मेढी भिन्न भिन्न देखी जा रही है। छोटीसी सिप्रा नदी है। कहीं किसी दिशाकी ओर कचित् अन्य दिशाकी ओर मुखकर वह रही है। यदि तुम भूमिकी गहराईके भेदसे नदीकी गतिमें भेद हो जाना स्वीकार करोगे, यानी जहां जैसी गहरी भूमि मिल जाती है उधरकी ओर नदी दुलक पडती है। गोल वस्तुमें भी नीचे, ऊंचे प्रदेश हैं ही । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो भूगोलके मध्यमें महान् अवगाहकी प्रतीति हो जानेका प्रसंग होगा । पृथिवीको गेंदके सहश गोछ या नारंगीके समान माननेवालोंके यहां भूमध्यदेशमें बडी गहराई मानी ही जावेगी । ऐसी दशामें नदीका बहुतसा जल वहां ही एकत्रित हो जावेगा । देखी, नीचे प्रदेशमें जितनी ही गहराई है उतनी ही गहराई ऊपर हे भूगोलमें मानना समुचित नहीं। तिस कारणसे तो यह ज्ञात होता है कि ये नदियां भूगोलका अतिक्रमण कर वह रही हैं। ऐसी दशामें नदियों करके मुगोलका विदारण हो जावेगा। अतः इस पृथिवीतलको दर्पणके समान समतल माननेका ही पक्ष अवलम्ब करना युक्त है। पृथिवीको समतल माननेसे एक यह भी लाभ है कि समुद्र, सरोवर आदिश्री हो रही स्थितीके विरोधका भी परिहार तिस प्रकार चपटी माननेपर हो चुकता है। अर्थात् —गोलभूमिपर अरबों खरबों मन समुद्र जल ठहर नहीं पाता है, दुलक पडेगा गिर पडेगा, द्वीपीको यहा छ जायगा, कभी कही और कदाचित् कहीं समुद्र या तालाब बन जायेंगे, नियत स्थळोंार समुद्र आदिकी स्थिति नहीं रह सकेगी !

तद्भूमिशक्तिविशेषात्स परिगीयत इति चेत्, तत एव समभूमौ छायादिभेदोस्तु । शक्यं कि वक्तुं छंकाभूमेरीदशी शक्तिर्थती मध्यान्हे अल्पछाया मान्यखेटाष्ट्रचरभूमेस्तु ताहशी यत-स्तद्धिष्ठिततारतम्यभा छाया ।

यदि आप भूगोलवादि यों कहो कि उस भूमिकी विशेषशक्तिसे वह समुदादि स्थितिके विरोधका परिहार किया गया बखाना जावेगा, तब तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी भूमिकी शक्ति ही समतल भूमिमें छाया, परछाई आदि पडनेका भेद भी बन जाओ। चूंकि यों कहा जासकता है कि लंका भूमिकी इस प्रकार शक्ति है, जिससे कि दुपहरके समय मध्यान्हमें वहां छोटी छाया पडती है और मनखेडा आदिसे प्रारम्भ कर उत्तरदिशावाली भूमिकी तो उस प्रकारकी शक्ति है जिससे कि भूमिपर अधिष्ठित होरहे परार्थोंकी तरतमभावसे शोधित होरही छाया पडती है। अर्थाद — दुमको

पृथिवीमें आकर्षणशक्ति माननी ही पडती है। आर्यमहने गोलपादमें कहा है कि " यहत् कदम्बपुष्प-प्रन्थिः प्रचितः समैततः कुन्नमैः । तद्वद्वि सर्वज्ञव्जैः स्थलजैश्च भूगोलः '' आकर्षणशक्ति अनुसार प्रथिवींमें सब ओरसे पदार्थ खिचकर चुपट रहे हैं। छिद्धान्तशिरोमणिनें यों कहा है " आकृष्टि शक्तिश्व महीतया यत् स्वस्यं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या, आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क पतिवयं खे '' पृथिवीमें आकर्षणशक्ति विद्यमान है, उस निजकी शक्ति करके गुरु पदार्थको अपने अभिमुख खेंच लेती है और अपनेपर टिका लेती है। वे पदार्थ पहते हुये सारिखे दीखते हैं, वस्तुतः वे खिच रहे हैं । सब ओरसे सम हो रहे आकाशमें यह माटी पृथियी भछ। कहां गिरे ! इस आकर्षण शक्तिसे संपूर्ण पदार्थ प्रथिनीपर गिरकर ठहर जाते हैं। " यो यत्र तिष्ठत्यत्रनि तळस्या मात्मानमास्या उपरि स्थितं च, स मन्यतेऽतः कुचतुर्थ संस्था मिथश्वते तिर्य्यगित्रामनन्ति । अधः शिरस्काः कुद्रला-न्तरस्थारक्राया मुनुष्या इव नीरतीर, अनाकुलास्तिर्यगधः स्थिताश्च तिष्ठन्ति ते तत्र वयं यथात्र " अर्थ यह है कि जो मनुष्य जहां ठहर रहा है वह अपनेको इस प्रथिवीके ऊपर ठहरा द्वा और पृथिवीको अपने नीचे स्थिर हो रही मानता है इस कारण पृथिवीके चारों ओर ठहर रहे मनुष्य परस्पर अपनेको वे तिरछ। समान मान रहे हैं, यानी अपनेको ऊपर और दूसरोंको नीचे ठहर रहा समझ बैठते हैं। जैसे कि जरुके तीरपर खडे होकर मनुष्य नीचेकी ओर सिरवार्ट और ऊपर प्रियेवीकी ओर चुपटे ह्रये पांववाले होते सन्ते छायाको देखते हैं । किन्तु तिरछे, नीचे, स्थित हो रहे वे मनुष्य आकुळतारहित होकर वहीं निवास करते हैं जैसे कि हम यहां सानन्द रहते हैं। आकाशकी ओर गिर नहीं पडते हैं और भी कहा है कि " सर्वतः पर्वतारामप्रामचैत्यचयैश्वितः । कदम्बकुद्धमप्रन्थिः केसरप्रकटेरिव " गोडाप्यायमें करम्बके फूलकी गांठ समान पृथिवीको सब ओरसे पर्वत, गांव, बाग, नदी समुदाय करके गिरा हुआ माना है। इस भास्कराचार्यजीके कथनपर इमको यह कइना है कि आकर्षणशक्तिको पृथिवीमें भले हैं। माना जाय । किन्तु इतनी बढी आकर्षणशक्ति पृथिवीमें नहीं है जो कि समझ, पर्वत, आदि महान् स्कन्धोंको खीचती रहे नीचेको नहीं गिरने देवे । पौद्रक्रिक पदार्थीमें गुरुत्वशक्ति ( भारीपन ) भी विद्यमान है जिससे कि वे अधःपतन स्वभाववाछे हैं । चुम्बककी आकर्षणशक्ति सर्वको गिरनेसे रोक सकती है, पहाडको गिरनेसे नहीं रोक सकती है। छायाका द्रधन्त तुम्हारे या नैयायिकके मत अनुसार विषम पडता है, वैशेषिकोंने छायाको तेजोऽभाव माना है। अतः वह तुच्छ पदार्थ गिर नहीं सकता है। जैनसिद्धान्त अनुसार " छेतुं भेतुं अन्यत्र नेतुं नैव शक्यते " ऐसे गौरवरहित और प्रकाशको रोकनेवाले निमित्तींसे हो रही छाया मानी गयी है। विषम द्रष्टान्तसे सान्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अन्यथा स्वमका दृष्टान्त पाकर ज्ञानाहैत या ब्रह्माहैत भी साथा जा सकता है, जो कि तमको अनिष्ट पडेगा । पदार्थीमें अनेक शक्तियोंको इम स्वीकार करते हैं । दूप-्रहरके समय कंकामें मनुष्यको दो, तीन, अंगुळ छाया पडती है। और पूनाके निकट प्रान्तमें बस रहे मान्यवेदसे उत्तरकी और निवासकों मनुष्योंकी और बढ़ती जाती है। यो प्रथिवीकी गांठको शक्तियाँ

अनुसार या कुछ भीचा ऊंचा प्रदेश होनेसे छांह घट बढ जाती है। कई निमित्त कारणोंसे अनेक न जाने क्या क्या नैमित्तिक कार्य बन जाते हैं। कठिन छोहे (ईस्पात) का हुरा नरम शाणसे पैना हो जाता है। चमडा या कपडासे भी कुछ पैना कर छिया जाता है। ऊनी कपडेपरसे मैछ या तेछकी चीकट अथवा डामर तार कोछको महीका तेछ या पैट्रेछ थो डाछता है। जैसे कि आत्मापर चुपटे हुये कर्मकछंकको तपस्या करके हटा दिया जाता है।

तथा दर्पणसमतछायामपि भूमौ न सर्वेषामुपरिस्थित सूर्ये छायाविरइस्तस्यास्तद-मेदनिमित्तत्रक्तिविश्वेषासद्भावात् । तथा विषुमित समरात्रमपि तुल्यमध्यदिने वा भूमि-श्रक्तिविश्वेषादस्तु ।

तिसी प्रकार दर्पणके समान समतल भी भूमिमें सम्पूर्णके उत्पर सूर्यके स्थित हो जानेपर छायाका अभाव नहीं हो सकता है। क्योंकि उस छायाका निमित्त कारण उस प्रथिवीकी अभिन्न हो रही विशेष निमित्त शाकियोंका असद्भाव है। सद्भाव पाठ योग्य है। मावार्थ—जल, लहरवाला जल, खड्ग, रिक्नत पात्र (कर्ल्ड्दार गिलास) आदिमें जो नाना प्रकार प्रतिबिन्न पढ़ते हैं। उसका निमित्त कारण उन पदार्थोंकी आत्मभूत हो रहीं विभिन्न शिक्तयों हैं। उसी प्रकार मध्याहमें जब सिरके उत्पर सूर्य आ जाता है तब भी भूमिकी विभिन्न शिक्तयों अनुसार योडीसी छाया पढ जाती है। सूर्यकी ठीक सीधी अधोरेखापर आजानेका किसी मनुष्यको कदाचित्त ही अवसर पड़ता है। सीधी अधोरेखाके थोडा भी इधर उधर हो जानेपर छाया पढ जायगी। तथा विषुमान् अवस्थामें दिनके समान रातका होना अथवा तुल्य मध्यदिनका होना भी भूमिकी शिक्तविशेषसे हो जाओ। अर्थात्—सिद्धान्ताशिरोमिणिके अनुसार लंका और उज्जैनके उत्पर जाती हुई कुरुक्षेत्र आदि देशोंके छू रही दोनों धुवोंके उत्परकी रेखाको भूमध्यरेखा या विषुमत् रेखा माना गया है। विषुमद् हत्त अवस्थामें दिन और रात समान हो जाते हैं। ये सब बातें भूमिकी शिक्त और सूर्यके अमण विशेषोंसे साध्य हैं।

प्राच्याग्रुदयः प्रतीच्यामस्तमयः सूर्यस्य तत एव घटते । कार्यविश्वेषदर्श्वनादृद्रव्यस्य श्वक्तिविश्वेषानुमानस्याविरोधात् अन्यया दृष्टदानेरदृष्ट्यकत्यनायाश्चावक्यंभावित्वात् । सा च पापीयसी महामोद्दविकृंभितमावेदयति ।

तिस ही कारणसे यानी भूमिकी विशेषशाक्तिओंसे पूर्व दिशामें सूर्यका उदय और पश्चिम दिशामें सूर्यका अस्त होना घटित होजाता है। क्योंकि विशेषकार्योंके देखनेसे द्रव्यकी विशेष शक्तिओंके अनुमान होजानेका कोई विरोध नहीं है। अन्य प्रकारोंसे यदि सूर्यके उदय, अस्त, होने माने जायंगे तो देखे जारहे की हानि और अद्दृष्टपदार्थकी कल्पना अवश्य होजावेगी। जो कि वह रष्ट्रहानि और अद्दृष्टकल्पना अत्यविक प्राप्तिनी होरही भूगोंछ अमणवादियोंके महान् मोहकी चेछाको जता रही है।

अर्थात् — ऋतुओंका परिवर्तन, बृष्टि, आंधी, जाडा, गरमी आदि पडना, नियत बनस्पतियोंकी उत्पत्ति, विमिन्न समयोंमें अनेक बृक्षोंका फलना, फलना, आदि कहीं सोना, किचत् केसर, कहीं रत्न, आदि का उत्पन्न होना कहीं उण्णकालमें मी शीत पडना, डिम (बरफ) गिरना, किचत् शीत कालमें मी उण्णता होना इत्यादिक सम्पूर्ण कार्य जैसे भूमिकी शक्तिसे होजाते हैं, उसी प्रकार पर्वतमय भूमिके उरली ओर आजानेपर सूर्यका उदय और परली ओर जानेसे सूर्यका अस्त होना बन जाता है। भूमिकी शक्ति अनुसार सूर्यकी किरणें कहीं दूरतक फैलती हैं और कहीं निकट प्रदेशोंतक ही जा पाती हैं। चौमासेमें दिन फलनेपर देख सकते हो। भगोंनामें पानी भर देनेपर बीचमें घरा हुआ रुपया ऊंचा उठा हुआ दीखता है। बादलोंमें कभी सूर्य भी इसी प्रकार देरतक प्रकाश कर फिर झट रात होजाती देखी जाती है। बाल गोपालोंतकमें प्रसिद्ध होरही बातको टाल देना और बिलकुल नई बातको गढ लेना उचित नहीं है। "शक्तयः कार्यानुमेयाः"। भूमिनी विलक्षण शक्तियां तुमको भी माननी पडेगी। बडे भारी पापको महामोही जीव भले ही करें, विचारशील विद्वान् ऐसे अयुक्त सिद्धान्ताभासोंको नहीं गढते फिरते हैं।

न च वयं दर्पणसमतलामेव भूमिं भाषामहे मतीतिविरोधात् तस्याः कालादिवशादुपच-यापचयसिद्धिनिंम्नोश्वताकारसद्भावात् । ततो नोज्जयिन्या उत्तरोत्तरभूमौ निम्नायां मध्यं दिने । छायाद्यद्धिर्विरुध्यते । नापि ततो दक्षिणक्षितौ सभुश्वतायां छायाद्यानिरुश्वतेतराकारभेदद्वारायाः शक्तिभेदमसिद्धेः । मदीपादिवादित्याश्व द्रे छायाया द्यद्विघटनात् निकटे मभातोपपत्तेः ।

हम जैन सर्वत्र दर्पण के समान सपाट, समतल्वाली हो रही ही भूमिको नहीं बखानते हैं। क्योंकि अनेक स्थलोंपर ऊंची, नीची, देखी जारही भूमिकी प्रतीतिओंसे निरोध हो जायगा। काल आदि निमित्तोंको वशसे उस भूमिका घट जाना, बढ जाना, सिद्ध है। जतः भूमिके नीचे, ऊंचे, आकारोंका सम्राव होनेसे समरात्र आदि व्यवस्थायें बन जाती हैं। तिसही कारणसे यानी पूर्धिकों ऊंचे नीचे प्रदेशवाली होनेसे उज्जैनसे उत्तर, उत्तर, की ओर निचली भूमिमें दिनके मध्य अवसरपर छायाका बढना विरुद्ध नहीं पड़ता है और उस उज्जैनसे दक्षिणकी ओर अधिक ऊंची होरही पृथिवीमें छायाकी हानि होना भी विरुद्ध नहीं पड़ता है। क्योंकि ऊंचे, नीचे, आकारवाले मिल मिल प्रदेशों द्वारा उस भूमिकी शक्तियोंके भेदोंकी प्रसिद्धी होरही है। दूर होजानेपर जैसे प्रदीपसे छायाका बढ़ना घटित होजाता है, उसी प्रकार सूर्यसे दूर होनेपर छाया बढ़ जाती है। अतः निकट प्रदेशोंमें प्रातःकाल होना बन जाता है। भावार्थ—इस चित्रा पृथिवीपर अनेक उंचे, नीचे, स्थल बन जाते हैं। कुएमें बैठे हुये मंतुष्य और पहादकी चोटीपर चढ़े हुये मनुष्यकी अपेक्षा घाम और छाहमें जैसे अंतर पढ़ जाते हैं, उसी प्रकार कालवा होगये भूमिके खंचे, नीचे, स्थानीपर छायाहांडि वा छायाहांनि होजाती है। एकसी चौरासी गतिओंमेंसे मौतरली गलीमें सूर्यके घूमनेपर दिन कह जाता है। प्रमात शीव हो जाता है। एकसी चौरासी गतिओंमेंसे मौतरली गलीमें सूर्यके घूमनेपर यहां मरतक्षेत्रमें दिन छोला होजाता है।

तत एव नोदयास्तमययोः सूर्यादेविंबार्घदर्शनं विरुध्यते । भूमिसंलग्नतया वा सूर्यादि-श्तीतिर्न संभाष्या, द्रादिभूमेस्तथाविषदर्शनजननशक्तिसद्भावात् । न च भूमात्रनिवंधनाः सम-राजादयस्तेषां ज्योतिष्कगतिविशेषनिवंधनात्वादित्यावेदयति ।

तिस ही कारणसे यानी ऊंचे, नीचे, प्रदेशों अनुसार उदय समय और अस्त समयपर सूर्य, चन्द्रमा आदिके विम्बोंका आधा दर्शन होना विरुद्ध नहीं पडता है। यहां पक्षान्तर अनुसार भूमिमें संख्य होकरके सूर्य, चंद्र, आदिकी प्रतीति होना सम्मावना योग्य नहीं है। क्योंकि दूर, अतिदूर, आदि भूमिके तिस प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्षको उपजानेकी शक्तिका सद्भाव है। यानी पृथिवीको गोल मानने वाले यह हेतु देते हैं कि चारों ओर दृष्टि पसार देखनेपर सब ओर गोल दीखता है और आकाशमण्डल गोल कटोरेके समान होकर भूमिको दक रहा प्रतीत होता है। दूर वर्त रहे सूर्य, चन्द्रमा गोल पृथिवीसे स्पर्श कर रहे हैं। अतः पृथिवी गोल है। किन्तु यह युक्ति निर्वल है। द्रव्य इन्द्रिय मानी गयी आंखोंकी आकृति मस्दर्की दाल समान गोल होनेसे चारों ओर गोल घेरेमें वस्तुयें दीख जाती हैं। दूरका पदार्थ यहांसे नीचा होता हुआ दीख जायगा। यह दृष्टिका भ्रम है। अलीक ज्ञानोंसे परभार्थ सिद्धान्तकी पृष्टि नहीं होसकती है। दूसरी बात यह है कि समरात्रि दिन, बढना, आदि होनेमें हम जैन केवल पृथिवीको ही कारण नहीं मानते हैं। उन के कारण अन्य भी हैं। ज्योतिष्क विमानोंकी गाति विशेषको कारण मानकर भी समरात्र आदिक होजाते हैं, इसी बातका श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिकों हारा प्रकटीकरण करते हैं।

समरात्रं दिवावृद्धिर्हानिदांषाच युज्यते । छायाप्रहोपरागादिर्यथा ज्योतिर्गातस्तथा ॥ १५ ॥ स्वसंडभेदतः सिद्धा बाह्याभ्यंतरमध्यतः । तथाभियोग्यदेवानां गतिभेदात्स्वभावतः ॥ १६ ॥

दिनके ठीक बराबर रात्रि होना या दिन बदना, रात घटना और दिन घटना, रात बदना अथवा छाया पडना या प्रहोंका उपराग (प्रहण) होना राशिसंक्रमण आदिक जैसे ज्योतिषियोंकी गतिसे हो रहे युक्तिसिद्ध हैं। अथवा उन ज्योतिषियोंकी गति अनुसार हो जाते हैं। उसी प्रकार बाहरकी गठी, अन्यन्तर वीथी, मध्यम वीथीके, अनुसार आकाशके खण्डोंके भेदसे वह ज्योतिषियोंकी गति न्यारी न्यारी सिद्ध है। क्योंकि उन सूर्य आदि विमानोंको खांचनेवाछे तिस प्रकार गतिप्रेमी आभियोग्यजातिके देवोंकी गतियां मिन्न मिन्न प्रकारकी हैं। यथार्थ बात यह है कि तिस प्रकार अनादि काळसे सूर्य आदिक विमान स्वभावसे ही उन उन प्रति दिनके छिये नियल हो रही गछियोंमें

अमण करते हैं। अर्थात्—समरात्र आदि कार्य तो ज्योतिष्क विमानोंकी भिन्न भिन्न आकाश खण्डों में हो रही गतिके अनुसार हो जाते हैं। ढाई द्वीपके ज्योतिष्क विमानोंकी गतिका भेद भी आभियोग्य जातिके देवोंकी विशेषगतिसे या स्वकीय स्वकीय स्वभायसे ही बन रहा है।

सूर्यस्य तावचतुरक्षीतिक्षतं मंडलानि । तत्र पंचपष्टिरभ्यंतरे जंबुद्दीपस्याक्षीतिक्षतयोजनं समबगाह्य मकाक्षनाज्जंबुद्दीपाद्धाह्यमंडलान्येकास्विक्षितिक्षतं लवणोदस्याभ्यंतरे त्रीणित्रिक्षानि योजनक्षतान्यवगाह्य तस्य मकाक्षनात् । द्वियोजनमेकैकमंडलांतरं द्वे योजने अष्टाचत्वारिक्षयो-जनकष्टिभागाश्चेकैकसुद्यांतरं ।

उक्त वार्तिकोंका विवरण यह है। सबसे प्रथम यों कहना है कि जम्बूदीपमें सूर्यके एकसी चौरासी मण्डल माने गये हैं। पांचसी दश और अडतालीस बटे इक्सिट योजन चौडे एवं कुछ अधिक तीन लाख परिधियाले गोल चार क्षेत्रमें सूर्यके एकसी तिरासी तो दो दो योजन चौडे अन्तराल हैं। और एक सौ चौरासी सूर्य मण्डलके अमण स्थान हैं। उनमें पेंसठ तो जम्बूदीपके भीतर हैं। क्योंकि जम्बूदीपकी वेदीसे एक सौ अस्सी योजनतक भीतर घुसकर सूर्य प्रकाशता रहता है। हां, जम्बूदीपसे बाहर लवणसमुद्रमें एकसौ उनीस मण्डल हैं। क्योंकि लवणसमुद्रके तीनसौ तीस और अडतालीस बटे इक्सिट योजन भीतर जाकर उस सूर्यका प्रकाशना आगमीक है। एक एक मण्डलका अन्तराल दो दो योजन है और अडतालीस बटे इक्सिट योजनसे अधिक हो रहे दो योजन तो एक एक उदय अवस्थाका अन्तराल कहा जाता है। अडतालीस बटे इक्सिट योजनका सूर्य है और दो योजन बीचमें रीता स्थान है। अतः यह पूरा स्थान पांचसौ दस और अडतालीस बटे इक्सिट योजन हो जाता है। जम्बूदीपकी वेदीके ऊपर यह चार क्षेत्र पांचसौ दस योजन चौडा होकर तीन लाख अठारह हजार तीनसौ चौदह योजन परिधियाला गोल व्यवस्थित है। सूर्यका चार क्षेत्र यहासे आठसौ योजन उपर और चन्द्रमाका इतना ही चार क्षेत्र आठसौ अस्ती योजन ऊंचा जाकर समझना चाहिये।

तत्र यदा त्रीणि शतसहस्राणि षोडशसहस्राणि सप्तश्चतानि व्यथिकानि परिधिपरिमाणं विश्वति तुरुपेषपवेशदिनगोचरे सर्वपध्यमंडलं मेर्ह पंचलतारिश्रधोजनसहस्नैः पंचसप्ततियोजन्त्र विश्वति तुरुपेष्ठ विश्वति सर्वपध्यमंडलं मेर्ह पंचलतारिश्रधोजनसहस्नैः पंचसप्ततियोजन्त्र विश्वति योजनैकपिश्चिमाग्याप्य सूर्यः प्रकाशयित तदाहिन पंचदशमुहूर्ता भवंति रात्री विति समरात्रं सिध्यति । विद्यति दिने द्वानिशत्येकयोजनषिभागसाविरेकाष्टसप्ततिद्विशतपंच-सहस्रयोजनपरिमाणकमुहूर्तगतिक्षेत्रोपपचेः ।

उन एकती चौरासी मण्डलोंमें जब सूर्य सम्पूर्ण मण्डलोंके मन्यमें स्थित हो रहा प्रकाश रहा है, सब दिन और रात्रिमें पन्तह पन्दह मुद्धर्त होते हैं यों समान दिन रात सिद्ध हो जाता है। उस समय जम्बूहीपके सूर्यका अमण तीन लाख सोक्ट हजार और दो अधिक सातसी ११६७०२ योजन परिधिके

परिमाणको भारता है। दक्षिणायनमें तुकाराशिक प्रवेश अवसरपर और उत्तरायणमें मेवराशिक प्रवेशके दिनका विषय होनेपर सूर्य मेरुको पैताछीस हजार योजन और पिचत्तर योजन तथा योजनके इकसठ भागों मेंसे चौबीस भागों करके दूर अप्राप्त हो कर चमक रहा है। अर्थात् --- जम्बूदीपकी वेदीके ऊपर जम्बूद्दीपका सूर्य घृमता रहता है। उत्तरायणका प्रकरण मिळनेपर वेदीके एकसी अस्ती योजन भीतरतक घुसकर प्रकाशता है और दक्षिणायनके दिनोंका विषय मिळनेपर वेदीसे तीनसी तीस और अडतालीस बटे इकसठि योजनतक बाहर लक्षण समुद्रमें जाकर प्रकाशता है। चार क्षेत्र पांचसी दशको आधा कर यानी एक ओरके दोसी पचपनमेंस द्वीपके चार क्षेत्र एकसी असीको घटा कर पिचत्तर योजन वेदीसे बाहर हटकर बीचळी गली आती है। दश हजार योजन चौडे सुमेरु पर्वतके आधे पांच हजारको अर्घ जम्बूद्वीप पचास हजारमेंसे घटा देनेपर वेदीसे मेरुका व्यवधान पैताळीस हजार समझा जाता है। चूंकि बीचकी गछी वेदीसे पिचत्तर योजन बाहर हटकर पढ़ी है। अतः मध्यम गछीसे मेरुका अन्तर पैतालीस हजार पिचत्तर योजन ४५०७५ है। '' इदि जोयण एगारह भागो जदि वहुदे यहा यदि वा '' इस नियम अनुसार आठसौ योजन ऊंचे सूर्यंके समतलपर सुदर्शन बहत्तर और आठ बटे ग्यारह योजन घट गया है। एक ओरकी घटाईके छिये आधा करनेपर छत्तीस और बढ जाते हैं। अतः मध्यम गर्छीसे मेरुका अन्तर पैताछीस हजार एकसौ ग्यारह योजन हो जाता है। किन्तु गहां मेरुकी ग्यारहमें भाग घटाईके अनुसार छत्तीस और चार बटे ग्यारह योजनोंकी विवक्षा नहीं की गयी है। मध्यम वीथीतकका व्यास एक लाख एकसी पचास १००१५० योजन है । " विक्लंभवगादहगुण करणी वहस्स परिरयो होदि '' इस नियमके अनुसार इसका वर्ग दस अरब तीन करोड बाईस हजार पांचसौ होता **है,** इसको दस गुना करनेपर एक खरब तीस करोड दो छाख पद्मीस हजार १००३००२२५००० होता है। इसका वर्गमूछ निकाळनेसे तीन लाख सोळह हजार सातसी दो कुछ अधिक योजन मध्यम नीयीकी परिधि ( घेरा ) बन जाती है। चार क्षेत्र पांचसी दसके आधे दो सौ पचपनमेंसे एकसी असी योजन भीतरला भाग घटा देनेपर वेदीसे पिचत्तर योजन स्वयण समुदमें घुसकर मध्यम गठी मिळती है। भीतरछे एकसी अस्सीमें पिचत्तर जोड देनेसे या बाहरछे तीनसी तीसमेंसे पिचहत्तर घटा देनेपर मध्यम मार्ग दो सौ पचपन योजन आ जाता है। जो कि चार क्षेत्र पांचसी दसका आधा है। छह छह महीनेके उत्तरायण, दक्षिणायन गमनके ठीक विचले एक एक दिनके छिये दिन और रात समान हो जाते हैं। " छम्मासद्भगयाणं जोइसयाणं समाणदिणरसी, तं इसुवं '' ( त्रिलोकसार ) इसको विषुमान् या विषुव कहते हैं । विषुमान् दिनमें पांच हजार दोसी अठहत्तर और एक योजनके साठ भागोंमेंसे बाईस भागसे अधिक परिमाणबाका स्थान एक सुहर्त यानी दो घडी अथवा अडताछीस मिनटमें हो रही सूर्यकी गतिका क्षेत्र बन जाता है। अर्थाच्-हाई दीपके सभी सूर्य साठ मुहुर्तमें अपनी योग्य परिधीको घूमकर पूरा कर छेते हैं। जब कि जम्बूदीपका नूर्य मध्यम निधीपर जमण कर रहा साढ मुहुतीमें तीन जाया, सोखह बजार सात सी दो योजन कुछ

अधिक परिधिको पूरा करता है तो एक मुहूर्त्तमें कितनी परिधिपर चक्कर छगायगा ? इस त्रैराशिकके अतुसार एक मुहर्राकी गतिका क्षेत्र निकळ आता है। जम्बूद्वीपमें आमने सामने सदा वर्त्त रहे दो सूर्य हैं बो कि जम्बूद्वीपके अन्तमें वेदीके ऊपर एकसी चौरासी गळियोंमें घूमते रहते हैं। ज्वणसमुद्रमें जम्बूद्वीपकी नेदीसे पचास इजार भीतर युसकर उठे हुये जलभागमें यूम रहा ल्वणसमुद्रका पहिला सूर्य है। इससे एक लाख योजन भीतर और घुसकर दूसरा सूर्य है जो कि ल्वंणसमुद्रकी बेदी ( परली ) से पचास हजार योजन उरली ओर जलमें है। यों ढवणसमुद्रमें एक ओर दो सूर्य हैं और इसी प्रकार सुमेरुको बीचमें देकर इनके ठीक सामने परछी ओर लवणसमुदमें दो अन्य सूर्य हैं, जो कि साठि मुहर्तमें अपनी अपनी परिधिका पूरा भ्रमण कर छेते हैं। यो चारों सूर्य ग्यारह हजारसे छेकर सोछह हजार योजनतक ऊपर उठे हुये जल्में स्वकीय नियत स्थानोंपर चूमते रहते हैं। दो लाख योजन चौडे लवणसमद्रमें एक ओर दो सर्य इधर उधरकी वेदियोंसे पचास हजार योजन धसकर हैं। अतः सूर्यकी चौडाई अडताळीस बटे इकसिंठ योजनको एक छाखमें घटा देनेसे निन्यानवै इजार नौ से निन्यानवें और तेरह बटे इकसिंठ योजन छवण समुद्र सम्बन्धी एक सूर्यसे दूसरे सूर्यका अन्तर निकछ आता है। धातकीखण्डमें बारह सूर्य हैं। "दो हो वग्गं बारस बादाल बहत्तरिदु इपांसखा पुक्खर दलोत्ति परदो अवहिया सन्त्र जोइगणा "। जो कि एक ओर छह और ठीक उसके सामने सुमेरु पर्व-तका अन्तराल देकर परली ओर लह चूम रहे हैं। " सगरनिदलविंनूणा लनणादी सगदिनायरद्ध-हिया, सूरंतरं सुजगदी आसण्ण पहंतरं तु तस्स दळं '' इस त्रिळोकसारकी गाथा अनुसार सूर्य सूर्यका अन्तर और वेदिकासे सूर्यका अन्तर निकाल छेना चाहिये । इसी प्रकार कालोदक समुद्र और पृथ्करार्घ द्वीपके न्याठीस और बहुत्तरि सूर्योको भी जान छो। एक ओर आधे और इसी प्रकार दूसरी ओर सुद-र्शन मेरुका व्यवधान देकर इकईस और छत्तीस सूर्य तारतम्यको छ रही गतिसे अमण कर रहे हैं। दो दो सूर्य और दो दो चन्द्रमाका चार क्षेत्र एक एक नियत है। हां, ढाई द्वीपसे बाहर द्वीपों और समुद्रोंकी वेदीसे पचास हजार योजन और उससे परें एक छाख योजन चळ कर गोछ द्वीप, समुद्रोंमें बर्ज्य रचित्रये गये हैं। उनमें एक सौ चवाजीस, एक सौ अबताजीस, आदि नियत हो रहे सूर्य-बिम्ब सूक्ष्म परिधिके विभाग अनुसार अवस्थित हैं। यों ढाई उद्धारसागरके समयों प्रमाण असंख्याते द्वीप समुद्रोंमें असंख्याते सूर्य और चन्द्रमा आदि हैं । इसका विशेष त्रिलोकसारमें दृष्टव्य है ।

दक्षिणोत्तरे सममणिषीनां च व्यवहितानामपि जनानां माच्यमादित्यमतीतिश्च छंकादि-कुरुक्षेमांतरदेशस्थानामभिमुलमादित्यस्योदयात् । अष्टचत्वारिश्चयोजनैकपष्टिभागत्वात् ममाण-योजनापेश्चया सातिरेकिनिवतियोजनश्चतत्रयमपाणत्वादुत्सेषयोजनापेश्चया द्रौदयत्वाश्च स्वाभिमुल्लछंबीद्वयतिमाससिद्धेः ।

दक्षिण और उत्तरदेशोंमें समान रेखान्तरपर प्राप्त हो रहे और दूरदेशका व्यवधान केंद्र रहे भी मनुष्योंके पूर्वदिशामें ही सूर्यके उदयकी प्रशांति के वही है। क्योंकि उद्धारों आदि डेकार कुरुक्षेत्रतक अनेक मध्यवर्ती देशोंमें स्थित हो रहे मनुष्योंके अभिमुख होकर सूर्यका उदय हो रहा है। कारण कि बड़े माने जा रहे प्रमाण योजनकी अपेक्षा एक योजनके इकसिठ मागोंमें अडताकीस माग पिरमाण सूर्य है। चूंकि चार कोसके छोटे योजनसे पांचसी गुना बड़ा योजन होता है। अतः अडताळीसको पांचसीसे गुणा कर देनेपर और इकसिठका माग देनेसे तीनसी तिरानवे सही सत्ताईस बटे इकसिठ छोटे योजनका सूर्य बैठता है। यह उत्सेघ अंगुल्से बनाये गये योजनकी अपेक्षा कुल अधिक तीनसी तिरानवे योजनप्रमाण है। आठ पड़े जीका एक अंगुल, चौबीस अंगुल्का एक हाथ, चार हाथका एक धनुष, दो हजार धनुषका एक कोस और चार कोसका एक योजन, ऐसे तीनसी तिरानवे योजन लम्बा चौड़ा सूर्य है। दूसरी बात यह है कि उगते समय यहांसे हजारों बड़े योजनों दूर सूर्यका उदय होनेसे व्यवहित हो रहे मनुष्योंके भी अपने अपने अभिमुख आकाशमें लटक रहे देरीप्यमान सूर्यका प्रतिभासना सिद्ध है। सबसे बड़ा दिन हो जानेपर सेतालीस हजार दो सी त्रेसिठ बड़े योजन दूर पर रहता है और छोटे दिनके अवसरपर इकतीस हजार आठसी इकतीस योजन दूर है। अतः लङ्का, उज्जैन, कुरुक्षेत्र, आदि दूर दूर देशोंपर ठहरे मनुष्योंको भी अपनी पूर्व दिशाकी ओर सन्मुखरेखापर दीख जाता है। जितना बड़ा या दूरवर्त्ती पदार्थ होता है उतनी ही देखनेवालोंको उसकी सरल रेखाकी टेड कमती होती जाती दीखती है।

द्वितीये अहिन तथा मितभासः कृतो न स्यात्तद्विश्चेषादिति चेन्न, मंडळांतरे सूर्यस्यो-दयात् तदंतरस्योत्सेषयोजनापेक्षया द्वाविश्वत्येकषष्टिभागयोजनसङ्स्रममाणत्वात्, उत्तरायणे तदुत्तरतः मितभासस्योपपत्तेः दक्षिणायने तद्दक्षिणतः मितभासनस्य घटनात्।

कोई प्रतिवादी आक्षेप करता है कि दूसरे दिन तिस प्रकार अपने ठीक सन्मुख गगनतलमें अवलन्तित हो रहे सूर्यका प्रतिभास किस कारणसे नहीं हो पाता है ! जब कि उतने ही बढे सूर्यका उतनी ही दूरपर उदय होना अन्तररहित विद्यमान है । प्रत्यकार कहते हैं कि यह ते। नहीं कहना। क्योंकि दूसरे दिन अगले दूसरे मण्डलमें सूर्यका उदय हो जाता है । पहिले दिनके सूर्योदयसे इस दूसरे दिनके सूर्योदयका अन्तर छोटे उत्सेव योजनोंकी अपेक्षा एक हजार योजनप्रमाण हो जाता है । अर्थात्—एक एक मण्डलका अन्तर बढे योजनोंसे दो योजन है । पांच सो से गुणा कर देनेपर छोटे एक हजार योजन हो जाते हैं । " दीडविह चारिक वेदीए दिणगदीहिदे उदया " इस नियमके अनुसार बाईस बटे इकसिंठ बढे योजन प्रमाण संख्या निकाल लेनी चाहिये । स्थूल रूपसे सर्वत्र जम्बूदीप सम्बन्धी एक सो चौरासी मण्डलों प्रत्येकका एक एक हजार छोटे योजनका व्यवधान पढ़ा हुआ है । अतः सूर्यके उत्तरायण होनेपर उन लंका, कुरुक्षेत्र आदिक उत्तरकी और ह्युकता हुआ पूर्वमें प्रातःकाल सूर्योदयका प्रतिमास होना कन जाता है । और दक्षिणायनमें उन देशोंसे दक्षिणकी और हो रहे सूर्योदयका प्रतिमास जाना बटिक

हो जाता है। छोटे हजार योजन हट हटकर प्रति दिन उदय होनेसे उत्तर दक्षिणकी ओर सूर्यी-दयका प्रतिभासना उचित ही है।

सूर्यपरिणागदित्रणोत्तरसमप्रणिषिशूभागादन्यपदेशे कृतः माची सिद्धिरिति चेत्, बद-नंतरमंडके तथा सर्वाभिम्रखमादित्यस्योदयादेवेति सर्वमनवद्यं, क्षेत्रांतरेपि तथा व्यवहारसिद्धेः।

कोई पूंछता है कि सूर्योदय परिणाम के धारी पूर्वदेशों या उसके समतळ निकटवर्ती उत्तर दक्षिण भूभागों में सूर्योदय अनुसार पूर्वदिशाकी मळे हैं। प्रसिद्धि हो जाय, किन्तु उनसे न्यारे अन्य प्रदेशों में मळा पूर्वदिशाकी किद्धि किस ढंगसे करोगे ! इस प्रकार पूछनेपर तो हम समाधान करते हैं कि उसके अञ्यवहित परली ओर के मण्डलपर तिस प्रकार दूरवर्ती होकर सबके सम्मुख तीन सौ न्नानवे छोटे योजन लम्बे चोंडे सूर्य के उदय होनेसे ही। पूर्वदिशाकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात् — जम्बूद्वीप के आमने सामने हो रहे दो सूर्य जब जम्बूद्वीपकी वेदी के ऊपर पांच सौ दस योजन क्षेत्रमें सब ओर घूम रहे हैं तो सबसे पहिले उदय अनुसार सब देशवालोंको पूर्वदिशाकी सिद्धि हो जाती है, सूर्योदय अनुसार पूर्वदिशाकी कल्पना करनेपर मिन्न मिन्न देशवालोंको दिशाओंका सांकर्य भी हो जाता है, तभी तो '' सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुक्तरतः क्षियतः '' यह नियम अक्षुण्ण वन जाता है। इस प्रकार जैन-निद्धान्त अनुसार सम्भूण व्यवस्था निर्दोष बन जाती है। हैमवत, हरि, विदेह, आदि न्यारे न्यारे क्षेत्रोंमें भी तिस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, दिशाओंके व्यवहार प्रसिद्ध हो जाते हैं। कोई दोष नहीं आता है।

तदेतेन मानीदर्शनाद्धरायां गोलाकारतासाधनयमयोजनायुक्तं तत्र तत्र दर्पणाकारतायामपि प्राचीदर्शनोपपत्तेः। यदा द्व सूर्यः सर्वाभ्यंतरमंदले चतुश्रत्वारिष्ठयोजनसङ्ग्रेरष्टाभिश्र योजनभतेनिंशैमें रुमप्राप्य प्रकाश्चयति तदाइन्यष्टादश्च सुदूर्ता भवन्ति । चत्वारिश्चयद्खताधिकनवनवतियोजनसङ्ग्रविष्कंभस्य त्रिगुणसातिरेकपरिधेस्तन्मण्डलस्यैकाद्मत्रिभयोजनपष्टिभागाधिकैकपंचाशद्विश्वतीत्तरयोजनसङ्ग्रपंचकमात्रसुदूर्तगतिक्षेत्रत्वसिद्धः सेषा मद्धनपर्यन्ततः माना दिवाददिद्दानिश्च रात्री सूर्यगतिभेदादभ्यंतरमंडलात् सिद्धा ।

तिस कारण इस कथन करके उस भूगोळको माननेवाळेका यह हेतु अनुकूळतर्करहित कह दिया जा चुका है कि प्राची दिशाके देखनेसे पृथिवीमें गोळ आकारका साधन कर ळिया जाता है। क्योंकि उन उन प्रान्तोमें भूमिका दर्पणके समान समतळ आकार होनेपर भी पूर्वदिशाका दीख जान। कन जाता है। अर्थात्—स्यारे न्यारे मण्डळोंपर सूर्यका उदय हो। जानेसे अनेकदेशीय पुरुषोंको मिक विकास दिनोमें अपने अपने सम्मुख सूर्योदय अनुसार पूर्वदिशा दीख जाती है। हां, जिस समय सूर्य समसे करे दिनके अवस्तरार सम्मूण मण्डलोंके मीलरके मण्डलमें चवाळीस हजार योजन और आठ

सी बीस योजन मेरसे दूर अप्राप्त होकर प्रकाशता है, तब तो दिनमें अठारह मुदूर्त हो जाते हैं। आधा मेर ५००० योजनका है। और सूर्य १८० योजन भीतर आ गया है। दोनों ओर छह सी बालीस योजनोंसे अधिक निन्यानवे हजार ९९६४० योजन अभ्यन्तर बीयीकी चौडाई हो जाती है। '' विक्खन्मवग्गदहगुण करणी बहस्स परिरयो होदि '' इस नियम अनुसार कुछ अधिक तिगुनी अर्थात—तीन छाख पन्द्रह हजार नवासी ३१५०८९ योजन इसकी परिधि है। एक सूर्य साठ मुदूर्तमें जब इतनी परिधिका अमण करता है, तो एक मुदूर्तमें कितनी परिधिको पूरा करेगा ? इस तैराशिक विधिक अनुसार पांच हजार दो सो इक्यावन योजन और एक योजनके उन्तीस बटे साठि भाग अधिक एक मुदूर्तकी गतिका क्षेत्र होना सिद्ध हो जाता है। सो यह सूर्यके सबसे भीतरछी गछीपर खूमनेके दिन अठारह मुदूर्त यानी चौदह सही दो बटा पांच बन्टे प्रकर्षपर्यन्तको प्राप्त हो रही दिनकी इदि है। और इसी दिन बारह मुदूर्तकी रात है। अतः यह रातकी सबसे बढी हुयी हानि है। जो कि सूर्यकी गति विशेषसे हो रही उसके अभ्यन्तर मण्डलपर आनेसे सिद्ध हो जाती है।

यदा च सूर्यः सर्वशास्त्रं एंचचत्यारिश्वत्सहस्नैश्लिभिश्च शतैश्लिशैर्योजनानां मेरूमप्राप्य भासयित तदाहिन द्वादशस्हर्ताः । षष्ट्रचिकशतषट्कोत्तरयोजनशतसदस्रविष्कं भस्य तित्रगुण-सातिरेकपरिधेः तन्मंडलस्य पंचदशैकयोजनषष्टिभागाधिकपंचोत्तरश्चतत्रयसहस्रपंचकपरिमाण-गतिस्रहृतिश्चत्रत्वात् सेषा परमभकर्ष।र्यन्तपाप्ता तावदिवाहानिर्द्वाद्धिश्च रात्रौ सूर्यगतिभेदाद्वाह्याद्व-गनसंदमंडलात् सिद्धा ।

तथा जिस समय सूर्य जम्बूद्वीपकी वेदीसे समुद्रकी ओर तीन सी तीस अडतालीस बटे इकसिट योजन अधिक इटकर सबसे बाइरके मण्डलपर पैतालीस इजार तीन सी तीस ४५३० योजनों करके मेरुको अप्राप्त होकर प्रकाशता है, तब दिनमें बारह मुद्धत हो जाते हैं। एक लाख छह सी सोठ १००६६० योजन बाइरली बीधीकी चौडाई है। दोनों ओरके पथ व्यास पिण्ड छवानवें बटे इकसठ योजनकी विवक्षा नहीं की गयी है। उस बाइरले मण्डलकी इससे कुछ अधिक तिगुनी यानी तीन लाख अठारह इजार तीन सी चौदह ३१८३१४ योजन परिधि है। साठि मुद्धतेंमें इतनी परिधिको पूरा चूमता है, तो एक मुद्धतेंमें सूर्य कितना चूमेगा ई स्तका उत्तर एक योजनके साठि मार्गोमें चौदह या पन्दह भागसे अधिक पांच हजार तीन सी पांच योजन है। इतने योजन परिमाणवाला एक मुद्धतेंकी गतिका क्षेत्र होता है। सी यह तो परमप्रकर्षके पर्यन्तको प्राप्त हो रही दिनकी हानि है। अर्थात्—बाहरकी गलीमें चूमनेपर बारह मुद्धतें यानी १३ घन्टाका दिन होता है। तथा यह रातमें सबसे बढी हुयी बुद्धि है। अर्थात्—इस दिन सबसे बढी अठारह मुद्धतेंकी रात होती है। जो कि सूर्यकी गति विशेष अनुसार पांचसी दस योजन सम्बन्धी आकाश खण्डके वाहरले मण्डलसे हो रही सिद्ध हो जली है।

#### मध्ये त्वनेकविधा दिनस्य दृद्धिहोनिश्चानेकमण्डलभेदात् सूर्यगतिभेदादेव यथागमं मंदर्कं यथागणनं च प्रत्येतच्या तथा दोषादृद्धिहीनिश्च युज्यते ।

दिनकी सबसे बडी वृद्धि अठारह मुद्धते और सबसे प्रकर्ष हानि बारह मुद्धतेकी सिद्ध कर दी गयी है। मध्यमें होनेवाली अनेक प्रकार दिनकी वृद्धियां और हानियां तो अनेक सण्डलोंके भेदसे सूर्यकी गातिके भेद अनुसार ही हो जाती हैं। आगम अनुकृत और मण्डलपर गति अनुसार तथा परिधि गणनाका अतिक्रम नहीं कर समझ लेनी चाहिये। तिस ही प्रकार रात्रिकी वृद्धि और हानियां भी समुचित हो रहीं युक्त बन जाती हैं। भावार्थ—" सूगदो दिणरत्ती अहारस बारसा मुद्धताणं अन्मन्तरम्ह एदं विवरीयं बाहिरम्हि हवे" " कक्कडमयेर सन्वन्मन्तर बाहिर पहिद्वेओ होदि, मुहमूमीण विसेसे बीधीणंतराहिदे पचयं" (त्रिलोक्सार)। यों प्रति दिन दिन और रातकी हानि या वृद्धिका चय दो बटे इकसिट मुहूर्त समझ लेना चाहिये।

#### तदेतेन दिनरात्रिष्टदिहानिदर्शनाद्भवो गोलाकारतानुमानमपास्तं, तस्यान्ययानुपपिन-वैकल्यादन्ययैव तदुपपत्तेः।

तिस कारण इस कथन करके भूगोलगदियोंके इस अनुमानका भी खण्डन कर दिया गया समझो कि पृथिशीका आकार गोल है (प्रतिज्ञा) क्योंकि दिन या रातकी वृद्धि और हानियां देखीं जा रही हैं (हेतु)। बात यह है कि उस हेतु की अपने साध्यके साथ अतिनामात्र बने रहने की विकलता है। साध्यके विना ही उस हेतु की उपपत्ति हो जाती है। भावार्थ—पृथ्वीके इस आकारके साथ दिन या रातकी हानि, वृद्धियोंका नियम नहीं है। सूर्यकी अनेक मण्डलोंपर हो रही गतिके अनुसार वह दिन और रातका घटना, बढ़ना दूसरे प्रकारोंसे ही बन जाता है।

तथा छाया महती द्रे सूर्यस्य गतिमनुमापयति अंतिकेश्तिस्वरुपा न पुनर्भूमेगों छका-कारतामिति छायावृद्धिहानिदर्शनमपि सूर्यगतिभेदनिमित्तकभेव । मध्यान्हे किचिच्छायाविरहेपि परत्र तद्दर्शनं भूमेगों छाकारतां गमयति समभूमौ तद्दनुपपत्तेरिति चेश्व, तदापि भूमिनिम्नत्वो-स्वतत्विश्वेषमात्रस्यैव गतेः तस्य च भरतेरावतयोद्देष्टत्वात् " भरतेरावतेयावृद्धिन्हासौ षद्-समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां इति बचनात् ।

उक्त वार्तिकों में इसके आगे छाया पढ़ी हुई है । इसका विवरण यों है कि तिसी प्रकार सूर्यके दूर होनेपर बढ़ी कम्बी पढ़ रही छाया और सूर्यके निकट होनेपर अति अल्प हो रही छाया भी सूर्यकी गतिका ही अनुमान कराती है । किन्तु किर पृथिवीके गोळ आकारसहितपनको अनुमिति नहीं कराती है । इस प्रकार छायाको हृदि जीर छायाको हानिका दीखना भी सूर्यकी मिन भिन्न गति-आँको निमित्त पाकर ही हुआ कहन चाहिये । अतः प्रातःकाळ सूर्यके हुए खनेपर हुई, गृह,

मतुष्य बादिकी छापा छम्बी पडती है और मध्यान्द्रतक सूर्य के निकट आ जानेपर छाया छोटी छोटी होती जाती है। पुनः मन्यान्हसे सार्यकाळतक सूर्यके अधिक अधिक दूर होते जानेपर छाया बढती चड़ी जाती है। दैर्दाच्यमान पदार्थीके दूर निकट जाने आ जानेपर छाया बढ़ती, घटती, हो रही प्रसिद्ध है। कि कहता है कि ''आग्म्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण उन्त्री पुरा कृद्धिमती च पश्चात्, दिनस्य पूर्वार्धपरार्धिभन्ना छायेव मैत्री खळसग्रनानाम् '' । यदि यहां कोई कटाक्ष करे कि मध्यान्हके समय ित्सी देशमें छायाका अभाव होनेपर भी दूसरे देशोंके इपारके समय उस छायाका दर्शन हो रहा (हेतु ) भूमिके गोल आकारको साध देवेगा । क्योंकि समतक भूमिमें वह कहीं छायाका न होना और वहीं होना नहीं बन सकता है। भावार्थ — सूर्यकी निचन्नी और ठीक सीची रेखा पर खडे हुये मनुष्यभी छ।या नहीं पडती है । डां, गोल पृथिवीके कुछ इधर उधर बगरूमें खंडे हो जानेसे तिरछे ोगये मनुष्यसी दोपहरकी छाया अवस्य पड जायगी। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तब भी भूमिके केवल नीचेपन या उंचेपन विशेषोंकी ही उस हेत्रसे बति हो सकेगी और वह भूनिका नीचा ऊंचापन भरत ऐरावत क्षेत्रोंमें कालका हो रहा देखा जा चुहा ै। स्वयं पृष्यकरण सुत्रकारका इस प्रकार यक्त है कि भरत रेशवत क्षेत्रोंके बृद्धि और हास छइ समयवाली उत्सार्पणी और अवसर्पिणी कालों करके हो जाते हैं। **बर्धात—भरत और ऐरावतमें आकाराकी चौडाई** न्यारी न्यारी एक छाखके एकसी नम्बेवें भाग पानी पांचसी छव्वीस सदी छड वटे उनईस यो नन भी ही रहती है। किन्तु अवगाहन शक्तिके अनुसार इतने ही आकाशमें भूमि बहुत घट, बढ, जाती है। न्यूनरी न्यून पांचरी छन्त्रीस छह बटे उनीस बोजन भूमि अवस्य रहेगी। बढनेपर इसले कई गुरी अधिक हो सकती है। इसी प्रकार अनेक स्थळ कहीं वीसों कोस ऊंचे, निचे, टेढे, तिरछे, कौनियाये, हो रहे हो जाते हैं । अतः श्रमण करता हुआ सर्य जब दुपहरके समय ऊपर आ जाता है, तब सूरीने सीवी रेखापर समतल भूतिमें खडे हुये मनुष्योंकी छाया किंचित् भी इश्वर उधर नहीं पढेगी । किन्तु नीचे, ऊँचे, तिरछे, प्रदेशोंपर खडे हुये मनुष्योंकी छाया इधर उधर पड जायगी। क्योंकि सीधी रेखाका मध्यम ठीक नहीं पडा हुआ है: भने ही नकडीको टेडी या स्त्री खडी कर उसकी छायाको देखने ।

तन्मनुष्याणामुत्सेघानुभवायुरादिभिष्टं दिहासौ भितपादितौ न भूमेरपरपुद्रहेरिति न मंतन्यं, गीणश्रन्दाप्रयोगान्मु ख्यस्य घटनादन्यथा मुख्यश्रन्दार्थातिकमे प्रयोजनाभावात् । तेन भरतरावतयोः क्षेत्रयोद्धिन्हासौ मुख्यतः प्रतिपतन्यौ, गुणभावतस्तु तत्स्यमनुष्याणामिति तथावयनं सफळतामस्तु ते प्रतिविश्वानुक्छंघिता स्यात् ।

धोडे आकाशमें बडी अवगाहनावाठी वस्तुके सगाजानेमें आखर्य प्रगट करते हुये कोई विद्वान यों मान बैठे हैं कि मस्त, ऐसवत, क्षेत्रोंकी इदि हानि नहीं होती है, किन्तु उनमें रहनेवाड़े

मनुष्योंके शरीरउष्चता, अनुमय, आयु, सुख, आदि करके रुद्धि और ऱ्हास सूत्रकार द्वारा समझाये गये हैं। अन्य पुद्रलोंकरके भूमिक वृद्धि और व्हास सूत्रमें नहीं कहे गये हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि गीण होरहे शब्दोंका सुत्रकारने प्रयोग नहीं किया है। अतः मुख्य अर्थ घटित हो जाता है। अन्य प्रकारोंसे पानी तत्में स्पित होनेसे तत् रान्दपनेकी सिद्धि या " भरतऐर।वतयोः" को सप्तभी विभक्तिका रूप मान छेना इन ढंगोंसे मुख्य शब्दके अर्थका अतिक्रमण करनेमें कोई प्रयोजन नहीं दीख रहा है । " मंचाः क्रोषन्ति " " गंगायां घोषः " आदि स्थलोंपर तात्पर्यकी अनुपपत्ति होनेसे मुख्य अर्थका उक्तंघन कर गीण अर्थका आदर कर लिया जाय । किन्तु यहां दृद्धि और हास इन कृदन्त कियाओंका योग हो जानेसे " भरतऐरावतयोः " इस षष्ठयन्तपदका उनमें आध्य हो रहे मनुष्य, पशु, आदिक यह गौण अर्थ नहीं किया जा सकता है। विचारशाली दार्शनिक सूत्रकार आलंकारिक कवियोंकी छटामें निमन्न नहीं हैं। अतः भरत ऐरावत शब्दका मुख्य अर्थ पकडना चाहिये। तिस कारण भरत और ऐरावत दोनों क्षेत्रोंकी बृद्धि और हानि हो रही मुख्यरूपसे समझ छनी चाहिये। हां, गौणरूपसे तो उन दोनों क्षेत्रोंमें ठहर रहे मनुष्योंके अनुभव आदि करके वृद्धि और हास हो रहे समझ छो, यों तुम्हारे यहां सूत्रकारका तिस प्रकार वचन सफलताको प्राप्त हो जाओ और क्षेत्रकी वृद्धि या हानि मान छेने पर प्रत्यक्षित्व या अनुमान तिद्ध प्रतीतियोंका भी उद्धंघन नहीं किया जा चुका है। भावार्थ-समयके अनुसार अन्य क्षेत्रोंमें नहीं केवल भरत ऐरावतोंमें ही भूमि ऊंची, नीची, घटती, बढती हो जाती है। तदनुसार दुपइरके समय छायाका घटना बढना या कचित् सूर्यका देर या शीवतासे उदय, अस्त, होना, घटित हो जाता है। तभी तो अगळे '' ताम्यामपरा भूमयोऽत्रस्थिताः '' इस सूत्रमें पढा हुआ " मूनयः " शब्द व्यर्थ सम्भव होकर ज्ञापन करता है कि भरत और ऐरावत क्षेत्रकी मूमियां अवस्थित नहीं हैं। ऊंची, नीची, घटती, बढती हो जाती हैं।

सूर्यस्य प्रहोपरागोपि न भूगोल्रङायया युज्यते तन्मते भूगोल्रस्याल्पत्वात् सूर्यगोल्रस्य तबतुर्युणत्वात् तया सर्वप्रासप्रहणविरोधात् ।

सूर्यका प्रहों के द्वारा उपराग होना ( सूर्यप्रहण ) भी भूगोलकी छाया करके होरहा मानना उचित नहीं है। क्योंकि उन मूल्यमण वादियोंके मतमें भूगोलका परिमाण अल्प माना गया है। सूर्य गोल उससे चौगुना स्वीकार किया है, तिस प्रकार होनेपर सर्वप्रासरूपप्रहण होजानेका विरोध पढ़ेगा। वर्षात्—मूगोलवादी प्राचीन पण्डितोंने पृथिवीसे सूर्यको चौगुना स्वीकार किया है। यदि पृथिवीकी छायासे सूर्यप्रहण माना जावेगा तो भरपूर सूर्यका उक जाना ऐसा खप्रास प्रहण नहीं पढ सकेगा। क्योंकि छोटा पदार्य बढ़े पदार्थको पूरा नहीं उक पाता है। आधुनिक कई युरोपीय विद्वान सूर्यको सूनिक एक सी बाठ गुना या तेरह छाख गुना अथवा पन्तह छाख गुना स्वीकार करते हैं। आर्थश्रह,

ब्ह्याचार्य, आदि भारतवर्षीय विद्वान् भी पृथिवीसे सूर्यको बडा मान बैठे हैं। ऐसी दशामें भूगोबकी छायासे सर्वीग सूर्यप्रहण नहीं हो सकेगा।

एतेन चंद्रञायया सूर्यस्य ग्रहणमपास्तं चंद्रमसोपि ततोल्पत्वात् । क्षितिगोलचतुर्ग्रणछा-याष्ट्रद्विघटनाचंद्रगोलवृद्धिगुणछायाष्ट्रद्विघटनाद्वा ततः सर्वप्रासे ग्रहणमविरुद्धमेवेति चेत् क्रुतस्तत्र तथा तच्छायाष्ट्रद्विः । सूर्यस्यातिद्दरत्वादिति चेत्र, समतलभूमाविप तत एव छायाष्ट्रद्विमसंगात् ।

चन्द्रकी छाया करके सूर्यका प्रहण पडना भी इस कथन करके खण्डित कर दिया गया है। क्योंकि उस सूर्यसे चन्द्रमाका भी परिमाण अल्प माना गया है। अल्प परिमाणवाले पदार्थसे बढी परिमाणवाळी वस्तुका एक अंश भले ही ढक जाय, किन्तु परिपूर्ण प्राप्त कथमपि नहीं हो सकता है। भावार्य--आर्यभट्टकृत स्त्रोक्त है कि " छादयति शशी सूर्य शशिनं च न महती मुख्लाया " प्रहणके अवसरपर चन्द्रमा सूर्यको और बडी पृथिवीकी छाया चन्द्रमाको ढक छेती है। सूर्य सिद्धान्तमें भी कहा है कि " छादको मास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भन्नेत्, मूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य मनेदसौ " बृहत्संहितामें " मूच्छायां स्वप्रहणे भास्करमर्कप्रहे, प्रविशतीन्द्रः प्रप्रहणे मतः पश्च-नेन्दोर्मानेश्व पूर्वाधीत् '' मास्कराचार्यने भिद्धान्तशिरोमाणे गोलाप्यायमें कहा है कि '' पूर्वाभिमुखो गच्छन् कुच्छायानन्तर्यतः शशी विशति, तेन प्राक् प्रप्रद्यणं पश्चात् मोक्षोऽस्य निस्सरतः '' '' मूमि-र्विधुं विधुं दिनं प्रहणोऽपि धत्ते " इत्यादिक मन्तव्य उचित नहीं है । यहां कोई भूगोलवादी कहते हैं कि दूर होनेपर छोटे पदार्थसे भी बड़ा पदार्थ ढक जाता है। आंखोंसे एक गज दूरपर एक छोटी सी किताबके आडे आ जानेसे पांच सी गज दूर वर्ती सैकडों गज छम्बा चौडा पदार्थ भी उक कर ओझिल हो जाता है। दूरपर पदार्थों भी छाया भी बढ जाती है। तदनुसार भूगोलसे चीगुनी छायाकी वृद्धि घटित हो जाती है। अथवा चन्द्रगोळसे भी कई गुनी वृद्धिरूप छायाकी वृद्धि घटित हो जाती है । अतः उस बढी हुयी छाया अनुसार सूर्यका सर्वप्रास प्रहण पड जाना बिरुद्ध नहीं है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि वहां सूर्यमण्डलके निकट तिस प्रकार उस छाय की बाद्धि किस कारणसे बनेगी ? बताओ । यदि तुम भूगोल्यांदी यों कहो कि सूर्य अत्यन्त दूर है, इस कारण धत्रेके फूल समान छाया उत्तरीत्तर बढती हुयी जा रही बन जाती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि समतलमें भी तिस ही कारण यानी सूर्यके अति दूर होनेसे ही छायाकी हिंद होजानेका प्रसंग आजाता है। फिर तुमने छायाकी बृद्धिसे भूमिक गोड आकारको क्यों साधा था! अर्थात्-अमण करते हुये सूर्यके दूर देश या निकट देशमें वर्तनेपर छायाका बढना या घटना सध जाता है।

षयं च भूगोकादेरुपरि स्थितं सूर्ये तच्छायाप्राप्तिः प्रतीतिविरोधात् तदा छायाविरह्-प्रसिद्धेर्पर्यदैनेवद् ततः तिर्यक् स्थितं सूर्ये तच्छायाप्राप्तिरिति चेचा, गोछात्पूर्वदिष्ठ स्थिते सी पश्चिपदिगभिद्यस्रकायोपपचेस्तत्माप्स्वयोगात् । सर्वता तिर्थगेव पूर्ववृक्षणसंमस्ययमसंगात् । मध्यं दिने स्वस्यापरि तत्यवीतेश्र क्षितिगोळस्याश्वःस्थिते भानी चंद्रे च तच्छायया ग्रहणमिति चेम, रात्राविव तददर्शनमसंगात् ।

दूसरी बात यह कहनी है कि भूगोल, चन्द्रगोल, आदिके ऊपर जब सूर्य स्थित होजावेगा तो ऐसी दशामें उनकी छाया सूर्यपर किस प्रकार प्राप्त होजानेगी ! क्योंकि प्रतीतियोंसे निरोध होजा-वेगा । उस समय तो मध्यान्हके समान छायाका विरह प्रसिद्ध होरहा है । यदि भूश्रमणवादी पण्डित यहां यों उत्तर कहे कि उन भूगोल आदिसे सूर्यके तिरला स्थित होनेपर सूर्यमें उनकी लाया प्राप्त होजाती है। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि भूगोळसे पूर्व दिशाओं में सूर्यके स्थित होजानेपर पश्चिमदिशाके अभिमुख छाया होना बनेगा। अतः उस सूर्यपर पृथिवी या चन्द्रमाकी छाया प्राप्त होनेका योग नहीं बन पावेगा। सर्वदा तिरछे ही सूर्यप्रहण होनेके भले प्रकार ज्ञान होनेका प्रसंग आवेगा, किन्तु दिनके मध्यभागमें आकाशके ऊपर उस सूर्यप्रहणकी प्रतीति होरही है। फिर भी कोई यों कहे कि भूगोलके नीचे सूर्य और चन्द्रमाके स्थित होजानेपर उनकी छाया करके सूर्यप्रहण पढ जावेगा । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि रातमें जैसे सूर्यप्रहणका दर्शन नहीं होता है, उसीके समान दिनमें भी उस सूर्यप्रहणके नहीं दीखनेका प्रसंग आवेगा। अर्थात्—राहु अरिद्द विमाणा किंचूणं जोयणं अधोगंता छम्मासे पन्त्रंते चंदरवी छादयंति कमे " इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार नीचे, नीचे चळ रहे राह्न और अरिष्ट विमानों करके सूर्य और चन्द्रमाका प्रहण पडना मानना चाहिये । यों छाया पड जानेसे प्रदृण नहीं होजाते हैं । चन्द्रविमानके चार प्रमाणांगुङ नीचे राहुका विमान और सूर्य विमानके नीचे चार अंगुल नीचे अरिष्टका विमान भ्रमण करता स्हता है। अन्य दिनोंमें ये विमान अगळ बगळ रहते हुये घूमते हैं। अमावस्या या पूर्णिमाके दिन कदाचित् नीचे आजानेपर प्रहण दिवस मान लिया जाता है। यों पूर्णिमाके अतिरिक्त चन्द्रमाकं नीचे सदा ही राहुका विमान तारतम्य अनुसार अमण करता रहता है। जोकि प्रत्यक्षित है। इस विषयके तलस्पर्शी बिद्वान् भूगोल या सूर्यप्रहण आदिका अन्य समीचीन युक्तियों द्वारा अच्छा विवेचन कर छेवें। '' निह सर्वः सर्वविद् ''। मेरे निकट इस विषयके साधन अखल्प हैं। श्री विद्यानन्द स्वामीकी युक्तियां अकाट्य हैं। हां, मेरे वेखमें त्रुटियां होना सम्भव है। " तदि जानन्ति तदिदः " उस विषयको उसिके परिपूर्ण अन्तःप्रवेशी विद्वान् जान सकते हैं । मनीषिणः शोधयन्तु ।

नतु च न तयावरणरूपया भूम्यादिछायया ग्रहणग्रुपगम्यते तदिक्षिर्यतोऽयं दोषः। किं तिर्हे श उपरागरूपया चंद्रादौ भूम्याग्रुपरागस्य चंद्रादिग्रहणन्यवहारविषयतयोपगमात्। स्फिटिकादौ जपाकुग्रुमाण्रुपरागवत् तत्र तदुपपचेरिति कश्चित्, सोपि न सत्यवाक् तथा सित सर्वदा ग्रहणन्यवहारप्रसंगात् भूगोष्णात्सर्वदिश्च स्थितस्य चंद्रादेस्तदुपरागोपपचेः। जपाकु

सुगादेः समंततः स्थितस्य स्फटिकादेस्तदुपरागवत् । न हि चंद्रादेः कस्यांचिदपि दिश्वि कदा-चिद्वयवस्थितिर्नाम भूगोलस्य येन सर्वदा तदुपरागो न भवेत् ।

मूजमणवादी स्वपक्षका अवधारण करते हैं कि भूमि आदिकी आवरणस्वरूप हो रही छाया करके सूर्य आदिका प्रहण पडना उस प्रहणके वेता विद्वानों करके नहीं स्वीकार किया जाता है। जिससे कि यह उपर्युक्त दोष छग बैठे, तो प्रहणवेत्ता विद्वान् क्या स्वीकार करते हैं ! इसका उत्तर यह है कि उपरागस्त्ररूप छाया करके प्रइण पडना माना जाता है। चन्द्र, सूर्य, आदिमें सूमि आदिके उपराग पड जानेको ही चन्द्र आदिका प्रहण पड जाना, इस व्यवहारके विषयपन करके स्वीकार किया गया है। जैसे कि स्फटिक, मोटे काच, आदिमें जपाका पुष्प, गुलाबका फल, डंक आदिका उपराग पड जाता है। अतः उन चन्द्र आदिमें भूमि आदिके उपरागसे उस प्रहण पडनेकां उपपत्ति हो जाती है। भावार्थ —दीप्यमान सूर्य, चन्द्रमाओं के कपर धुंघली पृथिवी आदिकी छाया करके प्रहण होना हम नहीं मानते हैं। किन्तु धुंधले पदार्थकी चम ीले पदार्थपर आमा पड जाने मात्रसे प्रहण हो जाता है। स्फटिकमें जपाकुसुमकी छाया नहीं पडती है, केवल जपा कुसुमकी आभासे स्फटिक लाल दीखने लग जाता है। जैसे घाममें लाल या हरा बका टांग देनेसे कुछ यहां वहां लाल या हरी कान्ति पड जाती है । हां, दर्पण या खड्गमें छाया पडती है । छाया और उपरागमें यहां अन्तर है । यहांतक कोई मूर्जमणवादी कह रहा है । प्रन्थकार कहते हैं कि वह भी सत्य बोछनेवाछा नहीं है। क्योंकि तिस प्रकार होनेपर सदा ही प्रहणके व्यवहार होनेका प्रसंग आवेगा। जब कि भूगोल्से सम्पूर्ण दिशाओं मे चन्द्रमा आदि स्थित हो रहे हैं ऐसी दशामें चन्द्र आदि में उस भूगोलका उपराग पडना सदा बन जायगा जैसे कि जपाकुसुम, गेंदाका इल, प्रदीप, आदिके सब ओर स्थित हो रहे स्फटिक आदिपर उन जपाकसम आदिकी कान्ति पडना स्वरूप उपराग बन बैठता है। चन्द्र आदिकी किसी भी एक दिशामें कभी भूगोलकी भला व्यवस्था नहीं होय यह तो कथमपि तुम नहीं कह सकते हो जिससे कि सदा उस भूगोलका उपराग चन्द्र आदिके ऊपर नहीं हो सके । अर्थात्—आधुनिक भूगोलवादी मी सूर्यकी प्रदक्षिणा दे रही पृथिको मानते हैं । और चन्द्रमाको प्रथिवीकी परिक्रमा दे रहा स्वीकार करते हैं। ऐसी दशामें चन्द्रमा या सूर्य के ऊपर भूमिका उपराग पढ़ना सुद्रम कार्य है। चमकीछे पदार्थपर यहां वहांके पदार्थकी आभा अतिशीघ पढ जाती है।

तस्य ततीतिविभक्षवि कदाचित्र भवत्येव मत्यासस्यातिदेशकाल एव तदुषगमादिति चेत्, किमिदानीं सूर्योदेर्भ्रमणमार्गभेदोभ्युपगम्यते ? बाहमभ्युपगम्यत इति चेत्, कथं नाना-राशिषु सूर्योदेग्रहणं मतिराशि मार्गस्य नियमात् मत्यासम्बत्भमार्गभ्रमण एव तद्यव्नात् अन्यथा सर्वदा ग्रहणमसंगस्य दुर्निवारत्वात् ।

यदि पूर्वपक्षी बिद्दान यों कहें कि वे चन्द्र आदिक उस भूगोलसे अत्यधिक दूर देशमें हैं। अतः देशका व्यवधान होनेसे कद्मचित् चन्द्रादिक ऊपर भूगोलका उपराग नहीं हो पाता ही है। हां, अतिनिकटबर्ची देशमें सम्बन्ध हो जानेके अवसरपर ही उस उपरागका होना माना गया है। यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि क्या इस समय सूर्य आदिके चारों ओर अमणका मिन्न मिन्न मार्ग स्वीकार किया जाता है! अर्थात — चन्द्रमा या भूमिका मिन्न मिन्न मार्गीपर अमण होना स्वीकार करनेपर ही दूर देशमें पहुंच जाना या निकट देशमें आकर चमकीले पदार्थीपर उपराग हांछ देना बन सकता है। यदि तुम परपक्षी विद्वान यों कहो कि क्या आक्ष्म है। हम अत्यर्थ रूपसे अमणके मार्गका भेद बडी प्रसन्ततासे स्वीकार करते हैं। यों कहनेपर तो हम जैन आक्षेप करेंग कि बताओ अनेक राशिओंमें सूर्य आदिका अमण कैसे होगा! जब कि प्रसेक राशिपर अमणका मार्ग नियत कर दिया गया है। तब तो तुम्हारे विचार अनुसार अतिशय निकटवर्ती मार्गपर अमण करनेपर ही वह प्रहण पडना घटित हो सकता है। अन्य प्रकारोंसे माननेपर सर्वदा ही प्रहण पडते रहनेके प्रसंगका कठिनतासे भी निवारण नहीं किया जा सकता है।

पतिरात्रि प्रतिदिनं च तन्मार्गस्यामितिनियमात् समरात्रदिवसद्विद्धान्यादिनियमामावः कृतो विनिवार्येत ? भूगोळशक्तोरिति चेत् , उक्तमत्र समायामिष भूमौ तत एव समरात्राद्धिः नियमोस्त्विति । ततो न भूछायया चंद्रब्रहणं चंद्रछायया वा सूर्यब्रहणं विचारसद्दं ।

एक बात यह भी तुमसे पूंछना है कि प्रत्येक राशि या प्रत्येक दिन जब उन भूगोछ, चन्द्रमा, आदिक मार्गका कोई प्रतिनियम नहीं हैं, तो ऐसी दशा हो जानेसे समान दिन रातके होने या दिनकी वृद्धि, हानि आदिक होने नियमका अभाव हो जाना मछा किससे निवारित किया जा सकता है! अर्थात् — चाहे कभी दिन, रात, समान हो जायंगे। छह छह महीने पीछे समान दिन रात होनेका नियम नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार चाहे जब दिन रात घट, बढ, जायंगे। कोई नियत व्यवस्था नहीं रह सकेगी। यदि तुम यों कहो कि भूगोछकी शक्तिसे समान दिन रात आदिकी नियत व्यवस्था हो जायगी, अन्यकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो हम पहिछे ही कह चुके हैं कि समतछ भूमिसे भी तिस ही कारणसे यानी भूमिकी शक्ति और सूर्य आदिकी गतिविशेषसे ही समान रात, दिन, आदिका नियम हो जाओ। व्यर्थमें अछीक सिद्धान्तोंके गढनेसे कोई छाम नहीं है। तिस कारण पृथिवीकी छायासे चन्द्रमाका प्रहण मानना और चन्द्रमाकी छायासे सूर्यका प्रहण स्वीकार करना परीका आपसक विचारोंको सहन नहीं कर सकता है। सिद्धान्तिशिकोणिके कर्ता भासकराचार्य या आर्यसह आदि विद्वानोंका मन्तन्य सस्वित नहीं है।

राहु विमानीपरागीन चंद्रादिश्ररपञ्यवदार इति युक्तश्रतक्यामः सक्कनामक्रविक्रकत्यात् ।

करानेवाका है। इस बिबान्तको हम प्रतिपूर्ण देख को है। क्योंकि यह मन्तव्य सम्पूर्ण वायक प्रमा-

णोंसे रहित है। अर्थाह — महण में समय नीचे राहु या अरिष्ठका विमान आ जाने से सर्व और जन्दमाकी कान्ति दव जाती है। त्रिलोकसारमें कहा है। "राहुअरिहिन्नगणध्याह्वार प्रमाण अंग्रुक 
चलका,। गन्दण सासे विमाणा स्रिविमाणा कमे होन्ति "राहु और अरिष्ठ विमानकी, अजाके उप्र
बहे बार अंगुल प्रमाण उपर चलकर कमसे चन्द्र विमान और स्ये विमान अमण करते हैं। हा अल्य स्पूर्णों 
हा पर्म कभी कभी बारह महिनेमें राहुके विमान स्येक ठीक नीचे भी आ जाते हैं। हा अल्य स्पूर्णों 
अगल, बगल, कुछ हुर ही रहते हैं। रेश हाई दीपके बाहर असंख्यात दीप समूद्र सम्बन्धी राहु
विमान तो असंख्यात स्याचन्द्रमाओं के ठीक नीचे न रहकर कुछ इधर उधर विराज रहे है। यहां
भी चन्द्रमाके नीचे राहुविमान केवल पूर्णमाको छोडकर सदा कमती बहती बना रहता है। चन्द्रप्रहणके अवसरपर पूर्णमाको भी नीचे आ जाता है।

न दित्राहुतियानानि सूर्योदिविमानेभ्योत्यानि श्रृप्तेते अञ्चलकार्द्भभ्येत्वनेक्ष्यक्रियाः गांविषक्रंभाग्यम्। तदिनयुणसानिरेक्षपरिधीनि चतुर्विभ्रतियोजनेक्षपष्टिभागपानुक्रयानि सूर्वभ्रां विमानानि, तथा पर्यंचात्रयोजनेक्षपष्टिभागविष्कंभाग्यामानि तत्वियुणसाविकेष्यरिधीन्यसरिधीन्यसरिधेन्यसरिधेन्यसरिधीन्यसरिधीन्यस्ति अन्ति स्वतिकेष्यस्ति विद्यापानि । तथेशस्त्रोजनिक्ष्यंभागपानिकेष्यानिक्ष्यानिक्ष्यानिक्ष्यानिक्षयोजनिक्ययोजनिक्षयोजनिक्ययोजनिक्यय

चाई याँ आहि विमानकों क्याई, चौढाई, इनसे वटी पूरा एक योजन है जिसकी पीरिव तीन सही एक बट छह योजन होजाती है हा, मोटाई राइ विमानकी केवल वहे टाईसी धनुष प्रमाण है। काले राइ विमानों करके सूर्य, चन्द्रमांबाकों किरणीका फैल्मा यानी उनके निमित्तम् अन्य पुत्रल पिण्डाका चमक बाना इन जाता है। यही प्रहण पडनेका रहस्य है। मले ही प्रहण दिन ग्रुमकायोंने प्राध महा है, फिर भी स्तक, पातकका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जो कि पीराणिक कैंगव पण्डितीन मान रेखा है।

ततो न चंद्रविवस्य सूर्वविवस्य वार्श्यशोपरागो इंटविषाणत्वदर्शनं विश्वव्यते । नाम्य-न्यदा तीक्ष्णविषाणत्वदर्शनं व्याह्म्यते सहुविमानस्यातिष्टतस्य अर्थगोत्कक्षकतेः परभविमो-परक्ते समष्टके अर्थगोत्कक्षकतो सूर्यविव चंद्रविम्ये तीक्ष्णाविषाणत्या मतीतिष्टनात् । विश्वा-चंद्रमसी सहूणां च मतिमदाचदुपरागभवसंभवाद्रहयुद्धादिशत् । येवैव हि ज्योतिर्गतिः विश्वा-क्ष्मा ब्रह्मणां च मतिमदाचदुपरागभवसंभवाद्रहयुद्धादिशत् । येवैव हि ज्योतिर्गतिः विश्वा

विविधानस्य रहिषियानस्य रहिष्याननापरागाऽसे भाष्यः, स्फटिकस्यव स्वच्छस्य तैना-विकितिपरानेकव्याते । स्वच्छत्यं पुनः श्वयौदिविधानानां मणिनयत्वात् । तस्तपनीयस्यमभूणि विकितासम्बद्धियानानि स्विक्षियानानि, विभव्यस्यात्वात् पद्मानमस्यस्यात् ।

सूर्य शादि विमानका राहुके विमान करके उपराग यानी धुंधली कान्तिताला या कान्तिराहित होजाना असम्मन करने योग्य नहीं है। क्योंकि स्वच्छ स्फदिकका जैसे छाछ जपापुणसे उपराग होजाता है, उसी प्रकार अंजन समान काळे उस राह्न विमान करके सुर्यादिका उपराम होना सम्भव जाता है। सूर्य आदि विमानोंका स्वच्छपना तो फिर मणिमय होनेके कारण व्यवस्थित है। तपाये गये काछ सुवर्णके समान प्रभाको धारनेवाछे और छोहिताक्ष मणिकी प्रचुरताके धारी अनेक सूर्य विमान 🖹 । और निर्मेख मृणाल (कमक्की ढंडी) समान वर्णवाले और मध्यमें क्रातिपय काले मिणियुक्त चिन्होंको गोदमें भार रहे अनेक चन्द्रविमान हैं। एवं अंजनके समान प्रमाके घारी काळी अरिष्टमणिके प्राचुर्यको लिये हुये असंख्याते राहुविमान हैं । इस प्रकार सर्वेड्रोक्त परम आगमका सद्भाव है । भावार्थ सूर्यका विमान तपाये सुवर्णके समान कुछ रिक्तमा छिये इये चमकदार हैं। इससे बारह हजार उच्चा किरणें नैमितिक बनती रहती हैं। सूर्य, चन्द्रमा, क्रुक, आदि ज्योतिष्क विमान मूलमें उष्ण नहीं हैं । केवल सूर्य, मंगल, अग्निज्वाल, अगस्य बादि विमानोंकी प्रभापें उष्ण हैं । चन्द्रमाकी तो प्रभा भी शीतल है । चन्द्र विमान कुल हरितपनको किये हुने चमकदार हैं । चन्द्रमाकी बारह हजार शीतल किरणे हैं । चन्द्र विमानोंके बीचमें कई काले नीछे मणिमय चिन्ह हैं तथा राहुका बिमान अंजनसमान कुछ कालिमाको लिये हुये हैं। जैनसिद्धान्त यह है कि सूर्य चन्द्र विमानोंके अधोभागमें कुछ अन्तराळ देकर कदाचित् राहुविमान आ जाते हैं। अतः उनकी प्रमा नीचेकी ओर नहीं फैळ पाती हैं। हां, अपने पूर्ण खरूपमें वे सर्वदा अक्षुणा रहते हैं। यथायोग्य नीचेके पुद्रल स्कन्धोंपर चाकचक्य नहीं पढ पाता है, जैसे कि डिक्यिमें धरे ्र 🗷 पे रहकी कान्ति चारों ओर नहीं फैळ पाती है। अथवा राष्ट्रके पूर्णरीत्या या कुछ मार्ग नीचे आ जानेपर परिस्थित अनुसार स्वभावसे ही वैसी अत्यल्प कान्ति हो जाती है। स्वष्छ पदार्थके उन्मुख इहा और इत्यके अन्तरालमें पढ़े हुये काले नीले या घुंधले पदार्थ आ रही नैमित्तिक कान्तिको रोक देते हैं। ये सब बातें प्रत्यक्षसिद्ध हैं। यहां कुत की भी गति नहीं है। प्रत्यक्षप्रमाण और परमागम प्रमाणसे बाधित हो रहे कुसिद्धान्तोंका परीक्षकोंके हृदयमें आदर नहीं है-।

श्विरोमार्च राहुः सर्पाकारो नेति भवादस्य मिध्यात्वात् तेन ग्रहीपरागातुष्यस्यः वराह्-मिहरादिभिरप्यभियानात् ।

राहु नामक एक विमान है जो कि कृष्ण या शुक्कपक्षमें चन्द्रमाके नीचे अमण कर रहा देखिता रहता है। इस विमानके ऊपर अनेक सुन्दर प्रासाद बने हुये हैं। उनमें अपने परिकारसहित एक राहु नामका सुन्दर, दिन्य शरीरचारी, अधिष्ठाता निवास करता है। जो कोई पौराणिक पण्डित ऐसा नाह रहे कि उपरका केवळ सिरका भाग राहु हैं और नीचेका घंड केते हैं। अर्थाद पुराणचर्चा है कि विष्णु जब अमृतको बांट रहे थे उस समय राहु नामका एक राह्मस देवताका वेप धारण कर देवीकी पंकिन था बैठा था, मीहिनी इसकारी विष्णु मग्यान के असके असका परोस

दिया | वह झट पी गया | इस अवसरपर सूर्य और चन्द्रमाने पैश्न्य ( चुगळी ) कर दिया | विष्णुने क्रीधवश हो करके राहुका शिर काट डाळा । किन्तु वह अमृत पी चुका था । अतः मरा नहीं । इसी कारण सूर्य और चन्द्रमाको राहु और केतु प्रस छेते हैं । कोई राहुका आकार सर्प सरीखा मानते हैं । किन्तु यें सम्पूर्ण प्रवाद मिथ्या हैं । ऐसे उन राहु या केतु करके प्रहों द्वारा उपराग होना नहीं बनता है । वराहमिहर, आदि विद्वानोंने भी ऐसा हा कहा है। बृहत्संहितामें छिखा है, " एवमुपरागकारण-मुक्तमिदं दिव्यद्यमिराचार्यें: राहुरकारणमिरमित्रियुक्तः शाखसद्भावः" ।

कथं पुनः सूर्यादिः कदाचिद्राहुविमानस्यावीग्भागेन महतोपरज्यमानः कुंटविषाणः स एवान्यदा तस्यापरभागेनाल्पेनोपरज्यमानस्तीक्ष्णविषाणः स्यादिति चेत्, तदाभियोग्यदेवगति-विश्वेषाचिद्वमानपरिवर्तनोपपत्तः । षोडशभिर्देवसहस्रेरुक्षंते सूर्यविमानानि मत्येकं पूर्वदक्षिणो-चरापरभागात् क्रमेण सिंहकुंजरष्ट्रषभतुरंगरूपाणि विकृत्य चत्वारि देवसहस्राणि वहंतीति बचनात् । तथा चंद्रविमानानि मत्येकं षोडशभिर्देवहस्रेरुक्षंते, तथैव राहुविमानानि मत्येकं चतुर्भिर्देवसहस्रेरुक्षंते इति च श्रुतेः ।

जैनोंके ऊपर कोई आक्षेप करता है कि यदि प्रहोपरागकी व्यवस्था यों है तो फिर बताओ कि सूर्य आदिक कभी कभी राह्नविमानके उरछे बढ़े भाग करके उपरागको प्राप्त हो रहे सन्ते तिस प्रकार मौथरे सींग स्वरित आकारवाले कैसे हो जाते हैं ! और वहीं सूर्य आदिक अन्य समयोंमें उस राहुके परछे छोटे भागकरके उपरागको प्राप्त हो रहे सन्ते मछा पैने सीगसारिखे आकारवाले कैसे दीखने छग जाते हैं ! बताओ, यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि उन अवसरोंपर उन विमानोंके बाह्क आभियोग्य जातिके देवोंकी गति विरोष्ते उन सूर्य आदि विमानोंका परिवर्तन बन जाता है। देखो, सोळह इजार देवों करके सूर्य निमान धारे जाते और चलाये जाते हैं। प्रत्येक सूर्यको एक एक पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम मार्गोंसे क्रम करके सिंह, हाथी, बैल, और घोडेके रूप अनुसार विकिया कर चार चार हजार देव धारे रहते हैं, ऐसा शाखों का वचन है। यानी पूर्वकी और चार हजार देव सिंहका रूप धारण कर सूर्य की चला रहे हैं । नियत गतिसे इधर उधर नहीं होने देते हैं। दक्षिण दिशामें हाथियों का रूप धारे हुये चार हजार आभियोग्य देव सूर्यकी ं नियतगति अनुसार हो रहे हैं। उत्तरमें बैलका रूप धार रहे चार हजार देव सूर्य किमानको नियत ्रम्पनस्या अनुसार छादे हुये हैं। तथा पश्चिम भागसे अश्ववेषधारी चार सहस्र देव सूर्यको डाटे हुये हैं । मनुष्यों हाल चढायी गयी पर्वतीय गाडीको जिस प्रकार चारों ओरसे छग कर मनुष्य हीते हैं, 🦏 उसीं प्रकार सूर्यविमानोंकी स्ववस्था है। तिसी प्रकार चन्द्रविमान भी प्रत्येक सोल्ड हजार देवों करके ढोके जाते हैं। जब है। प्रभार राहुवियान भी एक एक चार हजार देवों करके भारे जाते हैं।

ेइस प्रकार आतीपत्र शाबीसे निर्णाते कियाँ जीता है। जतः ऊँचा निचा, देहा, मैहा, गैमने हो "जीनेसे कुळविषाण या तीक्णनिषीण सारिख हो गया प्रदेषिरागे प्रतीत हो जीता है।

ं तदाभियोग्यदेवीनो सिद्देदिकपविकारिणां कृती गीतिमेदस्तादक् इति बृत्, स्विमावत ''एव ''पूर्वीपाचकपविश्वेपनिमिक्तकादिति ''खूपः । 'सर्वेपमिवमेन्युपगमस्यावस्यमार्वित्वदिन्यपा ''स्वष्टविश्वषट्यवस्यानुपपक्तेः क्तमतिपादकस्यागमस्योसंभवक्षांश्वेकस्य सन्धिवाव ।

यदि यहां कोई यों प्रश्न करें कि उन सूर्य आदि के वाहक 'सिंह आदि ' रूपी की विकियाकी धारनेवाले आमियोग्य देवोंकी तिस प्रकारकी विशेष गति मेला किस कारपसे होजाती है ! याँ पूछनेपर तो इम सगीरव यह उत्तर कहते हैं कि स्वभावते ही उन देवेंकी वैसी वैसी गति : होजाती है। वायु या रक्तकी होरही गतियोंपर कुचोष चछाना व्यर्थ है। दो चार कोटीतक कारण काते हुये भी अन्तमें जाकर स्वभावपर ही टिक्तकर सन्तोष प्राप्त होता है। पूर्व जन्मीमें उपात्त किये गये कमीविदेशोंका निमित्त पाकर उन आर्मियोंग जातीय देवीकी स्वभावसे ही वैसी वैसी नाना प्रकारकी ंगति होजाती हैं, जिससे भिं शुक्कपंक्षकी दितीयाकों कभी ं ऊंचे खिड्ग संगान, केंमी ं तिरैकें खंड्ग समान, कदाचित् मौथरा, पैना, सींगसारिखा चन्द्रमा दीख जाती है । प्रहेणमें भी ऐसी ही देशों प्राप्त हो जाती है । प्रहणके अवसरपर किरणें। या कळाओं के ढक जाने वी अपेक्षा यह सिद्धान्त सर्वीगर्संदर प्रतीत होता है कि वैसी परिस्थिति अनुसार उतनी ही मन्द्रकान्ति स्वभावसे ही उपज जाती है। जैसे कि गाँउ केंच-कार होजानेपर दर्पणमें प्रतिबिंब नहीं पढता है, या प्रयोगके बिना पानी अपस्को नहीं जहाता है। सम्पूर्ण वादी प्रतिवादियों के यहां इस प्रकार स्वभावका स्त्रीकार करना आवश्यक रूपसे हीनेबाल कार्व है। अग्निश्वाळाका स्वभाव उत्परको जाना है, गुरुपदार्थ अवःपतन स्वभाव बाले हैं । हान बाल्नीका स्वमाव है। पुरुष्के स्वभाव रूप आदिक हैं। यो सभी हो कराओं में स्वमाव मानने पढते हैं जिन्यपा अपने अभीष्ठ विशेष तस्त्रोंकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। दूसरी बात यह है कि 'उन बाहका अमी-योग्य देवोंकी गतिविशेषका प्रतिपादन करनेवाला आगम विषमान है। जिसके कि वाधक प्रमाणीका असम्भव होरहा है। क्योतिवशासको विषयमें आगमकी शरण प्रायः सकतो केनी विदेती है। इसको बिना कोई ऐन्द्रियक मसक्ष दर्शनका अभिमान ( शेखी ) क्खाननेका दो दो चार कार केमतिक भी ्रक नक्षत्रकी मुक्तिका भी निर्णय नहीं कर सकते हैं । सम्पूर्ण क्योतियशासका जानना तो वंती ईहुई के हैं। हां, त्रिकोक त्रिकाळक आतके द्वारा कहे गये शाकों द्वारा स्तीककाळमें पूर्ण निर्णय कर किया जाता है।

गोलाकारा अभिः समरात्रादिदर्शनान्यवातुप्पतिरायेतद्वायक्षमार्थवस्यास्यति अवत् न, अवदेतोरमयोजकत्वात्। सपरात्रादिदर्शनं हि पदि तिष्ठद्धूपैर्मीकाकारतायां साज्यापि हिर्दिदा न प्रयोजकः स्यात् आञ्यक्षेणीकाकारतायामपि तत्तुपत्रतः। अय अवस्थितिकाकारतीयां साज्यापी त्रवाय्यम्पत्रिका दिल्लिकार्युगीकाकारतायां विश्वविकात्।

कोई मुभूमणवादी कदाक्ष करते हैं कि भूबि ( पक्ष ) गोळ आकारवाकी है (साव्य ) क्योंकि समानु राष्ट्र दिन् होना, दिनका घटना बदहा, रातका घटना बदहा अवेक देशोंने एक ही समय न्यारी तिरके देवी, आदि कायाओंका महता, प्रदेशराग होना आदिका दर्शन अन्यया मानी गोळ स्मिकी माने विनाल बन नहीं सब्दा है ( हेतू ) यह अनुमान आप जैनोंके , इस उक्त अधामका , बाधक खदा हुआ है । फिर आपने अवसीय आगमको बाधकरहित कैसे कहा ? प्रत्यकार कहते हैं कि सह तो नहीं कहता । क्योंकि इस अनुमानुमें कहा राया हेत् अपयोजक है। अपने साध्यके साथ नियतन्यासिको नहीं भार रहा है । विचारिये कि समग्रत्र आदिका दील जाना यदि ठहर रही भूमिके गोल आकार होनेको साम्य करनेमें हेतु है ! तब तो हेतु साध्यका प्रयोजक नहीं हो सकेगात स्पानकार दोष अवात है । अग्रण कर रही मुम्बि गोल आकार होनेमें भी वह समरात्र आदिका दील जाता, बन सकता है। अतः विपक्षते व्याक्त नहीं होनेके कारण तुम्हारा हेत अनेकान्तिक हेलामास है । अब सदि तुम भूभग्रण-वादी बनकर सूर्यके चारों ओर घूम रही मूमिके गोळ आकार होनेको साध्य करवेमें उस हेतुका प्रयोग करोग्ने तो भी तुम्हारा हेतु अनुकूछतर्कत्राला नहीं है। क्योंकि उहर रही भूमिके गोल आकार होनेपर भी वह समग्रत्र आदिका दीख जाना घटित हो जाता है । फिर भी, व्यभिचार दोष तदबस्य रहा, जैसे कि सीन्दर्यको साधनेमें धनिकपना हेतु व्यभिनारी है। समान दिन रात आदिका दीखना तो भूमिकी चल और अचल दोनों दशाओंमें सब जाते हैं। ऐसे विपश्चवृत्ति हेतुसे भूमि गोल आकारवाली नहीं संघ पाती है।

अय भूसामान्यस्य गेरकाकारतायां साध्यायां दितुस्त्याय्यायकारितर्यक्त्य्यिश्रमण-वादिनामर्थगोलकाकारतायाम्पि भूमेः साध्यायां तदुपपत्तः। समतलायामपि भूमो ज्योतिर्गति-विश्वेषास्त्रमुद्याश्रदिद्यानस्योपपादितस्यासः। नातः साध्यसिद्धिः कालात्ययापदिष्टत्यासः। प्रमाण्यात्रितपक्षनिर्देशानंतरं प्रयुक्तमानस्य देत्रत्विष्रसंगात्। ततो नेदमनुमानं देत्वाभासोत्यं वापकं अकृतसमानस्य वेनासादेवस्थितिर्भ स्यात्।

अब यदि तुम यों कहो कि भूमिक ठहरने या पूमनेका निशेष निचार नहीं कर भूमि सामानके मोक आक्राह्मके सामक नहीं है। क्योंकि सूर्य आदिका तिरका भ्रमण कहनेवाले या प्रियोक्ता स्वादिक उपा तिरका भ्रमण कह रहे पण्डलों के महा भूमिक आधे गोल आकार होनेको भी साम्य करनेपर वह सम रात आदिका हीखना वन जाता है। अर्थाद न्यूस गोल आकार या आधा गोल खाडार रोनों प्रकार अभिकी रचना माननेपर वह हेतू वन जाता है। अरा पित्र भी न्यभिचार दोन तरमा रहा। दसरी बात सह है कि दर्पणके समान ध्रमतल हो रही मुनिये भी ज्योतिक विमानोंकी विशेष चौडी और एक ठाख अस्ती हजार योजन मोटी इस हमारे तुम्हार आश्रय हो रही रत्नप्रभा भूमिको या इस छोटेसे मरतक्षेत्रको सपाट समतल मान िया जाय तो भी प्रत्यक्ष उपर दीख रहे इन क्योतिष्क विमानोंकी गति अनुसार समान दिन रात आदि हो जाते हैं। इन सिहान्तोंको साधनेमें अभी पूर्व प्रन्यद्वारा हम उपपत्ति दे चुके हैं। इस कारण इस समरात्र आदि दीखनात्त्रक्रप हेतुसे भूमिकों गोंड आकार साध्यकी सिद्धि नहीं होसकती है। स्थिभचारके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि तुम्हारा हेतु कालात्ययापिदिए यानी बाधित हेताभास है। स्थिभिचारके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि तुम्हारा जाचुके प्रतिज्ञाकथनके अनन्तर प्रयुक्त होरहा है। यदि प्रमाणवाधित पक्षके होनेपर भी पुनः बलात्कारसे हेतुका प्रयोग कर दिया जायगा तो अतिप्रसंग दोष बन बैठेगा। "अग्निरनुष्णः द्रव्यत्वाद्, प्रेस्य दुःखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वाद् " आदि असत् हेतु भी समीचीन हेतु बन जायेंगे। तिस कारण हेत्वाभाससे उत्पन्न हुआ यह तुम्हारा अनुमान हम जैनोंके प्रकरणप्राप्त आगमका बाधक नहीं है। जिससे कि इस आगमसे ही हमारे इष्ट सिद्धान्तकी सिद्धि नहीं होजाती। अर्थाद् आतोपक्र आगम हारा ज्योतिष्क देवोंकी गति, भूमिका समतल आकार, आदिक सब सध जाते हैं। व्यर्थकी शंकाओंमें कोई लाभ नहीं है। कतिपय यूरोपिय विद्वान भी पृथिवीको अचला सिद्ध करनेके लिये अनेक युक्तियों हारा उन्पुख होरहे हैं। अन्तमें जाकर सबको वही सर्वक्रीक आग्नाय अनुसार सिद्धान्त मानना पढ़ेगा।

## ज्योतिःशास्त्रमतो युक्तं नैतत्स्याद्वादविद्विषां । संवादकमनेकांते सति तस्य प्रतिष्ठिते ॥ १७ ॥

इस कारण स्याद्वादियों के यहां ज्योतिषशास युक्तिपूर्ण सब जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तके साथ विदेष रखनेवाछे पण्डितों के यहां यह अयोतिषशास्त्र समुचित होकर सम्बादक नहीं व्यवस्थित होरहा है। क्योकि अनेकान्तसिद्धान्तके प्रतिष्ठाप्राप्त हो चुकनेपर उस ज्योतिषशास्त्रका सम्वादकपना निणीत होता है। वाध कप्रमाणोंसे रहितपना या सफलप्रवृत्तिका जनकपनारूप संवाद तो पदार्थीमें अनेक धर्म माननेपर ही घटित होता है।

न हि किंचित्सर्वथैकांते ज्योतिःशास्त्रे संवादकं व्यवतिष्ठते मत्यक्षादिवत् नित्याधेकांत-रूपस्य तिद्वषयस्य द्यानिश्चितासंभवद्वाधकत्वाभावात् तस्य दृष्टेष्टाभ्यां वाधनात्। ततः स्याद्वादि-नामेव तद्यक्तं, सत्यनेकांते तत्मितिष्ठानात् तत्र सर्वथा वाधकविरहितनिश्चयात्।

ज्योतिषशासको सर्वथा एकान्तस्वरूप मान लिया जावे तो कुछ भी सूर्यग्रहण आदि परिणाम बाधारहित सिद्ध नहीं होते हैं। जैसे कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें संवादकपना सर्वथा एकान्तपर्ध मानने-पर घठित नहीं होता है। जयवा सर्वथा एकान्त पर्सों ज्योतिषशास्त्र समस्य प्रसुक्तिका जनक नहीं क्न पाता है। जैसे कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिक प्रमाण सर्वथा एकान्त माननेपर संवादक नहीं है। उस तुम्हारे ज्योतिष शासके विषय होरहे नित्यपन, चलपन, आदि एकान्तरूपोंके बाधक प्रमाणोंके सर्ममननेका अच्छा निर्णय नहीं होचुका है। क्योंकि उन एकान्तरूक्क्एपकी प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंसे बाधा होजाती है। तिस कारण स्याद्धादियोंके यहां ही वह व्योतिषशास समुचित माना गया है। कारण कि अनेकान्त होनेपर ही उस व्योतिषशासकी प्रतिष्ठा है। जैनोंके अनेकान्त बासक उस ज्योतिषशासकों सभी प्रकारोंसे बाधक प्रमाणोंक विशेषतया राहितपनका निश्चय होरहा है। यहांतक विद्यान्द स्वामीने गम्भीरयुक्तियों और आम्नायप्राप्त शास्त्रों द्वारा ज्योतिषविषयका निर्णय करा दिया है। मुझ स्तोकबुद्धि माषाकारने स्वकीय स्वल्प क्षयोपशम अनुसार आचार्य महाराबके शब्दोंका तार्ल्य लिखा है। किन्तु मुझसे यथायोग्य विवरण नहीं होसका है। विशेषक निर्हाण केवानुयोग, अतीव गम्भीर महोदिध है। उसमें जितना भी गहरा प्रविष्ट होकर अन्वेषण किया आवेग। उतनी ही अट्ट प्रमेयरलोंकी प्राप्ति होती जावेगी।

इत्यलं प्रतिभाशालिभ्यो महोदयेभ्यो नीरक्षीशक्विचनहंसायमानेभ्यः ॥

अब इस समय श्री उमाखामी महाराज मनुष्य लोकस्य ज्योतिग्रोंकी गतिके सम्बन्ध, सहके जगत्मरमें प्रवर्त रहे ज्यवहार कालकी प्रतिपत्ति कराने के लिये अप्रिमसूत्रको कहते हैं।

# तत्कृतः कालविभागः॥ १४॥

उन गतिमान् भ्योतिषियौ करके किया जानुका समय, आविष्ठ, उच्छ्वास, मुद्धते आदि व्यव-द्वार काळीका विभाग होरहा है।

#### किं कृत इत्याह ।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि उन ज्योतिषी देवोंकरके क्या किया गया है ! ऐसी जिज्ञासा होने-पर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिकको कहते हैं।

> ये ज्योतिष्काः स्मृता देवास्तत्कृतो व्यवहारतः । कृतः कालविभागोयं समयादिनं मुख्यतः ॥ १ ॥ तद्विभागान्तथा मुख्यो नाविभागः प्रसिद्ध्यति । विभागरहिते हे तो विभागो न एके कवित् ॥ २ ॥

त्रिकोक त्रिकाकदर्शी तीर्थकर श्रीकिनेन्द्रनाय मगवान् समवसरणमें विराजकर भव्यवीर्थके सक्तोका क्षेत्रस देते हैं। बादकांस वेता गणवरदेव क्या क्षर्यका स्मरण रख कर सुवसाय दास स्वाही गूंचते हैं। पश्चात्—अनेक आचार्य धाम्नाय द्वारा स्मरण होते चले आ रहे उस प्रमेयको शाकों में लिपिनस करते हैं। अतः सर्वह्रोक्त अर्थका अविच्छित्र सम्प्रदाय द्वारा स्मरण कर परिहात हो रहे शाकोक्त अर्थको स्मृत यानी स्मरण किया जा जुका ऐसे कहनेकी परिपादी चली आ रही है। अजैन निदान भी ईक्यरोक्त या बेदोक्त अर्थको मनुस्मृति, याइक्ल्क्य स्मृति, पाराशर स्मृति आदि प्रन्थोंमें प्रन्थकर्ता ऋषियों द्वारा स्मरण किया जाकर लिपिनह कर दिया गया मानते हैं। गुरुपरि-पादी अनुसार श्री उमास्त्रामी महाराज करके जो क्योतिष्क देव स्मरणपूर्वक कहे जा चुके हैं, उन देवों करक गति द्वारा किया गया यह समय, आविलक्ता, दिन, वर्ष, आदि स्वस्त्र कालविभाग व्यवहारसे नियमित किया गया समझना चाहिये। मुख्यस्त्रपसे यह कालविभाग क्योतिष्कों करके नहीं किया जा सकता है। अर्थात्—मुख्य कालद्रव्य तो नित्य है। किसी द्वारा किया नहीं जा सकता है। इं, व्यवहारकालोंकी नापको ज्योतिष्कों द्वारा सावा जाता है। किसी द्वारा किया नहीं जा सकता है। हो, व्यवहारकालोंकी नापको ज्योतिष्कों द्वारा सावा जाता है। किसी द्वारा किया नहीं जा सकता है। तिस प्रकार व्यवहारकालोंकी अननतानन्त मेद, प्रमेद, स्वस्त्रप विभागोंके समान मुख्यकाल भी द्व्यक्त्रपसे असंख्यात विभागोंको धार रहा है। क्योंकि यदि हेतुको विभाग रहित माना जायगा तो फल्ल यानी कार्यमें कहीं भी विभाग नहीं हो सकता है। विभागवाले कार्यों विभागवाले कार्योंको जन्यन कर सकते हैं।

विभागवान् ग्रुख्यः काको विभागवत्फळनिभित्तत्वात् क्षित्यादिवत् ।

प्रस्थकार अनुमान बनाते हैं कि मुख्यकाछ (पक्ष ) विभागोंको धारता है (साध्य )। विभागवाछ फर्छोका निमित्त कारण होनेस (हेतु ) ग्रुपित्री, जरु, आदिके समान (अन्वयर्ष्टान्त )। अर्थात् नाना जातिवाछी पत्थर, मही, लोहा आदि प्रिविवर्णोंसे जैसे चूना, घडा, सांकल, आदि विभक्त कार्य बनते हैं, अथना मेघजल, क्षारक्ष्यजल, नदीजल, समुद्रजल, भिन्नदेशीय जल, आदिसे किसान या माली जैसे भिन्न भिन्न प्रकारके वनस्पति आदि कार्योकी उत्पत्ति कराते हैं, उसी प्रकार विभागयुक्त कालद्रस्य ही विभागवाले व्यवहारकालोंको फर्लस्वरूप उपजा सकेगा। हां, यह बात दूसरी है कि अनन्तानन्त जीवोंसे अनन्तगुणे पुद्रलद्रस्य हैं और पुद्रलद्रस्योंसे भी अनन्तगुणा व्यवहारकाल है। किन्तु निश्चयकालद्रस्य तो लोकप्रेदराप्रमाण असंख्याते हैं। हैं। फिर भी मुल्में असंख्याते द्रव्यों करके बहिरंग उपाधियों द्वारा कार्योक अनन्तानन्त भेद किये जा सकते हैं। मुल्में विभागरिहत हो रहे कोरे एक द्रव्यसे असंख्याते या अनन्ते भेद नहीं हो सकते हैं। यहां इस समय प्रन्यकारको केवल विभागवान् कारणसे ही विभागवान् कार्योकी किहि कराना अमीष्ठ है। वैशेषिक या नैमायिक कालद्रव्यको एक ही मानते हैं। उनके प्रति इस अनुमानका प्रयोग है। को विद्वान् पश्चपात रहित होकर स्कृतत्त्वोंक जाननेमें अवगाह करेगा, उसके प्रति छन्न उपाय करके वसंख्य मुल्म कारणोंसे अनन्तस्योंने हारा अनन्तानन्त फर्लेकी किहि करित कर्ण जा सकती है। सहस्य प्रमुव

अतीन्द्रिय छोटी छोटी गिडियोंमें या सिद्धान्तसम्बन्धी उत्तत सतखने प्रासादोंके ऊपर भी अनुमान स्वस्त्य गजरधोंपर चढकर चढनेका आग्रह किये जाना केवळ बाळकपन है। ज्यातिप्रहण, ज्यातिस्मरण, हेतुदर्शन, पक्षधमिता हान, आदि सामग्री स्वरूप मोटे शरीरको धारनेवाळा विचारा अनुमान उन सूक्ष्म सिद्धान्तोंमें नहीं प्रवेश कर सकता है। जो कि परम अतीन्द्रिय है, वहां श्रुतज्ञान या सब ज्ञानोंके गुरुमहाराज केवळ्ज्ञानका ही प्रवेशाधिकार है।

समयाविकादिविभागवद्यवहारकाञ्चलक्षणफञ्जनिमित्तत्वस्य ग्रुष्यकाले धर्मिणि भसि-दत्वात् नाप्याश्रयासिद्धः, सकलकाञ्चनादिनां ग्रुष्यकाले विवादाभावात् तदभाववादिनां तु मतिक्षेपात् । गगनादिनानैकांतिकोऽयं हेतुरिति चेत्र, तस्यापि विभागवदवगाहनादिकार्योत्पत्ती विभागवत एव निमित्तत्वोपपत्तेः ।

मन्दगति द्वारा एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर परमाणुके पहुंचनेमें जितना कान नगता है, वह समय कहा जाता है। असंख्यात समयोंका पिण्ड आविष्ठ काल है। संख्यात आविष्योंका एक स्वास होता है। तीन हजार सातसी तिइत्तर श्यासोंका मुहुर्त होता है। तीस मुहुर्तका दिन रात होता है। तीनसी पैंसिट या तीनसी छियासिट दिनोंका एक सौरवर्ष होता है। पूर्व, पल्य, सागर, कल्प कालोंकी भी गणना कर लेना । यहां हेतुकी निर्दोषता दिखलानी है कि समय, आवलि, नाडी, स्वास, आदि विभागत्राले न्यवहारकालस्वरूप अनेक फलाँका निमित्तकारणपना यह हेतु मुख्यकाल इन्य स्वरूप पक्षमें प्रसिद्ध हो रहा है। अतः हम जैनोंका हेत् स्वरूपासिद्ध हेत्वामास नहीं है। हेत्के पक्षमें वर्तजाने मात्रसे स्वरूपासिद्धि दोषका निराकरण हो जाता है। तथा हमारा उक्त हेत् आश्रया-सिद्ध हेत्वामास मी नहीं है। क्योंकि कालको स्वीकार करनेवाले सम्पूर्ण वादी विद्वानोंके यहां मुख्य काइको स्वीकार करनेमें कोई विवाद नहीं उठाया गया है। हां, उस मुख्यकालका अभाव मानने-बाके चार्वीक, खेतान्वर आदि वादी विद्वानीका तो युक्तियों द्वारा तिरस्कार (निराकरण) कर दिया नाता है। प्रत्यक्रतींके सन्मुख इस समय कालको माननेवाले विद्वान् उपस्थित है। जब कालको सर्वधा नहीं माननेवाले वादी कोई आक्षेप करेंगे तब दूसरे अनुमानों द्वारा उसकी समझा दिया जायगा। उताबके नहीं बनो, धीरतापूर्वक प्रन्यकारके अपूर्व प्रमेयोंका गम्मीरबुद्धिसे परिशीचन करो, जो कि सद्योधका निदान है। यहां कोई आक्षेप करता है कि तुम जैनोंका यह विमागवाले फलोंका निमित्त-पना हेत तो आकास, दिशा, बर्भद्रव्य, बादि करके न्यभिचारदोषवान् है। देखो, अखण्ड गर्मन आदिक स्वयं विभागवाले नहीं होते हुये भी विभागवाले अवगाहा, पूर्व-पश्चिमवर्ती, गमनयोग्य इन विसागवाने फलों हे निमित्त कारण हो जाते हैं। एक अखण्ड आकाशमें छोटे छोटे परिमाणवाने अनेक विभक्त पदार्थ ठहर जाते हैं, इत्यादि । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि विमानवाडे ही उन बाकारा, दिशा, धर्मवस्य आदिकोंको मी विमानवाडे गृह आदिके अवसाहन.

गर्मन, बादि कार्योकी उत्पत्तिमें निमित्तपना बन रहा है। आकाश, धर्मद्रव्य, इन सबके प्रदेश माने विषे हैं। अपने न्यारे न्यारे प्रदेशोंपर न्यारे न्यारे अवगाह्योंको आकाश अवगाह दे रहा है। एक अवश्या अनन्त द्रव्य भी उहर सकते हैं। इसके छिये भी अनन्तानन्त स्वमावोंकी शरण छेना अष्टसह-बीमें पुष्ट कर दिया गया है। अतः हमारा हेतु व्यक्तिची नहीं है।

मञ्जू च यद्यवयवभेदो विभागस्तदा नासी गणनादावस्ति तस्यैकद्रव्यत्वोपगमात् । ज्ञांबद्धिद्ववयवारभ्यत्वानुपपचेश्व । अय प्रदेशवस्तोपचारो विभागस्तदा कालेप्यस्ति, सर्वगतै-भारतील्यादिनामाकाशादिवदुपचरितपदेशकालस्य विभागवन्तोपगमात् तथा च तत्साधने सिद्ध-सावनिति कशित् ।

काइको वस्तुतः एक ही माननेवाळा कोई पण्डित (वैशेषिक ) यों पूर्वपक्ष उठाता है कि ्राह्म केनेनि कालको विभागत्राला जो सिद्ध किया है, वहां विभागका अर्थ यदि स्वकीय अवयवींका किंद भिन होना है ! तब तो वह विभाग इन आकाश, ईत्वर, दिशा, आदिमें नहीं है । क्योंकि उस मानुन बादि अखण्डपदार्थोंको एक दृज्यपना स्वीकार किया गया है। तथा पट, गृह, घटीयंत्र आदिक बैसे स्वतीय छोटे छोटे अत्रयत्रोंने द्वारा बनाये गये हैं, उस प्रकार स्वकीय अवयत्रोंसे आर-्रम्बपना साकारा आदिने नहीं बन पाता है। ऐसी दशामें आप स्याहादियोंके हेतुका गगन आदिसे कारिकार बना रहना तदवस्य रहा. यानी विभागवाछे फर्लोका निमित्तकारण गगन है। किन्त स्वयं , अबयवाँके मेदस्वरूप विभागको नहीं धार रहा है। अब यदि आप जैन विभागका अर्थ आकाशमें **्वस्थ्य प्रदेशोंको नहीं** मानते द्वये प्रदेशसदितपनकः उपचार होना मात्र करेंगे, तब व्यभिचारका कारण तो हो जायगा । गगनमें हेनुके रहते हुये उपचरित प्रदेश स्वरूप विभागोंसे सहितपना विष-वान है। किन्तु तब तो काल्में भी प्रदेशसहितपनका उपचारस्वरूप विभाग विद्यमान है। क्योंकि क्षित्र व्यापक एक है। कालद्रव्यको स्वीकार करनेवाले वैशेषि तोंके यहां आकाश आदिके समान उप-हारित प्रदेशवांछे काळदम्यका विमागसहितपना स्वीकृत कर लिया है। और ऐसा होनेपर काळ ्रिक्यों होत उपचरित प्रदेशस्वरूप विभागको साधनमें तुम स्यादादियोंके ऊपर सिद्ध साधन दोष अविष् होता है। एक कालके उपचरित प्रदेश हमारे यहां सिद्ध है। उन्हीं को आप जैन साथ रहे 🖥 । यहांतक कोई वैशेषिक या नैयायिक कह रहा है ।

परमार्थ एव गगनादेः समदेशत्वनिययात् तस्य सर्वदावस्थितप्रदेशत्वात् एकद्रव्यत्वास्य दिविया स्वयवाः सदावस्थितवपुषोऽनवस्थितवपुषश्च । ग्रुणवत्तत्र सदावस्थितद्रव्यप्रदेशाः सदावस्थितद्रव्यप्रदेशाः सदावस्थितद्रव्यप्रदेशाः सदावस्थितद्रव्यप्रदेशास्तु तंत्वा-द्रयोऽनवस्थितद्रव्यप्रदेशास्तु तंत्वा-द्रयोऽनवस्थितास्वेषायवस्थितत्वे पद्यदीनामवस्थितत्वापत्तेः । कादावितकत्वस्थेयश्चयावसारिता-

बयवत्वस्य च विरोषात् । तत्र गगनं धर्माधर्भेकजीनाश्चावस्थितप्रदेशाः सर्वे यतावधारितपदे । शत्वन बस्यमाणत्वात् भदेशपदेशिभावस्य च तेषां तरनादित्वात् ।

अब आचार्य महाराज इसका प्रत्याख्यान करते हैं कि गगन, धर्मद्रव्य आदिके प्रदेशसहित-पनका परमार्थकरपते ही निश्चय हो रहा है। क्योंकि उन गगन आदिके सर्वदा अवस्थित हो रहे अनन्तानन्त प्रदेश या असंख्याते प्रदेश वस्तुतः ।निर्णात है। अर्थात्—त्रिछोकसारकी टीकार्मे अनन्तानन्त नामकी विशेष संख्याके मध्य भेदोंको निकालते हुये श्री माधवचन्द्र त्रैविधने दिरूपर्वाधारामें जीवराशिके ऊपर अनन्त स्थान चढ कर पुद्रळ राशिको अनन्तस्थान चल कर दिरूपर्याधारामें भूत, भविष्यत और पद्रलगारीसे योंकी राशिको उपजाया है। उस काछ समयोंकी राशिसे अनन्त स्थान चछ कर हिरूप-वर्गं धारामें अलोकाकाशकी श्रेणीको उपजाया है। एक प्रदेश लम्बी, एक प्रदेश चौडी और पूरे आकारा प्रमाण ऊंची आकाराकी श्रेणि ही श्रेणि आकारा है। इसका एक बार वर्ग कर देनेपर प्रतरा-काश होजाता है। आकाश श्रेणिक प्रदेशोंका घन कर देनेपर पूरे आकाशके प्रदेश गिन छिये जाते हैं। जोकि मृख्यन्य अनुसार वहां ही दिरूप वन धारामें सर्वाकाशको त्रैविद्य महोदयने गिना दिया है। यों आकाशद्रव्यके मुख्य प्रदेशों भी संख्या सर्वदा नियत होरही अवस्थित है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके भी लोकप्रदेश प्रमाण असंख्याते प्रदेश नियत हैं। दूसरी बात यह है कि गगन, धर्मद्रव्य, **भादिको** एक एक द्रव्यपना निर्णीत है । अतः इनका अश्यत्रोंसे बनाया जाना हमको भी अभीष्ट नहीं है। हां इनके मुख्यप्रदेश स्वरूप अवयव माने जा सकते हैं। चूंकि अवयव दो प्रकारके होते हैं। एक तो सर्वदा स्वकीय शरीरोंको सदा अवस्थित रखनेवाले अत्रयव हैं। और दूसरे स्वकीय शरीरको अवस्थित नहीं रखनेवाले अवयव हैं। उन दो प्रकारके अवयवोंमें द्रव्यके सदा अवस्थित होरहे प्रदेश तो गुणोंके समान सर्वदा अवस्थित ही रहते हैं। अन्यथा यानी प्रदेशोंको अनवस्थित माना जायगा तो द्रव्यके भी अनवस्थितपुनेका प्रसंग होगा । किन्तु द्रव्य तो अनादि अनन्तकालतक अपनी नियत संख्याओं में व्यवस्थित रहती हैं। घटती बढती नहीं हैं। " नासतो विद्यते भावो ना-भावो विचते सतः "। अर्थात् — इञ्यकी ऊर्चीश कल्पना अनुसार जैसे गुण उसमें अनादि अनन्त काछतक जडे हुये हैं, उसी प्रकार तियेग् अंश कल्पना अनुसार इन्योंक प्रदेश भी सदा अवस्थित हैं। हां. अञ्चद्ध द्रव्यस्वरूप पुद्रळ पर्यायोंके प्रदेश अवस्थित नहीं हैं । दूसरे पट, पुस्तक, आदिके समान अवस्थित अग्रुद्ध दक्योंके प्रदेश तो तंतु, पत्र, आदिक अनवस्थित हैं। क्योंकि उन तंतु आदिकोंके यदि अवस्थित माना जायगा तो पट आदि अञ्चाददर्गोको भी अवस्थितपनेका प्रसंग होगा । अर्थात् -तीतओंके यहां वहां सरक जानेपर या न्यून अधिक होजानेपर पट आदिका सरकना या न्यूनता, **अधिकता जो दिखाई देरही है वह अनवस्थित नहीं दीख स**केगी । अतः घट पट, पुस्तक आदिके प्रदेश इसरी जातिके अनवस्थित शरीरवाळे माने गर्ये हैं। कभी कभी उपज रहे या कभी न्यून और कदाचित्

अधिक प्रदेशोंको धार रहे पदार्थीको इतने नियत परिमाण करके निर्णीत किये गये अवयबोसे सहितपनका विरोध है। मावार्य -- जो कदाचित होनेवाला बद्धाद द्रव्य है, वह इतने ही यों नियत किये गये अत्रयवोंको धारनेवाळा नहीं है। और जो सदासे नियतप्रदेशोंको धार रहा द्रव्य है, वह कदा-चित होनेवाला अञ्चादद्वय नहीं है। उन द्रव्योंमें आकाशद्वय तथा धर्म अधर्म और एक जीव-इच्य ये सब नियत अवस्थित प्रदेशोंको धार रहे हैं. जिस कारणसे कि नियत संख्यामें अवधारे गये प्रदेशोंसे सहितपन करके आकाश आदि द्रन्योंको पांचने अध्यायमें स्वयं सूत्रकार द्वारा कह दिया बाबेगा । " आकाशस्यानन्ताः " " असंख्येया प्रदेशा धर्मावैभैकजीवानाम् " इन दो सुत्रों करके आकाशके अनन्तानन्त प्रदेश और धर्म, अधर्म, एक जीत्र इनके असंख्याते प्रदेश नियत हो रहे कह दिये जावेंगे । संसारमें परिश्रमण कर रहा जीव चींटी, हाथी, मत्स्य, नारकी सूक्ष्म निगोदिया, इक्ष आदि अनेक छोटी बड़ी पर्यायोंको धारता है। इन पर्यायोंमें जीवके प्रदेश कमती बढ़ती नहीं हो जाते हैं। किन्त जीवकी रवडके समान संकोच या विस्तार अवस्थामें वे सभी छोकाकाशप्रमाण प्रदेश सदा विद्यमान रहते हैं। जो जीव मोक्षको प्राप्त नहीं करता है, उस जीवको कदाचित भी छोक प्रदेश बराबर अपने प्रदेशोंको फैलाकर लम्बी चीडी पर्यायको धारनेका अवसर नहीं मिलता है। हां, जो मोक्षको जाते हैं, उनमेंसे कतिपय जीवोंको तेरहवें गुणस्थानमें केवळी समुद्धात करते समय केवल एक समय अपने सम्पूर्ण प्रदेशोंके फैलाने का अवसर मिल जाता है। यह भी एक बढ़ा विलक्षण विस्मयकारी प्रसंग है कि अनन्तानन्त जीवोंमेंसे कतिपय अनन्त जीव ही अनादि अनन्त कार्लोंकी अनन्तानन्त संकोच विस्तारवाळी परिणतियोंको सदा धारते इये एक ही बार छोकप्रदेश बराबर व्यक्त स्वकीय पर्यायको धार सके हैं। अस्त । कुछ मी हो, एतावता संकोच, विस्तार, अवस्थामें भी जीवके असंख्यात प्रदेशोंका सदाव मर नहीं जाता है। यदि कोई धनपति कृपणतावश अपने विश्वमान ढाखों रुपयेका व्यय नहीं कर पाता है. इतने ही से उसके छाखों रुपयोंकी संख्या न्यून नहीं हो नाती है। तथा उक्त सूत्र अनुसार उन गगन आदि द्रव्योंका अपने उन अनन्त या असंख्याते प्रदे-शोंक साथ हो रहा प्रदेशप्रदेशीमाव बनादि है। बतः ऐसे नियवप्रदेशस्वरूप बवयव उन आकारा आदि द्रव्योंके विद्यमान हैं । अतः हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है । यह बात दूसरी है कि अखण्ड आकाशका विभागसहितपना इस प्रदेशीकी अपेक्षा मान रहे हैं। और काङका विभाग-महितपना इस जैन इच्योंकी अपेक्षा उक्त अनुमान द्वारा साथ रहे हैं।

क्यमनादीनां गगनादिवत्पदेषानां पदेषापदेशिभावः परधार्यपथपस्यापी ? सादीनामेव वंतुपटादीनां वज्रावदर्शनात् इति चेत्, क्यमिदानीं गगनादिवन्मइस्वादिग्रणानायनादि-निधनानां ग्रणग्रणिभावः पारमार्थिकः सिध्येत् ? तेषां ग्रणग्रणिस्क्षणयोगाच्यामाव इति चेत्, वर्षि गगनादि तस्पदेषानामपि पदेशिपदेषस्क्रणयोगात् पदेषपदेषिभावोस्तु । यथैष हि गुणपर्ययबद्द्रव्यमिति गगनादीनां द्रव्यछन्नणमस्ति तन्महत्वादीनां च " द्रव्याश्रिता निर्गुणा गुणा " इति गुणछन्नणं तथावयवानामेकत्वपरिणामः मदेश्विद्रव्यमिति मदेशिछन्नणं गगनादीनामवयुतोऽवयवः मदेश्वछन्नणं तदेकदेशानामस्तीति युक्तस्तेषां मदेश्वमदेशियावः ।

यहां किसीका आक्षेप प्रवर्तता है कि शाकाश आदि इच्य और उनके नियत अनन्ते या असंख्याते प्रदेश जब अनादिकाउके हैं तो ऐसी दशामें उनका " प्रदेशपदेशीमान " होना मका नास्तविक मार्गमें प्रस्थान करनेवाका कैसे समझा जायगा ? बताओ । देखो, सादि हो रहे ही तंतु पट, कपाळ घट, पत्र, पुस्तक आदिकोंका वह प्रदेशप्रदेशीमान या अवयवअनयवीमान देखा जाता है, जैसे थैळी और रुपयोंका आधार आधेयमान है या पुत्र और पिताका जन्य जनकमान है। या कटाक्ष करनेपर तो प्रन्यकार उस कटाक्षकर्ता बैशेषिकको पूंछते है कि माई इस अवसरपर तुम्हारे यहां भी अनादिनिधन हो रहे आकाश, दिशा, जल, परमाणु, मन आदिक द्रव्य और उनके परम महापरिमाण, एकत्व संख्या, नित्यसंयोग, शुक्छरूप, अणुपरिमाण आदि गुणोंका मछा गुणगुणीमाव विचारा पारमार्थिक कैसे सिद्ध हो सकेगा ! बताओ, प्रथम गुणी उपजे, पश्चात बदि उसमें गुण आकार समवायसम्बन्धसे प्रविष्ट हो जाय, तब तो घट घटरूप, आम्न, आम्नरस, आदि सादि पदार्थीका गुणगुणीभाव शोभता है। अनादि अनन्तद्रव्य या अनादि अनिधन गुणोंमें गुणगुणीभाव अच्छा नहीं लगता है, यों यह चोच तुम्हारे ऊपर भी उठाया जा सकता है। यदि तुम वैशेषिक यों कही कि अनादिनिधन हो रहे हन्यगुणोंका भी गुण और गुणीके उक्षणका योग हो जानेसे तिस प्रकार " गुणगुणीमाव" ( सम्बन्ध ) हो जायगा । यों कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो अनाहि **भा**निधन गगन आदि और उनके प्रदेशोंके भी प्रदेशी और प्रदेशके छक्षणका योग हो जानेसे " प्रदेशप्रदेशीमान " हो जाओ । अखिडत अनेक देशवाळे गगन आदिमें प्रदेशीका रूक्षण घटित हो जाता है, और तिर्यगुअंश-कल्पनस्वरूप प्रदेशोंमें उनके प्रदेश हो जानेका उक्षण चटित हो रहा है। देखो, जिस ही प्रकार " गुण और पर्यायोंको धारनेवाले द्रव्य होते हैं " यह श्री उमास्वामी आचार्य करके कहा गया द्रव्यका रुक्षण गगन, धर्म द्रव्यं आदिके विद्यमान है। और '' इच्यके आश्रित हो रहे सन्ते स्वयं जो निर्गुण पदार्थ हैं। वे गुण होते हैं, '' इस प्रकार गुणका छक्षण उन गगन आदिमें सम्बन्धी हो रहे परम महत्त्व, रूप, आदि गुणोंके घटित हो रहा है, उसी प्रकार " अनेक अवयवोंका पिण्डस्वरूप एकल परिणामसे आकान्त हो रहा प्रदेशी इन्य है '' इस प्रकार प्रदेशीका लक्षण आकाश आदिमें विचमान है और '' अखण्ड दन्यमें अब यानी पश्चाद तिर्यग्अंश कल्पना द्वारा अमेदकरपे युत यानी मिश्रण होचुके अवयव पदार्थ तो प्रदेश हैं " यह प्रदेशोंका छक्षण उन आकाश आदिके एक देख होरहे प्रदेशोंको विषयान है। इस कारण बनादि अनन्त भी जाकाश आदि और समके प्रदेशोंका में प्रदेशप्रदेशीयाय '' वन बाना प्रसिद्ध है ।

कालस्तु नैकद्रव्यं तस्यासंख्ययग्रुणद्रव्यपरिणामत्वात् । एकैकस्मिल्लोकाकाश्रमदेशे कालाणोरेकैकस्य द्रव्यस्यानतपर्यायस्यानभ्युपगमे तद्देशवर्तिद्रव्यस्यानंतस्य परमाण्वादेरनंतपरिणा-मानुपपर्चरिति द्रव्यतो भावतो वा विभागत्वे साध्ये कालस्य न सिद्धसाधनं । नापि गगनादि-नानकातिको हेतुः ।

किन्तु कालपदार्थ तो एक पदार्थ नहीं है। क्योंकि वह काल अनन्त गुण और अनन्त पर्या-योंके साथ तदात्मक होरहा संता असंख्यात द्रव्यस्वरूप है। अर्थात्—एक एक जीव द्रव्यके समान एक एक कालाणुमें वर्तनाहेतुत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनेक नित्यशक्ति स्वरूप गुण विद्यमान है। और उन गुणोंकी प्रातिक्षण होनेवाली पर्याये अथवा पर्यायोंमें पाये जारहे अनन्तानन्त या असंख्यात अविभागप्रतिन्हेदस्तरूप परिणाम निषमान हैं। वे कालापुर्वे द्रन्यरूपसे असंख्यात माने गये हैं। जगच्छेणींके घन प्रमाण लोकाकाराके एक एक प्रदेशपर एक एक द्रव्य होकर कालाणुर्ये अवस्थित हैं। यों कालागु इन्य असंख्याते हैं। एक एक कालागु इन्यकी अनुजीवी २ अतिजीवी 🧸 पर्याप शक्ति ४ सप्तमंगी शिषय इन चार प्रकारके गुणोंकी जातियों अनुसार अनन्तानन्त सङ्मावी पर्यायें हैं। तथा छोकाकाशके एक एक प्रदेशपर उस कालाग्रको निनित्त पाकर अनन्तानन्त कार्य हो रहे हैं। उन कार्यों के अनुरूप अनन्तस्वभावरूप पर्यार्थे कालायुमें एक समयमें विद्यमान हैं। एक समयमें एक गुणकी उत्पाद, व्यय, धौव्यशालिनी परिणति अवस्य होती है। यो अनन्तानन्त गुणोंकी अनन्ता नन्त परिणतियां काळाणुमें एक समय पायी जाती हैं। यदि छोकाकाशके एक प्रदेशपर अनन्तानन्त पर्यार्थों ( स्वभानों ) वाले एक एक कालाण द्रव्यको स्वीकार नहीं किया जायगा तो उस आकाश देशमें वर्त रहे अनन्त परमाण या अनंत जीवद्रव्य अथवा अन्य भी धर्म आदि द्रव्योंके हो रहे अनन्त परिणामोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। क्योंकि सभी द्रव्य परिणामी माने गये हैं। कोई द्रव्य कुटस्थ नहीं है । मावार्थ-सम्पूर्ण द्रव्योंका और स्वयंका वर्तयिता काल द्रव्य है । न्यारे न्यारे काल द्रव्य तो छोकाकाशके एक एक प्रदेशपर विद्यमान हो रहे अनन्तद्रव्योंके भिन्न भिन्न परिणामोंके वर्त-यिता हो सकते हैं। आकाराके धमान यदि अकेळा काळद्रव्य मान लिया जायगा तो सर्व द्रव्योंका एक ही जातिका कार्य तो हो जायगा, जैसे कि अकेड आकाश द्रव्यसे मंगी, ब्राह्मण, नारकी, मुक्त, दिदि, राजा, रोगी, निरोग, पापी, पुण्यात्मा, जड, चेतन, धर्म, अधर्म, सब ऊंच नीचकी कौरा अवकाश मिळ जाता है। किन्तु अनेक काळ द्रव्योंसे जो असंख्य कार्य एक समयमें हीरहे प्रतीत होते हैं वे काल द्रव्यसे नहीं हो सकते हैं । देखिये, एक ही स्थलपर कोई जीव बुड्डा होरहा है, वहीं कोई युवा होरहा है. बालक भी वहीं खेल रहा है. जहां ही किसीके चौरांके परिणाम होरहे हैं वहां ही किसीका धर्मध्यान या शास्त्र चर्चामें मन छग रहा है। इन सब कियाओंको करानेमें कालदस्य निमित्त-कारण होरहा है। जिस्री कालद्रव्यको निमित्त पाकर नित्य निगोदिया जीवकी व्यवहार राशिमें आने योध्य परिणति होजाती है वही केंड हुये पंचेन्त्रिय जीवके इतरगति निमोहमें प्राप्त होजानेके समर्थ कारण

डएमं बैडते हैं । ब्रीटासा काल परमाणु एक कुट्रम्वाधिपतिके समान वर्ष रहा उन मिम मिन प्रकृति-बाक्रै अनेक प्राणियों या जडपदार्थोंको अनुकृत क्तिनमें उपयोगी होता रहता है। सूक्ष्म दहिसे विचारा जाय तो आकाशके एक एक प्रदेशपर अनेक द्रम्योंके सदशं, विख्यान, विरुद्ध, महाविक्द अपरिवित परिणास कार्य होरहे हैं । बसं, अनुन्त स्थानविवाक एक कार्क परमाण ही उने सिंपूर्व कार्याको समाठ छेता है। इसी प्रकार अकाराके दूसरे प्रदेशकर अनेक प्रव्यक्ति होग्हें पूर्वपक्तिया, पाय-क्रिया. सम्यादर्शन, विध्यादर्शन, व्यक्तियार, अक्षाचर्य, नरकागमन, स्वसंगमन, निगोदप्राप्ति, मौक्रामिरे, वर्षेद्वानि, वर्षकाम, शृंगारस, वैराम्यरस, वीरता, कायरल, स्मरण विस्मरण, जीवन पृत्यु, तर्राव्यव अतिवृद्धपन, रोग स्वस्थता, न्याय अन्याय, दर्या हिंसा, पतने उत्थान, मान अवमान, स्वीव्यय कुरूपता, अपना नेघरर्षण वात्या. लगन्य दुरीयं, जळन्रपेण बातप, सुरवादु हुःस्वादुः, वजेका संदर्भ पद्मानः, पुष्पप्राप्ति फलप्राप्ति. औषधिकरपादन विषक्तपादन, द्वीरा क्यजना कोयला उपजना, एक ही बुक्षमें क्षेत्रजनक क्षेत्रनाशक शक्तिये बनना, सीपमें हुड़ी या मौती बनना, स्यान प्रस्थान, बातुबारण धातपात. जीर्णता नवीनता, मृतिका उत्पत्ति सुवर्ण उत्पत्ति, विधुस्ता विवाहिता, पागळपर्न चातुर्व, आदि परिणामीको दसरा कालाण अपने अनेक स्वमावी द्वारा समार्थ छेता है । जैसे कि एक प्रधाना-ष्यापक अपने अवीम होरहे अनेक अध्यापक अथवा छात्रमण एवं अन्य कर्मकारियोंको असर्ग बहिर्ग कारणों द्वारा कर रहे नियत कार्योकी ओर वर्ता देता है। इस कारण इन्य स्वयंसे अध्यक्त भाग इरपेर कालका विभाग सहितपुरत सान्य करनेपर इम जैमोंके ऊपर औई सिड-साधन दोष नहीं है। स्पॅकि तुम न तो काछको अन्यकासे अनेक मानते हो और गुण, परिणाम, स्वभाव इन भावोंकी अपेक्षा भी कालको अनेक नहीं मानते हो । अतः अलंद्य काल द्रव्य और उन एक एकके अनन्त स्वभावोंको उक्त अनुमान द्वारा जो हम साध रहे है. वहां वादी वैनकी अधेका सिद्ध होते हुए भी प्रतिवादी नैयायिक, मीमांसक, वैशेषिक आदिकी अपेक्षा असिद्ध हो यह पदार्थकी ही सान्य बनाया जा रहा है तथा हमारा हेत्र शाकाश आदि फरके व्यक्तिपारी मी नहीं है । बनोंकि दब्य बपेक्स तो नहीं, किन्त प्रदेश या पर्यायोकी अपेक्षा हम जैन आकाशको भी विभागकाम स्वीकार करते हैं । बतः इसाय हेत निर्दोप है।

किलादिनदर्शनं साज्यसाधनविकछमित्वपि न मंतव्यं तत्कपित्याकुरादिविभागवतः मतीतः, किलादेश द्रव्यता भावतश्र विभागविकतिहिति स्कं " विभागरित देती विश्वका न पर्क कथित् " इति ।

पिर भी वैदेशिक यदि यो भाग बैठें कि श्विति, जल बादि दशान्त तो साम्यदल या साधन इंडर विकल हैं प्रत्येकार केहते हैं कि यह भी पान पहीं पान बैठना बाहिये। क्योंकि उन विक्रिक साम दो रहे केंद्री, पानान, जीवन, बिक्र, बाहिक कराय तो विभागवाँ प्राप्तत

हो रहे हैं। अर्थात्—एक खेतमें उसी महीसे गेंह, जी, चना, मटर सरसों आदिके अनेक अंदुर उपज रहे हैं. चाहे कैसा भी ऊंचा, नीचा, टेडा, मुख करके बीजको डाछ दो, मद्दी इसका अंकुर ठीक अपरकी ओर निकार देती है। वहीं मही तत्काल जल, वाय, आतप, की आदि या अपक परिवातियोंका आकर्षण कर लेती हैं। खात पदार्थोंका अंकर पुष्प, फल, घास आदि रूप परिणाम करा देती है, जैसे कि सुयोग्य कुटुम्बिनी पत्नी अपने कुटुम्बसम्बन्धी जेठ, पति, देवर, छडके, बचे बहु बेटियों, बहु सास समुर आदिके लिये यथोचित भोग्य उपभोग्य पदार्थीका विभाग कर देती 🕻 🛭 प्रथित्रीसे अनेक कार्य हो रहे प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। जलसे भी अनेक कार्य हो रहे हैं, एक मैघजन ही अनेक वनस्पतिओंमें मिन मिन परिणातियें कर रहा है। सांपके मुखर्ने, सीपमें, उच्च तेलमें, तस लोहेपर अनेक विभक्त कार्योंको कर रहा है। सरोवरका जल दंबीको उत्पर उछाल रहा है और कंकडको नीचे गिरा रहा है। ऊपरसे तंबीको नीचे नहीं गिरने देता है और कंकडको ऊपर नहीं उक्कने देता है। अप्रिया वायुके भी विभिन्न जातीय कई विभक्त कार्य युगपत् हो रहे दीखते है। कृत्रिम बिजिली द्वारा अंजन, पंखा, चिन्कयां च अयी जाती हैं। अने र दीपक ज्योतियां चमक रहीं हैं। बिजिली द्वारा रोगीकी चिकित्सार्ये भी होती हैं। तारों द्वारा या विना तारके शद्ध फेंके जाते हैं। दर प्रदेशोंसे गायन यहां सुना जाता है । तस्थिरें ली जाती हैं । और अङ्क्रिम बिज़्लीसे अनेक उत्पात हो जाते हैं। वायु द्वारा जगतकी बड़ी भारी प्रक्रिया सच रही है। असंख्य मनों भारी पदार्थ वायु-पर इट रहा है। जीवनके आधार भाक्षोच्छ्रास बायुस्वरूप है। समुद्रकम्पन, बातन्यावि, आंबी, आदि सब विभिन्न वायुओंके फळ हैं। प्राधिनी आदिक पुद्रल दल्योंकी अर्जित्य शक्तियां हैं । अनेतन पदार्थोमं भी अनन्त वर्ड है । " जीवाजीवगदमिति चरिमे " यों गोमरंतारमें भी कहा है। विभिन्न जातिके भेद प्रभेदों हो धारने शक्ते प्रथिती. जल. आदि प्रसिद्ध ही है। अतः क्षिति आदिक दृष्टान्तोंमें विभागत्राले फलें का निनित्तपना यह हेतु और विभागसहित-पना इतना साध्य सुरुभ्य होकार ठहर रहा है। कारण कि द्रव्याख्यमे और परिणामों स्वाख्यमे क्षिति आदिकोंको पूळमें ही निमागसहितपना सिद्ध है। इस कारण श्री विद्यानन्द आवार्यने उक्त वार्सिकमें यह बहुत अच्छा कहा था कि विभागरिहत हेत्र होनेपर नार्यने कहीं भी विभाग नहीं हो सकतः है। स्फ्राटिकमणि जब मुल्में रूपवान है तो जपाकुतुम आदिके योगसे खाल, पीला, आदि हो सकता। हैं। मूळ्में रूपरहित होरहे आकाशको कोई छाछ, पीछा नहीं तर सकता है। अतः पहांतक आकाश को केवल मार्वोकी अपेशा विभागसिहतपन और कालको द्रव्य और भाव दोनोंकी अपेक्षा किसाग-सहितपन साधनेका प्रकरण समाप्त हो चुका है।

मनुष्य ठोकसे बाहर ज्योतिष्क विमान हैं भी ? या नहीं हैं ! यदि हैं तो किस प्रकार वर्त रहे हैं ! क्षिप्योंको इस विषयको मनिपति करानेके छिये श्री जमस्वामी महाराज आगेके सूत्रको काहते हैं।

# बहिरवस्थिताः ॥ १५॥

मनुष्य कोकसे बाहर वे क्योतिष्क विमान या उनमें निवास करनेवाळे क्योतिषी देव जहांके तहां निश्चल हैं। अर्थात्—मनुष्य लोकसे बाहर भी क्योतिष्कदेव असंख्यातासंख्यात विद्यमान हैं। किन्तु वे विमान गतिशील नहीं हैं। जहांके तहां अवस्थित हैं।

#### किमनेन सूत्रेण कृतिमत्याइ।

इस सूत्रकरके सूत्रकार महाराजने क्या स्वपक्षमंडन और परपक्षाखण्डन किया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्दस्वामी समाधान कहते हैं।

## बहिर्मनुष्यलोकांतेऽवस्थिता इति सूत्रतः । तत्राऽसत्ताव्यवच्छेदः प्रादक्षिण्यगतिक्षतिः ॥ १ ॥

मनुष्य छोकके अन्तमें बाहर ज्योतिष्क विमान अवस्थित हैं, इस प्रकार सूत्र कर देनेसे वहां मनुष्य छोकसे बाहर ज्योतिषियों की असत्ताका ज्यवच्छेद कर दिया जाता है और प्रदक्षिणारू पर्से होनेवाछी गतिकी क्षिति कर दी जाती है। अर्थात्—यदि यह "बहिरवस्थिताः" सूत्र नहीं बनायां नाता तो पूर्वसूत्र अनुसार मनुष्य छोकमें ही क्योतिष्कोंका अस्तित्व सिद्ध होता। मनुष्य छोकमें बाहर उनका असत्त होजाता। तथा "बहिस्सन्ति" या "बहिरिप " ऐसा सूत्र बनाया जाता तो मनुष्य छोकसे बाहर ज्योतिष्कोंका अस्तित्व तो सिद्ध होजाता, किन्तु उनकी पूर्व सूत्रानुसार मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये नित्यगति भी सिद्ध होजाती, जोिक इष्ट नहीं है। हां, इस सूत्रमें अवस्थिता कह देनेसे उनकी प्रदक्षिणापूर्वक गति या और भी दूसरे प्रकारकी गतियोंका ज्यवच्छेद कर दिया गया है।

#### कृतेति शेषः।

इस बार्सिकमें कोई तिकत या कृदन्तकी किया नहीं पढ़ी हुयी है। अतः "कृता " इस रोष रही कियाको जोड केना चाहिये। स्पत्रकेटके साथ पुद्धिग "कृत " राद्धको जोड देना और कीकिंग क्षतिः शहके साथ वाक्यमें रोष रह गयी "कृता " इस कृदन्त सम्बन्धी कियाको जोड़ केना। क्योंकि कोई भी वाक्य घालर्थस्वरूप कियासे रीता नहीं हुआ करता है।

## एवं सूत्रचतुष्टयाज्ज्योतिषामरचितनं । निवासादिविशेषेण युक्तं वाधविवर्जनात् ॥ २ ॥

्राप्ता इस प्रकार बाधक प्रमाणोंसे विवर्जित हो रहे चारों सूत्रीके प्रमेयसे भी उमासामी महाराजने विकासमान, प्रकार, ताल, अधना स्थाति आदिः विकोषी करके क्योलिफां देशोंका समुविक विराजन कर दिया है। अथवा इस वार्षिक को अनुमान यानमा अना किया जाय कि उक्त चार सूत्रों द्वारा निवास आदिकी विशेषता करके ज्योतिष्क देवोंका चितवन करना (पक्ष ) युक्ति पूर्ण है (साध्य)। कार्थक प्रमाणोंका विशेषतया वर्जन होनेसे (हेतु ) यो बाधकोंका असम्भव होनेसे उक्त सूत्रोंक अती-निवय प्रमोधकी अप्रतिहत्तिकि ही जाती है।

त्री उमास्वामी महाराज देवोंकी आदिम तीन निकायोंका वर्णन कर चुके हैं। अब चौथी निकायवाळे देवोंकी सामान्यसंत्रांका प्ररूपण करनेके छिये अधिकार सूत्रंको कहते हैं।

# वैमानिकाः ॥ १६॥

इससे आगे जिन पुण्यवान् जीबोंका वर्णन किया जायगा, वे " वैमानिकनिकायवाके देव हैं।" यह अधिकार सूत्र है।

स्वान्यकृतिनो विशेषेण मानयतीति विमानानि तेषु भवा वैमानिकाः । परेपि वैमानिकाः एति वचनात् । तेन श्रेणीं इक्युष्णम्क्रीणकमेदात् त्रिविषेषु विमानेषु भवा देवा वैमानिकनामकर्मीद्यदेगानिका इत्यपि-कृत्य वेदित्याः ।

विमान शह्नकी निरुक्ति इस प्रकार है कि स्वसम्बन्धी यानी अपनेमें बैठे हुये पुण्यशाली जीवोंका " वि " वानी विशेषक्पकरके " मान्यंति " यानी मान कराते हैं, इस कारण वे विमान कहे जाते हैं। उस विमानोंमें उपज रहे देव जीव वैमानिक हैं। विमान शह्नसे मत्र अर्थमें ठण प्रत्यय कर छेना चाहिये। यदि यहां कोई पण्डित यों अतिप्रसंग उठावे कि विमानोंमें तो मत्रनवासी आदि देव भी विचरते हैं। ज्योतिक देव हो सदा विमानोंमें ही बस रहे हैं तथा विमानोंमें विचाधर मनुष्य या आजकाछके उडाके मनुष्य भी विचयान हैं। यों इस निरुक्ति हारा तो ये दूसरे देव या मनुष्य भी वैमानिक हो जायेंगे। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि गतिनामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रहे वैमानिक सकल शायकर्मका उदय होते सन्ते जो जीव विमानोंमें वर्तमान हैं वे वैमानिक हैं। ऐसा विशेषणाकान्त वचन कर देनसे अतिक्यासिका वारण कर दिया जाता है। सिहान्त या न्यायविषयोंमें केवळ शब्दक्री निरुक्ति ही निर्दोष छक्षण नहीं वन जाता है। तिस कारण श्रेणी, क्ष्यक, पुष्पप्रकीर्णक, इन मेदौंसे तीन प्रकारके विमानोंमें विषमान हो रहे बौरानिक देव अधिकार प्राप्त हो चुके समझ छैने चाहिये। अर्थात् प्रकारके विमानोंमें विषमान हो रहे बौरानिक देव अधिकार आत हो। चुके समझ छैने चाहिये। अर्थात् प्रकार हो। उत्तर समझ छैन चाहिये। अर्थात् प्रकारके समझ समझ छैन चाहिये। अर्थात् प्रकार हो। उत्तर समझ छैन चाहिये। अर्थात् प्रकारके होणे अस्तर समझ कैन विषक्ति क्रिक हो। हो क्रिक समझ हो समझ छैन चाहिये। अर्थात् हो हो क्रिक समझ समझ समझ हो समझ हो विमान श्रेषीविमान हैं।

बीर इसारे हुए इस बेसे अन्यत्तियत यहां वहां देते मेदे स्थानोंगा गिर जाते हैं, उसी प्रकार बीपिलांको बीचार अस्तान्यस्त पैक रहे विमान, प्रचापकीर्णक हैं। ये तीनों प्रकारके विमान अनादि कार्को अनन्तकाकृतक उसी स्थानयर जमे हुए हैं। उडाके विमानोंके समान यहां वहां नहीं उडते किरते हैं। भन्ने ही कृत्रिय छोटे छोटे विमानोंकों बैठकर देव यहां वहां, नंदीयर द्वीप, समुद्र, पर्वत, आदिमें भमण करें, मूमियोंमें प्रतिष्ठित नहीं होनेसे इन अकृत्रिम विमानोंको भवन, आवास या नगर कहीं कहा जासकता है। कुछ विमान तो जलके उपर या भापके उपर प्रतिष्ठित हैं और कतिष्य विमान वायुपर प्रतिष्ठित हैं। किन्तु देव बहुमाग विमान आकारामें ही विना सहारेके अवलम्बत होरहे हैं। परामयकी अपेका स्वाव्यपक्ष ही अन्तमें निश्चयसे आदरणीय है। अब श्री उमास्वामी महाराज उन वैमानिक देवोंके मूल दो भेदोंका निरूपण करनेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

# कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७॥

कल्पोंमें उपपाद जन्म द्वारा उत्पन्न हुये देन और कल्पोंका अतिक्रमण कर उत्पर उपज रहे देन यों कल्पोपपन और कल्पातीत ये दो वैमानिक देनोंके भेद हैं |

सीधर्मादयोऽच्युतांताः करपोषपद्याः इंद्रादिदश्वतयकल्पनासन्द्रावात् करपोपपद्मनामकर्मो-दयवश्रवर्तित्वाच न भवनवास्पादयस्तेषां तद्वभावात् । नवग्रेवेयका नवानुदिशाः पंचानुत्तराध्य करपातीताः करपातीतनामकर्मोदये सति कल्पातीतत्वात् तेषामिद्रादिदश्वतयकल्पनाविरहात् सर्वे-पामद्रमिद्रत्वात् ।

प्रथमस्वर्गवासी सौधर्मको आदि केन्स् सोठहर्ने अन्युत स्वर्गपर्यन्त ठहरनेवाछे देव कल्पोपपन्न हैं। न्योंकि उनमें इन्द्र, सामानिक, आदि दश अवयववाछी कल्पनाका सद्भाव हो रहा है। दूसरी बात पह है कि गतिनामकर्मके व्याप्य तद्माप्य हो रहे कल्पोपपन्न संज्ञक नामकर्मके उदयक्षी अधीनतामें वर्तना होनेके कारण सोछह स्वर्गके देव कल्पोपपन्न हैं। हां, मवनवासी आदिक तीन निकार्योक देव तो कल्पोपपन्न नहीं हैं। क्योंकि उनके मछे ही इन्द्र, सामानिक, आदि दश या आठ विकल्प पाये जाते हैं। फिर भी उस कल्पोपपन्नसंज्ञक नामकर्मके उदयका अभाव है। कल्पोपपन्तवक्षी सिद्धि कर्मके छिपे इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाका सद्भाव होते हुये कल्पोपपन्न संज्ञक नामकर्मके उद्यक्षी वशवर्तिता इतना छन्वा ज्ञापकहेत् या कारक हेत् उपयोगी है। अर्थात् कमी कभी द्वय, क्षेत्र, साक, ज्ञाक, ज्ञाक, कही मिळनेपर रसोदय नहीं हो पाता है। देवपर्यायमें अपनी स्थितिक परिपूर्ण हो व्याक्त वदय प्रक्ष हो गई मतुष्यगिति विना फल दिये ही किर जाती है। इसी प्रकार कदावित् देवगति कर्मकी मनुष्य अवस्थाने स्थिति पूरी हो जानेपर फल दिये विना ही कोषा प्रदेश उदय हो देवगति कर्मकी मनुष्य अवस्थाने स्थिति पूरी हो जानेपर फल दिये विना है। कोषा प्रदेश उदय हो

बाता है। ऐसी दशामें जीव कर्मोदयके पराचीन नहीं हो सका। अतः प्रत्यकारने हेतुके विशेष्य दल कर्मोदय द्वारा हुई पराचीनतापर अधिक बल ढाला है। कल्पातीत देवों में हेतुका विशेषण दल और विशेषणदल दोनों भी नहीं घटते हैं। अधोपैवेयक तीन, मध्यमैवेयक तीन और उपरिमप्रवेयक तीन यों ऊपर ऊपर वर्त रहे नो प्रैवेयक सम्बन्धी देव तथा चार दिशाओं चार विदिशाओं और एक मध्यमें ठहर रहे, यों नो अनुदिश विमान सम्बन्धी देव एवं विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित, सर्वाध-सिद्धि यों पांच अनुत्तर विमानवासी देव तो कल्पातीत हैं। क्योंकि गति कर्मके भेद, प्रभेद, हो रहे कल्पातीत नामक नाम कर्मका उदय होते सन्ते आत्म विपाकी कही गयी गति प्रकृतिकी अधीनता करा ये कल्पातीत देव हैं। मछे ही इनमें अधः आदिपनेकी या नो, नो, पांच संख्यासिहतपनेकी कल्पना है, तो भी प्रकरणमें इष्ट की गयी इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाका विरह होनेस वे सब कल्पातीत हैं। क्योंकि भवनवासीपन, इन्द्रसामानिकपन आदि झगडोंसे रहित होते हुये वे कल्पातीत देव सबके सब अहमिन्द्र हैं। अहमेव इन्द्रः, अहमेव इन्द्रः, में ही इन्द्र हूं, में ही इन्द्र हूं, मेरे ऊपर कोई प्रभु नहीं है, यों उनकी आत्मामें सर्वदा प्रतिभास होता रहता है। अहमिन्द्रपनका विघातक वहां कोई प्रसंग भी नहीं है।

## वैमानिका विमानेषु निवासादुपवर्णिताः । द्विधा कल्पोपपनाश्च कल्पातीताश्च ते मताः ॥ १ ॥

पूर्ववर्ती अधिकार सूत्रको मिलाकर इस सूत्रका अर्थ यो होजाता है कि उन विमानोंमें निवास करनेसे वे देव वैमानिक कहे जाते हैं। तथा वे देव कल्पोपन और कल्पातीत यो दो प्रकार माने गये हैं। यह अर्थ सूत्रकारको अभीष्ट है। यद्यपि दश प्रकारकी कल्पना मवनवासी देवोंमें है और कल्पनासी अतीत मनुष्य तिर्यच नारकी जीव भी हैं। फिर भी क्रिडिशहको होनेसे या इन विशेष कर्मोंकी व्यथिनतासे अर्थघटना करनेमर कोई अतिन्याति नहीं होती है।

### न वैमानिकाक्षिपा चतुर्घा वान्यथा वा संभाव्यंते द्विविधेष्वेवान्येषामंतर्भावात् ।

वैमानिक देव तीन प्रकार या चार प्रकार अथवा अन्य पांच, छह, विकल्प अन्य या पटलोंकी अपेक्षा बेस्ट ६३ आदि अन्य प्रकारोंके नहीं सम्भावित होरहे हैं। क्योंकि इन दो प्रकारोंके ही अन्य सम्पूर्ण समुचित प्रकारोंका अन्तर्भाव होजाता है।

#### वे च कथमवस्थिताः ?

वे कल्पोपन और कल्पातीत विमान या विमानवासी देव किस प्रकार अवस्थित होरहे हैं! बताओ, ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर अनके विशेष अवस्थानोंको समझाते हुये श्री उमास्वामी महाराज अभिमस्त्रको सहते हैं।

# उपर्श्वपरि ॥ १८ ॥

सीधर्म, ऐशान, आदि कल्प और कल्पातीतों के विमान कपर ऊपर वर्त रहे हैं। आगमकी न्यवस्था अनुसार विमानोंकी या पटलोंकी अवस्थिति है।

सामीप्येऽघोऽध्युपरीति द्वित्वं तेषामसंख्येययोजनांतरत्वेपि दुल्यजातीयव्यवधाः नाभावात् सामीप्योपपत्तेः ।

व्याकरणके " सामीप्येऽवोऽच्यपरि " इस सूत्र द्वारा उपर्यपरि यहां समीपपन अर्थको पोतन करनेपर उपरि अन्ययका दो बार प्रयोग किया गया होनेसे द्वित्व होगया है । यद्यपि उन करपनासी या अहमिन्होंके विमानोंका उत्पर नीचे अन्तर अथवा त्रेसिठ पटलोंमें प्रत्येक दो पटलोंका अन्तर असे-स्याते योजनोंका है. तो भी तुल्यजातिबाके पदार्थीका व्यवधान नहीं होनेसे समीपपना बन जाता है। अर्थात्—सौधर्म, ईशान, खगौंके अधस्तन विमानोंसे कुछ कमती डेढ राजू प्रमाण असंस्थात योजनों ऊपर चळकर सनत्कुमार, माहेन्द्र नामक दो स्वर्ग हैं। सनत्कुमार माहेन्द्रके नीचछे विमानोंसे कुछ कम देव राजू ऊपर चलकर बस बसोत्तर स्वर्ग हैं। बस बसोत्तर सम्बन्धी आधा राजूका अन्त-राख देकर उत्पर छान्तव, कापिष्ठ, स्वर्ग हैं । यो ही आगम अनुसार ऊपर भी समझ छेना । सानत्कु-मार माहेन्द्रके अधोभागते ऊपर डेढ राजूतक तानत्कुमार, माहेन्द्र, देवोंका ही अधिराज्य है, और सानकामार माहेन्द्रके प्रारम्भसे बाळाप्र कमती आकाशसे आदि छेकर नीचे कुछ कम डेट राज् तक सौंधर्म ईशानोंका अधिकार है। सौंधर्म, ईशान, स्वर्गमें ऋत विमल आदि इकतीस पटल हैं " एकेस इंदयस्य य विज्ञालयसंखजीयणपमाणं '' एक एक पटल या इन्द्रक विमानोंका अन्तराल असंख्याते योजन है। किन्तु जगत्में तुल्यजातियां पदार्थीको ही व्यवधायक माना जाता है। मान, अपमान, छजा, प्रतिष्ठा सब समान जातिवाओं में समझी जाती हैं । बुक्षों की पंक्तिमें या घोडे , मनुष्य आदिकी पंक्तियों में मके हैं। बीचमें आकाश, तृण, वाय, आतप, वज, खन्मे, आजायं किर भी तृल्यजातिवाने पदार्थीका मध्यमें समावेश नहीं होनेसे उनमें अन्तराज नहीं माना जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा हुये प्रतिभासमें मके हैं। अन्य उत्पादक कारणोंका व्यवधान होय, किन्तु ज्ञान जातीय अन्य प्रतीतिओंका व्यवधान नहीं पडनेसे विशद्यना आरूढ माना गया है। इसी प्रकार कल्पोपपन और कल्पातील वैमानिकोंमें अन्य वैमानिकोंका या पटलोंका व्यवधान नहीं पडनेसे समीपपना बन जाता है ।

किमनोपर्श्वपरित्यनेनाभिसंबध्यते ! कत्या इत्यक्ष । कत्योपपना इत्यत्र कत्यग्रहणस्यो-परार्जनीभूतस्यापि विशेषणेनाभिसंबंधात् । राजपुर्वनोऽयं, कस्य राह्र इति पथा मत्यासन्तिह्नं-प्रातिहातस्यादिति । तत्र वृष्यामदे, वैयानिका इत्यधिकारार्थे वचनित्येतस्य प्यापातात् । पथा हि वैगानिका देवाः कत्योपपनाः कत्याकीकाथेति संबध्यते वयोपर्युपरोत्त्यपि ॥ प्रविद् युक्तं । न हि देवा एव निर्विशेषणा उपर्युषरीत्युच्येत येनानिष्ट्रमसंगः । किं ति १ मध्यस्येंद्र-कतिर्यगवस्थितश्रेणीयकीर्णकविमानलक्षणकल्योपपश्रत्वविशेषणाकांताः कल्यातीतत्वविशेषणा-क्रांताश्र यथोपवर्णितसमिवेशाः संबध्येते । तथा च निरवयो निर्देशः सर्वानिष्टनिष्ट्रपैः । तथाहि—

कोई विद्यार्थी प्रश्न करता है कि यहां ऊपर ऊपर इस कचन करके किसी पदार्थका चारो ओरसे सम्बन्ध किया जाता है ! बताओ । क्या देव अधवा क्या विमानोंकी एवं कल्पोंको या कल्पाती-तोंको ही यहां ऊपर ऊपर अवस्थित बताया है ? या मनमानी रचना समझ छी जाय ? इसके उत्तर में कोई एक विद्वान यों झट उत्तर दे बैठते हैं कि यहां कल्प ऊपर ऊपर रच रहे विवक्षित हैं। क्योंकि पूर्वके कल्पोपपना इस पदमेंसे गौणभूत होरहे भी कल्प शह्रके प्रहणका विशेषणपने करके अभिसंबंध कर लिया जाता है। अर्थात-परे पद कल्पोपपनाः की अनुवृत्ति होनी चाहिये थी। कल्पोपपन पदमें उत्तरपद्मधान सतमीतत्पुरुष वृत्ति द्वारा उपपन्न शद्ध प्रधान है। कल्प शद्ध गौण है, फिर भी प्रयोजनवश गौण होरहे कल्प शहकी भी अनुवारी की जासकती है, जैसे कि यह राजपुरुष (राजाका पुरुष ) है । पुनः "किसका " प्रश्न होनेपर राजाका यह सम्बन्ध विवक्षित हो जाता है। राजपुरुष पदमें गीण हो रहे भी राजा शद्भकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। इसी प्रकार यहां भी निकटवर्तिता होनेसे बुद्धि द्वारा गौणभूत भी " कल्प " अपेक्षित हो रहा है। कल्पातीतों ने निमानका सम्बन्ध कर लिया जायगा, यों कह चुक्तेपर आचार्य कहते हैं कि सर्वार्थसिद्धिकार श्री पुष्यपाद स्वामी या राजवार्तिककार श्री अक्छंक देवके उस समाधानको हम अच्छा नहीं समझ रहे हैं। क्योंकि कल्पशद्भकी अनुबूति कर छेनेसे यहां " वैमानिकाः " इस प्रकार अधिकारके छिये चळा आ रहा जो वचन है, इसका ज्याचात हो जायगा । वैमानिकाःका अधिकार कर फिर दूसरे ही सूत्रमें " कल्पाः " का सम्बन्ध कर बैठनेसे स्ववचन व्याचात होता है। अतः जिस प्रकार कि पूर्वसूत्रमें अधिकार प्राप्त हो रहे वैमानिक देवोंका ही उद्देश्य कर कल्पोपपन और कल्पातीत यों विधेय दलके साथ सम्बन्ध जोड दिया गया है। उसी प्रकार यहां भी ने नैमानिक ही सम्बन्धित हो रहे यों समुचित प्रतीत होते हैं। अकेले कल्प ही ती कपर कपर नहीं हैं। प्रत्युत कल्पातीत भी कपर कपर विन्यस्त है। हम जैन विशेषप्रासे रहित ही रहे देवोंका है। ऊपर ऊपर निवास करना नहीं कह रहे हैं, जिससे कि अनिष्टका प्रसंग हो जाय ! यानी देव तो ऊपर ऊपर ठहर जांय. स्वर्ग या पटल तिर्र्छ भी व्यवस्थित हो जांय. तो हम विद्यामें आनन्दको माननेवाछ जैनोंको क्या अभीष्ट है ! इसका उत्तर यह है कि मध्यमें स्थित हो रहे कहत विमान, तिर्छ अवस्थित हो रहे श्रेणीविमान और पुष्पप्रकीर्णक विमानस्वरूप कर्ल्योंसे सहितपन विशेषण करके आकान्त हो रहें तथा कल्पातीतपन विशेषणसे आकान्त हो रहे एवं उस्ते वर्णनी बनसार सिनिदशको चार रहे निशेष्य देन ही यहां सम्बन्धित हो रहे हैं। और तैसा होनेपर यह सम्बन्ध निहेश निर्दोष है । क्योंनि सम्पूर्ण अनिष्ठ प्रसेमोंकी में निवास हो जाती है न उसको स्वर करण स्वीक वार्षिक द्वारा अन्यकार शिवाये देते हैं।

# उपर्युपरि तद्धाम नाभस्तिर्यक् च तिस्थितिः । यथा भवनवास्यादिदेवानामिति निर्णयः ॥ १॥

उन बैमानिक देवोंके निवास स्थान ऊपर ऊपर व्यवस्थित हैं। अधामागोंमें या तिरछे रूपसे उन निवास स्थलोंकी स्थित नहीं है। जिस प्रकार कि भवनवासी आदि देवोंके धाम नीचे, तिरछे, रचे हुये हैं, ऐसे बैमानिकोंके अकृत्रिम विमानोंकी रचना नहीं है। यह उक्त सूत्र द्वारा निर्णय कर दिया गया है। मावार्थ—चार निकायके देवोंमें पहिले तीन निकायके देव अधः या तिर्यग्रू प्रसे रचे गये भवन, नगर या विमानोंमें निवास करते हैं। किन्तु इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और पुष्प प्रकीर्णक रूपसे व्यवस्थित हो रहे कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवोंके विमान तो ऊपर ऊपर रचे हुये हैं। यद्यपि सातवीं पृथिवींसे लगा कर पहिली पृथिवींतक नारिकयोंके बिले भी इन्द्रक बिल श्रेणीबद्ध बिल, पुष्पप्रकीर्णक विल क्पसे विन्यस्त हैं। किन्तु वे पुष्पप्रकीर्णक रूपसे मले ही व्यवस्थित होंय इन्द्रक श्रेणीबद्ध और उनके मध्यवतीं पुष्पप्रकीर्णक रूपसे आकाश प्राकृगणमें व्यवस्थित होंय इन्द्रक श्रेणीबद्ध और उनके मध्यवतीं पुष्पप्रकीर्णक रूपसे आकाश प्राकृगणमें व्यवस्थित नहीं हैं। तथा वे बिले और उनके मध्यवतीं पुष्पप्रकीर्णक रूपसे आकाश प्राकृगणमें व्यवस्थित नहीं हैं। तथा वे बिले और उयोतिषक विमान ये कल्पोपपनस्व और कल्पातीतव विशेषोंसे आकान्त मी नहीं हैं। अतः इन्द्रक, श्रेणीबद्ध, प्रकीर्णक, विमान स्वरूप होते हुये कल्पोपपनस्व और कल्पातीतव विशेषणोंसे आकान्त हो रहे पदार्थ ऊपर ऊपर रचे हुये हैं। यह उक्त सूत्रका पदकीर्तिपुरःसर निदेशि समन्वय कर दिया गया है।

### न हि यथा भवनवासिनो व्यंतराश्राधस्तिर्यक् समवस्थितयो ज्योतिष्काास्तिर्यक् स्थित-यस्तर्था वैमानिका इष्वंते, तेषाग्रुपर्युपरि समवस्थितत्वात् जपर्युपरि वचनेनैव निर्णयात् ।

जिस प्रकार कि भवनवासी और व्यंतर देव अघोछोकमें और तिर्यक्छोकमें नीचे या तिरछे रूपसे बने हुये अपने निवासस्थानोंमें भछे प्रकार अवस्थितिको कर रहे हैं, रत्नप्रभाके खरभाग और पंकभागमें भवनवासियोंके नीचे और तिरछे सुन्दर भवन बने हुये हैं, और व्यन्तरोंके असंख्याते हीपसमुद्रोंमें भी रत्नप्रभाके उपिरम भागमें तिरछे फैछे हुये असंख्य नगर या आवास बने हुये हैं, तथा नीचे पंकभागमें असुर और राक्षसोंके असंख्याते हजार नगर है, एवं असंख्यातासंख्याते ख्योतिष्क देव तो इस समत्तछ भूमिने ऊपर सात सौ नव्वे योजनसे प्रारम्भ कर केन्नछ एक सौ दश बोजनतक मोटे देशमें असंख्यात योजनोंतक एक राजू छम्बे, चौडे, प्रदेशमें तिरछे कैछे हुये असंख्य विभानोंमें स्थितिको कर रहे हैं, तिस प्रकार उक्त तीन निकायोंके समान वैमानिक देव स्थिति करते ये नहीं माने गये हैं। क्योंकि उन वैमानिकोंकी तीन निकायोंके समान वैमानिक देव स्थिति करते पर प्रकार हिंग है। वे यहां वहां अस्त व्यस्त नहीं निवस रहे हैं। कारण कि "वैमानिकाः"

इस सूत्रके अग्रिम सूत्रमें उनके भेदोंको दिखाते हुये सूत्रकारने तीसरे स्थानपर अठारहवें " उपर्युपरि " इस सूत्ररूप बचन करके ही उक्त सिद्धान्तका निर्णय कर दिया है।

कोई जिज्ञासु प्रश्न उठाता है कि यदि इस प्रकार वे वैमानिक देव ऊपर ऊपर व्यवस्थित हो। रहे हैं तो बताओ कितने विमानोंमें वे वैमानिक देव हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महा-राज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

# सौधभैंशानसानत्कुमारमाहेंद्रब्रह्मलोकब्रह्मोत्तर-लांतवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयो-रारणाच्युतयोर्नवसु ग्रेवेयकेषु विजयवैजयंतजयंताप-राजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

सौधर्म ऐशान, सानत्कुमार माइं-इ, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, छान्तव कापिष्ट, छुक महाशुक, शतार सहसार, इन स्वगाँमें और आनत, प्राणत, एवं भारण, अन्युत, स्वगाँमें कन्पोपपन नैमानिक देव निवास करते हैं। तथा नवमैवेयक और नौ अनुदिश विमानोंमें असंख्याते कल्पातीत नैमानिक देव निवस रहे हैं। अर्थात् केवळ सर्वार्थसिद्धि विमानमें दिख्प वर्गधाराको पांचवीं कृतिके घनस्वस्प मनुष्य संख्याके त्रिचतुर्थ प्रमाण वियोंसे तिगुने या सतगुने सर्वार्धसिद्धिके देव मात्र संख्याते हैं। जघन्य संख्या कभी रह जाय तो मानव बियोंसे तिगुनी और उत्कृष्ट संख्या होजाय तो सतगुनी इन एक भवतारी देवोंकी गणना है। शेष सम्पूर्ण कल्प और कल्पानीतवर्त्ती संख्यातविमानोंमें असंख्याते देव निवास कर रहे हैं।

सुधर्मा नाम सभा सास्मिन्नस्तीति सीधर्मः कल्पः " तद्दिमन्नस्तीत्यण् " तत्कल्प-साइचर्यादिद्रोपि सीधर्मः, ईश्वानं नामंद्रः स्वभावतः ईश्वानस्य निवासः कल्प ऐश्वानः " तस्य निवास " इत्यण् तत्साइचर्यादिद्रोप्येश्वानः, सानत्कुमारः महेंद्रो नामंद्रः स्वभावतः तस्य निवासः कल्पः सानत्कुमारः तत्साइचर्यादिद्रोपि सानत्कुमारः महेंद्रो नामंद्रः स्वभावतः तस्य निवासः कल्पो महेंद्रः तत्साइचर्यादिद्रोपि माहेंद्रः, ब्रह्मनामंद्रः तस्य छोको ब्रह्मछोकः कल्पो ब्रह्मो-स्थ छातवाद्योच्युतांता इन्द्रास्तत्साइचर्यात् कल्पा अपि छातवाद्यः, इन्द्रछोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वाद्श्रीवाः भीवास्य भवानि प्रवास्थिति विमानानि तत्साइचर्यादिद्रा अपि वैवे-यकाः, विजयादीनि विमानानि परमाभ्युदयविजयादन्वर्थसंज्ञानि तस्साइचर्यादिद्रा अपि विवे-विजयादिनामानः सर्वार्थानां सिद्धः सर्वार्थसिद्धिविमानं तत्साइचर्यादिद्रा सर्वार्थसिद्धः।

पहिले स्वर्गमें सुधर्मा संज्ञक सभाका एक बहुत विशाल भवन बना हुआ है, जिस स्वर्गमें वह स्रधर्मी सभा बनी हुई है वह कल्प सौधर्म स्वर्ग है " तदस्मिन्नस्ति " इस तद्धितके सूत्र करके यहां सुधर्मा शब्दसे अणु प्रत्यय कर सौधर्म शब्दको साधु वना विया जाता है, उस सौधर्म कन्पके सहचर पनेसे पहिले स्वर्गको इन्द्र भी सौधर्म कहा जाता है अध्या स्वरावकरके अनादिकालसे इन्द्र या स्वर्ग का नाम सीवर्म पड रहा है। इसी प्रकार स्वभावसे ही ईशान नामका इन्द्र है, ईशान इस्ट्रका निवास ही रहा दूसरा कल्प ऐशान है। यहां " तस्य निवासः " इस तद्भित सूत्रसे अण् प्रत्यय कर ऐशान शब्द उत्पन्न कर लिया गया है । उस स्वर्गके सहचरपनेसे इन्द्रको भी पेशान कह दिया जाता है । तृतीय स्वर्गमें अनादिकालीन मंज़ाके वश स्वभावसे ही सनखुमार इन्द्र चला आ रहा है । उसका निरासभूत करूप सानखुमार है । यह। मी " तस्य निवासः " इस सूत्रकरके अण् प्रत्यय कर छेना चाहिये । उस सानत्कुमार स्वर्गके सहचरपनेसे इन्द्र भी मानस्कुमार कहे जा सकते हैं। मन्त्रशीय अच् प्रस्ययकरके भी यहां निर्वाह किया जा सकता है । महेन्द्र नामका इन्द्र स्वभावमे ही है । उसका निवासस्थान करूप माहेन्द्र है । उस माहेन्द्र स्वर्गमें धाराप्रवाहरूपसे जो इन्द्र होते चले आ रहे हैं उस स्वर्गके सहचरपनेसे वे इन्द्र भी माईन्द्र हैं। ब्रह्मा नामक इन्द्र हैं उम इन्द्रका छोक पांचवां ब्रह्मछोक्त नामका कल्प है और ब्रह्मोत्तर नामका छठा करप है। इसी प्रकार लान्तवको आदि छेकर अध्युतपर्यन्त इन्होंकी व्यवस्था स्वभावसे ही होती चड़ी आ रही है। उसके सहचरपनेसे ठांत्व आदिक कल्प भी अनादि सिद्ध संज्ञाओंको धार रहे हैं। स्वर्ग या कल्प तो अनादिसे अनन्तकाछतक प्रवर्त रहे हैं। किन्तु उनमें देव था इन्द्र निवास कर रहे अपने आयुष्यको नियतकालतक सुखर्रिक विता रहे हैं। उन उन स्वर्गीमें जन्म लेनेवाले इन्द्र धारा प्रवाहसे उन्हीं नामोंको भारते हैं। इस चौदह राज् ऊंचे लोकको या केवल ऊपरले सात राज्को इन्द्र कोकको यदि पुरुपाकार नियन कर छिया जाय ते। उसकी श्रीवा (नार) के स्थानापन्न होनेसे छोकके तेरह राजुको ऊपरके कतिपय स्थान प्रीवार्ये कहे जायंगे। प्रीवाओंमें विन्यस्त हो रहे विमान प्रैतेयक हैं। उन विमानोंके माहचर्यसे इन्द्र भी प्रैतेयक हैं। इनके ऊपर नी अमुदिश हैं। विजय आदिक विमान अन्य छौकिक उन्हार अभ्युदयका विजय करनेसे यथार्थ नामा कहे जाते हैं। यानी विजय, **वैजयंत,** जयंत और अपगतित ये नाम दूसरेको जीतने और किसीसे नहीं पराजित होनेकी अपेक्षासे अपने ठीक अर्थको लेकर घटित हो रहे हैं। उन विमानों के साहचर्यसे उनमें रहनेवाले असंख्याने अहमिन्द्र भी विजय, वैजयंत आदि नामों को धार रहे हैं । सम्पूर्ण छौकिक अर्थ की परिपूर्ण सिद्धि हो जानेके कारण सर्वाधितिद्व नामक इन्द्रक विमान भी अन्वर्थ संक्रक है। उसके साहचर्वसे इन्द्र भी सर्वार्थिसिद्ध है। ऐसे अहमिन्द्र सर्वार्थिसिद्धि त्रिमानमें संख्याते हैं। अर्थात्—'' मेरुत गद्द दिवहूं दिवहू ंद**ळळ**क्क एक करञ्जुसि, कत्माणमङ्गुगला गेवेञ्जादी य होति कमे '' ( त्रिलोकमार ) मेरुके तलस एक छाल चाछीस योजन अथना इस समतल भूमिसे निन्यानने हजार चाळीस योजन और बालाप

क्रवर उन्नव कर सीधर्म, ऐशान, ये दो कल्प दक्षिण और उत्तर दिशाओं में व्यवस्थित हैं। इनमें ऋत आदिक इक्तीस पटल हैं। दक्षिण दिशाका अधिपति सौधर्म इन्द्र है और उत्तर दिशाके श्रेणी विमान और प्ष्पप्रकीर्णकोंका अधिकारी ऐशान इन्द्र है। सबसे ऊपरहे प्रभा संबक्ष पटलमें इन्द्रक विमानसे दक्षिणदिशामें अठारहवें श्रेणी बद विमानमें सीधर्म इन्द्र रहता है। उसी प्रकार बचीस भेजीबद विमानवाडी उत्तर दिशाके अटारहवें विमानमें ऐशान इन्द्रका निवास है। एक एक पटकमें असंस्थाते योजनोंका अन्तर है। समतल भूभागसे ऊपर डेट राजू स्थानतक सौधर्म, ऐशान, इन्होंका आधिपत्य है। सौधर्म ऐशान स्वर्गीसे अनेक योजन ऊपर अथवा मेरुतलसे ठीक डेढ राज ऊपर सानत्क्रमार, माहेन्द्र स्वर्गीका प्रारम्भ है । अंजन आदि सात पटलबाले ये दो स्वर्ग दक्षिण उत्तर समान तुलामें रचे हुये हैं। कुछ कम डेट राज्तक इनका अधिकार है। मेरुतलते तीन राज् ऊपर समतुला स्थानमें ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग बने हुये हैं। इन दोका अधिपति ब्रह्मा नामका एक इन्द्र है। आधे राज ऊपर तक इनका साम्राज्य है। मेरुत उसे साडे तीन राजू ऊपर चलकर लांतर और कापिष्ठ स्वर्ग बरोबरमें रचे हुये हैं । इन दोका अधिपति एक ही छांतत्र इन्द्र है । इसके ऊपर कुछ कम आधा राजू चलकर शुक्त, महाशुक्त दो स्वर्ग दक्षिण और उत्तरकी ओर विन्यस्त हैं । इनका अधिपति एक अक इन्द्र है । इसके उत्पर कुछ कम आधा राजू यानी मेरुतलसे साडे चार राजू उत्पर उछल कर सतार और सहस्रार ये स्वर्ग समानभागमें रचे हुये हैं। इन दोका अधिपति सतार नामका एक इन्द्र है। वर्च, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और ऊर्च इन पांचें। दिशाओं में आधे आधे राजूतक इसका अधिराज्य है। सतार, सहसारसे कुछ कम आधा राज् ऊपर आनत, प्राणत, दो स्वर्ग हैं। इनके दक्षिण दिशा-सम्बन्धी और उत्तरदिशासम्बन्धी अधिपति दो इन्द्र हैं। इनसे आधे राज् ऊपर उछछ कर यानी मेह तलते साढे पांच राज् ऊपरसे आरण अन्यत स्वर्ग प्रारम्भ हो जाते हैं, जो कि दक्षिण उत्तर दिशामें समतला कोटियर व्यवस्थित हैं। मेहतल ने छह राजू जवर उपरिम एक राजुके निचले भागमें नी प्रैनेयक विमानोंके नी पटल हैं। इनके ऊपर नी अनुदिश विमानोंका एक पटल है जिसमें कि चार दिशाओं और चार विदिशाओं तथा एक मध्यमें यों नौ विमान रच रहे हैं। इसके ऊपर पांच अनुत्तरोंके पांच विमान हैं। सर्वार्थसिद्धिसे बारह योजन ऊपर सिद्ध क्षेत्र है। सर्वार्थसिद्धि और सिद्धलेकके अन्तरालमें एक राज चौडी सात राजू टम्बी भाट योजन मोटी छोकान्तस्पर्शिनी आठवीं '' ईषछारभारा '' नामकी प्रथिनी है। इस प्रथिनीके ठीक बीचमें मनुष्यक्षेत्रवरावर उम्बी चौडी आठ योजन मोटी गोछ सिद्धशिला जड रही है, जो कि सिद्धलोक नामसे कही जा रही आधे लड़ के समान नीचे समतल और ऊपर क्रमसे घटती हुई ढलाऊं होकर उठी हुई है। उस सिद्ध प्रतिष्ठान क्षेत्रके ऊपरले या लोकमें सबसे ऊपर बडे धनुत्रोंसे नपे पन्द्रहसी। पिचत्तर १५७५ धनुष मोटे तनुवातके पन्द्रहसीवें या नी खाखरें भागमें उत्कृष्ट और जक्त्य अवगाहनावार्र अनन्तानन्त सिद्धपरमेत्री विराजमान हैं। संबद्धी त्रियोगसे हम नमस्कार करते हैं। एक सहो एक बढ़े बीस महाधनुषमें बड़ी अवगाहनाके सिद्ध हैं

और सात बटे चार इजार महाधनुषमें छोटी अवगाहनाके सिद्ध भगवान् विराजमान है। मध्यमें अवगाहनाओं के अनेक भेद हैं। वहां भी अनन्तानन्त सिद्ध हैं।

तस्य पृथम्ब्रहणं द्वन्द्रे कर्तव्येषि स्थित्वादिविश्वषमितिपत्त्वर्थे। सर्वार्थसिद्धस्य हि स्थिति क्ल्कुष्टा जघन्या च त्रयस्त्रिश्वस्तागरोपमा विजयादिभ्यो जघन्यतो द्वात्रिश्वस्तागरोषमस्थितिभ्यो विशिष्टा प्रभावतश्च ततोल्पप्रभावभ्यः इति श्रूयते ।

उस सर्वार्धसिद्धिका यद्यपि विजय आदिकके साथ द्वन्द्व समास कर देना चाहिये था। फिर मी रिधित, प्रमान, आदि निशेषोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सर्वार्धसिद्धिका पृथक स्वतंत्र प्रहण किया है। सर्वार्धसिद्धि निमानमें रहनेवाले सर्वार्धासिद्ध देवकी उत्कृष्ट स्थिति और जन्नम्य स्थिति दोनों तेतीस सागरोपम हैं। वसीस सागर जन्नम्य और तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिको धारमेत्राले निजय आदि चार नैमानिकोंसे यह जन्नम्य, उत्कृष्ट, निकल्पोंसे रीती हो रही सर्वार्धसिद्ध देवोकी स्थिति निशिष्ट है। तथा प्रभावसे भी उन अल्प प्रभाववाले निजय आदि अहमिन्द्रोकी अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि देवोका प्रभाव अत्यिक है। ऐसा शाखों द्वारा आम्नायपूर्वक सुना जा रहा है। निजय आदि चार निमानोंमें रहनेवाले सम्पूर्ण असंस्थाते देवोंका जितना मिलकर प्रभाव है, उत्पत्ते अधिक सर्वार्थसिद्धिके एक देवका है। इत्यादि निशेषोंको दिखलानेके लिये सर्वार्थसिद्धी ऐसा सूत्रमें पृथक असमसितपद पडा हुआ है। किन् प्रस्थयान्त होनेस खीलिंग माना गया सर्वार्थसिद्धि शद्ध भी इन्द्रकी संज्ञा पड जानेसे पुलिङ्ग कर दिया जाता है। सर्वार्थसिद्धि और सर्वार्थसिद्ध दोनों शद्ध अभीष्ट हो रहे दीखते हैं।

प्रैवेयकाणां पृथग्प्रहणं कल्पातीतत्वज्ञापनार्थे, नवश्रद्धस्याश्चनकरणमनुदिशसूचनार्थे । दिश आनुपूर्व्यणानुदिशं विमानानीति पूर्वपदार्थप्रधामा शृत्तिः दिक्छद्वस्य शरदादित्वात् आकारांतस्य वा दिश्वाशद्धस्य भावात् तत्साहचर्यादिद्रा अप्यनुदिशास्ते च नव संति प्रैवेय-काणामुपरीति अवणात् ।

" प्रैवेयकेषु " इस पदका पूर्व या उत्तरपदोंके साथ इन्द्र समास नहीं कर जो पृथक प्रहण कर दिया गया है, वह तो प्रैवेयकों के कल्पातीतपनको समझाने के लिये हैं। अर्थात — सौधर्मको आदि केकरके अन्युतपर्यन्त बारह इन्द्रोंकी अपेक्षा बारह कल्प हैं। उनसे न्यारे ऊपरले विमान सब कल्पातीत हैं। इस सिद्धान्तको समझाने के लिये प्रैवेयकेषु यह पर पृथक् कर दिया है। सूत्र-कारकी एक एक मात्रा अपरिमित अर्थ को झेल रही है। यद्यपि प्रैवेयक नी हैं। ऐसी दशाम "नव च ते प्रैवेयका नवप्रैवेयका "थों समास कर "नवप्रैवेयकेषु " कह देना चाहिये था। फिर जो सूत्रकारने नव और प्रैवेयक परोंमें समास इति नहीं की है, वह नी अनुदिश विमानों का सूचन करने के लिये हैं। यानी प्रैवेयकसे ऊपर नी अनुदिश विमान भी हैं। दिशाआं अनुपूर्वीपने करके बने हुए विमान

नव अनुदिश हैं। यहां दिश् शब्दकी अनुपदके साथ पूर्वपदके अर्थको प्रधान रखनेवाळी समासकृति कर दी गई है। दिश् शब्दका शरदादि शब्दोंमें पाठ होनेसे "अव्ययीमाने शरदाभ्रतिभ्यः " इस सूत्र करके यहां समासान्त टच् कर दिया जाता है। अथा। आकारान्त दिशा शब्दका सङ्गात्र होनेसे "अव्ययीमानश्च और नपोऽचो हम्यः" मूओंद्वारा अनुदिश शब्द बनाया जा सकता है। उस अनुदिश विमानोंके सहचरपनेसे इन्द्र भी अनुदिश कहे जाते है और वे अनुदिश विमान ग्रैवेयकों के उपर एक पटलमें नो हैं। यों आर्थशासोंद्वारा ज्ञात किया जा रहा है। नयमु शब्दका प्रैवेयकों में एक वार अन्वय कर पुनः आवृत्त किये गये दूसरे नवसुका अर्थ नो अनुदिश विमान कर लिया जाता है। " व्याख्यानती विशेषप्रतिपत्तिन हि सन्देहादकाणां"।

#### नतु च सीवर्मेशानयोः केषांचिद्प्युपरिभावाभावाद्य्यापकतोपरिभावस्य स्यादित्याः वंकाचामिद्यादः।

यहां किसीकी शंका है कि " उपिर उपिर " शद्भ पष्ट्यत्त पदकी अपेक्षा गलता है। अतः सम्बद्धमार, माहेन्द्र, आदिको सौधर्म, ऐशानके कपर कपरपना एवं नीचे नीचेके विमानोंसे कपर कपरपना सर्वार्थसिद्धितक सुलभतया घट जाता है। किन्तु सबसे नीचेके सौधर्म और ऐशानको किन्हीके भी कपर टहरनेका अभाव हो जानेसे कपर कपर सद्भावकी सर्वत्र वैमानिकोंमें व्यापकता नहीं हो सकी है इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम वार्तिक द्वारा इस समाधानको कहते हैं।

## सौभर्मेशानयोर्देवा ज्योतिषामुपरि स्थिताः। नोपर्युपरिभावस्य तेनाव्यापकता भवेत ॥ १ ॥

जब कि सीधर्म और ऐशानमं रहनेबाठे देव ज्योतिष्यों के उपर व्यवस्थित हो रहे हैं। तिस कारणसे उपरछे उपरछे मागोंमें टहरनेके परिणामकी अव्यापकता नहीं होबेगी। ज्योतिष्क विमानीं अठानने हजार एक सी चाछीस ९८१४० योजन और बाछात्र उपर सीधर्म ऐशान विमान व्यवस्थित है। अर्थात्—ज्योतिष्क विमानोंकी अपेक्षा वैमानिकोंके बेसठ पटलोंका उत्पर उपर वर्तना सर्वत्र व्याप जाता है। यद्यपि ज्योतिष्कोंमें भी समतल चित्रा भूभाग के उपर सात सी नखे ७९० योजनसे प्रारम्भ कर ९०० योजनतक एक सी दस ११० योजनोंमें ज्योतिष्कोंका तारे, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डल, बुभ, खन, हहस्पित, मंगल, शनि, इन कम अनुकार उत्पर उत्पर वर्तना पाया जाता है। किर भी हमें वहां वैमानिकोंके उपर उत्पर कपर कथन प्रकरणमें ज्योतिष्कोंका धनीटना अमील नहीं हो रहा है। अध्यापकताका समूल उष्टेद करनेके लिये उदारोदर (बहा पेट) नीति अनुसार ज्योतिष्कोंका भी उपर उपर उद्यत्न बहा कर किस दिया है।

#### कुदः पुनर्द्वयोरुपर्युपरिभावः माग्ग्रैवेयकेभ्य एवेत्याह ।

किसी प्रतिचादीका कठाक्ष है कि उक्त न्याख्यान करनेसे प्रतीत हुआ है कि सौधर्म आदि कर्न्पोमें दो दो स्वर्ग बराबर ठहरते हुये उपर उपर सीछह स्वर्ग वर्त रहे हैं। किन्तु सूत्र द्वारा यह अर्थ नहीं निकळता है। प्रैवेयकोंसे पाहिले ही यह न्यवस्था होय। पुनः प्रैवेयकों, अनुदिशों, या विजया-दिकोंमें दो दो का युगळ उपर उपर नहीं न्यापे यह भी मुळ्यूत्रसे ध्वनित नहीं होता है। अतः बताओं कि प्रैवेयकोंसे ही पाहिले दो दो स्वर्गोका उपर उपर वर्तना है, यह कैसे निर्णात किया जा सकता है! ग्रीकाकारोंको मूळसूत्रके अनुसार ही चळना चाहिये। सिद्धान्तको न्यून अधिक कथन करनेसे तत्त्वोंका कृपपतन या आकाशमें फेंक दिया जाना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार सामिमान जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्त्तकोंको समाधानार्थ कहते हैं।

सौधर्मत्यादिस्त्रे च द्वंद्ववृत्तिर्विभाग्यते । सौधर्मादिविमानानामुपर्युपरि नान्यथा ॥ २ ॥ आनतप्राणतद्वंद्वमारणाच्युतयोरिति । सूचनादंतदाः सा च कल्पेष्वेवेकशस्ततः ॥ ३ ॥ प्रैवेयकेषु नवसु नवस्वनुदिशेष्वयं । ततोनुत्तरसंज्ञानां पंचानां सेष्यतेर्थतः ॥ ४ ॥

" सीधमें शानसान कुमारमाहेन्द्रबह्म बहाति । इत्यादि सूत्रमें कहे गये सीधमें आदि विमानोंका उपर उपर दन्द्र यानी युगळ रूपसे वर्तना विचार ळिया जाता है। अन्य प्रकारोंसे यानी एक एकके उपर वर्तते हुये यों सोळह पटळ होंय या चार चारका चतुष्क समभागमें बनाकर सोळह स्वगीके चार ही चनुष्क या पटळ कर दिये जाय इत्यादिक दगोंसे उपर उपर वर्तना नहीं है। क्योंकि अन्तमें पडे हुये आनत प्राणत हा दन्द्र कर पुनः आरण और अन्युतोंका दन्द्र किया गया है। अतः स्वित होता है कि जैसे आनत, प्राणत, और आरण अन्युतोंके युगळ समानभागोंमें रचे होका उपर उपर हैं, उसी प्रकार सीधर्म, ऐशान, आदिके युगळ भी दो दो स्वर्गीकी समतुका होकर उपर उपर रहे हैं। अन्यथा जाचन के लिये आनत आदि चारोंका दन्द्र कर एक ही योग किया जा सकता था। हां, पहिळे बारह स्वर्गीका छाप्यार्थ दन्द्र समास कर हिया है। और उनके उपरके दो युगळोंका समास नहीं करनेसे युगळकर पसे सब स्वर्गीका वर्तना सूत्रकार हारा सूचित कर दिशा तथा है। यह युगळकर पसे हो रही हाती बारह करूप यानी सोळह स्वर्गीमें ही है। उससे पदकी और नी प्रैनेयकोंमें नी अनुदिशोंमें और उससे उपर पांच अनुतर संज्ञक विभानोंमें यह वर्तना एक

एक रूपसे हैं । अर्थात्—नवप्रैवेयक अकेले अकेले हो कर ऊपर ऊपर नी पटलें में वर्त रहे हैं । नव अनुदिशोंका एक ही पटल उपरिम नीमे प्रैवेयक के ऊपर है । उसके ऊपर पांचों अनुत्तरोंका एक ही समतुलावाला पटल है । सूत्रोक्त शहोंकी शक्तिसे और अर्थसम्बन्धी न्यायसे भी वह सौधम आदि कल्पोंकी या कल्पातीलोंकी ग्रुगल रूपसे या एक एक रूपसे इस प्रकार दृत्ति होना अभीष्ट होरहा है । सहस्रारतक दो दो कल्पोंका पहिले इतरेतर इन्द्र समास कर पश्चात् लह ग्रुग्मोंका इन्द्र कर लेना । आगे स्पष्ट ही है ।

सौधर्मेत्यादिसूत्रे निर्दिष्टानां सौधंभैशानदीनां श्रेणीद्रकपकीर्णात्मकपटलभावापमानां विमानानासुपर्युपरि द्वंदवर्तनं विभाज्यते आनतशाणतद्वंद्वमनन्तरमारणाज्युतयोरिति सूचनादन्यथा वृत्त्यकरणे प्रयोजनाभावात् । तच्च द्वंदवर्तनं कल्पेष्वेच विभाज्यते । तदंते वृत्त्यकरणात् प्रागेव सौधर्भैशानयोः सानत्कुमारमाद्देन्द्रयोरित्यवृत्त्यकरणात् ।

सीधर्मेशान इत्यादि सूत्रमें कथन किये गये चारों दिशाओं में पंक्तिबद्ध फैले हुये श्रेणीबद्ध विमान और श्रेणीबद्धों के ठीक बीच ने ठहर रहा इन्द्रक विमान एवं दो दो श्रेणीयों के बीच बीच के चार तिकों ने बिखेरे हुये पुष्पों के समान फैल रहे पुष्पप्रकीर्णक विमान यों श्रेणीजातीय, इन्द्रक और प्रकीर्णक जातीय, विमानों सक्छप पटलमाव को प्राप्त होरहे सीधर्म, ऐशान, आदि विमानों का ऊपर ऊपर युग्न रूपसे वर्तना निर्णात कर लिया जाता है (प्रतिक्षा) क्यों कि आनतप्राणतके इन्द्र पश्चात् आरण अच्युतों का पृथक्ष्यपेस सूत्रमें कथन किया है । सूत्रकारने अन्तिन चारों स्वर्गों की समासवृत्ति जो नहीं की है, उसका यही प्रयोजन है कि सोल्डह स्वर्ग दो दो हो कर यमल रूपसे ऊपर ऊपर आठ द्वय वर्त रहे हैं । सूत्रकारका समासवृत्ति नहीं करने में अन्य प्रकारका कोई प्रयोजन नहीं है । और वह इन्द्र रूपसे दो दोका बराबर होकर वर्तना कन्पों में ही विचारा जाता है । क्योंकि उन कर्लों ही अन्तक चार कर्लों इन्द्र समासवृत्ति नहीं की गई है । उनके पहिले ही सीधर्म आदिक बारह कर्लों वृत्ति यों की गई है कि सीधर्मश्च ऐशानश्च सीधर्मेशानी और सानत्कुमारश्च माहेन्द्रश्च सानकुमारमाहेन्द्रों तथा बीच विद्यान पदकी आदि स्वानकुमारमाहेन्द्रों तथा बीच सीधर्मशान पदकी और सानत्कुमारमाहेन्द्र आदि पांच युग्न पदों की अवृत्ति नहीं की गई है । यानी आठ करूप या कारह स्वर्गोंका इन्द्र समास कर दिया गया है । इसीसे कर्लों गरी खी गई है । यानी आठ करूप या कारह स्वर्गोंका इन्द्र समास कर दिया गया है । इसीसे कर्लों गरी खुग्न विद्यान निर्णींत होजाता है ।

तत एव नवसु प्रैवेयकेष्वेकक्षो वर्तनं विभाव्यते । नवस्तनुदिशेषु च तत्र दिग्विदिग्व-त्येंकैकविमानमध्यगस्येंद्रकविमानस्यैकत्वात् । तत एवानुत्तरसंक्षानां पंचानामेकक्षो वर्तनं विभाव्यते दिग्वत्येंकैकविमानमध्यगस्येंद्रकस्य सर्वार्थितिद्धस्यैकत्वाद् । अर्थत्रभैवं विभाव्यते अन्यथोक्तनिर्देशकमस्य प्रयोजनानुपूषतेः ।

तिस ही कारणसे यानी नवपद और ग्रैवेयकपदमें वृत्ति नहीं करनेसे नौ ग्रेवेयकोमें एक एक होकर नौ पटलों में एक एक ग्रेवेयकका वर्तना निर्णीत कर लिया जाता है। नव शहको ग्रैवेयकपदके साथ समास वृत्ति नहीं करनेसे नौ अनुदिश भी प्राप्त हो जाते हैं । नव अनुदिशोंमें सम्पूर्णीका एक पटल है। उनमें दिशा और विदिशाओं में एक एक वर्त रहे यों आठ विमान और एक मध्यमें प्राप्त हो रहा इन्द्रक विमान यों न्यारे, न्यारे समतुलावाले विमानोंको वहां एकपना प्राप्त है। नवसू शद्भका योग विभाग या आवत्ति कर एक नव शद्भको ग्रैवेयकके साथ और दूसरे नवको अनुदिशमें जोड लेना । तिस ही कारणसे यानी पांचों अनुत्तरोमे एकशः वृत्तिका अन्वय कर देनेसे अनुत्तर संज्ञक विजयादि पांचों विमानोंकी एकशार समतुला (लेविल ) में वृत्ति हो रही निश्चित कर ली जाती है। क्योंकि चार दिशाओं में वर्त रहे एक एक विमान और मध्यमें प्राप्त हो रहे सर्वार्थसिद्धि नामक एक इन्द्रक विमानको एकपना प्राप्त है। शह शक्तिसे ये बात व्याकरण मुद्रया प्राप्त हो जाती है। तथा अर्थ संबंधी न्यायसे भी इस प्रकार उक्त सिद्धांत विचार लिया जाता है कि सुत्रकारके यथोक्त प्रकार सुत्रमें कथन कर दिये गये कमका अन्य प्रकार कोई प्रयोजन नहीं वन रहा है। जो कह दिया गया प्रयोजन है वही न्याय युन्तियोंसे निर्णीत है। इस प्रकार सौधर्म ऐशान स्वर्गके इकत्तीस पटल, सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गीके सात पटल, ब्रम्हयुग्मके चार पटल, लांतव यग्मके दो, शुक्र युगलका एक, शतार द्वन्द्वका एक पटल एवं आनतादि चार कल्पोंमें छह पटल, नौग्रैवेयकोंके नौ पटल, नौ अनु-दिशोंका एक पटल, पांच अनुत्तरोंका एक पटल यों ऊर्ध्व लोकमें असंख्याते योजनींका व्यवधान लिये हुये त्रेसठ पटल है। सबसे नीचेके ऋतू पटलके मध्यवर्ती ऋतू इन्द्रक विमानसे चारों दिशाओं में बासठ बासठ विमानों की पंक्ति बद्ध श्रेणी त्रसनालीतक चली गर्धी है। ऊपर ऊपर पटलमें चारों दिशाओंसे एक एक विमान कमती होती गयीं चारों श्रेणियां व्यवस्थित हैं। बासठसें अनुदिश संबंधी पटलमें एक एक विमान दिशाओं में वर्त रहा है। यहां विदिशाओं में भी चार विमान हैं ऊपरके अनुत्तर विमान सम्बन्धी त्रेसिठवें पटलमें विदिशाओं में असंख्यात योजन व्यासवाले चार श्रेणी बद्ध विमान और मध्यमें एक लाख योजन व्यासवाला सर्वार्थिसिद्धि इंन्द्रक वियान यों पांच विमान हैं। यह रचना थालीमें रखे हये उत्पर पंक्तियों में क्रमबद्ध कमती कमती हो रहे लड्डुओंके ढेर समान अनादि अनन्त अकृत्रिम बन रही है। श्रेणियोंके बीच चार तिकोनोंमें पूष्प प्रकीर्णक विमान अवस्थित हैं। इन्द्रक श्रेणी, बद्ध पूष्य प्रकीर्णक विमानोंकी संख्या, उनका संख्यात या असंख्यात योजनका व्यास, और मोटाई, वर्ण, आदिका निरूपण त्रिलोकसार राजवात्तिक, प्रन्थोंमें दृष्टब्य है। सम्पूर्ण बिमानोंमें एक एक अकृत्रिम जिन मन्दिर विराजमान हैं। विमानोंकी संख्या परिमाण जिन मन्दिरोंको नमस्कार होओ।

ते च स्त्रितेषु सौधर्मादेषु कलंषु कल्पातिषु च वैमानिका देवाः।

उनत सूत्रमें कहे जा चुके सौधर्म आदि कल्पोंमें और ग्रंवेयक आदि कल्पातीतोंमें निवास कर रहें वे देव परस्परमें किन किन विशेषताओंको धारते हैं ? इसकी प्रतिपत्ति करा-नेके लिये सूत्रकार अगले सूत्रको कहते हैं।

# स्थितिप्रभवासुखग्जातिलेइयाविश्चर्दीद्रियावि -विषयतोधिकाः॥ २०॥

आयुष्य प्रमाण स्थिति, निग्नहानुग्रह करना स्वरूप प्रभाव, इन्द्रियजन्य लौकिक सुख, दीष्ति स्वरूप द्युति, लेक्या, इन्द्रियोंका विषय, अवधिज्ञानका विषय इन करके ऊपर ऊपरके वैमानिक देव अधिक हो रहे है। यानी त्रेसठ प्रस्तारोंमे ऊपर ऊपर स्थिति आदिक बढ रहे पाये जाते हैं।

स्त्रोपात्तायुष उदयात्तास्मन् भवे तेन अरोरेणावस्थानं स्थिति, शापानुग्रहस्क्षणः मभावः, सद्देखोदये सत्तीष्ट्रविषयानुभवनं सुखं, अरीरवसनाभरणादिदीप्तिर्युतिः, कपायानुगितिना योगमञ्जत्तिर्देशितः, तस्या विद्याद्धन्ति राविश्वद्धिः, इन्द्रियस्यावधेश्च विषयं। गावरः मत्येयः, विषयशब्दस्यदिश्वादिभयां प्रत्येवमानिसंदिषात् अन्यथो गर्युपरि देवानाभिद्विपःभिद्यद्विपसंगात् सिद्धांतिवरीषापत्तेः।

अपने करके पूर्व जन्ममें उपाजित किये गये आयुष्य कर्मका उदय हो रहे उस भवमें उस गृहीत शरीरके साथ अवस्थान वना रहना स्थिति है कुद्व होकर अपने अधिकृत प्राणियों में सिसीको अनिष्ट प्राप्त कर। देना शाप स्वरूप प्रमाव है। और किसीके ऊार प्रसन्न होते हुये इच्ट प्राप्त करा देना स्वरूप अनुग्रह नामक प्रभाव है। अन्तरंगमें साता वेदनीय कर्मका उदय होते सन्ते इच्ट विषयों का अनुभव करना सुख है। शरीर, वस्त्र, अलंकार, गंध, द्रव्य, मृकुट आदिकी दीप्तिको द्युति कहते हैं। कषायों से अनुरंजित हो रही योगों की प्रवृत्ति लेश्या है। जो कि "गतिकषायिलगियादशंना, इत्यादि सूत्रकी ग्याग्हवीं वर्धितकमें कही जा चुकी है। उस लेक्याकी विशुद्धि हो जाना लेश्या विशुद्धि है। इन्द्रियोंका और अवधि ज्ञानका विषय यानी ज्ञानव्य प्रमेय इन्द्रिय विषय और अवधि विषय समझ लेना चाहिये। विषय शद्धका इन्द्रिय और अवधि इन प्रत्येकके साथ पीछे संबंध कर दिया जाता है। अन्यथा यानी इन्द्रियोंके साथ विषय यानी विद्यादि संबंध नहीं किया जायगा तो ऊपर ऊपर देशोंके इन्द्रियोंकी अभिवृद्धिका प्रसंग हो जानेसे सिद्धांतसे विरुद्ध कथनकी आपित्त हो जायगी अर्थात् सभी देशाविषके मध्य भेद वहां पाये जाते हैं। देशाविषके अविरिक्त कोई परमाविध, सर्वाविध, या अन्य भेद वहां नहीं है। वाये जाते हैं। देशाविषके अविरिक्त कोई परमाविध, सर्वाविध, या अन्य भेद वहां नहीं है।

सिद्धान्त शास्त्रोंमें ऐसा ही उल्लेख है। अतः इन्द्रिय और अवधि शहका पहिले द्वन्द्व समास कर 'इन्द्रियावधी 'पद बनालो। पुनः षष्ठी तत्पुरुष द्वारा 'इन्द्रियावधिविषय 'पदको व्युत्पन्न कर लेना चाहिये।

स्यत्यादिनां दूंदे रियतिश्रह्णस्यादी ग्रहणं तत्पूर्वकत्वात् प्रमानादीनां । तेभ्यस्ततः इत्यश 'पादाने दीयरदोरिति तसिः तैवीं ततस्तिस प्रकरणे " आद्यादिभ्य उपसंख्यान " भिति तसिः ।

स्थिति आदिक शद्बोंका स्थितिरच प्रभावरच मुखं च श्रुतिरच लेश्याविश्विरच इन्द्रिया-वधि विषयरच, यों निरुक्ति द्वारा द्वन्द्वसमास करनेपर स्थिति शद्धका आदिमें ग्रहण हो जाता है। क्योंकि आयुष्य कर्म द्वारा जीवन स्थिति नियत होनेपर जीवके प्रभाव, सुख, आदि हो सकते हैं। अतः प्रभाव आदिक सब उस स्थितिको पूर्ववर्ती मानकर पीछे उपजनेवाले पदार्थ हैं। स्थिति शद्का स्वन्त भी है किन्तू स्वन्तपना द्विमें भी पाया जाता है। लेश्या विशुद्धिमें अच् अत्यिशिक हैं। अतः ग्रंथकारने स्थिति पद आदिमें ग्रहण करनेके लिये सबके पूर्वमें वर्तना यही पृष्ट हेतु प्रयुक्त किया है। इन्द्र समास कर चुकनेपर स्थिति प्रभाव सुख द्युति लेक्याविशुद्धीन्द्रिया-वधिविषया इस पदसे तेभ्यः ततः इतिः यानी स्थिति प्रभाव मुख इतिलेख्याविश्द्धीन्द्रियाविषिविषयेभ्य इति स्थिति प्रभारमुखद्यतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियायधिविषयतः यहं सुत्रोक्तपदं बना लेना चाहिये । यहां " अपादाने ऽहीय रहो: " इस सूत्र करके तिस प्रत्यय करना चाहिये । पंचमी विभक्तिवाले अपादान अर्थेकी विवक्षा होनेपर तसि प्रत्यय हो जाता है। किंतू 'स्वपदात् हीयेत ' 'पर्वतातें अवरोहति, ऐसे पदोंमें हीय और रुहका योग होने रर तिस प्रत्यय नहीं हो पाता है। अथवा विषयैः यों तृतीयांत इन स्थिति अ।दि पदसे विषयतः बनालो तद्धित संबंधी तसि प्रत्ययके प्रक-रणमें ' आद्यादिश्य उपसंख्यानं ' आदि, मध्य, अन्त, पृष्ठ पाइर्व आदि आकृति गणपतित शहोंसे पंचमीके अतिरिक्त अन्य विमिक्तियों के अयं में भी तसि प्रत्यय हो जाता है। ऐसा वार्त्तिक द्वारा उत्सर्ग सुत्रसे अधिक उपसंख्यान किया गया है। इस कारण यहां तृतीयांत पदसे भी तिस प्रश्यय किया जा सकता है। पंचमी विभक्त्यन्त पदमें इतनी प्रेरकता नहीं है, जितनी कि तृतीयांतपद द्वारा प्रेरककारणता ध्वनित हो जाती है।

चपर्धुपरि वैमानिका इति चानुनर्तते तंनैवमभिसंबंधः कियते उपर्युपरि वैमानिकाः प्रति-कर्णं प्रतिपस्तःरं च स्थित्यादिभिरिधका इति ।

इस सूत्रमें ' उपर्युपरि ' और वैमानिकाः' इन दोनों सूत्रोंकी अनुवृत्ति हो रही हैं। तिस कारण दो सूत्रोंको मिलाकर इस सूत्रका अर्थ यों कर लिया जाता है कि ऊपर ऊपर वैमानिक देव प्रत्येक कल्प और प्रत्येक प्रस्तारमें स्थिति, प्रभाव, आदिकोंसे अधिक अधिक हो रहे विराजते हैं।

#### इतस्ते तथा सिद्धा इत्याह।

वे वैमानिक देव तिस प्रकार स्थिति आदिकसे अधिक हैं, यह सूत्रोक्त कथन भला किस प्रमाणसे सिद्ध किया गया है ? बताओ, ऐसी तर्कणा उपस्थित होनेपर ग्रन्थकार वक्ष्यमाण कारिकाको कहते हैं।

## सप्तभिस्ते तथा ज्ञेषाः स्थित्यादिभिरसंशयं। तेषामिह मनुष्यादौ तारतम्यस्य दर्शनात्॥१॥

वे वैमानिक देव (पक्ष) तिस प्रकार स्थिति, प्रभाव, आदि सात विशेषताओं करके क्कपर अपर अधिक हो रहे निस्संशय जान लेने चाहिये (साध्य) । क्योंकि इस दृश्यमान लोकमें उन स्थिति आदिकोंका सेठ, राजा, महाराजा, मल्ल, अध्यापक, आदि मनुष्यों या अनेक पक्षियों समवा बंदर, सिंह, आदि तिर्यंचोंमें हो रहा तरतम भाव देखा जाता है। (हेतु) अर्थात्-पुण्य-शाली व्यापारी सेठ, राजा, मल्ल, यं।गाभ्यासी, अ।दिकी आयु अधिक अधिक देखी जाती है। सिपाही, थानेदार, कलक्टर, कमिश्नर, लार्ड, वायसराय, आदिमें उतरोत्तर प्रभाव अधिक है, भिक्षुक, किसान, दुकानदार, जमीदार, सेठ आदिमें उत्तरोत्तर सुख भी वढ रहा है । रोगी, अल्फ्रोगी, दास ( मजूर ) अध्यापक, ब्यापारी, मल्ल, महाभट आदि निश्चिन्त पुरुषोंकी शरीर कान्ति भी उतरोत्तर बढ रही दीखती है। स्वच्छतासे प्रेम रखनेवाले वैद्य, डाक्टर, कप्तान, कल-क्टर, प्रभु, इनमें शरीर, वस्त्र, गहने, आदिकों की कान्ति भी बढ़ रही देखी जा रही है। नारकी कर, तियँच, मनुष्य, देव, भोगभूमियां, सर्वार्थसिद्ध, श्रावक, मुनि, इनमें कषाय और योगकी मिश्रण परिणति स्वरूप लेश्याकी विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ रही प्रतीत होती है। इसी प्रकार रोगी, निर्धन, अधमणं, (कर्जदार) घृतभोजो, निश्चिन्त पशु, पक्षी, मण्डलेश्वर चक्रवर्ती, देव इनमें स्पर्शन, द्याण, चक्ष, आदि इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण करना उत्तरोत्तर बढते चले जा **रह देखे जाते हैं। तथा** तिर्यंच, नारकी, भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिष्क, असुरकुमार, सौधमं, इन्द्र, आनत प्राणतवासी अनुत्तर विमानवासी, मुनि, चरमशरीरी. इनमें अविधिन्नान उत्तरोत्तर बढता जा पाया रहा द्यास्त्रों द्वारा ज्ञात हो रहा है। इसी प्रकार तिर्यंच योनिम विशेष रूपसें भी पक्षियोंकी चिरैया, नीलकंठ, चील, गृह आदिकी आयु बढ़ती हुई है। पशुओं में कुत्ता, छिरिया, गधा, घोडा, ऊंट हाथी अथवा बिल्ली, चीता. रींछ, वघेरा, सिंह, अष्टापद, इनकी आयु ऊपर क्रपर अधिक है। जल चरोंमें मेंडक मछली, कछुआ, मगर, घडिवाल, इनकी आयु बढे रही थायी जाती है। बन्दर, कुत्ता, भेडिया सिंह, बडे मच्छ, चील, गृद्ध, आदिके प्रभाव, सुख, दीप्त केश्या, इन्द्रियोंके विषय इनमें घटती बढ़तीका हो रहा तारतम्य देखा जाता है। बस, इसी तार-तम्य हेतुकी सामर्थ्यसे देवोंके ऊपर ऊपर स्थिति आदिक अधिक हो रहे साध लिये जाते हैं।

मनुष्यादी स्थितंस्तावतारतम्यस्य दर्शनादेवानाष्ट्रश्चेषिर स्थित्यधिक्यं द्वष्टं संभाव्यते । येपामाप समाना स्थितिः तेषामि गुणताधिकत्वसिद्धः । प्रभावस्य च तारतम्यदर्शनं तेना-धिकं । यः प्रभावः सौधर्षकल्पं निप्रदानुग्रहपराभियोगादिषु तद्दनंतगुणत्वादुपर्युपरि देवानां के.बलं मंदाभिमानतयाल्पसंक्लभतया च न भवतनं ।

मनुष्य, तियंच, आदिमें सबसे पहिली स्थितिके तरतम भावका दीखना होनेसे देवेंकि ऊपर ऊपर स्थिति करके अधिकपना देखा जा चुका सम्भावित हो रहा है। सर्वज्ञ देव या दिव्यज्ञानी आचार्य, जिन अतीन्द्रिय पदार्थीका प्रत्यक्ष कर छेते हैं, उनमेंसे कतिपय पदार्थीकी वादी, प्रतिवादी पुरुष युक्तियों द्वारा सम्भावना कर लेते हैं। उनकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिको आगे कह देंगे। हां, जिन देवोंकी स्थिति समान भी है, उनके भी अन्य गुणें करके अधिकपना सिद्ध हो रहा है। जैसे कि सौधर्म, ऐशान, स्वर्गोंमें कुछ अधिक दो सागर उत्कृष्ट आयु है। सनत्कुमार, माहेन्द्र, की भी इतनी ही जघन्य आयु है। एक समय अधिक कोई अधिक नहीं समझी जाती है। विजय, वैजयंत, जयंत, की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और सर्वार्थसिद्धिकी तेतीस सागर बराबर है एवं इन्द्रकी आधुके समान ही सामानिक देवोंकी भी आयु है। फिर भी इनमें गुणोंकी अपेक्षा अधिकता है। दश सागर उत्कृष्ट आयुवाले ब्रम्होत्तर स्वर्गवासी देवोंकी अपेक्षा आठ सागर प्रमाण आयुष्यधारी लौकान्तिक देव गुणोंसे अधिक है। जंसे कि निर्धन मुखं या रोगीके साठ वर्षतक जीवनकी अपेक्षा नीरोग विद्वानका पचास वर्षतक जीवन सुचार (बेहतर) है। दस दिनके काल कोठरी निवास नामक दण्डसे दो माहका कारावास कहीं अच्छा है। फांसीकी अपेक्षा जन्म पर्यन्त द्वीपान्तवास (कालापानी) दण्ड हरूका है। तथा प्रभावका भी तरतम रूपसे दीखना होनेसे देवोंमें उस प्रभाव करके ऊपर अधिक-पना सम्भावित हो रहा है। सौधर्म कल्पमें देवोंका जो निग्रह करना, अनुग्रह करना, दूसरोंको लताडना, आश्रिनोंपर अपराध नियत कर देना, आज्ञा चलाना आदि नियोगोंमें प्रमाव है। ऊपर ऊपर उससे अनंत गुणा होनेसे देवोंका प्रभाव अधिक हो रहा है। केवल अभिमान या अन्य कषायोंकी मन्दता होनेसे और अल्प संक्लेशवान् होनेसे ऊपर ऊपरके देव विचारे आश्रित-देवोंपर निग्रह, अनुग्रह, आदि नियोग चलानेमें प्रवृत्ति नहीं करते हैं। जैसे कोई प्रधानाध्यापक आनी सज्जनता, मन्द कषाय, औपाधिक क्षणिक पदिवयोंमें अनादर आदि कारणोंसे अपने आश्रित अध्यापक, छात्र मंडल या कर्मचारियों पर स्वकीय पूर्ण प्रभाव नहीं डालता है। भन्ने ही छोटी पदवीवाला प्रबंधक (सुपिन्टेन्डेन्ट) छ।त्रोंपर भारी प्रभाव गांठ लेवें । बात यह है कि गम्भीर प्राणी अपने पूरे प्रभावका व्यय नहीं करते हैं। जो अपने प्रभावोंका अधिकता या अनचित रूपसे जपयोग करते हैं, वे गम्भीर खीबोंमें निदाके पात्र होकर छोटे समझे जाते हैं। दूसरोंके उपकार करनेमें अपने प्रभावका भले ही उपयोग किया जाय, किन्तु दूसरोंके निग्नह, अभि-ें मोग संचालनमें जो पुरुष जितना भी अपने प्रभावका अल्प व्यय करेगा वह पुरुष उतना ही उदात्त सम्भीर, महामना, समझा जायगा। हां साधु अनुग्रह और दुर्जन दण्ड करनेवाले राज-वर्गके प्रभुओं (अफसरों) की वात निराली हैं। देवोंमें ऊपर ऊपर ऐसी निग्रह करानेवाली प्रभुताके उपयोगकी सामग्रीकी भरमार नहीं है।

एवमिह सुखस्य तःरतम्यदर्शनात्तेषां सुखेनाधिक्यं । युत्या तारतम्यदर्शनादिति युत्याधिक्यं । लेक्स्याविद्युद्धस्तारतम्यदर्शनात्त्याधिक्यं, समानलक्ष्यानामिष कर्मविद्युध्यधिकत्वः सिद्धः । इंद्रियविषयस्य तारतम्यदर्शनादिद्वियविषयेणाधिक्यं । तद्ददविधिविषयेण तथा संभावनायां वाधकाभावात् ।

इसी प्रकार यहां मनुष्योमें मुखके तारतम्यका दर्शन होनेसे उन कल्प और कल्पातीत देवोंके भी लौकिक सुखों करके अधिकपना सिद्ध कर दिया जाता है। चृति यानी दीष्ति करके भी यह तारतम्य देखा जाता है। इन कारण आगमगम्य, परोज, देवोंमें इस दृष्टान्तको सामर्थ्य अनुसार चृति करके अधिकपना साध दिया जाता है। लेक्याओं की त्रिशुद्धिका तारतम्य यहां मनुष्य या तिर्थ चोंगें देखा जाता है। इस कारण उस लेक्या चिशुद्धिका तारतम्य यहां सम्भावने योग्य है। "पीनपद्मशृक्ललेक्या द्वित्रि नेपेषु" इस सूत्र द्वारा वैमानिक देवोंमें लेक्या-विधि कह दी जायगी, किन्तु जिन देवोंको लेक्या समान है, उनके भी उतरोत्तर प्रस्तारोमें कर्मोंको विशुद्धिका अधिकपना सिद्ध है। जैसे कि सौ अममें पीत लेक्या है, सानत्कुमार स्वगंमें भी पीत लेक्या है। तथा आरण, अच्युत, ग्रैवेयक, अनुदिश, अनुत्तर विमानवासी देवोंमें सबके एकसी शुल्क लेक्या है। फिर भी कर्मोंके मन्द, मन्दतर, मन्दतम, उदय अनुसार लेक्याकी विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ रही है। योंही यहां मनुष्य तिर्यचोंमें छह इन्द्रियोंके विषयका तरतम माव देखा जाता है। अतः देवोंमे भी इन्द्रियोंके विषय करके अधिकपना अनुमित हो जाता है। उन्हींके समान देशावधिके अधिक अधिक अधिक हो रहे विषय करके तिस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक हो रहे देशावधिके विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी सम्भावना करनेमें बाधक प्रमाणोंका सभाव है। ' असंभवद्धाधकत्वाद्ध स्तुत्विद्धः'।

### गत्यादिभिरधिकत्वप्रसंगे तिश्ववृत्त्यर्थभाहः।

कोई प्रतिवादी कटाक्ष करता है कि जिस प्रकार स्थिति, प्रभाव, आदि करके ऊपर ऊपर अधिकपना है, उसी प्रकार वैमानिक देवों में गति, शरीर, आदि करके भी अधिकपनका प्रसंग प्राप्त हो जायगा ? ऐसी दशामें उस अनिष्ट प्रसंगकी निवृत्तिके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

# गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः॥ २१॥

गति, शरीर, अवगाहना, परिग्रह और अभिमानसे वे वैमानिक देव उत्तरोत्तर प्रस्तारों में हीन हीन होकर विराज रहे हैं। चभयनिमित्तवशाहेशांतरमाप्तिनिमित्तः कायपरिस्पंदां गतिः, श्रदीरमिह वैक्रियिकमुक्तः छक्षणं ग्राह्मं, छे।भक्षवायोदयान्मूर्छी परिग्रह्मं वश्यमाणः, मानकषायोदयात् प्रतियोगेष्वप्रणातिः परिणामोऽभिमानः । गतिश्वरीरपरिग्रह्मभिमानेर्गतिशर्रारपरिग्रह्मभिमानतः उपर्युपार वैमानिकाः प्रतिकृत्यं प्रतिप्रस्तारं च होनाः पर्यत्वयाः ।

अन्तरंग और बहिरंग दोनों निमित्त कारणोंके वशसे एक देशसे अन्य देशोंकी प्राप्तिका निमित्त हो रही शरीरके परिस्पन्दरूप कियाको गति कहते हैं। कार्योंके उपादान तथा अन्त-रंग, बहिरंग, प्रेरक, उदासीन, निमित्त ये कारण जब जड जाते हैं, तब कार्यकी उत्पत्ति हो जाती हैं । आकाशमें गति होनेके उपादान और बहिरंग अन्तरंग निमित्त कारण नहीं हैं। सिद्धक्षेत्रमें विराज रहे सिद्ध परमेष्ठियों में गतिका बांहरंग कारण गति नाम कर्मका उदय नहीं है। छातीमें वेग या अश्ववार इन प्रेरक कारणोंके नहीं मि 'नेपर घोडा गमन नहीं करता है। उदातीन कारण समान मानी गयी कीलके नहीं होनेसे चाक शीघ्र भ्रमण नहीं कर पाता है। अाः शरीरधारी देशोंकी गतिमें उपादान कारण जीव और शरीर तथा निमित्त कारणोंमें प्रेरकं निमित्त छातीके वेग, मनका उत्साह, गति कर्मका उदय ये अन्तरंग हैं। वाहन, विमान, पांव, भूमि आकाश, भ्रमणे च्छा, प्रमुकी आज्ञाका पालत, ये बहिरंग हैं। धर्मद्रव्य, आकाश, उदासीन कारण हैं। यो अन्तरंग बहिरंग, कारणोंसे देवोंकी गति पर्याय बनती है। यहाँ देवोंके प्रक-रणमें वैक्रियिक शरीर ग्रहण करना चाहिये, जिसका कि लक्षण हम द्वितीयाध्यायमें कर अबुके हैं। लोभ कषायके उदयसे संकल्प, विकल्प, स्वरूप मुर्च्छा होकर विषयोंमें आसक्ति हो जाना परिग्रह है। यह मूर्छी स्वरूप परिग्रह स्वयं सूत्रकार द्वारा आगे सातवें अध्यायके ' मूर्च्छा परि-ग्रहः ' सूत्रमें परिभाषित, कर दिया जावेगा । चारित्र मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृति मान कषा-यके उदयसे प्रतिस्पर्धा रखने वालों या साथवाले प्रतियोगी मनुष्यों में प्रणाम नहीं करना, नहीं दबना, स्वरूप परिणाम अभिमान है। उक्त चार पदोंका द्वन्द्व समासकर पूनः तृतीय विभिक्तके गति शरीर परिग्रहाभिमानों करके इस अर्थमें तिस प्रत्यय कर " गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः " यह पद बना लेना चाहिये । प्रत्येक कल्प और प्रत्येक प्रस्तारमें ऊपर ऊपर वैमानिक देव इन गति, शरीर, परिग्रह, और अभिमान करके हीन हो रहे समझ लेने चाहिये। यह सूत्रका मुख अर्थ है।

#### क्रतस्ते तथरपाड ।

वे वैमानिक देव भला किस कारणसे ऊगर ऊगर तिस प्रकार गति आदिक करके हीन हो रहे हैं ? बताओ, इस प्रकार आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम बात्तिक द्वारा समाधान वननको कहते हैं।

## उपर्युपरि ते हीना गत्यादिभिरसंभवात् । तत्कारणप्रकर्षस्य परिणामविशेषतः ॥ १ ॥

गित, शरीर, आदिकों करके वे देव ऊरर ऊरर हीन हो रहे हैं (प्रतिज्ञा)। क्योंकि ऊपर ऊपर तिस जातिके परिणाम विशेष होते रहनेंसे उन गित आदिकोंके कारणोंकी प्रकर्ष-ताका असम्भव है (हेतु)। अर्थात्-पूर्वजन्ममें उपात्त शुभ कर्मोंके अनुसार विशुद्धिका अध्यव-साय बढता बढता रहनेसे और अत्यवा संक्लेशमाव होनेसे वैमानिक देव सामर्थ्य, मुख, सन्तोष, आदिके अधिक होनेपर भी गित आदि करके हीन हैं।

गत्या ताबदुर्ण्युपि हाना देवास्तत्कारणस्य विषयाभिष्यंगोद्रेकस्य हानत्वात् तथा परिणामेनोत्पत्तः । अरीरेणापि हीनास्तत्कारणस्य पृष्ट्यग्रीरनामकर्मोद्रयस्य हीनत्वात् । सीथमैशानयोदेवानां शरीरं सप्तारत्तित्रपाणं, सानत्क्ववारमाहें त्योरगतिग्हानं काणिष्ठांतेषु, ततापि सहसारांतेष्वरत्निहीनं, तताप्यानतप्राणतयोरभौरतिहीनं, त विष्यारणः च्युतयोः, तविष्यग्रीवेन्यकेषु, ततो मध्यप्रवेयकेषु, ततीप्युपरिमग्रीवेयकेष्यस्त्रितिमानेषु च, ततोनुत्तरंषु तत्रारति । सामत्वाहेवश्रीरस्यति हि श्रुतिः ।

सबसे प्रथम कही गयी गति करके तो ऊपर ऊपरके देव हीन हो रहे हैं। क्योंकि उस विकि कारणभूत हो रही विषयों में तीव आसिवतकी अधिकता ( चाव ) के हीन हीन होनंसे तिस प्रकार अल्प गति परिणाम करके वैमानिकोंकी देव पर्याय उपजती रहती है। अर्थात्-कीडा, गमनविनोद (शैल सपाटा) करनेके लिये सौधर्म, ऐशान, स्वर्गके देव जितना यहां वहां असंख्याते द्वीप समुद्रोमें बार बार गमन करते हैं, उतना ऊपर ऊपरके देव यहां वहां नड़ी घुमते फिरते हैं। विनोक्ती बात दूर है। धार्मिक त्रियाओं के लिये भी ऊंपर ऊपरके देव अत्यल्प बाते जाते हैं। वैमानिक अहमिन्द्र देव तो नन्दीश्वर पर्व पूजा, सुमेश चेत्यालय पूजन, जिन जन्म महौत्सव आदिमें भी वहां नहीं आते जाते है। गतिके समान ही शरीर करके भी वैमा-निक देव उ.पर ऊपर हीन हैं। क्योंकि उस लम्बे, चौडे, मोटे, शरीरके कारणभूत शरीर नामक नामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रही 'प्रवृद्ध शरोर 'संज्ञक नामकर्मके उदयकी हीनता है। अर्थात् -- महामत्स्य, हाथी, छठवें मातवें नरकके नारकी, भोगभिमयां, नन्दीश्वर द्वीपकी वाबडियोंके कमल, बारह योजनका शंख, स्वयंत्रभपर्वतके वाह्य भागमें पाये जा रहे उस्कृष्ट अवगाहनाके त्रस जीव, इन स्थूल अवगाहनावाले जीवोंके देहविपाकी श्रीर प्रकृतिकी विशेष भेद हो रहीं प्रवृद्धशरीर नामक प्रकृतिका उदय विद्यमान है । किन्तू वैमानिक देवोंक प्रवृद्ध शरीर नाम कर्मका उदय नहीं है, किन्तु ' क्षत्लक शरीर ' संज्ञक नाम कर्मका उदय है। शरीर प्रकृतिके अवगाहनाओं के भेद अनुकूल असंख्याते भेद हैं। वैमानिकों में उत्तरीत्तर छोटे कोटे हो रहे वरीरोंके बन्तरंग कारण वैसी वैसी स्तोक घरीर प्रकृतिका जदय पाया का रहा

हैं। तदनुसार सौधर्म और ऐशान स्वर्गोम देवों का शरीर सप्त अरित्न प्रमाण है। 'प्रकोष्ठें विस्तृतकरें हस्तो मुण्टचा तु बढ़्या। स रितः स्यादरितस्तु निष्किनिष्ठेन मुण्टिना दस अमरकोष अनुसार कोनीसे लेकर पसारी हुई छोटी अंगुलीतक अरित्न नामका नाप है। कपड़े, भींत, आदिके नापमें बहुत स्थानोंपर इतने ही हाथका उपयोग प्रचलित है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गोमें एक हाथ हीन यानी छह हाथ प्रमाण लम्बा शरीर है। उन माहेन्द्र देवोंसे भी ऊपर कम्हलोक, ब्रह्मोत्तर, और कापिष्ठ पर्यन्त देवोंमें एक हाथ हीन यानी पांच हाथ परिमाण अंचा शरीर है। उनसे भी ऊपर सहस्रार पर्यन्त शुक्र, महागुक्र, शतार, सहस्रार इन चार स्वर्गोमें देवोंका एक अरित्न हीन यानी चार हाथ अंचा शरीर है। उससे भी ऊपर आनत प्राणत, स्वर्गोमें आधा अरित्न हीन अर्थात्—साढ़े तीन हाथका शरीर है। उससे भी ऊपर तीन अधो प्रैवे-यकोंमें आधा अरित्न कम यानी तीन हाथका शरीर है। उससे भी ऊपर तीन अधो प्रैवे-यकोंमें आधा अरित्न कम यानी ढाई हाथ लम्बा शरीर है। उससे भी ऊपर तीन मध्य प्रैवेयकोंमें आधा हाथ कम अर्थात्—दो हाथ उंचा शरीर है। उन मध्यप्रैवेयकोंमें अधि कार उपरले तीन उपरिम प्रैवेयकोंमें और तदुपरि नौ अनुदिश विमानोमें थो बारह स्थानोंपर देवोंका खेढ हाथ प्रमाण उंचा शरीर है। उन अनुदिशोंसे अपरले वहां अनुत्तर विमानोमें देवोंका शरीर केवल एक अरित (हाथ) प्रमाण उंचा है। यो आपतोक्त सिद्धांत शास्त्रों ढारा सुना जा रहा है।

परिग्रहेणापि विमानपरिवारादिलक्षणेन हीनाः तत्कारणस्य प्रकृष्टस्याभावात् । सौध-र्मादिषु हि देवानामुपर्युंपरि नामकर्मविञ्चेषोल्पाल्पतराल्पतमविमानपरिवारहेतुरंतरंगो बहिरंगस्तु क्षेत्रविञ्चेषादिरिति कारणापकर्षतारतम्यात् कार्यापकर्षतारतम्यसिद्धिः ।

विमान संख्या, सःमानिक आदि परिवार, सेना, भूषण, वाहन आदि स्वरूप परिग्रह करके भी वैमानिक देव ऊपर ऊपर हीन हो रहे हैं। क्योंकि उस परिग्रह के कारणभूत होरहें मध्यमजातीय पुण्यके प्रकर्षका अभाव है। अर्थात्—दिरद्र पुरुषोंके तीन्न पापका उदय होनेसे सुखोपयोगी परिग्रह नहीं मिल पाता है। परिस्थितिवण अल्पसंतोषी पुरुषोंके या जघन्य भोग-भूमियोंके जघन्यपुण्यका उदय होनेसे सुखोत्पादक थोडा परिग्रह एकत्रित हो जाता है। मध्यम जातिके पुण्य अनुसार राजा, महाराजाओं, भवनित्रक देव, सौधर्म स्वर्गी आदिके अत्यधिक परिग्रह जुड रहा है। किंतु उत्तम जातीय पुण्यका उदय होनेसे ऊपरले देव या अहाँमद्र अथवा उत्तम भोगभूमि के जीवों के अत्यत्प परिग्रह है। कारण कि सौधर्म आदि मे देवोंके ऊपर ऊपर अल्प विमान परिवार आदि का हेतु हो रहे तथा उससे भी थोडे अल्पतन विमान परिवार आदि परिग्रह के हेतु हो रहे विशेष नामकर्म का उदय यह अन्तरंग कारण विद्यमान है और सौधर्म स्वर्ग, आनत, प्राणत, गैवेयक, अनुत्तर ये क्षेत्रविशेष ऊपर ऊपर अल्पकषाय, लौकिकभावोंकी त्रृटि आदिक तो परिग्रह की हीनता में विहिरंग कारण हैं।इस प्रकार अन्तरंग कारण और विहरंग कारणों के अपकर्षका ऊपर ऊपर उपर उदतम भाव होने से परिग्रह जुड जाना स्वरूप कार्य के तरतम द्वारा होरहे अपकर्ष की विद्री

हों नाती है अर्थीत् अरर अरर देवों के लोभ कषाय का मन्द, मन्दतर मन्दतम, उदय है तथा अल्प अल्पतम, अल्पतम परिच्छदों के कारण उन उन स्तोक, स्तोकतर, स्तोकतम, विशिष्ट पुण्य प्रकृतियों के उदय अनुसार वंसे वैसे कार्य होजाते हैं।

कुतोभिमानेन हीनास्ते ? तत्कारणप्रकर्षस्याभावादेव । कि पुनरिभमानकारणं ? शरी-रिणामप्रतनुकवायत्वं मनसः संक्लेशोवधिशुद्धिविरहादतत्वावलोकनमसंवेगपरिणामस्व तस्य हानि-तारतम्यादुपर्युपरि देवानामिभमानहानितारतम्यं तत्पुनरिभमानकारणस्य हानितारतम्यं तत्प्रति-पक्ष मूतानां प्रतनुकवायत्वाल्पसंक्लेशाविधिविशुद्धितत्वावलोकनसंवेगपरिणामाधिक्यानां तारतम्या-दुपपद्यते पूर्वजन्मोपात्तविशुद्धाध्यवसायप्रकर्षतारतम्यादुपर्युपरि तेवामुपपादस्य घटनाक्व ।

**दे** वैमानिक देव अभिमान से हीन होरहे भला किस कारण से हैं ? इस प्रश्नपर ग्रन्थ-कार उत्तर देते हैं कि उस अभिमान के कारणभूत कषायों के प्रकर्ष का अभाव होजाने से ही वे अभिमानहीन हैं। फिर कोई पूछता है कि अभिमानका कारण क्या है? इसके उत्तर में **बाचार्य कहते** हैं कि शरीरधारी जीवों का अत्यल्प कवायों से रहितपना मन का संक्लेश, अव-धिज्ञान की विशुद्धि की विकलता होजाने से तात्विकदृष्टि द्वारा यथार्थतत्त्वों का अवलोकन नहीं होना, स्वकीय परिणामों में संवेग या वैराग्य भाव नही जगना, ये सब अभिमान के कारण है। गर्न के उन कारणों की हानिका तरतम भाव होने से ऊपर अपर देवों के अभिमान की न्यूनता का तरतम भाव सध जाता है। वह अभिनान के कारणों की हानिका तरतमभाव तो फिर उसके प्रतिपक्षभूत होरहे विशेष सूक्ष्मकषाय यानी मन्दकषाय परिणाम, अल्प संक्लेश, अवधि ज्ञान की विश्वद्धि, वास्तविक जीव आदि तत्त्वों का अवलोकन, गर्व, क्रोध, सादि विभाव परि-णामों के औपाधिकपने पर पहुंचकर ज्ञप्ति कर लेना, संसारभीरुता या लौकिक कार्यों में निरु-त्साह, अधिक्ष्प परिणाम इनकी अधिकता के तारतम्य से बन जाता है। क्योंकि पूर्व जन्मों में पुरुषार्थं द्वारा गृहीत हुये विशद्ध अध्यवसायों की प्रकर्षता के तारतम्य से उतार उत्पर स्थानों में उन देवों का उत्पाद घटित होरहा है। भावार्य-सौधर्म से ऊपर ग्रैवेयकतक भले ही वे देव सम्य ग्दुष्टि होय चाहे मिथ्याद्ष्टि होय, उनके कषायों की मन्दता या अल्प संक्लेश आदि हेत् पाये जा सकते हैं। वर्तमान में भी अनेक अजैन विचारे कतिएय जैनों की अपेक्षा मन्दकषाय देखे जाते हैं। प्रधानाध्यापकपन, सेठियापन, जमीदारी, राज्याधिकार, राजपदिवर्या, चौधरायत, पंचपना, सुन्दरता, जातिगर्व, ज्ञानमद, तपस्या आदि का गर्व जब कि दूसरे दूसरे मनुष्यों में अत्यल्प पाया जाता है किन्तु स्वयं को धर्मात्मापनका गर्व कर रहे किसी किसी व्यक्ति में उन पदों का अभि-मान चकाचक भर रहा है। अल्प संक्लेश भी मिध्यादृष्टियों के पाया जाता है। समी बीन अब-धिक्षान द्वारा जैसे विश्दि होती है विभंग द्वारा भी विलक्षण जाति की विश्वदि होना सम्भव है अनेक अर्जन साधुओं में कुश्रुतज्ञान द्वारा होरही विश्वद्धि इसका दृष्टान्त है। इसी प्रकार सत्वाद-लोकन भी समझिलया जाय। ग्यारह अंग नौ पूर्वपाठी मिथ्यादृष्टि के ज्ञानसे एक अक्षरको भी शूद नहीं बोछने समझनेवाछे सम्याद्धि के तत्वावछोकन को ज्ञानवध्दशा द्वीन कहते में छन्या क्या है ? सम्यग्दर्शन के बिना भी यथोचित तत्वोंका आलोचन होसकता है, भलें ही उसको बौपाधिक सम्यग्जान नहीं कहो । इसी प्रकार संसार से भीति कराने वाले संवेग परिणाम मिथ्या दृष्टि के भी होसकते हैं। रूप, धन, विद्या, कुल, वलके अभिमान, को सहस्रों अजैन कुचल ढालते हैं। कोध, गर्व, ये सब औपाधिक भाव हैं, दु:खकारण है, इन सब बातों को संकडों फकीर, भिक्षुक आदिक समझते हुये गारहे हैं। लाखों अजैन साधु संवेगव्य अभिमानके कारणों को लात मारते हुये मन्दकपाय, अल्प संक्लेश, आत्मविशुद्धि, तत्वपर्यालोचना, संवेग, वैराग्य परिणामों को धाररहे बनों या पर्वत, गुफाओं, मे निवस रहे हैं। बतः ऊपर ऊपर के देव वाहे सम्यग्दृष्टि होंय अथवा मिथ्यादृष्टि होंय, परिमह और अभिमानसे हीन हीन होरहे हैं। नौ अनुदिश और पांच अनुत्तरों में तो सम्यग्दृष्टि हो हैं। उनकी परिग्रहहीनता और अभिमानहीनता के अन्तरंग कारण मन्दकषायपन आदि को सुलभतासे समझाया जा सकता है। श्रद्धालु जैन या भक्त पुरुषों के प्रति इसमे अधिक युक्तियों के दिखलाने की आवश्यकता नहीं है। मन्द कथाय होने से अल्पसंक्लेश होता है। अल्प संक्लेश से विशुद्ध अवधि उपजती है। उससे ऊपर ऊपर देव शारीरिक, मानसिक, दु:खों से घेरे जारहे असंस्य नारकी तियँच या मनुष्यों को तात्विक रूप से देखते हैं। उसको निमित्त पाकर संवेग परिणाम होता है। उस संवेगसे अनन्त दु:ख के हेतु परिग्रहोंमें अभिमान नष्ट होजाता है। यो उक्त पदों की एक वाक्यता करली जाती है।

#### क्यं पुनरुपर्युपरिभावो वैमानिकानां संगच्छत इत्याशंकावामिदमाह ।

कोई प्रतिवादी पण्डित आशंका उठाता है कि वैमानिक देवों का किर ऊपर उपपाद जन्म होना भला किस प्रकार संगत होजाता है! ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री. विद्यान्तन्द स्वामी समाधानार्थ उत्तर वात्तिक को कहते हैं।

# स्थित्यादिभिस्तथाधिक्यस्यान्यथानुपपत्तितः । नोपर्युपरिभावस्य तेषां शंकेति संगतिः ॥ २ ॥

स्थिति, प्रभाव, आदि कों करके तिस प्रकार अधिकपन की अन्यथा यानी ऊपर ऊपर उपपाद के विना अन्य प्रकारों से सिद्धि नहीं होसकती है। अतः उन वैमानिक देवों के उक्त ऊपर अपर स्वर्गों, पटलों या कल्पातीत विमानों में उपपाद जन्म लेनेकी शंका नहीं करनी बाहिये अर्थात् इस प्रकार यहां विशुद्ध परिणामों को निमित्त पाकर हुये पुण्यकर्म भेदोंके अनुसार देव ऊपर ऊपर उपज जाते हैं। स्थिति, प्रभाव, आदि की अधिकता होनेसे ही देवों में ऊपर ऊपर गति शरीर, आदि की हीनता स्वयमेव सिद्ध होजाती है। जैसे कि किसी धर्मात्मा पुरुष में जिनेन्द्रभक्ति, द्याभाव, वतपालन, बहावयं, स्वाध्याय, आवरण, की वृद्धि होते संते स्वयं वहां यहां व्यर्थ गमन, शरीरवृद्धि, परिग्रह अहंकार इन की तृदि निर्णीत होजाती है। अस्याद्यंन, सदाचार अदि गुणों की अधिकता से सज्जन पुरुषों में उस पुरुष की उत्तरोत्तर स्थाति बढती है। अस्या देश में सुराज्य होने पर सुभिक्षा, शिक्षा, नीरोगता, समृद्धि, वाणिज्य

स्वात्मगौरव आदि की वृद्धि होते हुये विना ही प्रयत्न के दरिद्रता, पराधीनता, पद पद पर अपमान सहना, दुभिक्ष आदि की हानि होजाती है। यो पूर्वापर सूत्र वाक्यों की संगति कर लेनी चाहिये।

पूर्वजन्ममाविस्वपरिणामविशेषविशुद्धितारतम्योपात्तशुमकमंविशेषप्रकर्षतारतम्यात् स्थित्यादिमिराधिक्यं तावद्वैमानिकानां सूत्रितं सर्वथा बाधकविधुरत्वात्तवन्यथानुपपत्त्या च तेषामु-पर्युपरिमावस्य संगतिः । पूर्वजन्मभाविस्वपरिणामविशेषविशुद्धितारतम्योपात्तशुमकर्मतारतम्यात् स्थित्यादिभिराधिक्यस्य दर्शनात्, क्षोणान्यथानुपपत्तिरिति चेन्न, तदाधिक्यविशेषस्य तेषामुपर्यु-परिमावेनान्यथानुपपत्तिसिद्धेः।

पूर्वं जन्म मे होनेवाले स्वकीय परिणाम विशेषों की विशुद्धि के तरतमभाव करके जपाजित किये गये शुभ पुण्य कर्म विशेषों को प्रकर्षता के तारतम्य से स्थिति, प्रभाव, आदि कों करके वैमानिक देवों का अधिकपना तो सूत्रकार द्वारा पूर्व सूत्र में सूचित कर दिया गया ठीक हैं 1 क्यों कि बाधक प्रमाणों की सभी प्रकारों से विकलता होजाने के कारण उन स्थिति आदिकों करके अधिकपना वस्तृतः सिद्ध होजाता है। और उस स्थित आदि के अधिकपन की अन्यथा-नुपपत्ति करके उन देवों के ऊपर ऊपर उपपाद हेने की निश्शंक संगति हो जाती है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि पूर्व जन्ममें हो चुके स्वकंय परिणामविशेषों की विशुद्धि के तारतस्य अनुसार उपाजित किये गये शुभ पौद्गलिक कर्मों के उदय की तरतमता से स्थित आदि करके मधिकपना देखा जाता है। अतः अन्यथानुपपत्ति क्षय को प्राप्त हो चुकी समझनी चाहिये अर्थात् स्थिति आदि के आधिक्य का गुभपरिणामों द्वारा उपात किये गये शभकर्मी के ताग्तम्य के साथ अविनाभाव है। स्थिति अदि की अधिकता का देवों के ऊपर ऊपर जन्म होने के साथ अविनाभाव नहीं है। ऐसी अविनाभावविकलदशा में तस पूर्वसूत्रोक्त स्थित प्रादि के आधिक्य से वैमानिक देवों का ऊपर ऊपर उपपाद सिद्ध नहीं हो सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उन स्थिति आदिकों के अधिकपन स्वरूप विशेष की उन देवों के ऊपर अपर उपपाद होने के साथ अन्यथानुपपत्ति सिद्धि होरही है। यहाँ भी निजपुण्य अनुसार कुलीनता, अधिक स्थिति, ऊंवा प्रभाव, विशिष्ट सूख, सुन्दर कान्ति, उत्तम लेश्या, वाले पुरुष उच्च स्थानों में जन्म लेते हैं। पूण्यशाली, धर्मात्मा श्रावक, या मुनियों में तो गति, शरीर परि ग्रह और अभिमानकी हीनता भी देखी जाती है। अतः कारिका मे कही गयी अन्यथानुपपत्ति निर्बल नहीं है।

#### अयाद्येषु त्रिषु निकायेषु लेश्याविद्यानमुक्तं वैमानिकनिकाये संप्रत्युच्यते ।

आदि की भवनवासी, व्यन्तर,ज्योतिष्क इन तीन निकायों में लेक्या का विद्यान सूत्रकार करके "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेक्याः, इस सूत्र द्वारा पहिले कहा जा चुका है। अब प्रकरण अनुसार चौथी वैमानिक निकाय में छेक्या का विद्यान सुत्रकार द्वारा इस समय कहा जाता है।

# पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

दो, तीन, और शेषयुगलों में पीत, पद्म, और शुक्ल लेश्या को धारनेवाले देव निवास कर रहे विराजते हैं। अर्थात् सौधर्म ऐशान और सनत्कुमार माहेन्द्र इन दो युगलों में पीत लेश्या है। ब्रह्मब्रह्मोत्तर, लांतव कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र, इन तीन युगलों में पद्मलेश्या है। अीर शेष ऊगर के विमानों में देवोंके शुक्ललेश्या है 👢

नन् च पूर्वमेतद्वक्तव्यं तत्र पुनर्लेश्यामाचात् सूत्रस्य लाघबोपपत्तेः "आदितस्त्रिषु पीतांत-लेश्याः,, ततः '' पीतपद्मशुक्ला द्वित्रिशेषेष्विति,, । तदसत्, तत्र सौधर्मादिग्रहणे सूत्रगौरवप्रसं-गादग्रहणेऽभिसंबंधानुपपत्तेः संक्षेपार्थमिहैव वचनोपपत्तेः ।

यहाँ कोई पण्डित आक्षेप करता है कि इस सूत्र को पहिले ही कहना चाहिये था। वहाँ लेश्या शब्द विद्यमान है। फिर लेश्या शब्दके नहीं उपादान करने से सूत्रका लाघव गुण बन जाता है। देखो, आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः, आदि से तीन निकायों में पीत पर्वंत लेश्या बाले देव हैं। इस सूत्र के लगे हाये ही उससे पीछे "पीतपद्मशुक्लाद्वित्रिशेषेषु, यों सूत्र बनाकर पुनः लेश्या शब्द नहीं देना पडा । अतः गुणकृत और परिमाणकृत लाघव सेंत मेंत प्राप्त होजाता है । ग्रन्थकार कहते हैं वह आक्षेप करना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि वहाँ तीसरे सूत्र से आगे ही सीधर्मेशान आदि वैमानिकों के प्रतिपादक लम्बे सुत्रका निरूपण कर देनें पर सूत्र के दोष का प्रसंग होता है। यदि सौधर्मेशान आदि सुत्रका वहाँ तीसरे, चौथे सुत्र के अवसर पर कण्डांक्त उपादान नहीं किया जायगा तो लाघवार्थ वहां किये जाने योग्य "पीतपदाश्वक लेक्या द्वित्रिशेषेषु " इसका ठीक ठीक सम्बन्ध कर देना नहीं बनसकेगा। इस कारण बढिया संक्षेप के लिये सौधमं ऐशान आदि का निरूपण करचुकने पर यहाँ ही संक्षेप के लिये इस सूत्र का निरूपण करना सधता है। वस्तुत: विचारा जाय तो आक्षेपकार की अपेक्षा सुत्रकार को संक्षेपविधान के अधिक लक्ष्य है। अतिथिको सम्पूर्ण निष्ट भोजनों का आद्य समझाते हुये पोंडे की एक पमोजी परोस देने से उसकी अनेक स्वादपूर्वक क्षुधानिवृत्ति नहीं होजाती है। तथा सभी प्रकार के वस्त्रों का मूल कारण विनौलेको दे देने से शरीराच्छादन पूर्वक शोभा बढाते हुये शीतबाधा निवारण नहीं होसकता है। ऐसा लाघव भी ओछेपन का सम्पादक है।

पीतपद्मशुक्लानां हंद्रे पीतपद्मयोरीसरपितकं हुस्यत्वं द्रुतायान्तपरकरणान्मध्यमितहं-वितयोरपसंरव्यानिमत्याचार्यवचनवर्शनात् मध्यमाशहस्य विडंबितोत्तरपदे हंद्रेपि हस्वत्वसिद्धेः। ततः पीतपद्मशुक्ल्लेश्याः येषां देवानां ते पीतपद्मशुक्ल्लेश्या इति हंद्वपूर्वान्यपदार्वा वृत्तिः।

पीता च पद्माच शुक्ला च यों भीता और पद्मा तथा शुक्ला पदों का इतरेतर इन्द्र-समास करने पर पीता और पद्मा पदों का उत्तरपद की अपेक्षा न्हस्व होना बन जाता है। सदः इन्द्र श्रमास में पुंचभ्दाव नहीं होडकने का कटाक्ष नहीं करना चाहिये। जैसे कि संबीत

शास्त्र में आचार्य का यह वचन देखा जाता है कि दूता यानी शीघता की मात्रा होनेपर तपर करने से मध्यम और विडम्बिता का सूत्रमार्ग से बाहर उपरिष्ठात् वैसा ही कथन देना चाहिये। अतः मध्यमा शब्द का विडम्बिता इस उत्तर पद के परे रहते सन्ते द्वन्द्व में भी न्हस्व होना सिद्ध है। भावार्थ-द्रुतमात्रा मध्ययात्रा और विलम्बितमात्रा यानी शीघ्र बोली गयी या मध्यम रूप से बोली गयी और विलम्ब से बोली गयीं मात्रायें " द्रुतमध्यमविलाम्बता मात्रा कही जाती है। यहाँ उत्तर पद की अपेक्षा स्त्रीलिंग द्वता और मध्याशब्द को समास कर चुकने पर न्हस्व होजाता है। आज कल के इन पश्चात् भावी पुरूषों को शब्दशास्त्र अनुमार साधु शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। किन्तु व्याकरण के नियम पूर्वआचार्यों के वचन बनाने चाहिये। भले ही व्याकरण में कोई सूत्र नहीं मिले, ऐसी दशामें ऋषियों के केवल वाक्य पद्धति अनुसार उपसंख्यान कर लिया जाता है अर्थात् "तपरस्तत्कालस्य,, अत इत् उत् इनसे केवल अकार इकार उकारका ही बोध हो सकता है। इस नियम अनुसार द्वृता मात्रा में तपर करने पर द्रुता को ही शी घ्र बोल सकते हैं। मध्या और विलम्बिता का शी घ्र उच्चारण नहीं कर सकोगे । किन्तु गाने को अवस्थामे शीघ्र शीघ्र उच्चारण करते हुये तपर करने पर मध्यमा और विडम्बिता मात्राओं का भी शीघ्र उच्चारण कर लेना चाहिये। तभी राग या रागिनी ठीक गाये जा सकेंगे। तिस कारण पूर्व पदों को न्हस्व होजाने से "पीतपद्मशुक्त्रलेश्याः ,, यह द्वन्द्व समासान्त पद बन जाता है। जिन देवों के पीतपद्मशुक्ललेश्यायें पायीं जाती हैं, वे देव पीत-प्रधान द्वन्द्व नामक समास वृत्ति पद्मशक्ल लेक्यावाले हैं। इस प्रकार पूर्व में सर्वं पदार्थं कर चुकने पर पुनः अन्य पदार्थं को प्रधान करने वाली बहुन्नीहि वृत्ति कर ली गयी है। यहां यह भी कहना है कि ' पूज्यापादा वृत्तिकारास्तु अथवा पीतश्च पदाश्च शुक्लश्च पीत-पद्मशुक्लाः वर्णवन्तोऽर्थाः तेषामिव लेश्या येपां ते पोतपद्मशुक्ललेश्या इत्याहुः " इन पुह्लिंग शब्दों द्वारा वाच्य होरहे पीतपद्म और शुक्ल वर्णवाले किन्ही किन्ही परायोंकीसी लेश्या जिन वैमानिक देवों की है, वे पीतपद्मशुक्ललेश्यावाले देव हैं। सर्वार्थसिद्धिकार यों इन्द्र र्गाभत बहुब्रीहि समास करके न्हस्व करनेके झगडे को ही मिटा देते हैं। उपमान, उपमेय का वाचक कोई विशिष्ट शब्द नहीं होने से ग्रन्थकार को उक्त बिग्रह करने में अस्वरस प्रतीत होरहा है।

#### द्वित्रिशेषेष्वित्यधिकरणनिर्देशाद्व्यादिकल्यादीनामाघारत्वसिद्धेः ।

'दिनिशेषेषु'' यानी दो तीन और शेष वैमानिकों में इन प्रकार सप्तमी विभवित वाले अधिकरणका सूत्रकार द्वारा निर्देश कर देने से दो आदि कल्प और आदि पदसे प्रहण कियें गये ग्रैवेयक आदि कल्यातीतों के बाधारपन की सिद्धि हो बाती है। अर्थात् ऊपर करर कल्प बादि में रहने वाले देव दो, तीन, खेष, विधकरणों में पीत बादि लेख्या वाले हैं।

#### कथं पुतः पीतादयो लेक्यास्तदाधेयानां देवानां विज्ञेया इत्यावेखते ।

फिर उन करूप और करूपातीत अधिकरणों के आधेयभूत होरहे देवों के भला पीत बादि लेक्यायें हैं, यह किस प्रकार प्रमाण द्वारा समझ लेना चाहिये ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्रीविद्यानन्द आचार्य करके अधिमवात्तिक में समाधान का निवेदन किया जा रहा है।

## लेश्याः पीतादयस्तेषां सूत्रवाक्यप्रभेदतः । प्रत्येतव्याः प्रपंचेन यथागममसंशयं ॥ १ ॥

उन चौथी निकाय के वैमानिक देवों के पीतादि लेक्यायें हैं। इस सिद्धान्त की आगम मार्गका अतिक्रमण नहीं कर उक्त सूत्र के वाक्यों का प्रभेद कर देने से विस्तृतरूप करके संशयरहित प्रतीति कर लेनी चाहिये अर्थात् दो दो, तीन तीन, शोध शोध, यों उक्त सूत्र से कितिपय वाक्यों का उपप्लव कर आम्नाय अनुसार देवों के लेक्या का विधान कर लेना चाहिये।

द्वयोः सौधर्मैज्ञानयोः सानत्कुमारमाहेंद्वयोश्च पीतलेश्याः द्वयोर्बह्यलांतवकल्ययोः शुक्रशतारकल्पयोश्च पद्मलेश्याः द्वयोरानतप्राणतयोरारणाच्युतयोश्च शुक्ललेश्याः, त्रिष्वधो-ग्रैवेयकेषु त्रिषु मध्यमग्रैवेयकेषु त्रिष्परिग्रैवेयकेषु च शुक्ललेश्याः।शेषेष्वनुदिशेषु पंवस्वनुत्तरेषु च शुक्ललेश्या इति सूत्रवाक्यप्रभेदतः प्रत्येतच्याः।

प्रथम ही "दिशब्द का पीन पद्म और शुक्ल इन तीन स्थानों के साथ तीन बार कथन कर यों भिन्न भिन्न वाक्यों को बनालों कि "द्वयोः पीतलेक्याः" दो युगलों में यानी सौधमं और ऐशान तथा सानत्कुपार और माहेन्द्रकल्पों में बस रहे देन पीतलेक्यावाले हैं। फिर "द्वयोः पद्मलेक्याः" दो में अर्थात् दो इन्द्र युगलों द्वारा अधिकृत कल्पों की अपेक्षा दो में यानी बम्हबम्होत्तर स्वगं वाले बम्हकल्प में और लांतव कापिष्ठ स्वगं वाले लांतव कल्प में इसी प्रकार इन्द्र अपेक्षया शुक्र महाशुक्र स्वगंवाले शुक्र कल्प या शुक्र इन्द्र अधिकृत जीवों और शतार, सहस्नार, स्वगं वाले शतार कल्प में इन दो में पद्म लेक्याधारी देव निवास करते हैं। पुनः 'द्वयोः शुक्ललेक्याः" अर्थात् आनत प्राणत तथा आरण और अच्युत इन दो युगलों में देव शुक्ललेक्यावाले हैं। अब त्रि शब्द की केवल शुक्ललेक्याः " यानी तर उत्पर तीन निचले प्रवेगकों में देवों के शुक्ललेक्या है। और "त्रिषु शुक्ललेक्याः " यानी तर उत्पर तीन निचले प्रवेगकों में देवों के शुक्ललेक्या है। और "त्रिषु शुक्ललेक्याः " यानी तर उत्पर वने हुये तीन मध्यम प्रवेगकों में दनसे कुछ अच्छे शुक्ललेक्याः बाले देव हैं तथा " त्रिषु शुक्ललेक्या को स्वार्यनेवाले देव हैं। अथानन्तर श्रेष शब्द का शुक्ललेक्या के साथ दो बार आवृत्ति कर श्रेष वातिवाले देव हैं। अथानन्तर श्रेष पाक अनुत्तर विमानों में निवास कर रहे देव शुक्ललेक्या काले

हैं। यों अर्थ कर लेना चाहिये। इस प्रकार सूत्र वाक्यों के ब्राठ प्रभेष्ट कर देने से वार्तिकोक्त प्रतिका अनुसार प्रतीति कर लेने योग्य अर्थ निकल आता है।

चतुरचतुःशेषे विवित्तवस्तव्यं स्पष्टार्यमिति चेत् न, अविशेषेण चतुर्षु माहें द्रांतेषु पीतायाः प्रसंगात् चतुर्षु च सहस्रतिषु कल्पेषु पद्मायाः प्रसक्ते,ः शेषेषु चानताविषु शुक्ललेश्यायाः समनुषंगात् तथा चार्षविरोधः स्यात् । तत्र हि सौधर्मेशानयीः देवानां पीता लेश्येष्यते, सान-त्कुमारमाहेंद्रयोः पीतपद्मा, ततः कापिष्ठांतेषु पद्मा, ततः सहस्रारांतेषु पद्मशुक्ला, ततोऽच्युततांतेषु शुक्लाः ततः शेषेषु परमशुक्लेति ।

कोई पण्डित यहाँ अपनी भोली बुद्धि अनुसार कह रहे हैं कि सूत्रकार को "पीत-पद्म गुनल लेश्याइचतु इचतुः शेषेषु " इस प्रकार स्पष्ट अर्थ का प्रतिपादक सूत्र कह देना चाहिये। चार स्वर्गों में पीत लेश्या और चार में पदा लेश्या तथा शेष स्थानीं पर शुक्ललेश्या को धारने वाले देव हैं। यों अर्थ की स्पष्ट प्रतीति करा दी जा मकती है। ग्रन्थ कार कहते हैं कि यह तो नही कहना। क्योंकि यों सूत्र गढ़नेपर तो सामान्यकासे माहेंद्र पर्यन्त चार स्वर्गों में पीत लेखा पाये जाने का प्रसंग आवेगा और सहस्रार पर्यन्त आठ स्वर्गी में किन्तु इन्द्र अवेक्षा **ब्रम्ह ब्रम्होत्तर लान्तव का**पिष्ट, शुक्र महाशुक्र, शतार सहस्रार इन चार कर्न्योने पद्म लेश्या होने का प्रसग आवेगा तथा इन से ऊपर के शेव आनत आदि सत्रह पटलों में सुक्ल लेश्या का भले प्रकार प्रसंग बन बैठेगा और तिस प्रकार इन तीन अनिष्ट प्रस्गों के लग जाने मे आम्नाय अनुसार चले आरहे ऋषि प्रोक्त सिद्धान्त से विरोध ठन जायगा। क्योंकि उस आर्प सिद्धान्त में सौधर्म और ऐशान में रहनेवाले देवों के पीतलेक्या इप्ट की गयी है। तथा सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गों में पीत लेश्या और पद्मलेश्या मानी गयी हैं। उन से ऊार कापिष्ठ पर्यन्त चार स्वर्गों में पद्मा लेश्या है। इनके ऊपर सहस्रार पर्यन्त चार स्वर्गों में पद्म शुक्ल लेक्या अभीष्ट की गयी हैं। उनसे ऊपर अच्युत पर्यन्त स्वर्गों में शुक्ल लेक्या बखानी हैं। तया उन सो वह स्वर्गीत भी कार शेष ग्रैवेयक, अनुदिश, और अनुत्तर यों ग्यारह पटलों में परम-शुक्ललेश्या सिद्धान्त ग्रन्थोंमें विणत की गयी है। अत: " चतुरचतुः शेषेणु " कह देनेसे अर्थ तौ स्पष्ट हो गया, किन्तु अवसिद्धान्त दोष क्र्र चेष्टा पूर्वक भूकृटीको चढाये हुये सन्मुख हो जाता है। सिद्धान्त मार्गसे स्खलित होकर कोरे स्पष्ट कथन करनेको शेखी मारना समुचित नहीं है। "बच्चा भलेही मरजाय किन्तु दोरा (गंडा ) नहीं टूट जाते " तांत्रिकोंको ऐसा निद्य भाषण नहीं करना चाहिये।

क्यं सूत्रेणानिविहतीयं विशेषः प्रतीयते ? । पीताग्रहणेन पीतपद्मयोः संग्रहात् पद्माग्रहणेन पद्मशुक्लयोः इत्याहः ।

यहां कोई कटाक्ष करता है कि श्री उमास्वामी महाराजने सूत्र करके यह विशेष जब कण्डोक्स नहीं कहा है, तो किस शकार आप संवकारने मीं प्रत्ययं कर किया है कि सनस्कृमार माहेन्द्रमें पद्मलेश्या पायी जाती है। और शतार सहस्रारों में शुक्ललेश्या भी देवों के रही है। इसके उत्तरमें श्री. विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि पीताके ग्रहण करनेसे निकटवर्ती पद्माको मिला कर पीता और पद्माका संग्रह होजाता है। इसी प्रकार पद्मालेश्याके करके परली ओर शुक्लाको खेंचकर पद्माशुक्ला दोनों छेश्याओं का संप्रह कर लिया जाता है। यों हम और अन्य विद्वान भी ऐसे अवसरोंपर सन्धि स्थानोंमें निवास करनेवाले जीवोंके लिये इसी ढंगसे कहते हैं। अर्थात् जैसे कि भिन्न भिन्न भाषाओं को बोलने वाले प्रान्तों के बीचमें वस रहे मनुष्य कुछ इस प्रान्त और कुछ उस प्रान्तकी मिश्रित भाषाको बोलते हैं। दिन और रात्रिके मध्यमें कुछ अंधेरा और कुछ प्रकाशकीं मिश्रण अवस्था पायी जाती है, उसी प्रकार पीतलेश्या-शब्द सौधर्म, ऐशान, देवोंके लिये स्वतंत्र है। और ब्रम्ह, ब्रम्होत्तर, लांतवकापिष्ठींके शुद्ध पदालेश्या रक्षित है। फिर भी मध्यवर्ती सानत्कुमार, माहेन्द्रोंमें बहुभाग पीतके साथ अल्प भागमे पद्मलेश्याका भी विद्यान किया गया सै । एवं काषिष्ट पर्यन्त चार स्वर्गीमें शुद्ध पद्मलेश्या और आनत आदि अच्यत पर्यन्तों में शुद्ध श्वरु हेश्याकी विधि होते हुये भी मध्यवर्ती भुक, महाशुक्र, शतार, सहस्रारों में बहुभाग पदालेंश्या और अल्प भागमें शुक्ललेश्याकी विधि कर दी जाती है। संक्षेप कथन करने वाले सूत्रकार भला छोटेसे सूत्रमें अनेक सन्धिस्थानोंका निरूपण कैसे कर सकते हैं ? पूर्व निषधसे उदय हो कर भ्रामण करते हुये सूर्यका पश्चिम निषध पर अस्त होजानेकी दिवसीय अवस्थाओं अनुसार होने वाले अनेक प्रकाशोंके तारतम्यका स्यूल दृष्टिसे वर्णन किया भी जासके, किन्तु दिन और रात की मिश्रण अवस्थाओंका प्रकाश और अन्धकारसे मिश्रित निरूपण तो आपाततः ही किया जासकता है। "तन्मध्यपतितस्तज् ग्रहणेन गृहचते,, संख्यात, असंख्यात, अनन्त, भेद प्रभेद वाले परिणामोंकी मध्यम अवस्थाओंको कहाँ तक कहा जाय । बिना कहे ही अर्थांपत्या उनको समझ लिया जाता है।

कथं ! तथा लोके शब्दव्यवहारदशंनात्। छत्रिणो गच्छंतीति यथा छत्रिसहचरितानामछत्रिणामिप छित्रव्यपदेशात्। पाठांतरेपि यथा व्याख्यानाददोष इति चेत् न, अनिष्टशंकानिवृत्यर्थः चात् द्वित्रि-शेवेष्वित पाठत्य, चतुःशेवेष्वित तु पाठे चतुणां चतुणां मुपर्युपरिभावेऽनिष्टः शंक्येत तिन्नवृत्ति-र्यथान्यासवस्यने कृता भवति । यथासंख्यप्रसंगादत्राप्यनिष्टमिति चेन्न, व्यादिशब्दानामंतर्नोतदी-प्तार्थत्वाद्विभोजनादिवत्। विने विने दिभोजने यस्य सि हिभोजन इत्यादयो यथान्तर्नोतवीप्तार्थां स्त-स्वार्ययोदिश्व त्रिष् श्रेषेश्व शेषेष्व शेषेश्व शेषेष्वित्यंतर्नीतवीप्तार्था व्यादिशब्दा इह व्याख्यायते, ततो न यस।संस्थप्रसंगो वाक्यमेदाक्यास्थानाच्य ।

कोई तकीं प्रश्न करता है कि पीता ग्रहण करके पीतासे न्यारी पद्माका या पद्मा कह देनेसे पद्मा भिन्न शुक्लाका भी ग्रहण भला किस प्रकार होसकता है ? घटका निरूपण कर देने मानसे घटिभन्न पदार्थका प्रतिपादन कथमिंप नहीं होसकता है। इस प्रश्नके उत्तरमें प्रन्थ-कार कहते हैं कि हम क्या करें। लोकमें तिस प्रकारके शब्दजन्य व्यवहार हो रहे देखे जाते हैं। जिस प्रकार कि खनों (खतरी) को सारदे बाले खारहे हैं, यो कह देनेसे छन्न धारियों के स्मर्थ

गमन कर रहे छत्र रहित कतियय जनोंका भी छत्रधारीपन करके प्ररूपण कर दिया जाता है। उसी प्रकार यहां भी बहुभाग पीत लेश्यावाले जीवोंके साथ अल्पभाग पद्मालेश्या वाले देवोंका प्रतिपादन होजाता है। पद्मालेश्या वालोंके साथ शुक्ललेश्या वालें अल्प देवोंका ग्रहण होजाना बन जाता है। मिश्रित अवस्था पूर्वकी ओर झुक जाती है। लोक या शास्त्रमें अन्य प्रकार प्रसिद्ध होरहे शब्दों को यौगिक अर्थानुसार स्वबुद्धिसे सुधारकर बोलनेवाला नविशिक्षत अज्ञ ही समझा जायगा । घोडे को पानी दिखा दें। छतरी बाले जारहे हैं। बम्बई बंचे।गे। गली मचान गारहे हैं। इन शब्दोंके स्थानपर घोडे को पानी पिलादे। और कुछ छतरी रहित मनुष्य जा रहे हैं। बम्बईमें सिकरने वाली हुंडी गली मचान पर बैठे मनुष्य गारहे हैं। यों कहने वाला स्याना छोकरा मूर्ख ही समझा जायगा। यदि यहां कोई यों शंका करे कि यों तो मूत्रकार द्वारा "चतुरचतुरक्षेषेषु" इस प्रकार न्यारा पाठ करने पर भी उक्त व्याख्यान कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है। फर जो हमने पहिले कहा था कि चार चार और शंषोंमें पीत लेश्या वाले पदालेश्यावाले और श्वनललेश्या-वाले देव निवसते हैं, इसका आपने खण्डन क्यों किया ? व्याख्यान कर देनेसे आर्थ मार्यका कोई विरोध नही आता है। यहां भो तो आपको व्याख्यान करना ही पडा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि दो युगल तीन युगल और शेप शतार आदिकों में यथाक मसे पीत लेश्याबाले और शुक्ललेश्याबाले देव हैं। यों पाठकरना तो अनिष्ट शंकाकी निवृत्तिके लिये सूत्रकारने किया है। "चनुक्शेषेषु" इस प्रकार पाठ करने पर तो चार चार का **ऊपर सद्भाव मानने पर अनिष्ट अर्थ होजानेकी शंका होसकेगी। हां, उक्त मूत्र अनुमार 'द्वित्रि-**शेषेषु" यों ठोक रचनापूर्वक कथन करनेपर तो उस शंकाकी निवृत्ति की जाचुकती है। फिर भी कोई यों कटाक्ष करे कि इस प्रकार न्यास करने पर भी यथासंख्यका प्रसंग हो नानेसे यहां भी अनिष्ट अथंकी शंका होना तदवस्य है। आपत्तिका निवारण करते हुवे भी आपतिवोंसे छुटकारा नहीं मिला। दो युगलोंमें पीत लेश्या कहने पर सनत्कुनार माहेन्द्रोंमें पूर्णहासे पीत लेश्याका विधान होगा। वहां कतिपय देवोंके पायी जारही पद्मलेश्याकी विधि नहीं होसकेगी। इसी प्रकार शतार, सहस्रार, स्वर्गोमें शुक्ललेश्यावाले कतिपय देवोंको भी पद्मलेश्याधारी बनना पड़ेगा। यह अनिष्ट शंकापिशाची खडी हुई है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सूत्रमें पड़े हुये दो आदिक शब्दोंके भीतर वीष्सा अर्थ गमित होरहा है। जैसे कि द्विभी-जन, द्विपठन त्रिजपन त्रादि शब्दोंके भीतर वीप्सा अर्थका समावेश है। दिन दिनमें जिस मनुष्यके दो भोजन हैं, या जो छात्र प्रतिदिन दो दो पाठ पढता है, अथवा जो धर्मात्मा प्रतिदिन तीन तीन बार जाप देता है, वे द्विभोजन, द्विपठन, त्रिजपन, पुरुष हैं। अतः द्विभोजन इत्यादिक शब्द बीप्सा अर्थको अन्तरंगमें गमित कर वखाने जाते हैं। उसी प्रकार दो, तीन, आदिक शब्द भी यहां ऊपर दो दो कल्पोंमें तीन तीन कल्पोमें और शेष शेष स्थानोंमें इस प्रकार वीप्सा अर्थ को गिमत किये हुये वस्नाने जाते हैं। तिस कारण केवल पीताका द्विके साथ और पद्माका केवल त्रिके साथ तथा शुक्लाका अकेले खेलोंमें ही अन्वय होत्राना यों यथासंस्वका प्रसंग नहीं होपाता है। दूसरी बात यह है कि सूत्रके वाक्य प्रमेदसे व्याख्यान कर दिया गया होनेसे यथा-संख्य का प्रसंग तुम्हारा चाहा नहीं हो पाता है।

पीतिमधिपद्यमिश्रशुक्ललेश्या द्विद्विचतुश्चतुःशेषेष्विति पाठन्तरमन्ये मन्यंते, तत्र सूत्र-गीरवं तदवस्यं । अथवास्तु यथासंख्यमिशसंबंधस्तथापि नानिष्टप्रसंगः। कयं ? द्वयोः युगलयोः पीतलेश्याः सानत्कुमारमाहेंद्रयोः पद्मलेश्यायाः अविवक्षातः, ब्रह्मलोकादिषु त्रिषु कल्पयुगलेषु पद्मलेश्या शुक्रति । शुक्रलेश्याया अविवक्षातः, शेषेषु सतारादिषु शुक्ललेश्या पद्मलेश्याया अविवक्षातः । शेषेषु सतारादिषु शुक्ललेश्या पद्मलेश्याया अविवक्षातः ।

कोई अन्य विद्वान् निराले प्रकारके पाठको यों मान रहे हैं कि दो स्वर्गों में और दो स्वर्गों में तथा चार स्वर्गों में एवं चार स्वर्गों में तथा शेष स्थानों में पीतलेक्या और पीतामश्रलेक्या तथा पद्मलेक्या एवं पद्मिश्रलेक्या तथा शुक्ललेक्याको धारनेवाले देव विराजते हैं, आचार्य कहते हैं कि उस मान्यतामे सूत्रका गौरव दोष हो जाना वैसाका वैंसा ही अवस्थित रहा। कोई छाम नहीं निकला। अथवा एक बात यह है कि उक्त सूत्रका भले ही यथासंख्य तीनों ओरसे सम्बन्ध होजाओ तो भी हमारे सिद्धान्त अनुसार किसी अनिष्ट के होजानेका प्रसंग नहीं होता है। किस प्रकार सम्बन्ध करते हुये अनिष्टका प्रसंग नहीं होता है? इसका समाधान यों है कि दो युगलों में पीतलेक्या है। किन्तु सानत्कुमार, माहेन्द्र, इन दो स्वर्गों के कितपय देवों में पायी जारही पद्मलेक्याकी विवक्षा नहीं की गयी है। तथा ब्रम्हलोक आदिक तीन कल्प युगलों में पद्मलेक्या ही। कह दीगयी है। शेष ऊपरले शतार आदि वैमानिकों में शुक्ललेक्या पायी जाती है। शतार और सहस्रारमें कितन एक देवों के पायी जारही पद्मलेक्याकी विवक्षा नहीं करने नेसे शुक्ल ही लेक्या कह दी गयी है। इस प्रकार सूत्र का कथन कर चुकनेपर कम अनुसार सम्बन्ध हो जानेसे कोई अनिष्टापति नहीं है। तिस कारण ऋषिप्रोक्त सिद्धान्त आम्नायसे कोई विरोध नही आता है।

लेश्यानिर्देशतः साध्याः कृष्णेत्यादिस्वरूपतः । वर्णतो भ्रमरादीनां छायां भिभ्रति बाह्यतः ॥ २ ॥ अनंतभेदमासां स्याद्वर्णात्रभपि स्कुटं ! एकद्वित्रिकसंख्यादिकृष्णादिगुणयोगतः ॥ ३ ॥

अब प्रत्यकार सोलह अनुयोगोंके द्वारा लेश्याओं को साधने योग्य बताते हैं।
१ निर्देश २ वर्ण ३ परिणाम ४ संक्रम ५ कमें ६ लक्षण ७ गति ८ स्वामित्व ९ साधन १०
संख्या ११ क्षेत्र १२ स्पर्शन १३ काल १४ अन्तर १५ भाव १६ और अल्पबहुत्व इन सोलह

लेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या, इस प्रकार स्वरूपसे लेश्यायें साधने योग्य हैं। दूसरे वर्ण यानी रंगसे द्रव्य लेश्यायें वा स्वरूपसे भोरा आदिकों की छाया को धारतीं हैं। क्यांत् —शरीरिवपाकी वर्ण नाम कर्म प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुना कायका रंग द्रव्यलेश्या है। क्यांत् रंगके समान काली कृष्णलेश्या है। नीलमणि या मयूर कण्डेक रंगको धार रही नील लेश्या है। कबूतरके समान रंगको प्राप्त होरही कापोती लेश्या है। सुवर्णकी छाया पीत लेश्याकी है। कमलके समान पद्मलेश्याका रंग है। शंखके समान भूरी कांतीवाली शुक्ललेश्या है। इन लेश्या ओं के तारतम्यको लिये हुये अन्य अनन्त भेदवाले वर्ण भी स्पष्ट रूपसे होजाते हैं। जो कि एक, दो, तोन, आदि संख्यात या असंख्यात आदि अविभाग प्रतिच्छंदस्वरूप गुणोंके योगसे इन द्रव्यलेश्या ओं के अनन्त भेद हैं। भावार्थ-लेश्या नामक पर्यायोंमें सख्याते, असे अनन्ते अविभाग प्रतिच्छंदों की हानि वृद्धि अनुसार अवान्तर भेद अनन्त होजाते हैं। एक समयमें होनेवाली एक पर्याय एक भेद गिना जायगा। चक्षु इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष योग्य होनेकी अपेक्षा लेश्याओंके संख्याते भेद हैं। और स्कन्ध जातिकी अपेक्षा असंख्याते भेद हैं। किन्तु रंगीली परमाणुयें या अविभाग प्रतिच्छंदोंकी अपेक्षा लेश्याओं के अनन्तानन्त वर्णभेद हैं। किन्तु रंगीली परमाणुयें या अविभाग प्रतिच्छंदोंकी अपेक्षा लेश्याओं के अनन्तानन्त वर्णभेद हैं।

तथातः परिणामेन साध्या जीवस्य तत्त्वतः ।
स चासंख्यातलोकात्मप्रदेशपरिमाणकः ॥ ४ ॥
तत्क्रपायोदयस्थानेष्वियत्सृङ्ग्टमध्यम – ।
जघन्यात्मकरूपेषु कलेशहान्या निवर्तनात् ॥ ५ ॥
कृष्णादयोऽशुभा स्तस्रो विवर्तते शरीरिणः।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टेष्वंशांशेषु विदृद्धितः ॥ ६ ॥
विशुद्धिस्तरास्तिसः शुभा एवं विपर्ययात् ।
विशुद्धिहान्या संक्लेशबृद्ध्या चैव शुभेतराः ॥ ७ ॥
६क्का चाप्यसंख्येयलोकात्माध्यवसायभृत् ।
लेश्याविशेषतो होयाः कषायोदयभेदतः ॥ ८ ॥

तिसी प्रकार तीसरे अनुयोग परिणाम करके लेक्यायें साधने योग्य हैं। वस्तुतः विचारा जाय तो जीवके अभ्यन्तर वर्त रहे परिणाम करके लेक्यायें साधी जाती हैं। और वह जीवके परिणाम वसंख्याते लोकाकाकों के प्रदेश स्वरूप असंख्यातासंख्यात वामक परिसाणको

लिये हुये हैं। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरको धार रहे जीवोंकी कृष्ण आदिक तीन अशुभ-लेश्यायें इतने असंख्यात लोक प्रमाण उत्कृष्ट, मध्यम, और जघन्य आत्मक स्वरूपवाले कषायोंके असंख्यातासंख्यात उदय स्थानोंमें संक्लेशकी हानि करके परिणमन होजानेसे परिण-तियां करतीं रहतीं हैं। अर्थान् कर्मोंके उदयकी जाति अपेश असंख्यातासंख्यात औदियक कषाय स्थानोंमें सक्लेश की हानि होजानेसे उत्कृष्ट अंशसे मध्यम अंशमें और मध्यम अंशसे जधन्य अंशमें अशुभलेश्याओं का परिणमन होता रहता है। तथा जीवों की उत्तरवर्ती पीत आदि तीन शुभ लेश्यायें विशुद्धिकी त्रिशेषतया वृद्धि होजानेसे असंस्थात लोक प्रमाण सम्बन्धी औदयिक जवन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, अंश उपांशोंमें परिणमती रहती हैं। भावार्य-शुद्धि की वृद्धि होजानेसे तेजो लेश्याके जधन्य अंशोंका अतिक्रमण कर मध्यम अंशोंमें आत्मा परिणत होजाता है। और मध्यमसे शुद्धिकी वृद्धि अनुसार पीत लेक्या सम्बन्धी उत्कृष्ट अंशोंमें परिण-मन कर लेता है। पद्मा और शुक्रलालेश्यामें भी यही व्यवस्था है। इसी प्रकार विपर्यय करनेसे यों निर्णय कर लेना कि विशुद्धिकी हानिसे शुभलेक्यायें उत्कृष्ट, मध्यम् जवन्य अंशोंमें कम से परिणमेंगीं और इतर यानी अशुभलेश्यायें संक्लेशकी वृद्धि <mark>होजानेसे स्वकीय जवन्य, मध्यम,</mark> उत्कृष्ट अंशों में परिणतियां करेंगी। एक एक कोई भी लेक्या असंख्यात लोक प्रमाण औदियक कपायाध्यवसाय स्थान को घार रही है। बात यह है कि कवायोंके उदयागत भेदोंकी विशेषता से लेश्याओंमें विशेषतायें समझ लेनी चाहिये । "कषायोदयानुरंजिता योगप्रवृत्तिलेंश्या" लेश्यापरिणति में कषायोंके उदयकी प्रधानता है। कार्मणस्कन्छ या कर्मपरमाणुओं की अपेक्षा अनन्तानन्त जीवोंके यद्यपि अनन्त लेश्यायें हैं। फिर भी जातिकी अपेक्षा उनके असंख्यात लोक प्रमाण भेद कर दिये जाते हैं। असंख्यात लोकोंके प्रदेश बराबर प्रमाणको धार रहे अध्यवसाय स्थानों में जिनदृष्ट असंख्यात लोकप्रमाण राशिका भाग देने पर जो लब्ध आता है, उसके बहुभःग प्रमाण संक्लेशरूप स्थान हैं। और एक भाग प्रमाण शुभ लेश्याओंके विशुद्धिस्थान है। फिर भी सामान्यसे ये सभी असंख्यात लोकप्रमाण संख्याबाले हैं। इन अध्यवसाय स्थानों में लेश्यारूप परिणतियां होती रहती हैं।

> तथा संक्रमतः सान्या लेश्याः क्लेशविशुद्धिजात् । क्लिश्यमानस्य कृष्णायां न लेश्यांतरसंक्रमः ॥ ९ ॥ तस्यामेव तु षट्स्थानपतितेन विवर्धते । हीयते च पुमानेष संक्रमेण निजक्रमात् ॥ १० ॥ कृष्णा प्राथमिकक्लेशस्थानाद्धि परिवर्धते । संख्येयाद्ण्यसंख्येयभागतः स्वनिमित्ततः ॥ ११ ॥

ر موشار کا संख्येयादिगुणाद्वापि नान्यथेति विनिश्चयः । हेश्यांतरस्य कृष्णातोऽशुभस्यान्यस्य बाधनात् ॥ १२ ॥ तत्कृष्णहेश्यतः स्थान।द्वीयमःनो विद्दीयते । कृष्णायामेव नान्यस्यां हेश्यायां हेत्रभावतः ॥ १३ ॥ चानन्तादिभागाद्वा संख्यातादिगुणात्तथा । द्दीयते नान्यथा स्यानषद्कसंक्रमतोसुभृत् ॥ १४ ॥ यदानंतगुणा हानिः कृष्णायाः संक्रमस्तदा । नीहाया उत्तमस्थाने तहेश्यांतरसंक्रमः ॥ १५ ॥

तथा संक्रमणसे छहों लेश्यायें साधने योग्य हैं। संक्लेश और विशुद्धिसे उत्पन्न हुये स्थानोंसे लेश्याओं का संक्रमण होता है। स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण यों संक्रमणके दो भेद हैं। कृष्ण लेक्यामें बढते हुये क्लेशको प्राप्त होरहे जीवके स्वस्थान संक्रमण ही होगा । अन्य लेक्याओं में संक्रमण नहीं होसकता है। उस कृष्णलेश्यामें ही अनन्तभागवृद्धि, असंख्येय भागवृद्धि, संख्येय-भागवृद्धि, संस्यातगुणवृद्धि असंस्यातभागवृद्धि और अंनत गुणवृद्धी इस प्रकार छह स्थानों में पडी हुई वृद्धि करके कृष्णके भीतर ही अंश उपांश बढते रहते हैं। कृष्ण लेश्यासे कोई निकृष्ट स्थान नहीं हैं। जिसमें संक्लेशकी वृद्धि होजाने पर परस्थान संक्रमण होजाता। तथा यह जीव अपनी गृहीत कृष्ण लेक्याके अभ्यन्तर कमसे उत्कृष्2से मध्यम या जघन्य अंशोंमें संक्रमण करके हानिको प्राप्त होता है। अर्थात् कृष्णलेश्या सम्बन्धी उत्कृष्ट संक्लेशस्थानसे अनन्तभागहानि, असंख्येयभागहानि, संस्येयभागहानि, संस्येय गुणहानि, असंस्येयगुणहानि, अनन्तगुणहानि करके कृष्णलेदयाके जघन्य स्थानोतक स्वस्थान संक्रमण होता है । हां, सक्लेशकी विशेष हानि होत्रानेपर अनन्त गुणहाणि अनुसार कृष्णलेश्यावाला जीव नीललेश्याके उत्कृष्ट स्थान पर सक्रमण कर लेता है। वात्तिकों का अर्थ यह हुआ कि सबसे पहिले नियत होरहे कृष्णलेश्याके जघन्य संक्लेश स्थानसे अनन्तमाग, असंख्यातमाग और संख्यात भाग वृद्धियों अनुसार कृष्णलेश्या अपने निमित्त कारणों करके बरती जाती है। अथवा संस्थातगुण, असंस्थातगुण, आदि कमसे भी स्वकीय निमित्त कारणों अनुसार उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त बढ़ती है। अन्य प्रकारोंसे नहीं बढ़ती है। यों विशेष रूपसे निश्चय कर लेना । कृष्णलेश्यासे भिन्न कोई निकृष्ट जाति की दूसरी अध्यसलेश्याके होनेकी बाधा है। अतः संक्लेशकी वृद्धि होनेपर कृष्णलेश्यामें स्वस्थान संक्रमण ही हुआ तथा कृष्णलेश्याके उत्कृष्ट स्थानसे संक्छेश की हानिको अनुभव रहा जीव हीन होता जाता है। तब भी उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य अंशों में प्राप्त हो रहा कृष्ण लेक्या में ही संक्रमण करता है। कारणींका अभाव होजानेसे बन्य छेश्यामें संक्रमण नहीं करपाता है। अनन्तवाग आदि अथवा संस्थातमुण आदि

स्थानों करके यह प्राणी तिसी प्रकार छह स्थानों में पतित हानिओं द्वारा संक्रमणसे हीन होता जायगा, अन्य प्रकारों करके हीन नहीं होता है। हां, जिस समय कृष्णलेश्या की अनन्तगुणी हानि होते हुये संक्रमण होगा, तब नीललेश्याके उत्कृष्ट स्थानमें प्राप्त होरहा उससे न्यारी अन्य लेश्यामें परस्थान संक्रमण होजाता है। अन्य प्रकारोंसे नहीं।

एवं विशुद्धिवृद्धौ स्याच्छुक्छछेश्यस्य संक्रमः।
शुक्छायामेव नान्यत्र छेश्या एवावसानतः॥ १६॥
तथा विशुद्धिहान्यां स्यात्त छेश्यांतरसंक्रमः।
अनन्तगुणहान्येव नान्यहान्या कदाचन ॥ १७॥
मध्ये छेश्याचतुष्कस्य शुद्धिसंक्छेशयोर्न्शणां।
हानौ वृद्धौ च विद्येयस्तेषां स्वपरसंक्रमः॥ १८॥

इसी प्रकार विशुद्धिकी वृद्धि होने पर शुक्ललेश्यावाले जीवका संक्रमण शुक्ललेश्याम ही होगा, अन्यत्र नहीं होगा। क्योंकि शुक्लसे बढ़िया कोई दूसरी शुभलेश्या ही नहीं है। शुक्तसे उत्तम लेश्याओं का विराम हो जानेसे बढ़ रहे शुभ परिणामोंका पलटना उसी शुक्ललेश्यामें ही हुआ करता है। हां, तिस प्रकार छह स्थानों में पड़े हुये ऋगसे विशुद्धिकी हानि होने पर अन्य लेश्याओं में भी संक्रमण होजाते हैं। किन्तु विशुद्धिकी अनन्तगुणी हानि करके ही शुक्ललेश्या से पद्मलेश्यामें परिवर्तन होगा । अन्य संख्यातमाग हानि आदि पांच हानियों करके कभी नहीं परस्यान संक्रमण होसकता है। यों कृष्णलेश्या और श्वललेश्या के विषयमें स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमणका विचार कर दिया है। मध्यमें विराज रहीं नील, कापोत, पीत, और प न इन चार लेक्याओं का स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण तो उन जीवोंके विशुद्धि और संक्लेशको हानि या वृद्धिके होने पर अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ढंगोंसे समझ लेना चाहिये। भावार्य-नील लेश्यामें संक्लेशकी वृद्धि होजाने पर जघन्य अंशसे मध्यम अंश होजानेकी दशामें स्वस्थान संक्रमण है। और उत्कृब्ट अंशसे कृब्णलेश्यामें पहंचने पर परस्थान संक्रमण है। यों ही संक्लेशकी हानि होनेपर नील लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मध्यम अंश होजानेकी दशामें स्वस्थान संक्रम है। और नीललेश्याके जवन्य अंशसे संक्लेश हानि दशामें कापीतीकी दशा प्राप्त होने पर परस्थान संक्रमण हैं। यही दशा अन्य लेश्याओं में छगा लेना । छह वृद्धियों में संख्यात पदसे उत्कृष्ट संस्थात पकडना और असंस्थात पदसे असंस्थाते लोकोंके प्रदेशों प्रमाण संस्था प्रहण करना तथा अनन्त पदसे जीवराधिका अनन्तगुणा और पुद्गल राशिका अनन्तवो भाग स्वरूप अनन्तसंख्या केनी चाहिये। ये छहीं वृद्धियां केरवा परिणतियोंके अविभाग प्रतिच्छेदों में होती रहती हैं। अविभागप्रति क्छेदोंकी कितनी ही संस्थायें ऐसी है, जिनको कि कोई छेश्या परिपत्ति नहीं घार सकी है। "अविभागपिकच्छेओ जहण्य उद्देश पएसाण" (गोम्मटसार) यह वह बविषाम प्रतिच्छेद का सिद्धान्त सक्षण है

तथैव कर्मतो लेरगः साध्याः षडिप भेदतः ।
फलभक्षणदृष्टांतसानध्यांत्तस्ववेदिभिः ॥ १९ ॥
आद्या तु स्कन्धभेदेच्छा विटयच्छेदरोमुषी ।
परा च शास्त्राछेदीच्छादनुशास्त्रिष्टेषणा ॥ २० ॥
पिंडिकाछेदनेच्छा च स्वयं पतितमात्रक - ।
फलादिता च कृष्णादिहेरयानां भक्षणेच्छया ॥ २१ ॥

तिस ही प्रकार कर्म यानी किया की अपेक्षासे छहों भी लेश्याओं का भिन्न भिन्नपर्ने करके साध लेना चाहिये। तत्ववेत्ता विद्वानों करके उन लेश्या शले जीवों के कर्तंब्य होरहे फल भक्षण स्वरूप दृष्टान्तों की सामध्यंसे यों निर्णय करना चाहिये। वनके मध्य देशमें मार्ग भ्रष्ट होगये छह पिषक एक फलपूर्ण वृक्ष को देख करके यों विचार करते हैं। पहिली कृष्णलेश्या के अनुसार एक मनुष्यके स्कन्ध (पढ) को छंद डालनेकी इच्छा हो जाती है। अर्थात् कृष्णलेश्या वाला स्कन्धको उखाड डालकर फल खाना चाहता है। और दूमरी नीललेश्या के अनुसार गुट्टेको काट डालनेकी बृद्धि दूसरे मनुष्यको हो जाती है। तीसरे मनुष्यको कापाती लेश्या के अनुसार डालो को काटनेकी इच्छा उपज जाती है। चौथे के पीतलेश्यां अनुसार लघुशाखाको काटकर फल खानेकी बांछा उपजती है। पांचवें पुरुषको पद्मलेश्या अनुसार डांठला या फल ही को तोड़ने की इच्छा होती है। छठे मनुष्य को जुक्ललेश्या अनुसार केवल अपने आप नीचे गिर गये फलोंको ग्रहण करनेकी अभिलापा उपजती है। यों कृष्ण आदिक लेश्याओंके अनुसार फलभक्षणकी इच्छा करके कर्त्तंब्य कियाओंकी अपेक्षा छहों अतीन्द्रिय भावलेश्यायें अनुमित हो जाती हैं।

तथा लक्षणतो लेखाः साध्याः सिद्धाः प्रमाणतः। पराननुनयःदिः स्थत्कृष्णायास्तत्र लक्षणम् ॥ २२ ॥ आलस्यादिस्तु नीलाया मात्सर्यादिः पुनः स्फुटं। काषोत्या दृढभैज्यादिः पीतादाः सत्यवादिता ॥ २३ ॥ प्रमृति पद्मलेखयाः शुक्लायाः प्रशमादिकं। गत्या लेखास्तथा क्षेयाः प्राणिनां बहुभेदया ॥ २४ ॥

तिस ही प्रकार लक्षण यानी चिन्होंसे छहीं लेक्यायें प्रमाणोंसे सिद्ध होरही साधलेनी चाहिय । उन छहों में पहिली कृष्णलेक्याका चिन्ह तो दूसरोंका अनुनय (विनय)नहीं करना,

वैर नहीं छोडना, प्रचण्ड कोगी होना,दया धर्म रहितपना,अपरितोष,तीव दुष्टता,आदिक हैं। तथा नी जलेक्या के लक्षण तो आलस्य, विषयलोलुपता, भीक्ता, तृष्णा, ठगना, अतिलुक्षता, रूप अभिमान, आदिक हैं। फिर तीसरी अगुभलेक्या कापोतीके स्फुट रूपसे मत्सरता, ईर्ष्या, परिनिन्दा, आत्मप्रशंसा, युद्धमरण, अविचारिता, शोक, भयबहुलता आदि हैं। एवं चौथी पीत लेक्या दृढ्भित्रता, विचारशीलता, दानदयारित, कार्यसम्पादनपरुता आदि बहिरंग चिन्ह हैं। तथा पद्मलेक्याले सत्यवारी पनको आदि लेकर क्षमा, सात्विकदान, ऋजुता, गुरुदेवता पूजाकरणतत्परता, भव्रता आदि शुभ लक्षण हैं। छठी शुक्ललेक्याके प्रशम, रागद्वेषरहितपन, निदानवर्जन, श्रेयोमार्गानुष्ठान, आदि लक्षण हैं। यों व्यावर्तक चिन्होंसे अन्तरंग लेक्यायें पहिचान ली जाती हैं। तथा सातवें गति अधिकार करके लेक्यायें समझ लेनी योग्य हैं। स्वकीय कारणों अनुसार बहुत भेदवाली प्राणियोंकी गति हो जानेंसे लेक्यायें साध ली जाती हैं।

प्रत्यंशकं समारुयाताः षड्विशतिरिहांशकाः । तत्राष्ट्री मध्यमास्तावदायुषो बंधहेतवः ॥ २५ ॥ आष्ट्रीपदेशतः सिद्धाः शेषास्तु गतिहेतवः । पुण्यपापविशेषाणामुपचाययका हि ते ॥ २६॥

प्रत्येक लेश्याके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट और मध्यवर्ती आठ अंशोंको मिलाकर यहाँ प्रकरणमें लेश्याओं के छत्र्वीस अंश बढिया वखाने गये हैं। उनमें कृष्ण और कापोतके मध्य-वर्ती तथा पीत और शुक्लके मध्यमवर्ती अ।ठ मध्यम अंश तो परभवकी आयुके बन्धके कारण हैं। यह सिद्धान्त ऋषित्रोक्त उपदेशोंसे प्रसिद्ध है। अर्थात् कर्मभूमिके मनुष्य या तिर्यंचकी भुज्यमान आयुके तीन भागों में से दो भाग बीत चुकने पर अन्तर्मुहतं तक पहिला अपकर्षकाल माना जाता है। यदि पहिले इस अपकर्ष कालमे उत्तर भवकी आयु न बंधे तो शेष आयुके त्रिभाग करते हुये दो भाग बीत जानेपर अन्तर्मुहर्त कालतक आयुष्य कर्मका बन्ध होता है। यदि यहां-पर भी आयुष्य का बन्ध नहीं होय तो तीसरे, चौथे, पांचवें, छठवें, सातवें, और आठवें त्रिभाग स्वरूप अपकर्ष कालमें आयुका बन्ध होजाता है। पूर्वके अपकर्षमें आयुका बन्ध होजाने पर उत्तर अपकर्षीमें तदविरुद्ध उसी आयुका बन्ध होगा, न्यारी आयुका नहीं। यदि आठोंमें किसी भी अपकर्षमें आयुन बंबे तो मृत्युके अध्यवहित पूर्व अन्तर्मृहूर्तमें परभव की आयुका बन्ध अवश्यक होजाता है। देव और नारकी जीवोंकी भुज्यमान आयुके छहमास शेष रहनेपर आठ अपकर्षकाल आयुक्ते बन्धके योग्य रचे जाते हैं। भोगभूमियां मनुष्य या तिर्यंचके स्वकीय आयुक्ते नी महीना शेष रहनेपर आयुक्ते बन्ध योग्य आठ अपकर्षकाल प्राप्त होते हैं । अपकर्षकालमें जैया लेक्याका अंश होता है वैसा आयुष्यका बन्ध होजाता है। आयुका बन्ध फल दिये विना ूरता नहीं है। स्थिति कमती बदती घले ही होजाय। लेक्याओं के कारण इन बाठ अंबों को 80

मध्यवर्ती इसिलये कहा है कि कृष्णलेश्या के कितियय तीन अंशों में और कापीत के कितियय ज्ञान अंशों में आयु नहीं बंजती है। इसी प्रकार शुभलेश्याओं में पीत के कितियय ज्ञान अंशों में और शुक्ललेश्या के कुछ उत्कृष्ट अंशों में आयुष्य कर्मको बन्धवाने की योग्यता नहीं है। खाः अशुभ लेश्याओं के मध्यमें पडे हुये चार अंश और तीनों शुभलेश्याओं के बीच में पडे हुये चार अंश और तीनों शुभलेश्याओं के बीच में पडे हुये चार अंश यों आठ अंश मध्यम कहे जाते हैं। हां, शेप अठारह अंश तो परभनके लिये गित कराने के कारण हैं। अवश्य वे अठारह अंश पुण्य विशेष और पापिवशेषोंकी वृद्धिके कारण होरहे हैं। यद्याप ज्ञान्य, मध्यम, उन्कृष्टके अपेक्षा लेश्याके अठाग्ह भेदोंमें सभी भेद गिमत हैं। इनसे न्यारे कोई आठ भेद नहीं होसकते हैं। फिर भी संसारमें संसरण कराने वाले कर्मों में प्रधान होरहे आयुष्य कर्म को बंधवाने की अपेशा अठारहों के मध्य में से ही कुछ पृयाभूत कर लिये गये आठ अंश मध्यवर्ती माने जाते हैं। शेप अंश तो गितिके उपयोगे पुण्य, पापों की वृद्धि कराते रहते हैं। योग और कषाय की मिश्रितपरिणित ही लेश्या है। जो कि पुण्य पाप-स्वरूप प्रकृति, प्रदेश, स्थित, अनुभाग इन चारों बन्धों की कारण हैं।

भवायुर्गतिभेदानां कारणं नामभेदवत् । शुक्क त्कृष्टांशकादात्मा भवेत्मर्वार्थसिद्धिगः ॥ २७॥ कृष्णोत्कृष्टांशकातु स्यादपतिष्ठानगाम्यसे । शेषांशकवशान्नानागतिभागवगम्यताम् ॥ २८॥

लेश्याओं के अंश ये नामकर्मके प्रभेदोंके उदयसे युक्त होरहे विश्रेष भवकी आयु और गित भेदोंके कारण बन रहे हैं। आत्मा शुक्तलेश्याक उत्कृष्ट अंशसे मर कर सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त करने वाला होगा कृष्णके उत्कृष्ट अंशसे तो वह आत्मा सातवे नरक के इन्द्रक बिल अप्रतिष्ठान नरक में जाने वाला हो जाता है। शुक्लके मध्यम अंशको आदि लेकर कृष्णके मध्यम अंशोतक की परवशतासे यह जीव नाना गितयों को जाने वाला समझ लेना चाहिये।

ययागमं प्रपंचेन विद्यानंदमहोदया - । रखाभित्वेन तथा साध्या लेखा साधनतोपि च ॥ २९॥ संख्यातः क्षेत्रतश्चापि स्पर्शनात्कालतॉतरात् । भावाचाल्पबहुत्वाच पूर्वसूत्रोक्तनीतितः ॥ ३०॥

किस लेश्यासे मरकर किस गति को प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त की विस्तार करके समझना होय तो सदायम अनुसार समझलेना चाहिये अथवा सिद्धान्तमर्यादा का उल्लंघन नहीं कर रचे गये हमारे "विद्यानन्द महोदय" नामक ग्रन्थ से निश्चय कर छेना चर्राह्ये । जिस्र प्रकार निर्देश, वर्ण, आदि सात अधिकारों करके लेह्यायें साध थी गयी हैं, उसी प्रकार स्वामिपनें करके और साधनसे भी छहों लेह्याओं का विवार कर लेना चाहिये। एवं संख्या से, क्षेत्र से, स्पर्शन से, कालसे, अन्तरसे भावसे और अल्पबहु वसे भी लेह्याओं की सिद्धि करलेनी चाहिये। अर्थात् उमास्वामी महाराजके अति संक्षिप्त सूत्रोंमें अनन्त प्रमेय भरा हुता है। जो कि उप-रिष्ठात् टीका या व्याख्यानों से समझ लिया जाता है। उसी पूर्व सूत्रोंमें कही जाचुकी नीतिके अनुसार इस सूत्र में भी अधिक प्रमेय तत्ववेताओं करके समझ लेने योग्य है। अथवा सर्वंश्वधारा-प्राप्त पूर्वऋषियोंके सूत्रोंमें कही जा चुकी स्याद्वाद सिद्धान्त नीतिसे स्वामित्व आदिकों करके यथा-म्नाय लेह्याओं के अधिकार समझ लिये जाय। ग्रन्थकारने यहां परम सूक्ष्म अतीन्द्रिय विषयों में आगमपरिपाटीका अनुसरण करने के लिये तत्ववेताओं को उद्युक्त किया है। राजवात्तिक गोम्मटसार ग्रन्थोंमें भी उक्त सोलह अधिकारोंका विशेष निरूपण किया है।

वैमानिक देवों में लेक्या का वर्णन कर अब भगवान् सूत्रकार कल्पोंका परिज्ञान कराने के लिये अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

## प्राग्धेवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

सीधर्म से आदि लेकर नवग्रैतयकोंने पहिले जो वैमानिक हैं, वे सब कल्प हैं, अर्थात् सीधर्म से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त स्थान या उनमें रहने वाले देव कल्प कहे जाते हैं।

सौधर्माविग्रहणमनुवर्तते, तेनायमर्थः-सौधर्मावयः प्राग्यंवेयकेभ्यः कल्पा इति । सौधर्मा-विसूत्रानंतरिमदं सूत्रं वक्तव्यमिति चेन्न, स्थितिप्रमावाविसूत्रत्रयस्य व्यवधानप्रसंगात्। सित व्यव-धानेऽनेन विधीयमानोर्थः कल्पेष्वेव स्यावनंतरत्वात् ।

परली ओर की अभिविधि (अविधे) तो कह दी गयी। किन्तु उरली ओर की मर्यादा नहीं कही, इसके लिये सौधर्म आदि का जो तीन सूत्र पहिले प्रहण किया है, उसकी अनुवृत्ति करली जाती है। तिससे इस सूत्रका यह अर्थ लब्ध होजाता है कि सौधर्मको आदि लेकर और प्रैवेयकोंसे पिहले विमान स्थान या वैमानिक देव कल्प हैं। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि "सौधर्मेशान" इत्यदि सूत्र के अव्यवहित उत्तर काल में ही यह सूत्र श्री उमास्वामी महाराजकों कहना चाहिवे था। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सौधर्मके अनन्तर ही कल्पोंका विधान किया जाता त स्थितिप्रभावसुखबुतिलेक्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतीऽधिकाः गतिश्वरी-रपरिप्रहाभिमानतो हीनः पीतपश्च मुक्लेक्या दि त्रिशेषेषु" इस प्रकार के तीनों सूत्रों का "प्राग्यैवे-यकेम्यः कल्पाः" इस सूत्रसे व्यवधान होनेका प्रसंग होजाता। अर्थात् "प्राग्यैवेयकेम्यः कल्पाः" इस सूत्रसे व्यवधान होनेका प्रसंग होजाता। अर्थात् "प्राग्यैवेयकेम्यः कल्पाः, इस सूत्रसे शिक्षे स्थित प्रमाव आदि तीनों सूत्र पढे जाते, ऐसी दशामें व्यवधान होजाने पर इन तीन सूत्रों करके विधान किया जारहा अर्थ कल्पनासी देशें दी प्राप्त होता। क्योंक ये बारह कल्प ही

1. 1.

अव्यवहित पूर्व में उपात्त होरहे हैं। "व्यवहिता व्यवहितयो रव्यवहितस्यैव ग्रहणं" इस परिभाषा अनुसार कल्पोंमें ही स्थित आदिकसे अधिकता और गति आदिकसे हीनता तथा दो तीन शेषोंमें पीतपद्मशुक्छ छेश्याका विधान होसकेगा। सौधमंको आदि छेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त सम्पूर्ण वैमानिकों में उक्त ती स्त्रोंका अर्थ लागू नहीं हो सकेगा। इस कारण यहां इस सूत्र के कह देने से सब बखेडा मिट जाता है।

#### के पुनः कल्पातीता इत्याह ।

सूत्रकारने कल्पों का तो कण्ठोक्त निरूपण कर दिया है। किन्तु कल्पातीत देवों की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्र नहीं रचा है। अतः यह बताओ कि फिर वे कल्पातीत देव कौनसे हैं? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वार्त्तिकको कहते हैं।

## क्ल्पाः प्रागेव ते बोध्या प्रवेयकविमानतः । तदादयस्तु सामर्थ्यात् कल्पातीताः प्रतीतितः ॥ १ ॥

इस सूत्र का अर्थ यह है कि ग्रेत्रेयक विमानसे पहिले ही वे कल्प रच रहे समझ लेने चाहिये। हां, बिना कहे ही शब्दसामर्थ्य से यह प्रतीत होजाता है कि उन ग्रेवेयकों को आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त स्थान तो कल्पातीत हैं।

ननु च परिशोषाद्पैवेयकादीनां कल्पातीतत्वसिद्धौ भवनवास्यादीनां कल्पातीतत्वप्रसंग इति चेन्न, उपर्युपरीत्यनुवर्तनात् ।

यहां कोई प्रतिवादी आशंका उठाता है कि परिशेषन्यायसे यदि प्रैतेयक आदिकों के कल्पातीतपन की सिद्धि की जायगी, तब तो भवनवासी आदिकों को भी कल्पातीतपने का प्रसंग आता है। सो रह स्वगं या बारह कल्पोंसे शेष बच रहे देव तो अहिमन्द्रों के समान भवन-वासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क,देव भी हैं। आचायँ कहते हैं कि यह तो नही कहना। क्योंकि 'उपर्युपिर' इस पदकी अनुवृत्ति होरही है। अर्थान् उत्तर उत्तर वैमानिक देवोंके लिये उक्त पांच सूत्रोंका सम्बन्ध किया जाता है। नीचे के भवनवाती आदिकों का ग्रहण नहीं है। इस कारण अहिमन्द्र देव ही कल्पातीत हैं।

सूत्रकार के प्रति किसी का प्रश्न उठ सकता है कि तब तो लौकान्तिक देव वैमानिक देव होरहे सन्ते भला किन कल्पोपन्न या कल्पातीत देवों में ग्रहण किये जायेगे ? इस प्रकार प्रश्नके उत्तर में सूत्रकार अग्निम सूत्र को कहते हैं

## ब्रह्मलोकालया लोकांतिकाः॥ २४॥

पांचवे स्वर्गं ब्रम्हलोक में निवास स्थान कर रहे लौकान्तिक देव हैं अर्थात् पांचवे स्वर्गं में निवस रहे लौकान्तिक देव कल्पोपहुन्न हैं। प्रयास्मित्लीयत इत्यालयो निवासः । बहालोक वालयो येवां ते बहालोकालयाः। सर्व-बहालोकदेवानां लौकांतिकत्वप्रसंग इति वेक्ष, लोकांतोपक्ष्लेवात्। बहालोकस्यांतो हि लोकांतः लोकांते भवा लौकांतिका इति न सर्वत्र बहाले कदेवास्तया। अववा लोकः संसारः बन्मजरामृत्युसं-कीणंः तस्यांतो लोकांतः तत्प्रयोजना लौकांतिकाः । ते हि परीतसंसाराः ततश्च्युत्वा एकं गर्भवास-मवाप्य परिनिवाति ।

चारों ओर या छहों ओरसे प्राप्त होकर इस स्थानमें जीव या पूद्गल लीन होजाया करते हैं। इस यथार्थ निरुक्ति द्वारा आलयका अर्थ निवास स्थान है। बाहरसे बाता जाता हुआ मनुष्य स्पष्ट दीखता रहता है। किन्तू घरमें घुसकर न जाने कहां झट लीन होजाता है। बाहरसे देखनेवाले केवल ताकते ही रह जाते हैं। जिन देवोंका निवास स्थान ब्रह्मलोक है, वे ब्रह्मलोकालय देव कहे जाते हैं। यहां कोई प्रश्न करता है कि तब तो पांचवें स्वर्ग ब्रम्हलोकमें रहने वाले सभी देवोंको लौकान्तिकपनेका प्रसंग अस्ता है। जगत् श्रेणीके नीमे वर्गमूलका उसी श्रेणिमें भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसकी आधी संख्या प्रमाण असंख्यातासंख्यात बम्हलोकवासी सभी देव तो लौकान्तिक नहीं माने गये हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। वयोंकि लौकान्तिक शद्वमें लोकान्त इस प्रकृतिका संसर्ग होरहा है। चंकि ब्रम्हलोकका जो अन्तिम स्थान है,वह लोकांत है लोकान्तमें होनेवाले देव लौकान्तिक हैं। इस कारण ब्रम्हलोकमें सर्वत्र निवास कर रहे अन्य वसंख्याते देव तिस प्रकार लौकान्तिक नहीं हैं। किन्तू चार लःखसे कुछ अधिक ही देव लौका-न्तिक हैं। अथवा दूसरी निरुक्ति यों की जा सकती है कि लोकका अर्थ यह जन्म, जरा. मृत्यु ओंसे संकीर्ण होरहा संसार है। उस संसारका जो अन्त है, वह लोकान्त है। जिन देवोंका लक्ष्यभूत प्रयोजन वह लोक का अन्त करना है, ऐसे देव लीकान्तिक हैं। वे लौकान्तिक देव नियमसे संसारसे निकान्त हुये समझने चाहिये। कारण कि उस अपने स्थान बम्हलोकसे चय कर कर्मभूमिमे एक मनुष्य जन्मरूप गर्भवासको प्राप्त कर समन्तात शभ होरही मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं।

#### कि पुनरनेन सुत्रेण कियत इत्याह।

कोई प्रश्न करता है कि इस सूत्र करके फिर सूत्रकारने क्या लक्ष्य सिद्ध किया ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर वार्त्तिकको कहते हैं।

## तत्र लोकांतिका देवा महालोकालया इति । सूचनात् कल्पवासित्वं तेषां नियतमुच्यते ॥ १ ॥

उन वैमानिक वेबोंके प्रतिपादक सूत्रमें श्री. उमास्वामी महाराजने बह्यालोक में निवास रूरने वाले देव लोकान्तिक हैं। यों इस सूत्र द्वारा की गयी सूचनासे उन लोकान्तिक देवों का कल्यवासीयन नियत होरहा कह दिया है। स्त्रीकांतिकानां कल्पोपपन्नकल्पातीतेभ्योन्यत्वं माभूबिति तेषां कल्पवासिनियमोऽनेन क्रियते न ततो देवानां चतुःणिकायत्वनियमो विरुध्यते ।

लौकान्तिक देवों को कल्पीपपन्न और कल्पातीत देवोंसे भिन्नपना नहीं होबे इस कारण उन लौकान्तिकोंके कल्पवासीपने का नियम इस सूत्र करके किया गया है। तिस कारण देवों की चार निकाय होनेका नियम विरुद्ध नहीं पड़ना है। अर्थान् लौकान्तिक देव चार निकायसे बाहिर नहीं है। किन्तु वैमानिक देवोंके कल्पोपपन्न भेदमें गिमत होजाते हैं।

#### तद्विशेष प्रतिपादनार्थमाह।

अब ग्रन्थकार अग्रिमसूत्रका अवतरण हेतु यो कहते हैं कि सामान्य करके उपदिष्ट किये गये उन लौकान्तिकोंके विशेष भेदोंकी शिष्योंको प्रतिपत्ति करानेके लिये सू कार अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

## सारस्वतादित्यवन्ह्यरूणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च॥

१ सारस्वत २ आदित्य ३ वन्हि ४ अरुण ५ गरंतीय ६ तुषित ७ अन्याबाध ८ अरिष्ट ये आठ लोकान्तिक देवों के गण हैं। समुच्चय अर्थ वाचक च शब्द करके अग्न्याम, सूर्याभ, सादिक सोलहगण अन्य भी समझ लेने चाहिये।

क्व इमे सारस्वतावयः पूर्वोत्तरादि विश्व यथाक्रमं। तद्यया अरुणसमुद्रप्रभवो मूले संख्ये-ययोजनिवस्तारस्तमसः स्कंधः समुद्रवद्वलयाकृतिरिततीवाधकारपरिणामः स अर्ध्व क्रमवृथ्द्या गच्छन् मध्येंऽते वा संख्येययोजनबाहुल्यः अरिष्टविमानस्याधोभागे समेतः कुक्कुटकुटीवववस्थितः। तस्यो-परि तमे।राजयोष्टावृत्पत्यारिष्टेंद्वकविमानसमप्रणिधयः। तत्र चतमृष्विपि विक्षु द्वन्द्वं गतास्तियंगालो-कातात् तदंतरेषु पूर्वोत्तरकोणाविषु सारस्वतावयो यथाक्रमं वेदितच्याः।

ये सारस्वत आदिक लौक। नित्तकों के देवगण भला कहां स्थित होरहे हैं? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि पूर्व और उत्तर दिशाके मध्य कोण होरहे ईशान आदि दिशाओं में अर्थात् ईशान विदिशामें सारस्वत देवों के विमान हैं। पूर्व दिशामें आदित्य का विमान है। पूर्व दिशामें आदित्य का विमान है। पूर्व दिशामें आपनेय विदिशा में विन्हजातीय लौकान्तिकों के विमान हैं। दक्षिण दिशा में अरुण का विमान हैं। दक्षिण पश्चिम कोण यानी नैऋत्य विदिशामें गदंतीयों के विमान हैं। पश्चिम उत्तर कोण यानी वायव्य विदिशामें अव्यावाधों के विमान हैं। उत्तर दिशामें अरिष्ट जातीय लौकान्तिकों के विमान हैं। उत्ती को स्पष्ट रूपसे इस प्रकार समझना चाहिये कि नौमे अरुण समुद्रसे उत्त्वन्न हुआ और मूल में संख्यात योजन विस्तार वाला अन्धकारका स्कन्ध ऊपर की और उठ रहा है। जो कि समुद्रके समान होरहा कंकणकी आकृति को धार रहा है। अत्यन्त तीन्न अन्धकार परिणाम स्वरूप हैं। अर्थात् चौमाये में वर्षायुक्त होरही अमावस्या की राविके निविद्य बन्धकार से भी अस्पिधक माव

अन्यकार का पिण्ड उभर रहा है। वह अपर की और ऋमऋमसे वृद्धि करके बढता जा रहा मध्य में और अन्त में संख्यात योजन मोटा होजाता है। पुनः शिखर के समान घट कर ब्रह्म स्वर्ग सम्बन्धी पहिले पडलके मध्यवर्ती अरिष्ट विमान के नीचे भागमें एकत्रित होता हुआ मुर्गेकी कुटी (कुडला)के समान अन्धकार स्थित होगया है। भावार्थ-मसजिदों की शिखर या भुसभरने की बुरजी जैसे नीचे गोल होकर ऋमसे ऊपर को फैलकर बढती हुई पूनः शिखाऊ ऊपर जाकर घट जाती है। उसी प्रकार इस अन्धकारस्कन्ध की रचना समझना। धूम या काजल के समान अन्धकार भी पुर्गल को काले रंगवाली पर्याय विशेष है। कतिपय अन्धकार तो प्रकाशक पदार्थीसे नष्ट होजाते हैं। किन्तु पुर्गल की सुमेरु सूर्य, कुलाचलों आदिके समान यह अन्धकारका पिण्ड स्वरूप अनदि अनिधन पर्याय है। उष्ण पदार्थ शीतस्पर्शका नाशक है। परन्तु शीतद्रव्य भी उष्णता को समूल नष्ट कर सकता है। इस अन्धकार परिणति पर सूर्य या अन्य विमान आदि के प्रकाशोंका प्रभाव नहीं पडता है। वैशेषिकों के यहां अन्धकार जैसे कोई भाव पदार्थ नहीं होकर तेजका अभाव पदार्थ तुच्छ माना गया है। वैसा जैन सिद्धांत नहीं है। घूली पटल, **काजल**, धुमरेखा, बाप्प आदिके समान अन्धकार भी पूद्गल की विशेष परिणति है। मसालके ऊपर निकल रहे काले धूंयें की जैसे मसाल की ज्योति नष्ट नहीं कर देती है, अथवा आंधीं के आने पर लाल पीले रेत को सूर्यप्रभा कोई नष्ट नहीं कर देती है, प्रत्युत प्रकाशक पदार्थ उन काले पीले, धीले पदार्थींको उन्हीं के ठीक रंग अनुसार प्रकाशित कर देते हैं। उसी प्रकार काली स्याही को धूलके समान फैंल रहे इस गाढ अन्धकार को प्रकाशक पदार्थ नष्ट नहीं कर पाते हैं। भले ही उसके ठीक रूप अनुकूल उसको जतादें। काले रंग की भीत या कपडे पर जो प्रका-शक पदार्थ का प्रभाव है, वही दशा यहां समझना । अरुण समुद्रके सूर्य या चन्द्रमा इस अन्ध-कारका बालाग्र भी खण्डन नहीं कर सकते है। पुनः उन एकत्रित हुये अन्धकार के ऊपर अरिष्ट नामक इन्द्रक विमान के निकटवित्तनी होती संती अन्धकार की आठ पंक्तियां उठ कर झुकतीं हुई फैल रहीं हैं। वहां चारों भी दिशाओं में दो दो होकर द्वन्द्व को प्राप्त हुई तिरछी लोक पर्यन्ततक चलीं गयी हैं। उन अन्धकार पंकिश्योंके अन्तरालमें पूर्वोत्तर दिशाके कोने ईशान आदि विदिशा या दिशाओं में सारस्वत आदिक विमान या देवगण यथाकृतसे व्यवस्थित होरहे समझलेने चाहिये।

च शह्न समृज्यिताः सारस्यताद्यंतरालर्यातनः परेऽज्यामसूर्याभादयो हृद्ववृत्त्या स्थिताः प्रत्येतव्याः, तद्यथा । सारस्यतादित्ययोरतरालेऽज्यामसूर्याभाः, आदित्यवन्हघोश्यद्राभसत्याभाः, वन्ह्यरणयोः श्रेयस्करक्षेत्रकराः, अरुणगर्वतोययोर्वृषभेष्टकामचाराः, गर्वतोयनुषितयोनिर्माणरको विगंतरक्षिताः, नुषिताव्याबाद्ययोरात्मरक्षितसर्वरक्षिताः, अव्याबाद्यारिष्टयोर्मस्द्वस्यः, अरिष्टसा-रस्वतयोरद्वविश्वाः, । तान्येतानि विमानानां नामानि तक्षिवासिनां च देवानां तृत्याहृचर्यात्।

सूत्र में पडे हुये समुच्चय अथंदाचक च शह्य करके दूसर दूसरे अग्न्याभ सूर्याभ, आदिक देव गणों का समुच्चय कर लिया जाता है। सारस्वत आदिकों के आठ अन्तरालों में वर्त रहे अग्न्याभ, सूर्याभ आदिक देवगण दो दोकी इन्द्ववृत्तिसे स्थित होरहे विश्वास कर लेने योग्य हैं। उसी बात को स्पष्ट रूपसे इस प्रकार जानलों कि सारस्वत और आदित्य के अन्तरालमें दो अग्न्याभ और सूर्याभजाति के कई विमान विरचित हैं। तथा आदित्य और विन्ह के मध्यमें चन्द्राभ और सत्याभ देवगण हैं। विन्ह और अरुणों के अन्तराल में श्रेयस्कर और क्षेमंकर इन दो जातिक लौकान्तिक भेद वस रहे हैं। अरुण और गर्दतीय के अन्तराल में वृष्य पेष्ट और कामचार इन दो मण्डलियों का निवास है। गर्दतीय और तुष्ति के बोच में निर्माणरजः और दिगग्त्यास्तित देवगणों के स्थान हैं। तुष्तित और अव्यावाधक बीच में आत्मरक्षित और सर्व-रक्षित जातिक लौकान्तिक देव मण्डल हैं। अव्यावाध और अरिष्टक अन्तर स्थान में मरुत् और वसु निवास कर रहे हैं। अरिष्ट और सारस्वत के अन्तराल में अश्व और विश्व जातिक देवगण बस रहे हैं। वे सारस्वत, अग्न्याभ आदिक ये सब विमानों के नाम हैं, उन विमानों का सहचरपना होनेसे उनमें निवास करने वाले देवों के भी प्रवाहमुद्रया सारस्वत आदिक नाम कहे जाते हैं।

तत्र सारस्वताः सप्तशतसंख्याः, आवित्याश्च सप्तशतगणनाः, बन्हयः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि, अरुणाश्च तावंत एव, गर्वतोया नवसहस्राणि नवोत्तराणि, तुषिताश्च तावंत एव. अव्यावाधा एकावशसहस्राण्येकावशानि,अरिष्टा अपि तावंत एव। च शद्धसमुण्वितानां संख्योच्यते अग्न्यामे वेवाः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि,सूर्यामे नवनवोत्तराणि,चन्द्रामे एकावशैकादशोत्तराणि, सत्यामे त्रयोवश त्रयोवशत्तराणि, अयस्करे पंचवशपंचवशोत्तराणि, क्षेमंकरे सप्तवश सप्तवशोत्तराणि वृवमेष्टे एकोनीवशत्येकोनिवशत्यधिकानि, कामचारे एकविशत्येकिविशत्यधिकानि, निर्नाणराजि त्रयोविशतित्रयोविशत्यधिकानि, विगंतरक्षिते पंचविशतिपंचविशत्यधिकानि, आत्मरिक्षते सप्तविशतिसप्तिवशत्यधिकानि, सर्वरक्षिते एकास्रित्रशविशास्त्रविकानि, मर्गत एकित्रशविकानि, सर्वरक्षिते एकास्रित्रशविशास्त्रविकानि, मर्गत एकित्रशविकानि, वस्त्रविश्वादिकानि, वस्त्रविश्वादिकानि। त एते चतुविश्वादिकानितकगणाः समुविताः चरवारिशतसहस्राणि अष्टसप्तिवश्च शतानि वङ्गतराणि।

वव लौकान्तिक देवों की संख्याको गिनाते हैं। उन चौनीस गणों में सारस्वत देवों की संख्य सात सी है। और व्यादित्यों की गणना भी सात सौ ही समझनी चाहिये। वन्हिगण के देवों के संख्या सात अधिक सात हजार है। अरुण जाति के देव भी उतने ही यानी सात हजार सात हैं गर्दतीय विमानों में रहनेवाले देव नौ ऊपर नौ हजार हैं। तथा तुषित भी उतने ही यानी न हजार मौ हैं। अञ्यादाश देवगण में ग्यारह हजार ग्यारह देवनण हैं। वरिष्ट भी उतने ही यान मनस्व हवार हैं। च यह से समुख्या कर किये गये सम्याभ शादि देवों की संख्या अब कह जाती है। अग्न्याभमें देव सात अधिक सात हजार हैं। सूर्याभिवमानमें नौ अधिक नौ हजार हैं। चन्द्राभ में ग्यारह अधिक ग्यारह हजार हैं। सत्याभ में तेरह हजार तेरह देव बसते हैं। श्रेयस्कर में पंद्रह ऊपर पन्द्रह हजार देव निवसते हैं। क्षेमंकर में सत्रह अधिक सत्रह हजार देव निवास करते हैं । वृषभेष्टमें उनईस हजार उनईस अधिक देव वस रहे हैं । कामचारमें इकईस हजार इक ईस अधिक देव ठहरे हये हैं। निर्माणरजाः में तेईस हजार तेईस अधिक अमर विराजते हैं। दिगन्तरक्षित में पच्चीस हजार पच्चीस सुर निवसते हं। आत्मरक्षित में सत्ताईस अधिक सत्ता-ईस हजार देव स्थत है। सर्वरिक्षतमें उन्तीस सहस्र उन्तीस देवों का निवास है। मरूत्में इकतीस हजार इक्तीस अधिक देव शोभते हैं। बसूमें तेतीस हजार अधिक तेतीस देव वस रहे हैं। अरव में पेंतीस अधिक पेंतीस हजार देव राजते हैं। विश्व में सैतीस अधिक सैतींस हजार देव निवास करते हैं। वे सब इन संख्याओं को धार रहे ये चौवीस लौकान्तिकोंके गण एकत्रित कर दिये जांय तो सम्पूर्ण लीकान्तिक देवो की संख्या चारलाख सात हजार आठसी ऊपर छह होजाती है। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों के मन्तव्य अनुपार उक्त संख्या ही ठीक है। हां, त्रिलोक-सार की ''सारस्सद आइच्चा सत्तसया सगजुदाय वण्हरुणा। सगसगसहस्समुर्वीर दुसु दुसु दो दुग सहस्स वडिटकमा" इस गाथाके अनुसार सारस्वत और आदित्यों की सातसी सात संख्या मानकर पुनः वृद्धि होजानेसे चार लाख सात हजार आठसी वीस यह लौकान्तिक देवों की संख्या चोखी जवती है।

सर्वे स्वतंत्राः हीनाधिकत्वामावात् । विषयरतिविरहाद्देवषयः तत एवेतरेषां देवानाम-र्चनीयाः चतुर्वशपूर्वेधराः सततं ज्ञानमः वनावहितमनसः नित्य संसारादुद्धिग्नाः अनित्याशरणाद्य-नुप्रेक्षावहितचेतसः तीर्थंकरनिः क्रमणप्रबोधनपराः नामकर्मविशेषोदयादुपजायंते ।

ये सभी लौकान्तिक देव बहमिन्द्रोंके समान स्वतंत्र हैं। किसी इन्द्र, प्रतीन्द्र आदिका इन पर कोई कुत्सित अधिकार नहीं चलता है। परस्परमें भी हीनपना या अधिकपना नहीं होनेसे कोई किसीके परधीान नहीं है। इन्द्रियसम्बन्धी विषयों में रागभावका विरह होजानेसे देवों में ऋषितुल्य होरहे ये देविष कहे जाते हैं। तिस ही कारणसे अन्य देवोंके पूजनीय हैं। चौदह पूर्वको धार रहे ये द्वादशागवेत्ता हैं। इनका चित्त सबंदा ज्ञानाभ्यास की भावना करते हुं ये उसे में एकाम लगा रहता है। नित्य ही संसारसे उद्वेगको प्राप्त होरहे वैराग्यतत्पर रहते हैं। अनित्य, अश्वरण, संसार आदि बारह अनुप्रेक्षाओं के भावने में इनको चित्तवृत्ति हकी रहती है। तीर्थकर भगवान्के तपःकल्याणके अवसरपर नियोग साधते हुं ये भगवान् को तत्वप्रदीध कराने के लिये तत्पर रहते हैं। निष्कमणके सिवाय अन्य किन्ही भी कल्याणों से या नन्दीश्वर-

द्वीप अथवा अन्य अकृतिम चैत्यालयों की वन्दना आदिमें इनको जाने आने की उत्सुकता नहीं है देवगित नाम कर्मके भेद प्रभेद होरहे लौकान्तिक देव नामक प्रकृति विशेषके उदयसे उक्त ढंग के ये देव उपज जाते हैं। नामकर्म की उत्तरोत्तर प्रकृतियां असंख्याती हैं। यह जीव पहिने शुभ, अशुभ, कर्मों अनुसार विभिन्न पर्यायों में उपज जाता है। पश्चात् स्वकीय पुरुषार्य द्वार विलक्षण कार्यों को साधलेता है। सिद्धान्त ग्रन्थों में संसारी जीवों की अवस्थाओं का कर्मजनित और पुरुषार्थं जानत न्यारा न्यारा स्वरूप दरसादिया गया है।

#### तेन्वर्थसंज्ञतां प्राप्ता भेदाः सारस्वतादयः । तेनैकचरमास्तद्वच्छक्राचाश्चोपलक्षिताः ॥ १ ॥

लौकान्तिक देवगणोंके वे सारस्वत आदिक भेद अन्वर्थसंज्ञापनेको प्राप्त हो रहे हैं तिस कारण ये लौकान्तिक देव एकचरम है। यानी एक मनुष्य भव लेकर चरमशरीर अवस्थ से निर्वाण प्राप्त कर लेंगे। अतः शद्धमेंसे निकले हुये अर्थके अनुसार इसका नाम यथार्थ है उमास्वामी महाराजने इन दो न्यारे सूत्रों करके एक भवतारी लौकान्तिक देवोंका स्वतंत्र निरू पण किया है। यह उपलक्षण है। जैसे "काकेभ्यो दिध रक्ष्यताम्" यहां काक पद दहीके उप भातकों का उपलक्षण है। छह दक्षिण दिशाके इन्द्र, सौधर्म इन्द्रको इन्द्राणी, सौधर्म स्वर्गव लोकपाल, सर्वार्थसिद्धिके देव ये भी एक भवतारी हैं। अतः उन लौकान्तिकों के समान इस मूण्द्रारा सौधर्म इन्द्र आदि सभी एक भवतारी जीवों का उपलक्षण कर दिया गया समझ लेना

येथैकचरमा लौकांतिकाः सर्वेन्वर्थसंज्ञां प्राप्ताः सुत्रिताः तथा शकादपश्च तेषामुपल क्षणत्वात् ।

जिस प्रकार कि एक चरम होरहे सभी लौकिन्तिक देव परले जन्म में संमार का अन्करने वाले होते हुये सत्य अर्थके अनुकूल होरहीं संज्ञाको प्राप्त होरहे सूत्र द्वारा उमास्वामं महाराजने कह दिये हैं, उसी प्रकार सौधमं इन्द्र आदिक भी एक चरम शरीर को प्राप्त का दूसरे जन्म में संसार का अन्त कर देने वाले सूचित कर दिये गये हैं। क्योंकि उन सारस्वर आदिकों का एक भागारी जीवों में उपलक्षणपना है। अतः 'बाम्हणविशष्ट' न्याय से इन एव भवतारी जीवोंका न्यारे सूत्रों द्वारा निरूपण करना समुचित है।

#### क्व पुनद्विचरमा इत्याह ।

जब कि ये लौकान्तिक या शक आदिक एक चरम हैं, तो किर महाराज यह बताओं कि द्विचरम यानी दो भवतारी जीव कौनसे हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महा राज अग्निमसूत्रको कहते हैं।

## विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

विजय आदि विमानों में दो चरम वाले देव निवास करते हैं। अर्थात् विजय, वैज-यन्त, अपराजित और नौ अनुदिश विमानोंके देव अधिकपनेसे अन्तिम दो मनुष्य भवोंको प्राप्त कर मोक्षको चले जाते हैं। यहां विजय और आदि शद्धके साथ बहुन्नीहि समास तथा तत्पुरुष समास कर देनेसे वैजयन्त, अपराजित, और अनुदिशोंका इष्ट्रग्रहण सिद्ध होजाता है। ये तेरह विमानोंके निवासी पत्यके असंख्यातवें भाग स्वरूप असंख्याते देव आयुष्य पूर्ण होते सन्ते सम्य-क्त्वसे नहीं छूटते हुये मनुष्योंमें उपज कर पुनः संयमको आराधना करते हुये फिर विजयादिकों में उपज कर वहां से च्युत होते हुये यहां कर्म भूमिमें मनुष्य भवको प्राप्त कर सिद्ध होजाते हैं। यो दो मनुष्य भवोंकी अपेक्षा द्विचरमपना होजाता है।।

आदिशद्वः प्रकारार्थः । कः प्रकारः?सम्यग्दृष्टित्वे निर्प्रयत्वे च सत्युपपादः । स च विषय स्येव वं जयंतजयन्तापराजितानामनुविशानामप्यस्तीति तत्रादिशद्वेन गृहाते । सर्वार्थद्वस्य प्रहण प्रसंग इति चेन्न,तस्यान्वर्थसंज्ञाकरणात् पृथगुपादानाच्च लौकान्तिकवदेकचरमस्वसिद्धेः ।

यहां सूत्रमें पडे हुये आदि शद्धका अर्थ प्रकार है। वह प्रकार क्या है ? इसका उत्तर यह है कि सम्य ग्दृष्टि होते हुये और निर्यन्थपना होते हुये जो देवोंमें उपपाद जन्म लेना है। हां, वह सम्यग्दृष्टि और निर्ग्रन्थ मनुष्यों का उपयाद विजय के समान वैजयन्त, जयन्त अपराजित, और अनुदिश विमानवासियों के भी विद्यमान है। इस कारण वहां आदि शद्ध करके वारह विमानोंका ग्रहण कर लिया जाता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो रहे महाव्रती का ही मरकर जहां जन्म लेने का नियम है, वे स्थान विजय आदिक कहे जाते हैं। जन्मके आदिमें सम्याद्धि होते हये अहमिन्द्र-पनका अकलंक नियम भी इससे प्रतिकूल न हीं पडता है। यदि यहां कोई यों कहे कि सम्यग्दृष्टि महावती पुरुषोंका ही उपपाद जन्म होना तो सर्वार्थसिद्धि विमानोंमें भी है। अत: बादि पदसे यहां मानुषियोसे तिगुने या उत्कृष्टतया सात गुते सर्वार्थेसिद्धि वाले सख्यात देवोंके ग्रहण होजानेका प्रसंग होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस सर्वार्थसिद्धि की ठीक ठीक गचक शद्धके अन्सार अर्थ घटित होजानेवाली सज्ञा की गयी हैं। भावार्थ-सम्पूर्ण अर्थी की सिद्धि प्राप्त करनेवाले ये देव हैं। अगले भव में ही मोक्ष की सिद्धि करलेवेंगे। दूसरी बात यह है कि सौधर्मेशान आदि सूत्रमें 'सर्वार्थसिद्धि' का पृथग् रूपसे उपादान किया गया है। अतः लीकान्तिक देवोंके समान एक चरमशरीरपना सिद्ध है। अतः सम्यग्दृष्टि महावती ही मनुष्योंके उपपाद स्थान होरहे विजय आदि तेरह विमानोंमें रहने वाले अहमिन्द्रोंके लिये चरितार्थ है।

कयं पुनिवजयादीनां द्विचरमत्वं ? मनुष्यभवापेक्षाया तथैव व्याख्याप्रज्ञप्तिवंडकेऽ भिधानात् । देवभवापेक्षायामपि त्रिचरमत्वप्रसंगात् ।

विजयादिक अहमिन्द्रोंके द्विचरमपना किस प्रकार व्यवस्थित है ? इनका समाधान यह है कि दे मनुष्य भवोंकी अपेक्षा करते सन्ते द्विचरमपना । यानी विजयादिक से च्युत हो कर मनुष्योमें उपज कर संयम लेते हुये, पुनः विजयादिक में उपपाद कर पुनः मनुष्य जन्म लेकर सिद्ध हो जाते हैं। तिस ही प्रकार व्याख्याप्रज्ञान्तिदण्डक नामक महा अधिकार में कहा गया है। यदि मध्यवर्ती देवभवकी अपेक्षा भी की जायगी तब तो त्रिचरमपनका प्रसंग होगा। दो मनुष्यभव और एक देवभव यों तीन भवतारी ये हो जायंगे। व्याख्याप्रज्ञन्तिदण्डक में अन्तर प्रकरणके अनुसार आये हुये, विरोधका भी निवारण कर दिया है। अन्य कल्पमें उत्पत्ति हो जानेकी अपेक्षा नहीं रखकर किये गये, गौतम महाराजके प्रश्नपर भगवान्का उत्तर यह है, जो कि सूत्रमें कहा गया है।

मनुष्यभवस्य पुनरेकस्य मृख्यबरमत्वं येनैव निर्वाणप्राप्तेः । अपरस्य तु चरमप्रस्यासत्ते-वपचरितं चरमत्वं सजातीयस्य व्यवधायकस्याभावात् तस्य तत्प्रत्यासत्तिसिद्धेः । द्वौ चरमौ मनु-व्यमबौ येवां ते द्विचरमाः देवाः विजयादिषु प्रतिपत्तव्याः ।

यदि कोई यों कटाक्ष करे कि कितने ही थोड़े या बहुत पदार्थ क्यों न हों उनमें चरम एक ही हो सकता है। अनन्तानन्त पदार्थमें भी चरम एक ही होगा। किर यहां दो को चरमपना कैसे कहा ? ग्रन्थकार इसका समाधान यों कर देते हैं कि भाई तुम्हारा कहना ठीक है। एक ही अन्तिम मनुष्य मवको मुख्य रूपसे चरमपना है, जिस ही करके निर्वाणकी प्राप्ति होती है। किंतु उसके निकटवर्ती दूपरे या तीसरे न्यारे भवको चरमपना तो चरमके निकटवर्ती होने के कारण उपचरित है। कोई दूसरा समान जातिवाला पदार्थ व्यवधान करनेवाला नहीं हैं। अतः उस दूसरे या तीसरे भवको उस मुख्यचरमकी निकटवर्तिता सिद्ध है। जिनके दो मनुष्य भव अन्तिम छेने शेष हैं, वे देव द्विवरम हो रहे विजय आदिक में निवास कर रहे समझ लेने चाहिये।

#### अयान्यत्र सौधर्माविषु कियच्चरमा देवा इत्यावेवयितुमाह ।

अब महाराज यह बताओ कि अन्य सौधर्म, अादिक विमानोंमें निवास कर रहे देव भला कितने चरम भवोंको ग्रहण कर निर्वाण प्राप्त करेंगे? इस प्रश्नके समाधानका प्रज्ञापन कर-नेके लिये ग्रन्थकार उत्तरवात्तिकको कहते हैं।

तथा द्विचरमाः प्रोक्ता विजयादिषु यतोऽपराः । ततोन्यत्र नियामोस्ति न मनुष्यभवेष्विह ॥ १ ॥

जिस कारणसे कि विजय बादिकों में तिस प्रकार दो मनुष्य भवों की अपेक्षा दिचरम देव अच्छे कहे गये हैं, तिस कारण अन्य वैमानिकों में यहां मनुष्य भवें में नियम करानेवाला कोई नहीं है। अर्थात्-सौधर्म आदिके देव सौ भव या अनन्त भव लेकर मोक्ष जाग्रेंगे ऐसा कोई नियम नहीं है। ग्रैवेयकों तकमें उपजनेबाले अनन्तवार ग्रेवेयक या मन्ब्य भवोंमें संसरण करते रहते हैं। अनेक जीव तो मुक्तिको कथमपि प्राप्त नहीं कर सकेंगे। अतः लौकान्तिक आदिकोंका एक चरमपना और विजयादिकोंका दो चरमपना प्रसिद्ध है। क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंका त्रिचरमपना यानी उत्कृष्टतया चौथे भवमें मोक्ष जाना निर्णीत है। तीर्थकर प्रकृतिवाला जीव भी उत्कृष्ट तया द्विचरम है। तीसरे जन्ममें अवस्य मोक्ष पावेगा। अन्य जीवोंके लिये कोई मुक्ति प्राप्त करनेके जिये भवोंका नियम नहीं बखाना गया है। भले प्रकार सल्लेखना करनेवाला जीव जन्मोंम मुक्तिको प्राप्त कर लेता है, ऐसा चरणानुयोगका सिद्धांत है। " जेमि होइ जहण्णा चउव्विहाराहणा दु भवियाणं । सत्तत्रुभवे गंतुं ते विय पावन्ति णिव्वाणं " इनके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्त करनेके लिये भवोंका नियम नहीं किया गया है। भले ही न्यारे न्यारे जन्मों की अपेक्षा यह जीव महाव्रतों को अधिक से अधिक सतीस वार धारण कर सकता है। एक भवमें अधिकसे अधिक दो बार लेता हुआ। उपशम श्रेणीको चार वार ले सकता है। किन्तु इसमें तो कुछ कम अर्द्ध पुर्गल परिवर्त्तन काल भी पूरा होकर अनन्ते जन्म हो सकते हैं। अनन्त कल्पकाल भी समाजाय। अतः यह कोई चरमभवोंको गणनाका नियम नहीं समझा जाता है।

यतो लौकांतिकानां सर्वार्यसिद्धस्य शकस्य च तदप्रमहिष्या लोकपालाबीनामेकचरमत्व-मुक्तं तथा विजयादिदेवानां द्विचरमत्वं, ततोन्यत्र सौधर्मादिषु नियमो नास्तीति गम्यते।

जिस कारणसे कि लौकान्तिक देवों का और सर्वार्धसिद्धिवाले देवों का तथा सौधर्म इंद्रका एव उसकी अग्रमहिषी हो रहीं इन्द्राणीका तथैव लोकपाल आदिकों का एकचरमपना सिद्धांत ग्रन्थों में कहा गया है, तिस प्रकार विजय, आदिक देवों का द्विचरमपना निर्णीत है। उनके सिवाय सौधर्म आदिकों के अन्य देवों में कोई द्विचरमपन आदिका कोई नियम नहीं है। यो अर्थापत्या जान लिया जाता है। लोकपाल आदि यहां आदि दसे दक्षिण दिशाके इन्द्रों का ग्रहण कर लेना, विलोकसारमें 'सोहम्मो वरदेवीं सलोगपाला य दक्खिणमरिदा। लोगतिय सम्बद्धा त रो चुदा णिव्वृद्धि जन्ति ।' यों कहा है।

#### इत्येकादशभिः सूत्रैवैमानिकनिरूपणं । युक्तयागमवशादात्तं तन्निकायवतुष्टयम् ॥ २ ॥

इस प्रकार 'वैमानिकाः 'इस सूत्रसे प्रारम्भ कर 'विजयादिषु द्विचरमाः ' यहांतक ग्यारह सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने वैमानिक देवोंका निरूपण किया है। युक्ति और आगमके वशसे उन देवोंकी चारों निकायोंको उक्त चौगे अध्याय द्वारा ग्रहण कर लिया जा चुका है। अर्थात्—यहांतक इस अध्यायके छव्वीस सूत्रोंमें चारों देविनकायोंका समीचीन युक्तियों और सर्वेज्ञ धारा प्राप्त आगमके अनुसार कथन किया जा चुका है।

> इति तत्त्वार्थश्लोकवास्तिकालंकारे चतुर्थाध्यायस्य प्रथममान्हिकम् । यहांतक तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक महाग्रंथमें चौथे अध्यायका पहिला आन्हिक (प्रकरण समूह) परिसमाप्त हुआ।

प्राग्जन्माजितकर्मनित्यगतिकज्योतिष्किनिघ्नं क्षपा-घस्नाविष्यवहारकालमचलास्यैय्यंञ्च मुक्त्ये विदन् । सूर्येन्द्वोरुपरागिताग्रहकृतानेन्दुक्षितिच्छ।यया धर्म्यध्यानरतो भुवं समतलां पत्येवगोलां सुधीः ॥ १॥

## अथ द्वितीयमान्धिकम्

जीवके औदियक भावोंमे तिर्यक् योनिकी गतिको औदियिक भावोंमें गिनाया है। फिर स्थितिके प्रकरणमें " तिर्यग्योनिजानां च " इस सूत्र द्वारा तिर्यचयोनिवाले जीवोंकी स्थितीको समझाया है। वहां हम यह नहीं समझे कि तिर्यग्योनि जीव कौनसे हैं? इस प्रकार सन्देह होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको समाधानार्थं प्रतिपादन करते है।

## औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः॥ २७॥

औपपादिक अर्थात्—उपपाद जन्मवाले देव और नारकी जीव तथा मनुष्य इनसे शेष बच रहे सम्पूर्ण संसारी जीव तियंग्योनि यानी तिर्यंच है। तीन गतिओं के जीव असं-ख्यातासंख्यात है। किन्तु तिर्यंच जीव अनन्तानन्त है।

औषपाविकाञ्च मनुष्याञ्चौपपाविकमनुष्या इत्यत्र द्वंद्वेर्म्यहितत्वादौपपाविकञ्चद्वस्य पूव-निपातः । मनुष्यञद्वस्याल्पाक्षरत्वेषि तस्मावुत्तरत्र प्रयोगः, अर्म्यहितत्वस्याल्पाक्षरापवादत्वात् । तैभ्योन्ये शेषाः संसारिणः तिर्यग्योनयः प्रत्येयाः, तिर्यग्नामकर्भीवयसद्भावात् । न पुनः सिद्धाः संसारिप्रकरणे तदप्रसंगात् ।

औपपादिक और मनुष्य यों इतरेतर द्वन्द्व कर 'औपपादिकमनुष्याः ' यह पद बनाना चाहिये। इस पदमें द्वन्द्व समास करनेपर अभ्यहित (पूज्य) होनेसे 'अव्यवहितं पूर्वं ' इस सूत्र अनुसार बहुत अच्वाले भी औपपादिक शद्धका पूर्वमें निगत हो जाता है। मनुष्य शद्धका अस्प अक्षरवाला या अत्यल्प अच्वाला होनेपर भी उस औपपादिकसे पीछे प्रयोग किया है। क्योंकि 'अल्पाच् तरं पूर्व ' इस सूत्रका अपवाद करनेवाला ' अध्यहितं च ' है। अतः अध्य-हितपना अल्पाक्षरपनेको बाध लेता है। अीपपादिकोंमें देव आ जाते हैं। और देव स्थिति, प्रभाव, आदि करके पूज्य कहे जा चुके हैं। उन औपपादिक और मनुष्योंसे अतिश्कित शेष संसारी जीव तिर्यंच समझ लेने चाहिये। क्योंकि उनके तिर्यंगिति नामक नाम कर्मका उदय विद्यमान रहता है। औपपादिक और मनुष्योंसे शेष रहे सिद्ध फिर नहीं ग्रहण किये जाते हैं। क्योंकि संसारी जीवोंके प्रकरणमें उन शुद्ध परमात्माओंका प्रसंग नहीं है। सिद्धोंमें गित कर्मका उदय नहीं पाया जाता है।

करमात्पुर्नीह तेभिधीयंते ? तिर्यग्प्रकरणे तेषामिधानाहं त्वात् इत्याशंकमानं प्रत्याह ।
कोई शिष्य आशंका कर रहा है कि किस कारणसे फिर वे तिर्यंच जीव यहां विना
प्रकरण कहे जा रहे हैं। जब कि दूसरे अध्यायमें तिर्यंचों के प्रकरणमें उन तिर्यंग्योनि जीवोंका
कथन करना योग्य प्रतीत होता है ? इस प्रकार आशंका कर रहे शिष्यके प्रति ग्रन्थकार
समाधान वचनको कहते हैं।

सर्वलोकाश्रयाः सिद्धास्तियंचोप्पर्थतोगिनः । सन्त्योपपादिकेभ्यस्ते मनुष्येभ्योपि चापरे ॥ १ ॥ इति संक्षेपतस्तिर्यग्योनिजानां विनिश्चयः । कृतोत्र सूत्रकारेण लक्षणावासभेदतः ॥ २ ॥

आधारभूत संपूर्ण लोकके आश्रित हो रहे तिर्यंच प्राणी भी वास्तविक रूपसे प्रसिद्ध हो रहे हैं। तया वे औपरादिक जीवोंसे और मनुष्य जीवोंसे भी न्यारे भिन्न प्रकारके विद्यमान हैं। इस प्रकार सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रमें लक्षण और निवास स्थान की विद्यो-षता अनुसार संक्षेपसे तिर्यंच जीवोंका विशेष निश्चय करा दिया है। भावार्थ—तिर्यंच जीव तीनों लोकोंमें भरे हुये हैं। तीनों लोकोंका निरूगण कर चुकतेपर तिर्यंचोंका प्रतिपादन करना सुगम है। अतः इस सूत्र द्वाग तिर्यंचोंके लक्षण और अर्थापत्या निवासस्थान रूत तीनों लोककी प्रतिपत्ति करा देना सूत्रकारको आवश्यक पड गया है।

अधोलोकं मध्यलोकमूध्वंलोकं चाभिष्ठाय यदत्र प्रकरणामावेषि तिर्यग्योनिजानां निक-पणं सूत्रकारेण कृतं तलेषां सर्वलोकाश्रयत्वप्रतिपस्यर्थं च । तिर्यक्ष्रकरणेस्य सूत्रस्याभिष्ठाने तर्यतिर्यंग्मेववचने सति सूत्रस्य गौरवप्रसंगात् । सर्वलोकाश्रयत्वं पुनरेषां परि तेषात् योष्यते । तीसरे अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन कर तथा चतुर्य अध्यायमें छब्बीस सूत्रक उच्चं लोकका निरूपण कर, प्रकरण नहीं होनेपर भी सूत्रकारने जो यहां तिर्यंच जीवोंका प्रतिपादन किया है, वह तो उन तिर्यंचोंके सर्व लोकके आश्रितपनकी प्रतिपत्ति करानेके लिये और संक्षेप करने के लिये हैं। यदि दूसरे अध्यायमें तिर्यंचोंके प्रकरणमें इस सूत्रका कथन किया जाता तो सम्पूर्ण तिर्यंचोंके भेदोंका वचन करते सन्ते सूत्रके गौरव दोष हो जानेका प्रसंग आता। दूसरे अध्यायमें तबतक नारकी, मनुष्य और देवोंका निरूपण भी नहीं किया गया था। वहां नारकी जीवों या मनुष्यों अथवा देवोंके प्रतिपादक सूत्र भर दिये जाते तो अर्यकृत और प्रमाणकृत भारी गौरव हो जाता। तीनों लोक और तीनों गितयोंके जीवोंका वर्णन कर चुकनेपर यहां लघुतासे तिर्यंचोंका लक्षण और उनका निवास स्थान समझा दिया है। इन तिर्यंचोंके अधिकरणभूत संपूर्ण लोकमें आश्रित रहनेकी तो किर परिशेष न्यायसे योजना कर ली जाती है। यानी तीन लोकका निरूपण कर चुकनेपर तिर्यंचोंका यहां कथन करना उनके सर्व लोकमें व्याप कर ठहरनेको ध्वनित करता है।

तिर्यग्योनयो द्विविधाः सूक्ष्मा बादाराज्ञ्च, सूक्ष्मबादरनामकर्मद्वैविष्यात् । तत्र सूक्ष्माः सर्वलोकवासिनः, बादरास्तु नियतादासा इति नियतावासाभेदनिरूपणं तिर्यग्योनिज्ञद्वनिरुत्त्या लक्षणनिरूपणं तिरञ्चान्यामूतोपबाह्या योनिर्येषां ते तिर्यग्योनय इति । मनुष्यादीनां केषांचित् परोपबाह्यत्वात् तिर्यग्योनित्वप्रसंगादिति चेन्न, तिर्यग्नामकर्मोदये सतीति वचनात् ।

तियंच जीव दो प्रकारके हैं। नाम कर्मकी सूक्ष्म प्रकृति और बादर प्रकृति इन दो प्रकारके कर्मों उदय अनुसार हुये सूक्ष्म और वादर ये दो प्रकारके तियंच हैं। उन दो भेदों में पृथिवी अप्, तेज, वायु, वनस्पितकायिक सूक्ष्म तियंच संपूर्ण लोकमें निवास कर रहे है। और बादर हो रहे पृथिवी, तेज, अप्, वायु, बनस्पित, और विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय तियंच तो नियत हो रहे क्वचित् स्थानोंपर निवास करते है। इस प्रकार तियंचोंके नियत हो रहे निवासस्थान और भेदोंका निरूपण कर दिया गया है। तिर्यग्योनि इम शद्धकी निरुक्ति करके तिर्यचोंके लक्षणका निरूपण कर दिया गता है। यौगिक शद्धोंकी निरुक्ति कर देनेसे वाच्यार्थका लक्षण सम्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार कि पाचक, पालक, पालक, शद्धोंके निर्वचनसे ही रसोइया आदिके इतर व्यावर्तक लक्षण हो जाते हैं, इसी प्रकार यहां भी तिरुची न्यग्भूता यानी छिपी हुई जिनकी योनि उपजी है, वे जीव तिर्यग्योनि हैं। अथवा उपशह्या यानी तिरुक्ति हो रही योनिको धारनेवाले जीव तिर्यग्योनि जीव हैं। भावार्य-तियंचों एकेन्द्रियोंकी संख्या अत्यधिक है। इन एकेन्द्रियोंकी योनि संवृत (ढकी हुई) है। अथवा स्वयं तिर्यचों करके अथवा मनुष्यों करके जो पद पदपर तिरुक्तारको प्राप्त हो रहे हैं, वे तिर्यग्योनी जीव हैं। यहां कोई अतिप्रसंग दोष हो जानेकी शंका करता है कि किन्हीं किन्हीं मनुष्य, देव, आदिकोंका भी दूसरोंके द्वारा तिरुक्तार हो रही दही है। उत्तर उनको भी तिर्यग्योनियनका प्रसंग हो जायगा। प्रत्यकार कहते हैं कि यहं

तो नहीं कहना। क्योंकि अन्तरंगमें तियंग् नाम कर्मका उदय होते सन्ते जो उपबाह्य हैं, वे तियंच हैं। इस प्रकार दचन कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है। निहक्तिके साथ थोडा विशेषण और रुगा दिया जाता है।

#### संप्रति भवनवासिनां तावदुत्कृष्टस्यितप्रतिपादनार्थमाह ।

उमास्वामी महाराजके प्रति किन्हींका पृष्टव्य है कि भगवन् ! अब इन जीवोंकी स्थिति कहनी चाहिये। नारकी, मनुष्य, तिर्यचोंकी स्थिति तो आपने कह दी। देवोंकी नहीं कही है। अतः देवोंकी आयु किस प्रकार है ? यों पृष्टव्य होनेपर सबसे पहिले भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिको प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार इस अवसरपर अग्निम सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

## स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्धहीनभिता ॥ २८ ॥

भवतवासियोंमें असुरकुमारोंकी एक सागर प्रमाण उन्कृष्ट स्थिति है। नागकुमारोंकी तीन पत्योपम परिमित है। सुपर्णकुमारोंकी आधा पत्यहीन यानी ढाई पत्योपम परा स्थिति है। द्वीपकुमारोंकी उससे आधं पत्य हीन यानी दो पत्योपम है। शेष छह प्रकारके भवनवासियोंका उससे भी आधापत्य कम अर्थात्—डेढ अद्धापत्योपम काल परिमित उत्कृष्ट स्थिति है।

#### असुरादीनां सागरोपमादिभि रिम संबंधी यथाक्रमं।

असुरकुमार, नागकुमार, आदिको साग**रो**पम, त्रिपत्योपम, आदिके साथ कमका अतिकम नहीं कर उद्देश्य विधेय अनुसार संबंध कर लेना चाहिये। यों इस सूत्रके छोटे पांच वाक्य बना लिये जाय।

सूत्रकार अब कमप्राप्त हो रही व्यन्तर और ज्योतिष देवोंका उल्लंघन कर वैमानिक देवोंकी स्थितिको कहते हैं। क्योंकि भविष्यमें सरल उपायसे उनकी स्थिति कह दी जायगी। उन वैमानिकोंके आदिमें कहे गये पहिले युगलकी स्थितिको समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

## सौधमैँशानयोः सागरोपमेजधिके ॥ २९ ॥

सौधर्म और ऐक्शन स्वर्गमें देवोंकी जल्कष्ट आबु दो सागरसे कुछ अधिक है। द्वित्रधननिर्देशाद्दित्वगतिः, अधिके इत्यधिकार आसहस्रारात्।

सागरोपमें यह शब्द द्विवचन " औ " विभिन्तका रूप है। अतः द्विवचनका कथन कर देनेसे द्वित्व संख्याकी ज्ञप्ति हो जाती है, यानी दो सागर यह अर्थ निकल आता है। जैसे घटों का अर्थ दो घट है। इस सूत्रमें "अधिके " यह अधिकार पद है, जो कि सहस्रार स्वर्गतक जान केना चाहिये। क्योंकि "त्रिसन्त" आदि सूत्रमें अधिकारका निवर्तक सु शब्द पडेा हुआ है। सूत्रकारके व्यर्थ सारिखे पडे हुये शब्द न जाने किन किन अनेक अयोंका ज्ञान करते हैं। भावार्थ-यह उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र प्रतोन्द्र आदि देवोंकी है। सीधर्म ऐशान स्वर्गके देवोंकी देवियोंकी स्थिति तो "साहियपल्लं अवरं कप्पदुगित्थीण पणग पढमवरं। एक्कारसे चउक्के कप्पे दो सत्त-परिवड्ढी" इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार प्रथम युगल सम्बन्धी देवियोंकी जघन्य आयु साधिक पत्य है और सीधर्म देवियोंकी उत्कृष्ट आयु पांच पत्य एवं ऐशानमें सात पत्य है। सोलहवें स्वर्गमें देवियोंकी आयु पचपन पत्य है। "दिक्षण उत्तर देवी सोहम्मीसाग एव जायंते। तहेवीओ पच्छा उपरिम देवा णयन्ति सगठाणं"। दक्षिण उत्तर बारह कल्पोंमें रहनेवाले कल्पनासी देवोंकी देवियां सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें ही उपजती है। पोछे उन देवियोंको नियोग अनुसार उपरले देव अपने अपने स्थानको ले ज ते हैं।

अन श्री उमास्वामी महाराज दूसरे कल्प युगलकी स्थितिको विशेषतया समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते है।

## सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

सानत्कुमार और माहेंद्र नामक तीसरे, चौथे, स्वर्गोमें निवास कर रहे देवों की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागर की हैं। घातायुष्क सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा आधा सागर आयु अधिक हो जाती है। यह स्दब्ध सौधमंसे लेकर सहस्रार पर्यन्त तक समझनी चाहिये। उसके कपर घातायुष्क जीव उपज नहीं पाता है।

अधिकारात् सागरोऽमाधिकानि चेति संप्रत्ययः।

विकार चला भारहा होनेसे सागरोपम और अधिक शब्दोंकी अनुवृत्ति हो जाती है। इस कारण सान कुमार और माहेन्द्रों में वुछ अधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट आयु है। यह समीचीन प्रत्यय हो जाता है। " अर्थवशात् विभक्ते विपरिणामः " इस नीतिके अनुसार यहाँ "सागरोपम" और "अधिक" पदोंको बहुवचनान्छ कर लिया जाता है।

श्री उमास्वामी महाराज ब्रह्मलोक स्वर्गसे आदि लेकर अच्युत पर्यन्त स्वर्गोमें निवास कर रहे देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

## त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥

बहा, ब्रह्मोत्तर, स्वर्गोमें तीनसे अधिक हो रहे सात सागर यानी दस नागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गोमें सात करके अधिक हो रहे सात सागर यानी चौदह सागरकी स्थिति है। शुक्र महागुक्रमें नौ सागरसे अधिक हो रहे सात सागर यानी सोलह सागरकी आयु है। शतार सहस्रार स्वर्गोमें ग्याग्ह सागरसे अधिक होरहे सात सागर अर्थात् अठारह सागरकी स्थिति है। यहांतक अधिक शब्का अधिकार चला आ रहा है। अतः

उक्त स्थितियोंको घातायुष्क सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा आद्या सायर अधिक समझना । आनत, प्राणत स्वर्गोमें तेरह अधिक सात सागर यानी वीस सागरोपम काल उत्कृष्ट स्थिति है । तथा आरण और अच्युत स्वर्गमें पन्द्रह करके अधिक सागर अर्थात्—बाबीस सागरकी स्थिति है। तु शब्दका प्रयोजन सहस्रारतक ही अधिक शब्द की अनुवृत्ति करना हे।

सप्तेत्यनुवर्तते, तेन सानत्कुमारमाहें बयोध्यरि द्वयोः कल्पयोः सप्तसागरीपमाणि त्रिमि-रधिकानि इति दश साधिकानि स्थितिः, तयोषपरि द्वयोः कल्पयोः सप्त सप्ताधिकानीति चतुर्द-शाधिकानीति, तयोषपरि द्वयोः सप्तनविभरधिकानीति चोडशाधिकानि, तयोषपरि द्वयोः सप्त-कादशभिरधिकानि त्यष्टवशाधिकानि, तयोष्परि द्वयोरानतप्राणतयोः सप्त त्रयोदशमिरधिकानीति विश्वतिरेव, तयोषपरि द्वयोरारणाच्युतयोः सप्तयंवदशभिरधिकानीति द्वाविश्वतिरेव । तु शब्दस्य विश्ववणार्थत्वात् । आसहस्रारावधिकारात् परत्राधिकानीत्यभिसंवंधाभावः ।

पूर्व सूत्रसे सप्त इस शब्दकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। तिस कारणसे यह अर्थ हो जाता है। सानत्कुमार, माहेंद्र, स्वर्गोंके ऊपर दो कल्गोंमें तीनसे अधिक सात सागर स्थिति है। इस कारण उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक दस सागर की है। उन दो ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर स्वर्गीके ऊपर दो कल्पोंमे सात अधिक सात सागर इय प्रकार साधिक चौदह सागर इतनी उत्कृष्ट स्थिति हैं। उन लान्तव कापिष्ठोके ऊपर वर्त्त रहे दो शुक्र महाशक स्वर्गों में नीसे अधिक सात सागर यों कुछ अधिक सोलह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। उन शुक्र महाशुक्रोंके ऊपर ठहर रहे शतार सहस्रार, स्वर्गोमें ग्यारहसे अधिक हो रहे सात सागरयों आधा सागर अधिक अठारह सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है। पुनः उन शतार सहस्रार दो स्वर्गोंके आधा राज् ऊपर बर्त्त रहे दो आनत, प्राणत स्वर्गों में तेरहसे अधिक हो रहे सात सागर यों केवल वीस ही सागरकी उत्कृष्ट आयु है। उन आनत प्राणतोंके आधा राजू ऊपर वर्त रहे दो आरण, अच्यूत, स्वर्गी में देवोंका आयुष्य पन्द्रह करके अधिक सात सागर इस प्रकार शुद्ध बाईस ही सागर उत्कृष्ट आयुष्य हैं। सूत्रमें १डे हुए तु शब्दका अर्थ कुछ विशेषण लगाकर विशेषता कर देना है। अतः सहस्रारपर्यंत अधिक शब्द का अधिकार होनेसे परली ओर आनत आदिमें बीस, बाईस, इन दो स्थलोंपर सागरके साथ अधिकानि शब्दके सम्बन्ध करनेका अभाव हो जाता है। बात यह है कि घातापुरक सम्यग्दृष्टि की आयु यह साडे सात सागर होगयी है तो वह सानत्कुमार माहेंद्र स्वर्गोमें उपजेगा। हां, अन्य साडेसात सागर आयुवाला जीव ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर. स्वर्गोंमें जायगा । इसी प्रकार जिस घातायुष्क सम्यग्दृष्टि मनुष्यके साढे अठारह सागर स्थितिवाली देवायुष्यका सद्भाव हैं, वह शतार, सहस्रार स्वर्गीमे जन्मेगा और शेष साडे अठारह सागर देवायुष्यवाला जीव आनत प्राणत स्वर्गीमें जायगा।

यहांसे छह राजू ऊपरतक निवस रहे उन आरण, अच्युत, स्वर्गोंके ऊपर अहमिन्द्र-वैमानिक देवोंकी स्थिति कितनी हैं? इसकी प्रतिपत्ति करानेके लिए उमास्वामी महाराज अधिम सूत्रको कहते हैं।

## आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु भैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

बारण और अच्युत स्वामें ऊपर नवग्रैवेयकों में प्रत्येकमें एक एक सागरसे अधिक हो रही स्थिति समझ लेनी चाहिये। अर्थान्—तीन अधोग्रैवेयकों में पहिले सुदर्शन ग्रैवेयकमें तैईस सागरकी स्थिति है। दूपरे अमोध ग्रैवेयकमें चौवीससागरकी तीसरे सूप्रबुद्ध नामक ग्रैवेयकमें अहिमन्द्र देवोंकी पच्चीस सागर उन्कृष्ट स्थिति है। तीन मध्यम ग्रैवेयकमें पहिले यशोधर नामक ग्रैवेयकमें छव्वीस सागर स्थिति है। दूसरे सुभद्र नामक ग्रैवेयकमें सत्ताईस सागर और तीसरे सुविशाल ग्रैवेयकमें अट्टाईस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। कारले तीन ग्रेवेयकोंसे सुपनस नाम ग्रेवेयकमें उन्तीस सागर और दूसरे सौमनस ग्रेवेयकमें तीस सागरकी तथा तीसरे प्रीतिकर ग्रेवेयकमें इकतीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है। नी अनुदिश विमानोंमें एकसे अधिक इकतीस यानी बत्तीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। विजयादिकमें एक करके अधिक बत्तीस अर्थान्–तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। सर्वाथंसिद्धिमें जघन्य, उत्कृष्ट, दोनों भी स्थितियां परिपूर्ण तेतीस सागरोपम हैं।

अधिकारादधिकसंबंध: । ग्रेबेयके भ्यो विजयादीनां पृथाग्रहणमनुदिशसंग्रहार्यं । प्रत्येक मेक्कैकवृद्धचिमसंबंधार्यं नवग्रहणं । सर्वार्यसिद्धस्य पृथाग्रहणं विकल्पनिवृत्त्यर्थं ।

'सौधर्मेशानयोः सागरोपमेऽधिके "इस सूत्रके अधिक शब्दका अधिकार तो पूर्व सूत्रके समासगित चार पदोंतक ही लागू होता है। किन्तु "त्रिसप्त " आदि सूत्रमें पडे हुए अधिक शब्दका अधिकार हो जानेसे यहां उसका सम्बन्ध कर लिया है। तिस करके उक्त अर्थ निकल आता है। ग्रेवेयक और विजय आदि दो पदोंका समास नहीं कर ग्रेवेयक से विजय आदिका पृथग् ग्रहण करना तो नौ अनुदिश विमानोंका संग्रह करने के लिये हैं। अनुदिशके नौऊ विमानोंमें केवल एक सागरकी ही वृद्धि होती है। हां, ग्रेवेयकों में प्रत्येक ग्रेवेयक साथ एक एक सागरकी वृद्धि हो जानेका नौऊ ओर सम्बन्ध करने के लिये नव शब्दका ग्रहण है। अर्थान्न नव शब्द नहीं कह कर केवल ग्रेवेयके पु इतना ही कह देते तो विजय आदिके समान नौऊ ग्रेवेयकों में एक ही सागर अधिक बढता। नवसु कह देनेपर तो नौ स्थानों गर प्रत्येक में एक एक सागरका अधिकपना प्रतीन हो जाता है। सर्वायं तिद्धिका पृथक ग्रहण करना तो जधन्य और उत्कृष्ट स्थितिके विकल्पोंकी निवृत्तिके लिये हैं।

#### का पुनरियं भवनवास्यादीनां स्थितिरुक्तेस्य।ह ।

भवनवासी अवि देवोंकी फिर यह उत्कृष्ट या जवन्य स्थिति क्या कही जा चुकी हैं? बताओं तो सही। इस प्रकार आशंका होने र ग्रंथकार उत्तरवात्तिकको कहते हैं।

#### स्थितिरित्यादिस्त्रेण योक्ता भवनवासिनां । विशेषेण स्थितिर्या च तदनंतरकीर्तिता ॥ १ ॥ स्रत्रेश्चतुर्भिरम्यासाद्यथागममशेषतः। परावैमानिकानां च सोत्तरत्रावरोक्तितः॥ २ ॥

"स्थितिरमुरनाग" इत्यादि सूत्र करके उमास्वामी महाराजने भवनवासी देवोंकी विशेष रूपसे जो स्थिति कह दी है और उसके अव्यवहित परचात् आगमपरिपाटीका अतिक्रम नहीं कर स्वकीय धारणानुरूप अध्याससे इन चार सूत्रोंकरके जो सम्पूर्ण वैमानिक देवोंकी स्थितिका कीर्तन किया है, वह स्थिति उत्कृष्ट समझं छेनी बाहिये। क्रमोंकि उत्तरवर्ती पिछले प्रत्यमें भवनवासी या वैमानिक देवोंकी अधन्यस्थितिका निरूपण किया जानेवाला है। भावार्य-आयुष्यका निरूपण करते हुए सूत्रकारने इन पांच सूत्रोंके परा या अधन्य कोई शब्द नहीं डाला है। ऐसी दशामें उक्त स्थिति उत्कृष्ट समझी जाय? या अधन्य ? इसका कोई निर्णायक नहीं है। विना स्थामीके मालको जिसके हाथ पड़े वही हडफ ले जाता है। इस विषयका निर्णय ग्रंयकार यों कर देते हैं। जब कि जधन्यस्थितिका वर्णन भविष्यमें किया जायान तो अर्थापत्या सिद्ध है कि यह देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति है। पुण्य अनु गर प्राप्त हुए हृदयसे काम लेना चाहिये। हृदयके सहकारी हो रहे मस्तिष्कके अश्वय जला फिर किस रोगको औषधि है ?

अवरायाः स्थितेरत्तरत्र वधनाविह भवनवासिनामेकेन सूत्रेण वैमानिकानां च चतुर्पिः सूत्रेचिशेषेण या स्थितिः प्रोक्ता सा परोत्कृष्टेति गम्यते ।

जयन्य स्थितिका उत्तरवर्ती ग्रंथमें जब निरूपण किया जायगा, इससे सिद्ध है कि यहां एक सूत्र करके भवनकासियोंको और चार सूत्रों करके वैमानिक देशोंकी को विशेष करके स्थिति ठीक कही गयी है, वह परा यानी उत्कृष्टा समझनी चाहिये। यह अनुमानसे जान लिया जाता है।

#### का पुनरवरेत्याहः

फिर जघन्य स्थिति क्या है ? इस प्रकार विनीत शिष्योंकी जिज्ञासा होने हर सूत्रकार अग्रिम सूत्रको विशदरीत्या कहते हैं।

#### अपरा पल्योपममाधिकम् ॥ ३३ ॥

देवोंकी जघन्य स्थिति तो कुछ अधिक एक पत्योपम है। यह जघन्य स्थिति सौधर्म ऐशान स्वर्गवासी देवोंकी समझी जाती हैं।

परिकेशास्त्रीयर्वेशानयोर्वेशानामवराः स्थितिरि ई विज्ञावते, ततोग्येश्वानुसारणः ज्ञानमास्थिते-वैक्यवास्थ्रात् । परिशेष न्यायसे सौधर्म और ऐशान कल्पों में ठहरनेवाले देवों की यह जयन्य स्थिति विशेषतया समझी जाती हैं। तिस कारणसे कि उत्तरवर्ती ग्रंथमें अन्य सानत्कुमार माहें। आदिक अपराजित पर्यन्त देवों की जघन्यस्थिति कही जानेवाली है। अतः यह शेष रहे प्रथा कल्पयुगलके देवों की ही जघन्यस्थिति परिशेष न्यायसे ज्ञात कर ली जाती है। अर्थाः '' प्रसक्त विषेधे शिष्यमाणसंप्रत्ययहेतुः परिशेषः '' अन्यत्र प्रसंग प्राप्तों में विश्वयान्तरका सद्भाव्या प्रकृत अर्थकी बाधा होनेपर शेष बच रहे उद्देश्य में ही अनुमानस्वरूप परिशेष प्रमाणसे प्रकृत अर्थकी बिधान अनुमित कर लिया जाता है।

#### पल्योपममतिरिक्तमवरास्थितिमववीत्। सौधर्मैशानयोः सेइ सूत्रेर्थात्संप्रतीयते॥ १॥

सूत्रकार उमास्वामी महाराज कुछ अधिक पत्योगम परिमाण जवन्य स्थितिको जे इस सूत्रद्वारा कह चुके हैं वह जघन्य स्थिति इस सूत्रमें सौधर्म और ऐशानिवासी देवों की है यह बात कहे विना हो अर्थापत्ति करके भले प्रकार प्रतीत हो जाती है। क्योंकि अगले सूत्रमें सान कुमारमाहेन्द्र देवोंसे लेकर विजयादि पर्यन्त देवोंकी जघन्य स्थिति कण्ठोक्त करदी जाने वाली है

#### तत एवानंतरसूत्रेण सानत्माकुमारादिवु जघन्या स्थितिरुच्यते ।

तिस हीं कारण यानी इस सूत्रद्वारा पहिले कह्ययुगलकी जघन्यस्थितिका निरूपण हो जानेसे ही अध्यवहित अगले सूत्र करके सानत्कुमार माहेन्द्र आदि स्वर्गोक देवोमें पायी जारही जघन्य स्थित अब कही जा रही है। उसको सुनो।

## परतः परतः पूर्वा पूर्वानंतरा ॥ ३४ ॥

" आद्यादिभ्य उपसंख्यानं " इस नियम करके परतः यहां सप्तमी अर्थमें तिस हुवा ह। पः परदेशमें अव्यवहित पूर्व पूर्वकी उन्कृष्ट स्थिति जवन्य हो जाती है अर्थान् — अव्यवहित पिहले कत्य युगलों में प्राप्ततारों को उन्कृष्ट स्थिति है वह परले परले कत्य युगलों या प्रस्तारोमें जवन्य हो जाती है। नीचेवालोंकी जवन्यस्थिति एक समय अधिक होती हुई उत्तरले प्रस्तार या कल्पोमें जवन्य जान लेनी चाहिये।

अपरेत्यनुवर्तते, तेन परतः परतो या च प्रथमा स्थितिः सा पूर्वापूर्वानंतरा परस्मित्रवरा स्थितिरिति संप्रत्यपः । अधिकप्रहणानुवृत्तेः सातिरेकसंप्रत्ययः । आविजयाविष्योधिकारः। अनंतरेति वचनं व्यवहितनिवृत्यर्थं । पूर्वेस्थेतावस्युच्यमाने व्यवहितप्रहणप्रसंगस्तत्रापि पूर्वशद्वप्रवृत्तेः ।

पूर्वसूत्रसे यहां अपरा इस पदकी अनुबृति हो जाती है। तिस कारण इस प्रकार समिचीन प्रतिति हो जाती है कि परली ओर परली ओरसे या परले परले प्रस्तारों या कल्पयुगलों में जो प्रथमा स्थिति

वह अव्यवहित पूर्वं पूर्वंकी स्थित उपर उपर परले परले प्रस्तारों या कल्पयुगलों में जधन्या स्थिति हो जाती है, इस सूत्र में पूर्वं सूत्र से अधिक शद्ध के प्रहणकी अनुवृत्ती चली आ रही है। इस कारण साधिक का सभीचीनज्ञान हो जाता है। यह अधिक का अधिकार विजय आदि अनुत्तरोंतक जान लेना चाहिये। अर्थात्—सौधर्म और ऐशानमें जो साधिक दो सागर स्थिति कही जा चुकी है वह स्थिति कृष्ठ अधिक यानी एक समय अधिक होकर सानत्कु पार माहेन्द्र कल्पोमें जधन्यस्थिति हो जाती है। बाग्हमे स्वर्गतक एक तो साधिक पना गाँउ का ही है, दूसरा एक समय अधिक पना यह संपूर्ण वैमानिकों की जधन्य स्थितियों में लागू करिलया जाता है। इस सूत्र में अव्यवहित इस अर्थका बाचक "अनन्तरा" इस पदना कथन करना तो व्यवहित पूर्वों निवृत्ती के लिये है। यदि "पूर्वापूर्वी" यों इतना ही कथन कर दिया जायगा तब तो व्यवधान युक्त हो रहीं पूर्वस्थितियों के ग्रहण होजानेका भी प्रसंग होगा। वयों कि व्यवधान युक्त उन पहिले पदार्थों भी पूर्व शब्दकी प्रवृत्ति होरहीं देखी जाती है। जैसे कि ग्रथुरासे पटना पूर्वदेशवर्त्ती है। यहां संकडों को सका व्यवधान पडरहे पदार्थकों भी पूर्व कह दिया गया है। अतः व्यवहित पूर्व सीधर्म, ऐशानों में जो उन्हण्ड स्थिति है वह लान्तवकापिष्टों की जधन्य स्थित हो जायगी। इस प्रकार के अनिग्ट अर्थों की प्रतीतियां नहीं होने पातीं है। तब तो अनन्तरा शब्दका सूत्र में उपादान करना सफल है।

नारिक योंकी उत्कृष्ट स्थिति कही जा चुकी है। जबन्य स्थितिको अभीतक सूत्रमें नहीं कहा गया है। अतः लघु उपाय करके प्रकरणप्राप्त नहीं भी होरहीं नारिकयोंकी स्थितिको सम-झानकी इच्छा रख रहे सूत्रकार अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

## नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

दूसरी वंशा तीसरी मेघा आदि सातवीतक छह पृथिवियोमें नारकी जीवोंकी अव्यव-हित पूर्वपूर्वकीं स्थिति परले परले प्रस्तारों और नरकों में जघन्य हो जाती है। अर्थात्-पहिली पृथिवीकी उत्कृष्ट होग्ही एक सागरोपम आयु दूसरे नरकमें जबन्य समझी जाती है। इसी प्रकार नीचे नीचेकी ओर लगा लेना। एक समय अधिक जोड लिया तो अच्छा है। अन्यथा भव परिवर्तनमें कठिन समस्या उपस्थित होजायगी।

#### किमयं नारकाणां जघन्या स्थितिरिह निवेदितेत्याह ।

वहाँ किसीका कटाक्ष है कि प्रकरणके विका ही नारिकयोंकी जघन्यस्थितिका यहाँ किसलिये निवेदन किया गया है अर्थात् कितिपय प्रकरणकी बातें छूटों जा रही हैं और अप्रकृतोंको स्थान दिया जा रहा है। यह कौनसा न्याय है ? बती या आश्रित जनोंको आहार दान नहीं देकर ठळुआ भरिष्ट्रो मनुष्योंको सादर भीजन कराना उचित नहीं है। इस प्रकार सूत्र-कारके ऊपर आक्षेप प्रवर्तने पर श्रीविद्यानंद स्वामी समाधानकारक वार्तिकको कहते हैं।

# सानत्क्रमारमाहेंद्रशभृतीनामनंतरा। यथा तथा द्वितीयादिपृथित्रीषु निवेदिता ॥ १॥ नारकाणां च संक्षेपादत्रैव तदनंतरा॥

जिस प्रकार उपरले सूत्रमें निवले देवोंकी अध्यवहित पहिली पहिली उक्तष्ट स्थिति सानत्कुमारमाहेन्द्र आदि उपरिम देवोंकी जधन्य स्थिति कह दी गयी है, उसी प्रकार द्वितीया खादि पृथिवियों में उपरिम नारिकयोंकी अध्यवहित पूर्ववित्ती उक्तष्ट स्थितिका परली और निवले नारकीयोंकी जधन्यस्थिति हो जाना, यहां ही संक्षेत्रसे निवेदन कर दिया गया है। सर्वत्र जधन्य स्थितिको पूर्व पटलकी अपेक्षा एक समय अधिक समझना चाहिये।

देवस्थिति वकरणेति नार अस्थिति ववतं संक्षे रार्थं ॥

देवोंकी स्थितिके निरूपणका प्रकरण होने पर भी यहाँ नारिकयोंकी जघन्यस्थितिका सूत्र कथन करना संसेपके लिये हैं। भावार्थ — जिससे कि दो बार अपरा इन तीन अक्षरों को नहीं कहना पडा। "सूत्रं हि तन्नाम यतो न लघीय: " सूत्र तो बही है जिससे कि छेटा या पतला दूसरा वाक्य नहीं बन सकें। तीसरे अध्यायमें नारिकयोंकी उक्ट स्थितिको कहते समय यदि जघन्यस्थितिको कहा जाता तो वहा "अपरा" शहका प्रयोग करना पडता "परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा" का भी बोझ बढ जःता तथा पहिली पृथिवीमे जघन्य स्थितिका निरूपण करते समय भी अपरा शहकहना पडता। अतः रंगिवरंगे धारीदार कथडेमें जैसे एकरंगके कई सूत्र उसी स्थानपर पिरे दिये जाते हैं अथवा व्याकरणमें गत्व विश्वायक या दीर्घाश्यक कई सूत्र उसे एक स्थलपर पहिलये जाते हैं, उसी प्रकार यहां भी आयुष्यविद्यायक कई सूत्र रचे गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यत्व और अर्थ उतना ही प्राप्त हो जाता है।

शर्करात्रमा आदिमें जवन्यस्थिति यदि कही जा चुकी है तद तो लगे हात्र पहिली नरकभूमिमें वर्तरहे जघन्यस्थितिका भी निरूपण कर दिया जाय, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

## दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

पहिली नरकभू निमें नारकीयोंकी दश हजार वर्ष जन्नय श्यिति है, जी कि तेरहाहल बाली घम्मा पृथिवीके पटलक्षीमंत हमें प्रवर्त रही है।

पृथिव्यां नारकानामवरात्यितिरिति घटनीयं ।

" सोपस्काराणि वाक्यानि भवन्ति " इस नीतिके अनुसार कुछ इघर उधरके चार पदोंको मिलाकर इस प्रकार सूत्रका अर्थ चटित कर लेना चाहिये कि पहिली पृथिवीमे नाय-कियोंकी जवन्य स्थिति दश हजार वर्ष है ।

अब भवनवासियों की जवन्य स्थिति क्या है ? ऐसी बुभुत्सा हीनेपर उमास्वामि मह-राज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

#### भवनेषु च ॥ ३७॥

भवनवासी देवों की जमन्य स्थिति भी दश हजार वर्ष है। पूर्वोक्त विश्वेष दलका च शब्द करके समुख्यय कर लिया जाता है।

दशवर्षसहस्राणि देवानामवरा स्थितिरिशि संप्रत्ययः।

भवनों में निवास कर रहे देवों की जवन्य स्थिति दश हजार वर्ष है, यों कतिपत्र पदोंका उपस्कारकर भली प्रतीति कर ली जाती है।

तव तो व्यन्तर देवोंकी अवन्य स्थिति क्या है ? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्निम सुत्रको कहते हैं।

#### व्यंतराणां च ॥ ३८ ॥

क्यंतर देवोंकी भी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी समझ लेनी चाहिये।

अपरा स्थितिर्दशवर्षसहस्राणीति च शब्देन।

इस सूत्रमें पडे हुये च शब्द करके अपरा स्थिति, दशवर्षसहस्राणि, इस प्रकार तीनं पदोंका समुच्चय यानी अनुकर्षण कर लिया जाता है। खबः व्यंतरोंकी जघन्य स्थिति दशसहस्र वर्ष है, यह वाक्यार्थ बन जाता है।

#### दशवर्षसहस्राणि प्रथमायामुदीरिता । भवनेषु च सा शोक्ता व्यंतराणां च ताबती ॥ १ ॥

उनत तीन सूत्रों करके उमास्वामी महाराजने पहिली पृथिवीमें जघ्न्य आयु दस हजार वर्ष कह दी है और भवनवासियोमें भी वह जघन्य स्थिति उतनी ही बहुत अच्छी निरूप दी है तथा व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति भी उतनी ही याती दशहजार वर्ष कही जा चूकी है। यह उनत तीनों सूत्रोंकी एकत्रित एक वार्तिक है।

ाक्षा व्यवसाराणां वराका स्थितिकियाह ।

ं अब महाराज यह बताओं कि व्यन्तरों को उत्कृष्ट स्थित क्या है ? इस प्रकार तस्व किजासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज उत्तरवर्ती सूत्रको उतारते हैं।

## परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

किन्नर आदि व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पत्योपम काल है। स्थितिरिति संबंध:।

इस सूत्रमें कहे बये परा शब्दके साथ "िवति " इम शब्दका सम्बन्ध जोड लेना चाहिये। त्रिससे कि व्यन्तरों की उ:कृष्ट स्थिति एक परुपसे कुछ अधिक है। यो वर्ष घटित हो जाता है।

इम अवसरपर अध्युष्पके प्रकरण अनुसार ज्योतिष्क देवों की स्थिति कह दी जःय तो सुनम होगी। यो आकांक्षा प्रवर्तनेपर मूल सूत्र कार अग्रिम सूत्रका निरूपण करते हैं।

#### ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

चन्द्रमा, सूर्य, अधि ज्योतिष्कोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पत्य है। पत्योपमप्रधिकं परा स्थितियटना ।

यहां भी च झन्द करके प्रकरण प्राप्त पत्थोपम, अधिक, परा, स्थिति, इन शन्दोंका समुच्चय कर यों अर्थ घटित कर लेना च।हिथे कि ज्योतिष देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पत्थोपम है।

वव ज्योतिषियोंकी अधन्य स्थितिका परिज्ञान करानेके लिये सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

#### तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

ज्योतित देवोंकी जवन्य स्थिति उस पत्योपमके बाठमें भाग है जो कि असंख्यात वर्षोंकी समझनी चाहिये।

स्यितिज्योतिष्काणानिति संत्रत्ययस्तैवामनंतरस्वात् ।

स्थिति और ज्योतिष्काणाम्, इन पशें हा अनुकर्षण कर समीचीन प्रत्यय कर स्थिया जाता है। न्योंकि वाक्यार्थके सम्पादक वे पद मध्यवहित पूर्व सूत्रों में उपात्त ही रहें हैं।

परेषामिक होयं पल्योपममवस्थितिः । ज्योतिष्काणां च तद्वतदष्टभागोऽ।रोदिता ॥ १ ॥ श्री उपास्वामी महाराजने उक्त तीन सूत्रों में दूसरे व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पत्य समझने योग्य बना दी हैं और उन्हीं के समान ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक पत्य कह दी हैं। तथा तीसरे ''तवष्टमागोपरा " सूत्र करके उन ज्योतिषियोंकी जनन्य स्थिति उस पन्यके आठवें माग कह दी है। जैसे कि " दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् भवनेषु च व्यन्तरानां च " इन तीन सूत्रोंको निलाकर एक वात्तिक इन्नोक बना दिया गया है उसी प्रकार ''पराश्योगमनिक्कं, ज्योतिष्काणां च, तदष्टमागोऽपरा " इन तीन सूत्रोंको निलाकर यह एक वात्तिक दलोक वना दिया है।

यया व्यन्तराणां पत्थोपममधिकं परा स्थितिः तहत् ज्योतिक्काणामि तवृत्रेयं तब्दः भागः पुनरवरा स्थितिक्योपीतिकाणां प्रतीता ।

जिस प्रकार व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पत्य उन्तालीसवें सूत्रमें कह दी है, उसी प्रकार ज्योतिष्कोंकी भी वह साधिक पत्य उत्कृष्ट स्थिति चालीसवें सूत्रमें कह दी गयी समझ लेनी चाहिये। पुनः इकतालीसवें सूत्रमें उस पत्यके बाठमे भाग ज्योतिष देवोंकी ज्यम्य स्थितिकी प्रतीति कराई है।

अष मध्यमा स्थितिः कुतोषगम्यत इत्याह ।

अब किसीका आक्षो है कि मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारिकयों की उक्काट स्थिति और जयन्य स्थितिका हमने परिकान कर लिया है। किन्तु सूत्रकारने मध्यम स्थितियोंका निरूपण नहीं किया है। वतः बताओं कि मध्यम स्थितिकों किस ढंगसे समझ लिया जाय ? ऐसा आक्षंप प्रवर्तनेपर आचार्य विद्यानंद स्वामी वार्तिक द्वारा यों समाधान कहते हैं।

#### सामर्थ्यान्मध्यमा बोध्या सर्वेषां स्थितिरायुषः । प्राणिनां सा च संभाव्या कर्मवैचित्र्यसिद्धितः ॥ २ ॥

"तन्मध्यपिततस्तक्ष्रहणेन गृह्यते" इस नियम अनुसार वारों गित सम्बन्धी संपूर्ण प्राणियों के आगुध्यकी मध्यमस्थिति तो विना कहे ही अगीपत्या सामध्येसे समझ की जाती है। अर्थात् जिस पदार्थका आदि और अन्त होता है, उसका मध्य अवध्य होता ह। अनन्त भूतकाल और उससे भी अनन्त गुणा अनन्त भविष्यकालका मध्यवर्ती वर्त्तमानकाल एक समय है। फिर भी आपेक्षिक वर्तमानपना बहुत समयोंको प्राप्त है। यथार्थमें एक आदिके पदार्थ और एक अन्तके पदार्थको छोडकर सभी स्थानोंको मध्यमपना मुलभ है। अतः अधिक सम्मतियों (बोटों) अनुसार प्रश्नण किये गये मध्यम स्थानोंको सध्यमपना मुलभ है। अतः अधिक सम्मतियों (बोटों) अनुसार प्रश्नण किये गये मध्यम स्थानोंको वाचक शब्दोंके विना ही आवश्यक रूपसे उपादान हो जाता है। और वह अनेक प्रकारकी स्थितियोंका सद्माव तो पौद्गिक्क कर्मोंके विविच्नतकी सिद्धि हो जानेसे सम्मावना करने योग्य है। अर्थात्—अपने अपने परिणामों करके उपाजिल किये असे विविच्न कर्मी अनुसार जीवोंकी नाना प्रकाष आगुःस्थितियां वन बैठती हैं।

ननु यद्वद्घटादीनां विचित्रा स्थितिरिष्यते । कर्मानपेक्षिणां तद्वदेहिनामिति ये बिदुः ॥ ३ ॥ तेनऽनभिज्ञा घटादीनामपि तद्भोक्तृकर्मभिः । स्थितेर्निष्पादनादुदृष्टे कारणव्यभिचारतः ॥ ४ ॥

पौद्गलिक सुक्ष्म कर्मोंको नहीं माननेनाले चार्वाक यहां स्वकीय पक्षका अवधारण करते हुये आसंत्रण करते है कि जिस प्रकार कर्मोंके सम्बन्धकी नहीं अपेक्षा रख रहे घट, पट, शकट आदि जड पदार्थोंकी विचित्र स्थितियां हो रहीं इष्ट कर छीं आती हैं। उसी प्रकार इारीरधारी प्राणियोंकी भी कर्मोंकी नहीं अपेक्षा रखती हुई जधन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, आयुः स्वरूप स्थितियां बन जाओ । इस प्रकार जो नास्तिक समझ बैठे है, आचार्य कहते हैं कि वे चार्वाक विचारे कार्यकारणभावकी पद्धतिको स्वल्प भी नहीं समझते हैं। क्योंकि घडा़ कपडा़ छकडा आदिकी भी विचित्र स्थितियोंका उनके भोगनेवाले जीवोंके कर्मोंकरके उत्पादन किया जाता है। लोकमें आबालवृद्ध प्रसिद्ध देखे जा रहे परिदृष्ट कारणोंका व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात्-एक घडा दो दिन भी चलता है। जब कि उसी कुम्हार उसी मट्टी आदि कारणोंसे निष्पन्न हुआ दूसरा घडा पांच वर्षमें भी नहीं फुटता है। चाक, अवा, खान, कुलाल, जल, अग्नि, में दृष्ट कारण जब वे ही हैं. तब फिर दो घडोंकी " टिकाऊ स्थितिमें इतना बडा अन्तर क्यों दीखता है ? इससे सिद्ध है कि घडोंका कय, विकय, करनेवाले या उसके शीतल जलको पीनेवाले अथवा फूटनेपर दबिमचकर दुःख भूगतनेवाले जीवोंके पुण्य, पार, अनुसार ही जड पदार्थींका भी न्यून, अधिक काल तक ठहरे रहनेका अन्वय व्यतिरेक है। इसी प्रकार कपडे चौकी, घडियां, मशीनों, गृहों आदिका स्वल्पकालतक या अधिक कालतक टिको रहनेमें अन्तरंग प्रधानकारण उन पदार्थोंके साक्षात् या परम्परथा उपभोग करवेबाले जीबोंका बद्द्द ही समझा जाता है।

#### सूक्ष्मो भूतविशेषश्चेद्व्यभिचारेण वर्जितः । तद्धेतुर्विविधं कर्मतंत्रः सिद्धं तथारूयया ॥ ५ ॥

यदि चार्याक यों कहे कि पृथिवी, जल, तेज, वायु इन स्यूल भूतोंका व्यभिचार मले घटादिकी न्यून अधिक, स्किति होनेमें आवे किन्तु व्यभिचार दोषसे विजित होरहा सूक्ष्म भूत विशेष उन घटादिकोंकी विचित्र स्थितिओंका हेतु मान लिया जाय। यों कहनेपर तो ग्रन्यकार कहते हैं कि तब तो बहुत अच्छा है। वही सूक्ष्म कार्मण वर्गणाओंका बना हुआ ज्ञानावरण, असाता, साता, शुभगोत्र आदि नाना प्रकार कमं ही तो हम जैनोंके यहां उन चेतनात्मक या अचेतनात्मक पदार्थोंका प्रेरक हेतु हो रहा सिद्ध है। तिस प्रकार सूक्ष्मभूतविशेष इस नामक

करके तुपने उस हमारे अभीष्ट पौद्गितिक कर्मिपण्डको ही कह दिया है । केवल नाममें ही विचाद रहा अर्थमें कोई टण्टा नहीं है।

परापरस्थितियवनसामर्थ्यात् मध्यभानेकविद्या त्यितिवैनारकाणां तियङ्मनुष्याणाभित्र संभाभ्या । सा च कर्मदेविश्यविद्धि प्राप्य व्यवतिष्ठते ततः कर्मदेविश्यमनुषीयते । स्थितिवैविश्यतिहरस्ययानुषपतेः । कर्मदेविश्याभावेषि घटादीनां स्वितिवैचिश्यवक्रंनादिहद्यास्ययानुष्यतिरिति येःश्यमस्यतं तेऽनिभिन्ना एतः भ्रदादीनामिषि विविश्रायाः स्थितस्तवुषभोकतृप्राणिकवे
विविचित्रनिर्वर्तनात्, कुं मकाराविशृष्टतस्कारणानां व्यभिचारात् । अवृष्टकारणानयेकित्वे तदघटनात् । समानकुं मकाराविकारणानां समानकालक्रम्मनां सवृश्यकेत्राणां समानकारणानां च भ्रदादीनां
समानकालस्थितिप्रसंगात् ।

उनत चार वार्तिकोंका माध्य यों है कि सूत्रकारद्वारा उत्कृष्ट, जयन्य स्थितियों के प्रतिपादक सूत्रों के कथन कर देने की सायव्यंसे तियें ब, और मनुष्यों के समान देव नारिकयों की भी अनेक प्रकार मध्यम न्थितियों ती सम्मावना कर लेनी चाहिये। तथा वे उत्कृष्ट, मध्यम, जयन्य, स्थितियां तो कभी ही विवित्रता अनुसार सिद्धिको प्राप्त होकर व्यवस्थित हो रही हैं। तिन विचित्र स्थितियोंने कर्मों ही बिचित्रनाका अनमान कर लिया जाता है। अर्थान-योग और कषायकी मिश्रपरिणति हो रही लेश्याओं तथा अन्य कर्यों के अनुमार जीवों की अनेक प्रक.र बायुष्य स्थितियां बन जाती हैं। कार्यहेतु धूमसे जैसे कारणभूत अग्नि साध्यका अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार विचित्र स्थितियोंके कारणभूग पौद्गक्तिक कर्मोंकी विचित्रताका कार्यमृत आबुष्य विशेषों करके अनुमान कर लिया गया है। अविनामावी एक दृश्यसे दूसरे बद्ध्य पदार्थका अनुमान हो जाना प्रनिद्ध है। स्थिनियोंकी विचित्रताकी सिद्धि हो जाना अन्यथा यानी कर्मों ही विचित्रताकी सिद्धिके विता नहीं बन पाता है। जो भी कोई बादी याँ दोष देते हुए अभिमान कर बैठे हैं कि कर्मों को विचित्रताके नहीं होनेपर भी घट आदि जड पदार्थों ही स्थिति भी हा बिचित्रपना देखा जाता है तो जीवों हे भी अंद्ष्ट कमी ही कल्पना नयीं की जाती है ? अतः आपकी अन्यथानुषरत्ति असिद्ध हो गई। व्यभिचार दोष उपस्थित हुआ । स्थितिकी विचित्रता होने र भी घटादि पदार्थी ने कपोती विचित्रता नहीं पायी जाती है। आचार्य कहते हैं कि वे कूचीय करनेवाले वादी अशिक्षित हीं हैं। क्योंकि घट पट आदिकोंकी भी विवित्र स्थितियां उनके उपभोक्ता प्राणियों के विचित्र कर्मोकरके बनायी जातीं हैं। कूं नकार जना, मट्टी आदि देखे जा रहे उनके कारणींका व्यक्तिचार हो रहा है । यदि कोरे इष्ट कारणोंके ही अधीत माने जा रहे बटा दिकोंकी अद्षट कारणोंकी अपेक्षा नहीं रक्षनेवालापन भागा जावगा तो विधिष ढंगींसे ठहरना रूप उन नानास्थितिओंकी घटना नहीं हो सकती है। जिन घटोंके कुन्मकार आदि कारण समान हैं और जिन घटोंका समझ छासमें जन्म भी ही रहा है, तथा जिन कतिपथ घटोंका क्षेत्र भी सदेश है, एवं अर्थ वानि बादि बन्य कारण भी जिनके समान हैं, उन घट बादिकोंकी समान कार्शक ही स्विति रहनेका प्रसंग आवेगा। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। एक साथ बने हुये सी घडोंकी किसीकी तो अवामें ही स्थिति पूरी हो जाती है। कोई चार दिनमें फूट जाता है, कोई दस वर्ष तक टिकाऊ है, यों अनेक प्रकार स्थितियां हो रही है।

मृद्गरादिविनाशकारणसंपातवैश्वित्र्याद्दृष्टादेव घटास्थितिवैश्वित्र्यमिति चेत्, तदेव कुतः ? समानकारणादित्वेपि तेषामिति चिथ्य । स्वकारणविशेषाद्दृष्टादेवेति चेन्न, मृद्गरादि-विनग्शकारणसंपातहेतोः पुरुषप्रयत्नादेः परिदृष्टस्य व्याभिकारात् । समानेपि तस्मिन् वयचित्त-स्संपातादर्शनात् । समानेपि च तत्संपाते तद्विनाशाप्रतीतेः कारणांतरस्य सिद्धेः ।

यहां कोई आक्षेप करता है कि विनाशके कारण होरहे मोगरा, मुसल, मुद्गर, आदि-कोंके ठीक ठीक पतन की देखी जा रही दिवित्रतासे ही घटकी स्थितिओं में विचित्रता आ जाती है। अधिक बलसे मोगरा गिर जानेपर एक पल ही ठहरकर घट फुर जाता है, निवंत आधा-तोंसे चार छह दिनमें फूटता है। शनै: शनै: भूमिमें सरकाने अथवा छोटी छोटी फटकारोंको वर्षोतक घट क्षेत्र जाता है। अग्निद्वारा पाककी न्यून अधिकतासे भी स्थितिका तारतस्य है। अत: परिदृष्ट कारणोंसे ही विचित्र स्थितिओंको मानलो अदृष्ट कारणोंका बोझ व्यर्ष क्यों लादा जा रहा है। यों कहनेपर तो ग्रंथकार पूंछते हैं कि भाइयो, उन घटादिकोंके कारण आदिकोंके समान होनेपर भी वह मौगरा आदि विनाशक पदार्थोंका सम्पात ही विचित्र प्रकारका किस कारणसे हुना? बताओ। अथवा कारण आदि समान होते हुये भी वे मोंगरा या उनके सम्पात आदि विचित्र कैसे हुये ? इसका उत्तर बहुत कालतक चिन्तवन करो। समीचीन ज्ञान प्राप्त होनेपर तुम्हाश लक्ष्य उस अदृष्ट कारणपर संलग्न हो जायगा। यदि झटपट तुम यों बोल २ठो कि मोगरा आदिका अनेक प्रकार गिरना भी उनके दृष्ट हो रहे बारण विशेषोंसे ही बन देठता है। अर्थात् कुलालका घट बनाते समय भी तरले लट्ट और ऊपरली मोंगरीमें कभी अधिक बरुसे हाथ लग जाता है और कभी हलका हाथ पडता है अथवा खेलनेवाले बालकोंका किसी घडेपर दलका या भारी प्रहार हो जाता है। इसी प्रकार अग्निताप या वायुके झकोरे भी न्यून, अधिक, मात्रामें लग जाते है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्यों कि विनाशके कारण मृद्गर आदिकों के संघातके हेतु हो पहे परिदृष्ट किये गये पुरुषप्रयत्न आदिका व्यभिचार हो रहा है। देखिये, पुरुषोंका समान प्रयत्न होनेपर भी कहीं उन मुद्गरादिकोंका पतन क्षीना नहीं देखा जाता है। तथा उन मृद्गरादिका समान रूपसे सम्पात होनेपर भी उन घटादिकोंका विनाश नहीं प्रतीत हो ग्हा है। वव चित् एक डेलके मारे मनुष्य मर जाता है। कभी बन्दूककी गोलीसे भी नहीं मनता है। यो दृष्ट कार-णोंका अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिषार दोष हो रहा है। ऐसी दशामें अन्य अद्ध कारणोंकी सिद्धि हो जानेसे ही प्रवीण पृष्णोंको धेर्ष प्राप्त हो सकता है अन्यया नहीं।

सूक्यो मूतविशेषः सर्वया व्यक्तिकार्याजती विविधः कारणांतरिमिति चेत्, तदेव कर्मास्माकं सिद्धं तस्य सूक्यमूतविशेषसंज्ञामात्रं तु निद्यते परिवृष्टस्य सूक्यमूतविशेषस्य व्यक्ति चारविजतस्वासंत्रवात्। वार्ताक ( साइण्टिफिक ) कहते हैं कि पृथियी बादि भूतों का एक विशेष परिणाम सूक्ष्म है, जो कि बहिरंग इंडियों के दृष्टिगोचर नहीं है। स्मूळ परिणामकी मले ही बाधा या अन्वय व्यतिरेक -श्यिभचार होय, किन्तु व्यभिचारसे बिजत हो रहा नाना प्रकारका सूक्ष्मभूत ही उनका न्यारा कारण है। यो कहनेपर तो आचार्य इच्टापिल करते हैं कि वही सूक्ष्मभूत तो हम आईतों के यहां कर्म पदार्थ सिद्ध है, उसका सूक्ष्मभूत विशेष यह केवळ नामान्तर करना तो निराला है। अर्थमें कोई भेद नहीं है। हां कर्मोंके अतिरिक्त चारों ओर देखे जा रहे सूक्ष्म भून विशेषको व्यभिचारसे रहितपना असम्भव है। यो ग्रन्थकर्ताने कर्मोंकी विचित्रता अनुसास वन रहीं जीवोंकी न्यारी न्यारी पर्यायोंकी अनेक प्रकार उत्कृष्ट, मध्यम, जचन्य, स्थितियोंको सिद्ध कर दिया है।

वय किमेते संसारिको जीवाः कर्मवैश्वित्रधात् स्थितिवैश्वित्रधमनुमवंतो नानात्मानः प्रस्थे-कायस्तेकात्मानः इति ? यदि नानात्मानस्तदाऽगुसंद्यानाद्यभावः स्यादेकसंतानेपि नानासंतानवत् । अयंकात्मानस्तवानुभवस्मरकावि सक्रमानुग्पत्तिः पौर्वापर्यायोगाविति वदंतं प्रत्याह ।

अब यहां अनेकान्तसिद्धांतको पुष्ट करनेके लिये प्रकरणका प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम ही किसीका आक्षेत्र है कि ये संसारी जीव कर्मों की विचित्रतासे हो रहे स्थितियों के विचित्र पनको अनुभव रहे क्या न्यारे, न्यारे अनेक धर्मस्वरूप है ? अयवा प्रत्येक धर्मके अधीन हो रहे एक एक धर्मस्वरूप है, बताओ ? प्रथमपक्ष अनुसार यदि जीव पदार्थ नाना धर्मस्वरूप है, यानी धान्यराशिके समान स्वतंत्र हो रहे अनेक विज्ञानपरमाणु या परस्पर किसीकी अपेक्षा नहीं रखते हुये अनेक धर्म ही अंव पदार्थ हैं, तब तो अनुसंधान, प्रत्यभिज्ञान, देन, लेन, दान दान-फल, हिंसा हिसाफल, आदि व्यवहारोंका अभाव हो जावेगा । एक संतान होनेपर भी नाना सन्तानोंके समान विमर्पंण आदिक नहीं हो सकेंगे। भावार्थ-अनेक विज्ञान परमाणु स्वतंत्र पडे हुए हैं। द्रश्यरूपसे अन्वित होकर ओतपीत बने रहना ऐसी सन्तानको हम बौद वस्तुभूत नहीं मानते हैं। अतः असे देव इलकी धारणा अनुपार जिनदत्त स्मरण नहीं कर सकता है, चन्द्रदत्त उसका अनुसंधान नहीं कर पाता है, इसी प्रकार एक घडी पूर्व देखे जा चुके पदार्थका स्वयं देवदसः स्मरण या प्रत्यिभिज्ञान नहीं कर सकेगा। बाल्य अवस्था या युवा अवस्थाके अनुभवोंका वृद्ध अवस्थामें स्मरण नहीं हो सकेगा। ऋण देना लेना, ब्रह्मवर्ष, पिता, पुत्रपन बादि व्यवहार बलीक हो जावेंगे। अब यदि द्वितीय पक्षके अनुसार आप जैन जीव आदि पदा-थौंको एक धर्मस्वरूप ही स्वीकार करेंगे, तब तो अनुभव स्मरण आदिका संक्रमण होना नहीं बन सकेगा। क्योंकि पूर्व अपरवनेका अयोग है। अर्थात्-एक धर्मस्वरूप पदार्थ दूसरे क्षणमें नष्ट होगया तो पहिला पिछलापन, नहीं घटित होनेसे क्षणिक एक धर्मस्वरूप जीवके अनुभव अनुसार स्मृति होना या प्रत्यभिज्ञान होना अथवा अनेक विचारोंका परिवर्तन होते हुए संक्रमण होना इरयादिक परिणतियां नहीं बन सकती हैं। इस प्रकार एकान्त पक्षका परिग्रह कर बोल रहे वादीके प्रति ग्रंबकार वब समाधानको स्पष्ट कहते हैं।

#### ततः संसारिणो जीवाः स्वतत्त्वादिभिरीतिताः ! नानैकात्मतया संतो नान्यथार्थाकयात्रतेः ॥ ६ ॥

जिस कारणसे कि जीवके सम्यन्धर्णन, सम्यन्जान, स्वतस्व, योनि, जन्म, कारीरधारण, नरकावास, मध्यलोक आवास, देव अवस्था, आदि स्वामाविक और औराधिक धर्मीका चौथ अध्यायतक निरूपण किया है, तिस कारण दे औरशिक श्रादि पांच स्वतस्व, विग्रहगति आदि परिणामोंकरके निरूपे जा चुके जीव नाना धर्मीके एक तदात्मकपने करके सदूप हो रहे हैं। अन्य प्रकारोंसे जीव पदार्थ सद्भून नहीं है। वयोंकि केवल एकरूप या स्वतंत्र अनेकरूप अथवा स्विणक स्वरूप, नित्य स्वरूप बादि दगोंसे जीवका सत्व माननेपर अर्थकिया होनेकी छित हो जाती है। नाना धर्म आत्मक पदार्थको स्वीकार किये दिना छोटीसे छोटी अर्थ किया भी नहीं हो पाती है। पूर्व स्वभावोंका त्याग, उत्तर स्वमावोंका ग्रहण और स्यूजपरिणतिकी स्थिरत स्वरूप परिणाम हुये विना जगन्का अत्यत्य कार्य भी नहीं हो सकता है।

यस्माद्द्वितीयाध्याये स्वतः वलक्षणाविभिः स्वभावैः संसारिणो जीवाः प्रत्येकं निश्चिता-स्तृतीयचतुर्योध्याययोशचाधाराविविशेषैर्नानाविश्वेरध्यवस्तितास्ततो नानेशात्मतया व्यवस्थिताः । न पुनर्नानात्मान एवं शात्मान एव वा सर्वार्थिक्याविरहासेषामसस्वप्रसंगात् । संश्व सर्वसंसारी चीव इति निश्चितप्रायं, अभावविलक्षणः स्त्रं हि सस्त्वं तक्ष्य नास्तीस्येकस्वमावाव नावाद्वेलक्षण्यं ।

जिस कारण कि उमास्तामी महाराजने दूसरे अध्यायमे जीतके निज तत्त्व, जीतके लक्षण, आदिक स्वभावोंकरके सम्पूर्ण संसारी जीव एक एक होकर निश्चित कर दिये हैं और तीसरे, चोचे, अध्यायों में आदार स्थान, आयुः, लेक्ष्या, प्रवीचार, आदि नाना प्रकार निश्चितान् वोंकरके जीवोंका निर्णय करा दिया है, तिस कारण ये जीत नाना एकात्मक स्वभावकरके व्यवस्थित हो रहे हैं। किन्तु फिर न्यारे न्यारे स्वतंत्र नाना धर्मस्वरूप ही अथता एक धर्म स्वरूप ही जीव नहीं हैं। क्योंकि नानापनका एकान्त या एकपनका एकान्त माननेपर सम्पूर्ण वर्षिकपाओंका अभाव ही जानेसे करिवषाणवत् उन जीवोंके असत् हो जानेका प्रसंग होगा। वर्षिकपाओंका अभाव ही सद्मून वस्तुका निर्वोष लक्षण है। अन्य लक्षणों अनेक दोप आते हैं। संसारी जीव सद्मून पदार्थ हो रहे है। इस सिद्धांतका हम पूर्व प्रकर्णों अनेक बार निर्णय करा चुके हैं। तुच्छ अभाव पदार्थ भले ही अमन् रहो किन्तु अभावोंमे विलक्षणपना ही सत्पना है और वह सत्त्व ही "नहीं हैं" इस प्रकार सर्वथा एक स्वभाववाले अभावसे विलक्षणपना है। वतः ऐसे अभाव विलक्षणत्व हेतुसे एक एक जीवका अनेक धर्मात्मकपना सिद्ध हो जाता है। व्यात् अमाव यदि तुच्छ असन् है तो ऐसे अभावका विलक्षणपना वस्तुमें सश्च नहीं सकता है गो आदि भावोंसे अक्ष आदि भाव वहार्ष प्रकर्ण विलक्षणः " परस्परमें प्रतियोगिता रखते हुए दो आदि भाव पदार्थ विलक्षणः स्वयं प्रस्थ है तो ऐसे अभावका हिए दो आदि भाव पदार्थ विलक्षणः स्वयं प्रस्थ है तो ऐसे अभावका हिए दो आदि भाव पदार्थ विलक्षणः स्वयं प्रस्थ हो जाता है।

हो सकते हैं, सरविषाणसे कोई विलक्षण नही है। अतः परक्तुष्टयकी अपेक्षा नास्तिस्वरूप एक स्वमावसे तदतिरिक्त अवन्तानन्त स्वभावोंका पिण्डमूत शाव यहां उस अभावसे विरुद्धण समझा जाय।

#### नानास्वधावस्वं जीवस्य कुत इत्याह ।

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है कि एक खीवके नाना स्वभावींसे सहितपना भट्य कंसे सिद्ध हो जाता है ? ऐसी अभिलापा प्रवर्तनेपर श्री विद्यानंद आयार्व समाधानकारक वचनको कहते हैं।

## जन्मास्तित्वं परिणतिं (निवृत्तिंच) क्रमाद्वृद्धिमपक्षयं । विनाशं च प्रपद्यंते विकारं पड्विधं हिते ॥ ७ ॥

जगत्में निवास कर रहें संपूर्ण जीव नियमसे छह प्रकारके विकारोंको प्राप्त हो रहें । जतः वे अने क स्वमाववाले हैं। एक एक जीव नाना स्वमाव आतमक है। कारण कि वे जीव जन्मको प्राप्त करते हैं १। अस्तिस्वकी प्राप्त कर रहे हैं २। परिणामको धार रहे हैं ३। वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं ४। कमसे एकदेश निवृत्तिस्वरूप अपक्षवको प्राप्त होग्हे हें ५। तथा विनाशको प्राप्त हो जाते हैं ६। इस प्रकार प्रतिक्षण हो रहे अनन्ते छह प्रकार विकारोंद्वारा एक एक पाव नाना स्वमाववान् प्रसिद्ध हैं। अर्थात्—जैसे कोई बासक प्रथम उपजता है फिर कुछ दिनतक आत्मकाम करता हुआ अपना अस्तिस्व स्थिर रखता है, अनेक अवस्थाओंको प्राप्त करता है, हड्डी, रक्त, बारीर, बुद्धिवल आदिको बढाता जाता है, पुनः कपकमसे हीन होता जाता है, अन्तमें वृद्ध अवस्था बीत जानेपर विनाशको प्राप्त हो जाता है। यह कममे होनेवाले छह विकारोंका दृष्टांत है। किन्तु सूक्ष्म परिणतियां या अनेक गुणोंके नाना अविभाग प्रतिक्छेदोंकी अपेक्षा य्गपन् भी अनेक छह विकार हो रहे है। उत्पाद ब्यय, धौक्य, स्वरूप पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहे द्रव्यमण वस्तुमें ये छऊ विकार अपेक्षाओं द्वारा सुघटित हो जाते हैं।

सर्वो हि भाषो जन्म प्रपद्यते निमित्तद्वयवशादात्मलाभमापद्यमानस्य जायत इत्यस्य विषयत्वात् । यथा सुवर्णकटकादित्वेन । अस्तित्वं न प्रतिपद्धते स्वनिमित्तवशादवस्थापविश्वतो वंस्यास्तीति प्रत्ययाभिष्ठानगोषपत्वात् निर्वृत्ति च प्रपद्यते सत एवावस्थातरावाप्तिदर्शनात् परि- जमते इत्यस्य विषयत्वात् । वृद्धि च प्रतिपद्धते अनिवृत्तपूर्वस्वभावस्य भाषांतरेणाधिक्यं लगमानस्य वद्धते इत्यस्य विषयत्वात् । अपक्षय च प्रयद्धते क्षमेण पूर्वभावकदेशविनिवृत्ति प्राप्नृवतो चस्तुनोपक्षीमत इत्यस्य विषयत्वात् । विवाशं च प्रतिगद्धते, तत्पर्यायसामान्यनिवृत्ति समासाव- महीचंस्य नश्यतीत्वस्य गोचरत्वात् ।

चराचर जगत्के सम्पूर्ण सर्भृत पदार्थ जन्मकी बान्त करते है, क्योंकि अन्त ंग, बहिएंग, दोनों निमित्त कारणोंके बशसे आत्मलाभको प्राप्त हो रहा पदार्थ " उगज रहा है " इस ज्ञानका विषय हो जाता है, जैसे कि सोना, कहे, हंगली, आदि स्वरूप करके उपजवा है। बीर सभी पदार्थ अपने अस्तित्वको प्राप्त कर रहे समझे जाते हैं। क्योंकि अपने अपन आत्म-कामके कारण हो रहे निमित्तोंके वशसे अवस्थाकी धार रहा अर्थ "है", इस जान और सम्बक्त निषय हो रहा है। तथा चाहे के ई पदार्थ विपरिणतिको धारण कर रहा है। स्रोंकि सत् पदार्वको ही न्यारी त्यारी अवस्वाओं ही प्राप्ति देखी वा रही होतेसे "परिणमन करता है" इस ज्ञानका विषयपना प्राप्त है। एवं सभी पदार्थ वृद्धिको ही प्राप्त ही रहे है । वर्षोक्ति पूर्व में प्राप्त ही चके स्वमानों हो नहीं छोड़ हर जन्य भानों करके प्रतिकानका लाम कर रहे परायं हो "बह रहा है " भी इस ज्ञानका विषयपना नियत है। संधा सभी पदार्थ पांचरें अपअय विकारको भी प्राप्त होते हैं। क्योंकि पूर्वमें उदावित किरे जा चुके भागों की करकाने एक देश विनिवृतिको प्राप्त हो रही वय्तुको "कुछ कुछ क्षीण हो रही है" इन जाने शब्दका विषयपना निर्णीत है। त्रेय पदार्थका ज्ञानके साथ विषयविषयिमात सम्बन्ध है और वाच्यार्थका शब्दके साथ बाध्यबाचक सम्बन्ध (नाता ) है। तथा सभी भाव विनाशको प्राप्त हो रहे जाने षाते हैं। वर्गोकि उस पर्यायकी सामान्यकासे पूर्णतया निवृत्तिको प्राप्त कर रहे अर्थको ''नष्ट हो रहा है " इस ज्ञानका विषयपना निश्चित है। यहां ग्रंथकारने वस्तुके स्थूल सूक्ष्म पूर्णाय स्वरूप छह विकारोंको साधनेवाली अपेशाओंको दिखला दिया है। साय में जापते, अस्ति, विपरिधमते, बढंते, अपश्लीयते, विनश्यति, इन वाचक पर्योक्ती वीजनाके लिये अथवा जायते बादिका ज्ञान करने हे सिये शिष्योपयोगिनी विस्ता दे बी है। उक्त ढंगसे न्यून या बिंधक व्यवहार करनेवाका पुरुष पथञ्चडट हो जायगा । यों विवक्षित विधिके अनुमार सम्पूर्ण भावों हे यानी इय्यप्य यात्मक वस्तुके कम बकम रूपसे हो रहे छह विकारोंको समझ लेबा चाहियं।

तथा जीवा अवि भादाः संतः वह्विधं विकारं प्रपश्चते अभावविलक्षणस्वाहिःयेके,
तेवां यद्मवरतुविलक्षणस्वं सत्त्वं ध्रमंस्तदा न सम्यगिवं साधनं प्रतिक्षणपरिणामेनंकेन व्यभिचारात्
अभावविलक्षणस्वं वस्तुत्वं तदा य्वतं ततो जीवस्य वड्विकारप्राप्तिसाधनं वस्तुत्वस्य सर्विवान्
गावितद्येः । अवासत्त्वधर्मविलक्षणस्वं सत्त्वंधर्मस्तदा न सम्यगिवं साधनं प्रतिक्षणपरिणामेकेन
व्यक्तुन्तविषयेण व्यवहारनयगोष्यरेण प्रव्येण च व्यभिचारात् संस्य वड्विकाराणावेषि सण्यक्षणीव्यक्षेत्राभावविषयः प्रतिक्षणस्वितद्वेरम्यया सिद्धांतिवरीधात् ।

तिसी प्रकार जीव भी भाव हो रहे सन् स्वरूप पदार्थ है। अतः छह में में विकार रोंको प्राप्त हो रहे हैं। अर्वात-सत् स्वरूपभाव होनेसे ज वॉके छह विकारोंकी प्राप्त बन रही है। कोई एक उच्च कोटी से विद्वान् यहाँ यों कह रहे हैं कि तुष्छत्वरूप अन्नावसि विक-सण होनेके कारण जीव भाव छह विकारों को खारते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उन एक अनु-पन विद्वान् सक्लंक महाराबके यहाँ यदि बनाव यानी अवस्तुसे विलक्षणपना ही सक्य नामक

अमं है , तब हो यह हेतु सबीचीन नहीं है। प्रत्येक क्षणमें होनेवाला एक परिणाम करके व्यक्ति-चार हो जाता है, अर्थात्-एक क्षणकी एक ही पर्याय सरविवाण आदि अवस्तुओंसे विस्तकण है। किन्तु वह बकेली एकक्षणवर्ती पर्याय तो छह प्रकार विकारींकी प्राप्त नहीं होती है। बम्तुकं छह विकार हो सकते हैं। एक विकारस्वरूप पर्याय के पुन: छह विकार नहीं हो सकते हैं। जनवस्था हो जायगी । हां यदि वे अकलंक महाराज मनावसे विलक्षणपनको बस्तुस्य स्थीकार क ग्लें तब तो एस अकलकहेत्ये जीव पायको छह विकारोंकी प्राप्तिका साध देना समृजित है। क्योंकि वस्तु वका उस छह प्रकार विकारोंकी प्राप्तिके साथ अविनामाय सिद्ध हो रहा है। मद यदि जनलंक महाराज असत्त्व धर्मसे विलक्षणपन ( अभावविलक्षणत्व ) को अत्यधर्म बलाने तब भी वह अगावविलक्षणत्व हेत् समीधीन नहीं है। क्योंकि सूक्ष्म ऋबुसूत्रनयका विषय हो रहे प्रतिकाणवर्ती एक पर्याय करके और व्यवहारनयके विषय हो रहे अन्वित करके व्यभिचार दोष होता है। देखिये उस एक पूर्वाय या केवल अन्वित द्रव्यके छह प्रकार विकार नहीं हुए हैं। फिर भी सत्त्वधर्मका बाश्रम होनेसे उनमें बनाब विकक्षणपना सिंख है। अन्य प्रजारोंकी शरण लेमेंपर सिद्धांतसे विरोध ही जायगा। आधार्य-अकलंक महा-राज और विद्यानन्द स्वामी जीव बादि सद्भृत भावों में छहीं विकारीकी स्वीकार करते हैं। अकलंक महाराजने भावोंको छह विकारस्वरूप अनेक आत्मकपना साम्रते हए " अभाव विख-क्षणत्वात् " इस वास्तिकको कहा है और वार्तिकका यह विवरण किया है। " अभूती नास्ती-ध्येकरूपो भावः न हि अभावः अभावात्मना भिग्नते तद्विसद्शस्तु नानारूपो भावः इतरया हि तंबोर विशेष एव स्यात्"। फिर भी अभाव बिलक्षण खका स्पष्ट अर्थ नहीं होनेके कारण ग्रंबकारको यह कहापोह करना पड़ा है। अभाव पदसे अवस्त्र या अपत्वका ग्रहण करना अनिष्ट है। अब कि तुच्छ अभावोंकी कोई परिभाषा ही नहीं है तो फिर किस मर्यादाभत पंचम्यन्तसे वस्तुका विकक्षणपना किया जाय ? अवस्तु, अद्रव्य, अभाव, असत्त्व, इन पदींका सिद्धांनमबीका कोई अर्थ नही निकलता है। अतः इनका विलक्षणपना या इनका रहितपना किसीका ज्ञापक हेतु नहीं बन सकता है। " वस्त्वेवावस्तुनां याति प्रक्रियाया विपर्ययात्। संज्ञिनः प्रतिषेघो न प्रतिषेध्याद्ते वयविन्। असद्भेदो न भावरत् स्थानं विधितिषेधयोः, असर्वन्तिमवस्तु विशेष्यविशेषण " आदिक देवागममें गुरुवर्य श्री समन्तभद्वाचार्यके निर्णीत सिद्धांत अनुसार असंड पूरे " अभावविलक्षणत्वात् " का अर्थ वस्तृत्व किया जायगा, तभी अभावविलक्षण व हेत् संदेतु वन सकेगा। बन्यया बनावविष्टक्षणत्वका सण्ड कर देनेपर बस्तुके एकदेश हो रहीं मकेली पर्याय और शुद्धद्रव्यकरके व्यक्तिचार दोव तदवस्य रहेगा। मध्यसहस्रीमें इस विषयके निर्णीत हो है जैनसिद्धांतको स्पष्ट कर खिया गया है। अद्वेत, अनेकान्त, अमाया, अखरवि-वाण, अमाय, दन सबका विवेदान ही जाता है। बीडोंके यहां मानी गई गोशब्दका अर्थ अगो व्यावृत्ति वैसे गीसे विका कोई वस्तु गृत पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार बजावविकक्षणत्य की कोई वस्तुले स्वारा परमार्थभूत नहीं है। ऐसी दशामें यह निर्वत हेतु मला क्या छह जिकारी की साथ सकेगा ? इसकी अपेका अकर्जक महाराज सरलतया यदि बस्तुत्वहेत् कह देते . हो

नानारूप भावकी सिद्धि सुगम हो जाती। अमाविक प्रणासका अयं करने में शिष्यों को सम्हाकनेके लिये ग्रंथकारको प्रयास नहीं करना पहला। बात यह है कि अकलंक महाराज अकलंक
ही हैं और विद्यानन्द बाबार्य भी स्वनामक्षन्य विद्यानन्द ही हैं। महान् गजराओं के विश्वयमें छोटे
निर्वल जीवोंको समालोबना करनेका कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। उसी प्रकार हम सारिक्ष
जल्पमित पुरुषोंको उद्भट आखायों के विषयमें पर्यालोचना करनेका कोई अधिकार नहीं है। न
जाने किन किन अतक्यं अपेकाओं अनुसार दोनों आखार्यश्रयोंने अनेकान्तकी सिद्धि की है।
प्रतिक्षणके लेकर "न सम्यगिदं साधनं " यहाँतक पाठ लिखित पुस्तकमें नहीं है, तब तो
वक्षे अवस्तुविल अपत्यस्व का अमाविक अगत्वका केवल पर्याय और केवल द्रव्यकरके
क्यिक्षणर दोल दे दिया जाय। ग्रंथकार विद्यानंदस्वामी सद्भूत जीव अथवा वस्तुभूत जीवके
छह विकारोंका धारना साधते हैं। अमाविन लक्षण हो रहे जावके छह विकारोंकी प्राप्ति होनेको
वन्तरंगसे नहीं चाहते हैं। यो अकलंक महाराजके कहनेसे सिद्धांतिकद्ध उसका व्याक्ष्मन
करते हुये ग्रन्थकारने ज्ञानवयोवृद्ध पुरुखाओंकी बातको टाला भी नहीं है। वस्तु-वस्वक्रा
अधाविक छाणपना जीवोंके वहविध विकार प्राप्तिको साध ही देवा स्वीकार कर लिया है।

ननु च बस्तुत्वमप्यमावविलक्षणस्यं न बीवानां चड्विधविकारप्राप्ति साधयित तस्या-स्तित्वमात्रेण व्याप्तस्वादिति मन्यमानं प्रत्याह ।

यहां कोई नित्यैकान्तवादी संका करता है कि बस्तुस्वस्वरूप भी " अभावित्र सक्षणपना हेतु जीवोंके जनमादि छह प्रकार विकारोंकी प्राप्तिको नहीं साथ पाता है। क्योंकि उस वस्तुस्वको केवल अस्तिस्वके साथ व्याप्ति बन रही है। जन्म, परिणित, वृद्धि, अपक्षय और विनाशके साथ वस्तु व हेतु व्याप्त नहीं है। इस प्रकार मान रहे वादीके अति संबक्तर कहते हैं।

#### विश्रतेस्तित्वमेवैते शश्वदेकात्म इत्वतः । नान्यं विकारमित्ये हे तन्न जन्मादिदृष्टितः ॥ ८॥

ये जीव आदि भाव (पक्ष ) अस्तिपनको ही धारण करते हैं (साध्य )। क्योंकि सर्वेदा स्थिर रहना ऐसे एक नित्यधर्म स्वरूप हो रहे हैं (हेतु ) अन्य किसी विकारको नहीं धारते हैं। इस प्रकार कोई एक विद्वान् मान बैठ हैं। आचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना स्थार्थ नहीं है। क्योंकि सभी पदार्थों में हो रहे जन्म आदि छहों विकार देखे जाते हैं।

एतेग्विस्तित्वादिषु मध्ये प्रस्तित्वमेशाःमानौ विश्वति मान्यं पंश्वविद्यं जम्माविविश्वारं तेषां नित्यैकक्षशःवात् स्वक्षयेण शश्वविस्तित्वोपपत्तिरित्येके । सम्र सम्यक्, सेषां अभ्यादिवर्धमात् । मनुष्यावीनां हि देहिनां बाल्याविशावेन जन्मावयः प्रतीयंते मुक्ताःसमायपि मुक्तत्थादिमा ते संमान्यंत इति प्रतीतिविद्यं जीवानां जन्माविविश्वारिककृत्ववश्वमम् ।

इन अस्तित्व आदि विकारों के मध्यमें केवल अस्तित्व की ही जीव पदार्थ धारते हैं अस्य पांच प्रकार जन्म, परिणति, वृद्धि, आदि विकारों को नहीं प्राप्त होते हैं। नवोंकि वे आत्मा पदार्थ एकान्तरूपसे कृटस्यवत् नित्य हैं अतः जीवात्माओंका स्वकीयरूपकरके सर्वदा अस्तिपन ही एक धर्म बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि क्टस्थवादियों का वह कहना समीचीन नहीं है। क्योंकि बालक, बालिकाओंतकको उन जीवों के जनम वृद्धि, होने बादिका दर्शन होरहा है ! जब कि मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि प्राणियों के बालकपन, युवापन, वृद्धपन, आदि ववस्याओं ढ़ारा जन्म विपरिणाम, वृद्धि, आदि विकार होरहे प्रतीत होते हैं तो इसी प्रकार सुद्ध परमात्मा मुक्त आत्माओं के भी मुक्तपने, सिद्धपने, स्वारमनिष्ठा, अगुरुष्ठभुत्व आदि धर्मी करके वे जन्म आदिक सम्मव रहे हैं। अर्थात्-चौदहमे गुणस्थानके अन्त में मुक्त जीव उराजते. हैं। वे सदा शुद्ध चिदानन्द, अवस्थाद्वारा आध्मलाम (अस्तित्व) करते रहते हैं। सिद्धों के सम्पूर्ण गुणों मु परिणाम होते रहते हैं। अगुरु जब गुणके द्वारा हानि, वृद्धियां, भी कतिपय गुणों की पर्यायों म होरही हैं। संसारी रन, कर्मसम्बन्ध ऐन्द्रियकज्ञान, कवायें ब्रादिका नाश हो वुका है। अयदा उत्तर समयमें पूर्व परिणतियोंका विनाश हो रहा है। बात यह कि जो पदार्थ उत्साद, व्यय, ध्रीव्य, इनसे युक्त होरहा सत् है। उसमें जन्म आदि छक्त विकार सुलमतया सम्मद जाते हैं। इस कारण कुटस्यवादी पण्डितों का जीबों के जन्म, अस्तिपन, आदि विकारोंसे रहितपनका निरूपण करना लोकप्रसिद्ध और शास्त्रप्रसिद्ध प्रतीतियों से विषद्ध है।

#### जन्मादयः प्रधानस्य विकाराः परिणाभिनः । तत्संसर्गात्प्रतीयंते भ्रांतेः पुंसीति चैन्न वै ॥ ९॥

यहां कियल मतानुयायियोंका पूर्वपक्ष है कि परिणामों के घारी प्रधानके विकार जन्म बादिक हैं। उस प्रकृतिका संसर्ग हो जानेसे फान्त ज्ञानद्वारा पुरुष में जन्म आदि प्रतीत हो जाते हैं। भावार्य-सांख्यों के यहां प्रकृति के विकारों का होना अभीष्ट किया है। कूटस्य, नित्य, अपरिणामी, आत्माके कोई जन्म आदि विकार नहीं होते हैं। जपाकुसुमकी ललाई बेसे स्फटिकमें प्रतिमास जाती हैं उसी प्रकार फान्ति के वज्ञ संसारी जीवोंको वे जन्मादिक विकार आत्मामें होरहें दीस जाते हैं। "तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनादिवलिङगम्। गुण कर्न् त्वेऽपि तथा कर्लेव भवत्युदासीनः (सांख्यकारिका)। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो कथमपि नहीं कहना क्योंकि जब वे पुरुष में निश्चित्रक्ष्यसे हुये प्रतीत किये जाते हैं, आत्मामें होरहे जन्म आदि विकारों के दशंकों को भ्रान्त कहने का तुमको कोई अधिकार नहीं है। सम्यण्जानियों को मिथमा- क्यानी कहनेवाला स्वयं अनन्त भ्रममें पढ़। हुआ है।

तेषां भावविकारत्वादात्मन्यप्यविरोधतः । जन्मादिरहितस्यास्याश्तीतेर्धोत्यसिद्धितः ॥ १०॥ वे जन्म बादिक छऊ विवर्तभावों के विकार हैं। अतः भाषपदार्थ माने गये आत्मा में उनके होने का कोई विरोध नहीं है। जन्म आदिक से रहित होरहे इस आत्मा की आजतक भी प्रतीति नहीं होती है। अतः जन्म आदिको धारनेवाले बात्मा के जानने में भ्रान्ति होनेकी बासिद्धि है। देवदत्त जन्म सेता है, वह जिनदत्त आनन्द पूर्वक रहता है, भोजन करता है, मोटा होता है, देवदत्त सट जाता है, देवदत्त मर जाता है, इन सच्चे ज्ञानों में भला भ्रान्ति होने की कौनसी बात है? विपरीत रीतिओंको गढकर तुमने तो अन्धेर नगरी समझरखी हैं।

#### विकारी पुरुषः सत्त्वाद्वहुधानकवत्तव । सर्वथार्थिकियाद्दानेरन्यथा सत्त्वहानितः ॥ ११ ॥

पुरुष (पक्ष) विकरों का धारी हैं (साध्यदल) सत् होनेसे (हेतु) प्रधानके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-तुम सांख्यों को प्रकृति के सामन पुरुष भी सत् होने से विकार वाला मानना पड़ेगा। अन्यथा यानी आत्मा में विकार नहीं मानने पर तुम्हारे यहाँ सभी प्रकार अर्थिकिया होने की हानि हो जावेगी और अर्थिकिया की हानि हो जानेसे उसके व्याप्य होरहे सत्त्वकी भी हानि हो जावेगी। ऐसी दशामें अद्यविषाणके समान आत्मा असत् पदार्थ हो जाता है।

यया हि प्रधानं भावस्तथात्मापि सन्नम्युपगंतव्यः । सत्तवं वार्यंक्रियया व्याप्तं तदमावे सपुष्पवत्सस्वानुपपत्तेः । सा वार्यक्रिया क्रमयौगपद्याध्यां व्याप्ता, तद्विरहेर्यक्रियाविरहातद्वत् । ते व क्रमयौगपद्ये विकारित्वेन व्याप्ते, जन्मादिविकाराभावे क्रमाऽक्रमविरोधात्ततः सस्वमध्युपगच्छता पुरुषे जन्मादिविकारोध्यपाव्यापकानुपत्तव्ये स्वर्मादिविकारोध्यपाव्यापकानुपत्तव्ये स्वर्मादिविकारोध्यपाव्यापकानुपत्तव्ये स्वर्मादिविकारोध्यपाव्यापकानुपत्तव्ये स्वर्मादिविकारोधाः

जिस ही प्रकार प्रधान "सत्तरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः "भावपदार्थ है, उसी प्रकार आत्मा भी सत् पदार्थ स्वीकार करलेना चाहिये और सत्त्व तो अर्थिक्रिया करके व्यान्त होरहा है।क्योंकि उस अर्थिक्रयाके नहीं होने पर आकाशकुमुमके समान किसी का भी सत्पना नहीं सिद्ध होपाता है तथा वह अर्थिक्रया भी कम और यौगपद्य के साथ व्याप्ति को रख रही है यानी कोई भी अर्थिक्रया होगी वह कम से या युगपद ही होसकेगी। उन कम और यौगपद्य के विना अर्थिक्रया होने का अभाव है, जैसे कि उस आकाशपुष्प में कम यौगपद्योंके न होने से कुछ भी अर्थिक्रया नहीं होपाती है और वे कमयौगपद्य भी विकारसहितपन के साथ व्याप्त होरहे प्रतीत हैं। क्योंकि जन्म, अस्तित्व, आदि विकारों के नहीं होनेपर कम या अकन से कुछ भी होने का विरोध है। तिस कारण आत्मा में सत्त्वभं को चाहने वाले कापिलों करके जन्म आदि विकार होना अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिये। अन्यवा व्याप्य (के) व्यापकोंकी अनुपलव्य होजाने से आत्मा के अनत्त्व का प्रसंग हो बालेगा, इस अनुकृत तक्का हम कई बार पहिले प्रकरणों में निरूपण करचुके हैं। सत्त्वका व्यापक अर्थिक्रया होना है तथा अर्थिक्रिया को व्यापक कम और यीगपछ है तथा उन कमयौगपद्योंका व्यापक विकारसहितपत्र है। जन्म आदि

विकारों को नहीं मानने पर उसके व्याप्यव्यापक होरहे सत्त्वका अभाव होजाता है जहां यहे में जीवल ही नहीं है वहां मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, नहीं होते हुये गौडत्व भी नहीं ठहर पाता है। अतः प्रकृति के समान आत्मा के भी छह विकार होरहे मानने पढेंगे।

जायंते ते विनश्यंति संति च क्षणमात्रकं ।
पुमांसो न विवर्तते वृद्धचपक्षयगाश्च न ॥ १२ ॥
इति केचित्रध्यस्तास्तेष्येतेनेवाविगानतः ।
विवर्ताद्यात्मतापाये सत्त्यस्यानुपपत्तितः ॥ १३ ॥

आत्मा को सर्वथा नित्य माननेवाले काषिलों का विचार कर बब आत्माको सर्वथा अनित्य माननेवाले बौदों के साथ परामर्श किया जाता है। बौद कहते हैं कि वे पुरुष (जीव) उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होजाते हैं तथा एक क्षणमात्र निवास करते हुये अस्तिस्वरूप भी हैं। किन्तु बीव विपरिणाम नहीं करते हैं तथा वृद्धि और अपन्य को प्राप्त करनेवाले भी नहीं हैं। अर्थात्-छह विकारों में पहिला जन्म, दूसरा अस्तित्व, और छठा विकारों का नाश इन तीन विकारोंको हम जीव में स्वीकार करते हैं। तीसरे विपरिणाम, चौथी वृद्धि, पांचवां अपक्षय, इन तीन को मानने को आवश्यकता नहीं है आप जैनोंने भी तो सत् पदार्थ में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीन ही धर्मों को स्वीकार किया है। ऐसा यहांपर कोई क्षणिकवादी कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि वे भी इस निर्शेष उक्त कथन करके ही भले प्रकार प्रध्वंस को प्राप्त कर दिये गये हैं। क्योंकि विपरिणति स्वरूप विवर्त्त आदि तीन स्वरूप विकारोंका अभाव माननेपर जीवों के अक्षुण्ण सत्त्व की ही अनुपपत्ति है। प्रयात्-छहों विकारोंके होने से जीवों का सदभाव बन सकता है। अन्यथा वन्ध्यास्तनन्ध्य के समान जीव असत् होजायेंगे।

यथैव हि जन्मिबनाशास्तित्वापाये क्षणमिति न परमार्थसस्वं तथा विवर्तनपरिवर्धन-परिक्षयणात्मकत्वापायेषि तथा प्रतीयते, अग्यथा कूटस्थात्मनीव से पुष्पवद्वा चेतनस्य सस्वानुपपसेः।

सीगत कहते हैं, चूकि जिस ही प्रकार जन्म, विमाश, और अस्तिस्व का निराकरण माननेपर सणिकपन इसप्रकार परमार्थ रूपसे सत्पना नहीं बनपाता है, उस प्रकार विपरिणाम परिवृद्धि, अपस्य सास्मकपना नहीं मानने पर भी तिस प्रकार क्षणिकपना वस्तुभूत प्रतीत होजाता है। अन्यथा कृटस्य अस्मा में जैसे सत्त्य नहीं है अथवा जैसे आकाश में पुष्पका सत्त्य नहीं है, उसी प्रकार चेतन के सद्भाव की असिद्धि बन बैठेगी अथवा इस पंक्ति का अर्थ यों कर जिया जाय। आचार्य कहते हैं कि जिस ही प्रकार जन्म विनाश और अस्तित्व को नहीं माननेपर बौद्धों के यहां अणिक पदार्थ में बस्तुभूत सत्पना नहीं आसकता है, उसी प्रकार परिणति वृद्धि, और अपस्य स्वरूप पदार्थ को नहीं माननेपर भी तिस प्रकार वास्तविक सत्पना नहीं प्रतीत

नहीं माना जाय तो कूटस्थ आत्मा में जैसे परमार्थ सत्त्व नहीं है या आकाश में पुष्प की जैसे बस्तुभूत सत्ता नहीं है, वैसे ही चेतन जीव के वास्तविक सत्पना नहीं बन सकता है।

स्वभावांतरेणोपपितरेव परिणामो वृद्धिःचाधिक्येनोत्पित्तरपक्षयस्तु विनाश एवेति न षड्विकारो जीव इति चेन्न, अन्वितस्वमावापित्त्यागेन सजातीयेतरस्वमाबांतरमात्रप्राप्तेः परिणामत्वादाधिवयेनोत्पत्तेत्व वृद्धिःचाहेशतो विनाशस्यापक्षयत्वात्परिणामावंशां विनाशोत्पावा-स्तित्वेभ्यः कर्यचिव्भेदवचनात् ।

बौद्ध कहते हैं कि किसी भी पदार्थ का अन्य न्यारे स्वभावों करके बन जाना ही तो परिणाम है और विद्यमान स्वभावों से अधिकपने करके उत्पत्ति होजाना वृद्धि है। अपक्षय तो विनाश ही है। यों परिणाम तो अस्तित्व में और वृद्धि जन्म में तथा अरक्षय विनाश में गिनत हो जाते हैं। इस कारण तीन विकारों वाला ही जीव हुआ। छह विकारों वाला जीव सिद्ध नहीं होसका। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तुम्हाश किया गया यह परिणाम, वृद्धि, अपक्ष-योंका लक्षण बहुत बिद्धा नहीं है। सिद्धान्तमुद्धा से इनका लक्षण यह है कि माला में सूत के समान जोत पोत होरहे अन्वित स्वभावों का परित्याण नहीं करके सजातीय और उनसे भिन्न विजातीय ऐसे न्यारे न्यारे स्वभावों की केवल प्राप्ति होजाना परिणाम है और द्रव्यके स्वरूप होरहे स्वभावों का त्याण नहीं कर स्वभावों की अधिकपने करके उत्पत्ति होजाना वृद्धि नामका विकार है तथा ध्रुव स्वभावोंका परित्याण नहीं कर एकदेशसे कितपा अंशों का विनाश होजाना अपक्षय है। अतः परिणाम आदि तीन विकारों का विनाश, उत्पाद, अस्तित्व, इन तीन विकारों से कवंचित् भिन्नपने से निरूपण किया गया है। अतः जीवके छहीं विकार मानना समृचित है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों की साध्य अवस्था और साधन अवस्थाओं पर लक्ष्य देनसे जीववस्तु या अन्यवस्तुओं के छह विकार सुलभत्या सध जाते हैं।

बीवस्यान्वितस्वभावासिद्धेयंथोक्तपरिनामाचनुपपित्ति चेन्न, तस्य पुरस्तावन्वितः व-भावस्य प्रमाणतः साधनात् । ततो न जीवस्यैकानेकात्मकत्वे साध्ये सत्त्वावित्यय हेतुरसिद्धोऽर्न-कातिको विदद्धो वा,जन्माचनेकविकारात्मकत्वापायेऽन्वितंकत्वभावानः वे व स्वया सत्त्वानुपपत्तेः ।

बौद कहते हैं कि सर्वधा क्षणिक होने के कारण जीव के सदा अन्वित होरहे स्वभावों की सिद्धि नहीं हो पाती हैं। इस कारण पूर्व में कहे अनुसार परिणाम आदिका युक्तिपूर्वक वनना नहीं होता है। अर्थात्-बाप जैनोंने अन्वित स्वभावों का परित्याग नहीं करना तो परिणाम आदिकों का घटकावयव बना दिया है। केवल एकक्षण ठहर कर द्वितीयक्षण में समूल चूल नब्द होजाने बाले क्षणिक पदार्थ में अन्वित स्वभाव नहीं पाये जाते हैं। प्रति दिन दो आनं कमाकर दोनोंही आनों का व्यय कर देनेवाले घसखोदा के यहां संवित द्वय्य नहीं मिलता है। प्रम्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि पूर्वप्रकरणों में उस बीव पदार्थ के अन्वित होरहे स्वभावों की प्रमाणसे सिद्धि कर दी गयी है। अनादि, अनिधन, अन्वेता, भाव, जीवद्रव्य है। इसको अकाटच युक्तियों से साब दिया गया है। तिस कारण बीवके एक अनेक आत्मकपना

साध्य करनेपर दिया गया। सत्त्वात् यह हेतु असिद्ध नहीं है। अथवा अनैकान्तिक या विरुद्ध है। शाम भी नहीं है। जन्म, अस्तित्व आदि अनेक विकार स्वरूपपना नहीं माननेपर और अस्वित होरहे एकरव भावका अभाव माननेपर सभी प्रकारोंसे सत्पना नहीं बन सकता है। सर्वथा नित्य पदार्थमें जन्मादिक नहीं होनेसे सत्त्व नहीं है। सर्वथा क्षणिकमें अन्धित एकत्वके नहीं होनेपर सत्त्व नहीं बन पाता है। अतः "नानेकात्मत्या सन्तो नाम्ययार्थकियाक्षतेः" और "विकारी पुष्पः सत्त्वाद्वहुवानकवत्तव" इन वात्तिकों में कहा गया सत्त्व हेतु निर्दोष है।

#### एतेनानेकबाग्विज्ञानविषयत्वमात्मनी निवेदितं।

जीवके होरहे छह विकारोंको साधनेवाले इस कथन करके बात्माके अनेक वचन और विज्ञानोंका विषयपना भी निवेदन किया जा चुका समझ लेना चाहिये। अर्थात्-वाच्य अर्थकी अनेक परिणितयों अनुसार एक अर्थके अनेक वाचक शब्द प्रयुक्त कर दिये जाते हैं जैसे कि एक घडेमें "मिट्टोका है" नवीन है, बडा है, सुन्दर है, पुष्ट है, लाल है। इस्पादिक शब्दप्रयोग अनेक परिणितयोंके अनुसार हो जाते हैं। इनसे भी अधिक परिणितयोंके अनुसार उस घट विषयमें अनेक ज्ञान उपज जाते हैं। अतः अनेक शब्द और नाना विज्ञानोंका गोचर हो जानेसे घटके सनान जीवात्मा एकानेक आत्मक है। यह हेतु भी व्यक्तिचारादि दोषोंसे रहित है।

तयाने कशक्तिप्रचितत्वं, चस्वंतरसंबंशिविष्त्ताने कसंबंशिकपत्वं, अग्यापेक्षाने करूपोरकवापकवंपतिरणगुणसंबंधित्वं, अतीतानागतवर्तमान कालसंबंधित्वं, उत्पाद्य्यध्येष्यपुक्तत्वं,
अन्वयव्यतिरेकात्मकत्वं च समर्थितं । तत्य जन्मादिविकारषद्कप्रगंचात्मकत्वात्सस्वव्यापकत्वो ।
पपत्तः । सस्वान्ययानुपपत्त्या प्रसिद्धं च तत्सवं मेकात्मकत्वपने कात्मकत्वं च जीवस्य साध्यति
तदन्यतरायाये अने क वाण्विकानविषयः वाद्यनुपपत्तेः । तदनुपदत्तौ सस्वानुपपत्तेक्ष कीवतस्वाव्यवस्थितिप्रसंगात् ।

तथा सत्त्वहेतुकी पुष्टि करनेवाले उक्त कथनसे अनेक शक्ति प्रचितत्त्र, वस्त्वंतरसम्बन्धाविर्मूतानेकसम्बन्धिक्रयत्व, अन्यापेक्षानेकरूपोःकर्षापकर्षपरिणतगृणसम्बन्धित्व, अतीतानागतवर्तमानकालसम्बन्धित्व, उत्पादञ्ययधीव्ययुक्तत्व, अन्वयव्यतिरेकात्मकत्व इन हेतुर्वोका
भी समर्थन कर दिया गया है। भावार्थ:—पृतमें अनेक शक्तियां हैं। घीका खा लेना शरीरकी
चिक्ना करता है, तृष्ति करता है, शरीरकी बढ़ाता है, चरक संहितामें लिखा है।
"स्मृतिबुद्धधानक्षुक्षीतः कफमेरी विवर्द्धनं। वातिपत्तिविधीनमाद शोषालक्ष्मीज्वरापहम्।। १।।
सर्वस्नेहोत्तमं शीतं मधुरं रस्पाकयोः । सहस्रवीर्यं विधिभिर्वृतं कर्मसहस्रकृत् । २।।
अथवा अग्नि जैसे दाह, पाक, शोष, स्कोट, आदि अनेक कार्योको करनेकी स्वात्मभूत शक्तियोसे खिलत हो रही है। उसी प्रकार आत्मा चैतन्य, वीर्य, आनन्द, सम्यग्दर्शन आदि गुण
स्वरूप स्वित्यों करके अथवा सामायिक, ध्यान, अध्यापन, दान, उपभोग, सत्य, ब्रह्मचर्यं, ग्रोग,
पर्वाप्त आदि वर्षयि स्वरूग सवित्योंकरके विण्डभूत हो रहा है। अतः एक अनेकात्मक है।

तथा जिस प्रकार एक घट दूरवर्ती, निकटवर्त्ती, नवीन, पुराना, देवदत्तसे बनाया गया, यज्ञदत्त का स्वामिपना, आदि न्यारे न्यारे वस्तुओं के सम्बन्धसे अनेक सम्बन्धी स्वरूप प्रकट है, उसी प्रकार आर्यक्षेत्र, म्लेच्छस्थान, पंचमकाल, ब्रव्यसहितपना, स्त्रीपुत्रसहितपना, पंचेन्द्रियता, भेष्ठकुल, यशः, सुगुर, कुगुरु, कुभोजन आदि अनेक वस्तुओंके सम्बन्धसे यह आत्मा अनेक सम्बन्धी स्वरूप हो रहा है। इस हेत्से आत्मका सत्त्वपना सधता हुया एकानेकात्मकपनको साध देता है। एवं जैसे एक घडा अन्य व्यंजक पदार्थोंकी अपेक्षासे व्यंग्य हो रहा अनेक स्वरूप उत्वर्ष, अपकर्ष परिणतिको धार रहे रूपादि गुणोंका सम्बन्धी हो जानेसे एकानेकात्मक है, उसी प्रकार आत्मा संस्थात, असंस्थात, अनन्ते, उत्कर्ष अपकर्ष आत्मक परिणतिवाले गुणोंका सम्बन्धी होनेसे एकानेकात्मक है तथा यह अनादि अनिधन आत्मा अतीत अनागत, वर्तमान कालोंका सम्बन्धी होनेसे एकानेकात्मक है। अर्थात् - भूतकालकी स्वकीय पर्यायोंसे सम्बन्धी हो चुका है। वर्तमान वालीन पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहा है और भविष्यकालीन निज पर्यायोंके साथ संसर्ग करेगा। बनारसमें गंगा जलको देखनेवाला यों कह देता है, यह जल कानपुरमें बह चुका है, यहां बह रहा है, पटनामें बहेगा। इस प्रकार एक आस्मामें अनेक कालवर्ती परिणतियोंका संसर्ग होते रहनेसे एकानेकात्मकाना है। गम्भीर दृष्टिसे विचार किया जाय तो तीनों कालकी परिणतियोंका किसी भी कालके परिणामपर स्थूल या सूक्ष्म संस्कार बना रहता है। " होनहार विरवानके होत चीकने पात" "पूतके लक्षण पालनेमें ही दीख जाते हैं "ये किवदन्तियां व्यर्थ नहीं है। "तादृशी जायते बुद्धिर्यादृशी भवितव्यता" यह शिक्षा रहस्यसे रीती नहीं है। बाल्य अवस्थाका पुष्ट, गरिष्ठ भोजन वृद्ध अवस्थातक प्रभाव डालता है। व्यायाम करनेवालेका शरीर अन्ततक दृढ बना रहता है, छोटे हृदयका पुरुष धनवान् होजानेपर भी तुच्छताको नहीं छोडता है। जब कि महामना, उदाल पुरुष कैसे भी अवस्थामें अपने बडप्पनको विना प्रयत्नको बनाये रक्षता है। भविष्यमें आंधी या मेचवृष्टि आनेवाली है इमका पश्ज्ञान वर्तमानमें हो रही पृथिवी, वायु, जल, आदिकी सूक्ष्म परिणतियों अनुसार कीट, पतंग, पशु, पक्षियोंतकको हो जाता है। जहां मनुष्य या तिर्यंचोंका उपद्रव नहीं हुआ, नही होरहा है, नहीं होना, ऐसे स्थलकी परीक्षा कर शींगुर, बरें, मकडीं, मोहार, खटमल, भोंरी, आदि कीट निवासस्यानोंको बनाते हैं। उनमें यहां बहांसे कीट या अन्य पुर्वस लाकर रखते हैं। बच्चोंका शरीर बनाते हैं, इत्यादि अर्थिकियाओंसे सिद्ध हैं कि असंख्यात अनन्त वर्षीतक की पहिली पीछी, पर्यायोंका चाहे किसी भी एक पर्यायपर बोडा प्रभाव उद्धिकत रहता है। तभी तो अनन्तानुबन्धी कषायकी वासना अनन्तभवींतक चली जाती है। मौक्ष होनेके पहिले अर्ध पुर्गलपरिवर्तनकाल आदिमें हुये सम्यग्दर्शन परिणामकी गध्यके अनन्त अवोंमें कुछ अनिवंचनीय वासना छाई रहती है। शब्दकी उत्पादक स्थानसे संकडों हजारों कोसतक रुहरें उठ बैठती हैं। हंगना, मृतना, भोजन करना, शयन करना इन कियाओं में कितनी ही आगे पीछे तक वैसी वैसी परिणति होती रहती हैं। चेतन और अचेतन पदार्थोंकी वर्तमानकालीन परिण-तिको देखकर वैद्य या ज्योतिषीय विद्वान् भृत, भविष्यकी परिश्रतियोंका परिश्रान करलेते हैं।

बात यह है कि जैनसिद्धांत अनुसार द्रश्यको निश्य माना गया है। इसमें बढा अच्छा रहस्य है। किसी भी पर्यायसे आकांत हो रहा द्रव्य अपने परिवारकी वक्तियोंपर अभिमान कर रहा सदा सर्वत्र बन्वित हो रहा है। जैसे कि पवास लाख चपयोंके अधिपति सेठकी बीस दुकानोंमें किसी भी दुकानपर विशेष समस्याकी अवस्थामें पचास लाखका उत्तरदायित्व क्षेल लिया जाता है, उसी प्रकार द्रव्यको भूत, वर्तमान, भविष्यकालीन चाहे किसी भी पर्यायमें अनाद्यमन्त प्रथ्य अन्वित रहता है। एक एक पर्यायमें अनन्तानन्त स्वमाव विद्यमान हैं। जितना गहरा प्रविष्ट होकरके देखेंगे उतना ही अट्ट धन दीख जावेगा ग्यों एक वस्तुमें तीनों काल सम्बन्धी परिणामों की अपेक्षा अने कात्मक रना है। तया उत्पाद, व्यय, ध्रीव्योंसे युक्त होने के कारण एक ब्रव्य अने कात्मक है। एक वस्तुमें अनेक उत्पाद हो रहे हैं, उतने ही विनाश हो रहे हैं, स्थितिया भी उतनी हो अनन्तानन्त हैं। उत्पन्न, उत्पचमान, उत्पत्त्यमान, आदि भेदोंसे अनेक चमत्काच वस्तुमे हो रहे हैं। वस्तुके संपूर्ण अन्तरंग बहिरंग अभिनयों को सर्वत्नदेव जानते हैं। घडा उपजता है, कुश्रूल विनशता है, मट्टी ध्रुव है, बाल्य अवस्था नष्ट होती है, युवा अवस्था उपजती है । मनुष्यपना स्थिर है, ऐसे स्यूल उत्पाद आदिको गमारतक जानते हैं। इसी प्रकार अन्वय, व्यतिरेक, स्वरूप होनेसे प्रात्मा एकानेकात्मक है। जीवत्व, ज्ञातापन, दृष्टापन, भोक्तापन, वादि स्वमावों हरके अन्वय दन रहा है, और वचन विज्ञानोंद्वारा ज्यावृत्तिके विषयभूत स्वभाव या जायेत, अस्ति, आदि धर्म, गति, इंद्रिय, काय, इन विज्ञक्षण परिणतियोंसे आत्मा व्यतिरेक स्वरूप है। इस प्रकार विपक्ष में बाधक प्रपाणों को दिख ठाते हुए अनेक शक्ति प्रचितस्य आदि हेतुत्रोंकी एकानंकात्मपन साध्यके साथ ब्यान्तिका समयेन किया जा चुका है। क्योंकि वे " अनेक वारिवज्ञानविषयः व " आदिक तो जन्म बादि छह विकारोंके प्रयंच स्वरूप हैं । अतः इनको सत्त्वका व्यापकाना बन जाता। सत्त्वके साथ हो रही अन्ययानुपपत्ति करके प्रसिध्द हो रहे वह सब हेतु जीव के एकानेत्मकपनको साथ देते हैं। उन सत्व या एकानेकात्मकपन दोनों मेंसे किसी एकका भी अभाव मानने पर "अनेकवाग्विज्ञानविषयत्व " आदि हेतुओंकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी और उस अनेक वचनों या अनेक विज्ञानों की गोचरता आदिकी सिद्धि नहीं होने पर सत्त्वकी असिद्धि होजानेसे जीव तत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकनेका प्रसंग आवेगा।

तत्र जनमादि विकारप्रपंत्रश्याविद्योपकत्पितःवे कमाश्रमयोर्ग्यविद्योपकत्पितःवप्रसिवतः।
तत्तरत्रार्यिक्याप्यविद्याविकृभितैवेति न सस्यं परमार्थतः प्रसिद्धेत् । ततः एव संविन्मात्रं तस्यनित्ययुष्तं, तस्य बह्याद्यदेतवदप्रतीतेरिति प्रपंचेन सर्मायतत्वात् । नानैकात्मतया प्रतीतेरंतविहृश्य
सुनिदिचतासंभवद्वाधकत्वसिद्धेश्य सिद्धौ नानैकात्मको जीवः ।

जन जीव वस्तुओं में जन्म, अस्तित्व, आदि विकारों के प्रयंचको यदि बौद्ध मिथ्याज्ञान होरही अविद्यासे करूपना किया जा रहा मानेंगे, तब तो क्रम और अक्रमको भी अविद्यासे उपकल्पित होनेका प्रसंग आवेगा और उससे फिर अर्थिकया भी अविद्याकी ही चेष्टा समझी जावेगी। इस प्रकार परमार्थकपसे खीवमें सत्पना प्रसिद्ध नहीं हो सकेगा। व्यापक ही यदि मनगढन्त है तो व्याप्य अवस्य झूंठी कल्पनाका विषय माना जावेगा। इस सद्भाग्यसे निले हुए अवसरपर योगाचार बोद्ध यदि यों कहे कि तिस ही कारणसे यानी जन्म, अम्म, अक्रम, अर्थिकिया, अर्थि विह्मूंत पदार्थोंकी ठीक ठीक सत्ता नहीं बन सक्त्रेसे हम अंतरंय शुद्ध सम्वेदनको ही बस्तुमूल तत्त्व मानते हैं, कार्यं कारण, आधार आधेय, इत्यादि सब व्यथंका झगडा है। आचार्य कहते हैं यह केवल सम्वेदनाईतका स्वोकार कर लेना भी युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि बह्याईत, शब्दाईत जादिके समान उस सम्वेदनाईतकी भी कदाचित् प्रतीति नहीं होती है। इस बातका हम पूर्व प्रकरणोंमें विम्तार करके समर्थन कर चुके हैं। वहां देख लो। यहां यह कहना है कि सभी आत्मा आदि और सभी घट आदि अन्द्ररंग, बहिरंग, पदार्थों हो एक अनेंकात्मकस्वरूपसे अतीति हो रही है तथा बाधकप्रमाणोंके असम्भवका अच्छा निरुच्य हो चुकना सिद्ध है। अतः यों अनेक अमोंके साथ तादात्म्य सिद्ध हो जानेपर जीव एक अनेक आत्मक हो रहा सिद्ध हो जाता है।

## ततः स्वतत्त्वादिविशेषवितनं घटेत जीवस्य नयप्रमाणतः । क्रमाद्यनेकांततया व्यवस्थितेरिहोदितन्यायबलेन तत्त्वतः ॥१४॥

तिस कारण जीवके निज तत्त्व आदि विशेषोंका चिन्तन करना नयों और प्रमाणोंसे घटित हो जावेगा। क्योंकि कम अकम अयंकिया आदि करके अनेकान्त रूपसे जीवकी व्यवस्था हो रही है। इस अनेकान्तका यथायं रूपसे कहे जा चुके न्यायकी सामर्थ्यसे यहां चौथे अध्यायमें प्रकरण अनुसार विवेचन कर दिया गया है।

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ।

इस प्रकार चौथे अध्यायका दूसरा आन्हिक यहातक समाप्त हो चुका है।

यहां विश्लेष यों कहना है कि राजवातिक और सर्वार्थसिद्धिमें "लीकान्तिकानामण्टी सागरीपमाणि सर्वेषाम्" इस सूत्रकी व्याख्या की है। मुद्रित दलोकवातिक में 'तद्रष्टमागोऽपरा" इस सूत्रपर चौद्र हवातिकों को बनाकर विवरण करते हुए श्री विद्यानन्द आचार्यने पद्मवात् चौष्ये अध्यायको समाप्त कर दिया है। लिखित पुस्तकमें बारहवीं वातिक के प्रथम त्रृटिका चिन्ह देकर "लोकान्तिकानां" इस सूत्रको लिखा है। किन्तु वह पीछे क्षेपण किया हुत्रा प्रतीत होता है। "तद्रष्टमागोऽपरा" इस सूत्रको चौदह वात्तिक और उनके विवरणमें कही भी ऐसा स्थान नहीं मिलता है जहीं कि "लोकांतिकानाम् " इस सूत्रको डाल दिया जाय, पहिले पीछे के प्रकरण पूर्वापर सगतिके लिय हुये जकड रहे हैं। ग्यारहवी और वारहवीं वात्तिक के बीचमें इस सूत्रको धुसेडमा कथमपि शोषा नहीं देता है। वयोंक पहिले ग्यारहवी वार्तिक में नित्यकान्त बादी सांख्यको आत्माके छह विकारोंका होना समझाकर लगे हाथ बारहवीं कारिकामें अणिकवादी खोदोंको भी आत्माके छह विकार होना समझाकर लगे हाथ बारहवीं कारिकामें अणिकवादी खोदोंको भी आत्माके छह विकार होना समझाके प्रकरण चलाया है। अतः यहां लीकान्तिक, सूत्रका डालता अशोषक जचता है। वार्तिकोंकी संख्यके अंक भी ठीक आ रहे है। यदि मध्यके सूत्रपछ जाता तो वार्तिकोंकी

गणनाके बंक बदम काते। खनेकान्त सिद्धिके प्रकरणका बारम्ब होतेके ब्रथम " व्यक्तिचार विजित्तस्वासम्मवात् " इम पंकितके परली और यह सूत्र डालना उचित जनता है। किन्तुं वहां भी पूर्व प्रकरणके कमंबेचित्रयकी संगति जुड रही होनेसे स्वल्प भी स्वान दृष्टिगों वर नहीं होता है। त्रतः अनुमित होता है कि यह सूत्र मूलसूत्रकासे विद्यानंद स्वामीकी अभीष्ट नहीं है। लोकान्तिकानां इत्यादि सूत्रको अपेशा "तदव्टमागोऽदरा" इस सूत्रमें अनेकान्तकी सिद्धि करना अच्छा जवता है, ग्रन्थकारने ऐसा ही ढंग भी डाला है। श्रृतसागरस्वामीने भी इसको मूलसूत्रमें परिमाणित नहीं कर टीकामें " तथा च विशेषः लौकान्तिकामामण्टी सागरोप-माणि सर्वेषां, ये लीकान्तिकास्ते विश्वेषि गुक्तलेश्याः पंवहस्तोसताः अष्टसागरीयमस्थितयः इति" यों लिख दिया है। जिस प्रकार सर्वावंसिविने या राजवर्तिकने इस सूत्रका जवतरण दिया गया है, अयता श्रुतसागर स्वामीने जिल प्रकार अन्य सूत्रों का अवतरण दिया है, उस प्रकार इस सूत्रका प्रवतरण नहीं दिया है। ये भूतसागर सूरि तत्वार्यसूत्रकी टीका करते हुए प्रत्ये 🔻 क्षष्र्यायके अन्तर्वे और यहां भी "सकलविद्वण्यनविहिनवरणसेवस्य श्रीविद्यानन्दिदेवस्य संख्रीहर्तिनव्यामत हुर्गरेण श्रुपमागरेण सूरिणा विरचितायां २लोकवाति करा अवातिक सर्वार्यसिद्धि न्यायकु पृष्ठ चन्द्रोदय प्रमेय हमल गातंग्ड प्रबण्डाब्टसहस्रीप्रमृखप्रन्यसम्द भैतिभंशावली समबुद्धिः विरिवतायां तत्त्वार्यटीकायां चनुर्योध्यायः समाप्तः"।यों लिखकर वानेकी राजवातिक, वलोक-बातिक आदि यन्योका अन्तःप्रवेशी ज्ञाना प्रकट कश्ते हैं। अस्तु कोई विरोध नहीं होनेसे उस त्रुटिको यहां भाषा अर्थ करते हुए अविकल उद्धत कर दिया जाता है। सम्मव है कि वह भी विद्यानन्द स्वामीकी कृति होय " बहाजोकालया " जादि इन दो सूत्रों में जैसे लौकान्ति-कोंका स्वतंत्र निरूपण किया है, उसी प्रकार स्वितिके प्रकरण में सूत्रकारने यह सूत्र भी पढ दिया होय । इस विषयपर विशेषज्ञ विद्वान् और अधिक प्रकाश डाल सकते हैं।

### लोकान्तिकानामष्टी सागरोपमाणि सर्वेषाम्।

सम्पूर्ण लीकान्तिक देवोंकी बाठ सागरोम स्थिति है।

#### स्रोकान्तिकसुराणां च सर्वेषां सागराणि वे । अष्टाविष विज्ञानीयात्स्थितिरेषा प्रकीर्तिता ॥ १ ॥

सम्पूर्ण छीकान्तिक देवोंकी स्थिति भी आठ सागरकी निर्णीत हो रही विशेषतया जान केनी वाहिये। यो यहांतक स्थितिका बढिया की तंन कर दिया गया है।

कौकान्सिकवैवानां समस्तानां सबैव अच्छी सागराणि स्थितिव्यंनियारवर्जिता कातव्या ।

सम्पूर्ण लौकान्तिक देवोंकी सदैव बाठ सागरकी स्थिति है को कि व्यक्तिचार वोषोंसे रिहत हो रही जान लेनी चाहिये। जवन्य और उत्कृष्ट स्थिति बाठ ही सागरकी है। लौका नितक देव विशेषताओंसे रहित हो रहे सब एकसे हैं। पांच हाथ ऊंचा इनका शरीर है। शुक्ल लेश्यावाले हैं। जिलोकसारमें "चोद्सपुव्वधरा पिडवोहपरा तित्थयरिवणिक्कमणे। एरेसि-मट्ठजलिहिट्ठदी अरिट्ठस्स णव चेव।। ५४०।। "इस गाथाद्वारा अरिष्ट जातिके लौकान्ति-कोंकी नौ सागरोपम स्थिति कही है।

इति श्रीविद्यानित् आचार्यविरिषते तस्वार्यक्लोकवार्तिकालंकारे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।। ४ ॥

इस प्रकार भी विद्यानन्द आचार्यविरचित तत्त्वार्यक्लोकवार्तिकालंकार नामक महान् प्रन्थमें चौथा अध्याय परिसमान्त हुआ।

इस चतुर्य अध्यायके प्रकरणोंकी सारणी संक्षेपसे इस प्रकार है। प्रथम ही देवोंकी बार ही निकायोंको पृष्ट कर आधार नहीं कह कर देवोंका ही कथन करनेमें सुवकारका अभि-प्राय दिखलाया है । तीन निकायकी लेखाओंको साधकर कल्पोपपन्नोंमें इंद्रादि भेदोंका अंतरंग कारण कर्मोकरके होना कहा है। व्यन्तर और ज्योतिषियोंकी विशेषताओंको बताते हुये प्रवीचारोंकी हीनता होने में प्रथके उत्कर्षको प्रधानकारण सिद्ध किया है। तभी तो उपरिभदेव प्रवीचाररहित हैं। भवनवासी व्यन्तरोंके विशेष भेद भी कर्मोदयजनित कहे गये हैं। मास आदिका भक्षण देवोंमें नहीं है । शब्दनिष्दितद्वारा इनके आधार विशेषों भी प्रतिपत्ति करादी है ज्योतिष्कदेव कर्मोंके आधीन होकर सुर्यविमान चंद्रविमान आदि अनेक विमानोंमें स्थिति कर रहे बताये हैं। कुछ ताराओंको छोडकर मनुष्यलोक सम्बन्धी सभी क्योतिष्क विमान मेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। यहांसे सात सी नव्ये योजन ऊंचे स्थानसे प्रारम्भकर एकसी दस योजन मोटे और एक राजु लम्बे चौडे बाकाशमें ज्योतिष्क विमानोंका सभ्दाव है। नीचे, ऊपर, भीतर बाहर विशाज रहे विमानोंका कम दरशा दिया है। ' छक्कदिणवतीससर्व दसयसहस्सं स्ववार इगिदालं । गयणति दुगतेवण्णं चिरतारापुषस्वरदलोत्ति " । जम्बुद्वीपमें छत्तीस, रुवण समुद्रमें एक सी उनतालीस, धातकी खण्डमें एक हजार दस, कालोदक समृश्में इकतालीस हजार एकसी बीस, और पुरुकराधेमें त्रेपन हजार दो सी तीस स्थिर तारे हैं। इनके मतिरिक्त ढाई द्वीपमें सम्पूर्ण ज्योतिष चक्र सुदर्शन मेरकी सदा अपनी नियत गति अनुसार प्रदक्षिणा किया करते हैं। एक चन्द्रमा सम्बन्धी एक सूर्य अट्ठाईस नक्षत्र अट्ठाईस प्रह और छथासिक संख, सतानवे पथ, पचास नील, ६६९७५०००००००००००० तारे हैं। एकसी बलीस चन्द्रमा सम्बन्धी इतना इतना ही परिवार ढाई द्वीपमें समझ लेना चाहिये। स्वामी बीने भूमीके भ्रमणका अच्छा संडन कर नक्षत्र मण्डलकी स्थिरताका प्रत्यास्यान किया है। पृथिवीके विदारण हीनेका वडा चन-

रकारक प्रसंग दिया गया है। य्यारह सौ वीस योजन पृथिवीकी चौडाई या इससे कुछ कमती बढती नहीं सम्रती है। यहां नदियोंके प्रभव स्थान और प्रवाह मार्ग बनुसार भूगोलका अञ्छा निराकरण किया गया है। और भी अनेक यूक्तियां दी हैं। काल आदिके वर्श भूमीके नीचे, ऊंवे आकार भी जैनोंके यहां माने गये बताये है। जो मनुष्य कुये में नीचे ठहरा हुआ है। उस की दुगहरके समय घण्टे दो घण्टे का ही दिन भासता है। गुफा या तिरछी भूमिमें निवास कर रहा मनुष्य वर्षों या महीनोंतक सूर्य दर्शन नहीं कर सकता है। सूर्यके उत्तरायण या दक्षिणायन होनेपर बनेक स्थलोंपर विभिन्न जातिके दिन रात हो जानेका प्रकरण मिल जाता है। जहाबका ऊपरला भाग दिखनेसे या उदय, बस्त, होनेकी वेलापर भूमीसे लगे हुए सूर्यका दर्शन होनेसे पृथिवीको गोल मानना कोरी बालबुद्धि है। क्या आकाशको या स्वच्छत्रलको नीला देख लेनेसे उनमें नीलरंग घुला हुआ मान लिया जावेगा? कभी नहीं। देखो हम लोगोंकी आंखोंमें भी कतिपय दोव है जिससे कि नाना प्रकार भ्रान्तियां हो जाती है। दूर देशतक ऊंचा उडता जा रहा पक्षी भी हमें नीचे उतरता हुता सारिखा दोखता है। किन्तु ऐसा नहीं है। दस पांच कोस सम्बे चौड़े एक तिकोने या चौकोने चौंतरापर बीचमें सर्हा होकर देखनेसे चारों ओर गोल दोखता है। किन्तू एतावता वह चौंकोर चौंतरा कथमपि गोल नहीं हो जावेगा। यदि पृथिवी गोल घूमती हुई मानी जावेगी तो पक्षी उडकर अपने घोसलेपर नहीं आ सकेगा। क्योंकि उसकी छोडी हुई पृथिकी तबतक सैंकड़ो मील दूर चूम जानेगी। इसके लिए पचास मील या इससे भी कमती बढती वायुका भी अमण पृथिवीके साथ स्वीकार करोगे तो वेगसे चल रही वायुके साथ घुआं या बाककी रूईकी क्या दशा होगी। मसाल या दीपककी सीधी ली नहीं उठ सकेंगी। टिमटिमाता हुआ दीपक झट बुझ जायगा। तोपसें निकले हुए बलवान् गोलेको पृथिवी अपने सांच वायुकी सहायतासे ले जाय। किन्तु फर्नूदाया छोडे हुए वारूदेके वाणके फुलिगोंपर अपना प्रभाव नहीं जमा देवें यह आश्चर्य है। को वायु रूई या फुफूंदेको पृथिव के साथ पूर्वको ले जानेमें समर्थ नहीं है। वह वेगसे दौड रहे डेल या गोलीको कथमपि पृथिविके संच नहीं ले जा सकता है। कदाचित् हुए स्वल्प भूकम्पसे शरीर, हृदय, मस्तिष्कमें चक्कर आने लगते हैं। जो इतने प्रबस्न भूमि अमणसे मानव, पशु, पक्षिओं की क्या दशा होगी ? इसका अनुमान लगाना ही भयंकर है। आकर्षण शक्तिका भी सण्डन हो जाता है। समृद्रका इतना सम्बाचीडा जल केवल आकर्षण शक्तिसे नही हटा या चुपटा रह सकता है। हिन्द्रान्से कलकत्तेको जारही गंगा नदी आकर्षण शनितवश गोल पृथिसी पर उलडी भी वह जाय तो कोन रोक सकता है। गोल पृथिवीपर जैसे हरिद्वारसे कलकत्ता नीचा है। उसी प्रकार कलकत्तंसे हरिद्वार भी नीचा सम्भवता है। अमेरिकासे नीचे भारत वर्षका या भारतवर्षसे नीचे बमेरिकाका आकर्षणवश पृथिवीसे चुपटा रहना कहना असम्भव है। गुरुत्व सर्गके बन्न भाषी पदार्थ सब नीचे गिर पर्डेगे। चुम्बक या लोहेका दृष्टान्त सर्वत्र पुद्ग-लोंमें कागू नहीं होता है। एक वृक्षसे सेवफलका पृथिवीपर गिरना देखकर भूमिमें आकर्षण े पनितकी न्यूटन पंडितद्वारा कस्पना करना बच्चोंका क्षेत्र है। हम आकर्षणका खण्डन नही

करते हैं। किन्तु समुद्रका धारण पृथिवी आदि अनेक मण्डलोंका अमण केवल आकर्षण सक्ति के नहीं हो सकते हैं। इस बातपर बल देते हैं। वस्तूत: ज्योतिश्चकके अमनसे ही छाया हानि, झायावृद्धि, सूर्यका भूमिसंलग्न होकर दीख जाना, वे सब बन जाते हैं। भूमिमें भी अनेक प्रकारके नैमिलिक परिणामों को उपजानेकी शक्ति विख्यान है। इसके आगे ग्रन्थकारने समराव होता बादिको पुष्ट करते हुये सुर्यके एकसी चौरासी मण्डल बताय हैं। महुर्तकी गतिका क्षेत्र तथा उत्तर, दक्षिण, की ओर होरहे उदयके प्रतिमासोंको घटित किया है। अध्यन्तर मण्डल कौर बाह्ममण्डलोंपर दिन रातके कमती, बढती हो जानेको साधा है। यहां प्रतिवादियोंके हेत्त्रोंका अच्छा खण्डन किया है। छायाका घटना, बढना कोई भूनीके मोल आकारको नहीं ताध देता है। क्षेत्रकी बृद्धिको युक्तियोंसे साधा गया है। सूर्यग्रहणका अच्छा विवार है। छोटोसी पृथियोकी छाया सूर्व या चन्द्रमापर कुछ प्रमाद नहीं हाल सकती है। छोटेसे खंडकी मुमिसे सूरजकी बोर जितना भी बढा दिया जावेगा, त्यों त्यों उसकी छाया नष्ट होती जाती है। ऐसी दक्कामें सूर्यके निमित्तसे भूमिकी छाया पडना असमंजस है। ग्रहणके अवसरपर उपराग पड़ना ठीक है। किन्तु वह अधःस्थित राहुके विमानसे कार्य सम्पन्न हो जाता है। पृथिवीकी छायासे चन्द्रयहण और चन्द्रकी छायासे सूर्यग्रहण पडना मानना परीक्षाकी कसोटी पर नहीं कसा जा सकता है। सूर्य जादिके विमान मणिमय अकृतिप नने हुये हैं। राह या केत् का पौराणिक कथानक झंठा है। ढाई द्वीपके ज्योतिष्क विमान आभियोग्य देवोंद्वारा ढोये आते हैं। पूर्व नक्षी विद्वानोंके मुमीको गोस साधनेमें दिये गये हेलू दूषिन हैं। सर्वत्र समतल और क्वित नीची, ऊंची, भूमिमें ज्योतिषचककी गतियों के वश हो रहे समरात्र आदिक सब बन जाते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण और आप्तोपक्ष जागमसे विषद्ध मनगढण्य सिद्धान्तका प्रतिपादन करना केवल कुछ दिनोंतक कतिपय श्रद्धालुओंद्वारा मान्य भले ही हो जाय किन्तु सदा सर्वत्र सबके लिये अबाधित नहीं है। किसीने कुछ कह दिया और कदाबित किसी पण्डितने अन्यया प्रतिपादन कर दिया, ऐसे क्षणिक मत खुगुनूके समान भक्षा स्याद्वाद निद्धांत सूर्यके सन्मुक्ष कितने दिन ठहर सकेंगे ? स्वयं उन्हीं लोगों में परस्पर अनेक पूर्वापर विरोध उठा दिये आते हैं। अने कान्तकी सर्वत्र विजय है। तदनन्तर गतिमान ज्योतिक कोंद्वारा किये गये व्यवहार काल को साधा है। व्यवहारकालद्वारा मुख्यकालका निर्णय करा दिया है। ढाई द्वीपके बाहर असंख्याते सूर्य, चन्द्रमा, या अन्य विमान जहांके तहां अवस्थित बता दिये हैं। चौथी निकाय वैमानिकोंका वर्षन करते हुए कर्मोदयके वश कल्पोपपन्न और कश्पातीत देवोंका विन्यास बताया है। नव शब्दकी वृत्ति नही करनेसे अनुदिशोंको सुचित किया है। उत्तरोत्तर स्थिति आदिकोंसे अधिकता और गति अदिकसे हीनताको युक्तियों द्वारा साध दिया है। वैमानिकोंमें लेप्याका निकाण करते हुवे निर्देश आदि सोलह अधिकारोंकरके कृष्णावि लेक्याओंका आन्नाय अनुसार निक्पण किया है। एक भवतारी स्रोकान्तिक देव और द्विचरिम वैमानिकोंका स्वतंत्रतया विक्-पण कर चीथे बध्यायके पहिछे बान्हिकको समान्त किया है। इसके बागे तियंचोंकी व्यवस्था कर देव और नारकियोंकी जबन्य, उत्कृष्ट, स्वितियोंका निक्षण करते हुवे कमौकी विविधता

वनुसार स्थितियों की विचित्रता बताई गयी है। श्री बकलंक देव महाराजने चौचे बध्यायके अन्तमें राजवातिक में चैसे बनेका स्वकार विस्तृत सिक्य किया है। जन्म अस्तित्व आदि छह विकार साधा है। जन्म अस्तित्व आदि छह विकार रों को सम्पूर्ण पवार्थ धारते हैं। "अमाबिक अशहर हेतु का जच्छा विचार किया है। नित्येकान्त और अणिक एकान्तका खण्डनकर द्वव्य, पर्याय, आत्मक वस्तुका नित्यानित्यात्म कपन प्रसिद्ध किया है। अन्य भी कित्य सकलंक हेतु जोंसे खीवतत्त्वका एक अनेकात्म कपना साधते हुए चौये अध्यायतक नय प्रमाणोंद्वारा जीवतत्त्वकी व्यवस्था कर दी गयी समझाई है। चौथे खड्यायके छोटेसे दितीय आन्हिकको पूर्ण किया है। "छोकान्तिकानामच्दी सागरोपमाणि सर्वेषां" यह सूत्र वमास्वामिकृत है। इस विषय में श्री विद्यानन्द आचार्यका विशेष आदर नहीं अनुभित्त होता है। यो तत्त्वाचे स्लोकवार्तिकालंकार महान् प्रत्यमें दो आन्हिको द्वारा चौथे अध्यायकी समाप्ति की गई है।

लेश्येन्द्राविककल्पनास्पितिवपुःसम्याद्यवृष्टस्य ली— संसारस्य जनुष्टिकायसरणो नानास्यश्वस्यंचितः ॥ जन्मास्त्यादिविकारमृद्यहुवचो विकानवृग्गोचरोऽ। ध्याये तुर्ये इलाहितैनिगवितो जीवः श्च्युमास्वामितिः ॥ १ ॥ वृग्जाननयमावाद्भभेदवल्लोकसंस्थितं। सुत्रितं चतुरध्यायो जीवतस्यं प्रभेदभृत्॥ २ ॥

इति श्री विद्यानंदिआचार्यविरिचते तत्वार्यंश्लोकवार्तिकालंकारे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।



# तत्वार्थश्चोकवार्तिकालंकारांतर्गतश्चोकसूची · — ॰ पंचम खंड ॰ —

<b>रलोक</b>	पृष्ठ नं.	हलोक पुष्ठ	नं.
अ		*	ĘC
वंत्यं निरूप मोगत्वात् सव गंगादयः प्रोक्ताः सनादिपरिणामोस्ति सनादिपरिणामोस्ति सनादिप्रामोस्ति सनादिप्रामोदितः सनित्यो भावनोधःचेत् सन्द्रभूतस्वसामर्थं सन्ययाभावहेत्नां सविप्रहा गतिस्तत्र सन्ययाभावहेत्नां सविप्रहा विनिदिष्टा सप्त्रभंदां विनिदिष्टा सप्त्रभंदां सन्ताः समादिकादीनां सस्माहसमाद्धराभागात्	7	इति स्वतत्वादिविशेषकपती १ इति निग्रह संप्राप्त्ये १ इत्येवं पंचित्रः सूत्रैः २ इति सति वहिरंगे कारणे केषि मृत्यो २ इति सूत्रद्वयेनाधो ३ इति सूत्रद्वयेनाधो ३ इति सूत्रदेवेन विवितनीयम् ३ इति हेतोरसिद्धत्वं ४ इति हेतोरसिद्धत्वं ४ इति कियानुमानानां ४ इति कथितविशेषो ४	498
अनंतभेदमासां स्यात् आ	६२७	इत्येवं नवभिः सूत्रैः ५	38 84
आत्यंतिकक्षयो ज्ञान बारमपुद्गलपर्याय आद्यं तु सोपभोगाभ्यां आद्यातु स्कंधभेदेच्छा	<b>१८</b> १६५ २४२ ६३२	इति केचित्प्रध्यस्ताः ६ आहारकं शरीरं तु २ स	88 88 88
बानतप्राणतद्वंद्वं बाह्यस्यादिस्तु नीलाया बार्षोपदेशतः सिद्धाः	६०७ ६३२ ६३३	1 4	9 4 80
\$			१६
इतींद्रियाणि भेदेन इति सूत्रद्वयेनाक्ष-	\$4.8 \$85	ऊर्धांत्रो भ्रमणं सर्वं ५	५४

#### ं परिशिष्ट

रलोक	पृष्ठ न	<b>इलोक</b>	पृष्ठ नं.
<b>ए</b>		कृतधीजनकं तदि	४१७
एकं समयमात्मा द्वी	१९६	कृष्णादयोऽशुभा <i>स्तिस्रो</i>	६२८
एकका चाप्यसंख्येय	६२८	कृष्णा प्राथमिकक्लेश-	६२९
एतस्त्रयोजना भावाः	Ę	कृष्णोत्कृष्टांशकात्तु स्यात्	६३४
एतत्समृद्भवा भावाः	<b>¥</b> \$	केवलं मुखमस्तीति	866
एवं निश्शेष तत्वानां	40	कालादिपर्ययस्यापि	४२२
एवं सूत्रद्वयेनोक्तं	<b>९९</b>		
एवं सूत्रत्रयोश्रीत-	₹°	ससंडभेदतः सिद्धा	५६४
एवमीशस्य हेतुत्व-	४३९	ग	
एवं सूत्रचतुष्टयात्	484	गतिनामोदयादेव	<i>\$</i> &
एवं विशुद्धिवृद्धौ स्यात्	६३१	गतौ तु विग्रहार्थायां	१७३
एष एव नभो भागो	489	गतिमत्वं पुनस्तस्य	१७४
_	, ,	गतिर्मुक्तस्य जीवस्य	१८७
मो		गत्वा सुदू <b>रम</b> प्येवं	४१५
औपपा <b>वि</b> कतासिद्धेः	२४३	गत्यभावापि चानिष्टं	५५१
-		गुवंथंस्याभि <b>म्</b> ख्येन	२९४
₩ Walker fame, 1913	<b>8</b> 8\$	ग्रंवेयकेषु नवसु	६०७
कर्यविसु विरुद्धः स्यात्	४७	<b></b>	5 / 3
कर्मोदये च तस्यैव		घनांबुपवनाकाश	२८३
कर्में व कार्मेणं तन्न	२२८	घनानिस्त्रं प्रतिष्ठान	२८७
कर्मपुद्गलपर्यायो	<b>२२९</b>	च-वर्षे क्या है उसमें	<b>१</b> ९६
कर्मभूमिभवा म्लेच्छा	3 <b>0</b> 6	चतुर्यं समये वश्यं चतुर्दशभिरित्येवं	74 <b>8</b>
कल्वाः प्रागेव ते बोध्याः	६३६		771 630
कषायोदयतो योग	3 E	चानंतादि भागाद्वा	५४९
कामेणातगेतं युक्तं	२३३	चरंति तादृशादृष्ट चक्षुषा तानि वृद्धानि	<b>१</b> ५७
कार्यःवं न तथा स्वेष्ट	288	· ·	४९
कालादेर <b>गरीरस्य</b>	४०६	चित्स्वभावतया तावत् नेपानस्य स्वरामस्य	* \ \
कि विदीदारिक स्वेपि	<b>२</b> ४४	। चेतनस्य स्वभावस्य	
कुर्वन्धित्यादि मूर्तीश्च	४१५	चतुर्ध्वपि निकायेषु	५११
कूटस्यात्मकतापत्तः	40	ज ज	४०७
कूटस्थोपि पुमान्नैव	830	जगतां नेश्वरो हेतुः जन्मास्तित्वं परिणति	
कृत्सन <b>कमंक्षयात्तावत्</b>	४५	जन्मास्तत्व पारणात	६६०

रलोक	पृष्ठ नं.	<b>रलोक</b>	पृष्ठ नं.
जन्मादयः प्रधानस्य	६६९	तत्र क्षयोःद्भवो भावः	५२
षायंते ते विनश्यंति	६७१	तत्सद्रव्यमनो मुक्तं	<b>१</b> ६३
षंबूद्वीपगवर्षादि	३६७	तःक्षेत्रयासिनां नृणा	३५८
बीवस्यौदयिकाः सर्वे	89	तत्र प्राप्तसंयस्यप्त	३७१
षीताः पृथ्वीमुखास्तत्र	१२५	तत्साम।न्यविशेषस्य	४५७
ज्योतिष्काः पंचधा दृष्टाः	488	तत्रापि व्यंतरा वज्या	416
ज्योतिःशास्त्रमतो युवतं	468	तत्कवायोदय स्थाने	६२८
शामाव रणसामान्य	34	तन्कृष्ण लेश्यतः स्थानात्	६३०
₹		तत्र लीकांतिका देवा	६३७
		तदत्यागे तु मोक्षस्य	86
ततस्तु झायिकस्योक्तिः ततो मत्यादिविज्ञान	•	तदसंगतमादेश	४९
	२८	तद्वैचित्र्यं पुनः कर्मे	२०५
ततः स्याद्वादिनां सिद्धः	40	तदादीनि शरीराणि	२३९
तः सप्तेति संख्यानं	₹0₹	तदन्यतर दृष्टस्वात्	२६८
तो नैकांतिको हेतुः	४१८	तद्धृतद्यांबुवातः स्थात्	२८६
तः सूर्या दशोत्पत्य	486	तदप्ररूपणे जीव	39 <b>९</b>
तः संसारिणो जीवाः	६६४	तदयुवतं महेशस्य	858
तः स्वतत्वादिविशेषवितनं	• •	तद्भीवतुप्राण्यदृष्टस्य	४२५
या कोधादिभेदस्य	₹X	तदेष्यपास्तमानार्ये	448
या च नाशिनो भावाः	4.	तद्विभागान्तया मुख्यो	464
विव पर्ययेकांते	१५१	तनुवातः पुनर्व्योम	२८५
या कृमिप्रकाराणां	१५७	त्रिवासजन। दृष्ट	२८७
षा संस्वेदमादीनां	२११	तन्मध्ये मेरुनाभिः स्यात्	₹ <b>२१</b>
था तैजसमध्यत्र	२४६	सन्मध्यें योजनं प्रोवतं	\$ <b>3</b> ¥
था तैर्नारकैर्दुःखं 	३०७	त्रिबंधन पशुण्णं	३९९
षांतर्द्वीवजाः म्हेच्छाः	३७४	तयोपलक्षिताचाति	
यातः परिषामेन	६२८	नसास्ते स्यावराश्नापि	38
था संक्रमतः साध्या	६२९	į.	११६
र्थं व कर्मतो लेखाः	६३२	त्रताः पुनः समाख्याताः	१३१
षा समजती लेखाः	६३२	तस्यापि योनयः संति	२०५
षा विशुद्धिहान्यां स्यात् । षा द्विषरमाः प्रोक्ताः	६३१	तस्य कार्पासिविदेन	258
	ERR	तस्यामेव तु षद्स्यान	६२९
ात्त <b>के</b> तुकविज्ञान	१५७	तिर्वं चोऽशु मलेश्याया	fox

रक्षी क	पृष्ठ नं.	इलोक	पृष्ठ नं.
जिवाल्लक्षादिशंख्या च	<b>३</b> ०२	Ħ	
त्रिवेदाः प्राणिनः शेषाः	२५५	न चेषां द्वंदनिवेँशः	9
तिष्वारोषु निकायेषु	५०९	न काभव्यादिकालुख्य	έ <b>χ</b> ,
त्रीणि त्रीणि बुद्धाः शुका	486	न चतरप्रशमे किचित्	4.2
तेषामात्यंतिकी हानिः	ų	न चौषशिमकादीनां	89
ते तिर्यग्योनिजानां च	<b>३९६</b>	न च द्वीपसमृदादि	196
ते स्पर्भादि प्रवीचाराः	५२७	न वेसामिमंहेशेन	* \$ \$ \$
तेभ्यम्तु परे काम	५३२	नन्योपशिमकादीनां	86
तेन्वयंसज्ञती प्राप्ताः	६४२	न दू द्वे पादयो धीमत्	800
तेनभिक्षा घटावें नां	६६०	न तस्य पुष्कारवेन	Yaş
तेवां भावविकारस्वात्	६६९	नानात्मपरिणामास्य	806
तेषामीदयिकत्येन	४९	न देशे व्यतिरेकोस्ति	*20
₹		न :व रत्वाद दृष्टस्य	<b>¥</b> ₹₹
and and	er e	नरकेष्दितेकादि	३ १ २
दशवर्ष सहस्राणि	६५७	नत् यद्भद्घटादीनां	६६०
दशा सुरादयस्तत्र	५३७	नानार्थं इंदेच शब्दोसी	\$
द्वावीयशमिकी भावी	86	नानैकांतिकमप्येतत्	73
। द्वीवधाम्येव निवृत्ति	<b>१</b> ३९	नानादिभवसंभूत	१५९
हितीये पाणिमु <del>व</del> तायां	194	नारका देहिनस्तत्र	३५३
द्वीदा निकायबोर्देवाः	५२०	नापर्यता धराधोपि	२९८
वृश्यमान समुद्रादि	२९३	नाधोधो गतिवंचित्र्यं	<b>0</b> 0\$
द्धिमोहोदयारपुंसो	<b>३</b> ५	नाऋोज्ञतः पलायंते	¥¥\$
द्राटिशस्यादि हेतूनां	४२०	नान्यथानु १ पन्नः वं	えのき
पृष्टाजस्याप हरूना द्रव्यं गुणः किया नान्स्य	እአየ የፈር	नासिद्धिमंणिमुक्तादी	<b>X0X</b>
द्रयो: सत्यखमिष्टं चैत्	<b>२९५</b>	नारकाणां च सक्षेपात्	६५६
दृश्यादीनां भेदशहेन	₹ <b>`</b> ₹	निरवयमतः सूत्रं	9
देश्यः श्रीप्रमुखाः स्याता	३३५	निक्षितरथं सा भण्योद्	Ę
देशकाल विशेषाव -	* <b>* *</b> <b>* ' ' ' ' ' ' ' ' ' '</b>	निष्कुटक्षेत्रसंसिद्धेः	१९०
देवादबतुर्णिकाया इ-	५०२	निर्दिष्टेम्यस्तु शेषाणां	₹₹•
वेवा कायमवीचारा	५२३ ५२३	<b>निवत्तहे</b> तव स्वेते	ea∉ E
		नित्य सर्वगतामूर्व	३८२
<b>धीनबे</b> तुःवसामान्यं	<b>40</b> ¢	fire ad in fa	101

<b>रलोक</b>	पृष्ठ नं.	<b>रलोक</b>	पृष्ठ नं.
निमित्तकारणं तेवां	You	पुंसि सम्यवस्त्रचारित्र	१२
नित्यज्ञानत्वतो हेतुः	४०२	पूर्वापरायतास्तत्र	३२९
निरुष्टयाबासभेदस्य	486	•	
नैकांत भेद मृत्सिद्धी	848	बोधो न वेधसो नित्यो	¥o3
नैवं प्रयोतुरेकस्य	४६२	बुद्धिमद्धेतुकं यादृक्	880
नोध्वधि भ्रमणं भूमेः	२८९	बहिमँन्ष्यलोकाते	५९५
न।नाक्षत्रविषाकीनि	<b>₹</b> ९८	बिबते स्तित्व मेवेते । । । । । । । । । । । । । । । । । ।	६६८
_	• •	भ	
q		भरताद्या विदेहांताः	३९०
पद्मारयो ह्यास्तेषां	<b>३३</b> १	भग्याभव्यस्वयोजीव	86
परासु गमनाभावात्	३०९	भवायुगंतिभेदानां	६३४
परिवारनदीसंख्या	३४२	भावेद्रियाणि सन्ध्यातम	188
परावरे विनिर्दिष्टे	<b>३९</b> ३	भूभ्रमागमसत्यत्वे	<b>२</b> ९५
परापरश <i>री राणां</i>	*66	भोग्यवासनया भोग्य	730
पक्ष स्पैदानु मानेन	४३९	भोगभूम्यायुद्धसेष	३७६
पल्योपममति रिक्तं	६५४	Act Land Com	~~~
परेवामधिकं ज्ञेयं	EYC	#	
प्रत्येकं भेदज्ञब्दस्य	* *	मध्यमा स्थितिरेतेषां	<b>३</b> ९३
प्रश्नानाद्यात्मका ह्येपा	४६	मनोमात्रनिमित्तत्वात्	4 3
वंदेवाण जीवस्य	१३४	सहये हेश्याचतुष्कस्य	६३१ ६३१
परिणामी यथाकालं	<b>१</b> ९८	मुक्तस्येव न युज्येत	892
मदेशतोल्पता तार	२२३	मेहप्रदक्षिणा नित्य	
प्रवाच्यते प्रमाणेन	२६८	महतो घारकस्यापि	५ <b>५</b> १
प्रभृतिः पद्मलेश्यायाः	६३२	1	<b>₹</b> ९६
प्रत्यंश्चकं समारूपाताः	<b>६३</b> ३	महेरवर सिसृक्षाया	858
पार्थिवादि शरीराणि	२३४	मनुष्यलोक संख्याया	\$ 9.5
मागीयश्चनिकस्योक्तिः	•	य	
पाक्षाधितात्र सर्वज्ञ	29	यथान्योन्याश्रयस्तद्वत्	886
प्राङ्गानुषोत्तरा <b>द्यस्मात्</b>	३६९	यदागमं प्रवचेन	<b>43</b> 1
प्राप्तद्वीं तर भेदेन	३७१	यदानंतगुणा हानिः	<b>₹</b> ३•
विदिक्छेदनेच्छा च	<b>६३</b> २	युक्तो जरायुजादीनां	200

दलोक	पृष्ठ नं.	<b>श्लो</b> क	पृष्ट नं.
वेषां च चतुरस्रः स्यात्	१९१	ष	
ये ज्योतिष्काः स्मृता देवाः	५८५	षोढा प्रकमयुक्तीयं	१८६
यो यत्कालुष्यहेतुः स्यात्	<b>8</b> A	पादा अरुनपुत्रसाम	101
योजनानां शतान्यष्टी	486	4	
<b>6</b>		स द्विवद्योग्टचतुर्मेद	<b>९</b> ३
लब्द्रयः पंच तादृश्यः	२८	सदेहबुद्धिमछेतुः	४०८
लक्ष्याः संसारिणो जीवाः	<b>१</b> ०१	स देहेतरसामान्य	४१०
लिगं वेदोदयात् त्रेधा	38	स घनोदधिपर्यन्तो	५५०
लेश्याः पीतादयस्तेषां	६२३	सम्यग्दृग्गोचरो जीवः	*
लेश्या निर्देशतः साध्याः	६२७	सम्यग्निथ्यात्वमेकेषां	३५
लोको कृत्रिम इत्येतत्	४७ <b>१</b>	स्रमनस्कामनस्कास्ते	११३
लौकांतिक सुराणां च	६७७	संज्ञिनां समनस्कत्वं	१५९
•		सर्वेकारणशूरये हि	१९७
<b>धनस्प</b> ःयंतजीवानां	१५६	संमूच्छंनादयो जन्म	२००
वन्ह्यादिबुद्धिकारित्वं	¥80	समरात्रं दिवा वृद्धिः	५६४
वर्षवर्षधराबः ध्य	3¥6	स-तिभस्ते तथा ज्ञेयाः	६१२
वागादोभामतो भेदा	१३४	संयमासंयमोपीति	२९
वास्यादीनि च तस्कर्तुं	४५६	सर्वेगत्वाब्गतिः पुंसः	१७४
विकारी पुरुषः सत्वात्	<b>Ę</b> 19 <b>0</b>	संसारिणः पुनर्वकी	१८९
विभुः पुमानमूर्तःवे	<b>શ</b> હેષ	संभाव्यानि ततोन्यानि	<b>२</b> १५
विश्वतश्चक्षरिस्यादेः	४७०	सर्वतोप्यप्रतीघ ते	२२२
विशिष्टसित्रवेशं च	४७२	सर्व स्याना दिसंबंधे	२३७
विशुद्धेरुत्तरास्तिस्रः	६२८	संक्लेशतारतम्येन	३०५
	३५	सर्वदाधः पतन्त्येताः	२९६
वृत्तमोहोदयात्पृंसो व्यास्यातात्रेश्वरणेव	४२५	संविलष्टैरसुरैर्दु:खं	३०९
		संक्षेपादपरात्वग्रे	383
वैपानिका विमानेषु	५९८	सन्ताधी भूमयी यस्मात्	₹ १
विषादाध्यासितात्मानि	४५६	संस्यायायामविष्कंभ	335
8		संभाव्यंते च ते हेतुः	३७३
शरीरमात्मनोदृष्टं	<b>४१३</b>	-	300
शुद्धिप्रकर्षमायाति	१९	संप्रदायान्यव च्छेदात्	
मुद्धिज्ञीनादिकस्यात्र	१९	सज्ञरीरः कुलालादिः	880

<b>इ</b> ल <b>े</b> क	વૃ. નં.	<b>रलोक</b>	षुष्ठ नं.	
समुद्राकरसंभूत	४७२	सिद्धं सादृश्यसामान्य	<b>308</b>	
संमाव्यंते च ते मर्वे	५३२	सिस्कांतरनस्तस्याः		
सर्वाभ्यंतरचारीच्टः	५५०	सिक्के कर्तरि निःशेषः	465	
सर्वेषा पुपरि स्वाति	५५०	स्थित्वादिभिन्तवाधिक्यं	६१९	
संख्येया द्विगुणाद्वापि	६३०	स्थितिरित्यादि सूत्रेण	६५३	
संख्यातः क्षेत्रनद्यापि	६३४	<b>स्त्रीपुंयमुखसन्ना</b> प्ति	२५३	
सर्वलोकाश्रयाः सिद्धाः	६४७	सूक्ष्मबादरके जीवै:	१९१	
सानत्कुमार मःहेंद्र	६५६	स्यूलमाहारकं विद्धि	₹ . ₹	
सा यद्यदृष्टसद्भावान्	४१२	सूत्रकारस्तदेतेषां	५०२	
सामर्थ्यान्यस्यमा बोड्या	६५९	सूत्रेश्चतुरियभ्यासात्	६५३	
सामान्यतीनुमेवाश्च	५४५	सूक्ष्मो भूनविशंपक्षेत्	६६०	
स्वय संविद्यमाना वा	१५	हती कत्यात्सर्वे मात्रे भगः	છ	
सा मृथ्य द्रगम्यमानस्य	<b>१</b> ५२	सौधर्मेशानयो (वा	६०६	
स्पर्धनाद नि तान्याहु	१४५	सीवमेंत्यादि रूत्रे च	६०७	
राशदियग्तदर्था स्युः	१५१	सर्वेथा यदि कार्यः वं		
स्वयं संवेद्यमाना च	<i>३७७</i>	<b>.</b>		
सःसादनं च सम्मक्त्यं	३५	हेतुरी दशर बे घेत	<b>१</b> ७६	
₹ ग्रहेवनारकाणा ुं <b>-</b>	709	हेतोरीइवरदेहेन	800	
स्वयोनी जनम जीवस्य	२ <b>१२</b>	क्ष		
स्वप्नोपमो । सिद्धधर्यं	२३०	क्षयोपशम सद्भावे	२८	
स्वामाविकं पुर्गात्रं	२३२	क्षयोपशमभेदन	१६३	
स्वं तत्व रुक्षणं भदः	२७२	क्षणिक निष्क्रियं चित्तं	१९७	
स्वारमप्रतिष्ठमाकाशं	२८४	क्षायोपश्चनिकस्या गो	હ	
सामध्यंतस्ततोन्येषां	२५९	क्षायोपशमिकं चांते	•	
सार्धं द्विद्वीपविषकं म	३८९	क्षायिका नव भावाः स्युः	*4	
सामध्यदिवसीयंते	३९०	क्षायोपशमिका दृष्टि	४६	
सार्धद्वी पद्वये क्षेत्र	३९७	क्षायोपशमिकाः श्रेषाः	83	
<b>स्या</b> वरादिभिग्ट्यस्य	¥88	क्षिरयादि मूर्नेयः संति	YĮY	
स्वातंत्र्येण तदुर्मूती	४२५	क्षीणाक्षेणात्मनां बाति	२७	
सिद्धा गतिरनु श्रीण	१८५	क्षेत्रावगाहनापेकां	<b>२२</b> १	
विद्यभौग्रारिक तियंङ्	२१४	क्षेत्राणि भरतावीनि	\$ <b>?</b> ¥	
		Į.		